ॐ

।। श्रीसिद्धाय नमः।।

पंडित आशाधरजीकृत

अनगार धर्मामृत

अनुवादः- विद्यावारिधि पं. खूबचंदजी

प्रकाशक

परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शांतिसागर दिगंबर जैन जिनवाणी

जीर्णोद्धारक संस्था प्रमाणित

श्री श्रुतभांडार व ग्रंथप्रकाशन समिति फलटण (जिल्हा उत्तर सातारा)

श्री. माणिकचंद मलुकचंद दोशी, मंत्री व श्री तलकचंद वेणीचंद शहा, अध्यक्ष

वीर संवत् २४८१

शास्त्रस्वाध्याय का प्रारंभिक मंगलाचरण।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ जय जय जय, नमोस्तु ! नमोस्तु !! नमोस्तु !!!

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।
ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः।।१।।

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान्।।
नमस्तत्यै सरस्वत्यै विमलज्ञानमूर्तये। विचित्रा लोकयात्रेयं यत्प्रसादात्प्रवर्तते।।
नमो वृषभसेनादिगौतमांतगणेशिने। मूलोत्तरगुणाढ्याय सर्वस्मै गुरवे नमः।।
गुरुभक्त्या वयं सार्ध-द्वीपद्वितियवर्तिनाम्। वंदामहे त्रिसंख्योननवकोटिमुनीश्वरान्।।
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रुगुरुवे नमः।।२।।

श्रीपरमगुरुवे नमः, परंपराचार्यगुरवे नमः। सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसंबंधक, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकमिदं पुण्यप्रकाशकं पापप्रणाशनं ग्रंथं श्री अनगार धर्मामृत श्री मूलाचारनामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवः, तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोनुसारमासाद्य श्रीमद् पंडित आशाधरजी आचार्येण विरचितं ग्रंथमिदं मंगलं भूयात्।

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुंदकुंदाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलंम्।
चिदानंदैकरूपाय जिनाय परमात्मने।
परमात्मप्रकाशाय नित्यं सिद्धात्मने नमः।।

श्रोतारः सावधानतया श्रुणवन्तु।।

श्रीजिनवाणी स्तुति।

वीर-हिमाचल तें निकसी गुरु गौतमके मुखकुण्ड ढरी है।
मोह-महाचल भेद चली, जगकी जडता-तप दूर करी है।।
ज्ञान पयोनिधिमांहि रली बहु भंग-तरं-गनि सों उछरी है।
ता शुचि शारद गंगनदी प्रति मैं अंजुरी करि शीश धरी है।।
या जग मंदिरमें अनिवार अज्ञान-अंधेर छयो अति भारि।
श्रीजिनकी ध्वनि-दीप-शिखा सम जो नहिं होत प्रकाशन हारि।।
तो किस भांति पदारथ-पाति कहां लहते, रहते अविचारी।
या विधि संत कहैं धनि हैं धनि हैं जिन बैन बडे उपकारी।।
जा वाणीके ज्ञान तैं सूझे लोक अलोक।
सो वाणी मस्तक चढा, सदा देत हूँ धोक।।

श्री अनगार धर्मामृत-प्रस्तावना

तेरहवीं शताब्दि के विद्वानों में महापंडित आशाधरजी अद्वितीय विद्वान हो गये हैं। उनकी कृति और कीर्तिको देखते हुए यह निश्चय होता है कि उस समय में इनके समान उद्भट और सार्वविषयक विद्वान दूसरा कोई न था। यद्यपि ये गृहस्थ थे फिर भी इनके धर्मोद्योतन. स्थितीकरण, अगाधज्ञान और उसके अपूर्व प्रभाव को अनेक राजाओं के हृदय में अंकित करने तथा उनके द्वारा महनीयता प्राप्त करने आदि कार्यों को देखकर उन्हे आचार्यकल्प कहने में बिल्कुल संकोच नहीं होता। महावीर भगवान् के इस शासन काल में दूसरा कोई गृहस्थ जैन समाज में आजतक भी इनके समान धर्मका प्रचार और इतना साहित्य निर्माण करनेवाला हुआ हो ऐसा हमको स्मरण नहीं होता। इन्होंने अपने जीवन कालमें अपने ज्ञानातिशय के द्वारा सैकडों को सन्मार्ग में लगाया था और स्वयं उत्कृष्ट सदाचार का पालन कर अपनी आत्मा के समान विन्ध्यवर्मा, अर्जुनवर्मा आदि अनेक नरेशों की राजनीतिको भी धार्मिकता से उद्दीपित कर दिया था। विन्ध्यवर्मा के सांधिविग्रहिक मंत्री महाकवि विल्हण आशाधरजी की विद्वत्ता पर कितने मुग्ध थे और उनको अपने भाई के समान समझते थे यह उनके उल्लेख से ही स्पष्ट होता है। कुछ शिलालेख आदिके वाक्यों से ऐसा भी अनुमान होता है कि महापंडित आशाधरजी के पिता-सल्लक्षण की भी राजमान्यता कुछ कम न थी। उन्हे राजा का पद प्राप्त था। इसीप्रकार आशाधरजी के पुत्र छाहड के ऊपर भी महाराज अर्जुनवर्मा अत्यंत प्रसन्न थे। यह बात इस अनगारधर्मामृत के अंतमें दी हुई प्रशस्ति में ही स्पष्ट उल्लिखित है। इससे ऐसा निश्चय होता है कि आशाधरजी के वंश में केवल आशाधरजी ही नहीं किंतु उनकी भूत भविष्यत्की मिलाकर कई पीडियों में राजमान्यता निरविच्छिन्नरूप से चली गई थी।

तत्तज्जातिके अग्रणी सेठ महीचंद्र और सेठ हरदेव आदि ने इनसे प्रार्थना की है, अनेक जैन अजैन विद्वानोंने इनकी भूरि भूरि प्रशंसा की है, यतिपति मदनकीर्ति सरीखोंने

इनको प्रज्ञापुंज पदकी भेट अर्पण की है, विल्हण सरीखे महाकवि इनकी तुलना से अपने को धन्य समझते हैं, बालसरस्वती मदन और वादीन्द्र विशालकीर्ति आदि बडे बडे पदवीधर इनके शिष्य थे, भट्टारक देवभद्र और विनयभद्रादिक इनके कृतज्ञ थे, और सरस्वती पुत्र यह जिनका सर्वमान्य पद था, उन पं. आशाधरजी की प्रशस्त समाजमान्यता कितनी अधिक थी यह सहज ही लक्ष्य में आ सकता है। राजमान्यता के साथ साथ ही समाजमान्यता भी प्राप्त करना अत्यंत कठिन है। सोमदेव सूरी ने एक जगह पर कहा है कि -

प्रजाविलोपो नृपतीच्छयाचेत्, प्रजेच्छया चाचरिते स्वनाशः।
न मंत्रिणां वेधविधायिनीवत् सुखं सदैवोभयतः समस्ति।।

अर्थात् :- राजनीति के ग्रंथ वांचने से ही कोई राजनीति का कार्यमंत्री आदि के पद को धारण कर नहीं कर सकता। यह कार्य अत्यंत दु:शक्य है; क्योंकि वह राजा और प्रजा दोनों के मध्य में रहा करता है। यदि वह राजा की इच्छानुसार कार्य करे तो प्रजा का कोप होता है, और प्रजा की इच्छानुसार करता है तो राजा के द्वारा उसका ही घात हो सकता है। अतएव चक्की के पाटों के बीच में लगी हुई उस कीली के समान उस व्यक्ति की अवस्था समझनी चाहिये कि जो जरा भारी होने पर ऊपर से और ज़रा भी हलकी होने पर नीचे से ठुका करती है। अस्तु। यह बात सिद्ध है कि महापंडित आशाधरजी केवल ग्रंथो का प्रवचन करनेवाले सर्वोत्कृष्ट अध्येता और अध्यापक ही न थे लोकदक्ष भी उतने ही उंचे दर्जे के थे। राजगुरु के भी गुरु का पद प्राप्त होना साधारण योग्यता का कार्य नहीं है।

महापंडित आशाधरजी की विद्वत्ता को अनेक गुणों की तरह सदाचार और संयम ने भी विभूषित कर रक्खा था। सदाचार की रक्षा का उन्हें कितना अधिक ध्यान था यह बात उन्ही के उल्लेख से विदित होती है, उन्होंने स्वयं इस बात को लिखा है कि हम तुर्कराज-यवनसम्राट् गजनी के सहाबुद्दीन गौरी ने जब हमारी जन्मभूमि पर आक्रमण कर दिया तब सदाचार के नष्ट होने के भय से ही उसको-जन्मभूमि-मण्डलगढ को छोडकर मालवा की धारा नगरी में आकर रहे, जिसके लिये लोग कहते हैं कि 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' उस स्वर्गोपम अथवा माता के समान प्रिय जन्मभूमि का केवल सदाचार

के लिऐ परित्याग कर देना एक मात्र दृढ़ धार्मिक निष्ठा का ही कार्य है। आगम में लिखा है कि यदि चारित्र में क्षति पडने का प्रसंग आवे-धार्मिक आचरण नष्ट होता हुआ दिखाई दे तो मनुष्य को चाहिये कि समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त हो जाय परंतु चारित्र को भग्न न होनें दे। क्योंकि

नावश्यंनाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः।
देही नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः।।

किंतु यह आज्ञा निरूपाय अवस्था के लिये है, जैसा कि अभी हालही में केशरियानाथजी-धुलेव में श्वेताम्बरों और उनके पक्ष के कुछ राजकर्मचारियों द्वारा मारे जाने पर कुछ दिगम्बरोंने कर दिखाया है। परंतु जहाँ तक हो उसका उपाय करना चाहिये। जब कोई भी उपाय सफल होता हुआ दिखाई न दे तो सल्लेखना ही करना उचित है। तात्पर्य यह कि जिससे धर्माचरण सुरक्षित रह कर जीवन बच सके ऐसा ही उपाय करना चाहिये। यदि धर्माचरण नष्ट होकर प्राण बचते हों तो वह उपाय धार्मिकों को मान्य नहीं है। अतएव जब चारित्र में क्षति पडती हुई दिखाई दी तो पं. आशाधरजी ने जन्मभूमि में रहना इस नीतिवाक्य के अनुसार धर्म और आत्मिक उन्नति तथा महत्ता प्राप्त करने बाधक में ही समझा कि -

आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमिवात्सल्यं।
संतोषो भीरूत्वं षड् व्याघाता महत्त्वस्य।।

धारा नगरी को छोडकर महापंडित आशाधरजी अंतिम अवस्था में नलकच्छपुर में आकार रहे थे। इसका हेतु जिन धर्म का उदय करना लिखा है। यद्यपि जिन के उदय का अर्थ उसकी प्रभावना तथा अन्य धर्मात्माओं के हृदय में उसकी दृढ़ता तथा उद्दीप्ति आदि कर देना भी हो सकता है परंतु उनकी अवस्था और अनेक वाक्य बतलाते है कि जिस समय में उन्होंने इस टीका आदि की रचना की है उस समय में वे अवश्य ही गृहनिवृत्त होंगे, और केवल धर्म सेवन करने के लिये ही वे नलकच्छपुर में आकर

रहे होंगे। क्योंकि जिस समय वे नलकच्छ में जाकर रहे उस समय उनकी अवस्था वृद्ध थी। इस टीका की रचना के समय उनकी अवस्था ७० वर्ष से कम न होगी। क्योंकि इनका जन्म विक्रम सं. १२३० के करीब हुआ था और इस टीका की समाप्ति वि. सं. १३०० में हुई है, फिर इन्होंने धारा में आने के बाद मालवा के राज्य की पाँच पीढियाँ देखली थीं। इसके सिवाय निम्नलिखित वाक्यों से उनके वैराग्यपूर्ण परिणाम भी प्रकट होते हैं। -

प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णोदु:खभीरुक:।
एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम्।।
सुखलालसया मोहात् भ्राम्यन्बहिरितस्तत:।
सुखैकहेतोर्नामापि स्तवं न ज्ञातवान् पुरा।।
अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात्किंचिदुन्मुख:।
अनन्तगुणमाप्तेम्यस्त्वां श्रुत्वा स्तोतुमुद्यत:।।

अतएव अनुमान होता है कि इस टीका की रचना से पूर्व ही वे गृहस्थाश्रम से निवृत्त हो चुके होंगे इस प्रकार महापंडित आशाधरजी का राजमान्यता, समाजमान्यता, कीर्ति, सदाचार और विरक्ति आदि गुणों की अविरुद्ध प्रवृत्ति को देखकर आजकल के लोगों को अनेक प्रकार की शिक्षाएँ लेनी चाहिये। खासकर उन लोगों को कि जो राजमान्यता, कीर्ति या आजीविका आदि के लिये सदाचार के क्षय की अपेक्षा नहीं रखते।

पं. आशाधरजी की जाति माता पिता पुत्रकलत्र आदि का नाम, जन्मभूमि, अधिकतर निवासस्थान और उनकी उपाधि आदि का ज्ञान उन्हीं की प्रशस्ति तथा कृति को देखने से हो सकता है, अतएव इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

आशाधरजी की विद्वता का परिचय उनके ग्रंथ ही दे रहे हैं। 'नाहि कस्तूरिकामोद: शपथेन प्रतीयते।'अतएव न्याय, साहित्य, कोष, वैद्यक, आचार, अध्यात्म, पुराण और कर्मकाण्ड आदि प्रत्येक विषय के उनके बनाये हुए शब्दत: प्रौढ और अर्थत: गंभीर अद्वितीय ग्रंथों के देखने से मालूम हो सकता है कि वे वास्तव में सरस्वती पुत्र प्रज्ञापुंज और कलिकालदास थे। इसके सिवाय उन्होंने अपने ज्ञान और कवित्व को बैलगाम नहीं बना

दिया था। उन्होंने प्रत्येक विषय के लिखते समय गुरु और आगम की आम्नाय का ध्यान रक्खा है। इस ग्रंथ में भी उन्होंने पद पद पर पूर्व विद्वानों और ऋषियों के वाक्य उद्धत किये हैं, जिससे यह बात स्पष्ट होती है कि उनकी आत्मा आगम के विरुद्ध एक अक्षर लिखने से भी काँपती थी और वे इस भयंकर पाप से अत्यंत भीत थे। इस ग्रंथ के अंत में जो उन्होंने श्री शांतिनाथ भगवान् से प्रार्थना की है कि 'कविजन समीचीन विद्या के रस को प्रकट करनेवाली ही कविता किया करे' उसका उन्होंने अक्षरश: पालन किया है और उसके द्वारा उन्होंने आजकल के निरर्गल लेखनी के स्वामी तथा अपनी विद्यावानरी का घर घर नर्तन करानेवालों के लिये आदर्श उपस्थित किया है।

यदि आशाधरजी विद्वानों के लिये भी दुर्बोध अपने ग्रंथों की टीका स्वयं न बनाते तो सचमुच में इस कालरात्रि के अंदर उनके अर्थ का मान होना असंभव नहीं तो दु:साध्य अवश्य हो जाता। अतएव जिस प्रकार अपनी अजरामर कृति कीर्ति के रूप में आज भी हमारे सामने उपस्थित महापंडित आशाधरजी की हम को पूजा करनी चाहिये, उसी प्रकार जिन भवात्माओनें प्रार्थना करके इस ग्रंथों को सनिबंध कराया है उन सेठ महीचंद्र और सेठ हरदेव प्रभृति के प्रति भी कृतज्ञतावश भक्ति पुष्पांजलि अर्पण करनी चाहिये।

पंडित आशाधरजीने जितने ग्रंथ बनाये हैं उनमें से अनेक ग्रंथ अभी अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रंथों में से यह अनगार धर्मामृत की टीका का उनका अंतिम ग्रंथ मालूम होता है इसके बाद उन्होंने कोई ग्रंथ बनाया या नहीं सो निश्चित बनाने का कोई साधन नहीं है। अस्तु। इस ग्रंथ की महत्ता पाठकों को वाचन पर स्वयं मालूम होंगी। परंतु इतना अवश्य कहेंगे कि इसका जैसा नाम है, यह ठीक वैसा ही है। आगम समुद्र का मंथन करके पंडित आशाधरजीने इस ग्रंथ के रूप में मुनिधर्म रूपी अमृत की ही सृष्टि की है।

यद्यपि इस ग्रंथ में मुनिधर्म की प्रधानता से उसीका वर्णन किया है, परंतु अंत का कुछ भाग ऐसा भी है कि जिसमें गौणरूप से षडावश्यक आदि श्रावकों की चर्या का वर्णन किया है तथा आदि का कुछ भाग जिसमें कि धर्म का फल बताया है और उसके बाद जहाँ पुष्पफल की भी तुच्छता या निंदा प्रकट की है वह भी श्रावकों के लिये उपयोगी है। इसके सिवाय मुनिधर्म का स्वरूप भी श्रावकों को जानना आवश्यक है। अतएव इससे निर्वाण साधुओं को ही नहीं श्रावकों को भी लाभ होगा ऐसा समझकर हमने इसको हिंदी भाषा में अनुवादित किया है।

अमृतचंद्र आचार्य ने कहा है कि :-

यो यतिधर्मकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्।।

इसीके अनुसार पंडित आशाधरजी ने धर्मामृत ग्रंथ की रचना की है। परंतु उसकी टीका रचना का काल उससे विपरीत है। अर्थात् सागारधर्मामृत जो कि इस ग्रंथ का उतरार्ध है उसकी टीका उस अनगार धर्मामृत - पूर्वार्ध की टीका से ४ वर्ष पहले बन चुकी है। दैवयोग से हिन्दी अनुवाद में भी यही घटना बनी है। सागारधर्मामृत का अनुवाद पंडित लालारामजी के द्वारा पहले हो चुका है और कई वर्ष हुए वह प्रकाश में भी आ चुका है। उसके बाद आज अनगार धर्मामृत मुझ अल्पबुद्धि के द्वारा अनुदित होकर पाठकों के करकमलों में अर्पित होता है; आशा है कि सहृदय मुमुक्षु विद्वान इससे लाभ उठावेंगे।

यद्यपि इसके अनुवाद विचार और प्रारंभ कई वर्ष हुए तभी हमने किया था परंतु अनेक विघ्नों के वश पूर्ण नहीं किया जा सका था। अस्तु। आज इसको पूर्ण करते हुए हम श्री जिनेन्द्र भगवान् के चरणों में भक्तिपुष्पांजलि का अर्पण करते हैं। और यह अनुवाद सोलापुर निवासी द्वितीयप्रतिमाधारी श्रीमान् सेठ रावजी सखाराम दोशी की प्रेरणा और श्रीयुत सेठ खुशालचंदजी गांधी (नाथारंगजीवाले) द्वारा श्री नाथारंगजी जैनोन्नतिफंड की सहायता से प्रकाशित होता है। अतएव उक्त दोनों ही भव्यात्माओं के प्रति पुनः पुनः कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं। अंत में पाठकों की सेवा में भी निवेदन है कि अल्पज्ञता के कारण यदि हम से कहीं अर्थ विपर्यास या लिखने में स्खलन हो गया हो तो क्षमा करें और उसका संशोधन करने की कृपा करें।

सोलापुर ता. १ - ६ - १९२७ **प्रार्थी - खूबचंद**

इस प्रस्तावना सहित ग्रंथ का पुनर्मुद्रण करके ग्रंथदान कार्य में श्रीमान खुशालचंद पानाचंद गांधी तथा उनके भाई श्रीमान भाईचंद पानाचंद गांधी के द्वारा धर्मभाव से संमति मिली जिस कारण समिति का कार्य सुलभ और सत्वर हो सका इसलिये संस्था उनकी आभारी है। संस्था के सन्मान्य सदस्य श्रीमान सेठ गंगाराम कामचंद दोशीजीने इस ग्रंथ

के प्रकाशन कार्य में प्रेसवालों के बारे में और हर तरह से जो अपूर्व सहयोग दिया है वह उल्लेखनीय हैं। इसलिये उनको अनेक धन्यवाद। श्री अनगार धर्मामृत ग्रंथ का प्रूफ संशोधनादि कार्य में श्री. पं. अभयकुमार शिवगौडा पाटील शास्त्री, रांगोलीकर का सहयोग प्राप्त हुआ। इसलिये उनका भी उल्लेख करना उचित है।

इस ग्रंथ की मुद्रणकार्य को थोडे ही समय में पूर्ण करके श्री गजानन प्रेसवालोंने ग्रंथ प्रकाशन कार्य में संस्था को उत्साहित करते हुए जो कार्यतत्परता दिखाई है उसके लिये श्री. ल. व. भागवत, गजानन प्रेस, सातारा धन्यवाद के लिये पात्र है।

'प. पू. चा. च. श्री १०८ आ. शांतिसागर दि. जैन जि. जी. संस्था'
- 'श्रुतभंडार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण'

अध्याय सूचि

प्रथम अध्याय - मंगलाचरण, ग्रंथ प्रतिज्ञा, धर्म की महिमा, स्वंच्छंद प्रवृत्ति की निंदा, रत्नत्रय का संक्षिप्त स्वरूप इस अध्याय में बताया है।

द्वितीय अध्याय - सम्यग्दर्शन का वर्णन, मिथ्यात्व का स्वरूप, मिथ्यात्व व सम्यक्त्व की सामग्री, द्रव्य व तत्त्वों का स्वरूप, सम्यक्त्व की महिमा, सम्यक्त्व के अतीचार, आठ मद, अनायतन सेवा का निषेध, आठ अंग इतने विषयों का वर्णन है।

तृतीय अध्याय - सम्यग्ज्ञान की आराधना, ज्ञान के पांच भेद, श्रुतज्ञान का विशद स्वरूप व भेद - लक्षण, ज्ञान के विनय, स्वाध्याय की आवश्यकता, इस अध्याय में ये विषय हैं।

चतुर्थ अध्याय - चारित्र की आराधना, दया की महिमा व स्वरूप, हिंसा का विशेष वर्णन, जीवों के भेद, हिंसादि पांच पापों का स्वरूप, पांच व्रतों का स्वरूप, व्रतों के अतीचार, काम का विशेष स्वरूप, प्रत्येक व्रत की भावना, गुप्तियों का स्वरूप, सामायिक संयम का स्वरूप ये बातें इस अध्याय में कही हैं।

पंचम अध्याय - पिंडशुद्धि अर्थात् आहारशुद्धि का वर्णन, आहार संबंधी उदगमादिक दोष, बत्तीस अंतराय यह वर्णन है।

छठा अध्याय - दश धर्म, क्रोधादि कषायों से होनेवाली हानि, भिक्षादि आठ शुद्धि, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहों का वर्णन किया है।

सातवाँ अध्याय - तप का वर्णन, ज्ञानादि के विनय, सल्लेखनाका स्वरूप है।

आठवाँ अध्याय - आवश्यकों का वर्णन, आसनो के भेद, वंदनादिके दोष इत्यादि वर्णन है।

नवम अध्याय - ध्यान तथा स्वाध्याय के समयादिक का वर्णन, नित्य तथा आष्टान्हिकादि नैमित्तिक क्रियाओं का स्वरूप, भूमिशयनादि मूल गुणों का स्वरूप यह नौवें अध्याय मे कहा है।

श्री वीतरागाय नमः

(वीर संवत् २४८१) ।।ॐ नमः सिद्धेभ्यः।। (ग्रंथ प्रकाशन, समिति फलटण

।।महापंडित श्री आशाधर कृत अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका।।

शास्त्र के प्रारंभ में आप्त की स्तुति करना आवश्यक है; क्योंकि -

नास्तिकत्वपरीहारः शिष्टाचारप्रपालनम्।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात्।।

शास्त्र के आदि में आप्त की स्तुति करने से नास्तिकता का परिहार, शिष्टाचार का पालन, पुण्य की प्राप्ति और विघ्नों का अभाव अथवा निर्विघ्नतया पुण्य की प्राप्ति होती है; अतएव श्रीमान् महापंडित आशाधरजी परम आराध्य सिद्धभगवान, अर्हंत परमेष्ठी, परम आगम और उसके कर्ता व्याख्याता तथा देशना - उपदेश, इनका अपनी इष्टसिद्धि के लिये क्रम से और विनय से स्मरण तथा स्तवन करते हैं :-

हेतुद्वैतबलादुदीर्णसुदृशः सर्वंसहा सर्वश -
स्त्यक्त्वा सङ्गमजस्रसुश्रुतपराः संयम्य साक्षं मनः।
ध्यात्वा स्वे शमिनः स्वयं स्वममलं निर्मूल्य कर्माखिलं
ये शर्मप्रगुणैश्चकासति गुणैस्ते भान्तु सिद्धा मयि।।१।।

दोनो हेतुओं के बल से उद्गत है सम्यग्दर्शन जिनका, और जो समस्त परिषहों व उपसर्गों को जीतकर तथा परिग्रह का सर्वथा त्याग कर निरंतर समीचीन श्रुत के अभ्यास में तत्पर रह इन्द्रियों व मन का निरोध कर तृष्णारहित हो अपनी आत्मा में अपने निर्मल आत्मस्वरूप का ही ध्यान कर जो जीव समस्त कर्मों का मूलोच्छेदन कर, सुख ही है प्रधान स्वरूप जिनका ऐसे सिद्ध पद को, प्राप्त कर लेते हैं; अपने उन गुणों के द्वारा नित्य ही प्रकाशमान रहते हैं वे मेरी आत्मा में प्रकाशित हों।

भावार्थ :- 'हिनोति इति हेतुः' इस निरुक्ति के अनुसार जो कार्य को कारकपने से और ज्ञाप्य को ज्ञापकपने से व्याप्त करता है उसको हेतु कहते हैं। इसीलिये हेतु दो प्रकार का होता है; एक कारक हेतु दूसरा ज्ञापक हेतु। किंतु यहाँ पर केवल कारकहेतु को ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि सम्यग्दर्शनादि के साथ जो उदीर्ण आदि पद दिया है उससे उनके कार्यरूप बताने का ही प्रयोजन (अभिप्राय) है।

कारक हेतु भी दो प्रकार का होता है; एक अंतरंग दूसरा बाह्य। इन दोनों हेतुओं की सामर्थ्य से जिन जीवों के सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया है; और उसके बाद क्रम से जिन्होंने परिग्रह का त्याग कर निरंतर समीचीन श्रुत का अभ्यास किया है; और उसके बाद इंद्रिय व मन का निरोध कर जिन्होंने शुद्धात्मा का ध्यान किया है वे जीव अंत में समस्त कर्मों को निर्मूल कर सुखमय सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। इन्ही को पूर्ण परमात्मा कहते हैं। और ये ही सब जीवों के लिये ध्येय हैं। अतएव ग्रंथकार उनकी स्तुति करते हुए भावना प्रकट करते हैं कि वे सिद्ध भगवान् मेरी आत्मा में प्रकाशित हों - मुझे भी वह परमात्म अवस्था प्राप्त हो।

यद्यपि यहाँ पर अंतरंग और बाह्य कारणों की सामर्थ्य का सम्बन्ध सम्यग्दर्शन की प्रकटता के साथ ही दिखाया है; फिर भी उसके अनंतर निर्दिष्ट और उसके उत्पन्न हो जाने पर ही उत्पन्न होनेवाले परिग्रहत्यागादि कार्यों के साथ भी उसका संबंध लगा लेना चाहिये। क्योंकि वह शब्द आदि दीपक है। और इसके सिवाय एक बात यह भी है कि, सभी कार्यो की उत्पत्ति अंतरंग और बाह्य दोनों कारणों के ऊपर ही निर्भर है। इन दोनों कारणों के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। सम्यक्त्व के अंतरंग कारण - निकटभव्यता आदि और बाह्य कारण उपदेश आदिक हैं। जैसा कि आगम में भी कहा है। यथा :-

आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः।
सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च।।

निकटभव्यता, कर्महानि, संज्ञित्व और शुद्ध परिणाम ये सम्यग्दर्शन के अंतरंग कारण हैं। और बाह्य कारण उपदेशादिक हैं। यहाँ पर सम्यग्दर्शन के ही अंतरंग और बाह्य कारण बताये हैं। किंतु इसी तरह परिग्रहत्यागादिक के भी दोनों कारण होते हैं; जो कि आगम के अनुसार दूसरे ग्रंथो से समझ लेने चाहिये। सम्यग्दर्शन में जो दर्शन शब्द है वह यद्यपि दृश धातु से बना है जिसका कि अर्थ देखना होता है। फिर भी यहाँ पर उसका अर्थ श्रद्धान ही करना चाहिये। क्योंकि, प्रकरण के अनुसार धातुओं के अनेक अर्थ हुआ करते हैं। यथा :-

निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः।
अनेकार्थाः स्मृताः सद्भिः पाठस्तेषां निदर्शनम्।।

निपात, उपसर्ग और धातु इन तीनों के अनेक अर्थ होते हैं। किंतु कहाँ पर किसका क्या अर्थ होना चाहिये ? इसके लिये आम्नाय ही प्रमाण है। अतः प्रकरण के अनुसार ही उनका अर्थ हुआ करता है। पाठों में जो इनके अर्थ लिखे हैं वे केवल दिग्दर्शन कराने के लिये अथवा उदाहरण मात्र समझने चाहिये।

पदार्थों के स्वरूप से विपरीत स्वरूप का अभिनिवेश - आग्रह न करना किंतु पर या अपर सभी वस्तुओं का, जिस स्वरूप में वे अवस्थित हों उसी स्वरूप के अनुसार उनका, श्रद्धान करना इसको दर्शन कहते हैं। इसके साथ जो सु-शब्द दिया है उसके दो अर्थ होते हैं। एक प्रशंसा; दूसरा पूर्णता। क्योंकि यह दर्शन अपने से नीचे के स्थानों की अपेक्षा शंकादि दोषों से रहित होने के कारण प्रशस्त, और अपने ऊपर के स्थानों की अपेक्षा अधिक, निश्चल क्षायिकरूप होने के कारण संपूर्ण कहा जाता है। सूत्रकार - उमास्वामी महाराजने भी सम्यग्दर्शन का ऐसा ही लक्षण कहा है। यथा - 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इसका भी यही अर्थ है कि - आत्मा के, ऐसी आत्माके कि जिसके दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम क्षय या क्षयोपशम हो जाने से वह कारणभूत शक्तिविशेष प्रकट हो गई है, तत्त्वार्थ के श्रद्धानरूप उस परिणाम को सम्यग्दर्शन कहते हैं, जो कि

ज्ञान को समीचीन ज्ञान कहाने के लिये कारण है।

अपने अपने निमित्त के पाते ही आ उपस्थित होनेवाले उन परीषहों व उपसर्गों से जो आविर्भूत नहीं होते - जीते नहीं जा सकते; जिनको कि सहने के लिये आगम में उपदेश दिया गया है, किंतु धृति आदि भावना के बल से अथवा महान् पराक्रम और वज्रतुल्य शरीर से युक्त रहने के कारण जो उन्हें सहते है उनको सर्वंसह कहते हैं। इस प्रकार के सर्वंसह और उक्त सम्यग्दर्शन के धारण करनेवाले ही भव्यात्मा सिद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिये संग - परिग्रह के सर्वशः त्यागादि करने में प्रवृत्त हो सकते हैं।

संग - परिग्रह बाह्य और अभ्यंतर के भेद से दो प्रकार का है। इसका समान्य और विशेष लक्षण आगे कहेंगे। फिर भी निरुक्ति के अनुसार यहाँ पर इतना अर्थ अवश्य समझ लेना चाहिये कि यह जीव अपनी चेष्टा या उपयोगरूप प्रवृत्ति के द्वारा 'मेरा' और 'मैं' इस तरह के ममकार और अहंकार से जिन विषयों में आसक्त होता है उन विषयों को और उस आसक्ति को संग कहते हैं। सर्वशः इस शब्द में सर्व - शब्द से जो शस् प्रत्यय की गई है वह प्रशंसार्थक है। इससे परिग्रह के त्याग की प्रशस्तता प्रगट की गई है। क्योंकि जितने भी मोक्ष के माननेवाले हैं वे सभी समस्त परिग्रह के त्याग को मोक्ष का कारण अवश्य मानते हैं। क्योंकि इसके बिना उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। इस कथन से संक्षेपरुचिवाले शिष्यों की अपेक्षा से यहाँ पर सम्यक्त्वाराधना तथा चारित्राराधना का भी वर्णन कर दिया गया; ऐसा भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि दर्शन का ज्ञान के साथ और चारित्र का तप के साथ अविनाभाव है। और इसीलिये समस्त परिग्रह के त्याग में उक्त दोनों आराधनाओं का अंतर्भाव हो जाता है।

इस प्रकार उक्त सम्यग्दर्शन का लाभ करनेवाला भव्यात्मा परिग्रह का सर्वशः त्याग करने पर सिद्धावस्था प्राप्त करने की इच्छा से समीचीन श्रुत का अभ्यास करनेमें निरंतर तत्पर रहता है। सामान्य से अस्पष्ट तर्कण - ऊहापोहरूप ज्ञानविशेष को श्रुत कहते हैं। जो श्रुत अपनी आत्मा के स्वरूप की तरफ उन्मुख रहा करता है वही प्रशस्त समझा जाता है। इसी प्रशस्त श्रुत के अभ्यास में उक्त सम्यग्दृष्टि तथा परिग्रह का त्यागी निरंतर रत रहा करता है। श्रुत शब्द श्रु धातु से बना है। जिसका कि अर्थ सुनना होता है। फिर भी जिस प्रकार सम्यग्दर्शन में दृश् धातु का श्रद्धान अर्थ किया था उसी प्रकार यहाँ भी श्रु धातु का ज्ञानविशेष ही अर्थ करना चाहिये। जिसमें श्रुतज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय

कर्म के क्षयोपशम से ऊहापोह करने की शक्ति प्रकट हो गई है और जिसमें साक्षात् अथवा परंपरा से लगे हुए मतिज्ञान विशेषणने अतिशय उत्पन्न कर दिया है उस आत्मा के अस्पष्टतया नाना पदार्थों के प्ररूपण कर सकनेवाले ज्ञानरूप परिणाम विशेष को श्रुत कहते हैं। कहा भी है कि -

'मतिपूर्वं शब्दयोजनसहितमूहनं श्रुतमिति तच्छ्रुत्तम्'

शब्द के संबंध से होनेवाले मतिपूर्वक तर्कण - विचार को श्रुत कहते हैं। यथा-

एको मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सब्बे संजोगलक्खणा।
संजोगमूलं जीवेण पत्ता दु:खपरंपरा।
तम्हा संजोगसंबंधं सव्वं तिविहेण वोस्सरे।।

'मेरा यह एक शाश्वत आत्मा ही ज्ञानदर्शनलक्षणवाला या ज्ञानदर्शन स्वरूप है और बाकी के जितने ये बाह्य भाव - पदार्थ हैं उन सबसे मेरा केवल संयोग ही है। आज तक इस जीवने जो दु:खपरंपरा प्राप्त की है उसका मूल यही संयोग है। अतएव मैं मन वचन और काय इन तीनों ही के द्वारा समस्त संयोग को ही छोडता हूँ।।'

इन शब्दों का ज्ञान हो जाने पर जो विशेष ऊहापोहरूप तर्कणा होती है उसीको श्रुतज्ञान कहते हैं।

श्रुत शब्द के साथ जो पर - शब्द का प्रयोग किया है वह प्रधान अर्थ में है; जैसा कि ऊपर भी दिखाया गया है। इस प्रधानार्थक पर - शब्द के प्रयोग से यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि जो स्वार्थ - ज्ञानात्मक श्रुतज्ञान की भावना में सदा लीन रहते हैं वे भी कदाचित् अनादिकालीन वासना के वश से परार्थ शब्दात्मक श्रुतज्ञान में तत्पर हो जाया करते हैं। परार्थ श्रुतज्ञान की अपेक्षा श्रुत शब्द का अर्थ, 'श्रूयते - श्रुतम्' इस निरुक्ति के अनुसार जो सुना जाय उसको श्रुत कहते हैं, ऐसा होता है। इससे श्रुत-शब्द शब्दप्रधान हो जाता है। यहाँ पर इस अपेक्षा में श्रुत - शब्द के साथ जो 'सु' शब्द लगा है उसका प्रयोजन शब्दात्मक श्रुतज्ञान की प्रशंसा दिखाने का है। शब्द वे

ही प्रशंसनीय हैं कि जिनके द्वारा शुद्ध और चिदानंदस्वरूप आत्मा का प्रतिपादन किया जाय, या उसके विषय में प्रश्नादि किये जाय। क्योंकि मोक्ष की इच्छा रखनेवालों को ऐसा ही श्रुत अभिमत हो सकता है। और इसीका नाम 'सुश्रुत है।' कहा भी है कि -

तद् ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यात्मकं रुपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्।।इति।
अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्पृष्टव्यं तदेष्टव्यं तद् दृष्टव्यं मुमुक्षुभिः।।इति च।

शुद्ध चिदानंदस्वरूप आत्मा का ही वर्णन करना चाहिये, और इस विषय के प्राप्त करनेवालों अथवा अभिज्ञों से उसे पूछना चाहिये, और इसीकी इच्छा करनी चाहिये, तथा वैसा ही होना भी चाहिये। जिससे कि तू अज्ञानमय अवस्था को छोडकर ज्ञानमय अवस्था को प्राप्त हो।

महान् ज्ञानमय ज्योति ही एक ऐसी चीज है जो कि अविद्यारूपी अंधकार का भेदन करने में अतिदक्ष है। अतएव मुमुक्षुओं को वही देखनी चाहिये। इसीको ज्ञानाराधना कहते हैं। क्योंकि निरंतर समीचीन श्रुत में तत्पर रहने का ही नाम ज्ञानाराधना है।

इस प्रकार ज्ञान का आराधन करनेवाला पहले संयम को धारण करता है, पीछे दूसरा काम करता है। स्पर्शनादिक इन्द्रियों व उनके साथ प्रवर्त्तमान मन को अपने - अपने विषय से रोकने को संयम कहते हैं। अपने - अपने आवरण (जैसे स्पर्शनेन्द्रियावरण रसनेन्द्रियावरण इत्यादि) कर्म का और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर आत्मा अपनी अपनी योग्यता के अनुसार स्पर्शादि विषयों को जिनके द्वारा जानता है उनको अक्ष अर्थात् इन्द्रिय कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं - स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र। इनमें प्रत्येक के दो भेद हैं - एक द्रव्येन्द्रिय, दूसरा भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं - निर्वृत्ति और उपकरण। इन्द्रियाकार रचना को निर्वृत्ति और उसके काम में सहायता करनेवाले को उपकरण कहते हैं। भावेन्द्रिय के दो भेद हैं - लब्धि और उपयोग। अपने अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम की प्राप्ति को लब्धि तथा अपने अपने विषय की तरफ प्रवृत्ति करने को उपयोग कहते हैं। इसी प्रकार नोइन्द्रियावरण तथा वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम

होने पर आत्मा जिसके द्वारा द्रव्य मन की सहायता से मूर्त या अमूर्त वस्तु को जानता है और उनके गुणदोषों के विचार या स्मरणादिरूप उपयोग से ऊहापोह करता है उसको मन कहते हैं। यह लक्षण भावमन की अपेक्षा से है। क्योंकि गुणदोषों का विचार या स्मरणादिरूप उपयोग भावमन का ही कार्य है। इस विषय में कहा भी है -

गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानमात्मनो भावमनः।
तदभिमुखस्यास्यैवानुग्राही पुद्गलोच्चयो द्रव्यमनः।।

अर्थात् :- गुणदोषों के विचार या स्मरणादिरूप आत्मा के उपयोग को भावमन, तथा उसके लिये अभिमुख हुए उसी आत्मा को सहायता करनेवाले पुद्गलपिंड को द्रव्य मन कहते हैं। इन उपर्युक्त इन्द्रियों व मन के रोकने को ही संयम कहते हैं और इसीका नाम तप आराधना है। क्योंकि इन्द्रिय तथा मन के निरोध को ही तप कहते हैं। तथा यही व्यवहार से मोक्षमार्ग भी है।

इस प्रकार व्यवहार से मोक्षमार्ग का साधन कर सिद्धपद का अभिलाषी ध्यान में प्रवृत्त होता हैं। सब विषयों से हटाकर एक ही विषय की तरफ उपयोग के लगाने को ध्यान कहते हैं। उक्त प्रकार का तपस्वी अपनी निर्मल आत्मा को ही इस ध्यान का विषय बनाता है। जिससे कि वह अपनी उस निर्मल आत्मा के विषय में भी राग-द्वेष और मोह से रहित हो जाता है। तथा सान्द्र - अत्यंत निबिड आनंदस्वरूप शुद्ध निजात्मा का अनुभव हो जाने से वह अत्यंत तृप्त और परम प्रशम तथा तृष्णाराहित्य को प्राप्त हो जाता है। यहाँ तक कि स्वयं ध्येय के विषय में भी वह तृष्णारहित हो जाता है। ऐसा ही कहा भी है -

किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वतः।
ध्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्यं तत्र बिभ्रता।।इति।

अधिक कहने से क्या प्रयोजन ? तत्त्वतः पदार्थो को जान कर तथा श्रद्धान कर उनके विषय में माध्यस्थ्य - राग द्वेष और मोह से रहित अवस्था को धारण करनेवाले

के लिये ये सभी ध्येय हैं। इस प्रकार से ध्यान करनेवाला द्रव्यकर्म और भावकर्म से रहित, तथा स्व और पर पदार्थों की ज्ञप्तिरूप, पदार्थों के यथावस्थित स्वरूप से विपरीत स्वरूप के अभिनिवेश - आग्रह तथा संशय विपर्यय अनध्यवसाय से रहित, परम औदासीन्यस्वरूप, सारांश यह कि अनंत शुद्धज्ञानानंदस्वरूप अपनी आत्मा का स्वयं संवेदनरूप से ध्यान करता है। इस प्रकार के ध्यान करने को ही निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं। कहा भी है -

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयदु अण्णदवियम्हि।
तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा।।इति।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, आत्मा को छोड कर किसी अन्य द्रव्य में नही रहते अतएव रत्नत्रयात्मक आत्मा ही मोक्ष का कारण है।

इस निश्चय मोक्षमार्गरूप ध्यान के बल से उक्त भव्य समस्त कर्मों को निर्मूल कर देता है। मिथ्यादर्शनादि से परतंत्र हुआ आत्मा अपने साथ जिस चीज को बाँधता है उसको अथवा परतंत्रता के निमित्त और आत्मप्रदेशों के परिस्पंदरूप ज्ञानावरणादिक को भी कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं - द्रव्यकर्म और भावकर्म। आत्मा के साथ बँधनेवाले ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलपिंड को द्रव्यकर्म और उससे होनेवाले आत्मिक भावों को भावकर्म कहते हैं। घाति अघाति अथवा बादर सूक्ष्म इस तरह भी कर्म के दो दो भेद होते हैं। आत्मा के अनुजीवी गुणों के घातनेवालों को घाति और प्रतिजीवी गुणों के घातनेवालों को अघाति कर्म कहते हैं। तथा जो अनुभव में आसकें उनको बादर और जो अनुभव में न आ सकें उन्हें सूक्ष्म कहते हैं। इन कर्मों को निर्मूल कर वह भव्य सुखप्रधान गुणों से सदा प्रकाशमान रहता है। सब गुणों में सुख को प्रकृष्ट कहने का प्रयोजन यह है कि वही सब जीवों को सबसे अधिक अभीष्ट है। और दूसरे अनंत गुण इस परम आनंदस्वरूप अमृत से सिक्त रहते हैं। इस प्रकार समस्त कर्मों के क्षय से सिद्धावस्था प्राप्त हो जाने पर यद्यपि सुखादिक अनंत स्वाभाविक गुण प्रकट हो - जाते हैं, फिर भी आठ कर्मों के अभाव की अपेक्षा से प्रधानतया आठ गुणों से वे सदा प्रकाशमान रहते हैं। जिनमें कि - मोहनीय कर्म के क्षय से परम सम्यक्त्व अथवा सुख, ज्ञानावरण के क्षय से अनंतज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से अनंतदर्शन, और अंतरायकर्म के क्षय से

अनंतवीर्य प्रकट होता है। वेदनीय कर्म क्षय से अव्याबाध अथवा इंद्रियजनित सुखों का अभाव, आयु:कर्म के क्षय से परमसूक्ष्मता अथवा जन्ममरण का विनाश, नामकर्म के क्षय से परम अवगाहन अथवा अमूर्तत्व, और गोत्रकर्म के क्षय से अगुरुलघुत्व अथवा दोनों कुल का अभाव होता है। इन गुणों से सदा प्रकाशमान रहनेवाले तथा सिद्धि - स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त करनेवाले वे सिद्ध परमात्मा मुझ ग्रंथकर्ता की तथा इस ग्रंथ के अध्ययन करनेवालों की आत्मा में व्यक्त स्वसंवेदन के विषय हों *।

इस प्रकार सिद्ध भगवान् की स्तुति का, पदों की अपेक्षा से, अर्थ किया गया है। क्योंकि अवयवों के अर्थ का परिज्ञान हुए विना समुदाय का अर्थ समझ में नहीं आ सकता। अतएव उक्त सब कथन का तात्पर्य समुदायरूप से भी यहाँ बता देते हैं। वह इस प्रकार है कि - जो भव्य, चाहे वे अनादिमिथ्यादृष्टि हों चाहे सादिमिथ्यादृष्टि, किंतु, अंतरंग और बाह्य कारणों के बल से सम्यग्दर्शन का लाभ करने पर समस्त परीषहों व उपसर्गों के जीतने की क्षमता प्राप्त होने से सर्व परिग्रह का त्याग कर निरंतर समीचीन श्रुत के अभ्यास में रत रहते हुए समस्त इन्द्रियों तथा मन का अपने विषयों से निरोध कर और उस प्रकार का अभ्यास कर लेनेपर स्वयं अपनी शुद्धात्मा में शुद्ध निजात्मस्वरूप का ध्यान कर; यहाँ तक कि उसमें भी तृष्णारहित हो, समस्त घातिकर्मों को नष्ट कर स्वाभाविक और निश्चल चैतन्य से युक्त - सकल परमात्म अवस्था को प्राप्त हो जाते है; और फिर क्रम से अघातिकर्मों को भी दूर कर लोक के अंत में स्थित हो केवल सम्यक्त्व केवलज्ञान केवलदर्शन और सिद्धत्व से सदा प्रकाशमान रहते हैं - विकल परमात्मअवस्था को प्राप्त हो जाते हैं - वे भगवान् सिद्धपरमेष्ठी मुझमें नोआगमभावरूप से मेरी आत्मा को ही प्रकाशित करें।

देखा जाता है कि अर्हंतादिक के गुणों में अनुराग रखनेवाले तथा विचारपूर्वक कार्य करनेवाले सभी पूर्वाचार्योंने अपने लिये ज्ञानदान के अंतराय को और श्रोताओं के लिये ज्ञानलाभ के अंतराय को दूर करने की इच्छा से शुभ परिणामों के द्वारा अशुभ कर्म

---

* इस पद्य में ग्रंथकर्ताने केवल सिद्ध भगवान् के गुणों की स्तुति नहीं की है किंतु अपने द्वारा प्राणीमात्र के अंतिम साध्य और उसकी सिद्धि के उपाय तथा उपाय के क्रम का भी वर्णन कर दिया है। तथा बता दिया है कि जिस क्रम के अनुसार और जिस उपाय से वह साध्य सिद्ध हो सकता है उसीका इस ग्रंथ में हम वर्णन करेंगे।

प्रकृतियों के रस के प्रकर्ष को निर्मूल नष्ट कर अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये अपने अपने शास्त्र की आदि में इच्छानुसार अर्हंतादिक समस्त उपास्यों की ही स्तुति की है। अतएव इस ग्रंथ की आदि में ग्रंथकारने भी अपने तथा पर - श्रोताओं के विघ्नों को दूर करने के लिये पहले सिद्धों का और पीछे अर्हंतों का नांदीमंगलरूप से विनयकर्म किया हैं। क्योंकि जो जिस गुण का अभिलाषी होता है वह उस गुणवाले की उपासना करता है। अतएव सिद्धत्वगुण के अभिलाषी ग्रंथकारने सबसे पहले सिद्धों की ही उपासना की है। इसके बाद अर्हंतों की भी उपासना की है। क्योंकि सिद्धत्व की प्राप्ति के लिये जिस उपाय की आवश्यकता है उसके सर्वप्रधान उपदेशक अर्हंत ही हैं। कहा भी है कि -

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,
प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादप्रबुद्धै,-
र्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।।इति।

अर्थात् :- भव्यों के अभीष्ट फल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है, जो कि उस शास्त्र से उत्पन्न होता है कि जिसकी उत्पत्ति आप्त से होती है। अत एव उसके प्रसाद से प्रबुद्ध होनेवालों के लिये वह आप्त अवश्य ही पूज्य है। क्योंकि साधु पुरुष किसीके भी किये हुए उपकार को भूलते नहीं हैं।

इसी प्रकार एक दूसरी बात यह भी है कि मोक्ष की अत्यंत इच्छा रखनेवालों को परमार्थ से सबसे पहले सिद्ध परमात्माओं की उपासना करनी चाहिये। इसी बात को दिखाने के लिये ग्रंथकार ने पहले सिद्धों की आराधना की है। कहा भी है कि -

सपयत्वं तित्ययरं अधिगतबुद्धिस्स सुतरोयस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपदं तस्स।।
तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य भविय पुणो।
सिद्धेसु कुणदि भंती णिव्वाणो तेण पप्पोदी।।इति।

जो जीव अपनी आत्मा का अंतिम साध्य अर्थ तीर्थंकर पद को मानता है वह चाहे सूत्रों में रुचि रखनेवाला ही क्यों न हो; निर्वाण - मोक्ष और उसके साधन संयम तपःसंपत्ति से बिलकुल दूर है, अतएव निर्वृत्ति की इच्छा रखनेवालों को निःसंग और निर्मम होकर सिद्धों में भक्ति करनी चाहिये - अपना अंतिम साध्य अर्थ सिद्धपद को ही समझना चाहिये, जिससे कि वस्तुतः निर्वृत्ति की प्राप्ति हो सके।

इस प्रकार अनंत ज्ञानादिगुणों के समूह को प्राप्त करने की इच्छा से ग्रंथकार पहले सिद्धों की आराधना करके अब उसके उपाय बतानेवालों में सबसे श्रेष्ठ, तीन जगत् के ज्येष्ठ- गुरु, और समस्त संसार के अद्वितीय शरण्य भगवान् अर्हद्भट्टारक की शरण प्राप्त करना मनमें रखकर उनकी स्तुति करते हैं।

श्रेयोमार्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्वल्द्दुःखदाव -
स्कंधे चङ्क्रम्यमाणानतिचकितमिमानुद्धरेयं वराकान्।
इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसद्भावनोपात्तपुण्य
प्रक्रान्तैरेव वाक्यैः शिवपथमुचितान् शास्ति योर्हन् स नोऽव्यात्।।२।।

इस संसाररूपी वन में जिसमें कि दुःखों के दावानल का स्कंध बार बार और अच्छी तरह जल रहा है। इधर उधर भ्रमण करनेवाले किंतु कल्याण के मार्ग से अनभिज्ञ प्राणियों के विषय में अत्यंत चकित होकर उत्पन्न हुई, और बढ़ रहा है परोपकार के रस का विलास जिससे ऐसी - विविध प्रकार के दुःखो से अत्यंत त्रस्त हुई, 'तीन जगत के जीवों का मैं एकसाथ ही कब उद्धार कर दूं' इस भावना - तीर्थंकरत्व भावना के बल से संचित हुए पुण्य-तीर्थंकर प्रकृति के निमित्त से ही उत्पन्न हुए वाक्यों के द्वारा जो अर्हंत देव, सभा में आये हुए भव्यों को कल्याण के मार्ग का उपदेश देते हैं वे मेरी रक्षा करो।

भावार्थ :- जहाँ पर नरक तिर्यंच मनुष्य और देव इन चारों गतियों में जीव जन्ममरण को धारण करते हुए सदा से रह रहे हैं उसको भव या संसार कहते हैं। यह संसार एक प्रकार का वन है। क्योंकि जिस प्रकार वन अनेक दुःखों का निमित्त होता है

उसी तरह इसमें भी जीव विविध प्रकार के दु:खों का भोग करते हुए ही रह रहे हैं। यद्यपि ये सांसारिक दु:ख जिनको कि यह संसारी जीव निरंतर भोगता रहता है, अनेक प्रकार के हैं फिर भी वे चार भागों में विभक्त हैं - सहज, शारीर, मानस और आगंतुक। सरदी गरमी धूप वर्षा आदि ऋतुओं के निमित्त से अथवा भूख प्यास आदि से होनेवाले परिताप को साहजिक, शरीर में होनेवाली बीमारी आदि के निमित्त से उत्पन्न हुए क्लेश को शारीरिक, चिंता शोक संज्ञा रति आदि के द्वारा हुए संताप को मानसिक, और किसी मनुष्य देव या तिर्यंचादि के निमित्त से आ उपस्थित होनेवाली बाधाओं को आगंतुक दु:ख कहते हैं। जब कि संसार एक प्रकार का वन है तो उसमें होनेवाले ये दु:ख दावानल हैं। क्योंकि जिस प्रकार दावानल से वहाँ पर रहनेवालों को [१] विनाशांत विविध प्रकार की शारीरिक और मानसिक आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं उसी प्रकार इन दु:खों से भी अपने से संबद्ध अथवा संसार में रहनेवाले प्राणियों को जब तक उनसे संबंध न छूट जाय तब तक अथवा मरण पर्यंत अनेक प्रकार की आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं। सारांश यह कि प्राणियों को आपत्ति पहुँचाने में निमित्त होना ही इस दु:खरूप दावानल के स्कंध का कार्य है और इसीलिये वह उत्पन्न होता है। इस प्रकार का यह दु:खरूप दावानल का स्कंध जिसमें निरंकुशतया बार बार और खूब जोर से धधक रहा है ऐसे उक्त संसाररूपी वन में ये प्राणी इस प्रकार से इतस्तत: भ्रमण कर रहे हैं कि उससे छूटकारे की या कल्याण की इच्छा रखते हुए भी उल्टे उन्ही की तरफ जा उपस्थित होते हैं। इसका कारण यह है कि वे मोक्ष के मार्ग से अनभिज्ञ हैं। संसार का अभाव हो जानेपर जीव को जो निज स्वरूप का लाभ होता है उसको मोक्ष कहते हैं। इसकी प्राप्ति के उपाय का नाम मोक्षमार्ग है। व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को तथा निश्चयनय से इस रत्नत्रयस्वरूप निजात्मा को ही मोक्षमार्ग कहते हैं। इसके स्वरूप का इन संसारी जीवों को संशयादिरहित पूर्णरूप से अथवा व्यवहार या निश्चयनय के द्वारा ज्ञान नहीं है; इसीलिये उन दु:खो से व्याप्त संसार वन से वे मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। अर्थात् मुक्ति के समीचीन उपाय से मूढ रहने के कारण ही ये प्राणी उक्त प्रकार के विचित्र दु:खों से भी संसाररूपी वन में भ्रमण कर रहे हैं और दु:ख भोग रहे हैं। 'इस प्रकार विचित्र दु:खों

१ वहाँ पर रहनेवाले या दावानल दोनों में से किसी एक का जब तक विनाश न हो जाय तब तक

से त्रस्त हुए इन (अपने हृदयंगत) दीन, तीन जगत् के जंतुओं का मैं एकसाथ उद्धार कर दूं - इस दु:खपूर्ण संसाररूपी वन से छूटने के उपाय का उपदेश देकर इनका उपकार करूं ?' इस भावना को तीर्थकृत्त्वभावना कहते हैं। यह मुख्यतया अपायविचय नाम के एक धर्मध्यान के ही भेद है। यही बात गर्भान्वय क्रिया का वर्णन करते हुए [१]आगम में भी कही है -

मौनाध्ययनवृत्तत्वं तीर्थकृत्त्वस्य भावना।
गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहणं तथा।।इति।

एक साथ ही तीन जगत् का अनुग्रह करने के लिये समर्थ होने की इस भावना में उक्त दया के पात्र प्राणियों के अभ्युद्धार की बुद्धि इस प्रकार से उत्पन्न होती है कि जिसके साथ ही साथ उनके दु:सह दु:खरूप दावानल की ज्वालाओं के भभूकों को देखकर हृदय में उत्पन्न हुआ क्लेश आँखों से निकली हुई अश्रुधारा से अभिव्यक्त हो जाता है। और इसीलिये इस बुद्धि से बार बार आत्मा में उन्हीं का विचार उत्पन्न होता है। आत्मस्वरूप और परम करुणा से अनुरक्त अंतश्चैतन्य परिणामों से प्रतिक्षण बढनेवाले परोपकार के रस अथवा उससे उत्पन्न हुए हर्ष के कारण ये भावनायें अपना विशेषरूप से प्रकाश करती हैं। इस प्रकार की भावनायें दूसरे साधारण व्यक्तियों के नहीं पाई जा सकती; क्योंकि अनगारकेवलित्व के योग्य भावना करनेवालों के इन भावनाओं का उत्पन्न होना असंभव है। इनके दर्शनविशुद्धि आदिक सोलह भेद हैं। ये एक प्रकार के मनोगत संस्कार हैं जो कि परम पुण्य तीर्थंकर नामकर्म के बंध के लिये कारण हैं। इन भावनाओं के बल से संचित, किंतु केवलज्ञान के साहचर्य को पाकर उदय को प्राप्त होनेवाले तीर्थंकरनामक पुण्यकर्म विशेषसे ही उत्पन्न हुए वाक्यों - दिव्यध्वनि के द्वारा जो मोक्षमार्ग की जिज्ञासा से सभा में आये हुए भव्यों को उक्त मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं वे भगवान् अर्हन् हम त्राणार्थियों की रक्षा करें - अभ्युदय और नि:श्रेयस से भ्रष्ट करनेवाले उपायरूप अपायों से हम को दूर रक्खें।

---

१ श्री जिनसेन स्वामिकृत महापुराण में कहा है।

अर्हन्त देव के वाक्यों को तीर्थंकरनामक पुण्यकर्म विशेषसे ही उत्पन्न हुए कहने का प्रयोजन यह है कि उनके वाक्य विवक्षा आदिक से उत्पन्न नहीं होते; क्योंकि वीतराग भगवान् के विवक्षा का होना बन नहीं सकता। यही बात कही भी है -

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितौष्ठद्वयं
नो वाञ्छाकलितं न दोषमलिनं न श्वासरुद्धक्रमम्।
शांतामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभि-
स्तन्नः सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः।।इति।।

समस्त विपत्तियों को नष्ट करदेनेवाले सर्वज्ञदेव के वे वचन हमारी रक्षा करें जो कि, शांत हो गया है कषायविष - पारस्परिक वैर विरोध जिनका ऐसे पशुगणों के साथ साथ, सभी श्रोत्रेन्द्रिय के धारकों के द्वारा सुने जाते तथा समस्त प्राणियों के लिये हितकर हैं, एवं जो न होठ से मलिन हैं और न वर्णों - अक्षरों से सहित हैं। तथा जिसका क्रम श्वास से रुद्ध नहीं होता, और जिसके उत्पन्न होने में न तो दोनो ओष्ठों का स्पंदन-हलन चलन ही होता है और न अंतरंग में वाञ्छा - विवक्षा ही होती है। इससे स्पष्ट है कि भगवान् के वाक्य विवक्षाजनित नहीं हैं। किंतु वे केवलज्ञान का साहचर्य पाकर उदय को प्राप्त हुई तीर्थंकर प्रकृति के निमित्त से ही उत्पन्न होते हैं। इन वाक्यों को ही दिव्यध्वनि कहते हैं। इस दिव्यध्वनि के विषय में कहा गया है कि -

पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झिमाये रत्तीये।
छच्छग्घडिया णिग्गय दिव्वझुणी कहइ सुत्तत्थे।।इति।

अर्थात् :- भगवान् की दिव्यध्वनि पूर्वाण्ह मध्यान्ह और अपराण्ह तथा अर्धरात्रि इन चार समयों में छह छह घडी तक होती है और वह सूत्र के अर्थों का अथवा सूत्ररूप अर्थ का निरूपण करती है। इसी दिव्यध्वनि के द्वारा भगवान् अर्हन् भव्यों को मोक्षमार्ग का निरूपण करते हैं। तथा -

दृग्विशुद्ध्याद्युत्यतीर्थकृत्त्वपुण्योदयात् स हि।
शास्त्यायुष्मान् सतोऽर्तिघ्नं जिज्ञासुस्तीर्थमिष्टदम्।।

उक्त दर्शनविशुद्ध्यादि भावनाओं के द्वारा संचित तीर्थंकर प्रकृतिरूप पुण्य कर्म के उदय से वे आयुष्मान् भगवान् मोक्षमार्ग के जिज्ञासु भव्यों को, संसार की पीडा को दूर करनेवाले और इष्ट - मोक्ष फल के देनेवाले तीर्थसंसार के निस्तरण के उपाय का उपदेश देते हैं।

इस प्रकार का सिद्धों के अनंतर मोक्षमार्ग के सर्वप्रधान उपदेशक भगवान् अर्हन्तदेव की स्तुति की गई। अर्हन् शब्द का निरुक्ति की अपेक्षा अर्थ होता है कि जो पूजा के योग्य हो। अत एव मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय इन चार घातिकर्मों के दूर कर देने से जिनको अनंत चतुष्टय (अनंत-सुख ज्ञान दर्शन वीर्य) स्वरूप प्राप्त हो गया है उनको अर्हन् कहते हैं।

इस स्तुति में अर्हंतदेव के स्वरूप का ही निरूपण नहीं किया है परंतु उस स्वरूप की प्राप्ति के उपाय और क्रम का भी वर्णन कर दिया है। यह बात उक्त और आगे के कथन से स्पष्ट ही समझमें आ सकती है; क्योंकि अर्हंत के स्वरूप और उसके कारण तीर्थंकर प्रकृति तथा उसके भी कारण दर्शनविशुद्ध्यादि भावनाओं के स्वरूप तथा उनके भी विषय के वर्णन करने का प्रयोजन यही है। उक्त कथन का सारांश यही है कि तीनों लोक के सभी प्राणी श्रेयो - मार्ग का यथावत् ज्ञान न रखने के कारण दु:खों से भीत रहते हुए भी उल्टे ही चलते हैं। चाहते हैं कि हमारा दु:खों से छूटकारा हो किंतु सेवन उनका करते ही हैं, जो कि दु:खों के ही उपाय हैं। अतएव जिनके हृदय में यह बात देखकर उनके अभ्युद्धार की वह अनुकंपापूर्ण बलवत्ती भावना उत्पन्न होती है जो कि तीर्थंकर प्रकृति के बंध के लिये कारण हैं, और जो घातिकर्मों का घात कर उस अनंत चतुष्टय स्वरूप को प्राप्त करते हैं जिसके कि साहचर्य से उक्त भावना के द्वारा संचित तीर्थंकर प्रकृति का उदय होता है; और अंत में जो इस तीर्थंकर पुण्यकर्म के उदय के निमित्त से ही उत्पन्न हुई दिव्यध्वनि के द्वारा श्रेयोमार्ग का ज्ञान करा कर उन प्राणियों का अभ्युद्धार कर देते हैं; वे अर्हंत देव मेरा भी अभ्युद्धार करें। क्योंकि लोक में भी यह बात देखी जाती है कि किसी ऐसे दुस्तर और घोर जंगल में

जिसमें कि जलती हुई दावानल की ज्वालाओं से उसके वृक्ष और जानवर जल रहे हों, दुर्दैव से फँसजानेवाले किंतु उससे निकलने के मार्ग को न जाननेवाले पथिकों को उससे निकलने की इच्छा से उल्टे दावानल की ही तरफ वेग से जाते हुए देखकर भी ऐसा कौन दयार्द्रहृदय और परोपकार पर सज्जन होगा जो कि उनको उस वन से निकलजाने का समीचीन मार्ग का उपदेश देना न चाहे; और जहाँ तक उससे बने उनके अभ्युद्धार का प्रयत्न न करे।

इस प्रकार मोक्षमार्ग के उपदेश देनेवालों में सर्वश्रेष्ठ अर्हंत देव की स्तुति की। अब उनके उपदिष्ट अर्थरूप समय - सिद्धांत की ग्रंथरूप में रचना करनेवाले और इसीलिये समस्त जगत् के उपकारी गणधर देवादिकों का ग्रंथकार हृदय में ध्यान करते हैं। -

सूत्रग्रंथो गणधरानभिन्न दशपूर्विणः।
प्रत्येकबुद्धानध्येमि श्रुतकेवलिनस्तथा।।३।।

अर्हंद्भाषित अर्थरूप समय - सिद्धांत की अंग या पूर्वरूप से ग्रंथरचना करनेवाले गणधर, अभिन्नदशपूर्वी, प्रत्येकबुद्ध तथा श्रुतकेवलियों का मैं अपने हृदयकमल में ध्यान - हर्षित हुआ एकाग्रता के साथ बार बार चिंतवन करता हूँ।

भगवान् के समवशरण में बैठनेवाले मुनि आदि बारहविध सभ्यों को जो धारण करते हैं - मिथ्यादर्शनादि से हटाकर सम्यग्दर्शनादिक में स्थापित करते हैं उनको गणधर कहते हैं। इनका दूसरा नाम धर्माचार्य भी है।

विद्यानुवाद का अध्ययन करते समय स्वयं आई हुई बारहसौ विद्याएँ जिनको चारित्र से च्युत नहीं कर सकती और जो उत्पादपूर्व से लेकर विद्यानुवाद तक दशपूर्व का ज्ञान रखते हैं उनको अभिन्नदशपूर्वी कहते हैं। क्योंकि ये चारित्र से च्युत होने के कारण अभिन्न और दशपूर्व का ज्ञान रखने के कारण दशपूर्वी हैं।

जिनको एक श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष से ही, न कि परोपदेश आदिक की अपेक्षा से, सातिशय ज्ञान प्राप्त हो जाता है उनको प्रत्येकबुद्ध कहते हैं।

श्रुत का स्वरूप पहले लिखा जा चुका हैं। समस्त श्रुत के ज्ञानियों को श्रुतकेवली कहते हैं। श्रुतकेवली भी सर्वज्ञदेव के ही सदृश होते हैं।

अर्हंतदेव ने मोक्षमार्ग तथा उसके विषयभूत समस्त पदार्थो के विषय में जो निरूपण किया है उसके ग्रंथरूप करने का कार्य और उसके कर्ता गणधरादिक, दोनों ही ग्रंथकार को यहाँ पर इष्ट हैं। जब कि दोनों इष्ट हैं तो 'जो जिसके गुणों को चाहता है वह उसकी स्तुति भक्ति करता है' इस नीति के अनुसार उन गणधरादिकों की स्तुति करना भी निश्चित है। अतएव इस निश्चय के अनुसार ही ग्रंथकारने गणधरादिक और उनके विशिष्ट कार्य दोनों की यहाँ पर स्तुति की हैं।

इस प्रकार परमागम और उसके रचयिताओं की स्तुति की। अब ग्रंथकार जिनागम का व्याख्यान करनेवाले आरातीय आचार्यों की स्तुति करते हैं। -

ग्रंथार्थतो गुरुपरम्परया यथाव -
च्छ्रुत्वावधार्य भवभीरुतया विनेयान्।
ये ग्राहयन्त्युभयनीतिबलेन सूत्रं
रत्नत्रयप्रणयिनो गणिनः स्तुमस्तान्।।४।।

'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तत्तद्रत्नमिहोच्यते' - जो जिस जाति में उत्कृष्ट होता है उसको उसका रत्न कहते हैं। इस वचन के अनुसार जीवों के परिणामों में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन ही प्रधान हैं इसलिये इनको रत्नत्रय कहते हैं। क्योंकि जीव को अभ्युदय और निःश्रेयस का संपादन ये ही करा सकते हैं। यह रत्नत्रयरूप परिणाम जिनकी आत्मा में प्रकट हो गया है, और जो संसार से भीरुता - संवेग के कारण सूत्र सत्य और युक्तियुक्त प्रवचन को ग्रंथ अर्थ या उभयरूप से गुरु परम्परा - तीर्थंकर या गणधरदेवादिक के शिष्य प्रशिष्यों से ज्यों का त्यों सुनकर और उसके अशेष विशेषों को इस प्रकार धारण करके कि जिससे कालांतर में भी उनका विस्मरण न हो सके विनेयों को - ऐसे शिष्यों को कि जिन्हों को शास्त्र का इस प्रकार से अभ्यास कराया जाता है - शिक्षा दी जाती है कि जिससे वे उस विषय में संशयादिरहित और व्युत्पन्न हो जाय - दोनो नयों के बल से निश्चय करा देते हैं उन श्री कुंदकुंदाचार्य प्रभृति धर्माचार्यों को हमारा नमस्कार है।

सूत्र प्रकरण या आन्हिकादिरूप से रचे गये ऐसे वचनसंदर्भ को ग्रंथ कहते हैं जिससे कि विवक्षित पदार्थ का प्रतिपादन हो सके। ग्रंथों में जिन विषयों का प्रतिपादन किया जाता है उनको अर्थ कहते है। सूत्र - शब्द का अर्थ यद्यपि ऐसा होता है कि जो पदार्थों को सूचित करें अथवा जिस वाक्य में संक्षेप से बहुत से पदार्थों का संकलन कर दिया जाय। अर्थात् सत्य और युक्तियुक्त प्रवचन को ही सूत्र कहते हैं। फिर भी यहाँ पर सूत्र शब्द से अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य इन दो भेदरूप श्रुत के कहने का ही प्रयोजन है। इनमें से पहले भेद की गणधरादिकने और कालिक उत्कालिकरूप आदि दूसरे भेद की रचना दूसरे आचार्योंने की है। उक्त आचार्य भगवद्भाषित किंतु गणधरादिरचित सूत्र- श्रुत का भवभीरुता के कारण कभी ग्रंथो का कभी अर्थ का और कभी दोनों का आश्रय लेकर गुरुमुख से ज्यों का त्यों श्रवण और अवधारण करते हैं। यहाँ पर भवभीरुता, श्रवण और अवधारण इन दोनों क्रियाओं का करण है। अतएव जिस प्रकार सडासी की दोनों फली एकसाथ ही बटलोई से संबंद्ध होती हैं उसी प्रकार यह (भवभीरुता) भी दोनों क्रियाओं के साथ युगपत् ही अन्वित होती है।

इस प्रकार उक्त आचार्य गुरुपरंपरा से चले आये सूत्र प्रवचन को स्वयं सुनते और अवधारण करते हैं; यही नहीं परंतु दोनों नयों के बल से अपने शिष्यों को भी उसका दृढ ज्ञान करा देते हैं। श्रुतज्ञानी के जो पदार्थ के एकदेश का निश्चय होता है उसीको नय कहते हैं। इसके दो भेद हैं, जिनको कि आगम की भाषा में द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय, किंतु अध्यात्म की भाषा में व्यवहारनय और निश्चयनय कहते हैं। इन दोनों नयों में यह सामर्थ्य है कि सर्वथा एकांतवाद के माननेवाले, उक्त प्रवचन में, इनके रहने से, किसी तरह की भी बाधा उपस्थित नहीं कर सकते। अतएव उक्त आचार्य इन नयों की सामर्थ्य से अपने शिष्यों को भी उक्त प्रवचन का इस तरह दृढ ज्ञान करा देते हैं जिससे कि वे उस विषय में बिलकुल संशयादिरहित और अच्छी तरह व्युत्पन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार सिद्ध भगवान् के स्वरूप का तथा उसकी प्राप्ति के उपाय का निरूपण कर सकनेवाले परमागम के उपदेष्टा और उसके ग्रंथरूप में रचयिता तथा व्याख्याता और जिनका गुरुपद सबसे प्रधान और महान् माना गया है ऐसे श्री अर्हद्भट्टारक और उक्त गणधरादिक चार तथा आरातीय ऐदंयुगीन प्रधान धर्माचार्यों की क्रम से स्तुति की। अब

उन्होंने जो धर्मोपदेश दिया था, जो कि वक्ता और श्रोता दोनों के कल्याण का करनेवाला है, उसकी स्तुति करने के लिये ग्रंथकार कहते हैं -

धर्मं केपि विदन्ति तत्र धुनते संदेहमन्येऽपरे
तद्भान्तेरपयंति सुष्ठु तमुशन्त्यन्येऽनुतिष्ठन्ति वा।
श्रोतारो यदनुग्रहादहरहर्वक्ता तु रुंधन्नघं,
विष्वग्निर्जरयंश्च नंदति शुभैः सा नंदताद्देशना।।५।।

जिसके निमित्त से जीव नरकादि गतियों से निवृत्त होकर उत्तम गतियों में जा उपस्थित होते हैं अथवा जो अपने को उत्तम गतियों में ही अवस्थित रखता है उसको धर्म कहते हैं। यह धर्म, मोह और क्षोभ से रहित आत्मपरिणामरूप है; अथवा वस्तु के याथात्म्यस्वभावरूप; यद्वा उत्तमक्षमादि दशलक्षणरूप है। दूसरों के हितार्थ इस धर्म के प्रतिपादन करने को धर्मोपदेश कहते हैं।

कितने ही जीवों के, जिनके कि ज्ञानावरण कर्म का तीव्र उदय हो रहा है, इस धर्म के विषय में अनध्यवसाय लगा हुआ है। ऐसे जीव धर्म के नाम तथा स्वरूप से बिलकुल ही अनभिज्ञ हैं। वे यह नहीं जानते कि धर्म क्या वस्तु है और उसका क्या स्वरूप है। इसी प्रकार कितने जीवों के, जिनके कि ज्ञानावरण कर्म का उदय मंद है, धर्म और उसके स्वरूप के विषय में इस तरह का चलितप्रतीतिरूप संदेह लगा हुआ है कि 'धर्म यही है या दूसरा है, अथवा धर्म का यही स्वरूप है या दूसरा स्वरूप है'। तथा कितने ही जीवों के, जिनके कि ज्ञानावरण कर्म का उदय मध्यम दर्जे का है, इसके विषय में भ्रम - विपर्यास लगा हुआ है। ऐसे जीव यथार्थ स्वरूप से विपरीत ही धर्म के स्वरूप का निश्चय किये हुए हैं। किंतु उक्त धर्मोपदेश के प्रतिदिन सुननेवाले जीवों का उसके अनुग्रह से वह अज्ञान संशय अथवा विपर्यास दूर हो जाता है। जो अज्ञानी हैं उनका उक्त अज्ञान धर्मोपदेश के प्रतिदिन सुनते सुनते दूर हो जाता है और यथार्थ स्वरूप तथा आकारविशेष की अपेक्षा ऐसा निश्चय हो जाता है कि 'धर्म यही है और ऐसा ही है'। इसी प्रकार इस धर्मोपदेश के अनुग्रहसे ही संदिग्धों के उक्त संदेह का विनाश और विपर्यस्तों के उक्त विपर्यास का भी निरास हो जाता है और धर्म के

स्वरूप तथा आकार का उक्त प्रकार से निश्चय हो जाता है। इन तीनों कार्यों को, धर्मोपदेश के अनुग्रह से, ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि जीवों को क्षयोपशम के अनुसार अतिशय प्राप्ति में यह निमित्त कारण पडता है।

यहाँ पर यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि धर्मोपदेश का यह फल तीन प्रकार के अव्युत्पन्न सम्यग्दृष्टि अथवा भद्रपरिणामी मिथ्यादृष्टियों की अपेक्षा से ही दिखाया गया है। क्योंकि जो क्रूरपरिणामी मिथ्यादृष्टि हैं वे उपदेश के अधिकारी नहीं हो सकते।

जो सम्यग्दृष्टि श्रोता है उनको प्रतिदिन इस धर्मोपदेश सुनने का यह फल प्राप्त होता है कि उक्त धर्म के विषय में 'धर्म यही है, इसी प्रकार से है, अन्य नहीं हैं, और न अन्य प्रकार से है।' इस तरह अनुबोधरूप से उनका श्रद्धान दृढ हो जाता है। इसी प्रकार जो दृढ श्रद्धानी श्रोता है उनको अथवा दूसरे सम्यग्दृष्टियों को भी उसके प्रतिदिन सुनने से यह फल होता है कि वे उसके अनुग्रह से वैसा (उपदेश के अनुसार) आचरण भी करने लगते हैं। इसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि पहले से आचरण भी करते हैं उनको यह फल प्राप्त होता है कि वे इसके प्रसाद से और भी अच्छी तरह आचरण करने लगते हैं।

धर्मोपदेश का यह फल श्रोताओं की अपेक्षा से कहा गया है किंतु वह केवल श्रोताओं को ही नहीं, वक्ता को भी प्राप्त होता है। वह वक्ता भी इसके अनुग्रह से सातावेदनीय, शुभ, आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्ररूप कर्मों का संचय करता, तथा पूर्वसंचित पुण्य कर्म के फलरूप अभ्युदयों से प्रतिदिन समृद्धियों को प्राप्त होता है। क्योंकि पुण्य का संचय और फल शुभ परिणामों से प्राप्त होता है और धर्मोपदेश देने से शुभ परिणाम होते हैं। इसी प्रकार आगामी काल में मन वचन और काय इन तीन योगों के द्वारा आनेवाले तथा ज्ञानावरणादि पापकर्मरूप परिणमन करने योग्य पुद्गलों का वह निराकरण - संवर करता, तथा पूर्वसंचित पापकर्मों का क्रम से क्षपण - निर्जरा भी करता है। सारांश यह कि धर्मोपदेश स्वाध्याय नाम का तपोविशेष है। इसलिये उसके प्रसाद से धर्मोपदेष्टा - वक्ता के अशुभ कर्मों का संवर और उसके साथ साथ निर्जरा होती है। किंतु इस उपदेश में प्रशस्त राग भी पाया जाता है। इसलिये उसके निमित्त से पुण्यपुञ्ज का आस्रव तथा पूर्वबद्ध पुण्य कर्म का प्रचुरतया विपाक भी होता है, जिससे कि नवीन नवीन विविध अभ्युदयों की सिद्धि होती है।

भावार्थ :- जिसके अनुग्रह से श्रोताओं को मुख्यतया धर्म के स्वरूप का ज्ञान या उस विषय के संशय का विनाश अथवा विपर्यास का निरास, यद्वा श्रद्धान का पुष्टीकरण और चारित्र की सिद्धिरूप विशेष विशेष फल प्राप्त होते हैं, एवं व्याख्याता को अशुभ कर्मों का संवर और निर्जरारूप तथा पुण्यपुञ्ज का आस्रव और उसके उदय से विविध अभ्युदयों की प्राप्तिरूप फल होते हैं। वह धर्म की देशना सदा समृद्धि को प्राप्त हो। इस प्रकार आशीर्वादात्मक नमस्कार के द्वारा ग्रंथकारने यहाँ पर धर्मोपदेश की स्तुति की है।

पूर्वोक्त प्रकार से भगवान् सिद्धपरमेष्ठी प्रभृति के गुणगण का पुनः पुनः स्मरणरूप मुख्य मंगल करके अब ग्रंथकार वक्ष्यमाण ग्रंथ की आदि में उसके प्रमाण और उसमें जिस विषय का वर्णन करेंगे उसके नामसे ही ग्रंथ के भी नामको प्रकाशित करते हुए ग्रंथ रचना करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

अथ धर्मामृतं पद्यद्विसहस्या दिशाम्याहम्।
निर्दुःखं सुखमिच्छन्तो भव्याः श्रुणुत धीधनाः।।६।।

इस पद्य की आदि में जो अर्थ - शब्द आया है वह मंगलवाचक है। क्योंकि - 'सिद्धिर्बुद्धिर्जयो वृद्धि राज्यपुष्टिस्तथैवच। औंकारश्चाथशब्दश्च नांदीमंगलवाचिनः।।' सिद्धि, बुद्धि, जय, वृद्धि, राज्यपुष्टि, तथा ओंकार और अथ शब्द नांदीमंगलवाची हैं। अथवा अथ - शब्द अधिकार हो सकता है; क्योंकि यहाँ से शास्त्र का अधिकार चलता है।' यद्वा अनंतर करना चाहिये; क्योंकि 'मुख्य मंगल को करने के अनंतर अब' ऐसा अर्थ भी यहाँ होता है।

परिमित अक्षर तथा मात्राओं के समूह का नाम पद है। इन पदों के द्वारा श्लोक आर्या गीति उपगीति आदि छंदरूप में की गई वाक्यरचना को पद्य कहते हैं। ऐसे दो हजार पद्यों के द्वारा निराकुलता धर्मामृत ग्रंथ का प्रतिपादन करता हूँ। सुनने की इच्छा तथा श्रवण ग्रहण धारण आदि आठ गुणों से युक्त बुद्धिरूप धन के धारण करनेवाले हे भव्यों ! दुःखों से सर्वथा अतिक्रांत मोक्षसुख की इच्छा रखते हुए आप इसको सुनें। क्योंकि सुख का वास्तविक लक्षण निराकुलता है, जो कि मोक्ष में ही प्राप्त हो सकता है। संसार

में जो सुख है वह दु:खों से मिश्रित अथवा दु:खरूप ही है। कहा है कि -

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।।इति।

जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है वह सुख नहीं; वास्तव में दु:ख ही है। क्योंकि वह परवश - कर्मो के आधीन, बाधासहित - दु:खों से मिश्रित, विच्छन्न, सांत -नष्ट होनेवाला, कर्मबंध का कारण, और विसम - कुटिल अथवा भयंकर है।

किसी किसी वाक्य में च शब्द का लुप्तनिर्देश भी रहा करता है। यथा - 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि' यहाँ पर वायु शब्द के साथ च शब्द के न रहने पर भी ऐसा अर्थ होता है कि 'पृथिवी जल अग्नि और वायु ये तत्त्व है'। इसी प्रकार यहाँ पर भी सुख शब्द के साथ में च शब्द का लुप्त निर्देश समझना चाहिये। जिससे उपर्युक्त वाक्य का दूसरा अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि 'दु:खों के अभाव और इच्छा रखनेवाले आप इस ग्रंथ को सुनें'। क्योंकि दु:खो का अभाव और सुख ये दो बातें हैं और दोनों ही की प्राणियों को इच्छा है।

ऊपर भव्यों के जो दो विशेषण दिये हैं उनसे यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि जो दु:खरहित सुख की इच्छा और उक्त प्रकार के बुद्धिरूप धन के धारण करनेवालेभव्य है वे ही इस ग्रंथ के सुनने के अधिकारी हैं। क्योंकि इस ग्रंथ में जिस विषय का प्रतिपादन किया जायगा उसकी या उसकें फल की जो इच्छा ही नहीं रखते अथवा जो इस ग्रंथ के समझने की योग्यता ही नहीं रखते वे इसके सुनने के अधिकारी किस तरह हो सकते है ?

धर्म का लक्षण ऊपर लिखा जा चुका है। वह धर्म अमृत के समान है; क्योंकि उसका उपयोग प्राणियों को अजर और अमर बनाने के लिये कारणरूप है। इसी धर्मरूपी अमृत के स्वरूप का इस ग्रंथ में प्रतिपादन करेंगे। अतएव इस ग्रंथ का नाम भी धर्मामृत है। क्योंकि विषय के नाम से भी ग्रंथ का नाम रक्खा जाता है। देखते है कि प्राचीन कवियों ने भी अभिधेय के नाम से तत्त्वार्थवृत्ति यशोधरचरित आदि शास्त्रों के नाम रक्खे हैं। इसी प्रकार रुद्रट भट्टने भी कहा है कि 'काव्यालंकारोयं ग्रंथ: क्रियते यथायुक्ति - मैं युक्तिपूर्वक इस काव्यालंकार ग्रंथ की रचना करता हूँ।'

'मंगलनिमित्तहेतु प्रमाणनामानि शास्त्रकर्तृश्च।
व्याकृत्य षडपि पश्चाद्ग्रन्थमाचष्ट शास्त्रमाचार्यः।।'

मंगल, निमित्त, हेतु, प्रमाण, नाम और शास्त्रकर्ता, इन छह बातों को पहले दिखाकर पीछे आचार्य ग्रंथ की रचना करते हैं। अतएव इन छह बातों को ही पहले यहाँ पर दिखाते हैं।

मंगल - जो म- मल - पाप को गला दे अथवा मङ्ग - पुण्य को दे उनको मंगल कहते हैं। यह, प्रारब्ध कार्य निर्विघ्नतया सिद्ध होने के लिये किया जाता है। मंगल दो प्रकार का होता है; १ मुख्य, २ गौण। मुख्य मंगल भी दो तरह का होता है; एक अर्थ की अपेक्षा, दूसरा शब्द की अपेक्षा। जिसमें से अर्थ की अपेक्षा मुख्य मंगल भगवान् सिद्धपरमेष्ठी आदि के गुणों की स्मृति और स्तुति रूप से पहले ही किया जा चुका है। एवं शब्द की अपेक्षा भी मुख्य मंगल इसी श्लोक की आदि में अथ शब्द का उच्चारण करके कर लिया गया है। क्योंकि अथ शब्द भी मंगलवाचक है। जैसा कि कहा भी है -

त्रैलोक्येशनमस्कारलक्षणं मंगलं मतम्।
विशिष्टभूतशब्दानां शास्त्रादावथवा स्मृतिः।।इति।

अर्थ :-

शास्त्र की आदि में तीनलोक के स्वामी सर्वज्ञ वीतराग भगवान् को नमस्कार करना मंगल माना गया है अथवा खास खास शब्दों के स्मरण या उच्चारण को भी मंगल कहते हैं।

संपूर्णकलश दधि अक्षत और सफेद फूल इत्यादि के उपहार को गौण मंगल कहते हैं; क्योंकि वह मुख्य मंगल की प्राप्ति का उपाय है। सो भी आदि में ग्रंथकारने कर लिया है; जैसा कि ग्रंथ की निर्विघ्नतया सिद्धि के देखने से मालूम होता है।

निमित्त - जिसके उद्देश से शास्त्र की रचना होती है उसको निमित्त कहते हैं। सो यह भी 'भव्याः' इस शब्द से बतादिया गया है। अर्थात् भव्यों के उद्देश से ही इस शास्त्र

की रचना की गई है, और किसी दूसरे उद्देश से नहीं।

हेतु - हेतु शब्द का अर्थ प्रयोजन या फल होता है। इसके दो भेद हैं; एक मुख्य, दूसरा गौण - आनुषंगिक। समीचीन धर्म के स्वरूप का ज्ञान हो जाना इस ग्रंथ का मुख्य प्रयोजन है। सो 'दिशामि' और 'श्रुणुत' इन दो पदों के द्वारा सूचित कर दिया गया है। क्योंकि किसी भी काम में जिसलिये प्रवृत्ति की जाय उसको प्रयोजन कहते हैं। शास्त्र का मुख्य प्रयोजन भी ज्ञान ही है क्योंकि अमुक शास्त्र के सुनने से मुझे अमुक विषय का ज्ञान हो जायगा ऐसा जानकर - उस विषय के ज्ञान के प्रयोजन से ही कोई भी जीव उस शास्त्र के सुनने आदिक में प्रवृत्ति किया करता है, अन्यथा नहीं। इसलिये प्रतिपादित विषय का ज्ञान होना ही शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है। एवं इस शास्त्र का भी मुख्य प्रयोजन समीचीन धर्म के स्वरुप का ज्ञान हो जाना ही है। दूसरा गौण फल धर्म की सामग्री आदि का ज्ञान हो जाना है। क्योंकि उसके ज्ञान से जीव समीचीन धर्म के आचरण करने में प्रवृत्ति करता है और इस तरह की प्रवृत्ति करनेवाला अनंतज्ञान दर्शन वीर्य और निराकुलतारूप अविनश्वर एवं अतीन्द्रिय सुख को तथा परम अव्याबाधता को प्राप्त होता है। इस प्रकार ये दोनों ही इस शास्त्र के साक्षात् प्रयोजन हैं। किंतु देखा जाय तो परंपरा से सुख की प्राप्ति अथवा दु:ख की निवृत्ति हो जाना ही इस शास्त्र का वस्तुत: प्रयोजन है; क्योंकि प्राणियों को यही बात अभीष्ट है। सो यह बात भी 'दु:ख रहित सुख की इच्छा रखनेवाले' इन पदों से स्पष्ट कर दी है।

प्रमाण, नाम, और ग्रंथकर्ता ये बातें स्पष्ट ही हैं। अतएव इनके विषय में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। रही ग्रंथ के नाम के साथ प्रतिपादित विषय के संबंध की बात; सो ग्रंथ के अन्वर्थ नामसे ही प्रकट हो जाती है कि, समीचीन धर्म के स्वरूप और इस शास्त्र के साथ वाच्यवाचक संबंध है। इसीलिये इसको समीचीन धर्माचारण और अनंतसुखादिक की प्राप्ति का कारण समझना चाहिये।

उपर्युक्त कथन से यह बात अच्छी तरह समझ में आ सकती है कि इस ग्रंथ में संबंध अभिधेय और प्रयोजन के न होने की यदि कोई शंका करे तो वह नहीं हो सकती। अतएव इस ग्रंथ के विषय में दुर्जनों के अपवाद की शंका का परिहार करने के लिये ग्रंथकार कहते हैं -

परानुग्रहबुद्धीनां महिमा कोप्यहो महान्।

येन दुर्जनवाग्वज्रः पतन्नेव विहन्यते।।७।।

अहो जिनकी बुद्धि दूसरे अनुगाह्य प्राणियों के अनुग्रह - आपत्ति के निवारण करने में ही लगी रहती है ऐसे महापुरुषों की महिमा ही कोई - अनिर्वचनीय और महान् है, जिससे कि स्वभाव से ही दूसरों के अपकार के करनेवाले दुर्जनों का वचनरूपी वज्र पडते ही नष्ट हो जाता है। वज्र इसलिये कि वह सहसा दारुण विनिपात का कारण और दुर्निवार है। एवं सज्जनों की महिमा की महत्ता का कारण भी यह है कि उससे सभी प्राणियों के अभीष्ट कार्य की सर्वत्र और सर्वदा जो निष्पत्ति होती है उसमें प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं रहती।

भावार्थ :- दुर्जन लोक यद्यपि इस ग्रंथ का अनेक रूप से अपवाद करेंगे; क्योंकि उनका स्वभाव ही निंदा करने का है। फिर भी महापुरुषों के प्रभाव से वह निंदा अवश्य ही नष्ट हो जायगी। क्योंकि सज्जनों का स्वभाव से ही ऐसा माहात्म्य हैं।

अब यहाँ पर समासोक्ति अलंकार के द्वारा यह बताते हैं कि इस कलिकाल में मिथ्या उपदेशक बहुत ही सुलभता से मिल सकते है; किंतु समीचीन उपदेशकों का मिलना बहुत ही कठिन है। समासोक्ति अलंकार का लक्षण रुद्रट भट्ट ने इस प्रकार कहा है -

सकलसमानविशेषणमेकं यत्राभिधीयमानं सत्।
उपमानमेव गमयेदुपमेयं सा समासोक्तिः।।

उपमेय के समान सब विशेषण देकर केवल उपमान का ही जहाँ पर इस तरह से वर्णन किया जाय कि जिससे उपमेय का स्वयं बोध हो जाय, वहाँ पर समासोक्ति अलंकार कहा जाता है। जैसे -

फलमविकलमलधीयो लघुपरिणति जायतेस्य सुस्वादु।
प्रीणितसकलप्रणयिप्रणतस्य समुन्नतेः सुतरोः।।

समस्त - प्रणयी लोगों को तृप्त करनेवाले किंतु नम्र रहनेवाले इस समीचीन वृक्ष की श्रेष्ठ उन्नति का फल शीघ्र ही पकनेवाला महान् पूर्ण और सुस्वादु होता है। इस कथन से समृद्धि को पाकर भी नम्र रहनेवाले किंतु उसका परोपकारादिक में उपयोग

करनेवाले सत्पुरुष को जो कुछ, और जैसा फल प्राप्त होता है वह बताया गया है।

इसी प्रकार ग्रंथकार आगे के पद्य में पूर्वार्ध के द्वारा, इस कलिकाल में मिथ्या उपदेशकों की सुलभता और उत्तरार्ध के द्वारा, सदुपदेशकों की दुर्लभता बताते हैं। क्योंकि पूर्वार्ध में जो जो बातें कही हैं वे सब मिथ्या उपदेशकों की तरफ और उत्तरार्ध में जो कही हैं वे सब सदुपदेशकों की तरफ घटित होती हैं।

सुप्रायाः स्तनयित्नवः शरदि ते साटोपमुत्थाय ये
प्रत्याशं प्रसृताश्चलप्रकृतयो गर्जन्त्यमंदं मुधा
ये प्रागब्दचितान् फलर्द्धिमुदकैर्व्रीहीन्नयन्तो नवान्
सत्क्षेत्राणि पणन्त्यलं जनयितुं ते दुर्लभास्तद्धनाः।।८।।

शरद ऋतु में चंचल प्रकृति के धारक और बडे आटोप - आडंबर के साथ उठकर समस्त दिशाओं में फैल जानेवाले तथा व्यर्थ किंतु खूब जोर से गर्जनेवाले मेघों का मिलना कुछ कठिन नहीं है। ऐसे मेघ बहुत ही सुलभता से मिल सकते हैं। किंतु ऐसे मेघों का मिलना बहुत दुर्लभ है जो कि वर्षाकालीन मेघों से पुष्ट हुए नवीन धान्यों से समीचीन क्षेत्रों को, पर्याप्त फलसंपत्ति उत्पन्न करने के लिये अपने जल के द्वारा अच्छी तरह से आप्लुत कर देते हैं।

भावार्थ :- इस कलिकाल में ऐसे मिथ्या उपदेशक बहुत मिल सकते हैं जो कि खूब ही आडंबर करनेवाले हैं और स्वभाव से ही चंचल होते हुए भी अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये दूर दूर तक फैले हुए हैं। तथा व्याख्यानादिके समय गर्जते भी खूब हैं पर वर्षते बिलकुल भी नहीं हैं। श्रोताओं को - भव्यों को अभ्युदय या मोक्ष के मार्ग का ज्ञान बिलकुल नहीं करा सकते। हाँ, ऐसे उपदेशक अवश्य ही दुष्प्राप्य हैं, जो कि विनीत किंतु पूर्वाचार्यों से व्युत्पादित सदाचार के प्रकर्ष को प्राप्त हुए विनेयों को अपने उपदेशरूपी जल से इस तरह आप्लुत कर देते हैं कि जिससे वर्षाकाल के समान पूर्वाचार्यों के प्रताप से उत्पन्न हुआ उनका शास्त्र के रहस्यविशेष का ज्ञानरूपी नवीन धान्य अपूर्व व्युत्पत्ति से विशिष्ट और समृद्ध हो जाता है।

यह बात पहले कह चुके हैं कि 'मंगल निमित्त आदि छह बातों को बताकर आचार्यों

को शास्त्र का व्याख्यान करना चाहिये।' यहाँ पर आचार्य का नाम मात्र बताया गया है; किंतु यह नहीं बताया गया है कि शास्त्र का वह व्याख्याता आचार्य कैसा होना चाहिये। अतएव ग्रंथकार यहाँ पर व्यवहारप्रधान उपदेश के कर्त्ता आचार्य का लक्षण करते हैं।

प्रोद्यन्निर्वेदपुष्यद्व्रतचरणरसः सम्यगाम्नायधर्ता
धीरो लोकस्थितिज्ञः स्वपरमतविदां वाग्मिनां चोपजीव्यः।
सन्मूर्तिस्तीर्थतत्त्वप्रणयननिपुणः प्राणदाज्ञोभिगम्यो
निर्ग्रन्थाचार्यवर्यः परहितनिरतः सत्पथं शास्तु भव्यान्।।९।।

संसार को बढानेवाले मिथ्यात्वादिक भावों को ग्रंथ - परिग्रह कहते हैं। यह परिग्रह जिन्होंने सर्वथा छोड दिया है उन यतियों को निर्ग्रंथ कहते हैं। तथा जो [१]पाँच प्रकार के आचार का स्वयं पालन करते और शिष्यों से कराते हैं उनको आचार्य कहते हैं। तथा -

पञ्चधाचरन्त्याचारं शिष्यानाचारयन्ति च।
सर्वशास्त्रविदो धीरास्तेत्राचार्याः प्रकीर्तिताः।।इति।

जो धीर और सब शास्त्रों के ज्ञाता होकर स्वयं पाँच प्रकार के आचार का पालन करते और शिष्यों से कराते हैं उनको आचार्य कहते हैं।

जो इस प्रकार के निर्ग्रंथ आचार्यों में श्रेष्ठ और आगे जिनका वर्णन किया गया है उन दश विशेष गुणों से विशिष्ट तथा परोपकार करने में ही निरंतर रत रहनेवाला है उसीको व्यवहारनिश्चय स्वरूप और प्रशस्त मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करना चाहिये। प्रशस्त इसलिये कहा गया है कि वह सत्पुरुषों के लिये सदा सेव्य है और किसी भी प्रमाण से उसमें बाधा नहीं आ सकती है।

अब उन दश विशेष गुणों को बताते हैं जिनका कि धर्म के प्रतिपादक आचार्य में होना आवश्यक है :-

---

१ आचार के पाँच भेद ये हैं - १ दर्शनाचार, २ ज्ञानाचार, ३ चारित्राचार ४ तपाचार ५ वीर्याचार।

१. वीर रस से आविष्ट व्रताचरण [२] गुप्ति और [३] समिति के साथ साथ उन व्रतों के, जिनका कि आगे चलकर वर्णन करेंगे, पालन करने को व्रताचरण कहते हैं। इस व्रताचरण में भी एक प्रकार का रस या हर्ष - आनंद है जिसकी कि पुष्टि निर्वेद - संसार शरीर और भोगों के विषय में उत्पन्न हुए वैराग्य परिणामों से होती है। जिसका निर्वेद शांतरस की प्राप्ति की तरफ अभिमुख होकर आत्मा और शरीर के भेदज्ञान की भावना के बल से बढता हुआ चला जाता है उसका व्रताचरण भी प्रकर्षता को प्राप्त करता चला जाता है। अतएव सबसे पहली बात यह होनी चाहिये कि वह धर्म के विषय में वीर रस से आविष्ट हो - उसके व्रताचरण का रस बढते हुए निर्वेद से प्रतिक्षण प्रकर्षता को प्राप्त करता हुआ चला जाय।

२. समीचीन आम्नाय का धारण - प्रथमानुयोग करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगों से युक्त पूर्ण आगम को आम्नाय कहते हैं। अथवा पिता व गुरु के चले आये संतान क्रम को भी आम्नाय कहते हैं। इन दोनों ही समीचीन आम्नायों को इस तरह से धारण करनेवाला होना चाहिये कि जिसमें किसी भी तरह से विच्छेद न पडा हो। तात्पर्य यह कि उक्त आचार्य में दूसरा विशेष गुण यह भी होना चाहिये कि वह परंपरा से चले आये हुए उपदेश और संतानक्रम से आये हुए तत्त्वज्ञान तथा सदाचार के पालन करने में प्रवीण हो।

३. तीसरा गुण धीरता है। क्योंकि क्षुधा पिपासा आदि परीषहों तथा देव मनुष्य आदि के किये हुए उपसर्गों के आ उपस्थित होने पर भी जिसका हृदय सर्वथा अविकृत रहता है वही गणी धर्म की देशना का अधिकारी हो सकता है।

४. चौथा गुण लोकस्थिति का ज्ञान है। क्योंकि इस चराचर जगत् की स्थिति का जिसको ज्ञान नहीं है वह धर्म का उपदेश कैसे दे सकता है। अथवा चार वर्ण और चार आश्रमों को भी लोक कहते हैं। इनकी स्थिति - प्रवृत्ति नियम व्यवहारादिक का जो ज्ञान रखता है वही धर्म का उपदेश दे सकता है।

---

२ योगनिरोध को गुप्ति कहते हैं। अतएव इसके तीन भेद हैं -
१ मनोगुप्ति, २ वचनगुप्ति, ३ कायगुप्ति

३ समीचीन प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं -
१ ईर्या २ भाषा ३ एषणा ४ आदाननिक्षेपण ५ आलोकित पानभोजन।

५. पाँचवां गुण स्वमत और परमत का अद्वितीय ज्ञान है। क्योंकि ऐसा ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति ही विद्वानों के समक्ष धर्म के स्वरूप का अच्छी तरह प्रतिपादन कर सकता है; उसको सिद्ध करके बता सकता है और उसका प्रभाव प्रकट कर अवस्थान रख सकता है।

६. छठा गुण अद्वितीय वाग्मिता है। क्योंकि जिसकी वाणी प्रशस्त तथा अतिशययुक्त नहीं है वह धर्म के स्वरूप का हृदयगाही प्रतिपादन कैसे कर सकता है ? किंतु इसके विरुद्ध जिसके वचन प्रशस्त तथा सातिशय हैं वही व्यक्ति धर्म के वास्तविक स्वरूप को श्रोताओं के हृदयंगम करा सकता है।

७. साँतवा गुण समीचीन मूर्ति का होना है। वक्ता का शरीर भी प्रशस्त - सामुद्रिक शास्त्र में बताये हुए लक्षणों से युक्त और लोभ स्थूलता दीर्घता तथा इनसे उलटे तीन दोषों से रहित होना चाहिये। क्योंकि आर्ष आगम में भी यह कहा है कि -

रूपाम्नायगुणैराढ्यो यतीनां मान्य एव च।
तपोज्येष्ठो गुरुश्रेष्ठो विज्ञेयो गणनायकः।।इति।

जो रूप आम्नाय तथा इतर गुणों से पूर्ण है, तप करने में ज्येष्ठ प्रधान और गुरुओं-मुनियों में श्रेष्ठ एवं यतियों को अवश्य ही मान्य है वही गण - मुनिगण का नायक - धर्मदेशना का अधिकारी आचार्य हो सकता है।

८. आठवाँ गुण तीर्थ और तत्त्व के प्रणयन - प्रतिपादन में प्रवीणता का होना है। 'सभी वस्तु अनेकान्तात्मक हैं' इस मत को तीर्थ कहते हैं। क्योंकि इसके द्वारा भव्य पुरुष संसारसमुद्र को तरकर पार होते हैं। इसके विरुद्ध संसार में सर्वथा एकान्तरूप जितने प्रवाद प्रचलित हैं उन सबके तिरस्कार - खंडन के चमक उठनेवाले और व्यवहार निश्चयनय की प्रयोगपद्धति से विचित्र है आकार जिसका ऐसी चक्रात्मक वस्तु के प्रकाशित करनेवाले प्रतिपादन को उसका (तीर्थ का) प्रणयन कहते हैं। इसी प्रकार अध्यात्म शास्त्र के रहस्य को तत्त्व कहते हैं। और उसके इस तरह के प्रतिपादन को उसका प्रणयन कहते हैं, जिसमें कि भूतार्थ तथा अभूतार्थ निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों द्वारा दया - दम त्याग और समाधि की प्रवृत्ति के साथ संबंध रखनेवाले परमानंद पद की व्यवस्था करके बता दी गई हो। इन दोनों प्रतिपादनों में - तीर्थप्रतिपादन और तत्त्वप्रतिपादन में प्रवीणता का अभिप्राय यही है कि वह धर्मदेशना का अधिकारी आचार्य यह अच्छी तरह समझता हो

कि इनमें से कहाँ पर किस प्रतिपादन को मुख्य और किसको गौण करना चाहिये। ऐसा होने से ही वह अपने और दूसरे को ठीक प्रत्यय करा सकता है। क्योंकि इनमें से यदि एक ही को माना जायगा तो वह विषय तो सिद्ध नहीं ही होगा; परंतु दूसरे विषय का भी लोप हो जायगा। जैसा कि कहा भी है :-

जई जिणमयं पवंजह ता मा ववहारणिच्छए मुअह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं।।
चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा।
चरणकरणं संसारं णिच्छयसुद्धं ण जाणन्ति।।
णिच्छयमालंबता णिच्छयदो णिच्छयं अजाणंता।
णासिंति चरणकरण बाहिरकरणालसा केई।।इति।

यदि तुम जिनमत को चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इनमें से किसी भी नय को मत छोडो। क्योंकि इनमें से एक व्यवहार नय के बिना तीर्थ का और दूसरे निश्चयनय के बिना तत्त्व का लोप हो जाता है। ऐसा न समझकर जो व्यक्ति केवल चरणक्रिया-बाह्यचारित्र को ही प्रधान मानता है वह अवश्य ही परमार्थ से आत्मकल्याण के व्यापार से रहित है। क्योंकि ऐसा व्यक्ति चरणक्रिया को ही आत्मसिद्धि का सार समझ बैठता है। वह निश्चय से आत्मा के शुद्ध सार को - सारभूत तत्त्व को नहीं जानता। इसी प्रकार जो केवल निश्चयनय का ही अवलंबन लेनेवाला है, यह निश्चय है, कि वह निश्चयनय को भी नहीं समझता। ऐसा व्यक्ति स्वयं बाह्य चारित्र में आलसी हो जाता है और चारित्र-धर्म को नष्ट कर डालता है।

९. नौवाँ गुण यह होना चाहिये कि उसके शासन का पर्यवसान छह काय के जीवों का पालन करना ही हो। और इसीलिये जिसकी आज्ञा - जिसके शासन या नियोग को स्व और पर सभी आदर के साथ माननेवाले हो।

१०. दशवाँ गुण प्रधानता है। सभी लोक आकर जिसका सुखपूर्वक आश्रय लेते हो। इस गुण के कहने से, प्रियहित वचन का बोलना, प्राय: प्रश्नों को सह सकना इत्यादि गुणों को भी समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार दश विशेषणों से युक्त परहित में ही निरत रहनेवाले निर्ग्रंथाचार्यवर को

धर्म का उपदेश देना चाहिये।

इस पद्य में ग्रंथकार ने आशी :- अर्थ में लोट् लकार का प्रयोग किया है। जिससे यह अभिप्राय प्रकट होता है कि 'हम (ग्रंथकार) आशा करते हैं कि देशना का अधिकारी इन गुणों से युक्त हो' अथवा स्वरूपज्ञान कराने - अर्थ में भी इस लकार का प्रयोग हो सकता है; जिससे यह अर्थ प्रकट होता है कि 'इन गुणों से युक्त गणी को सत्कारपूर्वक धर्मोपदेश में प्रवृत्त होना चाहिये।'

अब ग्रंथकार यह बताते हैं कि जो मोक्ष की इच्छा रखनेवाले हैं उनको अध्यात्म शास्त्र का रहस्य जाननेवाले गुरुओं की सेवा करनी चाहिये।

विधिवद्धर्मसर्वस्वं यो बुद्धध्वा शक्तितश्चरन्।
प्रवक्ति कृपयान्येषां श्रेयः श्रेयोर्थिनां हि सः।।१०।।

व्यवहार और निश्चय नय के द्वारा रत्नत्रयात्मक धर्म के पूर्ण और असाधारण स्वरूप को परमागम सद्गुरुओं की संप्रदाय - आम्नाय और अपने ज्ञान के अनुसार समझकर और यथाशक्ति उसका पालन करता हुआ जो व्यक्ति दूसरों को भी, किसी प्रकार की ख्याति लाभ या पूजा आदि की अपेक्षा से नहीं, किंतु, केवल अनुकंपा के वश होकर-परोपकार करने ही की अभिलाषा से उस धर्मसर्वस्व की विधेयता का इस तरह से ज्ञान करा देता है कि जिससे उन श्रोताओं का उस विषय का अज्ञान समूल नष्ट हो जाय; वही गुरु कल्याण - मोक्ष की अभिलाषा रखनेवाले भव्यों को सेव्य है। मुमुक्षुओं को ऐसे ही गुरु की सेवा करनी चाहिये।

उक्त देशना के अधिकारी आचार्य और अध्यात्म रहस्य के उपदेष्टा इन दोनो ही का लोक में प्रभाव प्रकट हो ऐसी आशा - भावना प्रकट करते हैं :-

स्वार्थैकमतयो भान्तु मा भान्तु घटदीपवत्।
परार्थे स्वार्थमतयो ब्रह्मवद्भान्त्वहर्दिवम्।।११।।

यहाँ पर पहले यह बता देना उचित है कि मुमुक्षु तीन प्रकार के होते हैं। एक तो परोपकार को प्रधान रखकर स्वोपकार करनेवाले, दूसरे स्वोपकार को प्रधान रखकर

परोपकार करनेवाले, तीसरे केवल स्वोपकार करनेवाले। इनमें से पहले प्रकार के मुमुक्षु के विषय में आर्ष आगम में ऐसा कहा है। -

स्वदुःखनिर्घृणारम्भाः परदुःखेषु दुःखिताः।
निर्व्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्षा मुमुक्षवः।।इति।

मुमुक्षु पुरुष अपने दुःखों को दूर करने के लिये अधिक प्रयत्न नहीं करते किंतु दूसरों के दुःखों को देखकर अधिक दुःखी होते हैं। और इसीलिये वे किसी भी प्रकार की अपेक्षा न रखकर परोपकार करने में दृढता के साथ सदा तत्पर रहते हैं।

दूसरे भेद के विषय में ऐसा कहा है -

आवहिदं कादव्वं जई सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं।।इति।

अपना हित सिद्ध करना चाहिये। फिर भी यदि हो सके तो परहित भी सिद्ध करना चाहिये। किंतु आत्महित और परहित इन दोनों में आत्महित को अच्छी तरह सिद्ध करना चाहिये।

तीसरे भेद के विषय में ऐसा कहा है :-

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन् परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत्।।इति।

परोपकार को छोडकर अपनी आत्मा का उपकार कर क्योंकि अदृश्यमान पर के उपकार करनेवाले को साधारण लोगों की तरह अज्ञ ही समझना चाहिये।

इन तीन प्रकार के मुमुक्षुओं में से अंतिम के प्रति ग्रंथकार ने अपनी तटस्थता प्रकट की है। क्योंकि केवल स्वोपकार - आत्मकल्याण का ही करनेवाला घट में रक्खे हुए दीपक के समान है। जिस प्रकार घट में रक्खा हुआ दीपक जलता हुआ हो या बुझा हुआ; उससे लोक में किसी को भी हर्ष या अमर्ष नहीं होता। इसी प्रकार परोपकार से रहित केवल आत्मकल्याण करनेवाला व्यक्ति दूसरों के लिये हेय या उपादेय अर्थ

का प्रकाशक नहीं होता। अतएव वह उनके लिये उपेक्षा का ही विषय है। वह जगत् में प्रकाशित हो या न हो, उससे दूसरों का कोई प्रयोजन नहीं। किंतु ऐसे व्यक्ति सर्वज्ञ के समान जगत् में दिन रात प्रकाश करें जो कि दूसरों के प्रयोजन को अपने प्रयोजन सरीखा ही मानते हैं।

भावार्थ :- जगत् में जिस वक्ता का प्रभाव प्रकट नहीं होता उस पर लोगों का अधिक विश्वास नहीं होता। किंतु इसके विरुद्ध, जो उपदेष्टा जगत् में प्रभावशाली प्रकट है उस पर लोग अधिक विश्वास करते हैं और उसके वचनानुसार पारलौकिक कार्य करने में निःसंदेह होकर प्रवृत्ति करते हैं।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि देशना - धर्मोपदेश का फल निकट भव्यों में ही हो सकता है। और ऐसे भव्यों का आजकल मिलना बहुत कठिन है। अतएव वह व्यर्थ और अनावश्यक क्यों नहीं है ? पर यह शंका ठीक नहीं है; क्योंकि यद्यपि आजकल निकट भव्य अत्यंत दुर्लभ है, फिर भी देशना व्यर्थ नहीं है। इसी बात का ग्रंथकार समर्थन कर वक्ता को उपदेश के लिये उत्साहित करते हैं। -

पश्यन् संसृतिनाटकं स्फुटरसप्राग्भारकिर्मीरितं
स्वस्थश्चर्वति निर्वृतः सुखसुधामात्यन्तिकीमित्यरम्।
ये सन्तः प्रतियन्ति तेऽद्य विरला देश्यं तथापि क्वचित्
काले कोपि हितं श्रयेदिति सदोत्पाद्यापि शुश्रूषताम्।।१२।।

'जो आत्मा संसार से रहित होकर मुक्त हो गये हैं और कर्म से सर्वथा रहित अपने आत्मस्वरूप में ही ठहरे हुए हैं वे विभावादि भावों से व्यक्त होनेवाले रसों के नानारूप को धारण करनेवाले संसाररूपी नाटक को देखते हुए - उसका निर्विकल्पतया अनुभव करते हुए आतङ्क और दूसरे समस्त व्यापारों से रहित होकर सुखरूपी सुधा का अनंतकाल तक पान करते रहते हैं - उत्तरोत्तर उसीका स्वाद लेते रहते हैं। ' इस तरह का झटिति-उपदेश के अनंतर ही श्रद्धान करलेनेवाले भव्य आजकल - इस पंचम काल में विरल हैं - बहुत कम मिलते हैं। फिर भी दूसरों के लिये हित का उपदेश देना ही जिनका

एक कार्य है ऐसे आचार्यों को हमेशा श्रोताओं को सुनने की इच्छा उत्पन्न कराकर भी धर्म का उपदेश अवश्य देना चाहिये। क्योंकि संभव है कि कभी कोई श्रोता उससे अपने हित की तरफ लग जाय।

यहाँ पर ग्रंथकार ने संसार को नाटक की उपमा दी है। क्योंकि जिस तरह नाटक को देखकर दर्शकों को आनंद होता है उसी तरह इस संसार को निर्विकल्प होकर देखनेवाले मुक्तात्माओं को भी अत्यंत आनंद होता है। तथा नाटक के समान ही यह संसार विभावादि भावों से व्यक्त होनेवाले नव रसों से नानास्वरूप धारण करनेवाला है। जिसके अनुसार अभिनय करके बताया जा सके ऐसे काव्य को नाटक कहते हैं। विभाव अनुभाव और व्याभिचारी इन भावों के द्वारा व्यक्त किये जानेवाले भावों को स्थायी भाव कहते हैं। इनके रति आदि नव भेद हैं जिनका कि आगे चलकर उल्लेख करेंगे। विभावादिक के संयोगं से पुष्ट हो जाने पर इन्हीं व्यक्त भावों को रस कहते हैं। जिन भावों का मन के द्वारा आनंद आता है उन्हीं को रस कहते हैं। इसका सामान्य लक्षण इस प्रकार बताया है :-

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।
विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।।

रस आदिक के कारणरूप कार्यरूप और सहकारीरूप जितने भाव हैं उनको लोकमें स्थायी भाव कहते हैं। यदि इनका नाटक या काव्य में वर्णन किया जाय तो इन्हीं को विभाव अनुभाव और व्याभिचारी नाम से कहते हैं। इन विभावादिक के द्वारा व्यक्त होनेवाले स्थायी भाव को रस कहते हैं।

अथवा ऐसा भी कहा है -

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः साध्यत्वं स्थायिभावो रसः स्मृतः।।

विभाव अनुभाव सात्त्विक और व्यभिचारी इन चारों के द्वारा सिद्ध किये जानेवाले स्थायी भाव को रस कहते हैं।

ललनाओं के उद्यानप्रवेश आदि आलंबन और उद्दीपन के कारणों को विभाव कहते हैं। कटाक्ष और भुजाक्षेपादिक को अनुभाव कहते हैं जिनसे कि मन में हुए विकार-भाव का बोध होता है। स्थायी भाव के साथ रहनेवालों को व्यभिचारी भाव कहते हैं। इस व्यभिचारी भाव के तैंतीस भेद हैं; जिनके कि नाम इस प्रकार हैं। -

निर्वेदोय तथा ग्लानिः शङ्कासूयामदश्रमाः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहो धृतिः स्मृतिः।।
वेगश्चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च।।
सुप्तिर्विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्यस्तयौग्रता।
मतिव्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च।।
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदिमे भावाः समाख्यातास्तु नामतः।।

निर्वेद ग्लानि शङ्का असूया मद श्रम आलस्य दैन्य चिंता मोह धैर्य स्मरण वेग चपलता हर्ष आवेग जडता गर्व विषाद उत्सुकता निद्रा अपस्मार सुप्ति (स्वाप) विबोध अमर्ष अवहित्थ उग्रता मति व्याधि उन्माद मरण त्रास और वितर्क।

सात्त्विक भाव के आठ भेद हैं; जिनके नाम ये हैं :-

स्तम्भः स्वेदोथ रोमाञ्चः स्वरभेदोथ वेपयुः
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका स्मृताः।।

स्तम्भ स्वेद रोमाञ्च स्वरभंग कंप विवर्णता अश्रु और प्रलय।

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायिभावा रसाश्रयाः।।

उपर्युक्त विभावादि के द्वारा व्यक्त होनेवाले स्थायी भाव के नव भेद है; जिनके नाम ये है :-

रति हास शोक क्रोध उत्साह भय जुगुप्सा विस्मय और शम। इन्ही के आधार पर उसकी उत्पत्ति होती है। ये भाव भी नव हैं और इनसे उत्पन्न होनेवाले रस भी नव ही हैं; जिनके कि ये नाम हैं :-

श्रृङ्गारहास्यकरुण रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः।।

श्रृंगार हास्य करुण रौद्र वीर भयानक बीभत्स अद्भुत और शान्त। अतएव इनमें से एक एक रस क्रम से एक एक स्थायिभाव से उत्पन्न होता है। यथा रति से श्रृंगार, हास से हास्य, शोक से करुण, क्रोध से रौद्र, उत्साह से वीर; इत्यादि।

यहाँ पर एक बात और भी समझने की है वह यह बात है कि ऊपर जो व्यभिचारी भाव के निर्वेदादिक भेद गिनाये हैं वे जिसके हृदय में बार बार उत्पन्न होकर पुष्टि प्राप्त कर लेते हैं उसके लिये वे ही रस हो जाते हैं। जैसे कि रति यद्यपि भाव है; फिर भी पुष्ट होने पर वह रस ही हो जाता है। हाँ, जिसके हृदय में ये भाव पुष्टि को प्राप्त नहीं कर सकते उसके लिये वे भाव ही हैं, रस नहीं।

इन्हीं भावों और रसों से नाटक पूर्ण रहता है। अतएव इस कथन से यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि यह संसार भी एक नाटक के ही समान है, जो कि नव रस और उसके जनक तथा अभिव्यञ्जक भावों से भरा हुआ है और अपने दर्शकों को आनंद का जनक है। जो आत्मा संसार से रहित होकर इस नव रस से पूर्ण संसाररूपी नाटक का निर्विकल्प होकर दर्शन - अनुभव करते रहते हैं वे अनंतकाल तक सुखसुधा का पान करते रहते हैं। इस तरह का शीघ्र ही श्रद्धान करनेवाले सरलपरिणामी श्रोता आजकल बहुत ही विरल हैं। अतएव यदि उनको स्वयं सुनने की इच्छा न हो तो भी

परोपकार करनेवालों को चाहिये कि उन्हें सुनने की इच्छा उत्पन्न कराकर धर्म का उपदेश देना क्योंकि उपदेश व्यर्थ नहीं जा सकता। उससे कभी न कभी कोई न कोई अपने हित में लग सकता है।

बहुशोप्युपदेशः स्यान्न मंदस्यार्थसंविदे।
भवति ह्यन्धपाषाणः केनोपायेन काञ्चनम्।।१३।।

जो मंद है - मिथ्यात्वादिक से सदा इस तरह ग्रस्त रहता है कि उसको सम्यग्दर्शनादिक की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, उसको यदि बार बार भी उपदेश दिया जाय आप्त के स्वरूप का ज्ञान कराया जाय तो भी उसके हृदय में हेय और उपादेय तत्त्व का समीचीन ज्ञान व श्रद्धान नहीं हो सकता। अन्ध पाषाण - जिसमें कि सुवर्ण पृथक् है ही नहीं ऐसा पत्थर - क्या किसी उपाय से सुवर्ण हो सकता है ?

भव्यों में भी किस तरह का भव्य उपदेश का पात्र हो सकता है सो बताते हैं।

श्रोतुं वाञ्छति यः सदा प्रवचनं प्रोक्तं श्रृणोत्यादराद्
गृह्णाति प्रयतस्तदर्थमचलं तं धारयत्यात्मवत्।
तद्विद्यैः सह संविदत्यपि ततोन्यांश्चोहतेऽपोहते
तत्तत्त्वाभिनिवेशमावहति च ज्ञाप्यः स धर्मं सुधीः।।१४।।

सम्यक्त्व से युक्त ज्ञानधन के धारण करनेवाले श्रोता में इन आठ बातों को, धर्म का उपदेश देने के लिये देखना उचित है। १. जो दृष्ट और इष्ट किसी भी प्रमाण से विरुद्ध न रहनेवाले अनेकान्तात्मक सिद्धान्त - जिनागम को सदा सुनने की इच्छा रखता हो। २. केवल सुनने की इच्छा रखता हो इतना ही नहीं, बल्कि, गुरुओं का अपलाप न करनेवाले - गुरुसंप्रदाय के अनुसार कहनेवाले तथा कल्याण के अभिलाषी वक्ताओं के द्वारा कहे जाने पर - प्रवचन का व्याख्यान होने पर उसको आदर - भक्ति के साथ सुनता भी हो। ३. व्याख्यान या प्रवचन में जो विषय कहा गया है - जो बातें बताई गई हो उनका प्रयत्न करके निश्चय करनेवाला हो। ४. निश्चित विषय को आत्मस्वरूप

की तरह अचल बनाकर धारण करनेवाला हो - कभी भूलनेवाला न हो। यह धारणा इतनी अचल हो कि जिससे उसके विषय का संस्कार जन्मांतर में भी चला जाय। आत्मरूप की तरह इसलिये कि उसका वियोग कभी न होना चाहिये। ५. उस गृहीत तथा धारित विषय का प्रवचन के जानकारों के साथ मिलकर संशय विपर्यय अनध्यवसाय रहित श्रद्धान करनेवाला हो। क्योंकि ऐसे मनुष्यों से मिलकर विचार करना, उस विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त करने का प्रधान कारण है। ६. इन जाने हुए विषयों में व्याप्ति के द्वारा विशेष तर्क करनेवाला हो। 'जो इस प्रकार का स्थिर सिद्धांत है वह सर्वत्र सर्वदा इसी प्रकार का रहेगा' इस व्याप्ति के अनुसार जाने हुए विषयों के आधार पर अज्ञात - प्रवचनोपदेश में न सुने हुए विषयों का भी श्रद्धान करनेवाला हो। ७. प्रमाणबाधित - आगम और युक्ति से विरुद्ध पदार्थों को अश्रद्धेय समझकर प्रत्यवाय की संभावना से छोड देनेवाला हो। ८. अंत में जिन जिन का स्वरूप जिस जिस प्रकार से - हेयरूप से या उपादेयरूप से अथवा उपेक्ष्यरूप से जैसा व्यवस्थित हो चुका है उन उन तत्त्वों का उसी उसी प्रकार से अभिनिवेश - आग्रह रखनेवाला हो।

भावार्थ :- इस पद्य में क्रम से श्रोता के १ शुश्रूषा २ श्रवण ३ ग्रहण ४ धारण ५ विज्ञान ६ ऊह ७ अपोह और ८ तत्त्वाभिनिवेश इन आठ बुद्धिसंबंधी गुणों को बताया है और दिखाया है कि इन गुणों से युक्त बुद्धिमान् श्रोता ही पूर्णतया धर्मोपदेश का पात्र है।

इन आठ गुणों से युक्त बुद्धि के धारण करनेवाले श्रोता की भी प्रज्ञा, विना धर्मोपदेश के धर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकती। यही बताते हैं -

महामोहतमश्छन्नं श्रेयोमार्गं न पश्यति।
विपुलापि दृगालोकादिव श्रुत्या विना मतिः।।१५।।

जिस प्रकार प्रशस्त भी दृष्टि प्रदीपादिक के प्रकाश के बिना अंधकार - निबिड अंधकार में छिपे हुए मार्ग को देख नहीं सकती, उसी प्रकार प्रशस्त भी मति धर्मोपदेश के सुने विना मोह के निबिड अंधकार से छिपे हुए कल्याण - मोक्ष के मार्ग को देख नहीं सकती। क्योंकि ऐसा विधान भी है कि - 'श्रुत्वा धर्मं विजानन्ति,' सुनकर ही धर्म को जान सकता या धारण कर सकता है।

शासन संस्कार से बुद्धि में जो अतिशय प्राप्त होता है
उसकी प्रशंसा करते हैं।

दृष्टमात्रपरिच्छेत्री मतिः शास्त्रेण संस्कृता।
व्यनक्त्यदृष्टमप्यर्थं दर्पणेनेव दृङ्मुखम्।।१६।।

आंखे दिख सकनेवाले पदार्थ को ही देखनेवाली हैं, मुख को नहीं देख सकती। किंतु दर्पण के निमित्त से उसको भी देख सकती हैं। इसी तरह मति - इन्द्रिय और अतीन्द्रिय के निमित्त से उत्पन्न होनेवाला अपग्रहादिक ज्ञान, यद्यपि, केवल दृष्ट - इन्द्रिय और मन से दिख सकनेवाले पदार्थों को ही जाननेवाला है; तो भी शास्त्र - आप्त भगवान् के वचन से उत्पन्न हुए दृष्टादृष्टपदार्थविषयक ज्ञान से अतिशय को प्राप्त कर अदृष्ट-उक्त दोनों साधनों इन्द्रिय और मन के अविषय पदार्थो को प्रकाशित कर सकता है।

श्रोताओं के चार भेद हैं - अव्युत्पन्न संदिग्ध व्युत्पन्न विपर्यस्त। इनमें आदि के दो प्रकार के श्रोता ही प्रतिपाद्य - उपदेश के पात्र हो सकते हैं। इसी बात को दृढ करते हैं -

अव्युत्पन्नमनुप्रविश्य तदभिप्रायं प्रलोभ्याप्यलं,
कारुण्यात्प्रतिपादयन्ति सुधियो धर्म सदा शर्मदम्।
संदिग्धं पुनरन्तमेत्य विनयात्पृच्छन्तमिच्छावशान्न,
व्युत्पन्नविपर्ययाकुलन्नमती व्युत्पत्त्यनर्थित्वतः।।१७।।

जो श्रोता अव्युत्पन्न है - धर्म के स्वरूप का जानकार नहीं है उसके अभिप्राय के स्वरूप को समझकर धर्मोपदेष्टा आचार्य कृपा करके उसके अभिप्राय के अनुसार धर्म से मिलनेवाले लाभ पूजा आदि फलों को दिखाकर धर्म के विषय में उसका लोभ - रुचि उत्पन्न कराकर भी सुख व कल्याण के देनेवाले धर्म का उपदेश दिया करते हैं। इसी प्रकार जो संदिग्ध है - जो यह निश्चय नहीं कर सका है कि धर्म का स्वरूप यही

है अथवा अन्य; वह यदि उसको जानने की इच्छा से विनय के साथ - उद्धतता को छोडकर पास में आकर पूछता है कि धर्म का स्वरूप इसी तरह है या अन्य प्रकार का; तो उसको उस धर्म का उपदेश विशेषरूप से देते हैं। किंतु जो व्यक्ति धर्म के विषय में व्युत्पन्न है अथवा विपरीत ज्ञान के कारण दुष्ट बुद्धि रखनेवाला है - ऐसी दुष्ट बुद्धि कि जिसके कारण समीचीन धर्म के अनुसार कहे हुए पदार्थों से विपरीत ही समर्थन करने का दुराग्रह करने लगता है - उसको धर्म का उपदेश नहीं देते। क्योंकि जो व्युत्पन्न है वह तो स्वयं जानकार है इसलिये उपदेश का पात्र नहीं। और जो विपरीत - दुष्ट बुद्धि रखनेवाला है वह धर्म की व्युत्पत्ति को चाहता ही नहीं - उससे मत्सर करनेवाला है; इसलिये उसका पात्र नहीं।

भावार्थ :- चार प्रकार के श्रोताओं में से अव्युत्पन्न और संदिग्ध दो ही उपदेश के पात्र है; व्युत्पन्न और विपर्यस्त नहीं।

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि जिसकी बुद्धि दुष्ट फल की अभिलाषा से दूषित हो रही है - संसार के विषयभोगों से जिसकी रुचि घटी नहीं है और इसीलिये जो लाभ पूजा अभ्युदय आदिको प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है - उसको धर्म का उपदेश किस तरह दिया जा सकता है ? दृष्टांत द्वारा इस शंका का निराकरण करते हैं।

यः श्रुणोति यथा धर्ममनुवृत्त्यस्तथैव सः।
भजन् पथ्यमपथ्येन बालः किं नानुमोद्यते।।१८।।

जो धर्म के माहात्म्य से अनभिज्ञ है वह जिस तरह से सुन सकता हो उसको उसी तरह से सुनाना चाहिये। श्रोता यदि लाभ पूजादि को चाहता है तो धर्म का वह फल भी बताकर उस श्रोता को धर्म का उपदेश देना चाहिये। अपथ्य - मुनक्का चाशनी आदि के साथ, पथ्य - रोग को दूर करनेवाली कडवी कसैली औषध के सेवन करनेवाले बालक की क्या उसके माता पिता अनुमोदना नहीं करते हैं ? 'तू बहुत अच्छा कर रहा है, वाह' ऐसा कहकर क्या अपथ्य के साथ भी पथ्य सेवन के लिये उसको उत्साहित नहीं करते हैं ? करते ही हैं।

विनय का फल दिखाते हैं। -

वृद्धेष्वनुद्धताचारो नामहिम्नानुबध्यते।
कुलशैलाननुत्क्रामन् सरिद्भिः पूर्यतेर्णवः।।१९।।

उस पुरुष में लोकोत्तर महिमाएँ आकर नित्य ही निवास करने लगती हैं, जो कि वृद्धों के साथ - तप और ज्ञानादिक की अपेक्षा ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ पुरुषों के साथ उद्धतता को छोडकर विनीतता का व्यवहार करता है। समुद्र कुलपर्वतों - सौ, दो सौ, और चार चार सौ योजन ऊंचे हिमवदादिकों का उल्लंघन नहीं करता - उनके साथ औद्धत्यपूर्ण व्यवहार नहीं करता। यही कारण है कि उन पर्वतों से उत्पन्न हुई गङ्गादिक नदियाँ आकर उसको पूर्ण करती हैं।

जो व्युत्पन्न है वह उपदेश का पात्र नहीं है, यह बात ऊपर बता चुके हैं। अब उसी बात का दृष्टांत देकर समर्थन करते हैं। -

यो यद्विजानाति स तन्न शिष्यो यो वा न यद्वष्टि स तन्न लभ्यः।
को दीपयेद्धामनिधिं हि दीपैः कः पूरयेद्वाम्बुनिधिं पयोभिः।।२०।।

जो जिस विषय को जानता है - और अच्छी तरह से जानता है वह उस विषय में प्रतिपाद्य नहीं हो सकता - उसको उस विषय की शिक्षा नहीं दी जा सकती। इसी तरह जो जिस चीज को चाहता ही नहीं उसको वह चीज देनी नहीं चाहिये। भला, ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो सूर्य को दीपक से प्रकाशित करना चाहे। अथवा क्या कोई ऐसा भी आदमी है जो समुद्र को जल से भरना चाहे। भावार्थ - व्युत्पन्न पुरुष स्वयं उस विषय का जानकार है और उस विषय को जानना चाहता भी नहीं। अत एव उसको उपदेश नहीं देना चाहिये। उसको उपदेश देना व्यर्थ है।

विपर्यस्तबुद्धि को उपदेश देने में दोष दिखाते है।

यत्र मुष्णाति वा शुद्धिच्छायां पुष्णाति वा तमः।
गुरूक्तिज्योतिरुन्मीलत् कस्तत्रोन्मीलयेद्गिरम्।।२१।।

ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो ऐसे पुरुष को उपदेश देने का प्रयत्न करे कि जिसके हृदय में नाम मात्र को रहनेवाली शुद्धि गुरूपदेश की ज्योति से प्रकाशित होते ही नष्ट हो जाती है और अंधकार पुष्ट हो जाता है।

भावार्थ :- जहाँ पर उपदेश का फल उल्टा ही वहाँ उपदेश देना व्यर्थ है। वचन का प्रयोग वहाँ करना चाहिये जहाँ उसका ठीक [१] फल निकलता हो।

जिस प्रकार वक्ता और श्रोता धर्मोपदेश के अङ्ग है उसी प्रकार उसकी प्रवृत्ति का एक अङ्ग धर्म का फल भी है। अतएव वक्ता और श्रोता के स्वरूप का निरूपण करके अब धर्म के फल का वर्णन करते हैं।

सुखं दुःखनिवृत्तिश्च पुरुषार्थावुभौ स्मृतौ।
धर्मस्तत्कारणं सम्यक् सर्वेषामविगानतः।।२२।।

प्राचीन आचार्यों में पुरुषार्थ दो बताये हैं; एक सुख, दूसरा दुःख की निवृत्ति। क्योंकि इन दो बातों को छोडकर पुरुष के लिये और कोई भी अभिलाषा का विषय बाकी नहीं रहता। समस्त प्राणियों के लिये चाहे वे आज्ञाप्रधानी हों, चाहे परीक्षाप्रधानी; धारण किया हुआ समीचीन धर्म ही इन दोनो पुरुषार्थों की सिद्धि का कारण है। समीचीन इसलिये कि उसमें किसीको किसी भी तरह का विवाद नहीं है।

उक्त अर्थ को ही स्पष्टतया बताने के लिये मुख्य फल के देनेमें समर्थ धर्म के समस्त आनुषंगिक फल की प्रशंसा करते हैं।

येन मुक्तिश्रिये पुंसि वास्यमाने जगच्छ्रियः।
स्वयं रज्यन्त्ययं धर्मः केन वर्ण्योनुभावतः।।२३।।

मुक्ति लक्ष्मी अनंतज्ञानादि संपत्ति को प्राप्त करने के लिये जिस धर्म के धारण करने पर मनुष्य को तीनों लोक की विभूतियाँ स्वयं आकर प्राप्त हो जाती हैं। उस धर्म के

---

१ - वचस्तत्र प्रयोक्तव्यं यत्रोक्तं लभते फलम्।

माहात्म्य - प्रभाव - फल का वर्णन कौन कर सकता है ? ब्रह्मा भी नहीं कर सकता। भावार्थ धर्म के प्रसाद से जब मुक्ति तक प्राप्त हो सकती है तब दूसरे लौकिक प्रयोजनों अभ्युदयों का प्राप्त होना कुछ कठिन नहीं है।

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि संसार के अभ्युदयों की प्राप्ति पुण्यबंध का फल है और मोक्ष समस्त कर्मों के अभाव से प्राप्त होता है। पुण्यफल और मोक्ष दोनों कार्य परस्पर में विरुद्ध हैं। अतएव विरुद्ध दो कार्यों का कारण एक ही धर्म किस तरह हो सकता है। इसका उत्तर देने के लिये विरोध का परिहार करते हैं।

निरुन्धति नवं पापमुपात्तं क्षपयत्यपि।
धर्मेनुरागाद्यत्कर्म स धर्मोभ्युदयप्रदः।।२४।।

सम्यग्दर्शनादिक के एकसाथ प्रवृत्त होनेवाले आत्मा के एकाग्रतारूप शुद्ध परिणामों को धर्म कहते हैं। इस धर्म के विषय में जो एक विशिष्ट प्रीति होती है उसको भी उपचार से धर्म कहते हैं। यह अनुरागरूप धर्म सातावेदनीय शुभ आयु शुभ नाम और शुभ गोत्ररूप उस पुण्य कर्म के बंध का कारण हो सकता है जिससे कि स्वर्गादिक की संपत्ति भले प्रकार प्राप्त हो सकती है। अतएव इस धर्म के प्रसाद से अभ्युदयों की सिद्धि अच्छी तरह हो सकती है और पूर्वबद्ध पापकर्म का क्षय तथा नवीन पाप का निरोध-संवर भी हो सकता है।

निमित्त और प्रयोजन के विना उपचार की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। अतएव मुख्य धर्म के अनुराग विशेष से प्राप्त होनेवाले पुण्य को उपचार से धर्म कहने में भी निमित्त तथा प्रयोजन की आवश्यकता है। इसीलिये यहाँ पर इन दोनों बातों को स्पष्ट कर देते हैं। निमित्त - विषय से मुख्य धर्म संबंध रखता है उसी विषय से उपचरित धर्म भी संबंध रखनेवाला है। मुख्य धर्म आत्मसिद्धि से साक्षात् और उपचरित धर्म परंपरा संबंध रखता है; किंतु दोनों का संबंध एक ही विषय से है। अतएव यहाँ पर उपचार की प्रवृत्ति हो सकती है। प्रयोजन - इस उपचार के होने से लोकव्यवहार और शास्त्रव्यवहार दोनों ही सिद्ध हो सकते हैं। क्योंकि लोक में पुण्य और धर्म पर्यायवाचक शब्द प्रसिद्ध हैं। जैसा कि कोश में भी धर्म पुण्य सुकृत श्रेय और वृष इनको पर्यायवाचक शब्द ही कहा है।

इसी तरह शास्त्र में भी पुण्य के अर्थ में धर्म शब्द का व्यवहार किया जाता है। जैसे कि '[१] धर्म के प्रसाद से ही वैभव प्राप्त हुआ है; अतएव धर्म की रक्षा करके ही - धर्म को सुरक्षित रखते हुए ही भोगों को भोगना चाहिये।' अथवा 'धर्म [२] वही है कि जिससे अभ्युदय और मोक्ष दोनों की सिद्धि हुआ करती है' इन दोनों व्यवहारों की सिद्धि उपचार से पुण्य को धर्म माने विना नहीं हो सकती। अतएव उपचार की आवश्यकता भी है।इन दोनों निमित्त और प्रयोजन को ध्यान में रखकर ऊपर उपचार से पुण्य को धर्म कहा है।

अब यह बात बताते हैं कि धर्म - पुण्य पहले आनुषंगिक फल को देता है और फिर मुख्य फल को भी पूर्णतया देता है।

धर्माद् दृक्फलमभ्युदेति करणैरुद्गीर्यमाणोनिशं
यत्प्रीणाति मनो वहन् भवरसो यत्पुंस्यवस्थान्तरम्।
स्याज्जन्मज्वरसंज्वरव्युपरमोपक्रम्यनिस्सीम तत्,
तादृक् शर्म सुधाम्बुधिप्लवमयं सेवाफलं त्वस्य तत्।।२५।।

धर्म के प्रसाद से दो प्रकार के फल प्राप्त होते हैं - १ दृष्ट फल, २ सेवाफल। चक्षुरादिक इंद्रियों के द्वारा प्रकाशित होनेवाले - साक्षात् आंखो से दिख सकनेवाले और दिनरात उसी तरह प्रवृत्त होनेवाले संसार के सारभूत इन्द्रादिक पदों अथवा ग्राम नगर सुवर्ण वस्त्र वाहन आदि वैभवों को दृष्ट फल कहते हैं, जिनके कि प्राप्त होने से मनको तृप्ति प्राप्त होती है। तथा सांसारिक अवस्था से विपरीत दूसरी ऐसी अवस्था के प्राप्त होने को सेवाफल कहते हैं जो कि जन्ममरण और मोहजनित संतापरूपी बडे भारी ज्वर के निःशेष क्षीण हो जानेपर प्राप्त - उत्पन्न होनेवाला और निरवधि -अनंत है, तथा आप्तोपदेश से सिद्ध किंतु अनिर्वचनीय सुखरूपी अमृत के समुद्र में स्वच्छन्दतया अवगाहन के समान है।

भावार्थ :- धर्म के प्रसाद से जीव को मोक्ष फल की प्राप्ति होती है। यही धर्म का मुख्य फल है। किंतु जबतक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती तबतक सांसारिक अभ्युदयों की प्राप्ति होती है। इन अभ्युदयों का प्राप्त होना धर्मसेवन का आनुषंगिक फल है।

अब तेईस पद्यों में धर्म के अभ्युदयरूप फल का वर्णन करेंगे। जिसमें से यहाँ पर चौदह श्लोकों में उसका सामान्य से स्पष्टीकरण करते हैं।

वंशे विश्वमहिम्नि जन्म महिमा काम्यः समेषां शमो
मन्दाक्षं सुतपोजुषां श्रुतमृषिब्रह्मर्द्धिसंघर्षकृत्।
त्यागः श्रीददुराधिदाननिरनुक्रोशः प्रतापो रिपु-
स्त्रीशृङ्गारगरस्तरङ्गितजगद्धर्माद्यशश्चाङ्गिनाम्।।२६।।

धर्म के प्रसाद से प्राणियों को सभी अभ्युदय प्राप्त होते हैं। यथा -

ऐसे वंश में जन्म कि जिसके माहात्म्य से जगत् की सभी महिमाएँ - सर्वोत्कृष्ट पद प्राप्त हो सकते हैं। प्राणिमात्र के लिये स्पृहणीय तीर्थंकरत्वादिक पद। अपने अपराधियों को दंड देने की सामर्थ्य से रहते हुए भी उनके अपराधों को सहन - क्षमा करने की ऐसी शक्ति कि जिसके सामने बडे बडे तपस्वियों की भी आंखें लज्जा से नीची पड जाती हैं। आप्त भगवान् के वचन आदि के निमित्त से उत्पन्न हुआ अर्थ - पदार्थों का ऐसा ज्ञान कि जो तप के बल से बुद्ध्यादिक ऋद्धियों को प्राप्त करनेवाले ऋषियों के ज्ञानातिशय के साथ भी स्पर्धा करता हो - टक्कर लेता हो। कुबेर के भी दुराधि - अनुचित रूप से प्रवृत्त हुए। मानसिक दु:ख - के उत्पन्न करने में निर्दय किंतु अमोघ शक्ति का रखनेवाला दान। शत्रुस्त्रियों के शृंगार के लिये विष के समान प्रताप - कोष और दंड से उत्पन्न हुआ तेज। समस्त जगत् को कम कर देनेवाला - तीनों लोकों को व्याप्त कर उनके ऊपर प्रकाशित होनेवाला यश।

बुद्ध्यादिक सामग्री भी फल देने में पुण्य का ही मुख देखा करती हैं। यही बात बताते हैं -

धीस्तीक्ष्णानुगुणः कालो व्यवसायः सुसाहसः।
धैर्यमुद्यत्तथोत्साहः सर्वं पुण्यादृते वृथा।।२७।।

तीक्ष्ण - कुशाग्रीय - पदार्थ को थोडा सा स्पर्श करते ही उसके अंत तक को विषय कर लेनेवाली बुद्धि, कार्य की सिद्धि में मदद पहुँचानेवाला समय, कर्म के प्रति साहसपूर्ण उद्यम, बढता हुआ धैर्य - विघ्नों पर विजय प्राप्त करने की शक्ति - और उत्साह-कार्यकारिणी शक्ति। ये सब - बुद्ध्यादिक पाँचों ही पदार्थ पुण्य के बिना व्यर्थ है।

यदि इष्ट पदार्थों के सिद्ध होने में पुण्य कर्म स्वतंत्र है तो वह उस विषय में अपने कर्ता क्रिया की भी अपेक्षा क्यों रखता है ? इस प्रश्न का उत्तर उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा देते हैं। -

मनस्विनामीप्सितवस्तुलाभाद्रम्योभिमानः सुतरामितीव।
पुण्यं सुहृत्पौरुषदुर्मदानां क्रियां करोतीष्टफलाप्तिदृप्ताः।।२८।।

अभिमानी पुरुषों को ईप्सित वस्तुओं का लाभ हो जाने पर अत्यंत मनोहर अभिमान हुआ करता है। मालूम पडता है, मानों इसीलिये पुण्य कर्म, पौरुष का खोटा मद करनेवालों की, अभिमत पदार्थों के सिद्ध हो - जाने से आभिमानिक रस से युक्त क्रियाओं को, सिद्ध करने में निष्कपट उपकार करता है।

उक्त प्रश्न का उत्तर देकर अब यह बताते हैं कि विशिष्ट आयु आदि की पुण्योदय के निमित्त से ही होती है।

आयुः श्रेयोनुबन्धि प्रचुरमुरुगुणं वज्रसारः शरीरं
श्रीस्त्यागप्रायभोगा सततमुदयनी धीः परार्ध्या श्रुताढ्या।
गीरादेया सदस्या व्यवहृतिरपथोन्माथिनी सद्धिरर्थ्या
स्वाम्यं प्रत्यर्थिकाम्यं प्रणयिपरवशं प्राणिनां पुण्यपाकात्।।२९।।

प्राणियों को पुण्य के उदय से ये सब बातें प्राप्त होती है। यथा -

अविच्छिन्न कल्याणों से युक्त और उत्कृष्ट - लंबी आयु, सौदर्य कोमलता आदि अनेक महान् गुणों से युक्त वज्र के सार की तरह अभेद्य और दृढ शरीर, जीवन पर्यंत

दिनपर दिन बढती जानेवाली और प्रायः दान व भोगों में ही जिसका उपयोग हो ऐसी लक्ष्मी, उत्कृष्ट - शुश्रूषा आदि गुणों से युक्त और श्रुतज्ञान की समृद्धि से पूर्ण बुद्धि, सभा के योग्य और आदेय - जिनका कोई उल्लंघन न कर सके ऐसी वाणी, हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्तिरूप ऐसा व्यवहार - सदाचार कि जिसको साधु भी प्राप्त करना चाहें जिसको देखकर दूसरे अमार्ग में प्रवृत्ति करनेवाले भी अपनी उस अयुक्त प्रवृत्ति को छोड दें। अपने बंधु मित्र आदिक स्नेही व्यक्तियों के अधीन और जिसको शत्रु भी प्राप्त करना चाहें - जिसे देखकर शत्रुओं को भी मन में यह भाव उत्पन्न हो जाय कि 'हम भी ऐसे हो जाय' ऐसी प्रभुता।

पुण्य के प्रताप से बहुत से फल - अभ्युदय एकदम आकर प्राप्त होते हैं। यही बात दिखाते हैं।

चिद्भूम्युत्थः प्रकृतिशिखरिश्रेणिरापूरिताशा-
चक्रः सञ्जीकृतरसभरः स्वच्छभावाम्बुपूरैः
नानाशक्तिप्रसवविसरः साधुपान्थौघसेव्यः
पुण्यारामः फलति सुकृतां प्रार्थितांलुम्बिशोर्थान्।।३०।।

पुण्यात्माओं के पुण्यरूपी उपवन में अभिलषित पदार्थ प्रचुरता से फलते हैं। यह उपवन चेतनरूपी भूमि पर उत्पन्न होनेवाला और सातावेदनीय आदि कर्मप्रकृतिरूपी वृक्षों की श्रेणी से युक्त हैं। जिस प्रकार उपवन आशाओं - दिशाओं को घेर लेता है - चारों तरफ से बहुत सी जगह में फैला हुआ रहता है उसी प्रकार यह भी आशाओं - भविष्यत् के लिये पदार्थों की अभिलाषाओं से पूर्ण रहता है। इस उपवन में निर्मल परिणामरूपी जल के पूर से उपभोग के योग्य [१]रस का भार तैयार होता है। यह अनेक प्रकार की शक्तिरूपी फूलों के समूह से युक्त है और इसका पथिकों की तरह साधुगण - त्रिवर्ग के लोग आश्रय लेते हैं।

यहाँ पर शक्तिओं को फूलों की उपमा देने का यह प्रयोजन है कि उन्ही से फल

की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार त्रैवर्गिकों को पथिकों की उपमा इसलिये दी है कि वे नित्य ही मार्ग में - मोक्षमार्ग में गमन करते रहते हैं :-

पुण्य से बहुत से सहभावी वाञ्छित पदार्थ फलरूप में प्राप्त होते हैं। यही बात दिखाते हैं।

पित्र्यैर्वैनयिकैश्च विक्रमकलासौन्दर्यचर्यादिभि-
र्गोष्ठीनिष्ठरसैर्नृणां पृथगपि प्रार्थ्यैः प्रतीतो गुणैः।
सम्यक्स्निग्धविदग्धमित्रसरसालापोल्लसन्मानसो
धन्यः सौधतलेऽखिलर्तुमधुरे कान्तेक्षणैः पीयते।।३१।।

गुण दो प्रकार के हुआ करते हैं - १ साहजिक, २ आहार्य। माता पिता की वंशपरंपरा से आये हुओं को साहजिक, तथा गुरु आदि की शिक्षा से उत्पन्न हुओं को आहार्य कहते हैं। पराक्रम, सौंदर्य, प्रियंवदत्त्व आदिक साहजिक गुण हैं और कला आचरण मैत्री आदिक आहार्य गुण हैं। पुण्यवान् पुरुष मातापिता से आये हुए और शिक्षा से उत्पन्न हुए अर्थात् उक्त दोनों प्रकार के विक्रम कला सौंदर्य चर्या प्रियंवदत्त्व आदिक तथा जिनका रस, गोष्टी - प्रीतिपूर्वक पारस्परिक भाषण के समय नियत रूप से स्थिर रहता है - जो सदा उदित रहनेवाले हैं और जिनमें से एक एक को भी दूसरे लोग प्राप्त करने की स्पृहा करते हैं - सबकी तो बात ही क्या ऐसे अनेक गुणों से जगत् में प्रतीति को प्राप्त कर लेता है। ऐसा पुण्याधिकारी पुरुष जिस समय हेमंत शिशिर वसंत ग्रीष्म वर्षा और शरद् इन सभी ऋतुओं में जहाँ बैठने से मन और इन्द्रियों को तृप्ति प्राप्त होती है ऐसे समस्त ऋतुओं के उच्च राजमहल में निष्कपट प्रेमी विद्वान और रसिक मित्रों के सरस वचनालापों से अपने मन को आनंदोन्मुख करता हुआ बैठता है उस समय उसको कान्ताएँ सतृष्ण दृष्टि से देखा करती हैं।

मुग्धा मध्या और प्रगल्भा इन तीनों ही अवस्था की ऐसी स्वकीया नायिका को कान्ता कहते हैं कि जिसका आचार पवित्र और नागरिक हो तथा जो चारित्र को अपना शरण

मानती हो; एवं च निरभिमानता और क्षमा से युक्त हो।

इस प्रकार पुण्यवान् की स्वगत - खुद को प्राप्त होनेवाली गुणसंपत्ति का वर्णन करके अब स्त्रीसंबंधी सुख का दो श्लोकों में वर्णन करते हैं। -

साध्वीस्त्रिवर्गविधिसाधनसावधानाः
कोपोपदंशमधुरप्रणयानुभावाः।
लावण्यवारितरगात्रलताः समान -
सौख्यासुखाः सुकृतिनः सुदृशो लभन्ते।।३२।।

धर्म अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों को विधिपूर्वक - आगम में बताई हुई विधि के अनुसार सिद्ध करने में सदा सावधान - प्रमाद छोडकर वर्ताव करनेवाली, जिनके प्रेम से उत्पन्न हुए भावों - कटाक्षपात, ईषद्हास, सनर्म भाषण, वक्रोक्ति आदिकों में कृत्रिम बाह्य रोष के कारण एक ऐसा विलक्षण स्वाद भरा रहता है जैसे कि दाल शाक आदि व्यंजनों में मसाले के कारण चटपटापन, जिनकी प्रशस्त और कृश शरीररूपी लताएँ लावण्य-अतिशयित कांति के जल में मानो तैरती रहती हैं, जो पति के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी रहा करती है, ऐसी सुलोचना सुतारा सीता द्रौपदी आदि के सदृश पतिव्रता युवतियाँ भाग्यशालियों को प्राप्त हुआ करती हैं।

यहाँ पर दुःख - शब्द से प्रणयभंगादिके द्वारा उत्पन्न हुआ ही दुःख लेना चाहिये; न कि व्याधि आदि से उत्पन्न हुआ। क्योंकि ऐसा दुःख पुण्यशालियों के संभव नहीं। अथवा, कदाचित् व्याधिजन्य भी लिया जा सकता है। क्योंकि सुख और दुःख संसार में स्वभावतः सांतर ही हुआ करते हैं। यथा :-

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानंतरं सुखम्।
सुखं दुःखं च मर्त्यानां चक्रवत्परिवर्तते।।इति।

सुख के बाद दुःख और दुःख के वाद सुख इस तरह मनुष्यों के सुख और दुःख ये दोनों ही गाडी के पहिये की तरह सदा घूमा ही करते हैं।

अवस्था की अपेक्षा स्त्रियाँ दो प्रकार की हुआ करती हैं - १ युवती, २ पुरंध्री। जबतक कोई बाल बच्चा नहीं होता तबतक युवती और कुटुंबिनी हो जाने पर पुरंध्री संज्ञा होती है। इनमें से युवतिसंबंधी गुणसंपत्ति- सुखसामग्री का वर्णन करके अब पुरंध्रीविषयक सुख को दिखाते हैं :-

व्यावलोलनेत्रमधुपाः सुमनोभिरामाः
पाणिप्रवालरुचिराः सरसाः कुलीनाः।
आनृण्यकारणसुपुत्रफला पुरन्ध्र्यो
धन्यं व्रतत्य इव शाखिनमास्वजन्ते।।३३।।

जिनके नेत्र भ्रमर की तरह चंचल रहा करते हैं, जिसके मनोहर हाथ पल्लवों - नवीन पत्तों की तरह लाल और कोमल हैं, जिनके ऐसा श्रेष्ठ पुत्ररूपी फल उत्पन्न हो चुका है जो कि पितादिक के ऋण को दूर करने का [१] कारण है, जो सुमनस् -मनमें सदा प्रसन्न रहनेवाली और कुलीन - श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होनेवाली हैं; ऐसी मनोहर तथा सरस - सानुराग पुरंध्री स्त्रियाँ, जिनके गोत्र का विस्तार बहुत बढ़ गया है या बढ़नेवाला है ऐसे भाग्यशालियों से अभिलाषा के साथ इस तरह से आलिंगन करती हैं जिस तरह से कि वेलें किसी पुण्यशाली वृक्ष से किया करती हैं। यहाँ पर पुरंध्रियों के जितने विशेषण हैं वे सब वेलों की तरफ भी घटित होते हैं। यथा - चंचल नेत्रों के भ्रमरों से युक्त, पुष्पों से मन को हरण करनेवाली, हाथ के समान पल्लवों से रुचिर, सरस - आर्द्रता से पूर्ण, कुलीन - पृथ्वी में उत्पन्न होनेवाली, जिनसे इस प्रकार के फल उत्पन्न होते हैं जो कि श्रेष्ठ पुत्र की तरह अपने स्वामी के ऋण के दूर करने में कारण हैं।

पुण्यवानों को बाल और सुपुत्रों की लीला देखने से जो सुख प्राप्त होता है उसको दिखाते हैं :-

---

१ - इसका कारण यह बताया है कि पुत्ररहित पुरुष परलोक में पितादिक का ऋणी समझा जाता है। इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि जिस कुल की स्थिति रखने के लिये पिताने उसको उत्पन्न किया और अन्वयदान किया था उसका उसने घात कर दिया। अतएव वह अपने कर्तव्य के विषय में उत्तरदायी है।

क्रीत्वा वक्षोरजोभिः कृतरभसमुरश्चन्दनं चाटुकारैः
किंचित्संतर्प्य कर्णौ द्रुतचरणरणद्घुर्घुरं दूरमित्त्वा।
क्रीडन् डिम्भैः प्रसादप्रतिघघनरसं सस्मयस्मेरकान्ता -
दृक्संबाधं जिहीते नयनसरसिजान्यौरसः पुण्यभाजाम्।।३४।।

खेलते समय जो अपनी छाती में धूलि लग गई थी उसके बदले में पिता की छाती में पूजादिक के समय लगे हुए चंदन को उत्सुकता के साथ खरीद कर - छुडा लेकर- बडी उत्सुकता से लिपटकर अपनी छाती पर की धूल पिता की छाती में लगा दी और पिता की चंदन को छुडाकर अपनी छाती में लगा दिया; ऐसी ऐसी क्रियाओं के करने से, तथा प्रिय वाक्यों के द्वारा कानों को अच्छी तरह तृप्त करके और चलते समय जिसमें घुंघरुओं का झुनुन् झुनुन् शब्द हो रहा है इस तरह से शीघ्रता के साथ पैर रखते हुए कुछ दूर तक चलकर एवं क्षण में संतोष और क्षण में कोप करने के कारण जिसमें अत्यंत रस भरा हुआ है इस तरह से अपनी समान वयवाले बालकों के साथ खेलता हुआ और सुपुत्र पुण्यशालियों को इस तरह से नयनकमलों का विषय - दृष्टिगोचर - देखने को प्राप्त होता है कि जिसमें सस्मय - ऐसा पुत्र होने से आत्मोत्कर्ष की धारणावश उत्पन्न हुए गर्व से युक्त तथा स्मेर - ईषद्हासस्वभाव - हँसमुख कान्ताओं की दृष्टियोंने अत्यंत बाधा डाल रक्खी है। भावार्थ :- भाग्यशालियों को अत्यंत मनोहर पुत्र और स्त्री एकसाथ दोनों का सुख प्राप्त होता है।

पुण्यशालियों के पुत्र की कौमार और यौवन अवस्था में के योग्य गुणसंपत्ति की प्रशंसा करते हैं :-

सद्विद्याविभवैः स्फुरन्धुरि गुरूपास्त्यर्जितैस्तज्ज्ञुषां
दोःपाशेन बलात्सितोपि रमया बध्नन् रणे वैरिणः।
आज्ञैश्वर्यमुपागतस्त्रिजगतीजाग्रद्यशश्चन्द्रमा
देहेनैव पृथक् सुतः पृथुवृषस्यैकोपि लक्षायते।।३५।।

गुरुओं की सेवा करके संचित किये हुए समीचीन आन्वीक्षिकी आदि विद्याओं के वैभवों से उन उन विद्याओं के धारण करनेवाले विद्वानों के ऊपर प्रकाशमान, शत्रुओं की लक्ष्मी से स्वयं बंधा हुआ होने पर भी अपने बाहुपाश से बलपूर्वक रण में वैरियों को बांधनेवाला, आज्ञा और ऐश्वर्य - अनुल्लंघ्य शासन को प्राप्त करनेवाला और जिसका यशरूपी चंद्रमा तीनों लोक में सदा प्रकाशमान रहता है, ऐसा पुत्र बडे भारी भाग्य से प्राप्त हुआ करता है। जो कि देह मात्र से ही पृथक् - भिन्न माना जाता और एक होने पर भी लाखों की बराबर समझा जाता है।

गुणकृत सौंदर्य धारण करनेवाली कन्याएँ भी पुण्य से ही प्राप्त होती हैं। यह बात दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं :-

कन्यारत्नसृजां पुरोऽभवदिह द्रोणस्य धात्रीपतेः
पुण्यं येन जगत्प्रतीतमहिमा सृष्टा विशल्यात्मजा।
क्रूरं राक्षसचक्रिणा प्रणिहितां द्राग्लक्ष्मणस्योरसः
शक्तिं प्रास्य यया स विश्वशरणं रामो विशल्यीकृतः।।३६।।

संसार में प्रभावशाली कन्यारत्न के उत्पन्न करनेवालों में सबसे अधिक पुण्य द्रोण महाराज का समझना चाहिये कि जिनके विशल्या नाम की वह कन्या उत्पन्न हुई कि जिसका माहात्म्य समस्त संसार में प्रसिद्ध है। और जिसने राक्षसों के चक्रवर्ती रावण के द्वारा अत्यंत निर्दयता के साथ मारी गई शक्ति को लक्ष्मण के हृदय में से जरा सी देर में दर्शनमात्र से ही दूर कर विश्वमात्र के शरणभूत रामचंद्र को शल्यरहित कर दिया। जिसने लक्ष्मण के हृदयमें से शक्ति को ही नहीं निकाला किंतु रामचंद्रजी के हृदयमें से उस शल्य को भी निकाल बाहर किया जो कि अपने अत्यंत प्रिय छोटे भाई लक्ष्मण के मरण के विषय में लगी हुई थी।

भावार्थ :- रामचंद्र सरीखों को शल्यरहित करनेवाली कन्याएँ भी अद्भूत रत्न हैं जो कि पुण्यशालियों के यहाँ ही उत्पन्न हो सकती हैं।

जिनके पुण्य कर्म का उदय है उनको काम के लिये परिश्रम करने का निषेध करते हैं :-

विश्राम्यत स्फुरत्पुण्या गुडखण्डसितामृतैः।
स्पर्द्धमानाः फलिष्यन्ते भावाः स्वयमितस्ततः।।३७।।

हे स्फुरायमान पुण्य के धारण करनेवालों ! जरा विश्राम लो ! तुम को स्वार्थ सिद्धि के लिये क्लेश कर परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि गुड खांड मिश्री और अमृत के साथ स्पर्धा रखनेवाले पदार्थ तुम को स्वयं - विना किसी परिश्रम के ही इधर उधर से आकर प्राप्त हो जायेंगे।

भावार्थ :- अनुभागबंध के तारतम्य की अपेक्षा से पुण्यकर्म चार प्रकार का है। एक तो ऐसा कि जीव जिस समय उसको बांधता है उस समय परिणामविशेष के द्वारा उसमें गुड के समान रस पडता है। दूसरा वह कि जिसमें खांड के समान रस पडता है। तीसरा वह कि जिसमें मिश्री के समान रस पडता है। इसी प्रकार चौथा वह कि जिसमें अमृत के समान रस पडता है। इन कर्मों का यथा समय उदय होनेपर तत्त्वपदार्थों के ही समान स्वादु और रमणीय फलरूप पदार्थ स्वयं प्राप्त हुआ करते हैं। अतएव उनकी प्राप्ति के लिये परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है।

कल्पवृक्षादिक की भी प्राप्ति धर्म - पुण्य के ही अधीन है; यही बात दिखाते है :-

धर्मः क्क नालंकर्मीणो यस्य भृत्याः सुरद्रुमाः।
चिन्तामणिः कर्मकरः कामधेनुश्च किङ्करी।।३८।।

पृथ्वी के बने हुए वृक्षविशेषों को कल्पवृक्ष कहते हैं। जैसा कि आगम में कहा है :-

न वनस्पतयोप्येते नैव दिव्यैरधिष्ठिताः।
केवलं पृथिवीसारास्तन्मयत्वमुपागताः।।

कल्पवृक्ष न वनस्पतिरूप हैं और न दिव्य - देवोपनीत शक्ति से ही युक्त हैं। केवल पृथिवी के बने हुए परिणामविशेष हैं जो कि वृक्षस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं।

जो जिस जाति का कल्पवृक्ष है उससे उसीके अनुसार मद्य तूर्य वस्त्र आदि भोगोपभोग

के साधनभूत पदार्थ वचन से याचना करने पर प्राप्त हुआ करते हैं। इस प्रकार के कल्पवृक्ष जिसके नौकर के समान हैं; और [१] चिंतामणि रत्न जिसके कर्मकर - गुलाम के सदृश है; एवं कामधेनु गौ जिसकी दासी है, वह धर्म, ऐसा कौन सा कार्य है कि जिसको सिद्ध करने में पूर्णतया समर्थ न हो। अर्थात् धर्म के प्रसाद से मोक्ष तथा संसार के अभ्युदय सभी कार्य सिद्ध हो सकते हैं।

उदय में आया हुआ पूर्वकृत पुण्य अपने प्रयोक्ता - पुण्यशाली का किसी न किसी तरह से उपकार करता ही है यही बात दिखाते हैं :-

प्रियान् दूरेप्यर्थाञ्जनयति पुरो वा जनिजुषः
करोति स्वाधीनान् सखिवदथ तत्रैव दयते।
ततस्तान्वानीय स्वयमपि तदुद्देशमथवा
नरं नीत्वा कामं रमयति पुरापुण्यमुदितम्।।३९।।

पूर्वकृत पुण्य उदय में आकर इन्द्रियों के योग्य और मनोज्ञ तथा भोग्य विषयों को भोक्ता के निकट या दूर कहीं भी उत्पन्न कर दिया करता है। अथवा यदि भोक्ता के उत्पन्न होने से पहले ही वे पदार्थ उत्पन्न हो चुके हों तो उनको उसके अधीन कर देता है - प्राप्त करता है। यद्वा जहाँ पर वे पदार्थ हैं वहीं पर उनकी मित्र की तरह से रक्षा किया करता है, एवं जहाँ पर वे स्थित हैं वहाँ से उनको लाकर अथवा स्वयं उस भोक्ता मनुष्य को ही उनके स्थान पर ले आकर यथेष्ट रूप से उन पदार्थों का भोग कराता है।

इस प्रकार नाना प्रकार के शुभ परिणामों से संचित किये हुए पुण्यविशेष का अतिशयित तथा विचित्र फल का सामान्य से निरूपण कर अब विशेषरूप से उसका पारलौकिक विचित्र फल बताते हैं। जिसमें यहां पर सबसे पहले स्वर्गलोक संबंधी सुख का निरूपण करते हैं :-

यद्दिव्यं वपुराप्य मङ्क्षु हृषितः पश्यन् पुरा सत्कृतं
द्राग्बुद्ध्वावधिना यथास्वममरानादृत्य सेवादृतान्।

---

१ - चिंतित पदार्थों को देनेवाला और रोहणाद्रि में उत्पन्न होनेवाला रत्नविशेष।

सुप्रीतो जिनयज्वना धुरि परिस्फूर्जन्नुदारश्रियां
स्वाराज्यं भजते चिराय विलसन् धर्मस्य सोनुग्रहः ।।४०।।

जो उपपाद शिला पर उत्पन्न होकर अंतर्मुहूर्त में ही पूर्ण हो जाता है ऐसे वैक्रियिक शरीर को प्राप्त कर जो देव अपने चारों तरफ खडे हुए देवियों देवों तथा अप्सराओं को देखकर विस्मय को प्राप्त हो जाता किंतु उसी समय उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय अवधिज्ञान के द्वारा शुभ परिणामों से संचित तथा स्वर्गफल को देनेवाले पूर्वकृत पुण्य को जानकर, सेवा करने के लिये तैयार खडे हुए प्रतीन्द्र सामानिक आदि देवों में से जो जिस योग्य है उसको उसी काम पर नियुक्त कर और अत्यंत प्रसन्न होकर अर्हंत भगवान् की पूजा करनेवालों में जो उदार- महान् ऋद्धि के धारण करनेवाले देवों के मन में भी चमत्कार पैदा कर दे ऐसी श्री- अणिमा आदिक अष्टगुण संबंधी ऐश्वर्य - संपत्ति के धारक हैं उनमें भी प्रधानता को प्रकाशित करता हुआ अर्थात् महर्द्धिकता के साथ जिन भगवान् का पूजन करता हुआ तथा इन्द्राणी आदि देवियों के साथ विलास करता हुआ चिरकाल तक जो स्वर्गीय राज्य को भोगता है वह सब धर्म का ही उपकार है।

इन्द्रपद के बाद चक्रवर्ती पद भी पुण्यविशेष से ही प्राप्त होता है। यह बात दिखाते हैं :-

उच्चैर्गोत्रमभिप्रकाश्य शुभकृद्दिक्चक्रवालं करै-,
राक्रामन् कमलाभिनन्दिभिरनुग्रथ्नन् रथाङ्गोत्सवम्।
दूरोत्सारितराजमंडलरुचिः सेव्यो मरुत्खेचरै,-
रासिन्धोस्तनुते प्रतापमतुलं पुण्यानुगुण्यादिनः ।।४१।।

जिस प्रकार सूर्य उच्च गोत्र - निषध नाम के कुलाचल को प्रकाशित करके कमलाभिनंदी - कमलों को आनंदित करनेवाले अपने कर - किरणों के द्वारा प्रतिपक्षियों से पूर्ण दिङ्मंडल को आक्रान्त - अभिभूत - व्याप्त कर लेता है, अथवा दिशाओं को व्याप्त करता तथा प्रजा को शुभ - कल्याण उत्पन्न करता है। उसी प्रकार स्वामी चक्रवर्ती भी उच्च गोत्र - इक्ष्वाकु आदि वंश को प्रकाशित कर प्रतिपक्षियों से भरे हुए दिङ्मंडल

को कमलाभिनंदी - लक्ष्मी को आनंदित करनेवाले या बढानेवाले करों - हाथों से आक्रान्त कर अथवा दिशाओं को अभिभूत कर प्रजा के लिये कल्याणों को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार सूर्य रथांगोत्सव - चकवा चकवी की प्रीति को बढाता है उसी प्रकार चक्रवर्ती भी रथांगोत्सव - चक्ररत्न के बढे हुए तेज को सर्वत्र फैला देता है। जिस प्रकार सूर्य राजमंडल - चंद्रमंडल की कांति को दबा देता है उसी प्रकार चक्रवर्ती भी राजमंडल-राजाओं के प्रताप या इच्छाओं को दूर कर देता - नष्ट कर देता है। जिस प्रकार सूर्य की ज्योतिषी देव सेवा करते हैं उसी प्रकार चक्रवर्ती की देव व विद्याधर सेवा करते हैं। इस प्रकार पूर्वकृत पुण्य के प्रताप से चक्रवर्ती सूर्य के समान अपने अनुपम प्रताप को सिंधु पर्यंत प्रसारित कर देता है। यहाँ पर सिन्धु - शब्द का अर्थ समुद्र के सिवाय हिमवन् कुलाचल भी समझना चाहिये। क्योंकि सिंधु नदी जिसमें से उत्पन्न होती है वह पद्मह्रद हिमवन् पर्वत पर ही है। और चक्रवर्ती के राज्य की सीमा में भी तीन तरफ समुद्र और एक तरफ हिमवन् ही है।

अर्धचक्रवर्ति पद की भी प्राप्ति निदान के साथ किये गये धर्म के ही माहात्म्य से होती है। यही बात उदाहरण के साथ दिखाते हैं -

छित्त्वा रणे शत्रुशिरस्तदस्तचक्रेण दृप्यन् धरणीं त्रिखण्डाम्।
बलानुगो भोगवशो भुनक्ति कृष्णो वृषस्यैव विजृम्भितेन।।४२।।

कृष्ण ने बल - पराक्रम अथवा बलभद्र का अनुगमन और दर्प - गर्व को प्राप्त कर प्रतिवासुदेव के शिर को उसीके द्वारा चलाये हुए चक्र के द्वारा रण में काटकर जो तीनखण्ड पृथिवी को - भरतक्षेत्र के विजयार्ध पर्वत तक के उस आधे भाग को कि, जिसके गंगा और सिंधु नदी के द्वारा छह खंड हो गये हैं, प्राप्त किया एवं पुष्पमाला वनिता नागशय्या आदि को जो भोगा सो सब किसके प्रताप से ? एक निदानसहित किये गये तप के द्वारा संचित पूर्वपुण्य के प्रताप से ही न !

यहाँ पर नारायण के इस भोग का कारण धर्म के विजृम्भित को बताया है। विजृम्भित शब्द का अभिप्राय यहाँ पर निरतिशय पुण्य लेना चाहिये। निरतिशय पुण्य उसको कहते हैं कि जिसके उदय से ऐसा सुख प्राप्त हो कि जिसका अंत दु:खरूप हो। नारायण का

पुण्य भी ऐसा ही होता है। क्योंकि भोगों के अंत में उसको नियम से नरक प्राप्त होता है।

अब यह बताते हैं कि कामदेव पर्याय प्राप्त करना भी
धर्मविशेष का ही फल है -

यासां भ्रूभङ्गमात्रप्रसरदरभरप्रक्षरत्सत्वसारा
वीराः कुर्वन्ति तेपि त्रिभुवनजयिनश्चाटुकारान् प्रसत्त्यै।
तासामप्यङ्गनानां हृदि नयनपथेनैव संक्रम्य तन्वन्
याञ्चाभङ्गेन दैन्यं जयति सुचरितः कोपि धर्मेण विश्वम्।।४३।।

समस्त संसार में प्रसिद्ध तथा तीनों लोकों को भी जीतने की शक्ति रखनेवाले वीर पुरुष भी जिनका कि सत्त्व और सार - विवेक और बल जिन अङ्गनाओं के केवल कटाक्षपातरूपी बाण के लगते ही उत्पन्न हुए त्रास के उद्रेक से समूल नष्ट हो जाते हैं; अतएव उनको प्रसन्न करने के लिये चाटुकार - अनुकूल करनेवाले अर्थ के द्योतक सराग दीन वचन कहा करते हैं उन्ही अङ्गनाओं के हृदय में कोई विरल पुरुष ही ऐसे होते हैं अथवा कामदेव ही ऐसे होते हैं जो कि केवल दृष्टिमार्ग से ही प्रविष्ट हो जानेपर भी अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन करनेवाले होने के कारण उनकी याञ्चा का भंग कर राग के स्थान में दीनता - उतरे हुए चेहरे आदि के द्वारा प्रकट होनेवाले मनस्ताप को बढाते हैं और पुण्य प्रताप से समस्त संसार पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ :- कामदेवों को पुण्य के प्रताप से इतना सुंदर रूप प्राप्त होता है कि जिसको देखते ही वे कमनीय कामिनियाँ भी उन पर मुग्ध हो जाती हैं कि जिनको तीन लोक के जीतने की शक्ति रखनेवाले भी वीर पुरुष वश नहीं कर सकते। किंतु वे कामदेव उन कामिनियों की याञ्चा का इस तरह से भंग कर देते हैं कि जिससे उनके मुख पर दीनता व्यक्त होने लगती है।

विद्याधरपना भी धर्मविशेष से ही प्राप्त होता है, यह बात दिखाते हैं।

विद्येशीमूय धर्माद्वरविभवभराभ्राजमानैर्विमानै -
र्व्योम्नि स्वैरं चरन्तः प्रिययुवतिपरिस्पन्दसान्द्रप्रमोदाः।
दीव्यन्तो दिव्यदेशेष्वविहतमणिमाद्यद्भुतोत्सृप्तिदृप्ता
निष्क्रान्ताविभ्रमं धिग्भ्रमणमिति सुरान् गत्यहंयून् क्षिपन्ति।।४४।।

धर्म के प्रताप से जीव विद्याओं के स्वामित्त्व - विद्याधरपने को प्राप्त कर प्रिय तरुणियों की श्रृंगाररचना का अत्यंत आनंद लेते हुए ध्वजाओं मालाओं घंटरियों घंटाओं आदि के शब्दों तथा झरोखों खिडकियों और मनोहर सुगंधी आदि श्रेष्ठ विभव से अत्यंत शोभायमान विमानों के द्वारा आकाश में इच्छानुसार विहार करते, और अणिमा महिमा लघिमा गरिमा ईशित्व वशित्व प्राकाम्य कामरूपित्व इन आठ गुणों के अद्भुत - विस्मय करादेनेवाले उद्गम से गर्व को प्राप्त कर अस्खलित रूप से दिव्य देशों - नंदनवन कुलपर्वत गङ्गादि नदियों तथा समुद्रादिकों पर क्रीडा करते और मानुषोत्तर पर्वत के बाहर भी जा सकने के कारण अपने गमन का गर्व रखनेवाले देवों का भी [१] जिसमें भ्रू - विकारादिका विभ्रम - विलास नहीं पाया जाता उस भ्रमण को धिक्कार है' इस तरह तिरस्कार कर देते हैं।

आहारक शरीर की संपत्ति भी पुण्योदय से ही प्राप्त होती है, यह दिखाते हैं -

प्राप्याहारकदेहेन सर्वज्ञं निश्चितश्रुताः।
योगिनो धर्ममाहात्म्यान्नन्दन्त्यानन्दमेदुराः।।४५।।

चारित्रविशेष के द्वारा पूर्व में संचित किये हुए आहारक शरीरनामा नामकर्मरूपी पुण्यविशेष के माहात्म्य से प्राप्त हुए आहारक शरीर के द्वारा सर्वज्ञदेव के निकट विनयपूर्वक प्राप्त

---

१ - क्योंकि देवियों के नेत्र निर्निमेष होते हैं। विद्याधरियों की तरह उनके नेत्रों की टिमकार नहीं लगती।

होकर और उससे परमागम के अर्थ का निर्णय हो जाने पर प्रमोद से प्रफुल्लित हुए योगिगण ज्ञान तथा संयम की समृद्धि से युक्त हो जाया करते हैं।

भावार्थ :- भरत और ऐरावत क्षेत्रमें स्थित संयमियों को केवलियों के न रहने पर जब किसी श्रुत के विषय में संशय उत्पन्न होता है तब वे तत्त्व का निर्णय करने के लिये महाविदेह क्षेत्र में केवलियों के निकट औदारिक शरीर के द्वारा जाने से होनेवाला असंयम न हो इसलिये आहारक शरीर को उत्पन्न करते हैं। यह शरीर शुद्ध स्फटिक के समान - स्वच्छ एक हाथ की बराबर ऊँचा, उत्तमांग - शिर से निकलता है। यह न किसीसे रुकता और न किसीको रोकता है। केवल अंतर्मुहूर्त में ही संशय को दूर कर देता और फिर आकर उसी शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। क्योंकि इस शरीर का केवली भगवान् से साक्षात् होते ही संशय नष्ट हो जाया करता है। इस तरह की अपूर्व ऋद्धि का प्राप्त होना भी पुण्यविशेष का ही माहात्म्य है।

धर्म के प्रताप से जिनको स्व और पर का - आत्मा और शरीर का भेदज्ञान हो गया है ऐसे मुनीन्द्र अतीन्द्रिय सुख का संवेदन हो जाने के कारण अहमिन्द्र पद का भी परित्याग कर देते हैं, यह बात दिखाते हैं।

कथयतु महिमानं को नु धर्मस्य येन
स्फुटघटितविवेकज्योतिषः शान्तमोहाः।
समरससुखसंविल्लक्षितात्यक्षसौख्या
स्तदपि पदमपोहन्त्याहमिन्द्रं मुनीन्द्राः।।४६।।

जिस धर्म के माहात्म्य से विवेक शरीर और आत्मा के भेदज्ञान की ज्योति जिनकी आत्मा में स्पष्टतया प्रकाशित हो चुकी है और शांत हो गया है मोह जिनका; तथा यथाख्यात चारित्ररूपी अथवा उससे उत्पन्न होनेवाले सुख के संवेदन से जिन्होंने अतीन्द्रिय आत्मिक सुख को प्राप्त कर लिया है, ऐसे मुनिवर नव ग्रैवेयक से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक के कल्पातीत देवसंबंधी लोकोत्तर अहमिन्द्र पद को भी छोड देते हैं; उस धर्म की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है ? कोई नहीं कर सकता।

भावार्थ :- चरमशरीर पद की प्राप्ति हो सके ऐसे पुण्यविशेष का बंध करने के

उन्मुख हो जाने पर भी पुनः शुद्धोपयोग के निमित्त से उसका बंध न करके उपशमश्रेणि से उतर कर क्षपकश्रेणि का आरोहण कर जीवन्मुक्त होकर परमोत्कृष्ट मुक्तावस्था को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वे महामुनि जो अहमिन्द्र पद का भी परित्याग कर देते हैं सो सब उस धर्म का ही माहात्म्य है।

अहमिन्द्रों का स्वरूप आगममें इस प्रकार कहा है -

अहमिन्द्रोस्मि नेन्द्रोन्यो मत्तोस्तीत्यात्तकत्थनाः।
अहमिन्द्राख्यया ख्यातिं गतास्ते हि सुरोत्तमाः।।

मेरे सिवाय और इन्द्र कौन है ? मैं ही तो इन्द्र हूँ। इस प्रकार अपने को इन्द्र उद्घोषित करनेवाले देव -कल्पातीत देव अहमिन्द्र नाम से प्रख्यात हैं। इनमें -

नासूया परनिन्दा वा नात्मश्लाघा न मत्सरः।
केवलं सुखसाद्भूता दीव्यन्त्येते दिवौकसः।।

न तो [१] असूया है और न मत्सरता ही है, एवं न ये पर की निन्दा करते और न अपनी प्रशंसा ही करते हैं। केवल परम विभूति के साथ सुख का अनुभव करते रहते हैं।

गर्भावतारादिक कल्याणों की आश्चर्यकर विभूति भी सम्यक्त्व के सहचारी पुण्यविशेष से ही प्राप्त होती है। यही बात दिखाते हैं।

द्योरेष्यन्विश्वपूज्यौ जनयति जनकौ गर्भगोऽतीव जीवो
जातो भोगान् प्रभुङ्क्ते हरिभिरुपहृतान्मन्दिरान्निष्क्रमिष्यन्।
ईर्ते देवर्षिकीर्तिं सुरखचरनृपैः प्रव्रजत्याहितेज्यः
प्राप्यार्हन्त्यं प्रशास्ति तिजगदृषिनुतो याति मुक्तिं च धर्मात्।।४७।।

---

१ - गुणों में दोष प्रकट करना।

धर्म के प्रताप से - सम्यक्त्व सहचारी पुण्य की सामर्थ्य से यह जीव स्वर्ग से उतरकर माता के गर्भ में आने से पहले ही माता और पिता दोनों को समस्त संसार से पूज्य बना देता है। बल्कि गर्भ में आने पर तो अत्यंत ही पूज्य बना देता है। क्योंकि तीर्थंकर के उत्पन्न होने से छह महीना पहले ही उनके पुण्य के माहात्म्य से माता और पिता जगत्पूज्य हो जाया करते हैं - देव और देवियाँ भी उनकी पूजा किया करती हैं। इसी प्रकार यह जीव उत्पन्न होनेपर उस धर्म के माहात्म्य से सौधर्मादि स्वर्ग के इन्द्रों के द्वारा लाये हुए भोगोपभोग के इष्ट विषयों को भोगता है। तथा द्रव्य और भावरूप महल से निकल कर जाने की इच्छा करने पर - तप करने की भावना करते ही इस जीव की देवर्षि-नियोगी लौकांतिक देव स्तुति करते हैं। और देव विद्याधर तथा राजा महाराजाओं के द्वारा पूजित होनेपर दीक्षा ग्रहण करता एवं आर्हन्त्य - केवलज्ञान को प्राप्त कर यह जीव उसी धर्म के माहात्म्य से तीनों लोकों को - समस्त संसार के हित का उपदेश देता है जिससे कि उसकी - ऋषि - गणधर देवाधिक भी स्तुति करते हैं। अंत में यह जीव उसी धर्म के प्रताप से परमपद - मोक्षस्थान को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि पहले मुख्य धर्म का जो स्वरूप बताया गया है उसमें ऐसी सामर्थ्य है कि जिससे समस्त कर्मों का नाश होकर निर्वृत्ति पद की प्राप्ति हो सके।

जिस प्रकार धर्म - पुण्य के उदय होनेपर संपत्तियों का उपभोग और अनुदय होनेपर अनुपभोग हुआ करता है उसी प्रकार अधर्म का उदय होनेपर विपत्तियों का उपभोग और अनुदय होनेपर उनका अनुपभोग हुआ करता है। यही बात दिखाते हैं :-

धर्म एव सतां पोष्यो यत्र जाग्रति जाग्रति।
भक्तं मीलति मीलन्ति संपदो विपदोन्यथा।।४८।।

विचारपूर्वक कार्य करनेवाले सत्पुरुषों को चाहिये कि वे उस धर्म को ही सदा पुष्ट करें कि जिसके जागृत होते ही अपने स्वामी की सेवा करने के लिये समस्त संपत्तियाँ जागृत हो उठतीं और जिसके विराम लेते ही वे भी विराम ले लेती हैं। उस अधर्म को कभी पुष्ट न करना चाहिये कि जिसके जागृत होने पर समस्त विपत्तियाँ जागृत होती और संपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। जिस प्रकार राजाओं की सेवा करने के लिये वाराङ्गनाएँ

परिकर के सावधान रहने पर सावधान और असावधान रहने पर असावधान रहा करती हैं, उसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिये।

इस प्रकार धर्म सुख का उत्पन्न करनेवाला है यह बात बताकर अब यह बताते हैं कि उससे दु:ख की निवृत्ति भी होती है। इस बात को चौदह श्लोकों में स्पष्ट करेंगे, जिनमें से निम्नलिखित पद्य में यह दिखाते हैं कि दुर्गम देशों में धर्म जीव का किस प्रकार उपकार करता है :-

कान्तारे पुरुपाकसत्त्वविगलत्सत्त्वेम्बुधौ बम्भ्रमत् -
ताम्यन्नक्रपयस्युदर्चिषि मरुच्चक्रोच्चरच्छोचिषि।
संग्रामे निरवग्रहद्विषदुपस्कारे गिरौ दुर्गम -
ग्रावग्रन्थिलदिङ्मखेप्यशरणं धर्मो नरं रक्षति।।४९।।

प्रचुरतया पाये जानेवाले क्रूर सिंह व्याघ्र आदिक जीवों के द्वारा जहाँ पर दूसरे प्राणी अथवा उनके प्राण नष्ट कर दिये जाते हैं ऐसे दुर्गम अरण्य में, तथा जिसके जल में, कुटिलता और बहुलता से दूसरों को खिन्न करनेवाले नक्रादिक भयंकर जीव इधर उधर घूम रहे हैं ऐसे समुद्र में, एवं वायु के वेग के निमित्त से जिसकी ज्वालाएँ खूब ऊपर को उठ रही है ऐसी अग्नि में, और शत्रुओं का प्रतियत्न जिसमें निरंकुशता से फैला हुआ है ऐसे संग्राम में, तथा कष्ट के साथ जिनको लांघा जा सके ऐसी शिलाओं के द्वारा जिनका चारों तरफ का भाग ग्रंथिल - निम्नोन्नत हो रहा है ऐसे पर्वत पर, इत्यादि और भी अनेक दुर्गम स्थानों में जहां पर कि इस जीव का कोई भी शरण नहीं हो सकता; यह धर्म ही उसकी रक्षा करता है।

यह धर्म नाना प्रकार की दुरवस्थाओं से ग्रस्त जीव का उद्धार करता है; यह बात दिखाते है :-

क्षुत्क्षामं तर्षप्तं पवनपरिधुतं वर्षशीतातपार्तं
रोगाव्रातं विषार्तं ग्रहरुगुपहतं मर्मशल्योपतप्तम्।
दूराध्वानप्रभग्नं प्रियाविरहबृहद्भानुदूनं सपत्न -

व्यापन्नं वा पुमांसं नयति सुविहितः प्रीतिमुद्धृत्य धर्मः।।५०।।

क्षुधा - बुभुक्षा से क्षीण हुए, तृषा - पिपासा से संतप्त हुए, वायुमंडल में पड जाने के कारण चारों तरफ को उडते हुए, वर्षा शीत या आतप - धूप से आतुर हुए, जरा आदि व्याधियों से ग्रस्त हुए, विष, अफीण आदि ज़हरीले पदार्थों से पीडित हुए, ब्रह्मराक्षसादिक अथवा शनैश्चरादिक ग्रहों की पीडा से उपहत हुए, मार्णान्तिक पीडा उपस्थित करनेवाली शल्य से अत्यंत व्यथित हुए, सुदूरं मार्ग में चलने के कारण अत्यंत श्रांत हुए, अपने प्रिय पुत्र, मित्र, कलत्र, बंधु बांधवादिकों के विरहरूपी अग्नि से झुलसते हुए, शत्रुओं के द्वारा विविध प्रकार की आपत्तियों में फसाये हुए, किंबहुना और भी अनेक प्रकार की दुरवस्थाओं में घिरे हुए इस मनुष्य का उद्धार कर - उसे उन क्षुदादि दुःखों से निकाल कर, भले प्रकार पाला गया धर्म ही प्रमोद को प्राप्त कराता है।

उक्त धर्म का समर्थन करने के लिये तीन श्लोकों में क्रम से सगर मेघवाहन और रामचंद्र को दृष्टांतरूप में उपस्थित करते हैं।

सगरस्तुरगेणैकः किल दूरं हृतोऽटवीम्।
खेटैः पुण्यात्प्रभूकृत्य तिलकेशी व्यवाह्यत।।५१।।

आगम के द्वारा यह बात मालूम होती है कि एकाकी द्वितीय चक्रवर्ती सगर को जब घोडा सूदूरवर्ती अटवी में हरकर ले गया तब वहाँ पर पूर्वपुण्य के प्रताप से सगर ने सहस्त्रनयन आदि विद्याधरों के द्वारा अपने को सेवक और सगर को स्वामी मानकर दी गई तिलकेशी नाम की विद्याधर कन्या - स्त्रीरत्न के साथ [१] विवाह किया।

दूसरा मेघवाहन का उदाहरण -

कीर्णे पूर्णघने सहस्त्रनयनेनान्वीर्यमाणोऽजितं
सर्वज्ञं शरणं गतः सह महाविद्यां श्रिया राक्षसीम्।

---

१ - इसकी और आगे के मेघवाहन तथा रामचंद्रजी की कथा पद्मपुराण में देखनी चाहिये।

दत्त्वा प्राग्भवपुत्रवत्सलतया भीमेन रक्षोन्वय -
प्राज्योऽरच्यत मेघवाहनखगः पुण्यं क्क जागर्ति न।।५२।
।

जब सुलोचन के पुत्र सहस्रनयन के द्वारा सुलोचन को मारनेवाला अपना पिता पूर्णघन मारा गया तब उसकी सेना के द्वारा भगाया गया मेघवाहन समवशरण में स्थित द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथ भगवान् सर्वज्ञ देव की शरण में जाकर उपस्थित हुआ। वहाँ पर पूर्णघन के चरभीम नाम के राक्षसेन्द्र ने पूर्वजन्म के पुत्र की प्रीति के वश होकर उसको नवग्रह नाम का हार लङ्का और लङ्कोदर नाम के दो नगर एवं कामग नामक विमान प्रभृति विभूति के साथ साथ राक्षसी नाम की महाविद्या देकर राक्षस वंश का आदि पुरुष बना दिया। इसलिये कहना पडता है कि सुखसंपादन या दुःखोच्छेदनरूप ऐसा कौन सा कार्य है कि जिसमें धर्म व्यापृत न होता हो। अर्थात् सुखप्राप्ति या दुःखविनाश सभी कार्य ऐसे हैं कि जो धर्म की सहायता से ही सिद्ध हुआ करते हैं। कोई भी कार्य धर्म की सहायता के बिना सिद्ध नहीं हो सकता।

तीसरा उदाहरण रामचंद्रजी का देते हैं -

राज्यश्रीविमुखीकृतोऽनुजहृतैः कालं हरंस्त्वक्फलैः
संयोगं प्रियया दशास्यहृतया स्वप्नेप्यसंभावयन्।
क्लिष्टः शोकविषार्चिर्षा हनुमता तद्वार्तयोज्जीवितो
रामः कीशबलेन यत्तमवधीत् तत्पुण्यविस्फूर्जितम्।।५३।।

रामचंद्रजी को जब उनके पिता दशरथ महाराज ने राज्यलक्ष्मी से विमुख कर दिया उस समय वे अपने छोटे भाई लक्ष्मण के द्वारा लाये हुए जंगली वल्कलों और फलों से अपना काल यापन करने लगे, किंतु ऐसे समय में जब उनकी प्रिया सीता को दशमुख रावण ही हर ले गया तब तो वे अपनी उस प्रिया से पुनः स्वप्न में भी संयोग होगा इस

बात को असंभव समझने लगे। और इसलिये शोकरूपी विष की ज्वालाओं से संतप्त हो गये। किंतु यह उनके पुण्य का ही माहात्म्य था जो कि उसी समय हनुमान आकर प्राप्त हुए - मिले, और उन्होंने सीता का समाचार सुनाकर उस शोकविष की मूर्च्छा से उन्हें उज्जीवित - सचेत किया। तथा इस तरह सावधान होकर उन्होंने वानरों के सैन्य की सहायता से उस रावण का वध किया।

यह धर्म नरक में भी घोर उपसर्गों को दूर करता है यह बताते हैं :-

श्लाघे कियद्वा धर्माय येन जंतुरूपस्कृतः।
तत्तादृगुपसर्गेभ्यः सुरैः श्वभ्रेपि मोच्यते।।५४।।

धर्म के माहात्म्य का वर्णन हो नहीं सकता। इसीलिये कहते हैं कि हम उसकी कहाँ तक प्रशंसा - स्तुति करें कि जिसके द्वारा अथवा, नारकियों और संक्लिष्ट सुरों के द्वारा उदीरित घोर दुःखों से देवों - कल्पवासी देवों के द्वारा नरक में भी मुक्त कर दिया जाता है। क्योंकि छह महीना आयु बाकी रहनेवाले नारकियों के उपसर्गों को देवगण दूर कर दिया करते हैं। जैसा कि आगम में भी कहा है -

तित्थयरसत्तकम्मे उवसग्गणिवारणं कुणंति सुरा।
छम्माससेस णरये सग्गे अभिलाणमालाओ।।

नरक में ऐसे नारकियों को उपसर्गों को कि जिसके तीर्थंकर नामकर्म सत्ता में बैठा हुआ है और उनकी आयु छह महीना मात्र शेष रही है, कल्पवासी देव दूर कर देते हैं। इसी प्रकार स्वर्ग में भी उन देवों की जिनके कि तीर्थंकर नामकर्म सत्ता में बैठा हुआ है और आयु का छह महीना मात्र काल शेष रहा है, दूसरे देवों की तरह मंदारमालाएँ म्लान नहीं हुआ करती।

धर्म का आचरण करते हुए भी यदि विपत्तियाँ आकर संतप्त करें तो उनकी निवृत्ति के लिये धर्म को ही पुनः सबल बनाने का उपदेश देते हैं।

व्यभिचरति विपक्षक्षेपदक्षः कदाचिद्-
बलपतिरिव धर्मो निर्मलो न स्वमीशम्।
तदभिचरति काचित्तत्प्रयोगे विपच्चेत्स
तु पुनराभियुक्तैस्तर्ह्युपायः क्रियेत।।५५।।

जिस प्रकार प्रतिपक्षी शत्रुओं का निवारण करने में अत्यंत दक्ष और निर्दोष सेनापतिरत्न अपने स्वामी चक्रवर्ती से कभी विरुद्ध नहीं होता उसी प्रकार विपक्षी अधर्म और उसके कार्यों का निवारण करने में समर्थ एवं निर्मल - अतीचाररहित पालन किया गया धर्म भी अपने स्वामी प्रयोक्ता - धर्मात्मा से कभी विरुद्ध नहीं होता। अतएव विपक्षी और उसके कार्यों - विपत्तियों को दूर करने के लिये सेनापति की तरह धर्म को ही प्रयुक्त करना चाहिये। किंतु ऐसा करने पर भी यदि कोई देवकृत मनुष्यकृत तिर्यंचकृत या अचेतनकृत विपत्तियाँ आकर प्राप्त हो तो जिस प्रकार उद्युक्त सत्पुरुषों के द्वारा उस सेनापति को ही फिर से सबल बनाया जाता है उसी प्रकार उद्युक्त समीचीन उपायों के द्वारा उस धर्म को ही फिर से सबल बनाना चाहिये। क्योंकि धर्म और अधर्म इन में जो सबल होगा वही जीतेगा।

जिसका निवारण न किया जा सके ऐसे दुष्कृत - पाप को अपना फल देने में प्रवृत्त होनेपर धर्म पुरुष का उपकार ही करता है ऐसा उपदेश देते हैं। -

यज्जीवेन कषायकर्मठतया कर्मार्जितं तद् ध्रुवं
नाभुक्तं भयमृच्छतीति घटयत्युच्चैः कटूनुद्भटम्।
भावान् कर्मणि दारुणेपि न तदेवान्वेति नोपेक्षते
धर्मः किंतु ततस्त्रसन्निव सुधां स्नौति स्वधाम्न्यस्फुटम्।।५६।।

जिस समय यह दारुण - सुशक्य या दुःशक्य है प्रतिकार जिसका ऐसा कर्म अत्यंत

घटाटोप के साथ अतिशय कटु - [१] हलाहल विष के समान सर्प विष कण्टक आदि अपने फलभूत अनिष्ट पदार्थों को उत्पन्न करता है उस समय यह धर्म न तो उसका अनुवर्तन - साहाय्य ही करता है और न उस कर्म से पीडित होते हुए अपने स्वामी धर्मात्मा की उपेक्षा ही करता है।

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि जब धर्मसरीखा निष्कपट बंधु उपस्थित है फिर भी यह अधर्मशत्रु अपना विलास इस तरह से क्यों दिखाता है ? इसका उत्तर यह है कि क्रोध मान माया आदि कषायों और उससे अनुरंजित मन वचन काय की प्रवृत्तियों में कर्मशूर होकर इस जीवने पूर्व काल में जिन कर्मों का संचय किया है वे ध्रुव हैं - उनका तब तक विनाश नहीं हो सकता जब तक कि उनका फल न भोग लिया जाय।

यहाँ पर पुनः प्रश्न हो सकता है कि यदि यही बात है तो विपक्षी अधर्म का साहाय्य न कर तथा अपने स्वामी की उपेक्षा न करके भी धर्म क्या करता है ? इसका उत्तर यह है कि धर्म अस्फुट - अप्रकट रूप से - बाह्य लोकों की दृष्टि में न आ सके इस तरह से अपने आश्रयभूत धर्मात्मा पुरुष की आत्मा में सुधा - अमृत - सर्वाङ्गीण आनंद का सिंचन करता है। प्रकटतया क्यों नहीं करता ? तो मालूम होता है कि वह भी उस अधर्म से भय खाता है - [२] डरता है।

भावार्थ :- साधारण लोग दुर्बार पापकर्म के उदय से तरा - ऊपर उत्पन्न हुए उपसर्गों-दुःखों को ही देख सकते हैं, किंतु धर्म के प्रताप से मनुष्य के सत्त्व और उत्साह गुण में जो बल उत्पन्न होता है जिससे कि वह उन दुःखों से अभिभूत नहीं होता उसको वे नहीं देख सकते।

---

१ लतादार्वस्थिपाषाणशक्तिभेदाच्चतुर्विधः।
स्याद् घातिकर्मणां पाकोन्येषां निम्बगुडादिवत्।।

घातिकर्मों का उदय शक्तिभेद की अपेक्षा लता दारू - लकडी अस्थि और पाषाण इस तरह चार प्रकार का होता है। और अघातिकर्मों में पापकर्म का रस निंब कांजीर विष हालाहल इस तरह चार प्रकार का और पुण्यकर्म का रस गुड खांड शक्कर और अमृत इस तरह चार प्रकार का होता है।

२ यह बात उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा कही गई है।

दो पद्यों में पाप के अपकार और पुण्य के
उपकार को दृष्टांत द्वारा दृढ करते हैं -

तत्तादृक्कमठोपसर्गलहरीसर्गप्रगल्भोष्मणः,
किं पार्श्वे तमुदग्रमुग्रमुदयं निर्वच्मि दुष्कर्मणः।
किंवा तादृशदुर्दशाविलसितप्रध्वंसदीप्रौजसो,
धर्मस्योरु विसारि सख्यमिह वा सीमा न साधीयसाम्।।५७।।

हम तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् के दुष्कर्म के उस - आगमप्रसिद्ध और उदग्र - उच्छ्रित एवं उग्र-दुःसह उदय का कहां तक वर्णन कर सकते हैं कि जिसका अनुभाग - सामर्थ्य पूर्ववैर के कारण नाना भवों में भ्रमण कर महासुरत्व को प्राप्त करनेवाले कमठ के द्वारा वज्रपात, अद्‌भुत पञ्चवर्ण मेघ, अत्यंत उग्र वायु, आयुधों के द्वारा घात, अप्सराओं के द्वारा उपचार, अग्नि के द्वारा जलना, समुद्र का तूफान, अजगरों का उपनिपात, भूतों का नृत्य, प्रचण्ड बिजली की वर्षा, वृक्षों का उखडकर गिरना, घोर मेघपटलों का उठना इत्यादि और भी अनेक किये गये उन प्रसिद्ध और अनुपम उपसर्गों की लहरी - परंपरा के उत्पन्न करने में समर्थ है। इसी प्रकार हम उस धर्म की महान् एवं सर्वत्र और सर्वदा अपना कार्य करनेवाली मैत्री का भी कहाँ तक वर्णन कर सकते हैं कि जिसका ओज - तेज इन्द्र के द्वारा नियुक्त हुए यक्ष धरणेन्द्र और पद्मावती के द्वारा भी निवारण किया जा सके, ऐसी पार्श्वप्रभु की उस दुरवस्था के विलास - स्वतंत्रतया दुःख देने की सामर्थ्य के अत्यंत ध्वस्त करने में प्रदीप्त - अधिकाधिक रूपमें ही प्रकाशित होता गया। अथवा ठीक ही है - इस संसार में अतिशय शालियों की सीमा नहीं है।

दूसरा उदाहरण :-

प्रद्युम्नः षडहोद्भवोऽसुरभिदः सौभागिनेयः क्रुधा
हत्वा प्राग्विगुणोऽसुरेण शिलयाऽऽक्रान्तो वने रुन्द्रया।

तत्कालीनविपाकपेशलतमैः पुण्यैः खगेन्द्रात्मजी -
कृत्याऽलभ्यत तेन तेन जयिना विद्याविभूत्यादिना।।५८।।

प्रद्युम्न यद्यपि असुरों का विनाश करनेवाले वासुदेव की अत्यंत प्रिय वल्लभा रुक्मिणी का पुत्र था; फिर भी जिस समय वह केवल छह दिन का था उसी समय उसको असुर-ज्वलितधुमशिख नाम का दैत्य क्रोध के वश होकर महाखदिरा नाम की अटवी में हर कर ले गया; क्योंकि पूर्व भवमें - मधुराजा की पर्याय में प्रद्युम्न के जीवने उसकी वल्लभा का हठपूर्वक हरण कर अपकार किया था। उस अटवी में एक बडी भारी शिला के नीचे प्रद्युम्न को दबाकर ऊपर से पीडित किया। किंतु तत्काल ही उदय में आये हुए और इसीलिये अत्यंत मधुर पुण्यकर्म के प्रताप से विद्याधरों के निःसंतान स्वामी - कालसंवर ने उसको अपना पुत्र बना लिया। और अंत में यह काल संवर के भी सौ पुत्रों को पराजित कर प्राप्त की गई विजय के साथ साथ प्रज्ञप्ती आदि विद्याओं तथा विद्याधरत्व के प्राप्त कराने में समर्थ विभूतियों - सोलह अद्‌भूत लाभों से युक्त हुआ। तथा उसके ऊपर आई हुई और भी अनेक प्रकार की आपत्तियाँ शांत हुई जिनका कि विशद वर्णन उनके चरित्र में पाया जाता है।

मंत्रादिक के प्रयोग का भी विपत्तियों का निवारण करने के लिये शिष्ट पुरुष व्यवहार किया करते है; फिर आप यह किस तरह प्रकाशित करते हैं कि उन विपत्तियों को दूर करने में पुण्य ही समर्थ है ? आपका कथन विरुद्ध क्यों नहीं है ? इसका उत्तर देते हैं :-

यश्चानुश्रूयते हर्तुमापदः पापपक्त्रिमाः।
उपायः पुण्यसद्बन्धुं सोप्युत्थापयितुं परम्।।५९।।

आप्ताभासों के बताये हुए उपाय की तो बात क्या ! उसका तो शिष्ट पुरुष व्यवहार ही क्या करेंगे ! किंतु पापकर्म के उदय से प्राप्त हुई आपत्तियों के दूर करने के जो उपाय - सिद्धमंत्रादिक के प्रयोग आप्त भगवान् की उपदेश - परंपरा के अनुसार सुनने में

आते हैं वे भी केवल उस विना कारण के समीचीन बंधु पुण्यकर्म को ही जागृत करने के लिये अपने कार्य में प्रवृत्त करने के लिये हैं।

पुण्यकर्म यदि उदय के संमुख हो तो और यदि उससे विमुख हो तो दोनों ही अवस्थाओं में सुख के साधन व्यर्थ हैं। इसी बात को दिखाते हैं।

पुण्यं हि संमुखीनं चेत्सुखोपायशतेन किम्।
न पुण्यं संमुखीनं चेत्सुखोपायशतेन किम्।।६०।।

पुण्य यदि उदय के संमुख है अपना फल देने में प्रवृत्त है तो दूसरे सैकडों सुख के उपायों से भी क्या प्रयोजन ? क्योंकि उसके उदय से स्वयं ही सुख प्राप्त होगा। इसी प्रकार यदि पुण्यकर्म उदय में नहीं आ रहा है तो भी उस सुख के बहुत से उपायों की भी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि बिना पुण्य के वे अपना फल ही नहीं दे सकते।

पुण्य और पाप में बलाबल के विचार करते हैं :-

शीतोष्णवत्परस्परविरुद्धयोरिह हि सुकृतदुष्कृतयोः।
सुखदुःखफलोद्भवयोर्दुर्बलमभिभूयते बलिना।।६१।।

सुकृत और दुष्कृत - पुण्य और पाप इन दोनों का फल क्रम से सुख और दुःख है। सुकृत का फल सुख और दुष्कृत का फल दुःख है। अतएव इन दोनों की प्रवृत्ति शीत-उष्ण की तरह से परस्पर में विरुद्ध है। ये दोनों ही परस्पर में एक दूसरे की शक्ति के घातनेवाले हैं। जिस प्रकार यदि शीत बलवान् हो तो वह उष्ण स्पर्श की शक्ति को दूर कर देता है। और उष्ण स्पर्श बलवान् हो तो शीत स्पर्श की शक्ति को नष्ट कर देता है। इसी तरह इन दोनों में भी जो बलवान् होता है वह दूसरे दुर्बल को दबा देता है।

शुरू ही किया हुआ धर्म भी पाप के उदय को दबा देता है
यह बात दिखाते हैं:-

धर्मोनुष्ठीयमानोपि शुभभावप्रकर्षतः।
भङ्क्त्वा पापरसोत्कर्ष नरमुच्छ्वासयत्यरम्।।६२।।

पूर्वार्जित धर्म की तो बात ही क्या; किंतु उस धर्म का हाल ही में आचरण शुरू किया हो तो भी वह धर्म पाप के रस को नष्ट कर देता है और उस आचरण करनेवाले मनुष्य का आपत्तियों से छूटकारा करा देता है। इसका कारण शुभ भावों का प्रकर्ष है।

इस प्रकार धर्म के माहात्म्य का जो कुछ वर्णन किया जा चुका है उसका उपसंहार करते हुए उसे आराधन करने के लिये भव्य श्रोताओं को प्रोत्साहित करते हैं :-

तत्सेव्यतामभ्युदयानुषङ्गफलोऽखिलक्लेशविनाशनिष्ठः।।
अनंतशर्मामृतदः सदार्यैर्विचार्य सारो नृभवस्य धर्मः।।६३।।

क्योंकि इस धर्म का प्रभाव नित्य एवं अचिंत्य है जैसा कि पहले बताया जा चुका है; इसलिये इसको मनुष्य जन्म का सार समझकर आर्यों - विचारपूर्वक कार्य करनेवालों को इसका अच्छी तरह विचार कर - प्रत्यक्ष अनुमान और आगम के द्वारा व्यवस्थित-प्रमाणित करके नित्य ही सेवन करना चाहिये। क्योंकि यह धर्म अनंत - जिसकी कोई सीमा नहीं ऐसे शर्म - आत्मिक गुणरूपी अमृत को देनेवाला, अथवा बहुत काल तक जिसका अनुभव किया जा सके ऐसे सांसारिक सुखरूपी अमृत का देनेवाला है। संसार के समस्त क्लेशों - संतापों को दूर करने में यह तत्पर है। और इसके निमित्त से उत्कृष्ट देवपद अथवा मनुष्यों में चक्रवर्ती या तीर्थंकर आदि पद अथवा और अनेक प्रकार के अभ्युदय फल प्राप्त होते हैं। किंतु ये सब इसके गौण फल हैं। अथवा जिस पुण्य के उदय से ये अभ्युदय प्राप्त होते हैं उस पुण्य की प्राप्ति भी इस धर्म का ही एक गौण फल है।

यह सब होते हुए भी समस्त अभ्युदयों में उत्कृष्ट यह मानव जीवन भी निःसार ही हैं, इसी बात पर बाईस पद्यों में विचार करते हैं। जिसमें सबसे पहले यहाँ पर शरीर के ग्रहण करने में जो दुःख होते हैं उनको बताते हैं :-

प्राङ्मृत्युक्लेशितात्मा द्रुतगतिरुदरावस्करेऽह्नाय नार्याः

संचार्यहार्य शुक्रार्तवमशुचितरं तन्निगीर्णान्नपानम्।
गृद्ध्याऽश्रन् क्षुत्तृषार्तः प्रतिभयभवनाद्वित्रसन्पिण्डितो ना
दोषाद्यात्माऽतिशार्तं चिरमिह विधिना ग्राह्यतेऽङ्गं वराकः।।६४।।

पूर्व भवमें मृत्यु ने जब इस जीव को अत्यंत क्लेशित - नाना प्रकार के दु:खों से पीड़ित किया तब यह वहाँ से शीघ्र निकलकर भागा। किंतु प्राक्तन कर्म ने इसको फिर भी शीघ्र ही - एक दो या तीन ही समय में स्त्री के उदररूपी संड़ास में प्रविष्ट कर दिया और वहाँ पर इसको अत्यंत अशुचि पिता के शुक्र और माता के रज के समूह को ग्रहण कराया। अत्यंत इसलिये कि मलमूत्रादिक में जब भिन्न-भिन्न एक-एक चीज भी अशुचि है तब सबका समूह तो अवश्य ही अत्यंत अशुचि होगा। किंतु जब यह जीव उस जगह भी क्षुधा और तृषा के कारण अत्यंत पीड़ित हुआ तब इसने गृद्धि - भोजन की तीव्र लालसा से उस स्त्री के - माता के ही खाये हुए अन्न - पान को वहां पर ग्रहण किया। जिस समय माता निम्नोन्नतादि स्थानों में गमन करती उस समय उससे उत्पन्न हुए क्षोभ के कारण विविध प्रकार से डरकर गर्भ में अपने प्रदेशों को संकुचित करके रहने लगा। इस प्रकार नाना दु:खों से परतंत्र रहने के कारण अनुकंप्य और मनुष्यगति नामकर्म का जिसके उदय हो आया है ऐसे इस जीव को इस मनुष्य पर्याय में नित्य ही दु:खों से पीडित और साक्षात् दोषादिक का पिण्ड - वात पित्त कफ इन तीन दोषों, और रस रुधिर मांस मेदा अस्थि मज्जा और शुक्र इन सप्त धातुओं, तथा विष्टा मूत्र पसीना नाक कीचड थूक आदि मलों की मूर्ति ऐसा शरीर प्राक्तन कर्म ने चिरकाल तक या चिरकाल में नव या दश महीने ग्रहण कराया। जैसी कि गर्भ की यह अवस्था निम्नलिखित दो पद्यों में भी कही है -

कललकलुषस्थिरत्व पृथग्दशाहेन बुद्बुदोथ घनः।
तदनु ततः पलपेश्यथ क्रमेण मासेन पञ्चपुलकमतः।।
चमंनखरोमसिद्धिः स्यादङ्गोपाङ्गसिद्धिरथ गर्भे।
स्पन्दनमष्टमसासे नवमे दशमेथ निःसरणम्।।

माता पिता के रजवीर्य का मिला हुआ भाग गर्भ में दश दिन में स्थिर होता है।

इसके बाद दश दिन में उसका बुद्बद बनता है और उसके बाद दश दिन में वह सघन होता है। इसके बाद मांसपेशी आदि बनती है और एक-एक महीने के क्रम से चर्म नख रोम की सिद्धि तथा अंगोपांग की सिद्धि होती है। आँठवें महीने में यह जीव गर्भ में हिलने चलने लगता है और नौवें या दशवें महीने में बाहर निकलता है।

गर्भ के अनंतर प्रसव होने में जो क्लेश होते हैं उनको बताते हैं।

गर्भक्लेशानुद्रुतेर्विद्रुतो वा निन्द्यद्वारेणैव कृच्छ्राद्विवृत्त्य।
निर्यंस्तत्तद्दुःखदत्त्याऽकृतार्थो नूनं दत्ते मातुरुग्रामनस्यम्।।६५।।

पूर्वोक्त प्रकार से जब गर्भ के क्लेश इस जीव के पीछे पडे तब उनसे मानो त्रस्त होकर और दूसरा कोई मार्ग न पाकर यह नीचे को मुख करके बडे कष्ट के साथ निन्द्य द्वार से ही बाहर निकल पडा। मालूम पडता है, मानो गर्भ में आने के समय से माता को जो जो इसने कष्ट दिये उनसे इसका मनोरथ पूर्ण न हो सका इसीलिये अब उसको अपने प्रसव से उत्पन्न भयानक दु:ख देने के लिये पुन: प्रवृत्त हुआ है।

जन्म लेने के बाद जो जो क्लेश होते हैं उनका विचार करते हैं :-

जातः कथंचन वपुर्वहनश्रमोत्थ -
दुःखप्रदोच्छ्वसनदर्शनसुस्थितस्य।
जन्मोत्सवं सृजति बंधुजनस्य यावद्
यास्तास्तमाशु विपदोनुपतन्ति तावत्।।६६।।

नवीन शरीर के धारण करने में जो परिश्रम हुआ उससे उत्पन्न हुए तथा और भी अनेक प्रकार के दु:खों को देनेवाले श्वासोच्छ्वास को देखकर अत्यंत आश्वासन को प्राप्त हुए बंधुजनों - माता पिता बहिन भाई आदि बंधुओं तथा अन्य इष्ट जनों को पूर्वोक्त

महान् कष्टों के साथ साथ उत्पन्न हुआ यह जीव इधर अपने जन्म का आनंद देता ही है कि उधर से - उत्पन्न होते ही [१] फुल्लिका, [२] अन्त्रगोदिका आदि प्रसिद्ध विपत्तियाँ इसको शीघ्र ही घेर लेती हैं।

भावार्थ :- उत्पन्न हुए बालक के श्वासोच्छ्वास देखकर - उसे जीवित समझकर बंधुजन जन्म का उत्सव मनाते हैं किंतु यह नहीं जानते कि उस श्वासोच्छ्वास से तथा शरीर ग्रहण करने में उत्पन्न हुए परिश्रम से और जन्म ग्रहण करते ही उत्पन्न हुई फुल्लिका आदि बीमारियों से उस बालक को अनेक प्रकार के दुःख हो रहे हैं।

बाल्यकाल के प्रति ग्लानि प्रकट करते हैं :-

यत्र क्वापि धिगत्रपो मलमरून्मूत्राणि मुञ्चन्मुहु -
र्यत्किंचिद्वदनेर्पयन् प्रतिभयं यसमात्कुताश्चित्पतन्।
लिम्पन्स्वाङ्गमपि स्वयं स्वशकृता लालाविलास्योऽहिते
व्याषिद्धो हतवद्रुदन् कथमपि - च्छिद्येत बाल्यग्रहात्।।६७।।

धिक्कार है कि बाल्य-काल में यह जीव निर्लज्ज होकर जहाँ कहीं भी - सोने के उठने बैठने के या भोजन करने के स्थान में, ओढने पहरने बिछाने आदि के वस्त्रों में या जिस किसी भी उचित या अनुचित स्थान में बार-बार मल वायु - अधोवायु और मूत्र को छोड देता है, तथा जिस किसी भी चीज को चाहे वह भक्ष्य हो चाहे अभक्ष्य मुख में रख लेता है, एवं चाहे जिस किसी भी चीज से - गिरे हुए बर्तन के शब्द आदि किसी भी पदार्थ से अतर्क्यतया उपस्थित हुआ भय खाकर गिर पडता है, और स्वयं अपने ही विष्टा से, दूसरी चीजों की तो बात ही क्या, अपने शरीर को भी लेप लेता हैं। मुख

---

१ एक प्रकार के सफेद सफेद फोडे जो कि उत्पन्न होते ही किसी किसी बालक के हुआ करते हैं।

२ एक प्रकार का पेट में होनेवाला दर्द जो कि उत्पन्न होते ही माँ का दूध न पचने से या किसी अंतरङ्ग कारण से किसी किसी बालक के हुआ करता है।

को सदा लार से भरे रहता और जिस समय अहित में - मट्टी खाने आदि में प्रवृत्त होता है तब माता पिता आदि के द्वारा रोके जाने पर भी ऐसा रोता है मानो किसीने पीटा हो। इस प्रकार यह बाल्यकाल एक प्रकार का ग्रह है कि जिससे यह जीव बडे ही कष्टों से छूटा करता है।

बाल्यावस्था के बाद प्राप्त होनेवाले कुमारकाल का भी तिरस्कार करते हैं -

धूलीधूसरगात्रो धावन्नवटाश्मकण्टकादिरुजः।
प्राप्तो हसत्सहेलकवर्गममर्षन् कुमारः स्यात्।।६८।।

बाल्य और यौवन के मध्यवर्ती वय में रहनेवाला यह जीव कभी तो अपने शरीर को गली कूंचा या सडक की धूलि से धूसरित बनाकर भागता फिरता है। कभी गढ्ढों पाषाणों व तीक्ष्ण कण्टकों तथा अनेक प्रकार के कंकरीले स्थानों की पीडा को प्राप्त करता है। एवं कभी साथ के खेलनेवाले लड़कों से जब कि वे इसकी हँसी करते हैं, ईर्ष्या करने [१] लगता है।

यौवन की निंदा करतै हैं :-

पित्रोः प्राप्य मृषामनोरथशतैस्तारुण्यमुन्मार्गगो
दुर्वारव्यसनाप्तिशङ्किमनसोर्दुःखार्चिषः स्फारयन्।
तत्किंचित्प्रखरस्मरः प्रकुरुते येनोद्धधाम्नः पितॄन्
क्लिश्नन् भूरिविडंबनाकलुषितो धिग्दुर्गतौ मज्जति।।६९।।

माता पिता के ही व्यर्थ के ही सैकडों [२] मनोरथों से यौवन अवस्था को प्राप्त कर

---

१ इस श्लोक का दूसरा अभिप्राय ऐसा भी हो सकता है कि जब इसको साथ के खेलनेवाले चिढ़ाते हैं तब उनसे ईर्ष्या करता और कष्टकर गड्ढे आदि स्थानों को प्राप्त कर गलियों की धूलि से धूसरित हो भागता फिरता है।

२ अब इसका यह होगा और उससे फिर ऐसा होगा, अथवा इससे मेरा अमुक अमुक कार्य

यह मनुष्य उन्मार्गगामी हो जाता है - त्रिवर्ग के विरुद्ध आचरण करने लगता है और तीव्र कामदेव के वेग से संतप्त होकर कुछ ऐसे निंद्य कर्म करने लगता है कि जिनके कारण विविध प्रकार की - गधे पर चढ़ने आदि की विटम्बनाओं से संक्लिष्टचित्त होकर उन माता पिताओं को दु:ख की ज्वालाएँ बढाकर तैयार कर देता है, कि जिनके मनमें पहले से ही इस बात की शंका लगी हुई थी कि यौवन में आकर इसको कहीं, जिनका वारण नहीं किया जा सकता ऐसे, व्यसनों की प्राप्ति न हो जाय। इसी तरह उस दुराचरण से माता पिता के साथ साथ विपुल तेज के धारण करनेवाले अथवा प्रशस्त स्थान पर पहुँचे हुए पितामहादिकों को भी बाधा पहुँचाता हुआ, धिक्कार है कि अंत में जाकर यह दुर्गति - दारिद्र्य अथवा नरक में जाकर डूब जाता है।

यौवन में आाकर भी जो मनुष्य निर्विकार रहते हैं उनकी प्रशंसा करते हैं :-

धन्यास्ते स्मरवडवानलशिखादीप्रः प्रवल्गद्बल -
क्षाराम्बुर्निरवग्रहेन्द्रियमहाग्राहोभिमानोर्मिकः।
यैर्दोषाकरसंप्रयोगनियतस्फीतिः स्वसाच्चक्रिभि
स्तीर्णो धर्मयशःसुखानि वसुवत्तारुण्यघोरार्णवः।।७०।।

जो कि जल के समान शरीर सुखा देनेवाला कामदेवरूपी वडवानल की ज्वालाओं से अत्यंत प्रकाशमान है, जिसमें अह्ह्य - अमनोज्ञ होने के कारण क्षार जल के समान बल - वीर्य अत्यंत दर्प के साथ वल्गना कर रहा है - उमड़ रहा है, महान् - बड़े भारी ग्रहों - जलचरों के समान इन्द्रियाँ जिसमें निरंकुशता से इधर उधर भ्रमण कर रही हैं, जिसमें अभिमान ऊर्मियों - लहरों की तरह काम कर रहा है; क्योंकि लहर के समान अभिमान का भी उत्थान नियत नहीं है कि कब और कितने प्रमाण में यह उठेगा, एवं जिसकी वृद्धि दोषाकर - दुर्जन अथवा चंद्रमा की संगति को पाकर अवश्य ही हुआ

सिद्ध होगा इत्यादि अनेक प्रकार से, प्राप्त न हो सकनेवाले पदार्थों की प्राप्ति के लिये जो मनमें संकल्प करते हैं उन्हीं को मनोरथ कहते हैं।

करती है, ऐसा यह यौवन एक प्रकार का बडा भारी भयानक समुद्र है। इसको धन की तरह धर्म यश और शर्म - सुख अर्थात् इन चारों ही पदार्थों को आत्माधीन करनेवाले-अविरोधेन सेवन करनेवाले जो जन-युवा पुरुष तैरकर पार हो गये हैं वे ही धन्य हैं।

यौवन के अनंतर प्राप्त होनेवाली मध्य अवस्था की ग्यारह श्लोकों में निंदा करते हैं। जिसमें से पहले संतान का पालन पोषण करने के लिये जिसके मन में आकुलता लगी रहती है उसको धन की आशा से किये गये कृषि आदि आजीविका के उपायों के करने में जो क्लेश प्राप्त होते हैं उनको बताते हैं -

यत्कन्दर्पवशंगतो विलसति स्वैरं स्वदारेष्वपि,
प्रायोऽहंयुरितस्ततः कटु ततस्तुग्धाटको धावति।
अप्यन्यायशतं विधाय नियमाद्धर्तुं यमिद्धाग्रहो,
वर्धिष्णवा द्रविणाशया गतवयाः कृष्यादिभिः प्लुष्यते।।७१।।

जो तुग्धाटक - अपत्यवर्ग युवा अवस्था में आकर [१] कामदेव के वशीभूत हो स्वदारमें भी - संभोगपत्नियों की तरह धर्मपत्नियोंमें भी स्वच्छन्द होकर विकास - क्रीडा करता है और इसीलिये जो अहंकार से आविष्ट होकर प्रायः जिस किसी भी स्वार्थ में शीघ्र ही अनिष्ट प्रवृत्ति करने लगता है उसी अपत्यवर्ग का नियमतः पालन करने के लिये जिसका आग्रह प्रदीप्त हो उठा है ऐसे इस गतवयस्क - यौवन पारकर मध्य वय को

---

१ ऐसा ही एक जगह नीति में भी कहा है :-

प्रथमे वयसि यः शांतः स शांत इति मे मतिः।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते।।
(संपादक)

संकल्परमणीयस्य प्रीतिसंभोगशोभिनः।
रुचिरस्याभिलाषस्य नाम काम इति स्मृतम्।।

जो संकल्पमात्र से ही रमणीय मालूम पडती और प्रीतिपूर्वक अच्छी तरह भोगने में ही जो शोभन मालूम पडती है ऐसी रुचिर - मनोज अभिलाषा का ही नाम काम है।

प्राप्त हुए मनुष्य को बढती जानेवाली धन की लिप्सा से न्याय की तो बात ही क्या; स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात, चोरी आदि सैकड़ों अन्यायों को करके भी किये गये कृषि पशुपालन आदि आजीविका के उपाय दग्ध कर देते हें।

कृषि पशुपालन और वाणिज्य इनसे दोनों भवों की भ्रष्टता होती है; यह दिखाते हैं:-

यत्संभूय कृषीवलैः सह पशुप्रायैः स्वरं खिद्यते
यद्यापत्तिमयान् पशूनवति तद्देहं विशन् योगिवत्।
यन्मुष्णाति वसून्यसूनिव ठकक्रूरो गुरूणामपि
भ्रान्तस्तेन पशूयते विधुरितो लोकद्वयश्रेयसः।।७२।।

क्योंकि कृषिकर्म करने में यह गतवयस्क पुरुष उन किसानों के साथ मिलकर तीव्र खेद - परिश्रम को प्राप्त होता है जो बिलकुल पशु के समान हैं। क्योंकि उनकी आहारादि संज्ञाएँ पशुओं के ही सदृश हुआ करती हैं। इसी प्रकार पशुपालन करते समय जिस प्रकार आरब्धयोगवाला कोई योगी परपुरुष प्रवेश किया करता है उसी तरह यह भी विविध प्रकार की आपत्तियों से पूर्ण पशुओं की, उनके शरीर में घुसकर, रक्षा किया करते है ! एवं वाणिज्य में प्रवृत्त होकर ठगों के समान क्रूरता धारण कर, औरों की तो बात क्या, गुरुओं - दीक्षाचार्य माता पिता आदिके भी, प्राणों के समान धन का अपहरण कर लेता है ! अतएव कृषि, पशुपालन और वाणिज्य ये तीनों ही कर्म, विपर्यस्त हैं बुद्धि जिसकी ऐसे इस गतवयस्क पुरुष को इस लोक और परलोक दोनों ही भव के कल्याणों से वियुक्त कर देते हैं और वह पशु के समान आचरण करने लगता है।

जो पुरुष धन में लुब्ध होकर देशांतरों में जाकर वाणिज्य करते हैं उनकी निंदा करते हैं :-

यत्र तत्र गृहिण्यादीन्मुक्त्वापि स्वान्यनिर्दयः।

न लङ्घयति दुर्गाणि कानि कानि धनाशया।।७३।।

माता पुत्र कलत्र आदिकों को साथ में लेकर अथवा जहाँ कहीं भी परीक्षित या अपरीक्षित स्थानों में उन्हें रखकर खुद के लिये और दूसरे सहाय करनेवाले परिजन तथा पशु आदि के लिये निर्दय बनकर - उनको व स्वयं को क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण आदिके द्वारा पीड़ित कर धन की आशा से नदी, पर्वत, जङ्गल, समुद्र आदि कौन से दुर्गमस्थान हैं कि जिनको यह गतवयस्क पुरुष नहीं लांघता फिरता ! अर्थात् सभी दुर्गमस्थानों में यह जीव धन की आशा से भटकता फिरता है।

वृद्धि - व्याज आदि के द्वारा आजीविका करनेवाले के प्रति ग्लानि प्रकट करते हैं :-

वृद्धिलुब्ध्याधमर्णेषु प्रयुञ्यार्थान् सहासुभिः।
तदापच्छङ्कितो नित्यं चित्रं वार्धुषिकश्चरेत्।।७४।।

यह बड़ा आश्चर्य है कि वार्द्धुषिक - व्याजखाऊँ आदमी भी जो कि वृद्धि - व्याज के लोभ से - कालांतर में चलकर इस धन में कुछ वृद्धि हो जायगी इस आशा से अधमर्णों - आसामियों में अपने प्राणों के साथ साथ धन को रखकर उस पर आनेवाली आपत्तियों से सदा शंकित बना रहकर ही प्रवृत्ति करता है। क्योंकि जो अपने प्राणों को दूसरी जगह पहुँचा देता है वह जीव स्वयं प्रवृत्ति नहीं कर सकता; यही आश्चर्य का कारण है।

सेवाकर्म की निंदा करते हैं :-

स्वे सद्वृत्तकुलश्रुते च निरनुक्रोशीकृतस्तृष्णया
स्वं विक्रीय धनेश्वरे रहितवीचारस्तदाज्ञावशात्।
वर्षादिष्वपि दारुणेषु निबिडध्वान्तासु रात्रिष्वपि
व्यालोग्रास्वटवीष्वपि प्रचरति प्रत्यन्तकं यात्यपि।।७५।।

सेवक पुरुष स्वामी के आदेश के वश योग्य और अयोग्य विचार छोडकर अत्यंत भयानक वर्षा शीत और ग्रीष्म ऋतु में, अथवा सघन अंधकार से पूर्ण रात्रियों में, यद्वा सर्प हस्ती आदि भयानक हिंस्र जंतुओं से भरे हुए अतएव अत्यंत रौद्र ऐसे जंगल में घूमता फिरता है। केवल इनमें घूमता है इतना ही नहीं; बल्कि यमराज के संमुख भी जा उपस्थित होता है। ऐसा क्यों करता है ? तो इसका उत्तर यही है कि उसने तृष्णा - लोभ के वश होकर धन के स्वामी - शेठ साहूकार या राजा महाराजा को अपनी आत्मा बेचकर समीचीन आचारविचार, कुल, शास्त्राभ्यास तथा और अधिक क्या; स्वयं अपने विषय में भी निर्दयता धारण कर ली है।

शिल्पकर्म करनेवालों की भी निंदा करते हैं :-

चित्रैः कर्मकलाधर्मैः परासूयापरो मनः।
हर्तुं तदर्थिनां श्राम्यत्यार्तपोष्येक्षितायनः।।७६।।

शिल्पी मनुष्य जिनको शिल्प की आकांक्षा है ऐसे मनुष्यों का मन हरण करने के लिये दूसरे शिल्पियों से असूया करना उनके गुणों में भी दोष प्रकट करना और नाना प्रकार के कर्म कला और धर्म के करने से खिन्न हुआ करता है।

मट्टी, धातु, काष्ठ, पत्थर आदि की कारीगरी को कर्म कहते हैं। गाना बजाना तैरना नाचना आदि दक्षता को कला कहते हैं। मूल्य लेकर पुस्तक वाचना आदि धर्म है। इन कर्मादिकों में प्रवृत्त हुए शिल्पों के क्षुधादिक से पीडित हुए पोष्यजन - स्त्रीपुत्रादिक उसके आने का मार्ग देखा करते हैं कि, कब वह कमाकर लावे और कब हमारी क्षुधादि की पीड़ा दूर हो।

शिल्पियों की दुरवस्था का कथन करते है :-

आशावान् गृहजनमुत्तमर्णमन्या -

नप्याप्तैरिव सरसो धनैर्धिनोति।
छिन्नाशो विलपति भालमाहते स्वं
द्वेष्टीष्टानपि परदेशमप्युपैति।।७७।।

'आज कल में कर्मादि करने से मूल्य प्राप्त हो ही जायगा, मजदूरी मिल ही जायगी' ऐसी भविष्यत् में प्राप्त होनेवाले अर्थ - धन की आशा रखकर यह गतवयस्क शिल्पी हृष्टचित्त होकर मानो वह धन हस्तगत ही हो गया हो इस तरह से अपने गृहजन - स्त्री आदि और उत्तमर्ण - साहूकार - बोहरे तथा दूसरे भी अपने संबंधी मित्रादिकों को अच्छी तरह तृप्त करता है। किंतु जब उसकी वह आशा टूट जाती है - सिद्ध नहीं होती तब रोने लगता और अपना माथा कूटने लगता है। अपने प्रिय पुत्र कलत्रादिकों से द्वेष करने लगता है। अथवा परदेश को भी चला जाता है।

देशांतर में भी धन की आशा से यह खिन्न ही होता है। यही बताते हैं :-

आशया जीवति नरो न ग्रन्थावपि बद्धया।
पञ्चाशतेत्युपायज्ञस्ताम्यत्यर्थाशया पुनः।।७८।।

'गाँठमें भी बंधे हुए पचासों से नहीं; आशा से मनुष्य जिया करता है।' ऐसी लोक में कहावत है। बस इसी कहावत के अनुसार कर्म आदि जीविका के उपायों को जाननेवाला कारुक - शिल्पी फिर भी - परदेश में भी जाकर धन की आशा से खिन्न ही हुआ करता है।

यदि इष्ट धनादिक का लाभ भी हो जाय फिर भी तृष्णा
तो शांत नहीं होती, यही बात दिखाते हैं :-

कथं कथमपि प्राप्य किंचिदिष्टं विधेर्वशात्।
पश्यन् दीनं जगद्विश्वमप्यधीशितुमिच्छति।।७९।।

पूर्वकृत शुभ कर्म की सामर्थ्य से यदि किसी न किसी तरह - अत्यंत कष्टों के द्वारा कुछ इष्ट - वाञ्छित पदार्थ प्राप्त भी हो जाय तो यह जीव समस्त जगत् को दीन-अपने से हीन समझने लगता है और उसको अपने अधीन करना चाहता है। तृष्णावश होकर जगत् का स्वामी बनना चाहता है।

जिनको धन प्राप्त हो गया है उनको जो दूसरी दूसरी
विपत्तियाँ प्राप्त होती हैं उन्हें दिखाते हैं :-

दायादाद्यैः क्रूरमावर्त्त्यमानः
पुत्राद्यैर्वा मृत्युना छिद्यमानः।
रोगाद्यैर्वा बाध्यमानो हताशो
दुर्दैवस्य स्कन्धकं धिग्बिभर्ति।।८०।।

सधन पुरुष को भाई भानजे आदि दायादप्रभृति बार-बार लङ्घनादि के द्वारा क्रूरता से कदर्थित करते हैं। मृत्यु - यमराज आकर पुत्रादिकों से वियुक्त कर देता है। अनेक प्रकार के रोग और कारागृह आदि पीड़ित किया करते हैं। नष्ट हो गई है आशा व प्रत्याशा जिसकी ऐसा यह मध्यम वयवाला सधन मनुष्य, धिक्कार है कि, दुर्दैव के उस ऋण को लिये फिरता है कि जो उसे नियमित काल में ही अदा करना है।

मध्यम वयवाले पुरुष को विपत्तियों से जो अरति और जीवन से
जो उपराम मिलता है उसका निरूपण करते है :-

पिपीलिकाभिः कृष्णाहिस्विपिद्भिर्दुराशयः।
दंदश्यमानः क्व रतिं यातु जीवतु वा कियत्।।८१।।

जिस प्रकार कृष्णसर्प को चीटियाँ खा डालती हैं उसी तरह जब दुराशय - जिसका चित्त विविध प्रकार के क्लेशों से पीडित हो रहा है ऐसे इस मध्यम वयवाले मनुष्य को विपत्तियाँ बुरी तरह से खाने लगती हैं तब स्थान आसन आदि में से किसमें तो यह रति - प्रेम करे और कब तक जीता रहे। अर्थात् विपत्तियों से घिरकर यह जीव हर विषय में अरति करने लगता है और शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

बुढापे से उत्पन्न हुए दु:खों को प्रकट करते हैं।

जराभुजङ्गीनिर्मोकं पलितं वीक्ष्य वल्लभाः।
यान्तीरुद्वेगमुत्पश्यन्नप्यपैत्योजसोन्वहम्।।८२।।

जरा - वृद्धावस्था भुजङ्गी - सर्पिणी के समान है; क्योंकि मनुष्य उससे सदा भय खाते रहते हैं। इसके निर्मोक - केंचुली के समान पलित - श्वेतकेशों को देखकर उद्वेग-विरक्ति को प्राप्त हुई वल्लभाओं - प्रियतमा स्त्रियों का शोक के साथ स्मरण करनेवाला यह वृद्ध - वृद्धावस्था के संमुख हुआ पुरुष दिन पर दिन ओज - बल से भी रिक्त हो जाया करता है। क्योंकि प्रिया के विराग की संभावना से बल क्षीण हो जाया करता है। जैसा कि कहा भी है - 'ओजः क्षीयेत कोपक्षुद्ध्यानशोकश्रमादिभिः'।। कोप क्षुधा ध्यान शोक परिश्रम इत्यादि कारणों से बल नष्ट हो जाया करता है।

वृद्धावस्था के फल का विचार करते हैं :-

विस्रसोद्देहिकादेहवनं नृणां यथा यथा।
चरन्ति कामदा भावा विशीर्यन्ते तथा तथा।।८३।।

यह शरीर वन - उपवन के समान है; क्योंकि उपवन की तरह इसका भी पालन पोषण आदि बडे प्रयत्न से किया जाता है। ऐसे इस शरीररूपी उपवन को ज्यों ज्यों बुढापारूपी दीमक - क्षुद्रजंतु भक्षण करता जाता है त्यों त्यों मनोरथों को पूर्ण करनेवाले उसके पल्लव पुष्प फल आदि की तरह कामदेव का उद्दीपन करनेवाले सौंदर्य बल वृद्धि प्रभृति भाव

भी स्वयं ही विनष्ट होते जाते हैं।

जब कि वृद्धावस्था अतिशय रूपसे आकर घेर लेती है उस अवस्था का विचार करते हैं।-

प्रक्षीणान्तः करणकरणो व्याधिभिः सुष्ट्ववाधि-
स्पर्द्धादग्धः परिभवपदं याप्यकंप्राऽक्रियाङ्गः।
तृष्णेर्ष्याद्यैर्विगलितगृहः प्रस्खलद्द्वित्रदन्तो,
ग्रस्येताद्धा विरस इव न श्राद्धदेवेन वृद्धः।।८४।।

जिसका अंतःकरण - मन और करण - इन्द्रियां विनाशोन्मुख हैं, जिसको आधि - मानसिक व्यथा से मानों स्पर्धा करके ही व्याधियों - शारीरिक कास श्वास आदि दुःखों ने अत्यंत दग्ध कर दिया है - निःसार बना दिया है, जो अनेक प्रकार से तिरस्कार का स्थान बन रहा है, जिसके हस्त पाद आदि अवयव कुत्सित कंपनेवाले और अकर्मण्य बन गये हैं, जिसने अपनी तृष्णा - अतिलोभ तथा ईर्ष्या अक्षमा दुर्वचनादि के द्वारा घर के स्त्री पुत्रादिकों को भी उकता दिया है, और जिसके बाकी के रहे दो या तीन दांत भी बिलकुल हिल रहे हैं, ऐसे इस वृद्ध पुरुष को, जिसको कि जरा ने अत्यंत व्याप्त कर रक्खा है श्राद्धदेव - यमराज मानों रस समझ कर - यह ख्याल करके कि इसमें स्वाद अच्छा नहीं है, शीघ्र ही भक्षण नहीं करते। जिस तरह से कि श्राद्धदेव - श्राद्ध में भोजन करनेवाले ब्राह्मण विरस आहार को शीघ्र ही नहीं खाया करते।

इस प्रकार यह शरीर यद्यपि अनेक दोषों से युक्त है; फिर भी इसको परमसुख-मोक्षफल को देनेवाले धर्म का अङ्ग - कारण बनाकर सबसे उत्कृष्ट बनाना चाहिये; ऐसी शिक्षा देते हैं :-

बीजक्षेत्राहरणजननद्वाररूपाशुचीदृग्
दुःखाकीर्णं दुरसविविधप्रत्ययातर्क्यमृत्यु।
अल्पाग्रायुः कथमपि चिराल्लब्धमीदृग् नरत्वं

सर्वोत्कृष्टं विमलसुखकृद्धर्मसिद्ध्यैव कुर्यात्।।८५।।

इस शरीर का बीज माता का रज और पिता का वीर्य है। क्षेत्र माता का गर्भस्थान और आहार माता का निगला हुआ अन्नपान है। शुक्र आर्तव मल मूत्र के बहने का जो मार्ग है वही इसके उत्पन्न होने का द्वार है। वात पित्त कफ धातु उपधातु तथा सदा आतुरता ही इसका स्वरूप है। इस तरह बीज क्षेत्र आहार उत्पत्ति द्वार और स्वरूप की अपेक्षा यह अत्यंत अशूचि अपवित्र है। गर्भ से लेकर वृद्धावस्था तक के दु:खों से प्रचुरतया व्याप्त है। जिसका निवारण नहीं किया जा सकता ऐसी नाना प्रकार के व्याधि शस्त्र वज्रपात आदि कारणों से होनेवाली इसकी मृत्यु अतर्क्य है। यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी मृत्यु कब कहाँ और किस तरह से होगी। इसकी आयु अधिक हो तो भी अल्प है। क्योंकि ऐसा कहा है कि आजकल मनुष्यों की आयु एक सौ वीस वर्ष से अधिक नहीं होती।

इस प्रकार का यद्यपि यह शरीर मनुष्य पर्याय अनेक दोषों से दुष्ट है; फिर भी चिरकाल में और महान् कष्टों से प्राप्त किये हुए इसको जो कि समीचीन धर्म के धारण करने के कारणभूत जातिकुल से युक्त है, सबसे - देवादि पर्यायों से भी उत्कृष्ट बनाना चाहिये। परंतु यह बात विपरीत धर्म अर्थ काम पुरुषार्थ के सेवन करने से प्राप्त नहीं, किंतु दु:खों के करनेवाले पापकर्म के संबंध से रहित सुख कल्याण के करनेवाले धर्म के साधन करने से ही प्राप्त हो सकती है।

जीव को प्राप्त होनेवाली त्रसादि पर्यायों की उत्तरोत्तर
दुर्लभता का विचार करते हैं :-

जगत्यनन्तैकहृषीकसंकुले त्रसत्वसंज्ञित्वमनुष्यतार्यता:।
सुगोत्रसद्मात्रविभूतिवार्ततासुधीसुधर्माश्च यथाग्रदुर्लभा:।।८६।।

एक स्पर्शन इन्द्रिय के ही धारण करनेवाले पृथ्वी जल अग्नि वायु और वनस्पति इन पाँच अनंतानंत स्थावरों से ठसाठस भरे हुए समस्त संसार में त्रस आदि पर्यायों को

प्राप्त करना उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

द्विन्द्रियादि अवस्था को त्रसपर्याय कहते हैं। इसका संसार में प्राप्त होना अत्यंत कठिन है। क्योंकि निगोद में यह जीव अनादि व अनंत काल से पुनः पुनः एकेन्द्रिय ही हो रहा है। जिस प्रकार भी ऊपर भुंजते हुए चनों में से कोई कोई चना कदाचित् बाहर निकल पडता है; उसी तरह निगोदराशि में से काललब्धि को पाकर पूर्वसंचित कर्म के उदय से कोई कोई जीव क्वचित् कदाचित् बाहर त्रसपर्याय में आ पड़ता है। किंतु यहां से पुनः निगोदराशि में चला जाता है। यहाँ से पुनः त्रसपर्याय का प्राप्त करना इस तरह कठिन है कि जिस तरह समुद्र में खोई हुई एक बालुका की कणिका का फिर मिल जाना। इसी तरह द्विन्द्रिय से त्रिन्द्रिय और त्रिन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय और पंचेन्द्रियों में भी समनस्क होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। समनस्क नारकी और तिर्यंच भी होते है अतएव समनस्कता प्राप्त करके भी मनुष्यपर्याय का प्राप्त होना और भी दुर्लभ है। मनुष्य होकर भी यदि नीचगोत्री या म्लेच्छ हुए तो उससे क्या प्रयोजन ! अतएव मनुष्यता के साथ साथ आर्यता का प्राप्त होना गुणों में कृतज्ञता के समान दुष्प्राप्य है। आर्य होनेपर भी उच्च गोत्र, और उच्च गोत्र के भी बाद समीचीन शरीर, तथा ऐसे शरीर के भी मिल जानेपर विभूति और विभूति और विभूति के भी मिल जानेपर आरोग्य की प्राप्ति होना अत्यंत कठिन है। इसी तरह उक्त सब बातों के मिल जानेपर भी मनुष्यों की बुद्धि प्रायः करके धर्म विरुद्ध क्रियाओं के करने और व्यसनादिकों के सेवन में ही प्रवृत्त हो जाया करती है। अतएव उक्त बातों के अनंतर ऐसी सद्बुद्धि का प्राप्त होना और भी कठिन है कि जिसके द्वारा धर्म में प्रवृत्ति हो सके। सद्बुद्धि के द्वारा प्राप्त करने योग्य फलरूप समीचीन धर्म का प्राप्त होना तो सर्वोपरि कठिन है। इस तरह इस जीव को त्रसता समनस्कता मनुष्यता आर्यता सद्गोत्र सद्गात्र विभूति वार्तता आरोग्य सद्बुद्धि और समीचीन धर्म इन दश चीजों का प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

जो कि सबसे अधिक दुर्लभ है उस धर्म का आचरण करने में नित्य ही उद्योग करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं :-

स ना स कुल्यः स प्राज्ञः स बलश्रीसहायवान्।
स सुखी चेह चामुत्र यो नित्यं धर्ममाचरेत्।।८७।।

जो जीव नित्य ही धर्म का आचरण किया करता है वह परभव में पुरुष हुआ करता है और उत्तम कुल को प्राप्त करता है। इसी तरह वह अतिशयित बुद्धि तथा बल और लक्ष्मी एवं अपने कार्यों में अनेक प्रकार के सहायकों को प्राप्त करता तथा इस लोक और परलोक में सुखी होता है। इसके विरुद्ध जो जीव धर्म का आचरण नहीं करता या अधर्म का सेवन करता है वह मरकर स्त्री या नपुंसक होता तथा बुद्धिशून्य मूर्ख निर्बल दरिद्र और असहाय हुआ करता है तथा इस लोक और परलोक दोनों ही भवों में दु:ख भोगता है।

जो पुरुष धर्म का संचय नहीं करता उसके शेष गुणों की भी निरर्थकता प्रकट करते हैं :-

धर्मं श्रुतिस्मृतिस्तुतिसमर्थनाचरणचारणानुमतैः।
यो नार्जयति कथंचन किं तस्य गुणेन केनापि।।८८।।

जो पुरुष श्रुति स्मृति स्तुति और समर्थना इनमें से किसी भी उपाय के द्वारा किसी भी तरह से स्वयं आचरण करके या दूसरों से कराकर अथवा आचरण करनेवालों की अनुमोदना करके धर्म का संचय नहीं करता उस पुरुष के पुरुषत्व कुलीनता आदि एक या अनेक गुणों से भी क्या फायदा !

आचार्य उपाध्याय गुरु बहुश्रुत या विशेषज्ञों के मुख से धर्म के स्वरूप का जो सुनना उसको श्रवण कहते हैं। सुने हुए या जाने हुए धर्म के स्वरूप का बारबार विचार करना उसको स्मरण कहते हैं। धर्म के फल का गुण का या माहात्म्य का जो अच्छी तरह यशोगान करना उसको स्तुति कहते हैं। युक्ति अनुभव और आगम इनकी सामर्थ्य से धर्म के स्वरूप का सिद्ध करना अथवा उस पर होनेवाले आक्षेपों का निरसन करना उसको समर्थना कहते हैं। इन उपायों में से एक या अनेक अथवा समस्त के द्वारा धर्म के स्वयं सेवन करने को चरण, दूसरों से सेवन कराने को चारण तथा सेवन करनेवालों की प्रशंसा करने को अनुमत - अनुमोदना कहते हैं। इनमें से किसी भी तरह से धर्म

का संचय करनेवालों के ही दूसरे गुण प्रशस्त कहे जा सकते हैं। अन्यथा नहीं।

धर्म - शब्द का जो कुछ अर्थ है वह लोक प्रसिद्धि के अनुसार ही समझकर धारण किया कराया जा सकता है। अतएव उसका प्रतिपादन कराने के लिये शास्त्ररचना का प्रयत्न क्यों करना - इससे क्या फायदा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

लोके विषामृतप्रख्यभावार्थः क्षीरशब्दवत्।
वर्तते धर्मशब्दोपि तत्तदर्थोनुशिष्यते।।८९।।

पूर्व आकार को छोडकर उससे संबंध रखते हुए उत्तर आकार के ग्रहण को वस्तु या भाव कहते हैं। ये भाव विष और अमृत दोनों के समान हुआ करते हैं। इसी आधार पर लोक में क्षीर शब्द विष और अमृत दोनों प्रकार के पदार्थों का वाचक है। क्योंकि आक के रस को भी क्षीर कहते हैं जो कि विष के तुल्य है, और गोरस को भी क्षीर कहते हैं जो कि अमृत के समान हैं। इसी तरह लोक में धर्म शब्द का अर्थ भी दोनों ही तरह का होता है - विषरूप भी होता है और अमृतरूप भी होता है। क्योंकि लोक में बहुत से लोक हिंसा को भी धर्म कहते हैं जो कि दुर्गतियों के दुःखों का देनेवाला और इसीलिये विष के तुल्य है। और कोई कोई अहिंसा को धर्म कहते हैं जो कि सुखों का देनेवाला और इसीलिये अमृत के समान हैं। अतएव उनका पृथक्करण करने के लिये सर्वज्ञ और इतर आचार्यों की उपदेश - परंपरा से धर्म शब्द का जो कुछ अर्थ चला आता है उसको बताया जाता है।

धर्म शब्द का जो कुछ अर्थ है उसको स्पष्ट करते हैं :-

धर्मः पुंसो विशुद्धिः सुदृगवगमचारित्र्यरूपा स च स्वां
सामग्रीं प्राप्य मिथ्यारुचिमतिचरणाकारसंक्लेशरूपम्।
मूलं बंधस्य दुःखप्रभवभवफलस्यावधुन्वन्नधर्मं
संजातो जन्मदुःखाद्धरति शिवसुखे जीवमित्युच्यतेऽर्थात्।।९०।।

मूढता आदि दोषों से रहित होनेपर दर्शन - श्रद्धान, और संशयादि दोषों से रहित होनेपर ज्ञान, एवं मायाचार आदि दोषों से रहित होनेपर चारित्र प्रशस्त माना जाता है। इन प्रशस्त दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप आत्मा की विशुद्ध परिणति को ही धर्म कहते हैं। इसके विरुद्ध मिथ्या - विपरीत या असत्य दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनरूप संक्लेश परिणामों को अधर्म कहते हैं। यह अधर्म उस बंध - कर्मबंध का [१] आदिकारण है जिसका कि फल अनेक प्रकार के दु:खों को देनेवाला संसार है। किंतु उक्त धर्म अपनी सामग्री - बाह्य और अभ्यंतर कारणकलाप को अथवा श्रेष्ठ [२] ध्यान को प्राप्त कर इस अधर्म को निरवशेष कर देता है और चौदहवें अयोग गुणस्थान के अंत्य समय में पूर्ण होकर इस जीव को जन्म मरण आदि सांसारिक दु:खों से दूरकर शिवसुख - मोक्ष में ले जाकर धर देता है। अतएव वाच्यार्थ अथवा परमार्थ की अपेक्षा से ही इसका नाम 'धर्म' ऐसा रक्खा है। क्योंकि व्याकरण के अनुसार धर्म शब्द का ऐसा ही अर्थ होता है कि 'धरतीति-धर्म:' अर्थात् जो जीव को दु:खों से छुडाकर सुखस्थान में ले जाकर धर दे उसको धर्म कहते हैं।

निश्चय नय की अपेक्षा से रत्नत्रय के लक्षण का निर्देश-आख्यान करते हुए मोक्ष के और संवर तथा निर्जरा के एवं बंध के कारण को बताते हैं।

मिथ्यार्थाभिनिवेशशून्यमभवत्संदेहमोहभ्रमं,
वान्ताशेषकषायकर्मभिदुदासीनं च रूपं चित:।
तत्त्वं सद्दृगवायवृत्तमयनं पूर्णं शिवस्यैव तद्,
रुन्धे निर्जरयत्यपीतरदऽघं बंधस्तु तह्यत्ययात्।।९१।।

---

१ - जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है कि 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतव:।'

२ - इसके विषय में आगम में भी कहा है -

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधिय: सदाप्यपास्यालस्यम्।।इति।

ध्यान में समृद्ध होनेपर ही धर्म मोक्ष का कारण हो सकता है। अतएव भव्यों को अप्रमत्त होकर इस ध्यान का ही सदा अभ्यास करना चाहिये।

[१] मिथ्या - विपरीत - प्रमाणबाधित अथवा सर्वथा या एकान्तरूप से मानी हुई पर या अपर वस्तुओं का जिसमें आग्रह नहीं पाया जाता ऐसे आत्मरूप को अथवा इस तरह का अभिनिवेश जिस अंतरंग कारण के वश से हुआ करता है उस दर्शन मोहनीय कर्म से शून्य आत्मस्वरूप को निश्चय से सम्यग्दर्शन समझना चाहिये।

यह स्थाणु है अथवा पुरुष, इस तरह की चलायमान प्रतीति को संशय; जिसमें अपने विषय का कोई भी निश्चय न हो उसको अनध्यवसाय और विरुद्ध पदार्थ के ग्रहण को भ्रम या विपर्यय कहते हैं। ये ज्ञान के तीन दोष हैं। जिसमें ये तीनों ही दोष नहीं पाये जाते, निश्चय से आत्मा के उस स्वरूप को ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

स्वतः क्रोधादि कषायों को तथा हास्यादि नोकषायों को दूरकर देनेवाले और, ज्ञानावरणादि कर्मों को अथवा मन वचन काय के द्वारा होनेवाले व्यापाररूप कर्म को नष्ट कर देनेवाले तथा उदासीन - उपेक्षारूप आत्मस्वरूप को ही निश्चय से सम्यक्चारित्र कहते हैं।

यह उपर्युक्त सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप आत्मा की अवस्था ही परमार्थभूत है। जिस समय यह पूर्णता को प्राप्त कर लेती है उस समय यह मोक्ष का ही कारण होती है; न कि संवर निर्जरा अथवा किसी सांसारिक अभ्युदय का। यद्वा रत्नत्रयात्मक आत्मा को ही [२] मोक्षमार्ग कहते हैं। उक्त संवर आदि कार्यों को सिद्ध करनेवाला वही अपूर्ण अथवा दूसरा व्यावहारिक सम्यग्दर्शन है। यह आनेवाले कर्मों को रोकता और पहले संचित अशुभ अथवा शुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों के एक देश को निर्जीर्ण करता है। इस प्रकार मोक्ष संवर और निर्जरा रत्नत्रय से सिद्ध होते है। किंतु

---

१ 'मिथ्याभिमाननिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्टं हि दर्शनम्।
ज्ञानत्वं चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्वं कर्महन्तृता।।'इति।

ज्ञानमें से मिथ्या अभिमान के दूर हो जाने को दर्शन, अर्थ के जान लेने को ज्ञान और कर्मों की घातकता को चारित्र कहते हैं।

२ णिच्छयणएण भणिओ तिहिं तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण गहदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति।।

निश्चय नय से रत्नत्रय से युक्त आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है। वह न किसीसे बद्ध होता और न किसीसे मुक्त होता है।

इसके विरुद्ध बंध, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से हुआ [१] करता है।

निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति किससे होती है सो बताते हैं :-

उद्योतोद्यवनिर्वाहसिद्धिनिस्तरणैर्भजन्।
भव्यो मुक्तिपथं भाक्तं साधयत्येव वास्तवम्।।९२।।

[२] उद्योत उद्यव निर्वाह सिद्धि और निस्तरण इन उपायों के द्वारा भेदरूप व्यवहारिक सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग का आराधन करनेवाला भव्य पुरुष वास्तविक-पारमार्थिक मोक्षमार्ग को नियम से प्राप्त किया करता है।

---

१ - जैसा कि कहा भी है कि -

'स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासतः।
बन्धस्य हेतवोन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः।।' इति।

संक्षेप में बंध के कारण मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं। उसके और जो कारण बताये गये हैं वे सब इन्ही के विस्तार हैं - विशेष भेद हैं जो कि इन्ही में अंतर्भूत होते हैं।

तथा और भी कहा है कि -

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगस्य सोयमपराधः।।
असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबंधो यः।
स विपक्षकृतावश्यं मोक्षोपायो न बंधनोपायः।।

अर्थ :- आगम में रत्नत्रय को मोक्ष का ही कारण माना है और किसीका भी नहीं। पुण्यकर्म का जो आस्रव हुवा करता है यह शुभोपयोग का अपराध है। अपूर्ण रत्नत्रय का आराधन करनेवाले के जो कर्म - पुण्यकर्म का बंध हुआ करता है वह अवश्य ही मोक्ष का उपाय है; न कि बंधन का। क्योंकि उसका बंध करनेवाला संसार के कारणों से विरुद्ध भावों को रखता है। अतएव उसका संचित पुण्यकर्म अथवा उसका फल ऐसा होता है जिससे कि मोक्ष की सिद्धि में सहायता प्राप्त हो। वह पुण्य संसार या उसके कारण कर्मबंध का कारण नहीं होता।

२ - उद्योतादिक का लक्षण आगे चलकर बतावेंगे।

व्यावहारिक रत्नत्रय का लक्षण बताते हैं :-

श्रद्धानं पुरुषादितत्त्वविषयं सद्दर्शनं बोधनं
सज्ज्ञानं कृतकारितानुमतिभिर्योगैरवद्योज्झनम्।
तत्पूर्वं व्यवहारतः सुचरितं तान्येव रत्नत्रयं
तस्याविर्भवनार्थमेव च भवेदिच्छानिरोधस्तपः।।९३।।

जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का अथवा पुण्य और पाप के साथ नव पदार्थों का यथावत् रूप से यद्वा इनके याथात्म्य - जिसका जैसा स्वरूप है उसके वैसे ही - स्वरूप का श्रद्धान करना इसको व्यवहार से सम्यग्दर्शन कहते हैं। और उनके जान लेने को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इसी तरह मन वचन और काय के द्वारा किये गये कृत-कारित एवं अनुमोदन के द्वारा अवद्य - हिंसा झूठ चोरी कुशील व परिग्रह इन पाँच पापों के सम्यग्ज्ञानपूर्वक छोड देने को व्यवहार से सम्यक्चारित्र कहते हैं। मनसे अवद्य कर्म का छोडना - कृत, दूसरे से छुडाना - कारित, और उसको अच्छा मानना अनुमोदन कहाता है। इसी तरह वचन व काय के द्वारा भी तीन - तीन भंग होते हैं। और सब मिलाकर नव भंगों से अवद्यकर्म का त्याग किया जाता है। किंतु यह त्याग सम्यग्ज्ञानपूर्वक होना चाहिये; तभी उसको सम्यक्चारित्र कहते हैं।

इन तीनों ही को - सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र को रत्नत्रय कहते हैं। इस रत्नत्रय को प्रकट करने के लिये ही तप किया जाता है। इच्छा - इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के द्वारा प्रवृत्त होनेवाली विषयाभिलाषा के निरोध - संयत करने को तप कहते हैं। यद्यपि इसका चारित्र में ही अंतर्भाव हो जाता है; फिर भी चार आराधनाओं में इसका पृथक् ही उल्लेख पाया जाता है। अतएव यहां पर भी उसको रत्नत्रय से भिन्न रुपमें ही दिखाया है।

जिस प्रकार श्रद्धा ज्ञान और चारित्र इन तीनों के विषय होनेपर ही रसायन औषध से अभीष्ट फल सिद्ध हो सकता है; अन्यथा नहीं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादिक में से भी एक या दो के नहीं, किंतु तीनों ही के तीनों के समुदाय का विषय होनेपर ही हेय व उपादिय तत्त्व अभीष्ट प्रयोजन को सिद्ध कर सकता है; अन्यथा नहीं। इसी बात को प्रकाशित करते हैं :-

श्रद्धानबोधानुष्ठानैस्तत्त्वमिष्टार्थसिद्धिकृत्।
समस्तैरेव न व्यस्तै - रसायनमिवौषधम्।।९४।।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनमें से एक या दो का नहीं किन्तु सबका तीनों ही का विषयभूत तत्त्व - वस्तु का यथार्थ स्वरूप इष्ट अर्थ अभ्युदय अथवा नि:श्रेयस को सिद्ध कर सकता है। जैसे कि श्रद्धा ज्ञान और चारित्र इन तीनों के होने पर ही रसायन औषध अभीष्ट फल - दीर्घ आयुष्य आदि को सिद्ध कर सकता है; अन्यथा नहीं। स्वास्थ्य के बढानेवाले और रोंगो को नष्ट करनेवाले पदार्थ को [१] रसायन कहते हैं।

व्यवहारमार्ग पर आरूढ होनेवाले को समाधिरूप निश्चयमार्ग के द्वारा कर्मशत्रुओं के निराकरण करने का उपदेश देते हैं :-

श्रद्धानगन्धसिन्धुरमदुष्टमुद्यदवगममहामात्रम्।
धीरोव्रतबलपरिवृत्तमारूढोरीन् जयेत्प्रणिधिहेत्या।।९५।।

श्रद्धान को गंधहस्ती के समान समझना चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार हस्ती अपने पक्ष में बल उत्पन्न करता और परपक्ष का उपमर्दन करता है। इसी तरह ज्ञान को नियन्ता समझना चाहिये; क्योंकि पीलवान की तरह वह भी, जिससे अभीष्ट की सिद्धि हो सके ऐसे उपाय - मार्ग का दिखानेवाला है। चारित्र को सेना के समान समझना चाहिये; क्योंकि वह भी विरुद्ध पक्ष के बल को रोकता व नष्ट करता है। इस प्रकार जिसका ज्ञानरूपी

---

१ दीर्घमायुः स्मृतिर्मेधा व्यारोग्यं तरुणं वयः।
प्रभावर्णस्वरौद्रार्यं देहेन्द्रियबलोदयम्।।
वाक्सिद्धि वृषतां कान्तिमवाप्नोति रसायनात्।
लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्।।इति।।

जिससे प्रशस्त रसरक्तादिक की प्राप्ति हो उसीको रसायन कहते हैं। अतएव उसके सेवन करने से दीर्घ आयु स्मरणशक्ति बुद्धि की प्रखरता विशिष्ट आरोग्य और वय में तरुणता प्राप्त होती है, प्रभा वर्ण और स्वर में उदारता आती है, शरीर और इन्द्रियों में बल का उदय हुआ करता है, वचन में सिद्धि पुष्टि और कांति की प्राप्ति हुआ करती है।

नियन्ता - पीलवान उल्लास को प्राप्त हो रहा है और जिसको चारित्ररूपी सैन्य ने चारों तरफ से घेर रक्खा है, ऐसे निर्दोष सम्यग्दर्शनरूपी गन्धहस्ती पर आरूढ हुए धीर - कातरतारहित पुरुष को समाधिध्यानरूपी शस्त्र के द्वारा प्रतिपक्षी कर्मों का निग्रह करना चाहिये - उन पर विजय प्राप्त करनी चाहिये।

उक्त उद्योतादिक का लक्षण बताते हैं :-

दृष्ट्यादीनां मलनिरसनं द्योतनं तेषु शश्वद् -
वृत्तिः स्वस्योद्यवनमुदितं धारणं निस्पृहस्य।
निर्वाहः स्याद्भवभयभृतः पूर्णता सिद्धिरेषां
निस्तीर्णिस्तु स्थिरमपि तटप्रापणं कृच्छ्रपाते।।९६।।

दर्शन ज्ञान चारित्र और तप इन चारों आराधनाओं में लगनेवाले मलों के दूर करने को उद्योत कहते हैं। इन्ही में इनके आराधक के नित्य एकतान होकर रहने को उद्यव कहते हैं। तथा लाभ पूजा ख्याति आदि की अपेक्षा न करके निराकुलतया इनके धारण करने को निर्वाह कहते हैं। इसी प्रकार संसार से भयभीत रहनेवाले आराधक के इनके पूर्ण हो जाने को सिद्धि कहते हैं। और परीषह तथा उपसर्गों के उपस्थित रहनेपर भी उनसे चलायमान न होकर इनके अंत तक पहुँचा देने को - क्षोभरहित होकर मरणान्त पहुँचा देने को निस्तीर्णि कहते हैं।

सम्यक्त्वादिक में लगनेवाले अतिचारों को बताते हैं :-

शङ्कादयो मला दृष्टेर्व्यत्यासानिश्चयौ मतेः।
वृत्तस्य भावनात्यागस्तपसः स्यादसंयमः।।९७।।

शङ्का आदिक (शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा अन्यदृष्टिसंस्तव) सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। संशय विपर्यय अनध्यवसाय ये तीन सम्यग्ज्ञान के दोष हैं। एक एक

व्रत की जो पाँच पाँच भावनाएँ बताई है जिनका कि आगे चलकर वर्णन करेंगे उनका छोड देना सम्यक्चारित्र के अतिचार हैं। इसी प्रकार प्राणी और इन्द्रियों में संयम धारण न करना तप का अतिचार है।

'उद्योतादिक के द्वारा मोक्षमार्ग का जो आराधन करना है'
ऐसा पहले कहा गया है। अतएव आराधना का लक्षण यहाँ बताते हैं :-

वृत्तिर्जातसुदृष्ट्यादेस्तद्गतातिशयेषु या।
उद्योतादिषु सा तेषां भक्तिरराधनोच्यते।।९८।।

जिसके सम्यग्दर्शनादिक परिणाम उत्पन्न हो चुके हैं ऐसे पुरुष की उन सम्यग्दर्शनादिक में रहनेवाले अतिशयों अथवा उद्योतादिक विशेषों में जो वृत्ति उसीको दर्शनादिक की भक्ति कहते हैं। और इस भक्ति का ही नाम आराधना है।

भावार्थ -: सम्यग्दर्शनादिक और उनके विशिष्ट स्वरूप के धारण करने को ही उनकी भक्ति कहते हैं; तथा उस भक्ति का ही नाम आराधना है।

केवल व्यवहारनय असद्विषयक है। अतएव जो मनुष्य निश्चयनय को छोडकर केवल व्यवहारनय का स्वार्थसिद्धि के लिये उपयोग करते हैं उनका यह स्वार्थ भी भ्रष्ट हो जाता है - सिद्ध नहीं होता। इसी बात को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं :-

व्यवहारमभूतार्थं प्रायो भूतार्थविमुखजनमोहात्।
केवलमुपयुञ्जानो व्यञ्जनवद्भ्रश्यति स्वार्थात्।।९९।।

निश्चयनय से विमुख बहिर्दृष्टि लोगों के अज्ञान के कारण निश्चयनय की अपेक्षा न करनेवाला और जिसमें इष्टविषय नहीं पाया जाता ऐसे प्रवृत्ति निवृत्ति रूप व्यवहार का ही प्राय: करके उपयोग करनेवाला मनुष्य स्वार्थ - मोक्षसुख से इस तरह से वंचित - भ्रष्ट हो जाता है जैसे कि - केवल - स्वररहित और इसीलिये विषय के प्रतिपादन करने में असमर्थ ककरादि व्यंजन - अक्षरों का ही उपयोग करनेवाला अज्ञानी मनुष्य स्वार्थ -

वाच्य अभिधेय से भ्रष्ट हो जाया करता है। अथवा केवल - घी चावल आदि से रहित अतएव इष्ट रसादि विषय से शून्य दाल आदि व्यंजन पदार्थ का ही उपयोग करनेवाला मनुष्य स्वार्थ - स्वास्थ्य आदि से भ्रष्ट हो जाया करता है।

आगम में ऐसा कहा है कि -

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालबुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोबजुया।।

अर्थ :- [१] ग्लान गुरु बाल या वृद्ध मुनियों की वैयावृत्य के लिये यदि लौकिकजनों के साथ संभाषण करना पडे अथवा लौकिकजनों की भाषा का व्यवहार करना पडे तो वह शुभ परिणामों से उपयुक्त होने के कारण निंदित नहीं है। किंतु इन वचनों का ऐसा अभिप्राय भी समझना चाहिये कि यदि उनकी वैयावृत्त्य के अधीन होकर लौकिक संभाषण में नितान्त आसक्त हो जाय - केवल व्यवहार का ही उपयोग करने लगे तो वह साधु प्रमत्त होकर ध्यानादिक से च्युत हो जाता है और स्वार्थ - उक्त मोक्षसुख से भी भ्रष्ट हो जाता है। अतएव निश्चय को न छोड़कर ही व्यवहार का उपयोग करना श्रेयस्कर है।

जिस प्रकार निश्चय के विना व्यवहारनय व्यर्थ है उसी प्रकार व्यवहार के बिना निश्चयनय भी कार्यकारी नहीं है; इस बात को व्यतिरेक मुख से बताते हैं :-

व्यवहारपराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति।
बीजादिना विना मूढः स सस्यानि सिसृक्षति।।१००।।

वह मूढ बीजादिक - बीज खेत खात जल ऋतु आदि के बिना ही सस्य - धान्य को उत्पन्न करना चाहता है जो कि व्यवहारपराङ्मुख - व्यवहारनय से रहित केवल निश्चयनय से ही कार्य सिद्ध करना चाहता है।

भावार्थ :- बिना व्यवहार के केवल निश्चय से भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। व्यवहारनय का कब अवलंबन लेना चाहिये और कब उसको छोडना चाहिये;

---

१ - रोगादिक से संक्लिष्ट को ग्लान कहते हैं।

सो बताते हैं :-

भूतार्थं रज्जुवत्स्वैरं विहर्तुं वंशवन्मुहुः।
श्रेयो धीरैरभूतार्थो हेयस्तद्विहृतीश्वरैः।।१०१।।

जिस प्रकार मनुष्य चलनेमें लकडी का तब तक सहारा लेते हैं जब तक कि बिना सहारे के ही चलने की शक्ति प्राप्त नहीं होती। किंतु शक्ति प्राप्त हो जानेपर उसका सहारा लेना छोड़ देते हैं। इसी प्रकार धीर - कातरतारहित मुमुक्षुओं को भी व्यवहारनय का तब तक अवलंबन लेना चाहिये जब तक कि उनको किरणों की तरह से स्वच्छन्द निरालंबनतया निश्चयनय में संचार करने की शक्ति प्राप्त नहीं होती। किंतु उसके प्राप्त हो जानेपर उसका अवलंबन लेना छोड देना चाहिये।

व्यवहार और निश्चयनय का लक्षण क्या है सो बताते हैं :-

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोसौ निश्चयस्तदभेददृक्।।१०२।।

निश्चयनय को सिद्ध करने के लिये जीवादिक पदार्थों से कर्ता कर्म करण आदि कारकों को जो भिन्नरूप से बतानेवाला है उसको व्यवहारनय कहते हैं। और जो उनमें परस्पर अभेद का प्रदर्शक हैं उसको निश्चयनय कहते हैं।

निश्चयनय दो प्रकार का है एक शुद्ध दूसरा अशुद्ध। इन दोनों का उल्लेख किस प्रकार से होता है सो बताते हैं :-

सर्वेपि शुद्धबुद्धैकस्वभावाश्चेतना इति।
शुद्धोऽशुद्धश्च रागाद्या एवात्मेत्येस्ति निश्चयः।।१०३।।

जितने भी जीव हैं, संसारी हो चाहे मुक्त; सभी शुद्ध - रागादि विभावों से रहित

और बुद्ध - ज्ञानरूप परिणत तथा एक स्वभाववाले हैं। इसको शुद्धनिश्चयनय कहते हैं। और रागद्वेषादि परिणामस्वरूप ही आत्मा है, इसको अशुद्धनिश्चयनय कहते हैं।

व्यवहारनय के दो भेद हैं; एक सद्भूत, दूसरा असद्भूत। इन दोनों ही का उद्देशपूर्वक लक्षण बताते हैं :-

सद्भूतेतरभेदाद्व्यवहारः स्याद् द्विधा भिदुपचारः।
गुणगुणिनोरभिदायामपि सद्भूतो विपर्ययादितरः।।१०४।।

सद्भूत और असद्भूत इस तरह व्यवहारनय के दो भेद हैं। गुण और गुणी में अभेद रहते हुए भी भेद की कल्पना करना इसको सद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। और इसके विरुद्ध - भिन्न वस्तुओं में अभेद की कल्पना करने को सद्भूत व्यवहारनय कहते हैं।

सद्भूत व्यवहारनय के भी दो भेद हैं - शुद्ध और अशुद्ध। इन दोनों का उद्देश बताते हुए, शुद्ध - सद्भूत के उल्लेख - आकार और पर्यायवाचक शब्दों को बताते हैं। -

सद्भूतः शुद्धेतरभेदाद् द्वेधा तु चेतनस्य गुणः।
केवलबोधादय इति शुद्धोऽनुपचरितसंज्ञोसौ।।१०५।।

सद्भूत व्यवहारनय भी दो प्रकार का है, एक शुद्ध दूसरा अशुद्ध। 'केवलज्ञानादिक-असहाय ज्ञानदर्शन प्रभृति गुण चेतन - जीव के हैं' इसको शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनुपचरित भी है।

आगे के पद्य के पूर्वार्ध में अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय का आकार और नाम बताते हैं। तथा उत्तरार्ध में अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का आकार दिखाते हैं।

मत्यादिविभावगुणाश्चित इत्युपचरितकः स चाशुद्धः।
देहो मदीय इत्यनुपचरितसंज्ञस्त्वसद्भूतः।।१०६।।

विभाव नाम बहिरंग निमित्त का है। उससे उत्पन्न होनेवाले धर्मों को विभाव गुण

कहते हैं। ज्ञान के मति श्रुत आदि जो भेद हैं वे सब ऐसे ही हैं। क्योंकि वे अपने प्रतिबंधक ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष की अपेक्षा से उत्पन्न होते हैं। फिर भी उनके विषय में 'मतिज्ञानादिक जीव के हैं' ऐसा व्यवहार करना इसको अशुद्ध सद्भूत कहते हैं। इसका दूसरा नाम उपचरित भी है।

ऊपर व्यवहारनय का असद्भूत जो भेद गिनाया है उसके भी दो भेद हैं। अनुपचरित और उपचरित। 'शरीर मेरा है' इस व्यवहार को अनुपचरित असद्भूत कहते हैं। क्योंकि यद्यपि शरीर और आत्मा भिन्न भिन्न हैं, किंतु उनमें परस्पर संश्लेष हो रहा है। उसकी अपेक्षा से अभेद की कल्पना करके ही ऐसा व्यवहार किया गया है। इसी प्रकार जिन दो भिन्न पदार्थों में ऐसा संबंध पाया जाय उनमें ऐसी अवस्था में इस नय का प्रयोग हुआ करता है।

व्यवहारनय के दूसरे भेद उपचरित असद्भूत का आकार बताते हुए प्रकृत विषय का - नयों के प्रकरण का उपसंहार करते हैं :-

देशो मदीय इत्युपचरितसमाह्वः स एव चेत्युक्तम्।
नयचक्रमूलभूतं नयषट्कं प्रवचनपटिष्टैः।।१०७।।

'यह देश मेरा है' इस तरह के व्यवहार को उपचरितासद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। क्योंकि इन दोनों पदार्थों में भेद रहेत हुए भी अभेद की कल्पना की गई है। और उनमें किसी भी प्रकार का संश्लेष भी नहीं पाया जाता। इस प्रकार ये छह नय हैं - शुद्धनिश्चय, अशुद्धनिश्चय, शुद्ध सद्भूत, अशुद्ध सद्भूत, अनुपचरितासद्भूत, उपचरितासद्भूत। जो अध्यात्म-शास्त्र का रहस्य जाननेवाले हैं उन्होंने इनको नयचक्र - समस्त नयों का मूलभूत बताया हैं।

श्रुतज्ञान के अंशविशेष को अथवा श्रुतज्ञानियों के अभिप्राय को नय कहते हैं। अतएव नय के अनेक भेद हैं फिर भी यहाँ पर हमने उसके अध्यात्मभाषा के द्वारा संक्षेप में मूल छह भेद बताये हैं। दूसरे ग्रंथों में आगमभाषा के द्वारा इन्ही नयों के नैगमादिक सात मूल भेद गिनाये हैं।

नय समीचीन नहीं, मिथ्या है, इस शंका का दो श्लोकों में निरसन करते हैं।

अनेकान्तात्मकादर्थादपोद्धृत्याञ्जसान्नयः ।
तत्प्राप्त्युपायमेकान्तं तदंशं व्यावहारिकम् ।।१०८ ।।
प्रकाशयन्न मिथ्या स्याच्छद्वात्तच्छास्त्रवत् स हि ।
मिथ्याऽनपेक्षोऽनेकान्तक्षेपान्नान्यस्तदत्ययात् ।।१०९ ।।

श्रुतज्ञान व्यवसायरूप - निश्चयात्मक है। उसका अपने विषय के एक देश में जो अभिप्राय है उसीको नय कहते हैं। अतएव वह भी सत्य है - वह मिथ्या नहीं हो सकता। क्योंकि जिस प्रकार शब्द से उसके अंश शब्द के अवयव प्रकृति प्रत्यय आदि में से किसी भी एक की भिन्न रूप में विवक्षा करके बतानेवाला व्याकरणशास्त्र मिथ्या नहीं हो सकता उसी प्रकार श्रुतज्ञान के विषयभूत पदार्थ के अंशोंमें से किसी भी एक की भिन्न रूप से कल्पना कर प्रकाशित करनेवाला नय भी मिथ्या नहीं हो सकता। जिस प्रकार 'देवदत्त रसोई बना रहा है' इत्यादि शब्द अनेकांतात्मक होते हैं - उनमें प्रकृति प्रत्यय आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं, और यथार्थ में समीचीन हैं; उसी प्रकार श्रुतज्ञान का विषयभूत पदार्थ भी अस्तित्व नास्तित्व नित्यत्व अनित्यत्व सामान्य सामानाधिकरण्य विशेषण विशेष्य प्रभृति अनेक धर्मात्मक और परमार्थतः सत् - समीचीन है - काल्पनिक नहीं है। जिस प्रकार शब्द का कोई भी एक अंश शब्द रूप को प्रकाशित करने में कारण और व्यवहार का साधक है उसी प्रकार उस वस्तु का भी एक एक अंश अनेकान्तात्मक वस्तु को प्रकाशित करने का उपाय और प्रवृत्ति निवृत्तिरूप व्यवहार का साधक है। जब कि वह स्वयं सत्य और सत्यव्यवहार के साधक वस्त्वंश को विषय करनेवाला है तब वह मिथ्या नहीं हो सकता। जो अपने ही विषयभूत धर्म की अपेक्षा करता है और शेष धर्मों की अपेक्षा नहीं करता वह मिथ्या माना जाता है; क्योंकि वह दूसरे अनेक धर्मों का अपलाप करता है। किंतु जो ऐसा नहीं है - जो पर्यायार्थिक द्रव्यार्थिक की और द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक की भी गौणतया अपेक्षा रखता है वह नय सत्य है; क्योंकि वह अपने विषयों को दूसरे धर्मों को अपलाप न करके सिद्ध करता है। वह स्याद्वाद - अनेकांतधर्म का अनुयायी है।

आत्मा को कुछ अंश में विशुद्धि कुछ में संक्लेश होनेपर
जो फल प्राप्त होता है उसको बताते हैं। -

येनांशेन विशुद्धिः स्याज्जन्तोस्तेन न बन्धनम्।
येनांशेन तु रागः स्यात्तेन स्यादेव बन्धनम्।।११०।।

आत्मा के जिन अंशों में विशुद्धि - रागद्वेष और मोह का उपशम पाया जाता है उन अंशों की अपेक्षा से जीव के कर्मबन्ध नहीं हुआ करता। किंतु जिन अंशों में रागादिक का आवेश पाया जाता है उनकी अपेक्षा से अवश्य ही बंध हुआ करता है।

भावार्थ :- यहाँ पर संवर के विषय में नय विभाग बताया गया है; जो कि इस प्रकार है :-

मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थान तक उत्तरोत्तर मंद मंदतर और मंदतम रूप से अशुद्ध निश्चयनय प्रवृत्त हुआ करता है। इनमें तीन प्रकार का उपयोग होता है, अशुभ शुभ और शुद्ध। मिथ्यादृष्टि सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में अशुभोपयोग होता है; किंतु वह क्रम से मंद मंदतर और मंदतम होता है। इसके बाद असंयत देशसंयत और प्रमत्त इन गुणस्थानों में शुभोपयोग होता है; किंतु वह क्रम से शुभ शुभतर और शुभतम होता है। तथा परंपरा से शुद्धोपयोग का साधक होता है। इसके अनंतर अप्रमत्त सातवें गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक शुद्धोपयोग होता है। यह शुद्धनयरूप है और इसमें यह विशेषता है कि इन गुणस्थानों की किसी भी विवक्षित एक देश में जघन्य मध्यम उत्कृष्ट तीन भेदों में से किसी भी रूप में यह हो सकता है।

इनमें से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में संवर नहीं होता। सासादनादिक गुणस्थानों में क्रम से नीचे लिखे अनुसार संवर हुआ करता है। बंधव्युच्छित्ति के विषय में जो त्रिभंगी बताई गई है उसके क्रम के अनुसार उत्तरोत्तर गुणस्थानों में यह संवर प्रकर्षतया हुआ करता हैं। किस किस गुणस्थान में किन किन प्रकृतियों का संवर होता है सो इस प्रकार है -

प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व परिणामों से जिन प्रकृतियों का बंध होता है उनकी व्युच्छित्ति

हो जानेपर सासादनादिक गुणस्थानों में उनका संवर हो जाया करता है। ये[१] प्रकृति १६ हैं। - १ मिथ्यात्व २ नपुंसक वेद ३ नरक आयु ४ नरक गति ५ एकेन्द्रिय ६ द्विन्द्रिय ७ त्रिन्द्रिय ८ चतुरिन्द्रिय जाति ९ हुण्डकसंस्थान १० असंप्राप्तासृपाटिका संहनन ११ नरकगत्यानुपूर्व्य १२ आतप १३ स्थावर १४ सूक्ष्म १५ अपर्याप्त १६ साधारण। जिनका कि अनंतानुबंधी कषाय के निमित्त से उत्पन्न हुए असंयम से एकेन्द्रिय से लेकर सासादन गुणस्थान तक के जीवों के बंध हुआ करता है उन पच्चीस प्रकृतियों का आगे चलकर- तृतीयादि गुणस्थानों में संवर हो जाता है। उनके नाम ये हैं - १ निद्रानिद्रा २ प्रचलाप्रचला ३ स्त्यानगृद्धि ४ अनंतानुबंधी क्रोध ५ मान ६ माया ७ लोभ ८ स्त्रीवेद ९ तिर्यगायु १० तिर्यग्गति ११-१४ चार संस्थान (१ न्यग्रोध परिमंडल २ स्वाति ३ कुब्जक ४ वामन) १५-१८ चार संहनन (१ वज्रनाराच २ नाराच ३ अर्धनाराच ४ कीलक) १९ तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य २० उद्योत २१ अप्रशस्त विहायोगति २२ दुर्भग २३ दुःस्वर २४ अनादेय २५ नीचगोत्र। तीसरे गुणस्थान में किसी भी प्रकृति की बंधव्युच्छित्ति नहीं होती अतएव इस अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का संवर भी नहीं होता। तीसरे गुणस्थान में आयुकर्म का बंध नहीं हुआ करता। तो भी इसको संवर नहीं कह सकते; क्योंकि आगे चलकर उसका बंध होता है। पाँचवे गुणस्थान में उन १० प्रकृतियों का संवर हुआ करता है जिनका कि एकेन्द्रिय से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक के जीव अप्रत्याख्यान कषाय के निमित्त से उत्पन्न हुए असंयम के द्वारा बंध किया करते हैं। वे दश प्रकृति ये हैं - १ अप्रत्याख्यान क्रोध २ मान ३ माया ४ लोभ ५ मनुष्य आयु ६ मनुष्यगति ७ औदारिकशरीर ८ औदारिक अङ्गोपाङ्ग ९ वज्रर्षभनाराचसंहनन १० मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य। जिनका कि प्रत्याख्यान कषाय के उदय से उत्पन्न हुए असंयम के द्वारा एकेन्द्रिय से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक

---

१ 'सोलसपणवीसणभं दस चउ छक्केक्क बंधवोच्छिण्णा।
दुगतीस चदुरपुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को।।' इति।

जिस गुणस्थान में जिन प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति बताई गई है उस गुणस्थान तक उनका बंध हुआ करता है; आगे के गुणस्थानों में उनका बंध नहीं होता। अतएव वहाँ पर उनका संवर माना जाता है। प्रथमादि गुणस्थानोंमें से किस में कितनी प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति होती है सो इस प्रकार है - १- १६, २- २५, ३- ०, ४- १०, ५- ४, ६- ६, ७- १, ८- ३६, ९- ५, १०- १६, ११- १२, १३- १।

के जीवों के बंध हुआ करता है ऐसी चार प्रकृति हैं; प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ। इनका छठे आदि गुणस्थानों में संवर हुआ करता है। प्रमाद के निमित्त से असातावेदनीय अरति शोक अस्थिर अशुभ और अयशकीर्ति इन छह प्रकृतियों का आस्रव होता है। अतएव छठे गुणस्थान तक इनका बंध होता है और सातवें से संवर हो जाता है। देवायु के बंध का प्रारंभ प्रमत्त के ही होता है; किंतु उससे निकटवर्ती अप्रमत्त गुणस्थान में भी उसका बंध हुआ करता है। अतएव उसके आगे आठवें से उसका संवर होता है। संज्वलन कषाय के निमित्त से जिन प्रकृतियों का आस्रव होता है उनका उसके अभाव में संवर हो जाया करता है। सामान्य से संज्वलन कषाय के तीन भाग हैं - तीव्र मध्यम जघन्य। ये तीन प्रकार के कषाय क्रम से आठवें नौवें और दशवें गुणस्थान में होते हैं। तीव्र संज्वलन से बँधनेवाली ३६ प्रकृतियों का बंध आठवें तक होता है। उसके आगे उस कषाय के न रहनेपर उनका संवर हो जाता है। किंतु आठवें गुणस्थान में भी इन ३६ प्रकृतियोंमें से पहले भागतक निद्रा और प्रचला इन दोका, तथा दूसरे भाग तक १ देवगति २ पञ्चेन्द्रिय जाति ३ वैक्रियिक ४ आहारक ५ तैजस ६ कार्माणशरीर ७ समचतुरस्रसंस्थान ८ वैक्रियिकअङ्गोपाङ्ग ९ आहारकअङ्गोपाङ्ग १० वर्ण ११ गंध १२ रस १३ स्पर्श १४ देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य १५ अगुरुलघु १६ उपघात १७ परघात १८ उच्छ्वास १९ प्रशस्तविहायोगति २० त्रस २१ बादर २२ पर्याप्त २३ प्रत्येक शरीर २४ स्थिर २५ शुभ २६ सुभग २७ सुस्वर २८ निर्माण २९ आदेश ३० तीर्थंकर, इन तीस प्रकृतियों का; और तीसरे भाग तक १ हास्य २ रति ३ भय ४ जुगुप्सा इन चार प्रकृतियों का बंध हुआ करता है। आगे आगे के स्थानों में उनका संवर हो जाया करता है। मध्यम कषाय नवम गुणस्थान में होता है। उसके निमित्त से अनिवृत्तिबादर के आदि के संख्यात भागों तक पुरुषवेद और संज्वलन क्रोध का मध्य के संख्यात भागों तक संज्वलन मान और माया का, तथा अंत के भाग तक लोभ का बंध हुआ करता है। उसके आगे इस कषाय के न रहने से इन पाँचो प्रकृतियों का संवर हो जाता है। मंद संज्वलन कषाय के उदय से पाँच ज्ञानावरण चार अंतराय यशस्कीर्ति उच्चगोत्र इन सोलह प्रकृतियों का बंध दशवें गुणस्थान - सूक्ष्मसांपराय तक हुआ करता है। इसके आगे इनका संवर हो जाता है। ग्यारहवें उपशांतकषाय गुणस्थान और बारहवें क्षीणकषाय तथा तेरहवें सयोगकेवल में योग के निमित्त से एक सातावेदनीय कर्म का ही बंध होता है। उसके आगे चौदहवें

अयोगकेवल में उसका भी संवर हो जाता है।

यहां पर शुद्ध निश्चयनय की प्रवृत्ति है अतएव शुद्ध बुद्ध और एक स्वभाव निजात्मा ही यहां पर ध्येय है। यहां पर शुद्धोपयोग घटित होता है; क्योंकि यहां ध्येय शुद्ध, अवलंबन शुद्ध और आत्मस्वरूप साधक भी शुद्ध ही है इसीको भावसंवर कहते हैं। यह न तो संसार के कारणभूत मिथ्यात्व या रागादिकरूप अशुद्ध पर्यायों की तरह अशुद्ध ही है, और न फलभूत केवलज्ञानरूप शुद्ध पर्याय के समान शुद्ध ही है। किंतु अशुद्ध और शुद्ध दोनों से विलक्षण एक तीसरी ही अवस्था है। जो कि शुद्धात्मा के अनुभवरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक और मोक्ष का कारण तथा एक देश व्यक्त और एक देश ही निरावरण है।

नित्य और अत्यंत निर्मल तथा स्व और पर पदार्थों के प्रकाशन करने में समर्थ चिदानंदात्मक परमात्मा की भावना से उद्‌भूत शुद्ध निजात्मा के अनुभवरूप निश्चय रत्नत्रय धर्म को अमृत के समुद्र के समान समझना चाहिये। उसमें अवगाहन करनेवालों के यदि उसके रस का लेशमात्र भी उदय या उदीर्णा को प्राप्त हो जाता है तो वही अपनी उपासना करनेवालों का अनुग्रह - कल्याण कर देता है। यही बताते हैं :-

कथमपि भवकक्षं जाज्वलद्दुःखदाव -
ज्वलनमशरणो ना बम्भ्रमन् प्राप्य तीरम्।
श्रितबहुविधसत्त्वं धर्मपीयूषसिन्धो -
रसलवमपि मज्जत्कीर्णमृध्नोति विन्दन्।।१११।।

जिसमें दुःखरूपी दावानल बार-बार और तीव्र रूप से जल रहा है ऐसे संसाररूपी अरण्य में अत्यंत भ्रमण करते हुए जो शरणरहित पुरुष किसी भी तरह - बडे कष्टों से धर्मरूपी अमृत के समुद्र के उस तीर को कि जिसका निकटभव्य प्रभृति अनेक जीवोंने आश्रय ले रक्खा है, प्राप्त कर लेते और उसमें अवगाहन करनेवाले अत्यंत धन्य मुमुक्षुजनों - घटमान योगियों के द्वारा उद्‌गीर्ण - प्रकाशित रस के लेशमात्र को भी पा लेते हैं; वे ज्ञान संयम आदि के द्वारा तथा हर्ष बल ओज और वीर्य आदि के द्वारा समृद्ध हो जाते हैं।

धर्माचार्य के द्वारा जिसकी बुद्धि में व्युत्पन्नता - रहस्यज्ञता प्राप्त हो गई है ऐसा निकटभव्य पुरुष परिग्रहत्यागादिक के द्वारा उसी भवमें या कुछ ही भवों में अपनी आत्मा को संसाररहित

बना देता है, यह बताते हैं :-

त्यक्त्वा सङ्गं सुधीः साम्यसमभ्यासवशाद् ध्रुवम्।
समाधिं मरणे लब्ध्वा हन्त्यल्पयति वा भवम्।।११२।।

प्रमाण नय निक्षेप और अनुयोगों के द्वारा जिसकी बुद्धि में व्युत्पन्नता प्राप्त हो गई है ऐसा भव्य पुरुष यदि चरमशरीरी हो तो उसी भव में संसार को नष्ट कर देता है मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है। यदि चरमशरीरी न हो तो वह समतारूप या सामायिकरूप परिणामों का भले प्रकार अभ्यास करके उसकी निरंतर की गई भावना से परिग्रह का त्याग कर और मरण समय में समाधि - रत्नत्रय की एकाग्रता को धारण कर संसार की मर्यादा-भवों के प्रमाण को बिलकुल कम कर देता है - कुछ ही भवों में मुक्त हो जाता है।

अभेद समाधि के माहात्म्य की प्रशंसा करते हैं :-

अयमात्मात्मनात्मानमात्मन्यात्मन आत्मने।
समादधानो हि परां विशुद्धिं प्रतिपद्यते।।११३।।

जिसको स्वसंवेदन के द्वारा भले प्रकार साक्षात्कार हो चुका है ऐसा जीव इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हुए - क्षायोपशमिक ज्ञानमय निजात्मस्वरूप से हटकर शुद्ध चिदानंदस्वरूप निजात्मा की सिद्धि के लिये निर्विकल्प निजात्मामें स्वसंवेदनरूप निजात्मा ही के द्वारा शुद्ध चिदानंदस्वरूप निजात्मा का ही भले प्रकार ध्यान करके घातिकर्मों के क्षय से उत्पन्न हुई अथवा समस्त कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुई विशुद्धि को प्राप्त कर लेता है।

ध्यान की सामग्री का क्रम और उससे प्राप्त होनेवाले
साक्षात् तथा परंपरा फल को बताते हैं -

इष्टानिष्टार्थमोहादिच्छेदाच्चेतः स्थिरं ततः।
ध्यानं रत्नत्रयं तस्मात् तस्मान्मोक्षस्ततः सुखम्।।११४।।

जिससे कि इष्ट और अनिष्ट पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता किंतु इष्टमें प्रीति - राग होता और अनिष्ट में अप्रीति - द्वेष होता है उस मोह के और तत्सदृश दूसरे भी भावों के नष्ट हो जाने से चित्त में स्थिरता - निश्चलता प्राप्त होती है। मन के स्थिर हो जाने से ध्यान होता है और ध्यान से रत्नत्रय की पूर्णता होती है। रत्नत्रय के पूर्ण हो जाने से मोक्ष की सिद्धि और मोक्ष से अनंत सुख की प्राप्ति होती है।

शिव - कल्याणरूप है बुद्धि जिनकी और जिन्होंने सुमना - देवों तथा विद्वानों को तृप्त करने के लिये जिनेन्द्र भगवान् के आगमरूपी क्षीरसमुद्र को भले प्रकार मथकर धर्मामृत को निकाल प्रकाशित किया है ऐसे श्रीमान आशाधर सदा जयवंत रहो। तथा हरदेव नामक प्रसिद्ध वे भव्यात्मा इस ग्रंथ को समृद्ध करें कि जिनके उपयोग के लिये उन्ही आशाधर ने इस ग्रंथ की टीकारूपी शुक्ति की सुखपूर्वक रचना की है।

इति श्री परमपूज्य धर्मसाम्राज्यनायक योगींद्रचूडामणि सिद्धांतपारंगत, चारित्रचक्रवर्ती
श्री १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के आदेश से ज्ञानदान के लिये
श्री प. पू. चा. च. आ. श्री १०८ शांतिसागर दिगंबर जैन जीर्णोद्धारक
संस्था की ओर से छपे हुए श्री महापण्डित श्री आशाधरकृत
अनगारधर्मामृत की हिंदी टीका विषैं
प्रथम अध्याय संपूर्ण भया।।१।।
ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण वीर नि. सं. २४८१

श्री वीतरागाय नमः

(वीर संवत् २४८१) ।।ॐ नमः सिद्धेभ्यः।। (ग्रंथ प्रकाशन, समिति फलटण

।।महापंडित श्री आशाधर कृत अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका।।

किन किन उपायों से व्यवहार मोक्षमार्ग का आराधन करनेवाला निश्चय मोक्षमार्ग को सिद्ध कर लेता है ? तो इसके उत्तर में पहले यह कहा गया है कि 'उद्योत उद्यव निर्वाह सिद्धि और निस्तरण इन उपायों से उसके आराधन करनेवालें को निश्चय मोक्षमार्ग की सिद्धि होती ही है।' किंतु यहां पर चार आराधनाओं में से पहली सम्यग्दर्शन आराधना का प्रकरण है; अतएव उस विषय में यह समझ लेना आवश्यक है कि अपनी कारणसामग्री के मिल जानेपर मुमुक्षु भव्यों के यद्यपि सम्यग्दर्शन उद्भूत हो जाता है; फिर भी वह निकट भव्यों के भी सिद्धि - पूर्णता का संपादन करने के लिये उस चारित्र की अपेक्षा रखता है - बिना उस चारित्र की सहायता के सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता कि जिसकी प्रकर्षता उत्तरोत्तर बढती चली जा रही हो। इसी बात को यहाँ पर कहते हैं :-

आसंसारविसारिणोऽन्धतमसान्मिथ्याभिमानान्वया-
च्च्युत्वा कालबलान्निमीलितभवानन्त्यं पुनस्तद्बलात्।
मीलित्वा पुनरुद्गतेन तदपेक्षेपादविद्याच्छिदा,
सिद्ध्यै कस्यचिदुच्छ्रयत् स्वमहसा वृत्तं सुहृन्मृग्यते।।१।।

यह अनादिमिथ्यादृष्टि जीव, समस्त संसार में फैले हुए - अपने कार्य से संपूर्ण जगत् को व्याप्त करनेवाले विपरीताभिनिवेशरूप भावमिथ्यात्व से अथवा दुराग्रह को निमित्तभूत युक्तियों के द्वारा उत्पन्न हुआ अहंकार जिसका अनुगमन करता है ऐसे अंधतम - द्रव्यमिथ्यात्व से यद्वा दुर्नयों के विलास से अनंत संसार का निमीलन - संवरण करता हुआ - तिरस्कार करता हुआ किसी प्रकार - कालादि लब्धि के निमित्त से अथवा कार्यसिद्धि के लिये अनुकूल समय की सामर्थ्य से दूर हुआ। किंतु फिर भी वह उसी मिथ्यात्व की सामर्थ्य से उसके प्रभाव में तिरोहित हो गया। क्योंकि अनादि - मिथ्यादृष्टि भव्य कालादि लब्धि के निमित्त से अंतर्मुहूर्त के लिये औपशमिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है। परंतु शीघ्र ही उससे च्युत होकर फिर मिथ्यात्वपरिणामों से ही नियम से आक्रांत हो जाता है जैसा कि कहा भी है -

'निशीथं वासरस्येव निर्मलस्य मलीमसम्।
पश्चादायाति मिथ्यात्वं सम्यक्स्वस्यास्य निश्चितम्।।' इति।

जिस प्रकार निर्मल दिन के बाद मलीमस रात्रि का आगमन अवश्य ही होता है। उसी प्रकार इस अनादि - मिथ्यादृष्टि जीव के प्रथम ही उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन के बाद मिथ्यात्वपरिणाम भी नियम से होते हैं।

ऐसा होने पर भी उस अंधतम - द्रव्यमिथ्यात्व का प्रध्वंस हो जाने से अविद्या - अज्ञान - कुमति कुश्रुत और विभङ्ग अथवा संशय विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीन अज्ञानों का छेदन करनेवाला वह सम्यग्दर्शनरूप आत्मीय अथवा निज तेज फिर से उद्भूत होता है। किन्तु वह सिद्ध - शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये अथवा अपना उत्कर्ष और पर का अपकर्ष सिद्ध करने के लिये किसी किसी के ही - निकटभव्य के ही अथवा विजिगीषु के ही मित्र के समान बढते हुए चारित्र के साहाय्य की अपेक्षा करता है। क्योंकि जिस प्रकार मित्र की सहायता के बिना विजय प्राप्त नहीं हो सकती उसी प्रकार चारित्र की सहायता के बिना सम्यग्दर्शन भी सिद्धिलाभ - मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

मुमुक्षुओं को मिथ्यात्व के बढानेवाली या उपस्कृत करनेवाली सामग्री को दूर करने का उपदेश देते हैं :-

दवयन्तु सदा सन्तस्तां द्रव्यादिचतुष्टयीम्।
पुंसां दुर्गतिसर्गे या मोहारेः कुलदेवता।।२।।

जिस प्रकार विजिगीषुओं को प्रतिपक्षियों की दुर्गति करने में कुलदेवी साहाय्य किया करती है उसी प्रकार मनुष्यों को मिथ्याज्ञान या नरकादि दुर्गतियों को प्राप्त कराने में द्रव्यादिक की चौकडी मिथ्यात्व की सहायता किया करती है। पर समय के अनुसार मानी हुई कुदेवादिक की मूर्तिप्रभृति को मिथ्यात्व का द्रव्य, उसको बढानेवाले तीर्थ आदि अनायतनों को उसका क्षेत्र, संक्रांतिग्रहण प्रभृति मिथ्यादर्शन के बढानेवाले समय को उसका काल, और शंका कांक्षा आदि परिणामों को मिथ्यात्व का भाव कहते हैं। यह द्रव्यादि की चौकडी मिथ्यात्व को तैयार करती है और मनुष्यों के लिये कुज्ञान तथा नरकादि दुर्गतियों को उत्पन्न करती है। अतएव सत्पुरुषों को उचित है कि वे सदा उसको दूर करने का ही प्रयत्न करें।

मिथ्यात्व का कारण और लक्षण बताते हैं :-

मिथ्यात्वकर्मपाकेन जीवो मिथ्यात्वमृच्छति।
स्वादुं पित्तज्वरेणेव येन धर्मं न रोचते।।३।।

मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीवों के जो भाव होते हैं उनको मिथ्यात्व कहते हैं; जिनसे कि उस जीव को धर्म की तरफ रुचि नहीं होती। क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्म मद्य के समान माना है। अतएव इसके उदय से जीव वस्तुतत्त्व में अनेक प्रकार से मोहित - मूर्च्छित हुआ करता और विपरीत अभिनिवेश से आक्रांत-ग्रस्त हो जाया करता है। इसीलिये वह वस्तु के वास्तविक स्वरूप का श्रद्धान नहीं कर सकता। और धर्म के विषय में उसकी रुचि भी नहीं होती। जिस तरह से कि पित्तज्वरवाले

मनुष्य को स्वादु - मधुर रस भी रुचिकर नहीं होता उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को भी वास्तविक धर्म रुचिकर नहीं होता।

मिथ्यात्व के भेदों को उसके प्रणेताओं की अपेक्षा से बताते हैं :-

बौद्धशैवद्विजश्वेतपटमस्करिपूर्वकाः।
एकान्तविनयभ्रान्तिसंशयज्ञानदुर्दृशः।।४।।

मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं - एकान्त विनय विपर्यय संशय और अज्ञान। किसी एक धर्म को - अंश को देखकर समस्त वस्तु को सर्वथा वैसा ही मानता इसको एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं। और वैसा मानने या प्रणयन करनेवाले बौद्धादिकों को एकान्तमिथ्यादृष्टि कहते हैं। समीचीन और मिथ्या दोनों ही प्रकार के देव गुरु शास्त्र को समान समझकर वैसी ही दोनों की एक सी भक्ति आदि करना, इसको विनयमिथ्यात्व कहते हैं। और इसके प्रणेता शैवादिकों को वैनयिक कहते हैं। वस्तुतत्त्व के विपरीत श्रद्धान को विपर्यय-मिथ्यात्व और उसके प्रणेता याज्ञिक ब्राह्मणादिकों को विपरीतमिथ्यादृष्टि कहते हैं। 'केवली केवलहारी ही होते हैं अथवा उसके विपरीत' यद्वा 'स्त्री को उसी भव से मोक्ष होता है या नहीं' इस तरह की जिसमें चलायमान प्रतीति पाई जाय उस मिथ्या श्रद्धान को संशय-मिथ्यात्व और उसके प्रणेता श्वेताम्बरादिक को संशयमिथ्यादृष्टि कहते हैं। सर्वज्ञादि के विषय में किसी भी प्रकार का विश्वास न करने को या 'अज्ञान से ही मोक्ष होती है' इस श्रद्धान को अज्ञानमिथ्यात्व कहते हैं। और उसके प्रणेता मस्करी आदि को अज्ञान-मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

पार्श्वनाथ भगवान के तीर्थ में और महावीर स्वामी के समय में मस्करीपूरण नाम का एक ऋषि हो गया है। वह ग्यारह अंग का पाठी था। वह चाहता था कि मैं केवलज्ञान उत्पन्न होते ही वीर भगवान् की दिव्यध्वनि सुनूं - मेरे निमित्त से ही उनकी दिव्यध्वनि खिरना शुरू हो ओर मैं उनका गणधर बनूं। इसलिये वह केवलज्ञान होते ही महावीरस्वामी के समवशरण में गया। किंतु उसके निमित्त से भगवान् की दिव्यध्वनि न निकली और गौतम के निमित्त से निकली। इसलिये उसको यह मत्सरता उत्पन्न हुई कि इन्होंने ग्यारह

अंग के धारक मेरे निमित्त से अपनी दिव्यध्वनि का निर्गम न किया किंतु अपने शिष्य गौतम के निमित्त से किया। इस मत्सरता के कारण वह विरुद्ध होकर और ये सर्वज्ञ ही नहीं ऐसा मानकर समवशरण के बाहर आया और आकर उसने अपना यह मत प्रकाशित किया 'अज्ञान से ही मोक्ष होता है'। अतएव अज्ञानमिथ्यात्व का प्रणेता मस्करी माना जाता है।

पाँचों प्रकार के मिथ्यात्वों में दोष दिखाने के अभिप्राय से क्रमानुसार पहले एकान्तमिथ्यात्व के दोष बताते हैं -

अभिसरति यतोऽङ्गी सर्वथैकान्तसंवित् -
परयुवतिमनेकान्तात्मसंवित्प्रियोपि।
मुहुरुपहितनानानबंधदुःखानुबंधं
तमनुषजति विद्वान् को नु मिथ्यात्वशत्रुम्।।५।।

जिसके निमित्त से यह प्राणी अपनी अनेकान्तसंवित्तिरूप प्रिया - वल्लभा के रहते हुए भी परकान्ता के समान सर्वथैकान्ता संवित्ति से अभिसरण करने लगता है, और इसीलिये जो विविध प्रकार से बंधों - प्रकृति आदि कर्मबंधों अथवा रस्सी आदि के द्वारा होनेवाले बंधों से उत्पन्न हुए दुःखों की परंपराओं को उन प्राणियों के लिये पुनः पुनः उपस्थित करता है, ऐसे मिथ्यात्वशत्रु से भला ऐसा कौन विद्वान होगा जो कि संबंध रखना चाहे? कोई भी नहीं।

भावार्थ :- जिस प्रकार लोकमें विचारशील पुरुष व्यसनो में फँसाकर दुःख भुगानेवाले को अपना शत्रु समझकर छोड देते है या उससे संबंध नहीं करते। उसी प्रकार मुमुक्षु ज्ञानी भव्यों को आत्मस्वरूप से हटाकर परस्वरूप में मोहित कर देनेवाले और विविध प्रकार के दुःखों को देनेवाले तथा उनके कारणों को संचित करनेवाले मिथ्यात्व को शत्रु समझकर छोड देना चाहिये और उससे संबंध नहीं रखना चाहिये।

विनयमिथ्यात्व की निंदा करते हैं -

शिवपूजादिमात्रेण मुक्तिमभ्युपगच्छताम्।
निशङ्कं भूतघातोयं नियोगः कोपि दुर्विधेः।।६।।

शिवपूजा या गुरुपूजा आदि के करने मात्र से ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है, जो ऐसा माननेवाला है उनका दुर्दैव निःशंक होकर प्राणिवध में प्रवृत्त हो सकता है। अथवा उनका दुरागम - दूषित सिद्धांत प्राणिवध करने के लिये मनुष्यों को नियम से और अच्छी तरह से प्रवृत्त कर देता है।

भावार्थ :- इसका कारण यह हो सकता है कि महादेव को उनके सिद्धांत में भूतों का संहार करनेवाला माना है। इसलिये उनका सिद्धांत आदर्श को पूज्य बताकर पूजकों को आदर्श के अनुसार चलने का - भूतघात - प्राणिवध करने का अवश्य ही उपदेश देता है। अतएव उसकी पूजामात्र से मुक्ति माननेवाले वैनयिक भी निःशंक होकर उस कर्म में प्रवृत्त हो सकते हैं।

विपरीतमिथ्यात्व को छोडने के लिये प्रेरणा करते हैं :-

येन प्रमाणतः क्षिप्तां श्रद्दधानाः श्रुतिं रसात्।
चरन्ति श्रेयसे हिंसां स हिंस्या मोहराक्षसः।।७।।

अपना हित चाहनेवालों को उस विपरीताभिनिवेश के उत्पन्न करनेवाले मोहकर्मरूपी राक्षस - निशाचर का ही वध करना उचित है; जिसके कि वश में पडकर ये प्राणी- विपरीतमिथ्यादृष्टि लोक प्रमाण से - 'वेद आप्तप्रणीत नहीं है; क्योंकि वह पशुवध का उपदेश देता है' इत्यादि युक्तियों के द्वारा खण्डित किये जानेपर भी उस श्रुति - वेदवाक्य का ही श्रद्धान करते और कल्याण के लिये - जिससे स्वर्गादिक की प्राप्ति हो सके, उस पुण्य के लिये हिंसा का आचरण किया करते हैं।

संशयमिथ्यात्व की निंदा करने के अभिप्राय से कलिकाल में संशयमिथ्यादृष्टियों के साहाय्य को प्रकाशित करते हैं :-

अन्तःस्खलच्छल्यमिव प्रविष्टं रूपं स्वमेव स्ववधाय येषाम्।
तेषां हि भाग्यैः कलिरेष नूनं तपत्यलं लोकविवेकमश्नन्।।८।।

जिनका कि निज का वह स्वरूप जिसमें कि पूर्वोक्त 'केवली कवलाहारी हैं या अन्य प्रकार के, स्त्री उसी भव से मुक्त होती या नहीं,' इस तरह की चलायमान प्रतीति शल्य - काँटे की तरह से घुसी हुई है, और इसीलिये जो अपना ही वध करनेवाला है; क्योंकि संशय मिथ्यादर्शन भी आत्मस्वरूप से विपरीत ही हैं; और इसीलिये वह भी आत्मा का घातक ही है। मालूम पडता है कि ऐसे पुरुषों के भाग्य से ही यह कलिकाल नियम से लोकों के - व्यवहर्त्ता पुरुषों के विवेक - युक्तायुक्त की विचार शक्ति का संहार करता हुआ अच्छी तरह से अपने प्रताप को प्रकट कर रहा है। यहां पर कलि के विषय में ऐसा कहकर, श्वेतांबर मत कलिकाल में ही प्रकट हुआ है, इसका स्मरण दिलाया है। क्योंकि पांच प्रकार के मिथ्यात्वमें से संशय मिथ्यात्व को पुष्ट करनेवाला श्वेताम्बर मत कलिकाल में उद्भूत हुआ है। शेष चार प्रकार के [१] द्रव्य मिथ्यात्व के प्रणेता कलि के पहले ही उत्पन्न हो चुके थे।

अज्ञानमिथ्यादृष्टियों के दुर्विलासों पर खेद प्रकट करते हैं :-

युक्तावनाश्वस्य निरस्य चाप्तं भूतार्थमज्ञानतमोनिमग्नाः।
जनानुपायैरतिसंदधानाः पुष्णन्ति ही स्वव्यसनानि धूर्ताः।।९।।

जिस प्रकार सुख पदार्थ अवश्य है क्योंकि उसका कोई बाधक प्रमाण संभव नहीं है। इसी प्रकार कोई न कोई सर्वज्ञ अवश्य ही है; क्योंकि उसका भी बाधक - उसके विरुद्ध - 'सर्वज्ञ कोई नहीं है' इस बात को सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण संभव नहीं है। यह बात निश्चित है। इत्यादि सर्वज्ञ की साधक युक्तियों पर विश्वास न करके; बल्कि

१ - यहां पर मिथ्यात्व ही समझना चाहिये। क्योंकि भावरूप मिथ्यात्व सदा ही रहा करता है। किंतु द्रव्य - मिथ्यात्व की - जिससे कि भावमिथ्यात्व की पुष्टि होती है और तदनुरूप देवगुरुशास्त्र की तथा उनकी मूर्ति आदि की कल्पना और रचना हुंडावसर्पिणी काल में ही हुआ करती है।

परमार्थतः सत् - प्रमाण से सिद्ध होनेपर भी उस आप्त परमेष्ठी का निरसन करके, बडे दुःख की बात है कि, अज्ञान के अंधकार में बिलकुल डूबे हुए कुछ धूर्त लोक संसार के लोगों को अनेक प्रकार के उपायों से ठगते फिरते हैं और उससे अपने व्यसनों को पुष्ट किया करते हैं।

भावार्थ :- जिन पुरुषों को परमार्थ और यथार्थ देव गुरु शास्त्र का श्रद्धान नहीं होता है ऐसे लोक वञ्चना आदि अनेक उपायों से अपने व्यसनों को ही किया करते हैं -

प्रकारांतर से मिथ्यात्व के भेदों को गिनाते हुए यह बात बताते हैं कि वह मिथ्यात्व सर्वदा और सर्वत्र जीव का अपकार ही करता है-

तत्त्वारुचिरतत्त्वाभिनिवेशस्तत्त्वसंशयः।
मिथ्यात्वं वा क्वचित्किंचिन्नाश्रेयो जातु तादृशम्।।१०।।

तत्त्व में अरुचि, अतत्त्व का अभिनिवेश - श्रद्धान - आग्रह या रुचि, तथा तत्त्व का संशय, इस तरह मिथ्यात्व तीन प्रकार का है इन तीनों में से एक भी ऐसा नहीं है जो कि कही भी और कभी भी जीव का जरा भी कल्याण कर सके। अतएव इनमें से किसी का भी आश्रय लेना उचित नहीं है। क्योंकि संसार में मिथ्यात्व या उसके किसी भेद के समान जीव का अकल्याण करनेवाला कोई भी पाप नहीं है।

जिनोक्त तत्त्व ही ठीक हैं - मोक्ष के कारण हैं या अन्य ? इस तरह की जिसमें समीचीन या मिथ्या किसी भी तरह की प्रतीति इकतर्फा न होकर चलायमान प्रतीति रहती है; उसको तत्त्वसंशय कहते हैं; जैसा कि पहले भी बताया गया है।

दूसरों के उपदेश से उत्पन्न होनेवाले गृहीतमिथ्यात्व को अतत्त्वाभिनिवेश कहते हैं। इसके ३६३ भेद हैं जैसा कि आगम में बताया गया है -

'भेदाः क्रियाऽक्रियावादिविनयाज्ञानवादिनाम्।
गृहीतासत्यदृष्टिनां त्रिषष्टित्रिशतप्रमाः।।' इति।

क्रियावादी अक्रियावादी विनयवादी और अज्ञानवादी इन गृहीत मिथ्यादृष्टियों के तीनसौ त्रेसठ [१] भेद हैं।

वस्तुतत्त्व में स्वभावतः जो अनादिकाल से अश्रद्धा चली आती है उस अगृहीत मिथ्यात्त्व को तत्त्वारुचि कहते हैं। यथा

'एकेन्द्रियादिजीवानां घोराज्ञानविवर्तिनाम्।
तीव्रसंतमसाकारं मिथ्यात्वमगृहीतकम्।।' इति।।

घोर अज्ञान में पडे हुए एकेन्द्रियादि जीवों के जो तीव्र अंधकार के समान अश्रद्धान है उसको अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

जो मिथ्यात्व के दूर करने में तत्पर रहता है उसकी प्रशंसा करते हैं -

यो मोहसप्तार्चिषि दीप्यमाने चेक्लिश्यमानं पुरुषं झषं वा।
उद्धृत्य निर्वापयतीद्धविद्यापीयूषसेकैः स कृती कृतार्थः।।११।।

जलती हुई मोह - मिथ्यात्वरूप सप्तार्ची - अग्नि में या उसके द्वारा अत्यंत और बारबार संतप्त हुए मत्स्यों के समान पुरुषों को जो विद्वान् उससे निकाल कर प्रकाशमान प्रमाण नय प्रभृति अधिगमरूपी सुधा का सेक - सिञ्चन कर शांत बनाते हैं वे ही महाभाग सफलमनोरथ और धन्य हैं।

सप्तार्चि नाम अग्नि का है; क्योंकि उसमें सप्त -सात अर्चि - किरणें रहती हैं - नीचे की तरफ को छोडकर सातों दिशाओं में उसकी सात ज्वालाएँ निकला करती हैं। इसी अर्थ को ध्यान में रखकर यहां पर मोह को सप्तार्चि की उपमा दी है। इससे किसी किसीने जो मिथ्यात्व के सात भेद माने हैं सो भी इसी में अंतर्भूत हो जाते हैं; यह बात सूचित की है। सात भेदों के नाम इस प्रकार हैं-

---

१ इसका विशेष स्वरूप ज्ञानदीपिका में देखना चाहिये।

'ऐकान्तिकं सांशयिकं च मूढं स्वाभाविकं वैनयिकं तथैव।
व्युद्ग्राहिकं तद्विपरीतसंज्ञं मिथ्यात्वभेदानवबोध सप्त।।'

ऐकान्तिक, सांशयिक, मूढ, स्वाभाविक, वैनयिक, व्युद्ग्राहिक, अव्युद्ग्राहिक, इस तरह मिथ्यात्व के सात भेद हैं। अथवा तीन दर्शनमोहनीय और चार अनंतानुबंधीकषाय ये सातों ही प्रकृति सम्यक्त्व का घात करती हैं, अतएव इस अपेक्षा से भी मिथ्यात्व के सात भेद होते हैं।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की भले प्रकार पहचान हो सके इसलिये संक्षेप में दोनों का लक्षण बताते हैं -

ग्रासाद्याधीनवे देवे वस्त्रादिग्रंथिले गुरौ।
धर्मे हिंसामये तद्धीर्मिथ्यात्वमितरेतरत्।।१२।।

जिनमें क्षुधा राग द्वेष मोह आदि ऐसे दोष पाये जाते हैं जिनका कि ग्रासादि के द्वारा - होनेवाले भोजन कवलाहार को देखकर तथा स्त्री शस्त्र अक्षसूत्र का धारण इत्यादि कार्यों को देखकर अनुमान किया जा सकता है उनको कुदेव कहते हैं। वस्त्र दण्ड पात्र आदि परिग्रह के धारण करनेवालों को कुगुरु कहते हैं। जिसमें कि प्राणियों के वध को कर्तव्यतया बताया गया है उस आगम को कुधर्म कहते हैं। इस प्रकार दूषित देव में परिग्रही गुरु में और हिंसामय धर्म में समीचीन देवगुरु धर्म की बुद्धि रखना इसको मिथ्यात्व कहते हैं। और इससे विपरीत समीचीन देवगुरु धर्म में - निर्दोष देव निर्ग्रंथ गुरु और अहिंसामय धर्म में देवगुरु धर्म की श्रद्धा रखने को सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्व की सामग्री की प्रशंसा करते हैं -

तद् द्रव्यमव्ययमुदेतु शुभः स देशः
संतन्यतां प्रतपतां सततं स कालः।

भावः स नंदतु सदा यदनुग्रहेण
प्रस्त्रौतितत्त्वरुचिमाप्तगवी नरस्य।।१३।।

जिन भगवान् के शरीर की प्रतिमा आदि द्रव्य आबाधरूप से उदित हों - अपना कार्य करने के लिये शक्तियों को उद्भूत करें। समवशरण या चैत्यालय प्रभृति देश - स्थान शुभकृत्यों व गर्भादि कल्याणकों के महोत्सवों से भले प्रकार पूर्ण रहें। तीर्थंकरों के समय अथवा सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के योग्य अर्धपुद्गल परिवर्तन काल की शक्ति सदा अव्याहत बनी रहे। इसी प्रकार सम्यक्त्व के उत्पन्न होने में कारणभूत अधःप्रवृत्तकरण आदि आत्मा के भाव सदा समृद्धि को प्राप्त हों; जिनके कि अनुग्रह से आप्तगवी - परापर गुरुओं की वाणी जीव को तत्त्वों में रुचि उत्पन्न करा देती है।

भावार्थ :- जिस प्रकार लोक में गौ जल वगैरह योग्य द्रव्य को पाकर अतिशय को प्राप्त कर लोगों को दूध दिया करती है उसी प्रकार परापर गुरुओं की देशना - वाणी भी उक्त द्रव्यादि की सहायता से सातिशय होकर जीवों को सम्यग्दर्शन उत्पन्न कराती है। अतएव देशना में अतिशय उत्पन्न करनेवाले द्रव्यादि कारणों की शक्तियाँ सदा उद्भूत रहें।

यहां पर तत्त्वरुचि - शब्द का अर्थ 'तत्त्वों की इच्छा' ऐसा नहीं है। क्योंकि इच्छा के कारणभूत मोहकर्म का जहां पर उदय नहीं पाया जाता ऐसे उपशांतकषाय प्रभृति गुणस्थानों में अथवा मुक्तात्माओं में वह - इच्छा नहीं पाई जाती अतएव तत्त्वरुचि आत्मा के उस स्वरूप को कहते हैं जो कि विपरीत अभिनिवेश से शून्य और पर तथा अपर वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप के श्रद्धानरूप है।

परम आप्त का लक्षण बताते हैं :-

मुक्तोष्टादशभिर्दोषैर्युक्तः सार्वज्ञसंपदा।
शास्ति मुक्तिपथं भव्यान् योसावाप्तो जगत्पतिः।।१४।।

क्षुधा तृषा भय द्वेष राग मोह चिंता जरा रोग मृत्यु स्वेद मद रति विस्मय जन्म निद्रा और विषाद ये अठारह दोष हैं। ये सर्वधारण रूप से तीनों लोकों के जीवों में पाये जाते हैं। अतएव जिनमें ये पाये जाय उनको संसारी और जिनमें न पाये जाय उनको आप्त

समझना [१] चाहिये। जो इन अठारह दोषों से रहित है, अनंतज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्य इस अनंतचतुष्टयरूप जीवन्मुक्ति पर्याय के उत्पन्न हो जाने से समवशरण और अष्ट महाप्रतिहार्यादि विभूति से युक्त है, भव्यजीवों को मोक्षमार्ग का स्वरूप बतानेवाला है, उस तीनलोक के स्वामी को आप्त कहते हैं।

भावार्थ :- इस श्लोक में देव के अपायापगम ज्ञान पूजा और वचन इन अतिशयों को तथा तीन लोक के स्वामित्व - ईश्वरपने को बताया है। जिसमें ये बातें पाई जाय उसको ही आप्त कहते हैं। अठारह दोषरहित होने को अपायापगम, अनंतचतुष्टय के धारण को ज्ञानातिशय समवशरणादि विभूति को पूजातिशय और दिव्यध्वनि को वचनातिशय कहते हैं।

मुमुक्षु भव्यों को परम आप्त की सेवा करने के लिये
प्रवृत्ति करने का उपदेश देते हैं।

यो जन्मान्तरतत्त्वभावनभुवा बोधेन बुद्ध्वा स्वयं
श्रेयोमार्गमपास्य घातिदुरितं साक्षादशेषं विदन्।
सद्यस्तीर्थकरत्वपवित्रमगिरा कामं निरीहो जगत्
तत्त्वं शास्ति शिवार्थिभिः स भगवानाप्तोत्तमः सेव्यताम्।।१५।।

किसी पूर्व जन्म में किये गये तत्त्वाभ्यास की सामर्थ्य से उत्पन्न हुए ज्ञान के द्वारा स्वयं ही मोक्षमार्ग को जानकर और मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण अंतराय इन चार घातिकर्मों को नष्ट कर समस्त वस्तुओं को और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष जानते

---

१ क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिंतनम्।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रतिः।।१।।
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे।।२।।
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोयमाप्तो निरंजनः।
विद्यंते येषु ते नित्यं तेत्र संसारिणः स्मृताः।।३।।

हुए जो केवलज्ञान के उत्पन्न होते ही तीर्थंकर नामक पुण्यकर्म के उदय से उत्पन्न हुई वाणी - दिव्यध्वनि के द्वारा, वीतराग होने से अपने उपदेश से किसी भी प्रकार के फल की वाञ्छा न करके, यथेष्टरूप में तीन जगत् के जीवों को जीवादि तत्त्वों का और मोक्षमार्ग का उपदेश देता है उस आप्तोत्तम की ही, जो कि इन्द्रादिकों के द्वारा भी पूज्य है, मोक्ष के अभिलाषियों को आराधना करनी चाहिये।

इस तरह आप्त का निर्णय आजकाल के लोगों को किस तरह हो सकता है ? इसका उत्तर देते हैं :-

शिष्टानुशिष्टात् सोत्यक्षोप्यागमाद्युक्तिसंगमात्।
पूर्वापराविरुद्धाच्च वेद्यतेद्यतनैरपि।।१६।।

सर्वज्ञ समय के लोक उसको देखकर जान सकते थे। किन्तु आजकल के लोग उसको नहीं देख सकते; क्योंकि वह अतीन्द्रिय है - चक्षुरादि इन्द्रियों के अगोचर है। फिर भी उस आगम के द्वारा वह जाना जा सकता है, जो कि शिष्टों - जिन्होंने कि आप्तोपदेश के अनुसार शिक्षाविशेष का संपादन किया है ऐसे - स्वामी समंतभद्र प्रभृति आचार्यों के द्वारा [१] उपविष्ट है, 'आप्त का आगम प्रमाण है; क्योंकि वह यथावत् वस्तु का उपदेश देता है' इत्यादि युक्तियों के द्वारा जो भले प्रकार संगत है, एवं जिसके भीतर किसी भी प्रकार से पूर्वाधार विरोध नहीं पाया जाता। क्योंकि वचन को देखकर ही उसके वक्ता के विषय में प्रामाण्याप्रामाण्य का निश्चय किया जा सकता है। जिन वचनों में पूर्वापर विरोध है - एक जगह कहा जाता है कि 'न हिंस्यात्सर्वभूतानि' अर्थात् किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिये - और दूसरी जगह कहा जाता है कि 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा' अर्थात् स्वयंभू ने इन पशुओं की रचना यज्ञ के लिये ही की है, उनको और जो युक्ति - प्रमाण से संगत नहीं हैं ऐसे वचनों को प्रमाण नहीं माना

---

१ - यथा - आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्।।
(रत्नकरंड - स्वामी समंतभद्र)

जा सकता। किन्तु जिनमें इस तरह का पूर्वापर विरोध नहीं है और युक्तिसंगत हैं वे ही वचन शिष्टों द्वारा उपदिष्ट माने जाते हैं और प्रमाण समझे जाते हैं। क्योंकि वचनों का सदोष और निर्दोष होना सदोष निर्दोष आशय के वक्ता व्यक्तियों के ऊपर ही निर्भर है। शुभाशय व्यक्तियों के संबंध से वचन प्रशस्त और दुष्टाशयों के संबंध से दुष्ट हो जाया करता है।

इसी बात को आगे के पद्य में दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं :-

विशिष्टमपि दुष्टं स्याद्वचो दुष्टाशयाश्रयम्।
घनाम्बुवत्तदेवोञ्चैर्वन्द्यं स्यात्तीर्थगं पुनः।।१७।।

जिस प्रकार गंगोदक वर्षानेवाले मेघ का जल पथ्य होनेपर भी दूषित स्थान पर पडकर अपथ्य हो जाता है; उसी प्रकार विशिष्ट - आप्तोपदिष्ट भी वचन दुष्टाशय - जिनके हृदय को दर्शनमोहनीय कर्म के उदय ने आक्रान्त कर रक्खा है ऐसे रागी द्वेषी उपदेष्टाओं को पाकर दुष्ट - अश्रद्धेय और इसीलिये विपरीत अर्थ का करनेवाला हो जाया करता है। किन्तु वही जल पवित्र स्थान पर पडता है तो जिस तरह अत्यंत पूज्य हो जाता है उसी प्रकार वीतरागी अतएव पवित्र हृदयवाले पुरुष - समंतभद्रादि आचार्यों को पाकर अतिशय पूज्य एवं श्रद्धेय और इसीलिये समीचीन अर्थ को सिद्ध करनेवाला हो जाता है।

आगम में जो वाक्य जिस विषय में जिस अपेक्षा से कहा गया है उसको उसी विषय में उसी तरह से प्रमाणित करने का उपदेश देते हैं -

दृष्टेर्थेध्यक्षतो वाक्यमनुमेयेनुमानतः।
पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाण्यताम्।।१८।।

आगम में तीन प्रकार के पदार्थ बताये हैं - दृष्ट, अनुमेय, और परोक्ष। जो प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जाने जा सकते हैं ऐसे पौद्गलिक विकारों को दृष्ट और अनुमान के द्वारा जाने जा सकते हैं ऐसे जीव परमाणु धर्म अधर्म कालाणु आकाश लोक परलोक

शुभाशुभकर्म प्रभृति पदार्थों को अनुमेय, तथा इन दोनों ही के जो अविषय हैं ऐसे कर्मस्थिति स्वर्ग नरक के पटलों की संख्या द्वीप सागर पर्वत ह्रदादिका प्रमाण अकृत्रिम चैत्यालय जम्बूवृक्षादि की रचना आदि को परोक्ष कहते हैं। इनमें से जिस तरह के पदार्थ को बताने के लिये आगम में जो वाक्य आया हो उसको उसी तरह से - यदि दृष्ट विषय में आया हो तो प्रत्यक्ष से और अनुमेय विषय में आया हो तो अनुमान तथा परोक्ष विषय में आया हो तो पूर्वापर का अविरोध देखकर प्रमाणित करना चाहिये।

आप्तोक्त और अनाप्तोक्त वाक्य की पहचान बताते हैं -

यैकवाक्यतया विष्वग्वर्तते सार्हती श्रुतिः।
क्वचिद्धि केनचिद्धूर्ता वर्तन्ते वाक्क्रियादिना।।१९।।

जिसकी कि सर्वत्र - न्याय व्याकरण साहित्य वा सिद्धांत सभी विषयों में एकवाक्यता पाई जाती है उसी देशना को आप्तोक्त समझना चाहिये। क्योंकि जो धूर्त हैं - जो दूसरों को प्रतारित करने में तत्पर रहा करते हैं वे किसी नियत विषय में अपने किसी नियत ही वचन क्रिया चेष्टा और वेष आदि के द्वारा प्रवृत्त हुआ करते हैं। अर्थात् पूर्वापर अविरुद्ध वचनों को आप्तोक्त और विरुद्ध वचनों को अनाप्तोक्त समझना चाहिये। क्योंकि धूर्तों के वचन चेष्टा वेषादिक प्रायःकरके कहीं कुछ और कहीं कुछ रहा करते हैं।

आप्तोक्त वचन में भी हेतु से बाधा आ सकती है,
इस शंका का परिहार करते हैं-

जिनोक्ते वा कुतो हेतुबाधगन्धोपि शङ्क्यते।
रागादिना विना को हि करोति वितथं वचः।।२०।।

राग द्वेष आदि कषायों पर विजय प्राप्त करनेवाले जिनभगवान् के वचनों में युक्तियों

के द्वारा पूर्णरूप से बाधा आने की तो बात क्या; लेशमात्र भी बाधा की शंका किस तरह की जा सकती है ? क्योंकि जहाँ पर कषाय पाया जाता है वहीं पर वचन में असत्यता की संभावना हो सकती है। इसी बात को ग्रंथकार व्यतिरेक रूप से यहाँ पर कहते हैं; कि ऐसा कौन पुरुष होगा जो कि रागद्वेषमोह के विना वितथ - मिथ्या वचन बोले। अतएव वीतराग के वचनों में अंशमात्र भी बाधा की संभावना किस तरह हो सकती है ?

जो रागादि कषायों से आक्रान्त हैं उनकी आप्तता का निराकरण करते हैं :-

ये रागादिजिताः किंचिज्जानन्ति जनयन्त्यपि।
संसारवासनान्तेप्तापि यद्यात्पाः किं ठकैः कृतम्।।२१।।

जिनको रागादि ने जीत लिया है - जो राग द्वेष मोह से अभिभूत हैं, और कुछ अल्पज्ञान के धारण करनेवाले हैं, एवं संसार की वासना को - गृह गृहिणी आदि पदार्थों की अभिलाषाओं के संसार को संसार में उत्पन्न कर रहे हैं, ऐसे पुरुषों में भी यदि लोक आप्त - यथार्थ वक्ता सर्वज्ञ की कल्पना करते हैं तो फिर ठगों ने ही क्या बिगाडा है ?

भावार्थ :- जब कि दोनों ही संसार की जनता को ठगनेवाले हैं तो ठगों की निंदा क्यों की जाती है - उनको भी आप्त क्यों नहीं मान लिया जाता ? अतएव जो सकषाय और अल्पज्ञ हैं उनको आप्त नहीं माना जा सकता।

जो आप्ताभास हैं उनसे उपेक्षा करने का उपदेश देते हैं :-

योऽर्धाङ्गे शूलपाणिः कलयति दयितां मातृहा योत्ति मांसं
पुंस्ख्यातीक्षाबलाद्यो भजति भवरसं ब्रह्मवित्तत्परो यः।
यश्च स्वर्गादिकामः स्यति पशुमकृपो भ्रातृजायादिभाजः
कानीनाद्याश्च सिद्धा य इह तदवधिप्रेक्षया ते ह्युपेक्ष्याः।।२२।।

महादेव अपने शरीर के आधे भाग में दयिता - पार्वती को और हाथ में शूल -

त्रिशूल को धारण करते हैं, बुद्ध ने अपनी माता का घात कर - उत्पन्न होते ही माँ को मारकर मांस का भक्षण किया। सांख्य पुरुष और प्रकृति इन दोनों ही के ज्ञान के बल से विषय सुख का सेवन करता है। वेदान्ती ज्ञान ही है एकरूप जिसका ऐसे ब्रह्मतत्त्व का जाननेवाला होकर भी उसी संसार के रस का अनुभव करनेवाला है। याज्ञिक ब्राह्मण भी स्वर्ग पुत्र धन धान्यादिक की इच्छा को पूरा करने के लिये निर्दय होकर बकरी आदि पशुओं के वध करने में प्रवृत्त होता है। इनके सिवाय और भी जो कानीन - [१] व्यास वसिष्ठ प्रभृति अनेक पुरुष प्रसिद्धि प्राप्त कर गये हैं; जिन्होंने कि भाई की स्त्री या चाण्डालकन्या आदि का सेवन किया था; उन सबका स्वरूप अन्य ग्रंथों में लिखा हुआ है। अतएव उन शास्त्रों पर भले प्रकार विमर्ष - विचार कर अपने हित की इच्छा रखनेवाले विचारशील मुमुक्षुओं को इन शिव सुगत सांख्य प्रभृति आप्ताभासों से उपेक्षा करना ही उचित है - इनसे न राग करना चाहिये और न द्वेष।

युक्तियों से भले प्रकार सिद्ध परमागम के द्वारा जिसने पदार्थों का अर्थ समझ लिया है और उसके अनुसार जो व्यवहार करता है ऐसा पुरुष ही मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त कर सकता है। इसी बात को प्रकट करते हैं :-

यो युक्त्यानुगृहीतयाप्तवचनज्ञप्त्यात्मनि स्फारिते,-
ष्वर्थेषु प्रतिपक्षलक्षितसदाद्यानन्त्यधर्मात्मसु।
नीत्या क्षिप्तविपक्षया तदविनाभूतान्यधर्मोत्थया,
धर्मं कस्यचिदर्पितं व्यवहरत्याहन्ति सोऽन्तस्तमः।।२३।।

[२] आप्तवचनों के द्वारा उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को आगम कहते हैं। यहाँ पर वचन शब्द उपलक्षण है। अतएव आप्त के हाथ वगैरह के संकेत से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को भी आगम कहते हैं। 'सभी पदार्थ अनेकान्तात्मक - अनंतधर्मात्मक हैं; क्योंकि वे सत्

---

१ - व्यास कन्या से उत्पन्न हुए थे, इसलिये उन्हें कानीन कहते हैं।

२ - जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमेत्तो ण ह मुत्तो कम्मसंजुत्तो।।इत्यादि।

हैं। जो जो सत् होते हैं वे वे अनंतधर्मात्मक होते हैं। अथवा आप्त के वाक्य प्रमाण हैं; क्योंकि वे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से अविरुद्ध हैं। जो जो इनसे अविरुद्ध होते हैं वे - वे सब प्रमाण होते हैं।' इत्यादि अनेक युक्तियों के द्वारा इस आगम की प्रमाणिकता भले प्रकार सिद्ध है। इस युक्ति सिद्ध आगम के द्वारा अंतस्तत्व में प्रकाशित हुए - स्फुरायमान हुए नास्तित्व अनित्यत्व अनेकत्व प्रभृति अनेक प्रतिपक्षी धर्मों के साथ साथ अस्तित्व नित्यत्व एकत्वादि अनंत धर्मों के धारण करनेवाले - अनंतधर्मात्मक जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाश इन छहों द्रव्योंमें से किसी भी एक वस्तु के एक अंश में नय की प्रवृत्ति हुआ करती है। क्योंकि नय उसीको कहते हैं जो कि प्रमाण के द्वारा गृहीत पदार्थ के एकदेश को विषय करता है। यह नयपरिपाटी जिस अंश में प्रवृत्त होती है उसके विरुद्ध धर्म का निराकरण नहीं करती; उसकी अपेक्षा रखती है, और अपने विवक्षित धर्म के अविनाभावी दूसरे धर्मों से उत्पन्न होती है। क्योंकि द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिक की और पर्यायार्थिक द्रव्यार्थिक की अपेक्षा रखने पर ही समीचीन नय माना जाता है; अन्यथा नहीं। यही बात सदसदादिक दूसरे धर्मों के विषय में भी है। इसी तरह से जिस प्रकार अविनाभावी हेतु धर्मरूप धूम के द्वारा पर्वत में अग्नि का ज्ञान प्राप्त करके लोग उसका प्रवृत्ति निवृत्तिरूप व्यवहार करते हैं उसी प्रकार उक्त युक्तिसिद्ध आगम के द्वारा जाने हुए पदार्थों में से किसी एक के विवक्षित - अर्पित धर्म के विषय में व्यवहर्ता नयपरिपाटी के द्वारा प्रवृत्ति निवृत्तिरूप व्यवहार किया करते हैं। जो इस प्रकार से व्यवहार करनेवाले हैं वे ही अंतरङ्ग में लगे हुए अंधकार मिथ्यात्व या अज्ञान को दूर किया करते हैं। अपने या पर के मिथ्यात्व का नाशकर सकते हैं तथा करते हैं।

जीवादिक छह द्रव्यों में से प्रत्येक को युक्ति द्वारा सिद्ध करते हैं :-

सर्वेषां युगपद्गतिस्थितिपरीणामावगाहान्यथा -
योगाद्धर्मतदन्यकालगगनान्यात्मा त्वहंप्रत्ययात्।
सिध्येत् स्वस्य परस्य वाक्प्रमुखतो मूर्तत्वतः पुद्गलस्ते
द्रव्याणि षडेव पर्ययगुणात्मानः कथंचिद् ध्रुवाः।।२४।।

जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और कालद्रव्य, इस तरह द्रव्य छह ही हैं। जो गुण - पर्यायात्मक है - जिसके गुण और पर्याय ये दो स्वभाव है उसको द्रव्य कहते हैं। ये छहों द्रव्य कथंचित् अनित्य हैं। इनमें जो जीवद्रव्य है वह दो प्रकार का है; एक अपने शरीर में स्थित, दूसरा पर के शरीर में स्थित। पहले प्रकार का जीव अहं प्रत्यय से सिद्ध होता है - 'मैं सुखी हूँ,' इत्यादि अनुभव के द्वारा अपने शरीर में स्थित, दूसरा पर के शरीर में स्थित आत्मा का स्वयं संवेदन होता है। अतएव वह सिद्ध है। पर शरीर में स्थित आत्मा भी वचन प्रभृति हेतुओं से सिद्ध होता है। क्योंकि किसी प्रश्न का उत्तर देना या कुछ कहना तब तक नहीं बन सकता जब तक कि उस शरीर में आत्मा न हो। इसी तरह शरीर वा इन्द्रियों की कुछ श्वासोच्छ्वासादिक क्रियाएँ वा चेष्टाएँ भी ऐसी हैं जो कि विना आत्मा के नहीं हो सकती। अतएव उनसे भी परशरीर में स्थित आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। पुद्गल द्रव्य का अस्तित्व मूर्तत्व हेतु से सिद्ध होता है। रूप गंध रस स्पर्श इन चार गुणों के समूह का नाम मूर्ति है। मूर्ति - ये चारों गुण जिसमें पाये जाय उसको मूर्त कहते हैं। प्रत्येक पुद्गल में ये चारों गुण पाये जाते हैं। परंतु कहीं ये तो चारों ही उद्भूत होते हैं और कहीं कोई उद्भूत, कोई अनुद्भूत होते हैं। अतएव इनमें से जहाँ एक भी दिखता है वहाँ चारो ही माने जाते हैं। और उससे गुण पुद्गल द्रव्य का अस्तित्व माना जाता है - सिद्ध होता है। इस प्रकार ये दोनों ही द्रव्य प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध है।

शेष के चार द्रव्य - धर्म अधर्म काल और आकाश भी हेतु प्रमाण से सिद्ध हैं। क्योंकि इन चार द्रव्यों के बिना गति स्थिति परिणमन और अवगाहन ये चारो ही एक काल में सब में नहीं बन सकते। जिस समय जीव या पुद्गल गमन करते हैं या ठहरते हैं उसी समय में उनका परिणमन और अवगाहन भी हो रहा है। एक समय में सब पर्यायों का बाह्य सहायक एक ही द्रव्य नहीं हो सकता। एक द्रव्य एक समय में एक ही कार्य का साधक हो सकता है। अतएव एक समय में होनेवाले इन चार कार्यों के भी बाह्य सहायक चार ही द्रव्य होने चाहिये। जो गति का सहायक है उसको धर्मद्रव्य, जो स्थिति का सहायक है उसको अधर्मद्रव्य, जो परिणमन का सहायक है उसको कालद्रव्य और जो अवगाहन का सहायक है उसको आकाशद्रव्य कहते हैं। इस प्रकार छहो द्रव्यों का अस्तित्व प्रमाण से सिद्ध है।

भावार्थ :- जो गुणपर्यायस्वभाव है - जिसके गुण और पर्याय दोनों ही स्वभाव हैं

उसको द्रव्य कहते हैं। सहभावीस्वभाव को गुण और क्रमभावी स्वभाव को पर्याय कहते हैं। परिणमन सदा स्थिर नहीं रहता; क्योंकि वह उत्पत्ति - विनाशात्मक है। पदार्थ स्वभाव से ही सदा एकरूप में नहीं रहता - वह प्रतिक्षण एकरूप से दूसरे रूप में बदला करता है। इस बदलते रहनेवाले - क्रमभावी स्वभाव को ही पर्याय कहते हैं। इस प्रकार पर्यायात्मक रहते हुए भी पदार्थ में प्रतिसमय नित्यता का भी प्रत्यय हुआ करता है। जैसे कि यह वही वस्तु है जिसको पहले देखा था। अथवा 'जल से पृथ्वी और पृथ्वी से पुनः जल के हो जानेपर भी, एवं वायु से जल और जल से पुनः वायु आदि के हो जानेपर भी उसमें सदा पुद्गलपने का अनुभव होता है' जिस जिस स्वभाव के कारण ऐसा प्रत्यय होता है वह वह पदार्थ में सदा रहा करता है। अतएव इस सदा रहनेवाले - सहभावी स्वभाव को गुण कहते हैं। जैसे कि पुद्गल द्रव्यरूप - गुणरूप स्वभाव है। उसी प्रकार रुपगुण का बदलते रहना - हरे से पीला, पीले से काला, इत्यादि आकारांतरों का होते रहना भी इस पुद्गल द्रव्य का ही स्वभाव है। जिस प्रकार पुद्गल में यह एक रूपगुण है उसी प्रकार और भी अनंत गुण हैं। पुद्गल के समान जीवादिक में गुण सामान्यविशेषरूप से रहते हैं - कुछ सामान्यगुण रहा करते हैं और कुछ विशेष। इस प्रकार पदार्थ के दो स्वभाव हैं; एक गुण दूसरा परिणमन। पदार्थ का कोई भी स्वभाव किसी भी क्षण में उससे पृथक् नहीं हुआ करता। अतएव प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण में गुणस्वभाव की अपेक्षा ध्रुव और परिणमन स्वभाव की अपेक्षा उत्पत्तिविनाशात्मक है। इसीलिये उसको कंथचित् अनित्य माना है। तथा इसीसे उसमें भेदाभेदादिक की भी सिद्धि होती है।

ऊपर जो धर्म अधर्म आदि द्रव्यों को सिद्ध करने के लिये गति स्थिति आदि सबकी युगपत् सहायता करने का उल्लेख किया गया है उस विषय में यह स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है कि गति और स्थिति सब द्रव्यों में नहीं पायीं जाती। ये जीव और पुद्गल में ही होते हैं। किंतु परिणमन और अवगाहन सभी द्रव्यों में रहा करते हैं। क्योंकि पर्याय दो प्रकार की होती हैं - १ अर्थपर्याय और २ व्यंजनपर्याय। सूक्ष्म परिणमन को अर्थपर्याय और स्थूलपरिणमन को व्यंजनपर्याय कहते हैं। धर्म अधर्म आकाश और काल इनमें अर्थपर्याय भी होती है [१], तथा जीव और पुद्गल में दोनों तरह की पर्याय होती हैं।

पर्यायों की तरह गुणों के भी दो भेद हैं - मूर्त और अमूर्त। मूर्तद्रव्य में रहनेवाले

१ - धर्माधर्मनभःकाला अर्थपर्यायगोचराः। व्यञ्जनार्थेन संबंद्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ।।१।।

गुणों को मूर्त और अमूर्त द्रव्यों में रहनेवाले गुणों को अमूर्त कहते हैं। पुद्गल द्रव्य मूर्त और शेषद्रव्य अमूर्त है; जैसा कि ऊपर के कथन से स्पष्ट होता है। संसारी आत्मा को भी उपचार से मूर्त कहते हैं; जैसा कि आगे चलकर बतावेंगे।

इस प्रकार के गुण और पर्याय जिसके स्वभाव हैं उसको द्रव्य कहते हैं। इस कहने का यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिये कि ये स्वभाव भिन्न हैं। किंतु इन दो स्वभावों के समूह का ही नाम द्रव्य है। अतएव जैसा कि स्वभाव और स्वभाववान् में अंतर होना चाहिये वैसा ही इनमें भेद भी है। इस प्रकार अपने स्वभाव से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न द्रव्य उक्त प्रकार का है - जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल। इन द्रव्यों की सत्ता ऊपर हेतुपूर्वक सिद्ध की जा चुकी है ! अतएव उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। किंतु यह अवश्य समझना चाहिये कि द्रव्य छह ही हैं और ये ही छह द्रव्य हैं; न कम न ज्यादा, और न अन्य। जैसा कि नैयायिकों ने पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश काल दिशा आत्मा और मन, ये नव द्रव्य हैं, ऐसा कहा है। यह इसलिये ठीक नहीं है कि इनमें से आदिके चार द्रव्य - पृथिवी जल अग्नि और वायु, एक पुद्गल द्रव्य में ही अंतर्भूत हो जाते हैं। क्योंकि इन सभी में पुद्गल लक्षण मूर्तिमत्ता पाया जाता है। यह जो कहा जाता है कि पृथिवी में रूप गंध रस स्पर्श चारों ही गुण पाये जाते हैं; किंतु जल में गंध के सिवाय तीन; और अग्नि में गंध रस को छोडकर दो; एवं वायु में एक रूप ही पाया जाता है, सो ठीक नहीं है। क्योंकि यह पहले बता चुके हैं कि इनमें से कहीं तो चारों ही गुण उद्भूत होते हैं और कहीं कोई उद्भूत हुआ करता है और कोई अनुद्भूत। किंतु प्रत्येक पुद्गल में सत्ता चारों ही की रहा करती है। क्योंकि यदि ऐसा न माना जायगा तो जल से वायु और वायु से जल का स्वरूप बदल जानेपर उसमें नवीन गुण किस तरह उत्पन्न हो सकते हैं ? क्योंकि जो गुण मूल में नहीं हो वह उसकी पर्याय में भी नहीं हो सकता। अतएव चारों ही में चारों गुण और चारों को पुद्गल द्रव्य ही मानना चाहिये। इसी प्रकार दिशा पदार्थ भी भिन्न नहीं है। उसका आकाश में अंतर्भाव हो जाता है। क्योंकि आकाश प्रदेशों की पंक्ति में ही, इधर को पूर्व और उधर को पश्चिम, ऐसा व्यवहार होता है। दिशापदार्थ स्वतंत्र

स्थूलो व्यञ्जनपर्यायो वाग्गम्यो नश्वरः स्थिरः।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः।।२।। इति।

है; इस बात का साधक कोई हेतु या कारण नहीं है। मन दो प्रकार का होता है; एक द्रव्यमन दूसरा भावमन। संज्ञी जीवों के हृदयस्थान में जो अष्टदल कमल के आकार का पौद्गलिक स्कंधविशेष होता है, जिसकी कि सहायता से जीव विचारादि किया करता है, उसको द्रव्यमन कहते हैं। इसका पुद्गल में अंतर्भाव हो जाता है। और जो भावमन है वह ज्ञानरूप है। अतएव उसका आत्मा में अंतर्भाव हो जाता है। इसलिये मन नाम का भी कोई स्वतंत्र द्रव्य सिद्ध नहीं होता। इसी तरह और भी जो अनेक प्रकार से लोगों ने द्रव्य की कल्पनाएँ कर रक्खी हैं सो ठीक नहीं है। किन्तु उपर्युक्त छह द्रव्य ही प्रमाण से सिद्ध हैं जो कि अपने गुणपर्याय स्वभाव के कारण कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य, कथंचित् भिन्न, कथंचित् अभिन्न, कथंचित् एक कथंचित् अनेक इत्यादि अनेक अपेक्षाओं से अनेकरूप है। द्रव्यरूप की अपेक्षा जीवादिक समस्त वस्तु नित्य हैं; क्योंकि उनमें यह वही है, ऐसा ज्ञान होता है। जो देवदत्त बाल्यावस्था में था, वही अब युवावस्था में भी है। इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान के द्वारा निर्बाध व्यवहार सभी लोग करते हैं। इसका कारण द्रव्य का नित्य स्वभाव ही है। इसी तरह पर्याय दृष्टि से सभी वस्तु अनित्य हैं। क्योंकि बाल्यावस्था से युवावस्था भिन्न है ऐसा भी लोग मानते हैं और यह ज्ञान भी प्रमाण से सत्य सिद्ध है। किन्तु बाल्यावस्था के विनाश और युवावस्था के उत्पाद के बिना यह व्यवहार नहीं हो सकता, जो कि द्रव्य को अनित्य माने बिना नहीं बन सकता। अतएव द्रव्य के उक्त युक्तिसिद्ध स्वरूप और भेदों को वैसा ही जानकर तथाभूत श्रद्धान करना चाहिये।

धर्मादिक द्रव्यों की तरह से आस्रवादिक तत्त्वों को भी भले प्रकार जानकर उनका श्रद्धान करने का उपदेश देते हैं।

धर्मादीनधिगम्य सच्छ्रुतनयन्यासानुयोगैः सुधीः
श्रद्दध्याविदाज्ञयैव सुतरां जीवांस्तु सिद्धेतरान्।
स्यान्मन्दत्मरुचेः शिवाप्तिभवहान्यर्थो ह्यपार्थः श्रमो
मन्येताप्तगिरास्रवाद्यपि तथैवाराधयिष्यन् दृशम्।।२५।।

जो मुमुक्षु विशिष्ट ज्ञान के धारक हैं उनको समीचीन प्रमाण नय निक्षेप और अनुयोगों के द्वारा धर्मादिक द्रव्यों को जानकर उनका श्रद्धान करना चाहिये। किन्तु जो मंदज्ञानी हैं - जो इन उपायों के द्वारा द्रव्य स्वरूप का विमर्ष करने और ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति नहीं रखते उनको केवल आज्ञा के अनुसार ही उनका ज्ञान व श्रद्धान करना चाहिये। तथा विशेषज्ञानी और मंदज्ञानी दोनों ही प्रकार के जीवों को संसारी और मुक्त दो प्रकार के जीवतत्त्व का ज्ञान व श्रद्धान विशेषरूप से प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि जिनकी आत्मतत्त्व के विषय में रुचि श्रद्धा मंद है, उनका मोक्ष की प्राप्ति और संसार का नाश ही जिसका प्रयोजन है, ऐसा कोई भी किया गया परिश्रम सफल नहीं होता - व्यर्थ जाता है। अतएव सम्यग्दर्शन आराधन करनेवाले - उक्त उद्योतादिक के द्वारा उसको उद्दीप्त व दृढ़ करने की इच्छा रखनेवालों को धर्मादिक द्रव्यों व विशेष कर आत्मा के स्वरूप और भेदों तथा आस्रवादिक तत्त्वों - आस्रव बंध पुण्य पाप संवर निर्जरा मोक्ष का आप्त भगवान् के उपदेशानुसार ज्ञान व श्रद्धान करना चाहिये।

भावार्थ :- द्रव्यदिकों को जानने के उपाय चार तरह के हैं - प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोग। प्रमाण और नय का स्वरूप बताया जा चुका है कि समस्त वस्तु को विषय करनेवाले समीचीन ज्ञान को प्रमाण और वस्तु के एक अंश के विषय करनेवाले को नय कहते हैं। प्रमाण और नय दोनों ही अर्थरूप शब्दरूप और ज्ञानरूप इस तरह तीन तीन प्रकार के होते हैं। इनमें भी स्यादस्ति आदि सप्तभंगी की प्रवृत्ति हुआ करती है; जिसका कि विशेषरूप ग्रंथांतरों में बताया गया है।

पदार्थों के व्यवहार करने के उपाय को निक्षेप कहते हैं। इसके चार भेद हैं - नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव। गुण की अपेक्षा न करके केवल व्यवहार प्रयोजन की सिद्धि के लिये जो किसीकी कुछ भी संज्ञा रख दी जाती है उसको नाम कहते हैं। जैसे कि हीरालाल। साकार या निराकार किसी भी वस्तु में किसी अन्य वस्तु की यह वही है ऐसी कल्पना को स्थापना कहते हैं; जिससे कि उस वस्तु का - जिसमें कल्पना की गई है उस वस्तु के समान, जिसकी कि कल्पना की गई है, व्यवहार हो या किया जा सके। जैसे कि देव - ऋषभादि की मूर्ति या सतरंज के मुहरे। जो वस्तु वर्तमान में जिसरूप नहीं है, किन्तु भूतकाल में वह उस प्रकार की थी अथवा भविष्यत् में उस प्रकार की होगी उसका वर्तमान में भी उसी रूप से व्यवहार करना उसको द्रव्यनिक्षेप

कहते हैं। जैसे कि भूत राजा या भविष्यत् राजा - युवराज को वर्तमान राजा कहना। जो पदार्थ वर्तमान में जिसरूप है उसका उसी रूप व्यवहार करना इसको भावनिक्षेप कहते हैं। जैसे कि पूजा करते हुए मनुष्य को पूजारी कहना। इस प्रकार ये चार निक्षेप हैं जिनके द्वारा जीवादिक द्रव्यों व आस्रवादिक तत्त्वों व पदार्थों तथा सम्यग्दर्शनादिक मोक्ष के मार्ग का यथार्थ व्यवहार किया जाता है। इनका विशेषस्वरूप श्लोकवार्तिक प्रभृति ग्रंथो में देखना चाहिये। यहाँ पर केवल मूल अर्थमात्र कह दिया गया है।

इन निक्षेपों के सिवाय जो पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये उपाय बताये गये हैं उनको अनुयोग कहते हैं। अनुयोग के छह भेद हैं - निर्देश स्वामित्व साधन अधिकरण स्थिति और विधान। अथवा आठ भेद हैं - सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अंतर भाव और अल्पबहुत्व। इसका भी विशेष स्वरूप ग्रंथांतरों में ही देखना चाहिये। आस्रवादिक तत्त्वों का स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे। अतएव यहाँ उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं है। जो विशेषज्ञानी हैं उनको इन प्रमाणादिके द्वारा जीवादिक के द्रव्यों व आस्रवादिक तत्त्वों का स्वरूप भले प्रकार समझकर श्रद्धान करना चाहिये। जो मंदज्ञानी हैं उनको आज्ञानुसार - तत्त्वों के स्वरूप के विषय में जो भगवान् ने कहा है वह सब सत्य है; क्योंकि वह श्री जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है; जो कि सर्वज्ञ वीतराग होने के कारण अन्यथाभाषी नहीं हैं - समस्त द्रव्यों व तत्त्वों का श्रद्धान करना चाहिये। किंतु आत्मरुचि को बढाने और दृढ करने का प्रयत्न दोनों को ही विशेषरूप से करना चाहिये; क्योंकि इसके बिना आत्मकल्याण के सभी कार्य व्यर्थ हैं।

जीव पदार्थ के स्वरूप का विशेषरूप से ज्ञान कराते हैं :-

जीवे नित्येर्थसिद्धिः क्षणिक इव भवेन्न क्रमादक्रमाद्वा
नामूर्ते कर्मबन्धो गगनवदणुद् व्यापकेऽध्यक्षबाधा।
नैकस्मिन्नुद्धवादिप्रतिनियमगतिः क्षमादिकार्ये न चित्त्वं
यत्तन्नित्येतरादिप्रचुरगुणमयः स प्रमेयः प्रमाभिः।।२६।।

जिस प्रकार जीव के सर्वथा क्षणिक मानने से, जैसी कि बोद्धादिकों की कल्पना है, अर्थसिद्धि - कार्य की निष्पत्ति नहीं हो सकती; उसी प्रकार सर्वथा नित्य मानने से

भी, जैसी कि यौगादिकों की कल्पना है, अर्थ - क्रिया की सिद्धि नहीं हो सकती। जिसमें कि पूर्वाकार का विनाश, उत्तराकार का उत्पाद और सामान्य आकार का अवस्थान पाया जाता है ऐसे परिणमन के द्वारा ही कार्य की सिद्धि हो सकती है। अतएव यदि यह माना जाय कि [१] जीव सर्वथा क्षणिक है - एक क्षण के बाद ही निरन्वय नष्ट हो जाता है तो, अथवा यह माना जाय कि यह सर्वथा नित्य है - सदा और सर्वत्र एक रूप में ही रहता है - उसमें किसी भी प्रकार का परिणमन नहीं होता, तो देशक्रम से या कालक्रम से अथवा अक्रम से युगपत् अर्थात् किसी भी प्रकार से कार्य की निष्पति नहीं हो सकती।

इसी प्रकार यदि जीव को आकाश के समान सर्वथा अमूर्त माना जाय तो उसके साथ कर्म का बंध नहीं हो सकता क्योंकि मूर्त का ही मूर्त के साथ बंध हो सकता है। अतएव यदि संसारी आत्मा को मूर्ति - रूप रस गंध स्पर्श तथा स्निग्धरूक्षत्व से रहित आकाश के समान माना जाय, जैसा कि नैयायिकोंने माना है, तो उसके साथ पुण्यपापरूप कर्मों का, जो कि मूर्त पौद्गलिक है, बंध हो सकता। इसी तरह आत्मा का व्यापक स्वरूप भी उसी तरह प्रत्यक्ष विरुद्ध है; जिस तरह से कि उसका अणुरूप। कोई कोई आत्मा को अणु के समान और कोई कोई सर्वत्र व्यापक मानते हैं। किंतु ये दोनों कल्पनाएँ प्रत्यक्ष विरुद्ध हैं; जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा। यदि आत्मा को एक - अद्वैत और विभु माना जाय, जैसा कि ब्रह्माद्वैतवादियोंने माना है तो, जन्म मरण जरा प्रभृति कार्यों के विशिष्ट नियम की, जैसा कि देखने में आता है, सिद्धि नहीं हो सकती। यदि ऐसा माना जाय कि आत्मा पृथिवी आदि भूतों से ही उत्पन्न होता है - उन्ही का कार्य है जैसा कि चार्वाकादिकों ने माना है तो उसमें चैतन्य - ज्ञानदर्शन का प्रत्यय नहीं हो सकता। क्योंकि जड पदार्थ अपनी जडता का परित्याग नहीं कर सकते। अतएव आत्मा का स्वरूप जैसा कि श्री अरहंतदेव ने कहा है कि, वह कथंचित् नित्य है कथंचित् अनित्य, कथंचित् मूर्त है कथंचित् अमूर्त, कथंचित् एक है कथंचित् अनेक, इत्यादि अनेकधर्मात्मक है; उसी प्रकार उसका स्वसंवेदन प्रत्यय अनुमान प्रमाण या आगम प्रमाण के द्वारा निश्चय करना चाहिये और श्रद्धान करना चाहिये।

---

१ - यद्यपि यहाँ पर प्रसंगवश जीव का ही नाम लिया है; किंतु सभी द्रव्यों के विषय में ऐसा समझना चाहिये।

यह बात पहले बताई जा चुकी है कि जीवादिक वस्तुओं को सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक माना जायगा तो अर्थक्रिया - कारिता की सिद्धि नहीं हो सकती। किंतु इस पर प्रश्न हो सकता है कि यदि अर्थक्रियाकारिता न मानी जाय तो क्या हानि है ? इसका उत्तर देते हैं और बताते हैं कि बिना अर्थक्रियाकारिता के वस्तु का वस्तुत्व ही नहीं रह सकता। :-

नित्यं चेस्वयमर्थकृत्तदखिलार्थोत्पादनात् प्राक् क्षणे
नो किंचित् परतः करोति परिणाम्येवान्यकाङ्क्षं भवेत्।
तन्नैतत् क्रमतोर्थकृन्न युगपत् सर्वोद्भवाप्ते सकृन् -
नातश्च क्षणिकं सहार्थकृदिहाव्यापिन्यही कः क्रमः।।२७।।

वस्तु को यदि सर्वथा नित्य माना जाय तो यह प्रश्न होता है कि वह कुटस्थ नित्य है या परिणामी नित्य ? प्रथम पक्ष प्रत्यक्षविरुद्ध है। अतएव यदि दूसरा पक्ष माना जाय तो यह प्रश्न होता है कि उसका परिणमन किस प्रकार से होता है ? क्योंकि परिणमन दो प्रकार से हो सकता है। एक तो बाह्य सहकारी कारणों की अपेक्षा न रखकर स्वयं अपनी ही सामर्थ्य से। दूसरा, सहकारी कारणों की अपेक्षा रखकर। इनमें से यदि पहला पक्ष माना जाय तो वह वस्तु जिस जिस कार्यरूप परिणमन करने की योग्यता रखती है उन सभी कार्यों की उत्पत्ति एक ही क्षण में हो जा सकती है। क्योंकि उन कार्यों को उत्पन्न होने के लिये वस्तु की उपादान शक्ति के सिवाय किसी बाह्य कारण की अपेक्षा नहीं है। ऐसा हो जानेपर एक ही क्षण में समस्त कार्यरूप परिणत हो जाने से कारणवस्तु द्वितियादि क्षणों में कुछ भी परिणमन नहीं कर सकती। अतएव पहला पक्ष ठीक नहीं ठहरता - नित्य होकर भी वस्तु स्वयं अर्थकृत् सिद्ध नहीं होती। इसके लिये यदि दूसरा पक्ष माना जाय तो उसका अर्थ यही होगा कि वस्तु परिणामी ही है। - प्रतिक्षण उसमें उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता लक्षण रहता है - वस्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है। अतएव यही कहना चाहिये कि वस्तु नित्य मानने पर दोनों ही अवस्थाओं में अर्थकृत् सिद्ध नहीं हो सकती। न तो क्रम से ही कार्यकारी सिद्ध हो सकती है और न युगपत् ही। क्योंकि एक ही क्षण में सब कार्यों के उत्पन्न होने का दोष उपस्थित हो सकता

है; जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। यहां पर बौद्धादिक जो कि क्षणिकवादी हैं, कह सकते हैं कि यदि नित्य वस्तु कार्यकारी सिद्ध नहीं होती तो ठीक है। किंतु क्षणिक वस्तु तो अर्थकृत् सिद्ध हो सकती है। किंतु उनका भी कहना सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें भी एक क्षण में समस्त कार्यों के उत्पन्न होने का पूर्वोक्त दोष उपस्थित होगा। इस पर कहा जा सकता है कि यह दोष तब आ सकता है जब कि उसको युगपत् अर्थकृत् माना जाय। किंतु [१] हम उसको क्रम से अर्थकृत् मानते हैं। पर यह कहना भी ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि क्षणिक में भी क्रम ! यह कैसे हो सकता है कि वस्तु क्षणिक भी हो और क्रम से कार्यकारी भी हो ? इस प्रकार विरुद्ध निरुपण करना एक आश्चर्य की बात है। क्योंकि यह बात उन्होंने मानी है कि वस्तु देश या काल का अनुवर्तन नहीं करती। जैसा कि -

'यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावनामिह विद्यते।।'

अर्थात् :- पदार्थ देश और काल को व्याप्त करके नहीं रहते। किंतु जो जहां है वह वहीं रहता और जो जिस काल में है वह उसी काल में रहता है।

जीव कथंचित् मूर्त है इस बात को बताते हुए उसके साथ होनेवाले कर्मबंध का समर्थन करते हैं :-

स्वतोऽमूर्तोपि मूर्तेन यद्गतः कर्मणैकताम्।
पुमाननादिसंतत्या स्यान्मूर्तो बंधमेत्यतः।।२८।।

यद्यपि जीव स्वतः स्वभाव से अमूर्त है - रूप रस गंध स्पर्श से रहित है; फिर भी मूर्त कर्मों के साथ इस तरह एकता को प्राप्त हो गया है जिस तरह से कि क्षीर में

---

१ - दि. जैन सिद्धान्त को माननेवाले।

नीर मिल जाता है। कर्मों की यह संतान अनादिकाल से चली आती है। जिस तरह बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज होने का प्रवाह अनादि है, उसी तरह कर्मों से जीव की मूर्तता और उससे पुनः कर्मों के संचय होने का प्रवाह अनादि है। इसी प्रवाह के कारण जीव व्यवहार से मूर्त माना जाता है। क्योंकि दोनों के प्रदेश परस्पर में इस तरह से प्रवेश कर जाते हैं - एक के प्रदेश दूसरे द्रव्य के प्रदेशों में इस तरह से मिल जाते है कि वे मिलकर एक ही पर्यायरूप हो जाते हैं। अतएव स्वतः स्वभाव से जीव के अमूर्त रहते हुए भी व्यवहार से उसमें मूर्तता मानी जाती है। और इसीलिये वह कर्मबंध को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि मूर्त के साथ बंध होने में कोई बाधा नहीं आ सकती।

इस तरह आगम के अनुसार आत्मा की मूर्तता सिद्ध है;
किंतु इस विषय में युक्ति भी दिखाते हैं :-

विद्युदाद्यैः प्रतिभयहेतुभिः प्रतिहन्यते।
यञ्चाभिभूयते मद्यप्रायैर्मूर्तस्तदङ्गभाक्।।२९।।

अतर्क्यतया उपस्थित होनेवाली बिजली की गर्जना, मेघ का शब्द या वज्रपात प्रभृति विविध प्रकार के त्रास के कारणों से यह जीव प्रतिहत - स्तब्ध हो जाता है - इसकी गति रुक जाती है। इसी तरह मदिरा भङ्ग कोदों विष धतूरा अफीण आदि पदार्थों से इसकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि अङ्ग - शरीर को अपने अङ्ग की तरह से धारण करनेवाला यह जीव मूर्त है। क्योंकि यदि यह शरीरी - संसारीजीव, क्योंकि जितने संसारीजीव हैं वे सब मूर्त हैं ऐसा पहले कहा गया है, मूर्त न हो तो उसकी उक्त अवस्थाएँ नहीं हो सकती हैं।

इस प्रकार आगम और युक्ति से सिद्ध होनेपर भी जिसके कर्मों की मूर्तता भले प्रकार अनुभव में आ जाय ऐसा प्रमाण बताते हैं।

यदाखुविषवन्मूर्तसंबंधेनानुभूयते।
यथास्वं कर्मणः पुंसा फलं तत्कर्म मूर्तिमत्।।३०।।

कर्म दो प्रकार के हैं। एक तो वे जिनका कि फल सुख के कारणभूत इन्द्रियों के विषय हैं। दूसरे वे कि जिनका फल दु:ख के कारणभूत इन्द्रियों के विषय हैं। इनमें से जो कर्म जिस तरह का है वह उसी तरह का फल उत्पन्न करता है। जिस तरह से कि चूहे के विष से शरीर में चूहे सरीखे ही जीव पड जाते हैं। इसी तरह से पुण्यकर्म के उदय से सुखरूप और पापकर्म के उदय से दु:खरूप फल उत्पन्न होते हैं। ये फल मूर्त हैं और मूर्त पदाथ के संबंध से ही जीव उनको भोगता है। इस से अनुभव में आता है कि वह कर्म भी मूर्तिमान ही होना चाहिये। क्योंकि यह नियम है कि जिसका अनुभव मूर्त पदार्थ के संबंध से होगा वह स्वयं भी अवश्य मूर्त ही होगा।

अपने प्राप्त शरीर की बराबर जीव का परिणाम होता है;
इस बात को सिद्ध करते हैं। -

स्वाङ्ग एव स्वसंवित्त्या स्वात्मा ज्ञानसुखादिमान्।
यत:संवेद्यते सर्वै: स्वदेहप्रमितिस्तत: ।।३१।।

ज्ञान दर्शन सुख प्रभृति गुणों व पर्यायों से युक्त अपनी आत्मा का अपने अनुभव से अपने शरीर के भीतर ही सब जीवों को संवेदन होता है। इससे मालूम होता है कि जीव का परिमाण अपने शरीर के बराबर ही है।

भावार्थ :- निज आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा बाहर नहीं किंतु अपने शरीर में ही अनुभव होता है। और शरीर में कहीं कहीं नहीं किंतु उसके सभी प्रदेशों में होता है। इससे मालूम पडता है कि जीव का परिणाम अपने गृहीत शरीर के बराबर ही रहता है; न छोटा न बडा। क्योंकि जिस प्रकार दीपक जिस कमरे आदिक में और उसके जितने प्रदेशों में प्रकाश करता हुआ उपलब्ध होता है वह उसी जगह और उतने ही प्रदेशों में है; ऐसा माना जाता है। उस पदार्थ के अस्तित्व की उपलब्धि उसके असाधारण गुणों से होती है। जिस तरह दीप के अस्तित्व का प्रत्यय उसके भासुरता आदि गुणों से होता हैं उसी प्रकार जीव के अस्तित्व का प्रत्यय उसके ज्ञानदर्शन सुख वीर्य प्रभृति असाधारण

गुणों से होता है। इन गुणों का अनुभव शरीर के भीतर ही होता है और उसके समस्त प्रदेशों में होता है। इससे सिद्ध है कि आत्मा का परिमाण शरीर के बराबर ही है।

प्रत्येक शरीर में जीव भिन्न - भिन्न है, यह बात दिखाते हैं -

यदैवैकोश्नुते जन्म जरां मृत्युं सुखादि वा।
तदैवान्योऽन्यदित्यङ्ग्या भिन्नाः प्रत्यङ्गमङ्गिनः।।३२।।

जिस समय में एक जीव जन्म धारण करता है उसी समय में दूसरा वृद्ध हो जाता है। या एक बुढ़ा होता है तो उसी समय में दूसरा जन्म ग्रहण करता है। जब कि एक सुख और ऐश्वर्य का भोग करता है तो दूसरा उसी समय में दुःख दुर्गतियों को भोगता है। यह जगत् की विचित्रता है, जो कि प्रायः सभी के निर्बाध और वास्तविक ज्ञानमें प्रतिभासित होती है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक शरीर में शरीर का धारण करनेवाला आत्मा भिन्न - भिन्न ही है।

'जीव पृथिवी आदि भूतों का ही कार्य है'
इस बात का, चार्वाक को लक्ष्य करके खण्डन करते हैं :-

चितश्चेत् क्ष्माद्युपादानं सहकारि किमिष्यते।
तञ्चेत् तत्त्वान्तरं तत्त्वचतुष्कनियमः क्व सः।।३३।।

'जीव पृथिवी आदि भूतों का कार्य है,' चार्वाक की इस कल्पना पर सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि वह भूतचतुष्टय का कार्य है तो भूतचतुष्टय उसका [१] उपादानकारण है या सहकारी [२] कारण ? यदि उपादानकारण है तो उसका निमित्तकारण कौन सा माना जायगा ? क्योंकि विना निमित्तकारण के कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता।

१, २ - जो कार्यरूप परिणत हो जाय उसको उपादान कारण कहते हैं, और जो कार्य के उत्पन्न होने में बाह्य सहायक हो उसको सहकारी या निमित्त कारण कहते हैं।

यह कार्यमात्र के लिये नियम है कि अंतरङ्ग और बाह्य दोनों कारणों के मिले बिना यह उत्पन्न नहीं हो सकता। अतएव चेतना - कार्य के लिये भी भूतचतुष्टय को अंतरंग - उपादानकारण मान लेनेपर भी सहकारी कारण की अपेक्षा होगी। यदि दूसरे पक्ष के अनुसार भूतचतुष्टय को उसका निमित्त कारण माना जाय तो जीवतत्त्व भूतचतुष्टय से भिन्न ही है ऐसा सिद्ध होता है। और ऐसा होने पर 'पृथिवी जल अग्नि और वायु ये चार ही तत्त्व हैं' ऐसा चार्वाकों का नियम किस तरह रह सकता है ? इससे सिद्ध होता है कि जीवतत्त्व भूतचतुष्टय का कार्य नहीं है।

चेतना किसको कहते हैं सो बताते हैं :-

अन्वितमहमिकया प्रतिनियतार्थावभासिबोधेषु।
प्रतिभासमानखिलैर्यद्रूपं वेद्यते सदा सा चित्।।३४।।

यथायोग्य इन्द्रियों के ग्रहण करने योग्य घटपटादिक पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले ज्ञानों में अन्वित और अहमहमिका - जिस मैंने पहले घट को देखा और जाना था वही मैं अब वस्त्र को देख जान रहा हूँ, इस तरह के पूर्वाकार और उत्तराकार को विषय करनेवाले संवेदन के द्वारा अपने स्वरूप को प्रकाशित करनेवाले जिस रूप का सभी सदा स्वयं अनुभव करते हैं उसीको चेतना कहते हैं। इस चेतना के तीन भेद हैं; कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना।

जब कि चेतना के तीन भेद हैं तो यह बताइये कि कौनसा जीव प्रधानतया किस चेतना का अनुभव करता है ? इसका उत्तर देते हैं -

सर्वे कर्मफलं मुख्यभावेन स्थावरास्त्रसाः।
सकार्यं चेतयन्तेऽस्तप्राणित्वा ज्ञानमेव च।।३५।।

स्थावर - पृथिवीकायिक से लेकर वनस्पतिपर्यंत पाँचों ही प्रकार के सभी एकेन्द्रिय जीव, मुख्यतया कर्मफल का अनुभव करते हैं। जो द्विन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक त्रसजीव

हैं वे सभी कर्म के साथ कर्मफल का भी अनुभव करते हैं। जिनकी प्राणिता अस्त हो चुकी है - जिनके द्रव्यप्राण और उसके कारण नष्ट हो चुके हैं ऐसे जीव ज्ञान का ही अनुभव करते हैं।

सुखदु:खरूप कर्मफल के अनुभव को कर्मफलचेतना, प्रवृत्ति की कारणभूत क्रियाओं की प्रधानता उत्पन्न हुए सुखदु:खरूप परिणामों के अनुभव को कर्मचेतना, स्वत: आत्मा से अभिन्न अतएव स्वाभाविक सुख के अनुभव को ज्ञानचेतना कहते हैं इनमें से कर्मफल चेतना मुख्यतया स्थावर जीवों के, मुख्यतया कर्मचेतना और गौणतया कर्मफलचेतना त्रसजीवों के तथा मुख्यतया ज्ञानचेतना और गौणतया कर्मफलचेतना द्रव्य७प्राणरहित जीवों के होती है। व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दृष्टि से प्राणरहित जीव क्रम से दो प्रकार के हैं - एक जीवन्मुक्त, दूसरे परममुक्त। जो परममुक्त हैं उनके कर्म और कर्मफल सर्वथा निर्जीर्ण हो चुके हैं और वे अत्यंत कृतकृत्य हैं; अतएव वे उक्त प्रकार के ज्ञान का ही अनुभव करते हैं। किंतु जो जीवन्मुक्त हैं वे मुख्यतया ज्ञान का और गौणतया उक्त दोनो चेतनाओं का अनुभव करते हैं; जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। कर्मफलचेतना और कर्मचेतना दोनों को अज्ञानचेतना कहते हैं। क्योंकि दोनों में ज्ञान से भिन्नता का प्रत्यय होता है - 'कर्मचेतना में ज्ञान से भिन्न इसका मैं कर्ता हूँ' ऐसा, और कर्मफलचेतना में, 'ज्ञान से भिन्न इसको मैं भोग रहा हूँ' ऐसा अनुभव होता है। ये दोनों ही जीवन्मुक्त के इसलिये गौण हो जाते हैं कि उनके बुद्धिपूर्वक कर्मों के कर्तृत्व और उनके फल के भोक्तृत्व का विनाश हो जाता है।

अब क्रमप्राप्त आस्रवतत्त्व का स्वरूप बताते हैं :-

ज्ञानावृत्त्यादियोग्या: सद्गधिकरणा येन भावेन पुंस:
शस्ताशस्तेन कर्मप्रकृतिपरिणतिं पुद्गला ह्यास्रवन्ति।
आगच्छन्त्यास्रवोसावकथि पृथगसद्दृग्मुखस्तत्प्रदोष -
प्रष्ठो वा विस्तरेणास्रवणमुत मत: कर्मताप्ति: स तेषाम्।।३६।।

योग के द्वारा कर्मप्रकृतिरूप परिणमन को - पुद्गलत्व की अपेक्षा ध्रौव्य एवं परिणमन

की अपेक्षा पूर्वाकार के परिहार तथा उत्तराकार की प्राप्ति को धारण करते हुए और ज्ञानावरणादि कर्मरूप होने के योग्य तथा जीव के समानस्थानवाले कर्मवर्गणारूप पुद्गल जीव के जिन प्रशस्त या अप्रशस्त - शुभ या अशुभ भावों से आते हैं उनको आस्रव कहते हैं। इसीके विस्तार दृष्टि से मिथ्यादर्शन [१] प्रभृति तथा [२] तत्प्रदोषादिक विशेष भेद गिनाये हैं। अथवा योगों के द्वारा ज्ञानावरणआदिके योग्य पुद्गलों के आने को भी आस्रव कहते हैं। यहां पर आने का अर्थ उनका ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन होना है। आस्रव के इन दो लक्षणोंमें से पहला भावास्रव का और दूसरा द्रव्यास्रव का लक्षण समझना चाहिये। क्योंकि जीव के भावों से कर्म आते हैं, उनको भावास्रव और कर्मयोग्य पुद्गलों के आने को द्रव्यास्रव कहते हैं। यथा :-

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि।।

जीव के जिन परिणामों से कर्म आते हैं, उनको भावास्रव और कर्मों के आने को द्रव्यास्रव कहते हैं।

ऊपर कर्मवर्गणाओं के विषय में जो जीव के समान स्थानवाले ऐसा विशेषण दिया है उसका अभिप्राय यह है कि कर्म का संबंध जीव के जितने प्रदेश हैं उन सबके साथ होता है न तो जीव के बाहर संबंध होता है और न जीव के किसी प्रदेश को छोडकर ही होता है। अतएव आस्रव भी जीव के समस्त ही प्रदेशों में होता है। क्योंकि जीव के जिन परिणामों से कर्म आते हैं वे समस्त प्रदेशों में ही हो सकते हैं। क्योंकि जीव अखण्ड द्रव्य है। उसमें किसी भी गुण का कोई भी परिणमन समस्त द्रव्य में ही हो सकता है।

जीव के परिणामों से जो पुद्गल आते हैं वे आत्मा को प्राप्त होकर परस्पर में अत्यंत अवगाढता को धारण कर लेते हैं - एक दूसरे के प्रदेशों में प्रवेश कर अवस्थित हो

---

१ - 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः'। इस सूत्र में बताये हुए।

२ - 'तत्प्रदोषनिन्हवमात्सर्यान्तिरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः' इत्यादि सूत्रों के द्वारा उक्त।

जाते हैं और कर्मरूप परिणमन कर लेते हैं। यथा :-

अत्ता कुणदि सहावं तत्थगदा पुग्गला सहावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णा गाढमवगाढा।।

भावास्रव के भेद गिनाते हैं :-

मिथ्यादर्शनमुक्तलक्षणमसुभ्रंशादिकोऽसंयमः
शुद्धावष्टविधौ दशात्मनि वृषे मान्द्यं प्रमादस्तथा।
क्रोधादिः किल पञ्चविंशतितयो योगस्त्रिधा चास्रवाः
पञ्चैते यदुपाधयाः कलियुजस्ते तत्प्रदोषादयः।।३७।।

भावास्रव के पाँच भेद हैं, १ मिथ्यादर्शन २ असंयम ३ प्रमाद ४ कषाय और ५ योग। इन्ही के विशेष भेद तत्प्रदोषादिक हैं; जैसा कि पहले कहा जा चुका है और जिनसे कि कर्मों का बंध होता है।

मिथ्यादर्शन - इसका लक्षण पहले 'मिथ्यात्वकर्मपाकेन' इत्यादि श्लोक की व्याख्या द्वारा बताया जा चुका है। वहीं पर उसके भेद भी गिना दिये गये हैं। अतएव यहां फिर उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

असंयम - प्राणघात - हिंसा आदि भावों को असंयम कहते हैं। इसके बारह भेद हैं। जिसमें से ६ प्राणासंयम और ६ इन्द्रियासंयम के हैं। पाँच स्थावर (पृथिवी जल अग्नि वायु वनस्पति) और त्रस इन छह काय के जीवों की हिंसादि करना प्राणासंयम हैं। पाँच इंद्रिय और एक मन इन छहों को अपने अपने विषय से न रोकना इन्द्रियासंयम हैं। इस प्रकार असंयम के कुल बारह भेद होते हैं।

प्रमाद - किसी भी काल में सावधानता न रखने को प्रमाद कहते हैं। यहां अनगार धर्म का प्रकरण है, अतएव आठ प्रकार की [१] शुद्धि, दश प्रकार का [२] धर्म, तथा और

१ - भिक्षा ईर्या शयनासन विनय व्युत्सर्ग वचन मन और शरीर।

२ - उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव आदि

भी धर्माचरणों में मंदता करने को - उसके सेवन करने में उत्साह न रखने को प्रमाद समझना चाहिये। जैसा कि आगम में भी बताया है -

संज्वलननोकषायाणां यः स्यात्तीव्रोदयो यतेः।
प्रमादः सोस्त्यनुत्साहो धर्म्ये शुद्ध्यष्टके तथा।।

यतियों के संज्वलन और नोकषाय का उदय जो तीव्र होता है उससे आठ प्रकार की शुद्धि और धार्मिक आचरण में उत्साह नहीं होता; इसीको प्रमाद कहते हैं। यह प्रमाद पंद्रह प्रकार का होता है। यथा :-

विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा य तह य पणओ य।
चदु चदु पण एगेगं होंति पमादा हु पण्णरसा।।

चार विकथा (स्त्रीकथा भक्तकथा राष्ट्रकथा राजकथा), चार प्रकार का कषाय (क्रोध मान माया लोभ), पाँच इन्द्रिय (स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र), एक निद्रा और एक प्रणय - [१] स्नेह।

आत्मा के क्रोधादिरूप विकृतभावों को कषाय कहते हैं। इसके ५२ भदे हैं। क्रोध मान माया लोभ इन चार कषायों में से प्रत्येक के चार चार भेद हैं अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। इसके सिवाय हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री पुरुष नपुंसक नव भेद ये। कुल मिलाकर कषाय के २५ भेद होते हैं। यद्यपि हास्यादिक को नोकषाय कहते हैं, न कि कषाय। फिर भी नोकषाय शब्द का अर्थ ईषत् कषाय होता है; और थोडे से भेद की विवक्षा नहीं भी की जा सकती है। अतएव कषाय शब्द से ही यहां सबका उल्लेख किया है। और आगम में भी कषाय २५ गिनाये हैं, इसलिये यहां किसी तरह की शंका का स्थान नहीं रह सकता।

योग - मन वचन और काय के द्वारा जो आत्मप्रदेशों में परिस्पंदरूप व्यापार होता है उसको योग कहते हैं। अतएव आलंबन की अपेक्षा से इसके तीन भेद हैं; मनोयोग, वचनयोग, काययोग।

---

१ - प्रमाद के विशेष भेद और भङ्गपद्धति आदि गोम्मटसार की टीका में देखने चाहिये।

इस प्रकार ये भावास्रव के भेद हैं। इन्ही के उत्तर भेद मोक्षशास्त्रादिक में 'तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तराया' आदि सूत्रों के द्वारा बताये गये हैं। ये मिथ्यादर्शनादिक और उनके तत्प्रदोषादिक उत्तर भेद समस्त और व्यस्त दोनों ही तरह से बंध के कारण हुआ करते हैं। तथा जहाँ जो निमित्त हो वहां उस निमित्त के अनुसार स्थिति और अनुभाग की अपेक्षा से ज्ञानावरणादि कर्मों का, जैसा कि सूत्रमें बताया गया है, बंध होता है और प्रकृति प्रदेश की अपेक्षा से सभी कर्मों का बंध हुआ करता है।

पहले और तीसरे गुणस्थान में ये पाँचों ही भेद पाये जाते हैं। सासादन और असंयतसम्यग्दृष्टि में मिथ्यात्व को छोडकर बाकी चार, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत में मिथ्यात्व तथा अविरति के सिवाय तीन, अप्रमत्त से लेकर सूक्ष्मसांपराय तक कषाय और योग, एवं उपशांत कषायादिक में एक योग ही पाया जाता है। चौदहवाँ गुणस्थान अयोगी है; और इसीलिये वह अबंधक है।

बंध के कारण को आस्रव कहते हैं। इसके उक्त भेदों में से योग को छोडकर बाकी चार स्थिति और अनुभागबंध को कारण हैं; तथा योग प्रकृति और प्रदेश बंध को कारण है :-

बंध का स्वरूप बताते हैं :-

स बंधो बध्यन्ते परिणतिविशेषण विवशी -
क्रियन्ते कर्माणि प्रकृतिविदुषो येन यदि वा।
स तत्कर्माम्नातो नयति पुरुषं यत्सुवशतां
प्रदेशानां यो वा स भवति मिथः श्लेषः उभयोः।।३८।।

पूर्वबद्ध कर्मों के फल का अनुभव करनेवाले - फल को भोगनेवाले जीव के जिन परिणामों से कर्म बंधते हैं - परतंत्र हो जाते हैं उसको बंध कहते हैं। अथवा उस कर्म को ही बंध कहते हैं जो कि जीव को अपने अधीन कर लेता है। इसी तरह जीव और कर्म इन दोनों के ही प्रदेशों के परस्पर में प्रवेश हो जाने को भी बंध कहते हैं।

भावार्थ :- यहां पर बंध के जो तीन लक्षण किये गये हैं सो तीन अपेक्षाओं से हैं। पहला लक्षण करणसाधन की अपेक्षा से, और दूसरा कर्तृसाधन की अपेक्षा से तथा

तीसरा लक्षण भावसाधन की अपेक्षा से है।

पहला लक्षण बंध के बाह्य और अंतरंग दोनों कारणों की प्रधानता से किया गया है। बाह्य कारण योग और अंतङ्ग कारण मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुए विकारभाव हैं। योग का लक्षण ऊपर लिखा जा चुका है कि मनो-वाक्-काय वर्गणाओं के अवलंबन से जो आत्मप्रदेशों का परिस्पंद होता है उसको योग कहते हैं। यह भी जीव का ही एक विकार - परिणामविशेष है कि जिसके द्वारा बंधनेवाले कर्म आया करते हैं। आते हुए कर्मों को वा पुण्यपापरूप से परिणत होकर प्रविष्ट हुओं को विलक्षण रूप में परिणमाकर उनको भोग्य बनाकर जीव के साथ संबंद्ध कर देना अंतरङ्ग कारण का कार्य है। क्योंकि पूर्वसंचित कर्मों के उदय से प्राप्त हुए फल को भोगनेवाले जीव के जो रागद्वेष या मोहरूप स्निग्ध परिणाम होते हैं वे ही कर्मपुद्गलों को विशिष्ट शक्तियुक्त परिणमन को प्राप्त कर अवस्थित करने में निमित्त हैं किंतु योग जीवप्रदेश और कर्मस्कंध दोनों के परस्पर में अनुप्रवेश का कारण है। अतएव वह बहिरङ्ग माना जाता है। इस प्रकार ये दोनों ही जीव के परिणाम - विशेषरूप कारण कर्मों का फल देने के लिये विवश कर देते हैं। आगम में भी ये दो ही बंध के कारण प्रधानतया माने गये हैं। यथा :-

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरायदोसमोहजूदो।।

इस प्रकार करण - साधन की अपेक्षा से यह बंध का लक्षण हुआ। क्योंकि यहां पर बंध के कारणों का ही प्रधानतया निर्देश किया गया है और असाधारण कारणों को ही करण कहते हैं। किंतु कर्तृसाधन की अपेक्षा से कर्म को प्राधान्य दिया जाता है। ऊपर बंध का दूसरा जो लक्षण दिखाया गया है उसमें कर्म की स्वतंत्रता की अपेक्षा है। इस अपेक्षा से जो जीव को अपने अधीन बना लेता है और भोक्तृतया आत्मा के साथ संबंद्ध होता है उस कर्म को बंध कहते हैं। इसी तरह तीसरे भावसाधन की अपेक्षा से जीव और कर्म के परस्पर में प्रदेशानुप्रवेश होने को बंध कहते हैं। यहां पर योग के द्वारा अनुप्रविष्ट हुए जीव प्रदेशवर्ती कर्मस्कंधों का कषायादिक के निमित्त से हुए उत्पन्न हुए विशिष्ट शक्तियुक्त परिणमन को धारण कर अवस्थित होना बंध समझना चाहिये।

आगम में भी ऐसा ही कहा है, यथा :-

परस्परप्रदेशानां प्रवेशो जीवकर्मणोः।
एकत्वकारको बंधो रुक्मकाञ्चनयोरिव।।

जिस प्रकार अनेक तरह से रस और शक्तिवाले फल फूलों को पात्रविशेष में रखने पर उनका मदिरा आदि परिणमन हो जाता है उसी प्रकार योग और कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ संबंध करनेवाले पुद्गलों का भी कर्मरूप परिणमन हो जाता है। यह परिणमन कारण की मंदता तीव्रता आदि के अनुसार मंद तीव्र आदि हुआ करता है। किन्तु सामान्य से बंध के दो भेद हैं - एक भावबंध दूसरा द्रव्यबंध। राग द्वेष या मोहरूप जो जीव के अशुभ स्निग्ध परिणाम होते हैं उसको भावबंध कहते हैं। और उसके निमित्त से शुभ या अशुभरूप परिणत पुद्गलों का जीव के साथ परस्पर में संबंध हो जाने को द्रव्यबंध कहते हैं; जैसा कि आगम में भी कहा है :-

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो।।
पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।।

प्रश्न :- आस्रव और बंध दोनों ही में मिथ्यात्व अविरति आदि कारण समान बताये हैं; फिर उनमें क्या विशेषता है ?

उत्तर :- प्रथम क्षण में जो कर्मस्कंधों का आगमन होता है उसको आस्रव कहते हैं। आगमन के अनंतर द्वितीयादि क्षणमें जो उनका जीवप्रदेशों में अवस्थान होता है उसको बंध कहते हैं। यह भेद है। तथा आस्रवमें योग की मुख्यता है और बंध में कषायादिक की। जिस प्रकार राजसभा में अनुग्राह्य और निग्राह्य पुरुष के प्रवेश करने में राजा के आदिष्ट पुरुष की मुख्यता होती है और उसके साथ अनुग्रह या निग्रह करने में राजा के आदेश की प्रधानता रहती है। उसी प्रकार आस्रव और बंध के कारणों में भी कथंचित्

भेद समझना चाहिये।

ऊपर बंध के चार भेद बताये हैं - प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश। अब इन चारों का स्वरूप बताते हैं -

ज्ञानावरणाद्यात्मा प्रकृतिस्तद्विधिरविच्युतिस्तस्मात्।
स्थितिरनुभवो रसः स्यादणुगणना कर्मणां प्रवेशश्च।।३९।।

प्रकृति - यह द्रव्यबंध का एक भेद है। प्रकृति शब्द का अर्थ स्वभाव है। जिस प्रकार निम्ब का स्वभाव तिक्तता और गुड का स्वभाव मधुरता होता है उसी प्रकार कर्मस्कंधों का भी स्वभाव हुआ करता है। योग्यतानुसार कर्मस्कंधों में आत्मा की ज्ञानादिक शक्तियों को आवृत - आच्छादित कर सकनेवाली शक्तियों अथवा उन उन कार्यों के कर सकनेवाले स्वभावों का आविर्भाव हुआ करता है। इसीको प्रकृतिबंध कहते हैं। इसके स्वभाव भेद की अपेक्षा से आठ भेद हैं - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय। इनके स्वभाव को आगम में दृष्टान्त देकर बताया गया है। उसकी गाथा इस प्रकार है -

पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं।
जह एदेसिं भावा तह कम्माणं वियाणाहि।।

वस्त्र, प्रतिहारी (ड्योढीवान्), अक्ष (तलवार), मद्य, खोडा, चित्रकार, कुम्भार और भंडारी ये उक्त आठ कर्मों के आठ उदाहरण हैं। जिस प्रकार वस्त्र से आच्छादित होनेपर वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता उसी प्रकार ज्ञानावरण का यह स्वभाव होता है कि उसके उदय से आत्मा को ज्ञान नहीं हो सकता। जिस प्रकार प्रतिहारी के बीच में आ जानेपर राजा आदि के दर्शन नहीं हो सकते उसी प्रकार दर्शनावरण के उदय होनेपर पदार्थ दिख नहीं सकते। जिस प्रकार मधुलिप्त छुरी के निमित्त से सुखदुःख का अनुभव हुआ करता है उसी प्रकार वेदनीय कर्म के उदय से जीव को सुखदुःख का वेदन - अनुभव हुआ करता है। जिस प्रकार मद्य पीने से मनुष्य मोहित हो जाता है उसी तरह मोहनीय कर्म

के उदय से जीव विषयों में मूर्च्छित रहा करता है। जिस प्रकार काठ में पैर पड जाने से मनुष्य इधर उधर नहीं जा सकता उसी प्रकार आयुकर्म के उदय से जीव को भव धारण करना ही पडता है और उस भव में रहना ही पडता है। वह स्वतंत्रता से चाहे जहाँ गमन नहीं कर सकता। जिस प्रकार चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र बनाता है उसी तरह नामकर्म के उदय से नारकि आदि अनेक अवस्थाएँ जीव की बनती हैं। जिस तरह कुम्भार छोटे बडे बर्तन बनाता है उसी तरह गोत्रकर्म के उदय से जीव का उच्च नीच व्यपदेश होता है। जिस तरह भण्डारी द्रव्य देने में विघ्न डाला करता है उसी तरह अंतरायकर्म के उदय से जीव के दानादिक कार्यों में विघ्न उपस्थित हुआ करता है। इस प्रकार जो कर्मस्कंध आत्मा से संबद्ध होते हैं वे प्रकृतिस्वभावभेद की अपेक्षा से आठ प्रकार के हैं। इस स्वभावभेद की अपेक्षा से ही अर्थ के अनुसार कर्मों के उपर्युक्त आठ नाम रक्खे गये हैं।

बंध का दूसरा भेद स्थिति है। उपर्युक्त स्वभाव से उन कर्मस्कंधों के न छूटने को - जबतक वे कर्मस्कंध अपने उक्त स्वभाव से च्युत न हो जाय तबतक की कालमर्यादा को स्थिति कहते हैं। जिस प्रकार बकरी गौ भैंस आदि के दूध में स्थिति कालमर्यादा रहा करती है कि उनका माधुर्य स्वभाव इतने कालतक तदवस्थ रहेगा। इसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों में भी स्वभाव की कालमर्यादा पडा करती है कि उनका वह स्वभाव इतने कालतक तदवस्थ रहेगा और उस स्वभाववाले कर्मस्कंध आत्मा से इतने कालतक संबद्ध रहेंगे। इसीको स्थितिबंध कहते हैं। यह स्थिति कम से कम अंतर्मुहूर्त और अधिक से अधिक सत्तर कोडाकोडी सागरतक की होती है। किंतु एकेक समय की हीनाधिकता से अनेक प्रकार की है जो कि ग्रंथांतरों में बताई गई है।

बंध का तीसरा भेद अनुभव है। कर्मस्कंधों के रस - सामर्थ्यविशेष को अनुभव कहते हैं। जिस प्रकार बकरी गौ या भैंस आदि के दूध में जो पुष्टि अपना कार्य करनेवाली शक्ति है उसमें तीव्र मंद आदिरूप अनेक प्रकार की विशेषता रहा करती है। उसी प्रकार कर्मपुद्गलों में भी अपना अपना कार्य करने में सामर्थ्य की विशेषता रहा करती है। इसीको अनुभवबंध कहते हैं। अनुभवबंध के अनुसार इस प्रकार की सामर्थ्यविशेष से युक्त परमाणुओं का आत्मा से संबंध होता है। किंतु प्रकृतिबंध में आस्रव के द्वारा आये हुए अष्टकर्मयोग्य पुद्गल आत्मा से बंधते हैं। यही प्रकृतिबंध और अनुभवबंध में अंतर

है। जहाँ पर जीव के शुभ परिणाम प्रकर्षतया पाये जाते हैं वहाँ पर शुभकर्मों का अनुभव प्रकृष्ट और अशुभकर्मों का निकृष्ट हुआ करता है। और जहाँ परिणाम प्रकर्षतया हुआ करते है वहाँ पर अशुभ कर्मों का अनुभव तीव्र तथा शुभ कर्मों का अनुभव मंद हुआ करता है। घाति और अघाति भेद की अपेक्षा से घातिकर्मों की शक्ति लता दारु अस्थि और पाषाण इस तरह चार प्रकार की होती है। अघातिकर्मों में अशुभ कर्मों की शक्ति निम्ब काञ्जीर विष और हलाहल इस तरह चार प्रकार की और शुभकर्मों की गुड खांड शक्कर और अमृत इस तरह चार प्रकार की हुआ करती है। इन उदाहरणों के अनुसार ही कर्मों के सामर्थ्य से भी विशेषता हुआ करती है। उसीको अनुभव कहते हैं। इस तरह से सामर्थ्ययुक्त परमाणुओं के, आत्मा के साथ बंधने को अनुभवबंध कहते हैं।

बंध का चौथा भेद प्रदेशबंध है। बंधनेवाली कर्मपरमाणुओं की संख्या के विषय में निश्चित इयत्ता को प्रदेशबंध कहते हैं। क्योंकि कर्मस्कंध ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत होकर आत्मा के साथ बंधते हैं उनमें परमाणुओं की संख्या भी निश्चित रहती है। क्योंकि ऐसा होनेपर ही उनका वह स्वभाव स्थिर रह सकता है; और स्वभाव के अनुसार फल भी हो सकता है। क्योंकि पुद्गलस्कंध में परमाणुओं की संख्या में परिवर्तन होनेपर स्वभावादिक में भी परिवर्तन हो जाना न्यायप्राप्त है।

इस प्रकार बंध के ये चार भेद हैं जिनका कि लक्षण ऊपर लिखा गया है। ऐसा ही आगम में भी कहा है। यथा -

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो विपाकस्तु प्रदेशोंशविकल्पनम्।।

बंध की यह विचित्रता उसके कारणभूत कषायादिकों की विचित्रता पर निर्भर है; क्योंकि कारण के अनुसार कार्य हुआ करता है। अथवा जिस प्रकार खाये हुए अन्नादिक का स्कंध एक ही है; फिर भी उसमें अनेक विकाररूप परिणत होने की सामर्थ्य रहती है और कारण के अनुसार वह वात पित्त कफ खल रस आदि अनेक परिणमन को प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार यद्यपि जो कर्मस्कंध आता है वह एक ही है; फिर भी कारणभेद के अनुसार वह नारकादि नानारूप परिणमन कर लेता है। जिस प्रकार कर्मसामान्य के लिये यह कहा गया है उसी प्रकार कर्मविशेष के लिये भी समझना चाहिये।

क्योंकि जिस प्रकार आकाश से वर्षनेवाला जल यद्यपि एक ही रहता है, फिर भी वह पात्रादिक सामग्री की विशेषता के अनुसार अनेक रसरूप परिणत हो जाता है। उसी प्रकार एक ही ज्ञानावरणादिक स्कंध कषायादि सामग्री की तरतमता के अनुसार मत्यावरणादि अनेकरूप परिणत हो जाता है। इसी तरह दूसरे भी विशेष कर्मों के विषय में समझना चाहिये।

इस कर्म के सामान्य से एक, विशेषतया पुण्यपाप की अपेक्षा दो, उपर्युक्त प्रकृति आदि की अपेक्षा चार, और ज्ञानावरणादिक की अपेक्षा आठ भेद होते हैं तथा इसी तरह अपेक्षा भेद के अनुसार संख्यात असंख्यात और अनंतभेद भी होते हैं।

ऊपर जो अघातिकर्म के पुण्य और पाप इस तरह दो भेद बताये हैं उनका स्वरूप और भेद बताते हैं :-

पुण्यं यः कर्मात्मा शुभपरिणामैकहेतुको बंधः।
सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रभित्ततोऽपरं पापम्।।४०।।

उस कर्मात्मक बंध को कि जिसके प्रधान हेतु जीव के शुभ परिणाम हैं, पुण्य कहते हैं और जिसके प्रधान हेतु जीव के अशुभ परिणाम हैं उसको पाप कहते हैं। इस पुण्य और पाप के दो भेद हैं। द्रव्यपुण्य और भावपुण्य तथा द्रव्यपाप और भावपाप। जीव के शुभ परिणामों के निमित्त से कर्ता पुद्गल का जो विशिष्ट प्रकृतिरूप परिणमन निश्चय से कर्मरूप को प्राप्त हो जाता है उसको द्रव्यपुण्य कहते हैं। और कर्ता जीव के वे कर्मरूप को प्राप्त होनेवाले शुभ परिणाम जो कि उस द्रव्यपुण्य का निमित्त हैं उन्हें आस्रवक्षण के अनंतर भावपुण्य कहते हैं। इसी तरह द्रव्यपाप और भावपाप का भी स्वरूप समझना चाहिये। अंतर इतना ही है कि इसमें जीव के अशुभ परिणाम ग्रहण करने चाहिये, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

पुण्यकर्म के सामान्य से चार भेद हैं - सातावेदनीय, शुभआयु, शुमनाम और शुभगोत्र। किंतु उत्तर भेद बयालीस हैं। यथा - सातावेदनीय १ तिर्यगायु २ मनुष्यायु ३ देवआयु ४ मनुष्यगति ५ देवगति ६ पंचेन्द्रियजाति ७ औदारिकशरीर ८ वैक्रियिकशरीर ९ आहारकशरीर १० तैजसशरीर ११ कार्माणशरीर १२ औदारिक अङ्गोपाङ्ग १३ वैक्रियिक अङ्गोपाङ्ग १४ आहारक अङ्गोपाङ्ग १५ समचतुरस्रसंस्थान १६ वज्रर्षभनाराच संहनन १७ प्रशस्तवर्ण १८

प्रशस्तगंध १९ प्रशस्तरस २० प्रशस्तस्पर्श २१ मनुष्यगत्यानुपूर्व्य २२ देवगत्यानुपूर्व २३ अगुरुलघु २४ परघात २५ उच्छ्वास २६ आतप २७ उद्योत २८ प्रशस्तविहायोगति २९ त्रस ३० बादर ३१ पर्याप्त ३२ प्रत्येकशरीर ३३ स्थिर ३४ शुभ ३५ सुभग ३६ सुस्वर ३७ आदेय ३८ यश:कीर्ति ३९ निर्माण ४० तीर्थंकर ४१ उच्चगोत्र ४२।

इसी तरह जिस कर्मरूप बंध के प्रधान हेतु जीव के अशुभ परिणाम हैं उसको ही पाप कहते हैं। इसके आठ भेद हैं जिनके नाम ऊपर लिखे जा चुके हैं। किंतु उत्तर भेद बयासी हैं, यथा - ज्ञानावरण की पांच (मति - ज्ञानावरण आदि), दर्शनावरण की नव (चक्षुर्दर्शनावरण आदि), असातावेदनीय एक, मोहनीय की छब्बीस (एक मिथ्यात्व और २५ कषाय), आयु एक (नारक), नामकर्म की ३४ (उपर्युक्त पुण्य प्रकृतियों के सिवाय नरक गति आदि), गोत्र एक (नीच), अंतराय की पाँच (दानान्तराय आदि)।

इस प्रकार बंधतत्त्व के स्वरूप और भेद बताये गये। अब उसके बाद संवरतत्त्व क्रमप्राप्त है। अतएव उसका स्वरूप और भेद बताते हैं :-

स संवरः संव्रियते निरुध्यते कर्मास्रवो येन सुदर्शनादिना।
गुप्त्यात्मना वात्मगुणेन संवृतिस्तद्योगतद्भावनिराकृति स वा।।४१।।

आत्मा के जिन सम्यग्दर्शनादिक अथवा गुप्त्यादिक गुणों से पूर्वोक्त कर्मों का आस्रव संवृत होता है - रुकता है उसको संवर कहते हैं। अथवा कर्मयोग पुद्गलों के कर्मरूप होने से रुकने को भी संवर कहते हैं।

भावार्थ :- संवरतत्त्व आस्रवतत्त्व का बिलकुल प्रतिपक्षी है। अतएव जिस प्रकार आत्मा के जिन परिणामों से कर्म आते उनको भावास्रव कहते और कर्मों के आने को द्रव्यास्रव कहते हैं; उसी प्रकार आत्मा के जिन भावों से कर्मों का आना रुकता है उनको भावसंवर और कर्मों के आने के रुकने को द्रव्यसंवर कहते हैं। जिस प्रकार भावास्रव के भेद मिथ्यादर्शनादिक हैं। उसी प्रकार भावसंवर के भेद सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान संयम और गुप्ति आदिक हैं। जैसा कि आगम में भी बताया है यथा :-

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपिहापरीसहजओ य।

चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा।।

व्रत समिति गुप्ति धर्म अनुप्रेक्षा परीषह जय और चारित्र तथा इनके उत्तर भेद भावसंवर के ही विशेष भेद हैं। क्रमप्राप्त निर्जरातत्त्व का स्वरूप और भेद बताते हैं -

निर्जीर्यते कर्म निरस्यते यया पुंसः प्रदेशस्थितमेकदेशतः।
सा निर्जरा पर्ययवृत्तिरंशतस्तत्संक्षयो निर्जरणं मताथ सा।।४२।
।

जीव की पर्ययवृत्ति - संक्लेशनिवृत्तिरूप परिणामों को निर्जरा - भावनिर्जरा कहते हैं कि जिसके द्वारा जीव के प्रदेशों - अंशों में स्थित कर्म एकदेशरूप से निर्जीर्ण हो जाते हैं - आत्मा से संबंध छोडकर पृथक् हो जाते हैं। अथवा जीव के प्रदेशों में स्थित कर्मों के एकदेशरूप से पृथक् होने को भी निर्जरा - द्रव्यनिर्जरा कहते हैं।

प्रश्न :- संक्लेशनिवृत्ति को पर्ययवृत्ति किस तरह कहा जा सकता है; क्योंकि जो निवृत्तिरूप है वह प्रवृत्तिरूप नहीं हो सकता। फिर ऊपर जो पर्याय शब्द का अर्थ निवृत्तिरूप किया है सो किस तरह घटित होता है ?

उत्तर :- परिशुद्धबोध को ही पर्यय कहते हैं। और इस पर्याय की वृत्ति संक्लेश से रहित ही हो सकती है। तभी उसको शुद्ध कह सकते हैं। यह शुद्धोपयोग ही बहिरंग तथा अंतरंग तप के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होकर कर्मों की शक्ति को क्षीण करने में समर्थ हो सकता है। अतएव इस शुद्धोपयोग को ही भावनिर्जरा कहते हैं। और इसके द्वारा अनुभाव - फल देकर अथवा बिना फल दिये ही पूर्वसंचित कर्मों का एकदेशरूप से क्षय होना द्रव्यनिर्जरा कहलाती है।

द्रव्यनिर्जरा के भेद और उनका स्वरूप बताते हैं -

द्विधाऽकामा सकामा च निर्जरा कर्मणामपि।
फलानामिव यत्पाकः कालेनोपक्रमेण च।।४३।।

द्रव्यनिर्जरा दो प्रकार की है - अकाम और सकाम। यथासमय उदय में आये हुए कर्मों के फल देकर निर्जीर्ण होने को अकाम निर्जरा कहते हैं। इसीको विपाकजा (सविपाक) और अनौपक्रमिकी भी कहते हैं। उपक्रम से अथवा बिना फल दिये ही कर्मों के निर्जीर्ण होने को सकाम निर्जरा कहते हैं। इसको अविपाकजा (अविपाक) और औपक्रमिकी भी कहते हैं।

भावार्थ :- यथासमय और, न केवल यथासमय ही किंतु, उपक्रम से भी फलों की तरह कर्मों के भी फल देने को पाक कहते हैं। जिस तरह आम्र प्रभृति फलों का पाक जिसमें कि रस आदि का परिणमन हो जाता है, दो प्रकार का होता है। एक तो वह कि जो अपने काल के अनुसार स्वयं हो। दूसरा वह कि जो प्रयोक्ता पुरुष के उपाय - पाल आदि में देने से हो। इसी तरह ज्ञानावरण आदि कर्मों का पाक भी दो प्रकार से होता है। अतएव निर्जरा के भी दो भेद हैं। जो कर्म स्थिति के अनुसार जिस समय में फल देने की अपेक्षा से पूर्व में संचित हुआ था उसका उसी समय में फल देकर निर्जीर्ण होना इसको सविपाकनिर्जरा कहते हैं। जो पाल के आम की तरह से प्रयोगपूर्वक उदयावली में लाकर भोगा जाय और निर्जीर्ण हो जाय उस निर्जीर्ण होने को अविपाकनिर्जरा कहते हैं।

जिसमें बुद्धिपूर्वक प्रयोग किया जाय ऐसे अपने परिणाम को उपक्रम कहते हैं। मुमुक्षुओं के शुभ या अशुभ परिणामों के निरोधरूप संवर से और शुद्धोपयोग से युक्त उपक्रम को ही तप कहते हैं। दूसरे साधारण लोगों की अपेक्षा अपने या पर के सुख या दु:ख के साधनों का बुद्धिपूर्वक प्रयोग भी उपक्रम समझना चाहिये। क्योंकि उपर्युक्त श्लोक में पर्ययवृत्ति इस शब्द से सामान्यत: परिणाममात्र का ग्रहण किया है। जैसा आगममें भी कहा है। यथा :-

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवत:।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्।।

जहाँ पर इष्ट या अनिष्ट कार्य अबुद्धिपूर्वक होते हैं वहाँ पर अपने दैव की प्रधानता

समझनी चाहिये और जहाँ पर ऐसे कार्य बुद्धिपूर्वक होते हैं वहाँ अपने पौरुष की प्रधानता समझनी चाहिये।

क्रमप्राप्त मोक्षतत्त्व का स्वरूप बताते हैं :-

येन कृत्स्नानि कर्माणि मोक्ष्यन्तेऽस्यन्त आत्मनः।
रत्नत्रयेण मोक्षोसौ मोक्षणं तत्क्षयः स वा।।४४।।

जिसके द्वारा समस्त कर्म - पहले मोहनीय प्रभृति घातिकर्म, पीछे आयु आदिक अघातिकर्म छूट जाते हैं - परम संवर के द्वारा अपूर्वकर्म आने से रुक जाते और परम निर्जरा के द्वारा पूर्वसंचितकर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं उस रत्नत्रय को - निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को अथवा इस रत्नत्रयरूप परिणत आत्मा को मोक्ष - भावमोक्ष कहते हैं। अथवा वेदनीय आयु नाम गोत्ररूप कर्मपुद्गलों के जीव से सर्वथा विश्लेष हो जाने को मोक्ष - द्रव्यमोक्ष कहते हैं आगम में भी मोक्ष के विषय में ऐसा कहा है कि -

'आत्यन्तिकः स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीवकर्मणोः।
स मोक्षः फलमेतस्य ज्ञानाद्याः क्षायिका गुणाः।।'

अपने ही कारण से जो जीव और कर्म का सर्वथा विश्लेष हो उसको मोक्ष कहते हैं। इसका फल आत्मा के ज्ञानादिक क्षायिक गुण हैं। तथा - 'बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।' द्रव्यसंग्रह में भी कहा है कि :-

'सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णोयो स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुहभावो।।'

आत्मा के वे परिणाम कि जो समस्तकर्मों के क्षय के कारण हैं भावमोक्ष समझने चाहिये और कर्मों के पृथक् हो जाने को द्रव्यमोक्ष कहते हैं।

तत्त्वार्थवार्तिक में भी कहा है कि -

ततो मोहक्षयोपेतः पुमानुद्भुतकेवलः।
विशिष्टकरणः साक्षादशरीरत्वहेतुना।।
रत्नत्रितयरूपेणायोगिकेवलिनोन्तिमे।
क्षणे विवर्तते ह्येतदबाध्यं निश्चयान्नयात्।।
व्यवहारनयाश्रित्या त्वेतत्प्रागेव कारणम्।
मोक्षस्येति विवादेन पर्याप्तं न्यायदर्शिनः।।

निश्चयनय की अपेक्षा से तो मोहनीयकर्म का क्षय हो जानेपर और केवलज्ञान के उद्भूत हो जानेपर विशिष्ट करण से युक्त जीव अयोगकेवल गुणस्थान के अंतिम समय में अशरीरता के कारणभूत रत्नत्रय के द्वारा अबाध्यपद - मोक्षरूप परिणत हो जाता है; क्योंकि साक्षात् कारण वही है। किंतु व्यवहारनय से अयोगकेवल गुणस्थान के अंतिम समय से पहले के समयवर्ती रत्नत्रय को भी मोक्ष का कारण कहा जा सकता है।

मुक्तात्माओं के स्वरूप का निरूपण करते हैं :-

प्रक्षीणे मणिवन्मले स्वमहसि स्वार्थप्रकाशात्मके
मज्जन्तो निरूपाख्यमोघचिदचिन्मोक्षार्थितीर्थक्षिपः।
कृत्त्वानाद्यपि जन्म सान्तममृतं साद्यप्यनन्तं श्रिताः
सद्दृग्धीनयवृत्तसंयमतपःसिद्धाः सदानन्दिनः।।४५।।

समीचीन दर्शन ज्ञान नय चारित्र संयम और तप इन छह उपायों के द्वारा सिद्ध - आत्मस्वभाव को सिद्ध करनेवाले मुक्तात्मा द्रव्य और भावरूप कर्ममल के सर्वथा क्षीण हो जानेपर मणि के समान अपने और समस्त परपदार्थों के प्रकाशक निज तेज में निमग्न होते हुए निरुपाख्य मोघचित् और अचित् इस तरह भिन्न भिन्न मोक्ष का स्वरूप माननेवालों के तीर्थ - आगम का परित्याग कर अनादि भी संसार को नष्ट कर सादि किंतु अनंत अमृत - मोक्षपद को प्राप्त कर लेते हैं और वे सदा आनंद - आत्मिक सुख का अनुभव

करते रहते हैं।

भावार्थ :- ऊपर सिद्धि के जो छह उपाय बताये हैं वे आरंभ अवस्था की अपेक्षा से हैं। क्योंकि कोई तो सम्यग्दर्शन की प्रधानता से रत्नत्रय को पूर्णकर समस्त कर्ममल - कलंक को नष्टकर निज स्वरूप की प्राप्तिरूप सिद्धि को प्राप्त करते हैं और कोई सम्यगज्ञान की प्रधानता से तथा कोई नय आदि की प्रधानता से प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार लगे हुए मल के दूर हो जानेपर मणियाँ अपने और पर के स्वरूप को प्रकाशित करनेवाले निज तेज में निमग्न रहती हैं - उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप में अवस्थित रहती हैं उसी प्रकार उक्त जीव भी द्रव्यभावरूप कर्ममल के नि:शेष हो जानेपर निजस्वरूप और समस्त त्रैकालिक पदार्थों के प्रकाशात्मक - युगपत् ज्ञानदर्शन परिणमनरूपी निजतेज में निमग्न रहते हैं - उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप में अवस्थित रहते हैं।

उक्त उपायों के द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेवाले मुक्तात्मा अनादि संसार को सर्वथा नष्ट करके जिस अमृत - मोक्षपद को प्राप्त होते हैं वह यद्यपि पर्यायदृष्टि से सादि है फिर भी स्वरूपत: अनंत है; क्योंकि फिर वहां से भव धारण नहीं करना पडता। इस प्रकार के मुक्तात्मा जीवन्मुक्ति अवस्था में मोक्ष के निरुपाख्य प्रभृति स्वरूप माननेवाले के आगम का निराकरण या प्रतिक्षेप कर देते हैं; क्योंकि वे उनसे विलक्षण मोक्ष की व्यवस्था करते हैं। और परममुक्ति अवस्था में उसी तरह के मोक्ष में अवस्थित रहते हैं।

कुछ लोगों ने मोक्ष का स्वरूप निरुपाख्य माना है। उनका कहना है कि जिस प्रकार दीपक का बुझ जानेपर कुछ स्वरूप नहीं रहता उसी प्रकार आत्मा का भी निर्वृत्ति प्राप्त करने पर कुछ स्वरूप नहीं रहता। अतएव मोक्ष का स्वरूप नि:स्वभाव है। इसी तरह कुछ लोगों का कहना है कि मोक्ष मोघचित् है। क्योंकि जीव का जो चैतन्य स्वरूप माना गया है वह ज्ञेयाकार परिच्छेद - प्रतिभास से रहित है। इसी प्रकार कोई कोई कहते हैं कि मोक्ष अचित् है। क्योंकि उस अवस्था में आत्मा के बुद्धि आदिक नव विशेष गुणों का उच्छेद हो जाता है। इसी तरह और भी मोक्ष के स्वरूप के विषय में अनेक कल्पनाएँ हैं जो कि समीचीन न होने से उपेक्षणीय ही हैं। इस उपेक्षणीयता को जीवन्मुक्ति अवस्था में भगवान् ने अपने उपदेश से युक्तिपूर्वक सिद्ध करके बता दिया है। अतएव मुक्तात्मा उक्त मोक्ष के विपरीत स्वरूप का निराकरण करनेवाले हैं। इस तरह के मुक्तात्मा सदा - अनंत कालतक आत्मिकसुख में लीन रहते हैं।

इस प्रकार जीव से लेकर मोक्ष तक सात तत्त्वों का स्वरूप ऊपर बताया। इन्ही तत्त्वार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने में जिस सामग्री की अपेक्षा है उसको दो श्लोकों में बताते हैं :-

दृष्टिघ्नसप्तकस्यान्तर्हेतावुपशमे क्षये।
क्षयोपशम आहोस्विद्भव्यः कालादिलब्धिभाक्।।४६।।
पूर्णः संज्ञी निसर्गेण गृह्णात्यधिगमेन वा।
त्र्यज्ञानशुद्धिदं तत्त्वश्रद्धानात्म सुदर्शनम्।।४७।।युग्मम्।।

पर्याप्त संज्ञी और कालादिलब्धियों को प्राप्त करनेवाला भव्य जीव निसर्ग से अथवा अधिगम के द्वारा सम्यग्दर्शन के घातनेवाली सात प्रकृतियों के उपशम क्षय अथवा क्षयोपशमरूप अंतरंग कारण के मिलने पर तत्त्वश्रद्धानरूप और तीनो अज्ञानों में शुद्धि उत्पन्न करनेवाले सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है।

भावार्थ :- शक्तिविशेष की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। उसके छह भेद हैं - आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन। ये पर्याप्ति जिसके पूर्ण हो गई हैं उसको पर्याप्त कहते हैं। इसी तरह शिक्षा आलाप उपदेश आदि को ग्रहण करनेवाले शक्ति - मन को संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिनके पाई जाय उन जीवों को संज्ञी कहते हैं। इस तरह के पर्याप्तक और संज्ञी जीव के उपर्युक्त अंतरङ्ग कारण के तथा कालादिलब्धियों - सम्यक्त्व के उत्पन्न होने में अपेक्षित योग्यताओं के मिलने पर निसर्ग या अधिगम के द्वारा सम्यग्दर्शन उद्भूत होता है।

इस द्वार की अपेक्षा से ही सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं - १ निसर्गज, २ अधिगमज। जहां उत्पन्न होने में देशना साक्षात् निमित्त न हो वहां निसर्गजसम्यग्दर्शन समझना चाहिये। और जहां पर उत्पन्न होने में देशना - परोपदेश साक्षात् - निमित्त हो उसको अधिगमज समझना चाहिये। किंतु अंतरङ्गकारण दोनों का ही समान है। सम्यक्त्व के घातनेवाली तीन दर्शनमोहनीय और चार अनंतानुबंधीकषाय इस तरह सात प्रकृतियों का उपशम या क्षय अथवा क्षयोपशम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में अंतरङ्गकारण है। फल देनेवाली शक्ति के उद्भूत न होने को उपशम और उन कर्मों के सर्वथा नष्ट होने को क्षय कहते हैं।

सर्वघाति [१] स्पर्धकों में से सदवस्थावालों का उपशम और उदय में आनेवालों की बिना फल दिये निर्जरा, तथा देशघातिस्पर्धकों का उदय होनेपर कर्म की जो अवस्था होती है उसको क्षयोपशम कहते हैं। इनमें से किसी भी एक अंतरङ्ग कारण के तथा उक्त [२] कारणों के मिलने पर जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह उक्त निसर्ग और अधिगम की अपेक्षा से यद्यपि दो प्रकार का है फिर भी सामान्य से सभी सम्यग्दर्शन तत्त्वश्रद्धानरूप होते हैं, न कि रुचिरूप। क्योंकि क्षीणमोह जीवों के रुचि नहीं हो सकती। बिना रुचि के सम्यक्त्व की और उसके बिना ज्ञानचारित्र की तथा इनके विना मुक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। रुचि को जो सम्यग्दर्शन पहले कहा है वह उपचार से कहा है। इस सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से तीनों अज्ञानों - कुमति कुश्रुत और विभंग में विपरीतता दूर होकर शुद्धि - समीचीनता उत्पन्न हो जाती है।

काललब्धि आदिक जो कारण बताये जाते हैं वे अनेक हैं। कर्माविष्टभव्य अर्धपुद्गल-परिवर्तनप्रमाणकाल शेष रहनेपर प्रथमसम्यक्त्व को उत्पन्न करने के योग्य होता है; न कि अधिककाल शेष रहनेपर। इसीको काललब्धि कहते हैं। आदिशब्द के वेदना अभिभव जातिस्मरण जिनपूजादर्शन प्रभृति आगम में अनेक बताये हैं। यथा :-

धर्मश्रुतिजातिस्मृतिसुरर्द्धिजिनमहिमदर्शनं महताम्।
बाह्यं प्रथमदृशोऽङ्गं विना सुरर्द्धीक्षयानतादिभुवाम्।।
ग्रैवेयकिणां पूर्वे द्वे सजिनार्चेक्षणे नरतिरश्चाम्।
सरुगभिभवे त्रिषु प्राक् श्वभ्रेष्वन्येषु स द्वितीयोसौ।।

---

१ - कर्मस्पर्धकों का अपहनन - घात करदेनेवालों ने स्पर्धक का लक्षण इस प्रकार कहा है कि कर्मपरमाणु के शक्तिसमूह को वर्ग, वर्गरूप अणुओं के समूह को वर्गणा, और वर्गणाओं के समूह को स्पर्धक कहते हैं। यथा :-

'वर्गः शक्तिसमूहोऽणोरणूंनां वर्गणोदिता।
वर्गणानां समूहस्तु स्पर्धकं स्पर्धकापहैः।'

२ सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारण आगममें भी अनेक प्रकार के बताये हैं। यथा -

'चदुगदि भव्वो सण्णी पज्जत्तो सुद्धगो या सागारो।
जागारो सल्लेस्सो सलद्धिगो सम्ममुवगमइ।।'

क्षायोपशमिकीं लब्धिं शौद्धीं दैशनिकीं भवी।
प्रायोगिकीं समासाद्य कुरुते करणत्रयम्।।

इस प्रकार धर्मश्रवण और जातिस्मरण आदि गतिभेद की अपेक्षा से प्रथमोपशमसम्यक्त्व के भिन्न - भिन्न बाह्य कारण बताये हैं। अंतरंग की क्षायोपशमिक आदि ५ लब्धियाँ सामान्य कारण हैं। इनमें भी आदि की चार सामान्य और अंत की करणलब्धि विशेष कारण हैं। क्योंकि आदि की चार लब्धियों के हो जानेपर भी करणलब्धि के बिना सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसा कि कहा भी है :-

खयउवसमिय विसोही देसण पाउग्ग करण उद्धीए।
चत्तारिवि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते।।

पूर्वसंचित कर्मपटल के अनुभाग स्पर्धकों की, परिणामों की विशुद्धि के संबंध से प्रतिसमय अनंतानंतगुणीहीन उदीरणा होने को क्षायोपशमिकी लब्धि कहते हैं। क्षयोपशम से युक्त उदीरणा को प्राप्त अनुभाग स्पर्धकों से होनेवाले उन परिणामों को शौद्धी लब्धि कहते हैं जो कि सावद्य असातावेदनीय प्रभृति कर्मबंध के विरुद्ध और सातावेदनीय आदि कर्मबंध को निमित्त हैं। यथार्थतत्त्व के उपदेश या उस उपदेश के देनेवाले आचार्यादि की प्राप्ति को अथवा उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण धारण और विचार करने की शक्ति को दैशनिकी लब्धि कहते हैं। अंत:कोटाकोटीसागर की स्थितिवाले कर्मों के बंध को प्राप्त होनेपर विशुद्धपरिणामों के संबंध से सत्कर्मों को संख्यात हजार सागर अंत:कोटाकोटीसागर की स्थिति से युक्त करने पर ही आद्य सम्यक्त्व को ग्रहण कर सकता है। इसी योग्यता को प्रायोगिकीलब्धि कहते हैं। आत्मा के परिणामविशेषों की प्राप्ति को करणलब्धि कहते हैं। इसके तीन भेद हैं - अथ प्रवृत्त या अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। इन तीनों करणों को क्रम से कर लेने पर भव्यजीव सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाता है यथा :-

अथप्रवृत्तकापूर्वानिवृत्तिकरणत्रयम्।
विधाय क्रमतो भव्य: सम्यकत्वं प्रतिपद्यते।।

अनादिमिथ्यादृष्टि जिसके कि मोहनीयकर्म की छब्बीस प्रकृति सत्ता में रहा करती हैं अथवा सादिमिथ्यादृष्टि, जिसके कि मोहनीयकर्म की छब्बीस या सत्ताईस अथवा अठ्ठाईस प्रकृतियाँ सत्ता में रहा करती हैं, जब प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करने को उन्मुख होता है तब ऐसे शुभ परिणामों के अभिमुख होता है कि जिनकी विशुद्धि अंतर्मुहूर्त तक अनंतगुणी वृद्धि के द्वारा बढती ही जाती है। एवं जो चार मनोयोगों में से किसी एक मनोयोग से और चार वचनयोगों में से किसी एक वचनयोग से तथा औदारिक वैक्रियिक काययोगों में से एक काययोग से, तीन वेदों में से एक वेद से युक्त और संक्लेशपरिणामों से रहित होता है। जिसकी कषाय नष्ट होती चली जाती है। जो साकार उपयोग को धारण करनेवाला और बढते हुए शुभपरिणामों के निमित्त से समस्त कर्मप्रकृतियों की स्थिति ह्रास करता हुआ अशुभप्रकृतियों के अनुभाग बंध को दूर करता और शुभप्रकृतियों के अनुभागबंध को बढाता है। ऐसा ही भव्यजीव उक्त तीन करणों के करने का प्रारंभ करता है जिनका कि प्रत्येक का काल अंतर्मुहूर्त है। कर्मों की स्थिति अंत:कोटाकोटी हो जानेपर अध:करणादिक में क्रम से प्रवेश करता है। सभी करणों के प्रथम समय में जीव की शुद्धि बहुत कम रहा करती है। किंतु प्रतिसमय वह अंतर्मुहुर्त तक अनंतगुणी अनंतगुणी बढती जाती है। तीनों ही करण अन्वर्थ हैं। जो करण - परिणाम अथ - नवीन ही प्रवृत्त हों उनको अथप्रवृत्त करण कहते हैं। क्योंकि इस तरह के परिणाम पहले कभी नहीं हुए। अथवा इस करण का नाम अध:प्रवृत्त करण भी है। क्योंकि यहां पर उपरितनसमयवर्ती परिणामों की समानता अध: - नीचे के समय में प्रवृत्त करणों के साथ पाई जाती हैं। जहां पर अपूर्व अपूर्व - समय समय में भिन्न भिन्न किंतु शुद्धतर परिणाम पाये जाय उसको अपूर्वकरण कहते हैं। जहां पर एक समयवर्ती परिणामों में निवृत्ति - भिन्नता नहीं पाई जाती उसको अनिवृत्ति करण कहते हैं। सभी करणों में नाना जीवों की असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम हुआ करते हैं इनमें से अध:प्रवृत्त करण में स्थितिखण्डन और गुणश्रेणिसंक्रमण नहीं होते। किंतु अनंतगुणी वृद्धि से युक्त विशुद्धि के द्वारा अशुभ प्रकृतियों को अनंतगुणे अनुभाग से हीन और शुभ प्रकृतियों को अनंतगुणे अनुभागरस से युक्त बांधता है। एवं स्थिति को पल्य के असंख्यातवें भाग कम कर देता है। अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण में स्थितिखण्डनादिक होते हैं। क्रम से अशुभप्रकृतियों के अनुभाग की अनंतगुणी हानि और शुभप्रकृतियों के अनुभाग की अनंतगुणी वृद्धि होती है। इनमें से अनिवृत्तिकरण के असंख्यात

भाग बीत जानेपर उक्त भव्यजीव अंतरकरण को करता है जिससे कि दर्शनमोहनीय का घातकर अंतसमय में उसके शुद्ध अशुद्ध और मिश्र इस तरह तीन भाग कर देता है। जिनको कि क्रम से सम्यक्त्व मिथ्यात्व और मिश्र कहते हैं। ये ही दर्शनमोह की तीन प्रकृति हैं। इनका और अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ का उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम होनेपर ही सम्यक्त्व की उद्‌भूतता होती है। जैसा कि आगम में भी कहा है, यथा :-

प्रशमय्य ततो भव्यः सहानन्तानुबन्धिभिः।
ता मोहप्रकृतीस्तिस्त्रो याति सम्यक्त्वमादिमम्।।
संवेगप्रशमास्तिक्यदयादिव्यक्तलक्षणम्।
तत्सर्वदुःखविध्वंसि त्यक्तशङ्कादिदूषणम्।।

तथा-

क्षीणप्रशान्तमिश्रासु मोहप्रकृतिषु क्रमात्।
पश्चाद् द्रव्यादिसामग्र्या पुंसां सद्दर्शनं त्रिधा।

पहले यह बात कही जा चुकी है कि सम्यग्दर्शन निसर्ग या अधिगम के द्वारा उत्पन्न होता है। अतएव इन दोनों का - निसर्ग और अधिगम का स्वरूप बताते हैं :-

विना परोपदेशेन सम्यक्त्वग्रहणक्षणे।
तत्त्वबोधो निसर्गः स्यात्तत्कृतोधिगमश्च सः।।४८।।

सम्यक्त्व ग्रहण करने के समय गुरु आदिकों के उपदेश के विना ही तत्त्वबोध के होने को निसर्ग और उपदेश के निमित्त से तत्त्वज्ञान होने को अधिगम कहते हैं।

भावार्थ :- दोनोंमें परोपदेश की निरपेक्षता और सापेक्षता का ही अंतर है।

इसी बात को पुष्ट करते हैं :-

केनापि हेतुना मोहवैधुर्यात्कोपि रोचते।
तत्त्वं हि चर्चानायासः कोपि च क्षोदखिन्नधीः।।४९।।

जिनका मोह वेदना अभिभवादिक में से किसी भी निमित्त को पाकर दूर हो गया है - सम्यग्दर्शन को घातनेवाली सात प्रकृतियों का बाह्य निमित्त वश जिनके उपशम क्षय या क्षयोपशम हो चुका है उनमें से कोई जीव तो ऐसे होते हैं कि जिनको बिना किसी चर्चा के विशष प्रयास से ही तत्त्व में रुचि उत्पन्न हो जाती है। और कोई ऐसे होते हैं कि जो कुछ अधिक प्रयास करनेपर ही बाह्य निमित्त के अनुसार मोह के दूर हो जानेपर तत्त्वरुचि को प्राप्त हो सकते हैं। वह यह अल्प और अधिक प्रयास का ही निसर्ग एवं अधिगम में अंतर है। जैसा कि आगम में भी कहा है यथा :-

निसर्गोधिगमो वापि तदाप्तौ कारणद्वयम्।
सम्यक्त्वभाक् पुमान्यस्मादल्पानल्पप्रयासतः।।

निसर्ग और अधिगम इन दो की प्राप्ति में दो कारण हैं। क्योंकि इनके द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त करनेवाले जीवों में से कोई तो अल्पप्रयास से और कोई अनल्प - महान् परिश्रम से सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ करते हैं।

और भी -

यथा शुद्रस्य वेदार्थे शास्त्रान्तरसमीक्षणात्।
स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं तत्त्वार्थे कस्यचित्तथा।।

जिस प्रकार शूद्र वेद के अर्थ का साक्षात् ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि उसको उसके पढने का अधिकार नहीं है। किंतु ग्रंथांतरों को पढकर उसके ज्ञान को स्वयं प्राप्त कर सकता है। किसी किसी जीव के तत्त्वार्थ का भी ज्ञान इसी तरह से

होता है। ऐसे जीवों के गुरुपदेशादिके द्वारा भी साक्षात् तत्त्वबोध नहीं होता किंतु उनके ग्रंथों के अध्ययन आदिके द्वारा स्वयं तत्त्वबोध और तत्त्वरुचि उत्पन्न हो जाती है।

सम्यक्त्व के भेद बताते हैं -

तत्सरागं विरागं च द्विधौपशमिकं तथा।
क्षायिकं वेदकं त्रेधा दशधाज्ञादिभेदतः।।५०।।

सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं - सराग और वीतराग। अथवा तीन भेद हैं - औपशमिक क्षायिक वेदक। यद्वा दश भेद हैं - आज्ञा मार्ग उपदेश आदि। इन दशों के नाम आगे चलकर लिखेंगे।

सराग और वीतराग सम्यक्त्व का अधिकरण लक्षण और उपलक्षण बताते हैं -

ज्ञे सरागे सरागं स्याच्छमादिव्यक्तिलक्षणम्।
विरागे दर्शनं तत्त्वात्मशुद्धिमात्रं विरागकम्।।५१।।

जिसके साथ में चारित्रमोह का उदय पाया जाता है उसको सरागसम्यक्त्व कहते हैं। अतएव यह सराग तत्त्वज्ञानियों में - असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती जीव तक में रहता है। इसके उपलक्षण प्रशमादिक हैं, जिनका कि स्वरूप आगे कहेंगे। इस प्रशमादिक के द्वारा ही वह व्यक्त हो सकता है - जाना जा सकता है दर्शनमोहनीयकर्म के उपशमादिक के द्वारा उत्पन्न हुई जीव की विशुद्धि को ही वीतराग सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह वीतराग ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों में ही रहता है। प्रशमादिक को वीतराग सम्यग्दर्शन नहीं कहते; क्योंकि सहकारी चारित्रमोहनीय का अपाय हो जाने से वहां पर प्रशमादिक की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। केवल स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा ही उसका अनुभव होता है।

प्रशमादिक का लक्षण बताते हैं -

प्रशमो रागादीनां विगमोऽनंतानुबंधिनां संवेगः।
भवभयमनुकंपाखिलसत्त्वकृपास्तिक्यमखिलतत्त्वमतिः।।५२।।

अनंत - संसार का अनुबंधन करनेवाले - बीज और अंकुर की तरह से प्रवृत्त करनेवाले रागादिक - क्रोध मान माया लोभरूप कषायों तथा उसके साहचर्य से मिथ्यात्व तथा सम्यङ्मिथ्यात्व के भी अनुद्रेक को प्रशम कहते हैं। संसार की भीरुता को संवेग कहते हैं। जिससे कि संसार के बढानेवाले कामों के करने की रुचि उत्पन्न नहीं होती अथवा नष्ट हो जाती है त्रस अथवा स्थावर की अवस्था में यद्वा नारकादि गतियों में भ्रमण कर दुःख का उपार्जन करनेवाले समस्त जीवों पर कृपा - दयाभाव होने को अनुकंपा कहते हैं; जिससे कि 'ये सब जीव किस प्रकार दुःख से मुक्त हों' इस तरह के परिणामविशेष उत्पन्न हुआ करते हैं। समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप की प्रतिपत्ति को आस्तिक्य कहते हैं। जिसके होने से जो हेय परद्रव्य हैं उनका और जो उपादेय निज शुद्धात्मस्वरूप है उसका अर्थात्, सभी स्वपर द्रव्यों का उसी तरहसे, जैसा कि उनका स्वरूप है, निश्चय हो जाता है।

स्वगत और परगत सम्यक्त्व के सद्भाव का निश्चय
किससे होता है सो बताते हैं :-

तैः स्वसंविदितै सूक्ष्मलोभान्ताः स्वां दृशं विदुः।
प्रमत्तान्तान्यगां तज्ज्ञवाक्चेष्टानुमितैः पुनः।।५३।।

स्वयं के संवेदन के द्वारा भले प्रकार निर्णीत उपर्युक्त प्रशमादिकों के द्वारा असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर सूक्ष्मसांपराय दशमगुणस्थान पर्यंत सात गुणस्थानवाले जीव स्वगत सम्यग्दर्शन के सद्भाव को जान सकते हैं। और प्रशमादिकों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले वचन तथा चेष्टा - कायव्यापार को देखकर जिनका अनुमान कर लिया जाता है ऐसे प्रशम संवेग अनुकंपा और आस्तिक्य के द्वारा छठें गुणस्थान तक के परजीवों के सम्यग्दर्शन

को भी जान सकते हैं।

भावार्थ :- स्वगत सम्यग्दर्शन के निमित्त से जिन प्रशमादि भावों की उत्पत्ति होती है उनका निर्णय स्वयं हो जाता है। और इसीलिये उन स्वयं निर्णीत प्रशम संवेग अनुकंपा और आस्तिक्य के द्वारा उस सम्यग्दर्शन का भी ज्ञान हो सकता है। इसी तरह अपने प्रशमादिक से अविनाभावी उत्पन्न होनेवाले वचन एवं कायव्यापार का भी निर्णय हो जाता है। उसी तरह का वचन तथा कायव्यापार आदि दूसरों का देखकर उनके अविनाभावी प्रशमादिक का अनुमान कर लिया जाता है। और उन अनुमित प्रशमादिकों के द्वारा पर के सम्यग्दर्शन का भी ज्ञान हो सकता है। किंतु इस तरह से चौथे पाँचवें और छठें गुणस्थानतक के ही परगत सम्यग्दर्शन का ज्ञान हो सकता है।

औपशमिक सम्यग्दर्शन के अंतरङ्ग कारण को बताते हैं :-

शमान्मिथ्यात्वसम्यक्त्वमिश्रानन्तानुबन्धिनाम्।
शुद्धेम्भसीव पङ्कस्य पुंस्यौपशमिकं भवेत्।।५४।।

जिस प्रकार निर्मली के फल आदि को डाल देने से कीचड के नीचे बैठ जानेपर जल में शुद्धि आ जाती है और वह स्वच्छ हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व सम्यक्त्व और मिश्र एवं अनंतानुबंधी कषायों के - क्रोध मान माया लाभ के निमित्त से जो तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप परिणाम होते हैं, उसको औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

जिसके उदय से जीव सर्वज्ञोक्त मार्ग के श्रद्धान से विमुख होकर मिथ्यादृष्टि हो जाता है उसको मिथ्यात्व कहते हैं। इसी मिथ्यात्व को, जब कि वह शुभ परिणामों के निमित्त से अपने अनुभाग के क्षीण हो जानेपर औदासीन्य रूप में स्थित हो जाता है, सम्यक्त्व कहते हैं; जिसका कि उदय होने से सर्वज्ञोक्त मार्ग का श्रद्धान कर लेने पर जीव सम्यग्दृष्टि कह जाता है। क्योंकि यह प्रकृति सम्यक्त्व की प्रतिबंधक नहीं है। इसी तरह जिस मिथ्यात्व की अनुभागशक्ति आधी शुद्ध हो चुकी है उसको मिश्र अथवा सम्यङ्मिथ्यात्व कहते हैं। जिस प्रकार भांग वगैरह किसी नशीली चीज को कुछ धो डालने से उसका आधा नशा कम हो जाता है और उसके पीने पर कुछ नशा और कुछ होश - सावधानता रहा करती है। इसी तरह मिश्र प्रकृति के उदय होने पर मिश्र - मिथ्यात्व और सम्यक्त्व

के मिले हुए परिणाम हुआ करते हैं। अनंतानुबंधी का अर्थ पहले लिखा जा चुका है। बस, इन सात प्रकृतियों का उपशम ही औपशमिक सम्यग्दर्शन का अंतरङ्ग कारण है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन का अंतरंग कारण बताते हैं :-

तत्कर्मसप्तके क्षिप्ते पङ्कवत्स्फटिकेम्बुवत्।
शुद्धेऽतिशुद्धक्षेत्रज्ञे भाति क्षायिकमक्षयम्।।५५।।

जिस प्रकार पङ्किल जल में से पङ्क के भाग का सर्वथा नाश हो जानेपर बाकी का स्वच्छ जल किसी स्फटिक के बर्तन में यदि रख दिया जाय तो वह अत्यंत शुद्ध और शोभायमान होता है और फिर उसमें अशुद्ध होने का कोई कारण नहीं रहता। इसी प्रकार से उपर्युक्त सात कर्मों के - तीन दर्शनमोहनीय और चार अनंतानुबंधीकषाय के सर्वथा नष्ट हो जानेपर - सामग्रीविशेष के द्वारा दूर हो जानेपर उद्भूत होनेवाले सम्यग्दर्शन को क्षायिकसम्यग्दर्शन कहते हैं। वह अत्यंत शुद्ध और अक्षय होता है। क्योंकि उसमें शङ्कादिक दूषण नहीं होते और वह शुद्ध औपशमिक सम्यग्दर्शन से भी अत्यंत शुद्ध होता है; क्योकि इसके प्रतिबंधक कारण सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। और यह उत्पन्न होने के बाद कभी नष्ट नहीं होता इसलिये अविनाशी है। इस प्रकार यह सम्यग्दर्शन अत्यंत निर्मल आत्मा में सदाकाल तक प्रकाशमान रहा करता है। क्योंकि यह कभी भी निमित्त से क्षुब्ध नहीं हो सकता। जैसा कि आगममें भी कहा है; यथा -

रुपैर्भयंकरैर्वाक्यैर्हेतुदृष्टान्तदर्शिभिः।
जातु क्षायिकसम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चलः।।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि के परिणाम इतने निश्चल होते हैं कि वह भयंकर स्वरूप को देखकर अथवा वैसे वाक्यों को सुनकर यद्वा हेतु और दृष्टांत को प्रकाशित करनेवाले-हेत्वाभास तथा दृष्टान्ताभास से भरे हुए वाक्यों को भी सुनकर कभी क्षुब्ध नहीं होता।

भावार्थ :- उपर्युक्त सात प्रकृतियों का सामग्रीविशेष के द्वारा सर्वथा अभाव हो जाना

ही क्षायिकसम्यग्दर्शन का अंतरंग कारण है।

वेदकसम्यक्त्व के कारण को बताते हैं :-

पाकाद्देशघ्नसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयक्षये।
शमे च वेदकं षण्णामगाढं मलिनं चलम्।।५६।।

सम्यक्त्व की घातक उक्त सात प्रकृतियों में से सम्यक्त्व को छोडकर बाकी छह प्रकृतियों में से उदय में आनेवालों की निवृत्ति हो जानेपर - बिना फल दिये ही निर्जरा हो जानेपर और उदय में न आनेवालियों का उपशम हो जानेपर तथा अंशत: सम्यक्त्व का घात करनेवाली उक्त सम्यक्त्वप्रकृति का उदय होनेपर जो श्रद्धानरूप परिणाम होते हैं उसको वेदकसम्यक्त्व कहते हैं। अतएव यह क्षयोपशम ही वेदकसम्यक्त्व का अंतरंग कारण है। यह सम्यक्त्व अगाढ मलिन और चल होता है।

वेदक की अगाढता को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं :-

वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता।
स्थान एव स्थिते कम्प्रमगाढं वेदकं यथा।।५७।।

जिस प्रकार वृद्धपुरुष की यष्टी - लकड़ी हाथ में ही बनी रहती है - उससे पृथक् नहीं होती और अपने स्थान को नहीं छोडती; फिर भी कुछ कंपती रहती है - निश्चल नहीं रहती। उसी प्रकार जो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन अपने विषय - देव गुरु शास्त्र और तत्त्वादिक में ही स्थित रहते हुए भी सकम्प होता है - स्थिर नहीं रहता उसको अगाढवेदक-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इस अगाढता का उल्लेख - आकार बताते हैं :-

स्वकारितेर्हञ्चैत्यादौ देवोयं मेऽन्यकारिते।
अन्यस्यासाविति भ्राम्यन्मोहाच्छ्राद्धोपि चेष्टते।।५८।।

मिथ्यादृष्टि की तो बात ही क्या, जो सम्यग्दृष्टि - श्रद्धावान हैं वे भी मोह - सम्यक्त्व प्रकृति - मिथ्यात्व के उदय से भ्रम - संशय को प्राप्त होकर अपने बनाये हुए जिनबिंब जिनमंदिर या किसी अन्य सम्यक्त्वक्रिया के साधन में 'ये मेरे देव हैं,' या 'यह मेरा मंदिर है' इस तरह का और दूसरे के बनाये हुए जिनबिंब या जिनमंदिरादिक में 'ये उसके देव हैं,' या 'यह उसका मंदिर है,' ऐसा व्यवहार करने लगते हैं।

मलिनता का स्वरूप बताते हैं :-

तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात्सम्यक्त्वकर्मणः।
मलिनं मलसङ्गेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत्।।५९।।

जिस प्रकार सुवर्ण पहले अपने कारणों से चाहे शुद्ध ही उत्पन्न हुआ हो परंतु वह माहात्म्यरहित होनेपर चांदी वगैरह परपदार्थरूपी मल के संसर्ग से मलिन हो जाता है। इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चाहे पहले शुद्ध ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो, किंतु सम्यक्त्व प्रकृति - मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न होनेवाले शङ्कादिक दोषरूपी मल के संसर्ग से मलिन हो जाता है; क्योंकि कर्मक्षपण के द्वारा प्राप्त होनेवाले अतिशय से वह सर्वथा रहित होता है।

चलपने को बताते हैं -

लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमिव स्थितम्।
नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं यथा।।६०।।

जिस प्रकार उद्दीप्त होनेवाली कल्लोलमालाओं - तरंगपंक्तियों में जल एक ही स्थित रहता है - तरंगो की चंचलता के कारण जल में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। उसी प्रकार अपने नाना विशेषों में - देव गुरु शास्त्र द्रव्यतत्त्व प्रभृति में चलायमान होनेवाले क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को चल कहते हैं।

इसी चलसम्यग्दर्शन का उल्लेख - आकार बताते हैं :-

समेप्यनन्तशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयम्।
देवोस्मै प्रभुरेषोस्मा इत्यास्था सुदृशामपि।।६१।।

सभी अर्हंत समानरूप से अनंतशक्ति के धारक हैं; फिर भी उनके विषय में सम्यग्दृष्टियों की भी इस तरह की आस्था - प्रतीति होने लगती है कि 'ये देव - पार्श्वनाथ भगवान् इस कार्य के लिये - उपसर्ग दूर करने के लिये समर्थ हैं, और शांतिनाथ भगवान् अमुक कार्य के लिये - शान्ति स्थापन के लिये समर्थ हैं'।

इस प्रकार क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन में सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो अगाढता आदि दोष उत्पन्न होते हैं उनका स्वरूप बताया। किंतु इस विषय में और भी कहा है जो कि इस प्रकार है :-

कियन्तमपि यत्कालं स्थित्वा चलति तच्चलम्।
वेदकं मलिनं जातु शङ्काद्यैर्यत्कलङ्क्यते।।
यच्चलं मलिनं चास्मादगाढमनवस्थितम्।
नित्यं चान्तर्मुहूर्तादिषट्षष्ट्यब्ध्यन्तवर्ति यत्।।

जो, कुछ कालतक स्थिर रहकर चलायमान हो जाता है उसको चल कहते हैं। जो शंकादिक दूषणों से कलंकित होता है उसको मलिन कहते हैं। इस प्रकार जो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चल मलिन अगाढ और अनवस्थित है वह कथंचित् नित्य भी है - दीर्घकालस्थायी है। क्योंकि उसकी स्थिति अंतर्मुहूर्त से लेकर छियासठ सागरतक की है।

पहले आज्ञा मार्ग आदि की अपेक्षा से सम्यक्त्व के दश भेद गिनाये हैं;
अब उन्ही के नाम बताते हैं :-

आज्ञामार्गोपदेशार्थबीजसंक्षेपसूत्रजाः।
विस्तारजावगाढासौ परमा दशधेति दृक्।।६२।।

आज्ञा मार्ग उपदेश अर्थ बीज संक्षेप सूत्र और विस्तार इनसे उत्पन्न होनेवाला तथा अवगाढ और परभावगाढ; इस तरह सम्यक्त्व के दश भेद हैं।

शास्त्राध्ययन के बिना केवल वीतराग देव की आज्ञा के अनुसार जो तत्त्वों में रुचि उत्पन्न होती है उसको आज्ञासम्यक्त्व कहते हैं। मोहनीयकर्म का उपशम हो जानेपर शास्त्राभ्यास के बिना, बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह से सर्वथा रहित और कल्याणकारी मोक्षमार्ग में रुचि होने को मार्गसम्यक्त्व कहते हैं। तीर्थंकरप्रभृति उत्तमपुरुषों के चारित्र को सुनकर जो तत्त्वों में रुचि उत्पन्न हो उसको अथवा हृदय में उन चारित्रों के सुनने का भाव उत्पन्न हो उसको उपदेशसम्यक्त्व कहते हैं। किसी पदार्थ को देखकर या उसका अनुभव कर अथवा दृष्टांतादि का अनुभव कर जो प्रवचन के विषय में रुचि उत्पन्न होती है उसको अर्थसम्यक्त्व कहते हैं। गणितज्ञान के लिये जो नियम बताये हैं उन पूर्ण या अपूर्ण बीजों को जानकर और मोहनीयकर्म का अतिशय उपशम हो जानेपर करणानुयोग के गहन भी पदार्थों के जानने से जो सम्यक्त्व उद्भूत होता है उसको बीजसम्यग्दर्शन कहते हैं। पदार्थों को संक्षेप से ही जानकर जो तत्त्वों में रुचि होती है उसको संक्षेपसम्यग्दर्शन कहते हैं। मुनियों की चारित्रविधि का वर्णन करनेवाले आचारसूत्र को सुनकर जो श्रद्धा उत्पन्न हो उसको सूत्रसम्यग्दर्शन कहते हैं। जो समस्त द्वादशाङ्ग को सुनकर रुचि उत्पन्न होती है उसको विस्तार सम्यग्दर्शन कहते हैं। अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य इस तरह समस्त श्रुत का पूर्ण अनुभव हो जानेपर - श्रुतकेवली अवस्था प्राप्त हो जानेपर जो तत्त्वों में श्रद्धा उत्पन्न होती है उसको अवगाढसम्यग्दर्शन कहते हैं। साक्षात् केवलज्ञान के हो जानेपर जो पदार्थों में अत्यंत दृढ श्रद्धा उत्पन्न होती है उसको परमावगाढसम्यग्दर्शन कहते हैं।

आज्ञासम्यक्त्व को प्राप्त करने का उपाय बताते हैं -

देवोर्हन्नेव तस्यैव वचस्तथ्यं शिवप्रदः।
धर्मस्तदुक्त एवेति निर्बन्धः साधयेद् दृशम्।।६३।।

क्लेश - रागद्वेष और कर्मोदय तथा उससे होनेवाले क्षुधातृषादिक दोषों एवं सांसारिक विषयवासनाओं और अज्ञानादिक से जो सर्वथा रहित है उस पुरुषविशेष को ही देव कहते

हैं। ऐसा देव अरिहन्त ही हो सकता है। अतएव उसीके वचन सत्य हो सकते हैं, क्योंकि वह सर्वज्ञ एवं वीतराग है। और इसीलिये धर्म भी उस अरिहंत का ही कहा हुआ सत्य तथा अभ्युदय और निःश्रेयस - मोक्ष का साधक हो सकता है। इस प्रकार का निर्बन्ध-अभिनिवेश ही सम्यग्दर्शन आज्ञासम्यक्त्व को सिद्ध कर सकता है।

अब पाँच पद्यों में सम्यग्दर्शन के माहात्म्य का वर्णन करते हैं। जिसमें से पहले यहाँ पर जिससे विनेयों - शिष्यों व श्रोताओं का सुखपूर्वक उसकी स्मृति हो सके इसलिये सम्यग्दर्शन की सामग्री और स्वरूप बताकर संक्षेप से उसकी अनन्यसंभवी महिमा को प्रकट करते हैं :-

प्राच्येनाथ तदातनेन गुरुवाग्बोधेन कालारुण -
स्थामक्षामतमश्छिदे दिनकृतेवोदेष्यताविष्कृतम्।
तत्त्वं हेयमुपेयवत्प्रतियता संवित्तिकान्ताश्रिता।
सम्यक्त्वप्रभुणा प्रणीतमहिमा धन्यो जगज्जेष्यति।।६४।।

वह पुरुष धन्य है और वही जगत् - निश्चय से अपने आत्मस्वरूप और व्यवहार से जीवादिक छहों द्रव्यों के समूहरूप लोक को - जीत सकता है, जिसका कि माहात्म्य उस सम्यक्त्व प्रभु के द्वारा प्रवृत्त होता है, जो कि कालादिलब्धिरूप अरुण सूर्य के सारथि की शक्ति के द्वारा कृश किये गये अंधकार का छेदन करने के लिये सूर्य के समान उदय को प्राप्त होनेवाले प्राच्य अथवा तदातन - अपने (सम्यग्दर्शन के) उत्पन्न होने से पूर्वसमयवर्ती अथवा समसमयवर्ती महान् वाग्बोध के द्वारा प्रगट किये गये हेय और उपादेय तत्त्व को प्रगट करता है तथा संवित्ति सम्यग्ज्ञप्ति - समीचीन ज्ञानरूपी कांता को प्राप्त होता है।

भावार्थ :- यहां पर वाग्बोध से अभिप्राय आगमज्ञान का है, अतएव वचन शब्द को उपलक्षण ही समझना चाहिये। और इसके अनुसार हाथ वगैरह के इशारे से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी आगम ही समझना चाहिये तथा उसका भी यहाँ ग्रहण करना चाहिये। यह आगमज्ञान दो प्रकार का हो सकता है; एक सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने से पूर्व समयवर्त्ती दूसरा समसमयवर्ती। वाग्बोध शब्द के साथ जो गुरु शब्द है उसके भी दो अभिप्राय हैं।

एक तो यह कि वाग्बोध - आगमज्ञान गुरु - महान् है; क्योंकि वह परोपदेश की अपेक्षा नहीं रखता। यह बात निसर्ग की अपेक्षा से समझनी चाहिये। दूसरा यह कि वह गुरु-धर्मोपदेशक के वचनों से उत्पन्न होता है। यह अर्थ अधिगम की अपेक्षा से समझना चाहिये। प्राच्य और तदातन शब्द के द्वारा सम्यग्दर्शन की सामग्री बताई है। क्योंकि बहिरंग कारण की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन निसर्गज और अधिगमज इस तरह दो प्रकार का है; यह बात पहले बता चुके हैं। जिस प्रकार उदय को प्राप्त होनेवाला सूर्य सारथि की शक्ति से अंधकार को छिन्न कर देता है उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान सम्यक्त्वोत्पत्ति के योग्य काल क्षेत्र द्रव्य भाव रूप सारथि की शक्ति से निर्बल हुए मिथ्यात्वरूपी तिमिर को दूरकर देता है। और सम्यक्त्व के साथ ही उदित होता है। साथ में उदित होना समीचीन भाव की अपेक्षा से है; क्योंकि ज्ञान में समीचीनता सम्यग्दर्शन के निमित्त से ही होती है। और इसलिये उसको सम्यग्दर्शन का कार्य माना है। यहां प्रश्न हो सकता है कि जब दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं तब उनमें कार्यकारणभाव किस तरह बन सकता है ? किंतु समान समय में उत्पन्न होनेवालों में भी कार्यकारण भाव हो सकता है; यह बात प्रदीप और प्रकाश में देखने से भले प्रकार घट सकती है। जैसा कि आगममें भी कहा है -

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्।।

इसीलिये आगे चलकर सम्यग्दर्शन आराधना के उपदेश के अनंतर ज्ञान आराधना का उपदेश देंगे, जैसा कि आगम में भी कहा है -

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनामिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्।।

अतएव श्वेतांबराचार्यों का यह वचन ठीक नहीं है कि :-

चतुर्वर्गाग्रणीर्मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञानश्रद्धानचारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः।।

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही आत्मा के अभिन्न भाव हैं अतएव भिन्न - भिन्न दो आराधनाएँ नहीं हो सकतीं - दोनों का पृथक् - पृथक् आराधन नहीं किया जा सकता ? किंतु यह नहीं है। क्योंकि यद्यपि दोनों एक ही आत्मा के भाव हैं इसलिये इनमें कथंचित् अभेद है फिर भी दोनों का लक्षण भिन्न - भिन्न है, इसलिये कथंचित् अभेद भी है। अतएव दोनों का भिन्न भिन्न रूप में भी आराधन हो सकता है। जैसा कि आगम में भी कहा है :-

पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः।।

सम्यक्त्व सचमुच में प्रभु है, और इसीलिये वह परम आराध्य है; क्योंकि उसीके प्रसाद से सिद्धि सिद्ध हो सकती है। और उसीके निमित्त से मनुष्य में वह माहात्म्य प्राप्त होता है कि जिसके द्वारा जीव जगत् पर विजय प्राप्त कर लेता है - सर्वज्ञ होकर समस्त जगत् का भोक्ता हो जाता है। सम्यक्त्व का ऐसा ही माहात्म्य है कि उससे समस्त सुखों की उपलब्धि हो सकती है। जैसा कि कहा भी है -

किं पलविएण बहुणा सिद्धा जे णरवरा गए काले।
सिज्झिहहिं जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं।।
तत्त्वपरीक्षाऽतत्त्वव्यवच्छिदा तत्त्वनिश्चयं जनयेत्।
स च दृग्मोहशमादौ तत्त्वरुचिं सा च सर्वसुखम्।।
शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं प्रशमादिकैरभिव्यक्तम्।
स्यात्सम्यक्त्वमनन्तानुबंधिमिथ्यात्वमिश्रशमे।।

बहुत कहने से क्या प्रयोजन, भूतकाल में जितने नरपुंगव सिद्ध हुए हैं और भविष्यत् में सिद्ध होंगे वह सब सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है।

तत्त्व के परीक्षण - समर्थन और अतत्त्व के निराकरण से तत्त्व का निश्चय हुआ करता है। किंतु यह निश्चय दर्शनमोह के उपशमादिक होनेपर होता है। तत्त्व का निश्चय होनेपर तत्त्व में रुचि उत्पन्न होती है और उससे समस्त सुखों की सिद्धि होती है।

अनंतानुबंधीकषाय मिथ्यात्व और मिश्रप्रकृति का उपशम होनेपर सम्यक्त्व की उद्‌भूतता होती है जो कि प्रशमादिकों के द्वारा अभिव्यक्त होता है और शुभपरिणामों के द्वारा अपने रस को निरुद्ध कर देता है।

जिसका सम्यग्दर्शन निर्मल गुणों से अलंकृत है ऐसा भव्यजीव निरतिशय माहात्म्य के कारण जिस सर्वोत्कर्ष को प्राप्त कर लेता है उसकी प्रशंसा करते हैं :-

यो रागादिरिपून्निरस्य दुरसान्निर्दोषमुद्यन् रथं
संवेगच्छलमास्थितो विकचयन्विस्वक्कृपाम्भोजिनीम्।
व्यक्तास्तिक्यपथस्त्रिलोकमहितः पन्थाः शिवश्रीजुषा -
माराद्धन्मृणतीप्सितैः स जयतात्सम्यक्त्वतिग्मद्युतिः।।६५।।

सम्यग्दर्शन को सूर्य के समान समझना चाहिये। जिस प्रकार सूर्य को संदेह प्रभृति साठ कोटि हजार राक्षस तीनों काल में - प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल में घेरे रहेते हैं उसी प्रकार सम्यक्त्व को भी रागादिक - मिथ्यात्व प्रभृति सात प्रकृतिरूपी शत्रु तीनों काल में - भूत भविष्यत् वर्तमान में घेरे रहते हैं। जिस प्रकार सूर्य ब्राह्मणों के द्वारा त्रिकाल संध्योपासन के अनंतर दी गई अर्धाञ्जलि की जलबिंदुरूपी वज्र से उन संदेहादिक राक्षस-शत्रुओं का निपात कर देता है उसी प्रकार सम्यक्त्व भी काललब्धि आदि के द्वारा उदय से अथवा स्वरूप से उन दुर्निवार शत्रुओं को निरस्त - व्युच्छिन्न कर देता है। जिस प्रकार सूर्य उन वैरियों को निरस्त कर ऊपर को आक्रमण करता हुआ दोषा रात्रि का अभाव हो जाने से निर्दोष रथ में आरूढ होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी उन कर्मशत्रुओं को व्युच्छिन्न कर उद्यत होता हुआ निर्दोष - शंकादिक मलों से रहित संवेदनरूपी रथ में आरूढ होता है। जिस प्रकार सूर्य समस्त जगत् की कमलिनियों को प्रफुल्लित कर देता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी कृपा - अनुकंपा - दयारूपी कमलिनियों को विकसित-आह्लादित कर देता है। जिस प्रकार सूर्य तीनों लोकों के द्वारा पूजित है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी पूजित है। जिस प्रकार सूर्य मोक्षस्थान को जानेवालों का मार्ग है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी अनंतज्ञानादिरूप अथवा मोक्षलक्ष्मी का प्रीतिपूर्वक सेवन करने की इच्छा रखनेवालों का मार्ग - प्राप्ति का उपाय है। इस प्रकार सूर्य के समान यह सम्यग्दर्शन

सदा सर्वोत्कर्ष को प्राप्त होता रहे; जो कि अपने आराधकों को ईप्सित वस्तुओं के द्वारा तृप्त कर देता है।

भावार्थ :- यहाँ पर मोक्षस्थान को जानेवालों का मार्ग सूर्य को जो बताया है उसका अभिप्राय यह है कि सिद्ध जीव लोक के अंत को जो जाते हैं सो सूर्यमण्डल को भेद कर जाते हैं। जैसा कि संन्यासविधि में भी कहा है -

संन्यसन्तं द्विजं दृष्टवा स्थानाच्चलति भास्करः।
एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्माधिगच्छति।।

द्विज को संन्यास लेता हुआ देखकर सूर्य भी मानों यह समझकर अपने स्थान से चला जाता है कि यह मेरे मण्डल को भेदकर परम ब्रह्म को प्राप्त हुआ जाता है।

तथा लोक में भी कहा है कि -

णमह परमेसरं तं कंपेते पाविऊण रविबिम्बं।
णिव्वाणजणियछिंदं जेण कयं छारछाणणयं।।

उस परमेश्वर को नमस्कार करो कि जिसको पाकर सूर्य का भी बिंब कँप जाता है।

इसी तरह आस्तिक्य को मार्ग के समान इसलिये बताया है कि वह इष्टस्थान की प्राप्ति का कारण है। तथा सूर्य का संदेहादि राक्षसों से घिरे रहने का कथन लोकोक्ति के आधार पर किया गया है।

पुण्य भी जो समस्त कल्याणों को उत्पन्न या पूर्णकर सकता है या करता है सो भी सम्यक्त्व के ही अनुग्रह से। यही बात दिखाते हैं :-

वृक्षाः कण्टकिनोपि कल्पतरवो ग्रावापि चिंतामणिः,
पुण्याद्गौरपि कामधेनुरथवा तन्नास्ति नाभून्नवा।
भाव्यं भव्यमिहांगनां मृगयते यज्जातु तद्धुकुटिं,
सम्यग्दर्शनवेधसो यदि पदच्छायामुपाच्छान्ति ते।।६६।।

पुण्य के प्रसाद से कटीले भी वृक्ष - बबूर वगैरह कल्पवृक्ष हो जाते हैं। साधारण पाषाण चिंतामणि रत्न हो जाता है। और गौ - साधारण गौ कामधेनु हो जाती है। अथवा उसकी अद्भुत शक्ति का वर्णन कहाँ तक किया जा सकता है। क्योंकि प्राणियों का जगत् में ऐसा कोई भी कल्याण न तो है, न हुआ, न होगा कि जो कदाचित् भी उस पुण्य की भ्रूकुटि की अपेक्षा करे। क्योंकि जो सम्यग्दर्शन का आराधन करनेवाले हैं उनके उस पुण्य की उपलब्धि होती है कि जिससे तीन काल और तीनों लोकों में तीर्थंकरत्व सरीखे पदों या अभ्युदयों की प्राप्ति हुआ करती है। भ्रूकुटी शब्द के कहने का अभिप्राय यही है कि जो महाप्रभु होता है वह अपनी आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले के प्रति क्रोध से भ्रूकुटि चढ़ाता है। किंतु सम्यग्दर्शन का सहचारी ऐसा कोई भी पुण्य नहीं है कि जिसका कोई भी अभ्युदय उल्लंघन कर सके - जिसके अनुसार कोई भी कल्याण सिद्ध न हो सके। क्योंकि जितने भी अभ्युदय हैं वे सब सम्यग्दर्शन के सहचारी पुण्य का उदय होते ही संपन्न हो जाते हैं। अतएव वे उसकी भ्रूकुटि की कदाचित् भी अपेक्षा नहीं करते। किन्तु यह बात तभी हो सकती है जब कि वे पुण्य का संपादन करनेवाले सम्यग्दर्शनादिरूपी वेधा ब्रह्मा के चरणों का आश्रय लें। क्योंकि सम्यग्दर्शन की सहचारिता के बिना उस तरह का पुण्य संपन्न नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन को ब्रह्मा कहने का अभिप्राय यह है कि वह समस्त पुरुषार्थों के उत्पन्न करने में स्वतंत्र है।

जो मनुष्य भले प्रकार सम्यग्दर्शन को सिद्ध कर चुके हैं उनकी विपत् भी संपत् ही हो जाती है। इतना ही नहीं, किंतु उसका केवल नाम लेनेवाले भी सहज ही विपत्तियों से मुक्त हो जाते हैं। यही बात दिखाते हैं :-

सिंहः फेरुरिभः स्तभोग्निरुदकं भीष्मः फणी मूलता
पाथोधिः स्थलमन्दुको मणिसरश्चौरश्च दासोञ्जसा।
तस्य स्याद् ग्रहशाकिनीगदरिपुप्रायाः पराश्चापदः -
स्तन्नाम्नापि वियन्ति यस्य वदते सद्दृष्टिदेवी हृदि।।६७।।

जिस मनुष्य के हृदय में सम्यग्दर्शनरूपी देवता सिद्ध होकर बोलने लगती है उसके लिये अत्यंत भयंकर - प्राणान्त करनेवाले उपसर्गों के उत्पन्न करने में उद्यत हुए भी सिंह

शार्दूल प्रभृति जीव परमार्थ से शृंगालादिक के समान हो जाते हैं - उसके हुंकारमात्र से दूर भाग जाते हैं। इसी तरह अत्यंत क्रूर भी गजराज बकरी के समान बन जाता है। जिस तरह कान पकडकर बकरी को वश में किया जा सकता है उसी तरह भयंकर भी हस्ती वश में हो जाता है और उस पर आरोहण किया जा सकता हैं। तथा भयंकर अग्नि जल के समान हो जाती है। भीष्म सर्पराज केंचुए के सदृश बन जाता है। समुद्र स्थल हो जाता है और लोहे की मजबूत भी शृंखला - सांकल मणियों - मोतियों की माला बन जाती है। चोर दास हो जाता है - खरीदे हुए गुलाम की तरह काम करने लगता है। विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। अधिक क्या कहा जाय उस देवता का नाम मात्र लेने से प्राणियों के अत्यंत प्रकृष्ट भी ग्रह शाकिनी ज्वरादिक व्याधियाँ और शत्रुप्रभृति तथा और भी आपत्तियाँ सब दूर हो जाती हैं।

मुमुक्षुओं को सम्यग्दर्शन का आराधन करने में प्रोत्साहित करते हुए दृढ करने के लिये यह बताते हैं कि वह सम्यग्दर्शन दुर्गतियों का प्रतिबंध करनेवाला और परम अभ्युदय के साधन का अंग तथा साक्षात् मोक्ष का कारण है :-

परमपुरुषस्याद्या शक्तिः सुदृग् वरिवस्यतां
नरि शिवरमासाचीक्षां या प्रसीदति तन्वती।
कृतपरपुरभ्रंशं क्लृप्तप्रभाभ्युदयं यया
सृजति नियतिः फेलाभोक्त्री कृतत्रिजगत्पतिः।।६८।।

हे मोक्ष की इच्छा रखनेवाले भव्यों ! परम पुरुष परमात्मा की आद्य - प्रधानभूत शक्ति सम्यग्दर्शन का तुम आराधन करो। जो कि शिवरमणी के साची - तिर्यक् ईक्षा-कटाक्ष को विस्तृत करती हुई मनुष्य पर अपनी [१] प्रसन्नता प्रकट करती है। एवं जिसके प्रसाद से अतिशयित प्रभाव को प्राप्त हुई [२] नियति पर मिथ्यात्व [३] अथवा वैरियों के नगर

---

१ - सम्यग्दर्शन के पक्ष में निर्मलता - शंकादिक मलरूपी कलंक की विकलता और दूसरे पक्ष में परमपद देने के सन्मुख परिणाम।

२ - भाग्य। ३ - दूसरे पक्ष में।

का भ्रंश - विनाश करती हुई और तीनों लोकों के स्वामियों को उच्छिष्टभोजी बनाती हुई अभ्युदय को निष्पन्न करती हैं।

भावार्थ :- जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य परमपुरुष - महादेव की आद्यशक्ति पार्वती को मानते हैं और कहते हैं कि उसीके प्रसाद से प्रभावयुक्त संचित पुण्य वैरियों के नगर का नाश करता है। उसी प्रकार वस्तुतः ऐसा समझना चाहिये कि सम्यग्दर्शन परम आत्माओं की प्रधान शक्ति हैं। उसके प्रसाद के पुण्य में वह अतिशयित प्रभाव उत्पन्न होता है कि जिसके वश होकर वह पुण्य मिथ्यात्व के द्वारा संपन्न हुए एकेन्द्रियादिकों के शरीररूपी नगरों को भस्मसात् करता हुआ अभ्युदयों को उत्पन्न करता है। क्योंकि सम्यक्त्व का आराधन करनेवाला जीव यदि उसने सम्यक्त्व ग्रहण के पूर्व आयुकर्म का बंध न किया हो तो नरकादिक दुर्गतियों को प्राप्त नहीं होता। और यदि उसने वैसी आयु का बंध कर लिया हो तो द्वितीयादि नरक प्रभृति अवस्थाओं को प्राप्त नहीं होता। जैसा कि आगम में भी कहा है :-

छसु हेट्ठिमासु पुढविसु जोइसिवणभवणसव्वइत्थीसु।
वारसमिच्छुववाए सम्माइट्ठी ण उववण्णा।।

नीचे की छह पृथिवी - नरक ज्योतिषी व्यंतर भवनवासी समस्त स्त्री और बारह मिथ्योपपाद इतने स्थानों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता। इससे योगों के इस मत का खण्डन हो जाता है कि -

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।।

सैकड़ों कल्पकोटि काल के बीत जानेपर भी कोई भी कर्म बिना भोगे नहीं छूट सकता। कैसा भी कर्म क्यों न हो - चाहे शुभ हो चाहे अशुभ, जो बांधा है वह अवश्य ही भोगना पडता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के प्रताप से दुर्गतियों का ध्वंस होता है और अभ्युदयों की सिद्धि होती है। तथा इसके प्रसाद से ही सुरेन्द्रादिक की विभूतियों को भोगकर और

पुनः उनको छोड़कर जीव परम आर्हन्त्य पद को प्राप्त हो जाता है। इस तरह से यह सम्यग्दर्शन ऊर्ध्व मध्य और अधोलोक के सभी स्वामियों - विभूतिभोगियों को उच्छिष्टभोजी बना देता है। इस प्रकार अनेक महिमाओं से युक्त सम्यग्दर्शन के निमित्त से ही जीव उसी भव में शिवरमणी के कटाक्षपात से प्रकट हुए अपूर्व - लोकोत्तर सुख का भोक्ता हो जाता है। जैसा कि आगममें भी कहा है -

यथा, -

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं
लब्धा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः।

जिनेन्द्रदेव की भक्ति करनेवाला सम्यग्दृष्टि भव्य देवेन्द्रों - स्वर्ग के देव इन्द्र अहमिन्द्र तथा सर्वार्थसिद्धि तक के उत्कृष्ट देवों की अप्रमाण महिमाओं - विभूतियों को अथवा महाराजों के शिरों द्वारा अर्चनीय - जिसको बड़े - बड़े महाराज शिर झुकाकर नमस्कार करते हैं ऐसे राजेन्द्रचक्र - चक्रवर्ती तक के उत्कृष्ट मानवीपदों या विभूतियों को तथा समस्त लोक को नीचा कर देनेवाले - तीन लोक में उत्कृष्ट तीर्थंकर जैसे पद का भोगकर अंत में मोक्ष को प्राप्त करता है।

जब कि सम्यक्त्वरूपी परम प्रभु की महिमा इतनी असाधारण है तब कहिये कि उसका आराधन किस तरह किया जाता है ? इसका उत्तर देते हैं -

मिथ्यादृग् यो न तत्त्वं श्रयति तदुदितं मन्यतेऽतत्त्वमुक्तं
नोक्तं वा तादृगात्मा भवभयममृतेतीदमेवागमार्थः।
निर्ग्रन्थं विश्वसारं सुविमलमिदमेवामृताध्वेति तत्त्व -
श्रद्धामाधाय दोषोज्झनगुणविनयापादानाभ्यां प्रपुष्येत्।।६९।।

तत्त्वों का स्वरूप पहले बताया जा चुका है। उसके अनुसार जो उसका श्रद्धान नहीं

करता किंतु किसीके भी - मिथ्यादृष्टि गुरु आदि के कहे हुए ही अथवा बिना कहे हुए विपरीत तत्त्व का श्रद्धान कर लेता है उसको मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये। यह आत्मा अनादिकाल से वैसा - मिथ्यादृष्टि रहकर ही मरण को प्राप्त हुआ है। इसलिये जो मुमुक्षु हैं उनको अपने अंत:करण में ऐसा श्रद्धान रखकर कि 'समस्त संसार में सारभूत वस्तु यदि कुछ है तो वह निर्ग्रंथ अवस्था ही है, अत्यंत निर्मल यह अवस्था ही मोक्ष का मार्ग है और यही समस्त आगम - प्रवचन का अर्थ - अभिप्राय है।' उस तत्त्वश्रद्धा की, दोषों के त्याग और गुणों तथा विनय के द्वारा प्रकृष्टरूप में, पुष्टि करना उचित है।

भावार्थ :- समस्त संसारी जीव और मैं भी अनादिकाल से इस संसार में मिथ्यादृष्टि होकर - मिथ्यात्व के प्रताप से ही जन्म-मरण धारण करते रहे हैं और दु:ख भोगते रहे हैं। मिथ्यादृष्टि उसको कहते हैं जो कि किसीके उपदेश से या बिना उपदेश के ही पदार्थ के विपरीत स्वरूप का तो श्रद्धान करता; किंतु उनके समीचीन स्वरूप का, जो कि आगमोक्त है, श्रद्धान नहीं करता है। जैसा कि आगम में भी कहा है -

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं वा।।

मिथ्यादृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान नहीं करता किंतु उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भाव - अतत्त्व का श्रद्धान कर लेता है।

जब कि मिथ्यात्व के निमित्त से संसार में भ्रमण करना पडता है तब मोक्ष के लिये इसके विरुद्ध तत्त्वश्रद्धान ही अंत:करण में धारण करना उचित है। तत्त्वश्रद्धा का आकार ऊपर बता चुके हैं।

संसार के बढानेवाले भावों को ग्रंथ कहते है। अतएव मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये ग्रंथ हैं। ये तीनों ही हेय हैं इसलिये इनकी हेयता का और इसके विरुद्ध रत्नत्रय जो कि समस्त जगत् में उत्कृष्ट और आगम के संपूर्ण कथन का सार है तथा अत्यंत निर्मलरूप को धारणकर जीवन्मुक्ति वा परममुक्ति की प्राप्ति का उपाय हो जाता है, उपादेय है। इसलिये उसकी उपादेयता का श्रद्धान ही तत्त्वश्रद्धान है। ऐसा ही आगम में भी कहा है, यथा :-

णिग्गंथं पावयणं इणमेव अणुत्तरं सुपरिसुद्धं।
इणमेव मोक्खमग्गोत्ति मदी कायव्विया तह्मा।।

नैर्ग्रन्थ्य ही उपादेय वस्तु है; क्योंकि यही लोकोत्तर अत्यंत विशुद्ध और मोक्ष का मार्ग है। इसलिये उसीका और वैसा ही श्रद्धान करना चाहिये। इसको पुष्टि दोषों को त्याग गुणों की प्राप्ति और विनय के द्वारा करनी चाहिये। अपनी कार्यकारिता की हानि अथवा स्वरूप के कम होने को दोष और इससे विपरीत भाव को गुण कहते हैं। विनय शब्द का अर्थ नम्रता है। इन्ही के द्वारा पुष्ट किये जानेपर सम्यग्दर्शन का आराधन हो सकता है।

पहले सम्यक्त्व के विषय में उद्योतादिक का वर्णन कर चुके हैं। उनकी आराधना करने की इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओं को उनके अतीचारों का त्याग करने का उपदेश देते हैं -

दुःखप्रायभवोपायच्छेदोद्युक्तापकृष्यते।
दृग्लेश्यते वा येनासौ त्याज्यं शङ्कादिरत्ययः।।७०।।

जिसमें प्रायः दुःख ही पाये जाते हैं ऐसे संसार के कारणभूत कर्मबंध अथवा मिथ्यात्वादिक भावों का उच्छेद विनाश करने में उद्युक्त सम्यग्दर्शन की कार्यकारिणी शक्ति का जो अपकर्ष करते हैं और स्वरूप को कम करते हैं उन शंकादिक अतीचारों को अवश्य ही छोडना चाहिये।

अंतर्वृत्ति या बहिर्वृत्ति के द्वारा इस तरह से अंशतः सम्यग्दर्शन के खण्डित होने को, कि जिसमें उसका समूल नाश न हो, अतीचार कहते हैं। इस तरह के अतीचार अनेक हैं - उनसे युक्त सम्यग्दर्शन कार्यकारी नहीं हो सकता। निरतीचार ही सम्यग्दर्शन दुःखप्राय संसार और उसके कारणों का उच्छेद कर सकता है। जैसा कि आगममें भी कहा है, यथा :-

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसंततिम्।
न हि मंत्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्।।

शङ्का नाम के अतीचार का स्वरूप बताते हैं :-

विश्वं विश्वविदाज्ञयाभ्युपयतः शङ्कास्तमोहोदयाज्
ज्ञानावृत्त्युदयान्मतिः प्रवचने दोलायिता संशयः।
दृष्टिं निश्चयमाश्रितां मलिनयेत्सा नाहिरज्जवादिगा
या मोहादयसंशयात्तदरुचिः स्यात्सा तु संशीतिदृक्।।७१।।

शुभपरिणामों के द्वारा जिसकी अनुभाग शक्ति का निरोध हो चुका है ऐसे मोहोदय-सम्यक्त्व नाम की दर्शनमोहनीय प्रकृति के उदय का अस्त हो जाने से सर्वज्ञदेव की आज्ञा - शासन के अनुसार समस्त वस्तुओं के विस्तार का यथावत् विश्वास करनेवाले जीव को ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रवचन - सर्वज्ञोक्त तत्त्वों के विषय में होनेवाली दोलायमान - वस्तु के सत्यांश और असत्यांश दोनों ही तरफ को समानरूप से झुकती हुई प्रतीति को संशय कहते हैं। इस संशय को ही शंका नाम का अतीचार कहते हैं। क्योंकि इस तरह की शंका - प्रवचनोक्त तत्त्वों के विषय में जो शंका है वही निश्चय-वस्तुतत्त्व के यथार्थ प्रत्यय से संबंध रखनेवाले सम्यग्दर्शन को मलिन करती है। सर्प रज्जु आदि के विषय में जो शंका है वह उसको मलिन नहीं करती। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि शंका नाम के अतीचार और संशयमिथ्यात्व इनमें क्या अंतर है ? इसका उत्तर यह है कि जिस शंका से सम्यग्दर्शन मलिन हो - अंशतः खण्डित हो उसको शंका अतीचार कहते हैं और जो शंका मोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न हो और जिससे प्रवचनोक्त तत्त्वों में अश्रद्धा हो जाय उसको संशयमिथ्यात्व कहते हैं।

भावार्थ :- प्रवचनोक्त तत्त्वों के विषय में सत्यता और असत्यता के संशय को शंका कहते हैं जो कि सम्यग्दर्शन का एक अतीचार है।

इस शंका के निराकरण करने की प्रेरणा करते हैं :-

प्रोक्तं जिनैर्न परथेत्युपयान्निदं स्यात्
किं वान्यदित्थमथवाऽपरथेति शङ्काम्।

स्वस्योपदेष्टुरुत कुण्ठतयानुषक्तां
सद्युक्तितीर्थमचिरादवगाह्य मृज्यात् ।।७२।।

जो जिनेन्द्रदेव - वीतराग सर्वज्ञदेव ने कहा है कि 'समस्त वस्तु अनेकान्तात्मक है,' सो सत्य हैं। 'उसका यह मत मिथ्या नहीं हो सकता।' इस प्रकार से श्रद्धान करनेवाले सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु भव्य को शीघ्र ही सद्युक्तितीर्थसमीचीन युक्तियों से सिद्ध आगम में कुशल उपाध्याय के अथवा उस समीचीन युक्तिसिद्ध आगम के हृदय में प्रवेश कर अपनी मंदबुद्धि के कारण अथवा उपदेष्टा गुरुओं की कुण्ठता के कारण हृदय में उत्पन्न हुई इस तरह की शंका का मार्जन - शोधन कर डालना चाहिये कि 'जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि धर्मादिक द्रव्य इतने हैं, सो वह ठीक है, अथवा दूसरे वैशेषिकों के कहे हुए द्रव्यादिक, यद्वा सांख्य के कहे हुए प्रधान पुरुषादिक अथवा बौद्धों के कहे हुए दुःखसमुदायादिक स्वरूप ठीक हैं।' इसी तरह से शंका का भी मार्जन करना चाहिये कि 'जिनेन्द्रदेव ने जो तत्त्वों का स्वरूप कहा है कि वह सामान्यविशेषात्मक है सो वह ठीक है अथवा, कोई दूसरा ही भेदैकान्तादिक ठीक है' ?

ऊपर उपाध्याय और आगम को तीर्थ बताया है सो ठीक ही है। क्योंकि तीर्थ शब्द का अर्थ नदी आदि का घाट होता है जिस प्रकार सद्युक्तितीर्थ - जिसकी भलेप्रकार योजना की गई है ऐसे घाट को पाकर सांसारिक मनुष्य प्रमाद से लगे हुए मल या कीचड आदि को धोकर साफ कर देते हैं उसी प्रकार जैनागम और उसके आधारभूत उपाध्याय को पाकर - इन दोनों की सेवा करके भव्यगण सांसारिक तथा उसकी कारण मलिनता को दूर कर देते हैं - संसारसमुद्र से तैर जाते हैं जैसा कि कहा भी है :-

जैनश्रुततदाधारौ तीर्थं द्वावेव तत्त्वतः।
संसारस्तीर्यते ताभ्यां तत्सेवी तीर्थसेवकः।।

इस तीर्थ को सद्युक्ति कहने का अभिप्राय यह है कि वह पूर्वापर अथवा प्रत्यक्षादिक प्रमाण के द्वारा बाधित नहीं है।

शंका नामके अतीचार से क्या अपाय होता है सो बताते हैं :-

सुरुचिः कृतनिश्चयोपि हन्तुं द्विषतः प्रत्ययमाश्रितः स्पृशन्तम्।
उभयीं जिनवाचि कोटिभाजो तुरगं वीर इव प्रतीर्यते तैः।।७३।

जिस प्रकार अत्यंत तेजस्वी और जिसने वैरियों के वध करने का दृढ निश्चय कर लिया है ऐसा भी वीरपुरुष, यदि युद्धभूमि में ऐसे घोडे पर चढा हो जो कि कभी पूरब और कभी पश्चिम इस तरह बडे वेग से भागता फिरता हो तो, वह वैरियों के द्वारा मारा जाता है। इसी प्रकार जिसने मोहादिक वैरियों के घात करने का निश्चय कर लिया है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव यदि जिनवचन के विषय में दोनों ही कोटियों - वस्त्वंशों का स्पर्श करनेवाले ज्ञान - 'ऐसा ही है अथवा अन्यथा है' इस तरह के संशय ज्ञान पर आरूढ हो तो वह उन वैरियों के द्वारा प्रतिहत हो जाता है।

भावार्थ :- संशयीजीव अपना कल्याण नहीं कर [१] सकता; क्योंकि संशय के कारण ही वह निश्चित समीचीन हितमार्ग पर नहीं चल सकता।

भय और संशयरूप अथवा इन दोनों के विषय में उत्पन्न हुई शंका का निरास करने के लिये प्रयत्न करने का उपदेश देते हैं :-

भक्तिः परात्मनि परं शरणं नुरस्मिन्
देवः स एव च शिवाय तदुक्त एव।
धर्मश्च नान्य इति भाव्यमशङ्कितेन
सन्मार्गनिश्चलरुचेः स्मरताऽञ्जनस्य।।७४।।

भय और संशय इन दो बातों के निमित्त से शंका हुआ करती हैं। अतएव उसके दो भेद हैं। अपने लिये किसीको शरण न समझकर भय शंका और कार्यसिद्धि अथवा उसके कारणों में संदेह उपस्थित होनेपर संशय - शंका उत्पन्न होती है। जो मोक्ष की

१ - 'संशयात्मा विनश्यति।'

इच्छा रखनेवाले भव्य हैं उनको सन्मार्ग - मुक्ति प्राप्ति के उपाय में निश्चल निष्कंप - अत्यंतदृढ रुचि - श्रद्धा रखनेवाले अंजनचोर का स्मरण कर इन दोनों ही शंकाओं से रहित होना चाहिये। क्योंकि इस संसार में जीव के लिये केवल परमात्मा की भक्ति ही शरण है। एवं जो सर्वज्ञ और वीतराग हैं वे ही देव हैं और वे ही मोक्ष के लिये आराध्य हो सकते हैं, और नहीं। इसी तरह उन सर्वज्ञदेव का उपदिष्ट धर्म ही निर्वृति का कारण हो सकता, और का नहीं।

भावार्थ :- अत्यंत विशुद्ध भावों से हृदय में जो परमात्मा और उसके गुणों के प्रति पवित्र अनुराग होता है उसीको भक्ति कहते हैं। यह भक्ति ही संसार में जीव के अपाय की रक्षा का उपाय हो सकती है। अतएव उसीको शरण मानकर और मोक्ष के लिये सर्वज्ञ वीतराग देव की आराध्यता तथा उनके उपदिष्ट धर्म की कारणता में निःसंदेह होकर मुमुक्षुओं को उक्त दोनों ही शंकाओं से रहित होना चाहिये; जैसा कि अंजन चोर हुआ।

शंका अतीचार के बाद कांक्षा नाम के अतीचार का स्वरूप बताते हैं।

या रागात्मनि भङ्गुरे परवशे संतापतृष्णारसे
दुःखे दुःखदबंधकारणतया संसारसौख्ये स्पृहा।
स्याज्ज्ञानावरणोदयैकजनितभ्रान्तेरिदं दृक्तपो
माहात्म्यादुदियान्ममेत्यतिचरत्येषैव कांक्षा दृशम्।।७५।।

इष्ट वस्तुओं के विषय में जो प्रीतिरूप अनुराग होता है उसको सांसारिक सुख कहते हैं। यह सुख स्वभाव से ही नश्वर और परवश - पुण्यकर्म के उदय के अधीन है। संताप और तृष्णा ये दो उसके रस - अनुभव में आनेवाले फल हैं। दुःख के कारणभूत अशुभकर्म के बंध का यह कारण है, अथवा स्वयं भी दुःखरूप है; क्योंकि उसके साथ में अनेक दुःखों का मिश्रण रहता है। इस तरह के इस सांसारिक सुख में उस जीव की, जिसकी कि बुद्धि प्रधानतया या [१] एक ज्ञानावरणकर्म के उदय से भ्रांत हो गई है, जो स्पृहा होती

१ - अर्थात् दर्शनमोहनीयकर्म के उदय से रहित। क्योंकि जो सम्यग्दृष्टि हैं उनके मिथ्यात्व

है उसको कांक्षा कहते है। इस भ्रांतबुद्धि के कारण उक्त सांसारिक सुख में, जो कि वस्तुत: दु:खरूप है, सुख का आभास होता है और इस तरह के भाव होते हैं कि 'सम्यग्दर्शन और तप के माहात्म्य से मेरे संसार के सुख अहमिन्द्रादिक पद अथवा अनेक प्रकार के अभ्युदयों और विभूतियों की उद्भूति किस प्रकार से हो।' ये भाव ही आकांक्षा हैं, और इन्ही से अंशत: सम्यक्त्व का खण्डन होता है।

इस प्रकार की आकांक्षा करनेवाले जीवों के जो सम्यक्त्वरूपी फल की हानि होती है उसको बताते हैं। :-

यल्लीलाचललोचनाञ्चलरसं पातुं पुनर्लालसा:
स्वश्रीणां बहु रामणीयकमिदं मृद्नन्त्यपीन्द्रादय:।
तां मुक्तिश्रियमुत्कयद्विदधते सम्यक्त्वरत्नं भव -
श्रीदासीरतिमूल्यमाकुलधियो धन्यो ह्यविद्यातिग:।।७६।।

अनित्य अशुचि दु:ख और अनात्मरूप सांसारिक विषयों में विपरीत भान - नित्यशुचि सुख और आत्मरूपता के प्रत्यय को अविद्या कहते हैं। इस अविद्या से जो सर्वथा दूर हैं वे ही पुरुष धन्य हैं। अतएव जिसको लीला - यदृच्छा से चञ्चल हुए नेत्राञ्चल के रस का पान करने के लिये लालसा - अत्यंत लंपटता रखनेवाले इन्द्रादिक भी अपनी अपनी लक्ष्मियों - देवियों रतिकारिता के - संभोग प्रवृत्ति के विपुल मद को चूर्णित कर देते हैं उस मुक्तिलक्ष्मी को उत्कंठित करनेवाले सम्यक्त्व - रत्न को, वे पुरुष, जिनकी कि अंत:करणप्रवृत्ति विषयसेवन करने के लिये उत्सुक रहा करती है, संसारलक्ष्मीरूपी दासी की रति का मूल्य बना देते हैं।

के उदय से होनेवाली भ्रांति नहीं हो सकती, अन्यथा उनके ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहना पडेगा। जैसा कि आगम में भी कहा है, यथा -

उदये यद्विपर्यस्तं ज्ञानावरणकर्मण:।
तदस्थास्तुतया नोक्तं मिथ्याज्ञानं सुदृष्टिषु।।

भावार्थ :- जिस प्रकार संसार में कामवासना से संतप्त हुए पुरुष किसी दासी आदि को उसके साथ की गई रति का मूल्य दिया करते हैं, उसी प्रकार संसार की भोगोपभोगसामग्री से रति - प्रेम करनेवाले लोक उसको उस प्रेम के बदले में अपने उस सम्यक्त्वरत्न को दे डालते हैं, जो कि उस मुक्तिलक्ष्मी को उत्कंठित करनेवाला है और जिसके रस का पान करने के लिये अत्यंत उत्कंठित हुए स्वर्ग के देव और इन्द्रादिक भी अपनी अपनी अंगनाओं के साथ रमण की इच्छा को छोड देते हैं। क्योंकि यह समझकर कि जो अविद्या से दूर रहनेवाला है वही संसार में धन्य है। और जिस प्रशमसुख का तपस्वी अनुभव करते हैं उसी आत्मिक सुख का अनुभव करने के लिये देव और इन्द्रादिक भी स्वर्गीयविभूतियों के सुख से विरक्त होकर यह इच्छा किया करते हैं कि 'मोक्षलक्ष्मी का सुख जिसके द्वारा प्राप्त हो सकता है उस तपस्या का आचरण करने के लिये मैं इस देव इन्द्रपर्याय को छोडकर कब मनुष्यपर्याय में अवतीर्ण होऊँ।'

सम्यक्त्वादिक के निमित्त से जिनके पुण्यकर्म का संचय हो ही जाता है ऐसे जीवों को संसारसुख की आकांक्षा करना व्यर्थ है। क्योंकि उस पुण्य के निमित्त से उनको उस सुख की प्राप्ति स्वयं हो जाती है; फिर उसके लिये आकांक्षा करने का क्या प्रयोजन ? कुछ भी नहीं। यही बात दिखाते हैं :-

तत्त्वश्रद्धानबोधोपहितमयतपः पात्रदानादिपुण्यं
यद्गीर्वाणाग्रणीभिः प्रगुणयति गुणैरर्हणामर्हणीयैः।
तत्प्राध्वंकृत्य बुद्धिं विधुरयति मुधा क्वापि संसारसारे,
तत्र स्वैरं हि तत् तामनुचरति पुनर्जन्मनेऽजन्मने वा।।७७।।

उपर्युक्त जीवादिक सात तत्त्वों के श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त संयम तप पात्रदान और परोपकार प्रभृति साधनों के द्वारा उत्पन्न हुआ पुण्य इतना महान् होता है कि वह देवों इन्द्रों तथा अहमिंद्रों के द्वारा भी पूजनीय तीर्थकरत्वादि गुणों से अपने स्वामी की पूजा करवा देता है; क्योंकि इस पुण्य के प्रसाद से लोकोत्तर फल देनेवाले तीर्थकरत्वादिक ऐसे ऐसे गुण प्राप्त होते हैं कि जिनके निमित्त से इन्द्रादिक भी आकर उस मनुष्य की पूजा किया करते हैं। अतएव हे भव्य ! यह पुण्यकर्म संसार के सारभूत

विषयों में और पुनर्भव तथा अपुनर्भव के लिये जैसी की तेरी कल्पना - इच्छा है वैसा स्वयं ही - विना तेरी आकांक्षा के ही तेरी इच्छानुसार ही अनुगमन करता है। - इस महान् पुण्य के निमित्त से बिना किसी तरह की इच्छा किये ही - स्वयं ही संसार के अभ्युदय और उत्तम देव मनुष्य भव की प्राप्ति, तथा जहाँ से फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पडता ऐसे मोक्षपद की सिद्धि हो ही जाती है। फिर भी तू जो इस पुण्यकर्म का बंध करके इन संसार के विषयों में बुद्धि लगाता है - इस 'पुण्य से मुझको अमुक अभ्युदय या अतिशय प्राप्त हो' ऐसी कल्पना करता फिरता है सो व्यर्थ है।

आकांक्षा का निरोध करने के लिये अत्यंत प्रयत्न करने का उपदेश देते हैं :-

पुण्योदयैकनियतोभ्युदयोत्र जंतोः
प्रेत्याप्यतश्च सुखमप्यभिमानमात्रम्।
तन्नात्र पौरुषतृषे परवागुपेक्षा -
पक्षो ह्यनन्तमतिवन्मतिमानुपेयात्।।७८।।

मनुष्यों का इस लोक में या परलोक में सर्वत्र अभ्युदयों का प्राप्त होना एक पुण्यकर्म के उदय के ही अधीन है; क्योंकि यदि पुण्यकर्म का उदय न हो तो चाहे जितना भी पुरुषार्थ किया जाय, उससे अभ्युदयों की सिद्धि नहीं हो सकती। और पुण्य का उदय होनेपर वह पुरुषार्थ सफल हो सकता है और अभ्युदयों की भी प्राप्ति हो सकती हैं। अतएव जीवों के इसलोक और परलोक के अभ्युदय पुण्योदय के अधीन हैं। अर्थात् संसारीजीवों के सभी अभ्युदय पराधीन हैं। एवं इन अभ्युदयों से जो सुख प्राप्त होता है वह भी अभिमानमात्र ही है - मैं सुखी हूँ इस तरह की एक अनुरक्त कल्पनामात्र ही है। अतएव विचारशील पुरुषों को चाहिये कि वे अभ्युदय और तज्जनित सुख के विषय में क्रम से पौरुष और तृष्णा को छोड दें। अनंतमति नाम की सेठ की पुत्री के समान परवचन - सर्वथा एकान्तवादियों के अभिमत में उपेक्षायुक्त - रागद्वेषरहित पक्ष रखकर

सांसारिक अभ्युदय के सिद्ध करने में परिश्रम और तज्जनित सुख के लिये आकांक्षा न करना चाहिये।

विचिकित्सा नाम के अतीचार का स्वरूप बताते हैं :-

कोपादितो जुगुप्सा धर्माङ्गे याऽशुचौ स्वतोऽङ्गादौ।
विचिकित्सा रत्नत्रयमाहात्म्यारुचितया दृशि मलः सा।।७९।।

शरीरादिक द्रव्य और क्षुधा तृषा आदिक भाव स्वभाव से ही अपवित्र और असुन्दर हैं। किंतु वे धर्म के भी अङ्ग - साधन हैं। क्योंकि शरीरादिके द्वारा ही अनशनादिक कायक्लेशान्त बाह्यतप और प्रायश्चित्त से लेकर ध्यान तक अंतरङ्गतप करके परम निःश्रेयस की सिद्धि हो सकती है। इस तरह के धर्म के साधनभूत द्रव्य और भाव में क्रोधादिक कषाय के वश होकर रत्नत्रय के माहात्म्य में - सम्यग्दर्शनादिक के निमित्त से उत्पन्न हुए प्रभाव में अरुचि रखकर ग्लानि करना इसको विचिकित्सा कहते हैं। यही विचिकित्सा सम्यग्दर्शन का - मल अतीचार है।

भावार्थ :- एक मुनि का शरीर स्वभाव से ही अपवित्र या असुंदर है किंतु वह रत्नत्रय के माहात्म्य से भूषित है। उसमें कषायवश अरुचि धारण कर ग्लानि करना रत्नत्रय से ही ग्लानि करना है। अतएव यह सम्यग्दर्शन का विचिकित्सा नाम का अतीचार है। क्योंकि इससे सम्यग्दर्शन का जो स्वरूप बताया है कि देव गुरु शास्त्र में रुचि रखना, उसमें हानि पहुँचती है।

महापुरुषों को अपने शरीरमें विचिकित्साराहित्य के कारण
जो माहात्म्य प्राप्त होता है उसको बताते हैं :-

यद्दोषधातुमलमूलमपायमूल -
मङ्गं निरङ्गमहिमस्पृहया वसंतः।
संतो न जातु विचिकित्सितमारभन्ते
संविद्रते हतमले तदिमे खलु स्वे।।८०।।

जो सत्पुरुष शरीररहित मुक्तात्माओं की महिमा - अनंतज्ञानादि - गुणसंपत्ति में स्पृहा-अभिलाषा रखते हैं; किंतु दोष - वात पित्त कफ धातु - रस रुधिर मांस मेदा अस्थि मज्जा और शुक्र, मल - नाक धूक पसीना आदि की खानि और अपाय - दु:खों के मूल कारण शरीर में रहते हैं वे कभी भी कर्ममलरहित आत्मा में ग्लानि नहीं करते। यही कारण है कि वे आत्मसंपत्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ :- स्वभावता अशुचि शरीर में रहते हुए भी जिनका अभीष्ट, अशरीरावस्था की महिमा प्राप्त करना है, वे महापुरुष शरीर के संबंध से आत्मा में क्यों कर ग्लानि कर सकते हैं ? यही कारण है कि सत्पुरुष इस निर्विचिकित्सा के अभीष्ट सिद्धि और आत्मसंवित्ति के माहात्म्य को प्राप्त कर लेते हैं।

जो महात्मा हैं उनके जुगुप्सा का निमित्त मिलने पर भी जुगुप्सा नहीं होती; यह बात दिखाते हैं :-

किंचित्कारणमाप्य लिङ्गमुदयन्निर्वेदमासेदुषो
धर्माय स्थितिमात्रविध्यनुगमेप्युच्चैरवद्याद्भिया।
स्नानादिप्रतिकर्मदूरमनसः प्रव्यक्तकुत्स्याकृतिं
कायं वीक्ष्य निमज्जतो मुदि जिनं स्मर्तुः क्व शूकोद्गमः।।८१।

इष्टवियोग वज्रपात मेघदर्शन आदि विविध कारणों में से किसी भी कारण को पाकर विरक्त हो आचेलक्य और केशलोच से व्यक्त होनेवाले उस निर्ग्रंथलिङ्ग को, जिसमें कि वैराग्य बढता चला जाता है, धारण करनेवाले तपस्वी धर्म के लिये शरीर की स्थितिमात्र प्रयोजन रखकर आहारादि विधि का आचरण करते हैं। क्योंकि आहार के विना शरीर स्थिर नहीं रह सकता। और उसकी स्थिरता के बिना धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती। और तपस्वी धर्म को सिद्ध करना चाहते हैं। अतएव चाकचिक्यादि के लिये नहीं, किंतु शरीर की स्थितिमात्र के लिये - जिससे कि शरीर टिका रहे उस तरह से, आहार में प्रवृत्ति करते हैं। और पाप से भयभीत होकर स्नान अभ्यङ्ग प्रभृति प्रसाधनों से वे अपनी

मनोवृत्ति को सर्वथा और अतिशयित रूप से अत्यंत दूर रखते हैं। इस तरह के एकान्त से धर्म का ही साधन करनेवाले तपस्वियों के शरीर को, जिसकी आकृति को देखते ही अत्यंत ग्लानि उत्पन्न हो जाय, देख करके भी जो सम्यग्दृष्टि जिन भगवान् अर्हद्भट्टारक का स्मरण कर आनंद में निमग्न हो जाता है; क्या उसके कभी भी जुगुप्सा की उद्भूति हो सकती है ?

भावार्थ :- जो आत्मा और उसके धर्म को देखनेवाला है वह शरीर को अशुचि देखकर उससे कभी भी ग्लानि नहीं कर सकता।

विचिकित्सा के त्याग करने में प्रयत्न करने का उपदेश देते हैं :-

द्रव्यं विडादि करणैर्न मयैति पृक्तिं
भावः क्षुदादिरपि वैकृत एव मेऽयम्।
तत्किं मयात्र विचिकित्स्यमिति स्वमृच्छे -
दुद्दायनं मुनिरुगुद्धरणे स्मरेच्च।।८२।।

यदि किसी कारणवश कदाचित् विचिकित्सा का उद्गम भी हो जाय तो सम्यग्दृष्टि को उचित है कि वह अपनी आत्मा को इस प्रकार समझावे - ऐसा विचार करे कि- वमन मूत्र पुरीष आदि जो द्रव्य हैं उनका मुझसे स्पर्श नहीं हो रहा है, जो कि शुद्ध चिद्रूप - ज्ञानदर्शनात्मक हूँ; किंतु इन्द्रियों व शरीरादिक के साथ उनका स्पर्श हो रहा है, जो कि जडरूप हैं। क्योंकि ये द्रव्य मूर्त हैं और इन्द्रियाँ व शरीर भी मूर्त हैं; किंतु मैं अमूर्त हूँ। अतएव मेरे साथ नहीं किंतु इन्द्रियादिक के साथ ही इन पुरीषादिका संबंध है। क्योंकि मूर्त पदार्थ का मूर्त पदार्थ के साथ ही संबंध हो सकता है। इसी प्रकार मेरे - मुझसे संबंध रखनेवाले जो ये क्षुधा तृषा आदिक भाव हैं वे भी ऐसे समझे जाते हैं कि वे मेरे हैं। किंतु वास्तव में वे मेरे नहीं, वैकृत ही हैं - कर्म के उदय से उत्पन्न हुए विकारजनित ही हैं। अतएव इन दोनों में - द्रव्य और भाव में कौन सी चीज से मुझे विचिकित्सा - जुगुप्सा करनी चाहिये ? कोई भी चीज तो मेरे लिये जुगुप्स्य नहीं है। ये अशुद्ध द्रव्य और भाव यदि मेरे होते तो कदाचित् उनसे ग्लानि करना भी उचित होता। पर ये मेरे नहीं हैं। अतएव इनसे ग्लानि करना भी ठीक नहीं है।

इसी प्रकार किसी मुनि के रोग का इलाज करते समय - यदि किसी मुनि को वमन आदि हो जाय तो उसका इलाज या सफाई आदि करने में कदाचित् जुगुप्सा उत्पन्न हो जानेपर सम्यग्दृष्टि को चाहिये कि वह निर्जुगुप्सा अंग में प्रसिद्ध हुए उद्दायन राजा का स्मरण करे।

ऐसी भावना करनेवाला और स्मरण करनेवाला ही सम्यग्दृष्टि शुद्ध चिद्रूप को प्राप्त कर सकता है।

अन्यदृष्टिप्रशंसा नाम के सम्यक्त्व के अतीचार को छोडने का उपदेश देते हैं :-

एकान्तध्वान्तविध्वस्तवस्तुयाथात्म्यसंविदाम्।
न कुर्यात्परदृष्टिनां प्रशंसां दृक्कलष्टीङ्किनीम्।।८३।।

'वस्तु सर्वथा क्षणिक है' अथवा 'सर्वथा नित्य है' इस तरह के एकांतवाद अनेक प्रकार के हैं; जैसा कि पहले दिग्दर्शन कराया जा चुका है। इस एकांत के अभिनिवेश-आग्रहरूपी अंधकार से जिन लोगों ने वस्तु के याथात्म्य - यथार्थ स्वरूप के ज्ञान व श्रद्धान को आच्छादित कर रक्खा है या ढक दिया है ऐसे मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा न करनी चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से उनके जैसे मिथ्याश्रद्धान की तरफ आत्मा झुकती है; अथवा सम्यक्त्व में निर्मलता होना रुक जाता है। अतएव सम्यग्दर्शन में कलंक लगता है।

अनायतनसेवा नाम के अतीचार का भी त्याग करने के लिये उपदेश देते हैं :-

मिथ्यादृग्ज्ञानवृत्तानि त्रीणि त्रींस्तद्वतस्तथा।
षडनायतनान्याहुस्तत्सेवां दृङ्मलं त्यजेत्।।८४।।

मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र ये तीन भाव और तीन ही इन भावों के धारण

करनेवाले अर्थात् मिथ्यादृष्टि मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री इन छहों को आचार्य अनायतन कहते हैं। क्योंकि ये मिथ्याश्रद्धान के आयतन - स्थान हैं; न कि समीचीन श्रद्धान के। यही कारण है कि इनकी उपासना करने से सम्यग्दर्शन में मल - दोष उत्पन्न होता है। अतएव सम्यग्दृष्टियों को चाहिये कि वे इस अनायतन सेवा का परित्याग ही करें।

आराधनाशास्त्र में सम्यक्त्व के पाँच अतीचार बताये हैं - शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा और अनायतनसेवा। यथा -

'सम्मत्तादीचारा संका कंखा तहेव विदिगिंछा।
परदिट्ठीण पसंसा अणायदणसेवणा चेव।।'

इन्ही पाँच अतीचारों का यहाँ पर भी सम्यग्दर्शनाराधना के प्रकरण में संक्षेप से स्वरूप बताया है। अब मिथ्यात्व नाम के अनायतन के निषेध करने का प्रयत्न करते हैं - जो अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें इस मिथ्यात्वरूप अनायतन का त्याग ही करना चाहिये; ऐसा उपदेश देते हैं :-

सम्यक्त्वगंधकलभः प्रबलप्रतिपक्षकरटिसंघट्टम।
कुर्वन्नेव निवार्यः स्वपक्षकल्याणमभिलषता।।८५।।

जिस प्रकार अपने युथ की कुशल चाहनेवाला यूथनायक - सेनापति अपने यूथ के मदोन्मत्त हाथी के बच्चे को प्रतिपक्षियों के प्रबल हाथी से प्रतिजिघांसा का भाव रखकर भिडते ही बचा लेता है - भिडने नहीं देता; क्योंकि वह इस समय बच्चा है, किंतु भविष्य में इतना पुष्ट होनेवाला है कि सहज ही में उस प्रबल हाथी का घातकर देगा। इसी प्रकार जो भव्य स्वयं धारण किये हुए व्रतादि का कल्याण चाहता है, उनकी रक्षा करना चाहता और सम्यक्त्व की आराधना करने में उद्यत है उसको चाहिये कि वह अपने सम्यक्त्वरूपी मदोन्मत्त हस्तिपोत को प्रतिजिघांसा से दुर्निवार मिथ्यात्वरूपी प्रतिपक्षकरटी से भिडते ही बचा ले - भिडने न दे। क्योंकि वह भविष्य में इतना पुष्ट होनेवाला है कि सहज ही में उस प्रतिपक्षी का दलन कर ज्ञानचारित्ररूपी संपत्ति को पुष्ट कर देगा।

प्रौढ सम्यग्दर्शन के धारण करनेवालों के मद - ज्ञान पूजा कुल जाति आदि अभिमानरूपी मिथ्यात्व के आवेश की शंका हो सकती है; अतएव उसका निरसन करते हैं। :-

मा भैषीर्दृष्टिसिंहेन राजन्वति मनोवने।
न मदान्धोऽपि मिथ्यात्वगंधहस्ती चरिष्यति।।८६।।

जहां पर दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का पालन करनेवाला राजा मौजूद है वहाँ पर दूसरे किसी प्रकार भी आकर पराभव नहीं कर सकते और न कोई भी मदांध वहां विप्लव ही कर सकता है। अतएव वहाँ के जीवों को किसी भी प्रकार का त्रास या भय नहीं हो सकता। सिंह के मौजूद रहते हुए क्या गंध और मदोन्मत्त भी हस्ती वन को विप्लावित कर सकता है ? कभी नहीं। इसी प्रकार हे अत्यंत दृढ सम्यग्दर्शन के धारण करनेवाले भव्य ! जिस तेरे इच्छानुसार फल देनेवाले मनरूपी वन में सम्यग्दर्शनरूपी केसरी विराजमान है और इसीलिये जिसका कोई दूसरा पराभव नहीं कर सकता; क्या उसको यह मदान्ध- जाति आदि के मद - अभिमान से मनुष्यों को अंधा - युक्त क्या है और अयुक्त क्या है इसके देखने में असमर्थ, बना देनेवाला मिथ्यात्वरूपी गंधहस्ती विप्लावित कर सकता है ? कभी नहीं। अतएव तू किसी प्रकार का भय मत कर और निर्भय होकर सम्यग्दर्शन का आराधन कर !

जो मनुष्य जाति आदि के मद से अपने में उत्कर्ष की संभावना करता है वह साधर्मियों का अभिभव - पराभव करता है। इसीलिये कहना चाहिये कि वह सम्यक्त्व के माहात्म्य में हानि पहुँचाता है। यही बात दिखाते हैं :-

संभावयन् जातिकुलाभिरूप्यविभूतिधीशक्तितपोर्चनाभिः।
स्वोत्कर्षमन्यस्यसधर्मणो वा कुर्वन् प्रधर्षं प्रदुनोति दृष्टिम्।।८७।।

जाति - मातृपक्ष, कुल - पितृपक्ष, अभिरूप्य - सौरूप्य, विभूति - ग्राम नगर सुवर्णादि समृद्धि, धी - शिल्पकलादिका ज्ञान, शक्ति - पराक्रम, तप - अनशनादिक अनुष्ठान, अर्चना - पूजा, इन सब कारणों से अथवा इनमें से किसी एक दो के द्वारा 'मैं इससे उत्कृष्ट हूँ' ऐसी उत्प्रेक्षा करनेवाला मनुष्य अपने में केवल उत्कर्ष की संभावना ही करता

है; इतना ही नहीं किंतु, इनके द्वारा वह दूसरे साधर्मियों का तिरस्कार भी करता है। यही कारण है कि सम्यक्त्व को अपने माहात्म्य - महत्त्व से गिरा देता है - कम कर देता है - समल बना देता है - कलंकित कर देता है।

जातिमद और कुलमद के त्याग करने का उपदेश देते है :-

पुंसोऽपि क्षतसत्त्वमाकुलयति प्रायः कलङ्कैः कलौ
सद्दृग्वृत्तवदान्यतावसुकलासौरूप्यशौर्यादिभिः।
स्त्रीपुंसैः प्रथितैः स्फुरत्यभिजने जातोऽसि चेद्दैवत -
स्तज्ज्ञात्या च कुलेन चोपरि मृषा पश्यन्नधः स्वं क्षिपेः।।८८।।

हे जाति और कुल से अपने को ऊँचा माननेवाले ! यद्यपि तू सम्यग्दर्शन सदाचार दानशूरता धन कला सौंदर्य वीरता नय विनय गांभीर्य शौण्डीर्य प्रभृति गुणों के कारण बडे प्रख्यात - प्रसिद्ध स्त्री पुरुषों के द्वारा मनुष्यों के हृदय में चमत्कार पैदा कर देनेवाले कुल में पूर्वजन्म में संचित किये हुए पुण्यकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ है। फिर भी स्त्रियों की तो बात ही क्या, पुरुषों को भी प्रायः करके उनके सत्त्वतमोगुण का क्षय करते हुए कलङ्कों - अपवादों से दूषित करनेवाले इस कलिकाल में तू जो जाति और कुल के द्वारा साधर्मियों से अपने को उत्कृष्ट समझता है सो तेरी यह समझ ठीक नहीं है। क्योंकि परमार्थ से कुल और जाति की शुद्धि का निश्चय नहीं हो सकता। जैसा कि आगम में भी कहा है -

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे।
कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना।।

संसार में जब तीन बातों पर विचार करते हैं कि - संसार अनादि है, कामदेव दुर्वार है, और कुल का मूल कामिनी है। तब जाति की कल्पना ठहरती है ? किसी भी कामिनी ने कुल को कलंकित न किया होगा इसका क्या निश्चय है ? अतएव निश्चित समझ कि इस जातिमद और कुलमद के कारण तू अपने को हीन पद में ही पटक

रहा है। क्योंकि सम्यक्त्व की विराधना होनेपर हीनपद का प्राप्त होना सुघट है। जैसा कि कहा भी हैं :-

जातिरूपकुलैश्वर्यशीलज्ञानतपोबलः।
कुर्वाणोऽहंकृतिं नीचं गोत्रं बध्नाति मानवः।।

इन जात्यादिक अष्ट मदों को धारण करनेवाला पुरुष नीचगोत्र का बंध करता है।

सौंदर्य के मद से आविष्ट रहनेवाले पुरुष के सम्यग्दर्शन में जो दोष उत्पन्न होता है उसको दिखाते हैं :-

यानारोप्य प्रकृतिसुभगानङ्गनायाः पुमांसं
पुंसश्चास्यादिषु कविठका मोहयन्त्यङ्गनां द्राक्।
तानिन्द्वादीन्न परमसहन्नुन्मदिष्णून्वपुस्ते
स्रष्टाऽस्राक्षीद् ध्रुवमनुपमं त्वां च विश्वं विजिष्णुम्।।८९।।

लोकोत्तर वर्णन करने में निपुण कवियों को ठग के समान समझना चाहिये। क्योंकि वे अपने पुरुषार्थ का उपमर्द-दुरुपयोग करते हैं और अपनी कृति से स्त्री पुरुषों को सच्चे कर्तव्य से वञ्जित रखते हैं। इस तरह के ये कवि - ठग अङ्गनाओं के मुख और नेत्रप्रभृति उपमेय पदार्थों में जिन स्वभाव से ही रमणीय चन्द्रमा कमल किसलय कलश (सुवर्णघट) आदि उपमानभूत पदार्थों की कल्पना करके शीघ्र ही - वर्णन करते ही मनुष्यों-पुरुषों के हृदय को मोहित कर देते हैं; और इसी प्रकार पुरुषों के मुखादिक में भी जिन स्वभाव सुंदर चंद्रादिक की कल्पना कर स्त्रियों को मोहित कर देते हैं; मुझे मालूम पडता है, मानों उन्मदिष्णु - अपने उत्कर्ष की संभावना करनेवाले उन चंद्रमा कमल विसलय आदि पदार्थों को सहन न करके विधाताने तेरा यह अनुपम शरीर बनाया है जिसमें कि ये मुखादिक चंद्रमादिक की उपमा से भी परे हैं। किंतु चंद्रमादिक को भी उपमेय बनाने के लिये तेरे इस शरीर की सृष्टि की है। किंतु इतना ही नहीं है - ये चंद्रादिक अपने उत्कर्ष की संभावना करने लगेंगे इस बात को न सह करके ही केवल विधाता ने तेरा

यह अनुपम शरीर बनाया है किंतु विश्व पर विजय प्राप्त कर सकनेवाले तुझको भी सहन न करके बनाया है। क्योंकि इसमें संदेह नहीं कि सम्यक्त्व के माहात्म्य से तू अच्छी तरह समस्त जगत् पर विजयलाभ कर सकता या कर लेता; यदि यह हतविधि - विधाता जिसकी जगत् में कोई उपमा नहीं है; ऐसे सौंदर्य को उत्पन्न करके उसके मद से तेरे सम्यक्त्व को दूषित न कर देता।

लक्ष्मी के मद का त्याग करने के लिये वक्रोक्ति से वर्णन करते हैं -

या दैवैकनिबंधना सहभुवां यापबद्धियामामिषं
या विस्रम्भमजस्रमस्यति यथासन्नं सुभक्तेष्वपि।
या दोषेष्वपि तन्वती गुणधियं युङ्क्तेनुरक्त्या जनान्
स्वभ्यस्वान्न तया श्रियाशु ह्रियसे यान्त्यान्यमान्ध्यान्न चेत्।।९०।।

जिस लक्ष्मी की प्राप्ति का कारण एक दैव ही है - पौरुष की अपेक्षा से रहित पूर्वसंचित शुभकर्म के निमित्त से ही जो प्राप्त हुआ करती है, जिससे अनेक प्रकार की आपत्तियाँ और उससे उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकार के भय एकसाथ उत्पन्न होने लगते हैं। जैसा कि कहा भी है -

बह्वपायमिदं राज्यं त्याज्यमेव मनस्विनाम्।
यत्र पुत्राः ससोदर्या वैरायन्ते निरंतरम्।।

जहाँ पर पुत्र और सहोदर भाई तक हमेशा वैर किया करते हैं; जिसमें अनेक अपाय - बुरे काम करने पडते हैं, अथवा अत्यंत दुष्कर्म - पाप का संचय होता है; ऐसा यह राज्य मनस्वियों के लिये त्याज्य ही है। जो लक्ष्मी अत्यंत भक्ति करनेवाले - मित्र पुत्र कलत्र भ्राता आदि में से भी यथासन्न जो जो निकटवर्ती हैं उन सब में से भी नित्य ही विश्वास को नष्ट कर देती है - जिस लक्ष्मी के प्रसाद से अत्यंत भक्त पुत्रादिक

में भी धनापहार की शंका होने लगती है। जो लक्ष्मी दोषों में भी गुण की कल्पना कराती हुई मनुष्यों को अनुरक्त बना लेती है - यदि कोई ब्रह्महत्या जैसा दोष करनेवाला भी धनी है तो धन के लोभ से बडे बडे वृद्ध ज्ञानी तपस्वी उसकी प्रशंसा करते और आश्रय लेते हैं। कहा भी है -

वयोवृद्धास्तपोवृद्धा ये च वृद्धा बहुश्रुताः।
सर्वे ते धनवृद्धस्य द्वारि तिष्ठन्ति किङ्कराः।।

जो वयोवृद्ध और अनेक शास्त्रों के ज्ञान से वृद्ध हैं वे सब धन वृद्ध पुरुष के दरवाजे पर किङ्कर बनकर खडे रहते हैं।

हे भाई ! इस तरह की अनेक विशेषणों से विशिष्ट लक्ष्मी के द्वारा - लक्ष्मी को पाकर तू अच्छी तरह अपने को उत्कृष्ट समझ, जबतक कि क्षणिक स्वभाव के कारण शीघ्र ही यह तुझको अन्ध - युक्तायुक्त के विवेक से विकल न बना दे। क्योंकि यदि न इनसे अंध - विवेकहीन तुझे कर दिया तो 'मेरी यह लक्ष्मी दूसरे के पास जा रही है' यह देखकर तुझको अवश्य ही दुःसह दुःख प्राप्त होगा। अतएव वह तुझको पहले से ही विवेकशून्य - अंधा बना देती है।

देखा गया है कि प्रायः सभी मनुष्य लक्ष्मी का समागम होते ही देखते हुए भी अंधे हो जाते हैं और उसके जाते ही अच्छी तरह आँखे खुल जाती हैं। जैसा कि कहा भी है :-

संपयपडलहिं लोयणइं बंभजेच्छायंज्जंति।
ते दालिद्दसलाइयइं अंजिय णिम्मलं हुंति।।

मनुष्यों के नेत्र संपत्तिपटल से आच्छन्न हो जाया करते हैं - उनकी दर्शनशक्ति नष्ट हो जाती है। किंतु दारिद्र्य की सलाई आँजते ही वे निर्मल हो जाते हैं। उन्हें सब कुछ सूझने लगता है।

शिल्प आदि कलाओं के ज्ञानियों के मदावेश पर दु:ख प्रकट करते हैं - विद्यामद की हेयता बताते हैं :-

शिल्पं वै मदुपक्रमं जडधियोप्याशु प्रसादेन मे
विश्वं शासति लोकवेदसमयाचारेष्वहं दृङ् नृणाम्।
राज्ञां कोहमिवावधानकुतुकामोदैः सदस्यां मनः
कर्षत्येवमहो महोषि भवति प्रायोद्य पुंसां तमः।।९१।।

यद्यपि कुछ लोग ऐसे हैं जो कि ज्ञानविशिष्ट होनेपर भी उसका गर्व - मद नहीं करते। किंतु आह ! बडे कष्ट के साथ कहना पडता है कि प्राय: करके आज कलिकाल में मनुष्यों का ज्ञान - शिल्पप्रभृति कलाओं का ज्ञानाख्य तेज भी अंधकार बन रहा है। क्योंकि मत्त होने के कारण वह स्वपरिणाम और परपरिणाम के विषय में अविवेक का कारण हो गया है। यही बात दिखाते हैं :-

यह शिल्प - अमुक प्रकार का पत्रच्छेदादि करकौशल या नक्कासी वगैरह का काम जो देखने में आता है वह निश्चय से मेरा ही तो उपक्रम है - इसका आविष्कर्ता मैं ही हूँ। मेरे ही इस आविष्कार को देखकर दूसरे लोग भी वैसा बनाने लगे हैं। मेरे प्रसाद से शीघ्र ही - मेरा अनुग्रह होते ही बडे बडे जडबुद्धि भी इस चराचर जगत् के स्वरूप का दूसरों को उपदेश देने लगते हैं - लोकस्थिति की व्युत्पत्ति - भौगोलिक ज्ञान करने में मैं ही गुरु हूँ। लोक वेद और समय इन नाना लिंगियों के मतों के आचार भी विभिन्न हैं। इनमें से जिन जिन के अनुसार जो जो आचरण विहित हैं उन सबके बताने में मैं ही लोगों की दृष्टि हूँ - मेरे ही द्वारा वे उन आचरणों को देख व सुन सकते हैं - लोकादिके आचारों को स्पष्टरूप से दिखाने में भी मैं प्रवीण हूँ। एवं मेरे समान और ऐसा कौन है जो कि सभा में [१] अवधानों के कौतुकरूप आमोद से राजाओं के मन इस तरह से अपनी तरफ खींच ले - अपने अधीन बना ले।

---

१ - पाठ गीत नृत्य हिसाब घंटा की आवाज प्रश्न आदि अनेक बातों को युगपत् धारणकर सकने को अवधान कहते हैं। यथा :-

कुलीन पुरुष बल का मद नहीं करता - वह उसकी तरफ दुर्लक्ष्य रखता है, इसी बात को बताते हैं :-

शाकिन्या हरिमाययाभिचरितान् पार्थः किलास्थद्द्विषो
वीरोदाहरणं वरं स न पुनः रामः स्वयं कूटकृत्।
इत्यास्थानकथाप्रसंगलहरीहेलाभिरुत्प्लावितो
हृत्क्रोडाल्लयमेति दोःपरिमलः कस्यापि जिह्वांचले।।९२।।

शास्त्रों में इतिवृत्त के देखने में यह बात अच्छी तरह मालूम हो जाती है कि वीर पुरुषों का उत्तम उदाहरण अर्जुन ही है, न कि रामचंद्र; क्योंकि रामचंद्र ने वालिवध के प्रसंग में स्वयं कूट कपट किया था। किंतु अर्जुन ने ऐसा नहीं किया। उसने अपने शत्रुओं का तिरस्कार या पराजय करने में स्वयं छल कपट कभी नहीं किया। उसने अपने जिन शत्रुओं का - कौरवों का पराभव किया था उनकी शक्ति को शाकिनी - चुडेल के समान कृष्ण की माया ने नष्ट किया था। अतएव जगत् के इन वीरों को अर्जुन के समान ही होना चाहिये। इस तरह से सभाओं में वीररस की बातें कथाओं के प्रसङ्गरूपी महान् ऊर्मियों - लहरों की अनियत प्रवृत्ति के द्वारा जो अपने हृदय के भीतर उत्प्लावित किया गया है। आत्मबल की प्रशंसा करने के लिये ऊपर को उकसाया गया है, ऐसा भी कुलीन - उत्तमकुल में उत्पन्न होनेवाला, अपने बाहुपरिमल - प्रशस्त शरीरसामर्थ्य को जिव्हाञ्चल का लक्ष्य नहीं बनाता। निमित्त मिलने पर भी वह अपने मुख से अपने बल की कभी प्रशंसा नहीं करता। वह उधर लक्ष्य भी नहीं देता।

तप का मद दुर्जय है, इस बात को स्पष्ट करते हैं :-

कर्मारिक्षयकारणं तप इति ज्ञात्वा तपस्तप्यते
कोप्येतर्हि यदीह तर्हि विषयाकांक्षा पुरो धावति।
अप्येकं दिनमीदृशस्य तपसो जानीत यस्तत्पद -
द्वंद्वं मूर्ध्नि वहेयमित्यपि दृशं मथ्नाति मोहासुरः।।९३।।

जैसा निरीहतया तप मैं करता हूँ वैसे तप के एक दिन को भी जाननेवाला - एक दिन भी उस तरह का तपश्चरण करनेवाला यदि कोई हो तो मैं उसके चरणयुगल को अपने शिरपर रख लूँ। तप करना सहज नहीं है। यह मोह-प्रभृति कर्मशत्रुओं के क्षय का कारण है। ऐसा समझकर यदि कोई आजकल तप का संचय भी करता है - मोक्ष के लक्ष्य से - आत्मकल्याण के लिये यदि कोई तप करे भी तो विषयों की आकांक्षा उसके आगे आगे दौड़ती है। उनका वह तप ऋद्धि समृद्धि के लाभ इच्छा, स्वर्गीय सुख के भोग की लिप्सा और सांसारिक अभ्युदयों की आकाङ्क्षाओं से शीघ्र ही दूषित हो जाता है। इस प्रकार मोह - तपोमदरूपी असुर केवल उनके तप या चारित्र को ही भ्रष्ट - नष्ट - दूषित नहीं करता किंतु सम्यक्त्व को भी कदर्थित कर देता है।

भावार्थ :- तपोमद से चारित्र और सम्यक्त्व दोनों ही दूषित होते हैं।

पूजामद करनेवाले के दोष दिखाते हैं :-

स्वे वर्गे सकले प्रमाणमहमित्येतत्क्रियद्यावता
पौरा जानपदाश्च संत्यपि मम श्वासेन सर्वे सदा।
यत्र क्वाप्युत यामि तत्र सपुरस्कारां लभे सत्क्रिया -
मित्यर्चामदमूर्णनाभवदधस्तंतुं वितन्वन् पतेत्।।९४।।

जब कि सभी नगरनिवासी और देशवासी लोग सदा मेरे श्वास के साथ ही श्वास लेते हैं, सबका मैं ही प्राण हूँ। और एक मेरे ही आधीन सब ठहरे हुए हैं। एवं मेरे ही नेतृत्व में सब चल रहे हैं। अथवा जहाँ कहीं भी मैं जाता हूँ वहीं मेरा सपुरस्कार सत्कार होता है - सभी जगह उत्तम कर्मों में मुझको अगुआ बनाकर मेरी पूजा की जाती है। तब अपने ही इस समस्त वर्ग में - सजातीय समूह में सदा और सर्वत्र मैं ही प्रमाण माना जाऊँ - मैं ही अविसंवादी माने जाने की प्रतिष्ठा प्राप्त करू तो यह कोई बडी बात नहीं है। इस प्रकार अपने पूजामद - पूज्यता के अहंकार को बढानेवाला मनुष्य इस तरह से भ्रष्ट होकर हीनपद में जाकर पड़ जाता है। जिस तरह से तंतुओं को विस्तृत करता हुआ ऊर्णनाभ - मकडा।

भावार्थ :- जिस प्रकार अपनी लार को तंतु बनानेवाला मकडा नीचे की तरफ गिर जाता है उसी प्रकार अपने ही अहंकार - पूजामद के कारण मनुष्य भ्रष्ट होकर पूज्यता से गिर जाता है।

इस प्रकार प्रसंगोपात्त जाति आदि आठ मदों के साथ साथ मिथ्यात्व नामक अनायतन की त्याज्यता साधर्मियों को बताकर सात प्रकार के तद्वान् - मिथ्यादृष्टियों की त्याज्यता बताते हैं :

सम्यक्त्वादिषु सिद्धिसाधनतया त्रिष्वेव सिद्धिषु ये
रोचन्ते न तथैकशस्त्रय इमे ये च द्विशस्ते त्रयः।
यश्च त्रीण्यपि सोप्यमी शुभदृशा सप्तापि मिथ्यादृश -
स्त्याज्या खण्डयितुं प्रचण्डमतयः सद्दृष्टिसम्राट्पदम्।।९५।।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ये तीन ही सिद्धि - मुक्ति के साधन - कारणत्वेन सिद्ध हैं। यह बात ग्रंथातरों में अच्छीतरह सिद्ध करके बताई गई है कि मोक्ष का साक्षात् कारण इस रत्नत्रय की पूर्णता ही है। किंतु फिर भी कितने ही जीवों को इसका श्रद्धान नहीं होता। ऐसे ही जीवों को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। इनके सात भेद हैं। जो कि इस प्रकार हैं :- तीन तो वे जो कि इन तीनोंमें से एक एक को ही केवल सम्यग्दर्शन या केवल सम्यग्ज्ञान अथवा केवल सम्यक्चारित्र को ही मोक्ष का कारण मानते हैं। इसी प्रकार तीन वे जो कि इनमें से दो दो को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को अथवा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को यद्वा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष का कारण मानते हैं। इसीप्रकार सातवाँ वह जो कि सम्यग्दर्शनादिक तीनों ही को मोक्ष का कारण नहीं मानता। इन सातों ही प्रकार के मिथ्यादृष्टियों की बुद्धि सम्यक्त्वरूपी साम्राज्य को स्वरूप से तथा प्रभाव से विकल बनाने में अच्छी दक्षता रखती है। इनका विपरीतज्ञान सहज ही में सम्यक्त्व को नष्ट कर देता है। अतएव सम्यग्दृष्टि भव्यों को इन सातों का दूर ही से परित्याग कर देना चाहिये।

भावार्थ :- रत्नत्रयमें से एक तो तीनों को न माननेवाला, तीन एक एकको न माननेवाले,

और तीन दो दो के न माननेवाले; इसतरह से मिथ्यादृष्टियों के सात[१] भेद हैं, जिनके कि ज्ञान व उपदेश से सम्यक्त्वका घात होता है। अतएव सम्यग्दृष्टि को उनका त्याग करना ही उचित है।

दूसरे और भी जो अनेक प्रकार के मिथ्यादृष्टि हैं उनके साथ भी संसर्ग न करनेका उपदेश देते हैं। -

मुद्रां सांव्यवहारिकीं त्रिजगतिवन्द्यामपोह्यार्हतीं
वामां केचिदहंयवो व्यवहारन्त्यन्ये बहिस्तां श्रिताः।
लोकं भूतवदाविशन्त्यवशिनस्तच्छायया चापरे
म्लेंच्छन्तीह तकैस्त्रिधा परिचयं पुंदेहमोहैस्त्यज।।९६।।

आर्हती - जैनी आचेलक्यादि चिन्हों के द्वारा व्यक्त होनेवाली वीतरागमुद्रा ही सांव्यवहारिकी - समीचीन हैं; क्योंकि उसीसे वृत्ति - निवृत्तिरूप व्यवहार भले प्रकार सिद्ध हो सकता है। अतएव वही तीनो लोकों के लिये वन्द्य - नमस्कार के योग्य है। किंतु ऐसा होते हुए भी - निर्ग्रंथलिङ्ग के ही समस्त इष्ट प्रयोजनों के साधन रहते हुए भी कोई - कोई अहंयु - मैं भी कोई चीज हूँ ऐसा अहंकार - गर्व रखनेवाले तापसलोक प्रभृति उसका अपवाद निषेध करके जटा रखना भस्म लगाना दण्ड त्रिदण्ड आदि का धारण करना इत्यादि नाना प्रकार की विपरीत मुद्राओं - व्रतचिन्हों को धारण किया करते हैं। जिस तरह से कि लोक में कोई पुरुष सच्चे सिक्के को छोडकर नकली सिक्का धारण करे। इनके सिवाय कितने ही ऐसे भी हैं जो कि द्रव्य से जिनलिङ्ग के ही धारण करनेवाले हैं जो कि अपने को मुनि ही मानते हैं। किंतु वास्तव में वे वशी-जितेन्द्रिय नहीं हैं। यही कारण है कि उन्होंने युक्त आर्हतीमुद्रा को बाहर से - शरीर से ही धारण कर रक्खा है; न कि मन-भाव से। ये लोक धर्म की कामना रखनेवाले जीवों में भूत या ग्रह की तरह से प्रवेश कर जाया करते हैं और उनसे ऐसी ऐसी चेष्टायें कराते हैं जैसे कि कोई भूताविष्ट पुरुष किया करता है। इनके सिवाय तीसरी तरह के

---

[१] - प्रकारांतरसे भी मिथ्यात्वके सात भेद होते हैं जैसा कि पहले बता चुके हैं।

ऐसे लोग हैं जो कि द्रव्य जिनलिंग के धारक होकर भी मठों के स्वामी हैं। ये जिनलिंग की नकल बनाकर म्लेंच्छ के समान आचरण - करते हैं - लोक और शास्त्र दोनों ही से विरुद्ध क्रिया करते हैं। जैसा कि कहा भी है :-

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्।।

चारित्र से भ्रष्ट हुए पंडित और मठपति तपोधन इन्होंने जिनचंद्र के निर्मल शासन को मलिन कर दिया।

अतएव हे सम्यक्त्व के आराधना करनेवाले भव्य ! तू इन तीनों या इनके समान और भी अनेक कुत्सित व्यक्तियों से जो कि मनुष्यशरीर के आकार में साक्षात् मोह हैं; संसर्ग बिलकुल - तीनों ही प्रकार से - मन वचन और काय से [१] छोड दे। मन से इनका अनुमोदन वचन से स्तुति और काय से संगति करना छोड दे।

क्रमप्राप्त मिथ्याज्ञान नाम के अनायतन का त्याग कराते हैं -

विद्वानविद्याशाकिन्याः क्रूरं रोद्धुमुपप्लवम्।
निरुन्ध्यादपराध्यन्तीं प्रज्ञां सर्वज्ञ सर्वदा।।९७।।

प्रज्ञा - भूत भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालवर्ती विषयों के अर्थ का परिच्छेदन करनेवाली बुद्धि का काम है कि वह अविद्यारूपी शाकिनी - चुडेल के कर्कश - अत्यंत

---

१ - जैसा कि कहा भी है -

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसंमतिः।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते।।

दुःखों के कारणभूत खोटे मार्ग के प्रति या उस मार्गपर चलनेवालों के प्रति अपनी संमति प्रकट न करना, उनसे संबंध न रखना और उनका प्रशंसादि भी न करना इसको सम्यग्दर्शन का अमूढदृष्टि अंग कहते हैं।

क्रूर उपसर्ग को सदा और सर्वज्ञ रोके; किंतु यदि वह वैसा करने में अपराध करे - विभ्रम को प्राप्त हो जाय तो विद्वान् - विचारशील व्यक्ति को चाहिये कि वह उसको वैसा अपराध करने से रोके।

मिथ्याज्ञानियों से संपर्क करने का निषेध करते हैं :-

कुहेतुनयदृष्टान्तगरलोद्गारदारुणैः।
आचार्यव्यञ्चनैः सङ्गं भुजङ्गैर्जातु न व्रजेत्।।९८।।

मोह मूर्च्छादिक कारण होनेसे गरल-तीव्रविष के समान विपरीत उदाहरणों खोटे पक्षों और कुत्सित हेतुओं - प्रमाणबाधित युक्तियों के उद्गार - उत्सर्ग से दारुण - अत्यंत भयंकर इन आचार्यों को भुजङ्ग-विट-धूर्त या कालानाग समझना चाहिये; क्योंकि सच्चारित्र का आचरण करनेवाले आचार्यों के वेष में ये अपने असली स्वरूप को छिपानेवाले हैं। अतएव सम्यग्दृष्टि को चाहिये कि वह इन भुजङ्गों की संगति कदाचित् भी न करे।

इसी बात को फिर भी प्रकारान्तर से कहते हैं :-

भारयित्वा पटीयांसमप्यज्ञानविषेण ये।
विचेष्टयन्ति संचक्ष्यास्ते क्षुद्राः क्षुद्रमंत्रिवत्।।९९।।

सर्पविष आदिक के झाडनेवालों में से जिस प्रकार क्षुद्रपुरुष जिनको कि उस विषय का सच्चा ज्ञान नहीं है और जो दुष्ट हैं वे कोई दृष्टपूर्व हो या अदृष्टपूर्व, विद्वान् हो या मूर्ख; कैसा भी कोई क्यों न हो, चाहे स्वयं को भी इस बात का संदेह ही क्यों न हो कि इसको सर्प ने काटा है; तो भी किसी जहरीले पदार्थ से उसको विह्वल करके अनेक प्रकार उससे विपरीत प्रवृत्ति कराते हैं। उसी प्रकार ये क्षुद्रमिथ्यादृष्टि मिथ्योपदेष्टा सभी लोगों को - मूर्खों की तो बात ही क्या, बड़े - बड़े चतुर विद्वानों को भी अपने मिथ्याज्ञानरूपी जहरीले पदार्थ से मोहित कर उनसे विपरीत वर्तन कराते हैं। अतएव सम्यक्त्व

का आराधन करनेवालों को इनका त्याग ही करना चाहिये।

मिथ्याचारित्र नामक अनायतन का निषेध करते हैं :-

रागाद्यैर्वा विषाद्यैर्वा न हन्यादात्मवत्परम्।
ध्रुवं हि प्राग्वधेऽनन्तं दुःखं भाज्यमुदग्वधे।।१००।।

जो मिथ्याचारित्र नामक अनायतन का त्याग करना चाहता है ऐसे सम्यग्दृष्टि को चाहिये कि वह अपनी तरह दूसरे का भी - अपना और पराया किसीका भी रागद्वेषादिक के द्वारा - दृष्ट श्रुत अथवा अनुभूत भोगों की आकाङ्क्षारूप निदानबंधप्रभृति समस्त दोषों से, जो कि मोहनीयकर्म के उदयजनित विकार है अथवा इन भावों से ही नहीं किन्तु विष शस्त्र जल अग्नि आदि द्रव्यों से भी वध न करे। क्योंकि इन दोनों ही का फल अनंतदुःख अवश्यम्भावी है। हां, एक बात अवश्य है, वह यह कि दूसरे पक्ष में कदाचित् वह दुःखरूप फल प्राप्त न भी हो; क्योंकि यदि कोई विष शस्त्रादि के द्वारा मारा गया जीव पञ्चनमस्कारमंत्र के स्मरण आदि में दत्तचित्त रहा तो उसे वह अनंतदुःख नहीं भोगाना पडेगा; अन्यथा वह भोगेगा ही। अतएव स्वपर के द्रव्यवध में कदाचित् विकल्प भी हो सकता है। किंतु स्व और पर के भाववध का फल अनंतदुःख तो भोगना ही होगा।

भावार्थ - स्व और पर का वधरूप मिथ्याचारित्र नामका अनायतन दो प्रकार का है; भाव और दूसरा द्रव्य। रागद्वेषादि के द्वारा होनेवाले स्वपरघात को भाव और विष शस्त्र आदि के द्वारा होनेवाले स्वपरघात को द्रव्य कहते हैं। रागादिपरिणामों से अपने और पराये विशुद्ध परिणामरूप समताभावों का घात होता है अतएव इस मिथ्याचारित्ररूप अनायतनसेवा से सम्यक्त्व मलिन हो जाता है। यही बात द्रव्यमिथ्याचारित्रसेवा के विषय में भी समझनी चाहिये। क्योंकि द्रव्य और भाव दोनों ही परस्पर में सम्बद्ध हैं। जैसा कि परस्पर के समुच्चय अर्थ में आये हुए दोनों वा शब्दों से प्रकट किया गया है।

हिंसा और अहिंसा दोनों का माहात्म्य बताते हैं :-

हीनोपि निष्ठया निष्ठागरिष्ठः स्यादहिंसया।
हिंसया श्रेष्ठनिष्ठोपि श्वपचादपि हीयते।।१०१।।

धनबल शरीरबल अथवा अन्य किसी शक्ति से हीन - रिक्त भी पुरुष इस अहिंसा के कारण द्रव्यहिंसा और भावहिंसा की निवृत्ति के द्वारा व्रतादिक का अनुष्ठान कर अपने विषय में - व्रतानुष्ठानादिक में अत्यंत महान् - उत्कृष्ट या पूज्य हो जाता है। किन्तु इसके विरुद्ध हिंसाप्रवृत्ति से श्रेष्ठ आचरण - व्रतानुष्ठानादि करनेवाला भी पुरुष अत्यंत हीन-चाण्डाल से भी निकृष्ट हो जाता है।

मिथ्याचारित्र का आचरण करनेवालों के साथ संगति करने का निषेध करते हैं -

केचित्सुखं दुःखनिवृत्तिमन्ये प्रकर्तुकामाः करणीगुरूणाम्।
कृत्वा प्रमाणं गिरमाचरन्तो हिंसामहिंसारसिकैरपास्याः।।१०२।।

कोई तो इसलिये कि हमको और हमारे इष्ट मित्र बंधुओं को सुख प्राप्त हो - हमारे और उनके यहाँ खूब आनंद रहे; और कोई इसलिये कि हमारे तथा हमारे मित्रों के ऊपर जो दुःख क्लेश या विपत्ति आई हुई हैं वे सब दूर हो जाय। मतलब यह कि सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति करने की इच्छा से बहुत से लोग करणी-उपाधि-परिग्रह से युक्त गुरुओं - मिथ्याआचार्यों के वचनों को प्रमाण मानकर - यह विश्वास करके कि इनके उपदेशानुसार आचरण करने से हमें अवश्य ही सुख की प्राप्ति होगी या हमारे दुःख दूर हो जायेंगे; हिंसामय आचरण करते हैं। ऐसे लोगों की संगति, जो अहिंसामय आचरण के रस में आसक्ति रखनेवाले हैं, उन्हें छोड़ देना ही चाहिये।

भावार्थ - हिंसामय आचरण के उपदेष्टा और कर्ता दोनों की संगति से सम्यग्दर्शन मलिन होता है।

तीन मूढताओं का परित्याग होना सम्यग्दृष्टि का भूषण है, ऐसा उपदेश देते हैं :-

यो देवलिङ्गसमयेषु तमोमयेषु
लोके गतानुगतिकेष्यपथैकपान्थे।

न द्वेष्टि रज्यति न च प्रचरद्विचारः
सोऽमूढदृष्टिरिह राजति रेवतीवत्।।१०३।।

जिनमें बहुलतया अज्ञान पाया जाता है अथवा जो निबिडअंधकार के समान साक्षात् अज्ञानरूप हैं ऐसे देवों लिङ्गियों और समयों में - कुदेव कुगुरु और कुशास्त्रों में तथा न केवल इन्ही में किन्तु जगत् के उन सर्व साधारण व्यवहर्ता पुरुषों में भी जो कि गतानुगतिक - बिना किसी प्रकार का विचार किये ही किसीके भी उपदेश को सुनकर अथवा आचरण को देखकर उसीका अनुगमन या अनुवर्तन करने लगते हैं, तथा जो प्रायः करके नित्य उन्मार्ग में ही गमन करते हैं; विचारशील व्यक्तियों को राग तथा द्वेष न करना चाहिये। ऐसा करने से ही वे रेवतीरानी की तरह से अमूढदृष्टि अंग को धारण कर इसलोक में उद्दीप्त हो सकते हैं - सम्यक्त्व के आराधन करनेवालों में प्रकाशमान हो सकते हैं।

भावार्थ - प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इनके द्वारा यथावस्थित वस्तु को व्यवस्थित करने के कारणभूत क्षोद को विचार कहते हैं। प्रकर्षतया देश काल और समस्त पुरुषों की अपेक्षा से जिसमें किसी भी प्रकार से बाधा न आवे इस तरह से विचार की प्रवृत्ति करनेवालों को उचित है कि वे कुदेव कुगुरु और कुशास्त्र तथा गतानुगतिक और सदा उन्मार्गगामी सर्वसाधारण लोगों में रागद्वेष को छोड-उपेक्षाभाव धारण करें तथा अमूढदृष्टि का पालन कर सम्यक्त्व का आराधन करें।

प्रश्न -: यहां पर मूढदृष्टि के विषय चार बताये गये - कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और लोक। सो यह किस तरह से ? क्योंकि आगम में मूढता के भेद तीन ही सुनने में आते हैं, जैसा कि स्वामी समंतभद्र आचार्य ने भी कहा है :-

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते।।
वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते।।
सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम्।।

नदी और समुद्र में स्नान करना, बालु या पत्थरों का ढेर लगाना, पर्वत से गिरना या अग्नि में जलना इत्यादि सब लोकमूढता हैं।

आशा रखकर वर को प्राप्त करने की इच्छा से जो रागद्वेष से मलिन देवताओं की उपासना करना इसको देवमूढता कहते हैं।

परिग्रह आरंभ और हिंसा में प्रवृत्त तथा संसारसमुद्र के भंवर में पडे हुए पाखण्डियों की उपासना को पाखण्डिमूढता कहते हैं।

उत्तर - यह प्रश्न ठीक नहीं है; क्योंकि कुदेव या कुगुरु में कदागम का अंतर्भाव हो जाता है। अन्यथा स्वयं समंतभद्रस्वामी ही ऐसा क्यों कहते कि,

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः।।

शुद्धसम्यग्दर्शन के धारण करनेवालों को भय आशा स्नेह लोभ किसी भी तरह से कुदेव कदागम और कुलिङ्गियों को प्रणाम और उनका विनय न करना चाहिये। इसी बात को लेकर [१] ठाकुर ने भी कहा है कि :-

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यमूढदृष्टित्वम्।।

सम्यग्दृष्टियों को लोक कुशास्त्र कदागम और कुदेव में नित्य ही अमूढदृष्टि रखनी चाहिये।

छह अनायतनों के त्याग कर देने से जिनकी दृष्टि-श्रद्धा अभिभूत नहीं होती उनको और उस श्रद्धा को भी अमूढदृष्टि कहते हैं। इससे दृष्टि की अमूढता का संबंध अनायतनत्याग से है। अतएव इस प्रकरण में जो छह अनायतनों के त्याग का उपदेश दिया गया है

---

१ - श्री अमृतचंद्रसूरि के ग्रंथ का उल्लेख करते हुए उन्हें ग्रंथकर्ता ने कई जगह ठकुर या ठाकुर लिखा है, हिन्दी भाषा में ऊँचे अधिकारवाले और उत्तमवंशों के या राजघरानों के क्षत्रियों को अब भी ठाकुर कहते हैं।

उससे स्मृतियों में प्रसिद्ध सम्यक्त्व के पाँचवें अमूढदृष्टित्व गुण का भी यहाँ पर संग्रह कर लेना चाहिये। क्योंकि वैसे उसकी विशुद्धिवृद्धि के लिये सिद्धांत में चार ही गुण बताये हैं, जैसा कि आराधनाशास्त्र में कहा है :-

उवगूहणठिदिकरणं वच्छल्लपहावणा गुणा भणिया।
सम्मत्तविसुद्धीए उवगूहणगारया चउरो।।

सम्यक्त्वकी विशुद्धि के लिये चार गुण बताये हैं - उपगूहन स्थितीकरण वात्सल्य और प्रभावना। इन उपगूहनादिक से जो विपरीत भाव हैं वे ही चार सम्यग्दर्शन के दोष हो जाते हैं। अतएव सम्यक्त्व के जो पच्चीस दोष दिखाये हैं वे विस्ताररुचि रखनेवाले शिष्यों की अपेक्षा से हैं। यथा :-

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्ठौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः।।

३ मूढता, ८ मद, ६ अनायतन, ८ शङ्कादिक ये सम्यग्दर्शन के २५ दोष हैं।

जो इन उपगूहन आदि गुणों के धारण करनेवाले नहीं हैं वे सम्यक्त्व के वैरी हैं ऐसा बताते हैं :-

यो दोषमुद्भावयति स्वयूथ्ये यः प्रत्यवस्थापयतीममित्ये।
न योनुगृह्णाति न दीनमेनं मार्गं च यः प्लोषति दृग्द्विषस्ते।।१०४।।

चार प्रकार के मनुष्य सम्यग्दर्शन के वैरी हैं - विराधक हैं। वे कौन कौन से हैं सो बताते हैं। एक तो वे जो कि साधर्मियों में सत् या असत्-मौजूद या गैरमौजूद दोष को - सम्यक्त्वप्रभृति के अतीचार को प्रकाशित करते हैं - जो उपगूहनगुण को धारण नहीं करते। दूसरे वे जो कि सम्यग्दर्शनादिक से च्युत होते हुए साधर्मी को पुनः पूर्ववत् उसी मोक्षमार्ग में स्थापित नहीं करते - जो स्थितीकरण को नहीं पालते। तीसरे वे जो कि धर्मादि पुरुषार्थों के साधन की सामर्थ्य जिनकी नष्ट हो गई है ऐसे दीन साधर्मी

को अनुग्रह कर उसके योग्य - समर्थ नहीं बना देते। चौथे वे जो कि सांसारिक अभ्युदयों तथा परमनि:श्रेयस-मोक्ष की प्राप्ति के उपायभूत रत्नत्रय को दग्ध करते हैं - माहात्म्य से भ्रष्ट कर लोक में निष्प्रभावतया प्रकाशित करते हैं।

इस प्रकार सम्यक्त्व के दोषों का वर्णन कर उनके त्याग का उपदेश दिया। अब यहाँ से उसके गुणों का वर्णन करते हैं। जिनमें से सबसे पहले उपगूहनगुण की अवश्य-कर्तव्यता का उपदेश देते हैं, जो कि अंतर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति की अपेक्षा से दो प्रकार का है :-

धर्मं स्वबन्धुमभिभूष्णुकषायरक्षः
क्षेप्तुं क्षमादिपरमास्त्रपरः सदा स्यात्।
धर्मोपबृंहणधियाऽबलबालिशात्म -
यूथ्यात्ययं स्थगयितुं च जिनेंद्रभक्तः।।१०५।।

जो मोक्ष की इच्छा रखनेवाले भव्य हैं उनको चाहिये कि वे अपने साधर्मी भाइयों में जो अशक्त या अज्ञानी हैं उनके उस अशक्ति अथवा अज्ञान के कारण उत्पन्न हुए अत्ययों - दोषों को धर्मोपबृंहण की बुद्धि से - मैं इनके इन अज्ञानजनित या अशक्तिजनित दोषों को दूर कर उनकी जगह धर्म की वृद्धि कर दूँ - इस धर्मवृद्धि की बुद्धि से आच्छादित करने के लिये जिनेन्द्रभक्त बने। जिनेन्द्रभक्त सेठ के समान आचरण करें अथवा जिनेन्द्रदेव की भक्ति करें। तथा अपने बन्धु की तरह से उपकार करनेवाले सम्यक्त्व या रत्नत्रय को अभिभूत - व्याहतशक्ति कर देनेवाले कषाय का, जो कि अत्यंत दुर्निवार होनेके कारण बिलकुल राक्षस के समान हैं, निग्रह करने के लिये उत्तमक्षमा उत्तमामार्दव उत्तमआर्जव प्रभृति दिव्य और प्रधान अस्त्रों को सदा धारण करें।

भावार्थ - मुमुक्षुओं को उपगूहन के पालन करने में दो काम करने चाहिये। एक तो सम्यक्त्व या रत्नत्रय के विरोधी कषाय का दलन, दूसरा साधर्मियों के दोषों का धर्मबुद्धि से आच्छादन।

स्व और पर के स्थितिकरण का आचरण करने का उपदेश देते हैं :-

दैवप्रमादवशतः सुपथश्चलन्तं
स्वं धारयेल्लघु विवेकसुहृद्बलेन।
तत्प्रच्युतं परमपि द्रढयन् बहुस्वं
स्याद्वारिषेणवदलं महतां महार्हः।।१०६।।

दैव और प्रमाद - पूर्वजन्म का संचित ऐसा कोई कर्म कि जिसके उदय से समीचीनमार्ग में प्रतिबंध आ जाय तथा असावधानता इन दोनों ही के वश से समीचीन मार्ग - मोक्षमार्ग - सम्यग्दर्शनादिक तीनों ही अथवा इनमें से एक दो से भी चलायमान होनेपर - च्युत होने के लिये उन्मुख होते ही विवेकरूपी सुहृद् के बल से - युक्तायुक्त के विचाररूपी मित्र की सहायता से शीघ्र ही मुमुक्षुओं को अपने को फिर उसी सन्मार्ग में स्थिर कर देना चाहिये। इसी प्रकार सन्मार्ग से च्युत होने के लिये उन्मुख हुए दूसरे भी साधर्मियों का जो वारिषेण की तरह पुनः मोक्षमार्ग में दृढ़ करता हैं वह इन्द्रादि के द्वारा अच्छी तरह पूज्य हो जाता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार श्रेणिक महाराज के पुत्र वारिषेण ने पुष्पढाल को धर्म में स्थिर करके पूज्यता और प्रसिद्धि प्राप्त की उसी प्रकार जो कोई भी स्थितिकरण अंग का पालन करेगा वह भी सिद्धि और प्रसिद्धि को तथा पूज्यता को पर्याप्तरूप में प्राप्त करेगा। धर्म से च्युत होते हुए स्व या पर को सन्मार्ग में ही स्थिर करने का नाम स्थितिकरण है।

अंतरङ्ग और बाह्य दोनों ही प्रकार के वात्सल्य अंग का पालन करने के लिये प्रेरणा करते हैं :-

धेनुः स्ववत्स इव रागरसादभीक्ष्णं
दृष्टिं क्षिपेन्न मनसापि सहेत्क्षतिं च।
धर्मे सधर्मसु सुधीः कुशलायः बद्ध -
प्रेमानुबन्धमथ विष्णुवदुत्सहेत।।१०७।।

जिस प्रकार धेनु - तत्काल व्याही हुई गौ अपने बच्चे पर निरंतर रागपूर्व दृष्टि रखती है - उसको हमेशा स्नेहभरी दृष्टि से देखा करती है - और उसकी क्षति - हानि को मन से भी नहीं सह सकती, वचन और काय की तो बात ही क्या। अथ च, प्रेम के साथ उसके कल्याण के लिये ही प्रयत्न किया करती है। उसी प्रकार विवेकी मुमुक्षु को भी अपने धर्म-रत्नत्रय और साधर्मि भाइयों पर निरंतर राग - रस प्रीति के अतिरेक से पूर्ण दृष्टि - अंतर्वृत्ति रखनी चाहिये - उनसे मनसा प्रेम करना चाहिये, और वचन तथा कृति की तो बात ही क्या, मन से भी उनपर आये हुए उपद्रवों को न सहना चाहिये - उनकी क्षतिपर क्षमा न करनी चाहिये। अथच, विष्णुकुमार मुनि की तरह प्रेमबंध का अनुवर्तन करते हुए उनकी कुशलता - कल्याण - रक्षा के लिये ही सदा उत्साह - उद्योग करना चाहिये।

भावार्थ - वात्सल्य दो प्रकार का है - अंतरंग और बाह्य। धर्म और धर्मात्माओं पर हृदय से स्नेह करना अंतरंग वात्सल्य और तदनुसार उनकी रक्षादि के लिये प्रयत्न करना बहिरंग वात्सल्य है। मुमुक्षुओं को इन दोनो ही वात्सल्यों का पालन करना चाहिये।

अंतरंग और बाह्य दोनो प्रकार की प्रभावनाओं का स्वरूप बताते हैं :-

रत्नत्रयं परमधाम सदानुबध्नन्
स्वस्य प्रभावमभितोद्भुतमारभेत।
विद्यातपोयजनदानमुखावदानै -
र्वज्रादिवज्जिनमतश्रियमुद्धरेच्च।।१०८।।

मुमुक्षु को उचित है कि वह सर्वत्र और सर्वदा प्रकृष्ट तेजोरूप अथवा उसके कारण रत्नत्रय का अनुवर्तन करता हुआ हर तरह से अपने-अपनी आत्मा के अद्भुत - आश्चर्यकारी प्रभाव - अचिंत्य शक्तिविशेष को बढाने का प्रयत्न करे। तथा वज्रकुमार प्रभृति जो जो प्रसिद्ध पुरुष हुए हैं उनके समान विद्या तप यजन दान इत्यादि अनेक अवदान - अद्भुत कर्म करके जिनमत की श्रीका उद्धार करे, जिनशासन के माहात्म्य को जगत् में प्रकाशित करे।

स्याद्वाद का ज्ञान, पठितसिद्धमंत्र और जिसके द्वारा आकाश में गमन आदि किया जा सकता है ऐसी साधितसिद्ध को विद्या कहते हैं। इच्छा के निरोध को तप कहते हैं। नित्यमह अष्टान्हिकमह इत्यादि जिनयज्ञों को यजन कहते हैं। और अपने तथा दूसरे के कल्याण के लिये जो कुछ भी देना उसको दान कहते हैं। इन विद्यादिकों के सिवाय सिद्धमंत्र दिव्यास्त्र सिद्धौषधियों के प्रयोग इत्यादि और भी अनेक अद्भुतकर्म हैं कि जिनके निमित्त से पूर्वज महापुरुषों ने जिनधर्म के तेज से लोगों को प्रभावित कर दिया था उन कर्मों से प्रसिद्ध हुए पुरुषों के उदाहरण आगम के अनुसार मालूम हो सकते हैं। मुमुक्षुओं को भी उसी तरह से प्रभावना के द्वारा सम्यग्दर्शन को उद्दीप्त करना चाहिये।

इस प्रकार प्रभावना दो प्रकार की है - अंतरंग और बाह्य। रत्नत्रय के द्वारा आत्मा को प्रभावित करने का नाम अंतरंग प्रभावना है। और अद्भुत कार्यों के द्वारा उस धर्म तथा धर्मवालों का जो जगत् में माहात्म्य विस्तृत करना इसको बाह्य प्रभावना कहते हैं।

मुमुक्षुओं को प्रकारान्तर से भी गुणों के ग्रहण करने का उपदेश देते हैं :-

देवादिष्वनुरागिता भववपुर्भोगेषु नीरागता,
दुर्वृत्तेनुशयः स्वदुष्कृतकथा सूरेः क्रुधाद्यस्थितिः।
पूजार्हत्प्रभृतेः सधर्मविपदुच्छेदः क्षुधाद्यर्दिते, -
ष्वङ्गिष्वार्द्रनमस्कृताष्ट चिनुयुः संवेगपूर्वा दृशम्।।१०९।।

संवेग निर्वेद प्रभृति आठ गुणों के निमित्त से मुमुक्षुओं की शंकादि अतीचारों से रहित सम्यग्दर्शन वृद्धि को प्राप्त हो - पुष्ट हो। भावार्थ - सम्यग्दर्शन की पुष्टि के लिये मुमुक्षुओं को इन [१] आठ गुणों का संग्रह करना चाहिये जिनका कि स्वरूप इसप्रकार है :-

---

१ - संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा गुणा हु सम्मत्तजुत्तस्स।।
संवेग निर्वेद निंदा गर्हा उपशम भक्ति वात्सल्य और अनुकंपा ये सम्यग्दृष्टि के आठ गुण हैं।

वीतरागदेव निर्ग्रंथगुरु चार प्रकार का संघ और दयामय धर्म उसका फल मोक्ष आदि इनमें ख्याति यश लाभ पूजा आदिकी अपेक्षा न रखकर अनुराग रखने को [१] संवेग कहते है। संसार शरीर भोगोपभोग के विषयों में वीतरागता रागद्वेष के परित्याग को निर्वेद कहते हैं। अपने से किसी प्रकार के दुर्वृत्त - अपराध हो जानेपर आचार्य के सामने, उसके पश्चाताप करने को निंदा और उसके कथन करने को - अपने किये गये उस अपराध को आचार्य के सामने ज्योंका त्यों कह देनेको गर्हा कहते हैं। अनंतानुबंधी क्रोध आदि कषायों के अनुद्रेक -अस्थिरता को उपशम कहते हैं। अर्हत सिद्ध आचार्य आदि पंच परमेष्ठी तथा और भी जो पूज्यवर्ग हैं उनकी पूजा स्तुति विनय आदि करने को भक्ति कहते हैं। अपने साधर्मी भाईयों पर आई हुई विपत्तियों व क्लेशों का निरसन करने को वात्सल्य कहते हैं। भूख प्यास आदि बाधाओं से पीडित प्राणियों को देखकर मन में दया से भीग जानेको अनुकंपा कहते हैं।

भावार्थ - ये ही संवेगादिक आठ गुण हैं जो कि सम्यग्दर्शन को बढाते और पुष्ट करते हैं। अतएव मुमुक्षु को इनका भी संग्रह करना चाहिये।

विनयगुण को प्राप्त करने का उपदेश देते हैं :-

धर्मार्हदादितच्चैत्यश्रुतभक्त्यादिकं भजेत्।
दृग्विशुद्धिविवृद्ध्यर्थं गुणवद्विनयं दृशः।।११०।।

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन की विशुद्धिवृद्धि के लिये उपगूहन आदि गुणों को धारण किया जाता है उसीप्रकार - सम्यग्दर्शन में शंकादि मलों का निरास हो जाने से जो निर्मलतारूप विशुद्धि उत्पन्न होती है उसकी विवृद्धि - उसको विशेषरूप से बढाने के अभिप्राय से मुमुक्षु को उचित है कि वह सम्यग्दर्शन के उस विनयगुण का भी सेवन करे जो कि धर्मादिक विषयों में की गई भक्ति आदिके द्वारा अभिव्यक्त होता और उसमें माहात्म्य उत्पन्न करने का अद्वितीय उपाय है।

---

१ - ग्रन्थान्तरों में संसार से भीरुता को संवेग कहा है।

भावार्थ - विनयगुण भी अन्य उपगूहनादि गुणों की तरह सम्यग्दर्शन की विशुद्धि-वृद्धि का कारण है। अतएव इसको संपन्न करने के लिये मुमुक्षुओं को धर्मादिक नवदेवों का भक्ति पूजा आदि पाँच प्रकार से अनुष्ठान करना चाहिये। धर्म रत्नत्रयरूप है जैसा कि पहले कहा जा चुका है। अर्हंतादिक - अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु ये पंच परमेष्ठी भी प्रसिद्ध हैं। चैत्य शब्द का अर्थ अर्हंतादिक की मूर्ति है। किंतु यहाँ पर चैत्य शब्द उपलक्षण है, इसलिये उससे चैत्यालय-मंदिर का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। श्रुत शब्द का अर्थ जिनागम या जिनवचन है। अस्पष्ट तर्कणा को श्रुत कहते हैं. इसके दो भेद हैं - द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। पहला अक्षरात्मक - लिपिरूप है और दूसरा शब्दात्मक है; जिसके कि दो भेद हैं; एक अंगप्रविष्ट दूसरा अंगबाह्य। इस प्रकार इन नवदेवों की - पंच परमेष्ठी चैत्य चैत्यालय धर्म और श्रुत की भक्ति आदि पांच प्रकार से उपासना करनी चाहिये।

परिणामों के विशुद्धियुक्त अनुराग को भक्ति कहते हैं। पूजा दो प्रकार की हैं; एक द्रव्य दूसरी भाव। अर्हंतादिक को उद्देश कर गंधाक्षतादि समर्पण करने का नाम द्रव्यपूजा है। भावपूजा तीन प्रकार से होती है - मन वचन और काय। मन से अर्हंतादि के गुणों का स्मरण करना, वचन से स्तुति करना और काय से उनकी विनय के लिये खडे होना प्रदक्षिणा देना प्रणाम करना इत्यादि भावपूजा है। उपासना का तीसरा उपाय वर्णोत्पत्ति है - लोक में अथवा विद्वानों की सभा आदिमें इन नवदेवों के यशोजनन-गुणकीर्तन को वर्णोत्पत्ति कहते हैं। चौथा उपाय अवर्णवाद का नाश है, - इसके अनुसार, मिथ्यादृष्टि या अज्ञलोकों के द्वारा इन देवों के विषय में किये गये असद्भूत दोषों के उद्भावन का निराकरण करना चाहिये। पांचवाँ उपाय आसादना का परिहार है। जो कोई इन देवों की अवज्ञा या तिरस्कार अथवा अविनय करे उसका परिहार करना चाहिये।

ये ही नवदेवों की उपासना के पांच उपाय हैं जो कि सम्यग्दर्शन के विनयरूप हैं और उसकी विशुद्धि वृद्धि के लिये मुमुक्षुओं को अन्य गुणों की तरह उपास्य हैं। आगम में भी ऐसा ही कहा है :-

अरहंतसिद्धचेदियसुदे य धम्मे य साहुवग्गे य।
आयरियउवज्झायसु पव्वयणे दंसणे चावि।।

भत्ती पूया वण्णजणणं च णासणमवण्णवादस्स।
आसादणपरिहारो दंसणविणओ समासेण।।

अर्हंत सिद्ध चैत्य श्रुत धर्म साधुवर्ग आचार्य उपाध्याय प्रवचन और सम्यग्दर्शन की भी भक्ति पूजा वर्णोत्पत्ति अवर्णवाद का नाश तथा आसदना का परिहार करना चाहिये संक्षेप से यही सम्यग्दर्शन की विनय समझनी चाहिये। इनका विस्तृत व्याख्यान देखना हो तो अपराजित आचार्यकृत मूलाराधना की टीका अथवा हमारे (महापण्डित आशाधरकृत) मूलाराधनादर्पण नाम के निबंध में देखना चाहिये।

प्रकारान्तर से दर्शनविनय को बताते हैं :-

धन्योस्मीयमवापि येन जिनवागप्राप्तपूर्वा मया
भो विष्वग्जगदेकसारमियमेवास्यै नखच्छोटिकाम्।
यच्छाम्युत्सुकमुत्सहाम्यहमिहैवाद्येति कृत्स्नं युवन्
श्रद्धाप्रत्ययरोचनैः प्रवचनं स्पृष्ट्या च दृष्टिं भजेत्।।१११।।

मुमुक्षुओं को श्रद्धा प्रत्यय रोचन और स्पर्शन - अनुष्ठान इन चार बातों से प्रवचन को युक्त करते हुए सम्यग्दर्शन का आराधन करना चाहिये।

भावार्थ - जो कि अबतक संसार में प्राप्त नहीं हो सका ऐसा जिनवचन - अनेकान्तात्मकता का सिद्धांत जिसको प्राप्त हो गया ऐसा मैं अवश्य ही धन्य हूँ - सुकृती हूँ। क्योंकि यह बात निश्चित है कि इस मत के बाधक प्रमाण कोई भी संभव नहीं हैं। इस प्रकार अपनी श्रद्धा के द्वार और; अहो, ये निर्बाध जिनवचन ही उत्तम हैं सत्य हैं तथा मुमुक्षुओं के लिये हरतरह से इस संसार में अद्वितीय सारभूत उपादेय वस्तु है; इसप्रकार प्रत्यय - ज्ञान के द्वारा और मैं इसकी नखच्छोटिका - अंगुष्ठ तथा तर्जनी के नखों के घटन विघटन शब्द के द्वारा पूजा करता हूँ इसतरह रुचि के द्वारा एवं जिसको कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया है ऐसा मैं बड़ी उत्कण्ठा के साथ उत्साहपूर्वक आज इसी जिनवाणी का आराधन करता हूँ। इस प्रकार अनुष्ठान के द्वारा प्रवचन को युक्त

करनेवाले मुमुक्षु के सम्यग्दर्शन का आराधन है और यही सम्यक्त्व का विनय है। अतएव सम्यग्दर्शन की विशुद्धिवृद्धि के लिये उसको इसका पालन करना चाहिये। इन चार कार्यों के द्वारा मनुष्य सम्यक्त्व का आराधक हो सकता है। यह बात आगम में भी कही है। यथा -

सद्दहया पत्तियआ रोचयफासंतया पवयणस्स।
सयलस्स जे णरा ते सम्मत्ताराहया हंति।।

इस समस्त प्रवचन - निर्बाध जिनवचन की जो श्रद्धा प्रतीति रुचि और स्पर्शन - अनुष्ठान प्रकट करनेवाले हैं वे मनुष्य सम्यग्दर्शन के आराधक समझे जाते हैं।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टियों के विनयगुण ग्रहण का वर्णन कर अब दृष्टांतद्वारा यह बात स्पष्टतया बताते हैं कि आठ अङ्गों से पुष्ट और संवेगादि गुणों से विशिष्ट सम्यग्दर्शन क्या क्या फल देता है :-

पुष्टं निःशङ्कितत्वाद्यैरङ्गैरष्टाभिरुत्कटम्।
संवेगादिगुणैः कामान् सम्यक्त्वं दोग्धि राज्यवत्।।११२।।

जिसप्रकार [१] स्वामी [२] अमात्य [३] सुहृत् [४] कोष [५] राष्ट्र [६] दुर्ग और बल - सेना इन सात अंगों से पुष्ट तथा [७] संधि [८] विग्रह [९] यान [१०] आसन [११] द्वैधीभाव और [१२] संश्रय इन छह गुणों से उत्कट राज्य अभीष्ट फल का देनेवाला होता है उसीप्रकार निःशङ्कितत्त्व निःकाङ्क्षितत्त्व निर्विचिकित्सत्व अमूढदृष्टित्व उपगूहन स्थितीकरण वात्सल्य और प्रभावना इन आठ अङ्गों से माहात्म्य को सिद्ध करनेवाले उपायों से पुष्ट तथा संवेग निर्वेद निंदा गर्हा उपशम भक्ति वात्सल्य और अनुकंपा इन आठ गुणों से उत्कट अचिंत्य प्रभाव का

---

१ राजा, २ प्राइवेट सेक्रेटरी, ३ मंत्री, ४ खजाना, ५ देश, ६ किला, ७ सलाह, ८ चढ कर आये हुए शत्रु के साथ अपनी या शरणागत की रक्षा के लिये युद्ध करना, ९ किसी शत्रुपर चढाई करना, १० कुछ काल के लिये ठहरना - क्षणिक संधि, ११ दो या अनेक शक्तियों में परस्पर विरोध करा देना, १२ अपने से बलवान् शक्ति का आश्रय लेना।

धारण करनेवाला सम्यक्त्व मुमुक्षुओं के अभीष्ट मनोरथों को पूर्ण कर देता है।

भावार्थ - यद्यपि यहाँ पर राज्य के समान सम्यक्त्व को मनोरथ सिद्ध करनेवाला बताया है। फिर भी ऐसा ही नहीं है। किंतु सम्यक्त्व के समान राज्य को कामित पदार्थ सिद्ध करनेवाला कहना चाहिये। क्योंकि राज्य की अपेक्षा सम्यक्त्व ही अधिक उत्कृष्ट हैं। राज्य से केवल लौकिक प्रयोजन सिद्ध होते हैं किन्तु सम्यक्त्व से लोकोत्तर माहात्म्य प्रगट होता है। यह बात काकू - अलंकार के द्वारा यहाँ स्पष्ट हो जाती है।

पहले सम्यग्दर्शन की आराधना के पाँच उपाय बताये हैं - उद्योतन उद्यवन निर्वहण सिद्धि और निस्तरण। इनमें से चार उपायों का किसप्रकार प्रयोग करना चाहिये सो यहाँ पर बताया। अब इन उपायों के प्रयोक्ता को फल क्या प्राप्त होता है। यह बताते हुए पाँचवें उपाय निस्तरण का स्वरूप बताते हैं :-

इत्युद्द्योत्य स्वे सुष्ट्वेकलोलीकीकृत्याक्षोभं बिभ्रता पूर्यते द्दक्।
येनाभीक्ष्णं संस्क्रियोद्येव बीजं तं जीवं सान्वेति जन्मान्तरेपि।।११३।।

जिस प्रकार किसी बीज के अंतर्भाग और बहिर्भाग में व्याप्त हो जानेवाला संस्कार केवल उस बीज में ही नहीं रह जाता किंतु उसके फल तक में उसका संबंध जाता है। उसी प्रकार जैसा कि 'मिथ्यादृक् यो न तत्त्वं श्रयति' - इत्यादि प्रबन्ध में कहा गया है उसी तरह से निर्मल [१] बनाकर, और आत्मा के साथ उसको अच्छी तरह से दृढ़तारूप में मिश्रित करके - अपनी आत्मा को दर्शनविशुद्धिमय [२] बनाकर जो जीव उस सम्यग्दर्शन को निराकुलतया धारण [३] करता और नित्य ही उसको सिद्ध करता - पूर्णतया [४] पालता है उस जीव का वह चार उपायों के द्वारा संस्कृत हुआ सम्यग्दर्शन उसी भव में नहीं किन्तु भवांतर में भी अनुगमन [५] करता है। उस जीव के साथ जन्मान्तरों में सम्यग्दर्शन तबतक साथ जाता है जबतक कि उस जीव को मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता।

भावार्थ - सिद्धांत में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और तप इनमें से प्रत्येक की पाँच पाँच आराधनाएं बताई हैं, यथा :-

---

१ पहली उद्योतन आराधना। २ दूसरी उद्यवन आराधना। ३ तीसरी निर्वहण आराधना। ४ चौथी साधन आराधना ५ पाँचवी निस्तरण आराधना।

उज्जोवणभुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसणणाणचरित्तंतवाणमाराहणा भणिया।।

दर्शन ज्ञान चारित्र और तप इनमें से प्रत्येक की उद्योतन उद्यवन निर्वहन साधन और निस्तरण ये पाँच - पाँच आराधनाएं बताई हैं। प्रकृत में सम्यग्दर्शन की चार आराधनाओं का वर्णन करके इस पद्य में पाँचवीं आराधना का भी स्वरूप बताया है। मरणपर्यंत सम्यग्दर्शन को न छोडकर उसके पालन करने को पाँचवीं आराधना कहते हैं। इन आराधनाओं का फल यही है कि इनसे संस्कृत हुआ सम्यग्दर्शन मोक्ष तक जीव के साथ रहता है।

क्षायिक और दूसरे प्रकार के - औपशमिक अथवा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन इन दोनों में परस्पर साध्यसाधनभाव है; यह बात बताते हैं -

सिद्धयौपशमिक्येति दृष्ट्या वैदिकयापि च।
क्षायिकीं साधयेद् दृष्टिमिष्टदूतीं शिवश्रियः।।११४।।

इसप्रकार उद्योतन उद्यवन आदि जो उपाय बताये हैं उनके द्वारा निष्पन्न हुई औपशमिकदृष्टि - श्रद्धा अथवा क्षायोपशमिक श्रद्धा के द्वारा मुमुक्षुओं को क्षायिकी श्रद्धा सिद्ध करनी चाहिये। जो कि मोक्षलक्ष्मी की, मानों, इष्ट दूती है।

भावार्थ - औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन दोनों ही साधन हैं और क्षायिक सम्यग्दर्शन साध्य है। अतएव पहले दोनों ही सम्यग्दर्शनों का आराधन करके मुमुक्षु को क्षायिकसम्यक्त्व सिद्ध करना चाहिये। तीन दर्शनमोहनीय - मिथ्यात्व मिश्र और सम्यक्त्व तथा चार अनंतानुबंधी कषाय - क्रोध मान माया लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम से उत्पन्न होनेवाले तत्त्वश्रद्धानरूप आत्मपरिणामों को औपशमिक सम्यग्दर्शन और सम्यक्त्वप्रकृति की अनुभागशक्ति का शुभपरिणामों के द्वारा निरोध हो जानेपर तथा शेष छह प्रकृतियों का उपशम हो जानेपर होनेवाले तत्त्वार्थश्रद्धानरूप परिणाम को क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन सातों प्रकृतियों का सर्वथा विनाश हो जानेपर जो तत्त्वार्थश्रद्धान हो उसको क्षायिकसम्यग्दर्शन कहते हैं। इसीका नाम क्षायिकी दृष्टि अथवा क्षायिकी श्रद्धा है।

जो वचनों का उल्लंघन नहीं कर सकती अथवा जिसके वचनों का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसी इष्ट दूती अवश्य ही नायिका का नायिक के साथ संयोग करा देती है। उसी प्रकार यह क्षायिक श्रद्धा भी केवलज्ञान आदि अनंतचतुष्टयरूप जीवन्मुक्ति अथवा परममुक्ति का जीव के साथ संबंध करा देती है। क्योंकि अत्यंत मान्य होनेसे यह भी अभिमत तथा अनुल्लंध्यवचना है अतएव मुमुक्षुओं को औपशमिक अथवा क्षायोपशमिक श्रद्धा के द्वारा क्षायिक श्रद्धा सिद्ध करनी चाहिये। जैसा कि श्री भट्टाकलंकदेव ने भी कहा है :-

श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसंधिभिः।
परीक्ष्य तांस्तांस्तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान्।।
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान्।।
अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देषादिभिदां गतैः।
द्रव्याणि जीवादिन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशतः।।
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित्।
तपोनिर्जीर्णकर्मायं विमुक्तः सुखमृच्छति।।इति।

श्रुत के द्वारा अनेकांतात्मक पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करके - प्रमाण के द्वारा पदार्थ को ग्रहण करके और अपेक्षाविशेषोंनयों के द्वारा उनके उन उन अनेक व्यावहारिक धर्मों की परीक्षा करके तथा भेदज्ञान के उपायभूत और उन नयों का अनुगमन करनेवाले निक्षेपों के द्वारा उन श्रुतार्पित भेदों में अर्थ वचन और प्रत्ययरूप भेदों की रचना करके तथा निर्देश - स्वामित्व साधन अधिकरण आदि अनेक भेदरूप अनुयोगों के द्वारा उन भेदों तथा जीवादिक द्रव्यों की योजना करके आत्मा की अभिवृद्धि के अभिप्राय से जीवस्थान (जीवसमास) गुणस्थान और मार्गणास्थान के तत्त्वों को अथवा इन तीनों स्थानों और तत्त्वों को जाननेवाला तथा तप के द्वारा समस्तकर्मों को निर्जीर्ण कर देनेवाला ही यह जीव मुक्त होकर सुख को प्राप्त होता है।

इस प्रकार निरंतर चिंतवन करनेवाले मुमुक्षु को जिस तरह बने उस तरह से सम्यग्दर्शन

का आराधन करने को प्रवृत्त होना चाहिये।

इति श्री परमपूज्य धर्मसाम्राज्यनायक योगींद्रचूडामणि सिद्धांतपारंगत, चारित्रचक्रवर्ती
श्री १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के आदेश से ज्ञानदान के लिये
श्री प. पू. चा. च. आ. श्री १०८ शांतिसागर दिगंबर जैन जीर्णोद्धारक
संस्था की ओर से छपे हुए श्री महापण्डित श्री आशाधरकृत
अनगारधर्मामृत की हिंदी टीका विषैं
द्वितीय अध्याय संपूर्ण भया।।२।।
ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण वीर नि. सं. २४८१

श्री वीतरागाय नमः

(वीर संवत् २४८१) ।।ॐ नमः सिद्धेभ्यः।। (ग्रंथ प्रकाशन, समिति फलटण

।।महापंडित श्री आशाधर कृत अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका।।

'बीज के बिना वृक्ष की तरह सम्यक्त्व के बिना विद्या और वृत्त' - सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भी संभूति-उत्पत्ति स्थिति और वृद्धि तथा फलप्राप्ति नहीं हो [१] सकती। अतएव पहले सम्यग्दर्शनाराधना का वर्णन करके अब सम्यग्ज्ञानाराधना का प्रारंभ करते हैं। उसमें भी सबसे पहले मुमुक्षुओं को श्रुत का आराधन करने के लिये प्रेरित करते हैं। क्योंकि परम - सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान की प्राप्ति का उपाय श्रुत ही है :-

सद्दर्शनब्राह्ममुहूर्तदृप्यन्मनःप्रसादास्तमसां लवित्रम्।
भक्तुं परं ब्रह्म भजन्तु शब्दब्रह्माञ्जसं नित्यमथात्मनीनाः।।१।।

सम्यग्दर्शन का आराधन करने के बाद उन भव्यों को जो कि आत्मा का मोक्षरूप हित चाहते हैं और जिनका मनःप्रसाद - मनोगत नैर्मल्य सम्यग्दर्शनरूपी बाह्यमुहूर्त के द्वारा उत्कटता - उद्बोध को प्राप्त हो रहा है; घातिकर्म - मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय के द्वारा उत्पन्न हुए अज्ञानरूप अंधकार का छेदन करनेवाले शुद्ध चिन्मय निज

---

१ - **'विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।**
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव।।' (भगवान् समंतभद्र)

आत्मस्वरूप का आराधन करने के लिये पारमार्थिक - निजात्मा की तरफ उन्मुख हुई संवित्तिरूप शब्दब्रह्म - श्रुतज्ञान का निरंतर आराधन करना चाहिये।

भावार्थ :- पंद्रह मुहूर्त की रात्रि हुआ करती है। उसमें दो घड़ी के चौदहवें मुहूर्त को ब्राह्ममुहूर्त कहते हैं। यह इतना अच्छा समय है कि इसमें चित्त की कलुषता बिलकुल दूर हो जाती है। अतएव इस समय में बुद्धि में संदेहादिक न रहने से यथार्थ पदार्थ प्रतिभासित हुआ करता है। नीति में भी कहा है कि 'ब्राह्ममुहूर्त में उठकर कर्तव्य में दत्तचित्त होना चाहिये; क्योंकि सुखपूर्वक ली गई निद्रा के द्वारा प्रसन्न हुए मन में ज्यों के त्यों पदार्थ को विषय करनेवाली बुद्धियाँ प्रतिबिंबित हुआ करती हैं। सम्यग्दर्शन भी इस ब्राह्ममुहूर्त के समान ही है। क्योंकि वह भी शुद्ध चित्तवृत्ति की प्रसत्ति का कारण है। इस सम्यग्दर्शन के उद्भूत हो जानेपर ही जीवों को शुद्ध निजात्मस्वरूप का संवेदन हो सकता हैं; अन्यथा नहीं। किंतु इस संवेदन को प्राप्त करने के लिये भी पहले श्रुतज्ञान का आराधन करना चाहिये; क्योंकि सम्यग्दर्शन का आराधन हो जानेपर भी श्रुतज्ञान का आराधन किये बिना वह संवेदन नहीं हो सकता। आगम में भी कहा है कि :-

गहियंतं सुयणाणा पच्छा संवेयणेण भाविज्जो।
जो ण हु सुअमबलंबइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावे।।
लक्खणदो णियलक्खं अणुहवमाणस्स जं हवे सुक्खम्।
सा संवित्ती भणिया सयलवियप्पाण णिडडहणं।।
लक्खमिह भणियमादा झेअं सब्भावसंगदो सो जि।
वेयण तह उवलद्धी दंसणणाणं च लक्खणं तस्स।।

जो सम्यग्दृष्टि श्रुत का अवलंबन लेकर सम्यग्ज्ञान का आराधन करते हैं वे आत्मसद्भाव में मोहित हो जाते हैं - धोखा खाते हैं। अतएव पहले श्रुतज्ञान का आराधन करके फिर सम्यग्ज्ञान का आराधन करना चाहिये। लक्षण - श्रुत - श्रुतज्ञान के द्वारा निज आत्मस्वरूप लक्ष्य का अनुभव करनेवाले को जो सुख की प्राप्ति होती है उसको संवित्ति कहते हैं। यह संवित्ति समस्त विकल्पों का निर्दहन कर देनेवाली है। यहाँ पर सद्भावों से युक्त ध्येय आत्मा को लक्ष्य और संवेदन उपलब्धि दर्शन तथा ज्ञान को उसका लक्षण समझना चाहिये।

इस कथन से स्पष्ट है कि शब्दब्रह्म की भावना के निमित्त से ही - श्रुतज्ञान का आराधन हो जानेपर ही शुद्ध चिद्रूप का दर्शन हो सकता है; अन्यथा नहीं। जैसा कि आगम में भी कहा है :-

स्यात्कारश्रीवासवश्यैर्नयौधैः पश्यन्तीत्थं चेत्प्रमाणेन चापि।
पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्मं स्वात्मद्रव्यं शुद्धचिन्मात्रमन्तः।।

स्यात्कार - स्याद्वादरूपी श्रीवास - लक्ष्मी के निवास के आधीन नयों के द्वारा आत्मद्रव्य को जिस प्रकार से देखते हैं उसी प्रकार के वे प्रमाण के द्वारा भी अंतरङ्ग में उस निज आत्मद्रव्य को वैसा ही - अच्छी तरह स्फुट अनंतधर्मात्मक और शुद्ध चिन्मात्र देखते हैं। अर्थात् प्रमाण के द्वारा शुद्ध निज चिन्मात्र का दर्शन होना भी स्याद्वाद से संबंद्ध नयों के अधीन है, जो कि श्रुतज्ञानात्मक है। अतएव मुमुक्षुओं को पहले पारमार्थिक शब्दब्रह्म-श्रुतज्ञान का ही आराधन करना चाहिये।

श्रुत का आराधन परंपरा से केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है; यह बताते हुए उसका आराधन करने के लिये मुमुक्षुओं को फिर से अच्छी तरह उत्साहित करते हैं:-

कैवल्यमेव मुक्त्यङ्गं स्वानुभूत्यैव तद्भवेत्।
सा च श्रुतैकसंस्कारमनसातः श्रुतं भजेत्।।२।।

मुक्ति का उपाय कैवल्य है। असहायज्ञान - केवलज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। और कैवल्य शुद्ध निजात्मस्वरूप की अनुभूति से ही हो सकता है। तथा स्वानुभूति उस अंतःकरण के द्वारा ही हो सकती है कि जिसमें श्रुत - श्रुतज्ञान का उत्कृष्ट खास संस्कार किया गया हो। अतएव मुमुक्षुओं को श्रुत का आराधन करना चाहिये।

भावार्थ :- श्रुतपरंपरा से मोक्ष का कारण है अतएव मोक्ष के अभिलाषियों के लिये वह सबसे पहले आराध्य है[१]।

---

१ - शब्दात् पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।
अर्थात् तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात् परं श्रेयः।।

मन में श्रुत का संस्कार हो जानेपर ही स्वसंवेदनरूप उपयोग के द्वारा शुद्ध चिद्रूपता का परिणमन हो सकता है। यह बात दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं :-

श्रुतसंस्कृतं स्वमहसा स्वतत्त्वमाप्नोति मानसं क्रमशः।
विहितोषपरिष्वङ्गं शुद्ध्यति पयसा न किं वसनम्।।३।।

श्रुत के द्वारा संस्कृत हुआ मन क्रम से स्वसंवेदन के द्वारा शुद्ध निजात्मस्वरूप को इस तरह प्राप्त हो जाता है जिस तरह से कि उष - एक विशेष खारी मिट्टी (खार) के द्वारा संश्लिष्ट - सोंदाया हुआ वस्त्र जल से शुद्ध - स्वच्छ हो जाया करता है। कहा भी है कि :-

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदैव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेवतिष्ठते।।

अज्ञानाभ्यास के संस्कारों से संस्कृत हुआ मन वश में नहीं रहता। अतएव वह इधर उधर भटकता फिरता है। किंतु ज्ञान के संस्कारों से संस्कृत होकर वही मन स्वयं ही आत्मस्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

भावार्थ :- मुमुक्षुओं को सबसे पहले श्रुतज्ञान का अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि क्रम से इसका पहले संस्कार हो जानेपर ही स्वसंवेदन की प्राप्ति होती है। और उसके बाद आत्मा को उस स्वसंवेदन के द्वारा शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति होती है। अतएव मुमुक्षुओं को श्रुत का पहले करना चाहिये।

आत्मकल्याण की सिद्धि के लिये मुमुक्षुओं को मति अवधि और मनःपर्ययज्ञान का भी उपयोग करना चाहिये। यथाप्राप्त इन ज्ञानों के द्वारा भी आत्मकल्याण में प्रवृत्त होना चाहिये; ऐसा उपदेश देते हैं :-

मत्यवधिमनःपर्ययबोधानपि वस्तुतत्त्वनियतत्त्वात्।
उपयुञ्जते यथास्वं मुमुक्षवः स्वार्थसंसिद्ध्यै।।४।।

मुमुक्षुओं को केवल श्रुतज्ञान से ही नहीं किंतु यथाप्राप्त अथवा यथायोग्य मति अवधि और मनःपर्यायज्ञान से भी काम लेना चाहिये। आत्मकल्याण की सिद्धि के लिये अनंत सुख की प्राप्ति अथवा दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति के लिये इन ज्ञानों का भी उपयोग करना चाहिये। क्योंकि ये ज्ञान भी वस्तुतत्त्व में नियत हैं। वस्तुओं के याथात्म्य- सामान्य - विशेषात्मक स्वरूप के ग्रहण करने में मतिज्ञानादिक भी नियत हैं। मतिज्ञान इन्द्रिय और मन दोनों से ही उत्पन्न होता है।

इसमें जो इन्द्रियजन्य मतिज्ञान है वह यद्यपि कतिपय पर्याय विशिष्ट और मूर्त पदार्थ को ही, तथा मनोजन्य मतिज्ञान मूर्त अमूर्त दोनों को, किंतु वैसे ही - कतिपय पर्यायविशिष्ट ही पदार्थों को विषय करता है; फिर भी वह ग्रहण, पदार्थ के यथावत् स्वरूप का ही करता है। इसी प्रकार अवधिज्ञान भी कतिपय पर्याययुक्त ही पुद्गल अथवा पुद्गलसंबद्ध जीवों को जानता है, किंतु यथावत् जानता है। मनःपर्ययज्ञान भी सर्वावधि के अनंतवें भाग को जानता हैं किन्तु यथावत् जानता है। अतएव आत्मकल्याण के लिये इन ज्ञानों को भी अपने अपने विषय में मुमुक्षुओं को व्यापृत करना चाहिये। यथा - कानों को शास्त्रश्रवणादिक में, आँखो को जिनप्रतिमादर्शन और भक्तपान तथा मार्गादि के निरीक्षण में, मन को गुणदोष के विचार स्मरण आदिक में, अवधिज्ञान को श्रुत के अर्थ में संदेह उपस्थित हो जानेपर उसका निर्णय करने में अथवा अपनी या पराई आयु के परिमाणादिक निश्चय करने में, तथा मनःपर्यय को चिंतित अर्धचिंतित पदार्थों के जानने में लगाना चाहिये।

भावार्थ :- आत्मकल्याण के लिये मतिज्ञानादिक से भी मुमुक्षुओं को यथायोग्य काम लेना चाहिये। मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो जानेपर इन्द्रिय और मन की सहायता से पदार्थ के जानने को या उपयुक्त आत्मा जिसके द्वारा पदार्थों को जानता है उसको मति कहते हैं। इसके मति स्मृति संज्ञा चिंता अभिनिबोध प्रतिभा बुद्धि मेघा प्रज्ञा आदि अनेक भेद हैं। बाह्य और अंतरङ्ग में स्फुटतया अवग्रहादिरूप जो स्वसंवेदन या इंद्रियजन्य ज्ञान होता है उसको मति अथवा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनुभव भी है। स्वयं अनुभूत अतीत पदार्थ के ग्रहण करनेवाली 'वह' इस तरह की प्रतीति को स्मृति कहते हैं। अनुभव और स्मृति दोनों के जोडरूप 'यह वही है, यह उसके सदृश है, यह उससे विलक्षण हैं ' ऐसे ज्ञानों को संज्ञा कहते हैं। इसका दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान भी है। जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि ज़रूर होती है। बिना अग्नि के कहीं

भी धूम नहीं होता। अथवा जहाँ जहाँ शरीर में व्यापार वचनादिक होते हैं वहाँ वहाँ आत्मा ज़रूर होती हैं - बिना आत्मा के शरीर में वचनादि व्यापार नहीं हो सकता। इस तरह के तर्क को चिंता या ऊह कहते हैं। धूमादिक साधन को देखकर अग्नि आदि साध्य का ज्ञानरूप जो अनुमान होता है उसको अभिनिबोध कहते हैं। रात में या दिन में अकस्मात्- विना किसी बाह्य कारण के, जो 'कल मेरा भाई आवेगा।' इस तरह का ज्ञान होता है उसको [१] प्रतिभा कहते हैं। पदार्थ के ग्रहण करने की शक्ति का नाम बुद्धि, और पाठग्रहण करने की शक्ति का नाम मेघा है। इसी तरह ऊहापोहरूप योग्यता का नाम प्रज्ञा है। इस प्रकार इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से उत्पन्न होनेवाले एक ही मतिज्ञान के अनेक भेद हैं।

अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम हो जानेपर अधिकतया अधोगत द्रव्य को किंतु नियत रूपी द्रव्य को ही जो विषय करता है उसको अवधि कहते हैं। इसके तीन भेद हैं - देशावधि परमावधि और सर्वावधि। देशावधि के छह भेद है - अवस्थित अनवस्थित अनुगामी अननुगामी वर्धमान [२] हीयमान। इनमें से परमावधि में अनवस्थित और हीयमान को छोडकर बाकी चार भेद हैं। तथा सर्वावधि में अवस्थित अनुगामी और अननुगामी ये तीन ही भेद हैं। जैसा कि आगममें भी कहा है, यथा :-

देशावधिः सानवस्थाहानिः स परमावधिः।
वर्धिष्णुः सर्वावधिस्तु सावस्थानुगमेतरः।।

देशावधि वर्धमान और हीयमान दोनों तरह का होता है। अतएव उसमें अनवस्थित और हीयमान ये दोनों भेद भी होते हैं। किंतु परमावधि वर्धिष्णु ही होता है। अतएव उसमें ये दो भेद नहीं होते; बाकी चार भेद होते हैं। तथा सर्वावधि अवस्थित अनुगामी अननुगामी इस तरह तीन ही प्रकार का होता है।

---

१ - नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिः प्रतिभा इति ग्रंथान्तरम्।

२ - इन छहों का स्वरूप गोम्मटसार में देखना।

समंतभद्र स्वामीने भी अपने शास्त्र में अवधिज्ञान के चिन्ह और भेद इस प्रकार बताये है :-

अवधीयते इत्युक्तो वधिः सीमाः सजन्मभूः।
पर्याप्तश्चाभ्रदेवेषु सर्वाङ्गोत्थो जिनेषु च।।
गुणकारणको मर्त्यतिर्यक्ष्वब्जादिचिन्हजः।
सोवस्थितोनुगामी स्याद्वर्धमानश्च सेतरः।।

नियत विषय के जाननेवाले ज्ञानविशेष को अवधि कहते हैं। अतएव इसका दूसरा नाम सीमाज्ञान भी है। क्योंकि अवधि शब्द का अर्थ सीमा होता है। यह ज्ञान दो प्रकार का है - एक भवप्रत्यय दूसरा गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त देव नारक और जिन भगवान् के हुआ करता है, जो समस्त अंग से उत्पन्न होता है। एवं गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचों के होता है जो कि कमल शंख स्वस्तिक आदि चिन्हयुक्त स्थानों से ही उत्पन्न हुआ करता है। और जो अवस्थित अनुगामी तथा वर्धमान एवं इनसे उल्टा अनवस्थित अननुगामी तथा हीयमान इस तरह छह प्रकार का है।

भावार्थ :- भवप्रत्ययअवधिज्ञान शरीर के किसी चिन्हयुक्त स्थानविशेष से नहीं किंतु समस्त अंग से उत्पन्न होता है। किंतु गुणप्रत्ययअवधिज्ञान चिन्हित स्थानों से ही उत्पन्न होता है। अवधिज्ञान जहाँ से उत्पन्न होता है वे शंख कमल आदि चिन्ह नाभि के ऊपर हुआ करते हैं। विभंगज्ञान के सरट मर्कट आदि चिन्ह नाभि के नीचे हुआ करते हैं।

मनोगत पदार्थ को उपचार से मन कहते हैं। इस मन को जो अच्छी तरह स्पष्टतया जाननेवाला है उस ज्ञान को मनःपर्यय कहते हैं। यथा :-

स्वमनः परीत्य यत्परमनोनुसंधाय वा परमनोर्थम्।
विशदमनोवृत्तिरात्मा वेत्ति मनःपर्ययः स मतः।।

विशद मनोवृत्ति - मनःपर्यय ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विशुद्धि को धारण करनेवाला जीव परपुरुष के उस मनोगत पदार्थ को जो कि अपने अथवा दूसरे के मन के संबंध से विचार प्राप्त हुआ हो, जानता है, उस ज्ञान को मनःपर्यय कहते है। अवधिज्ञान की तरह यह भी मुख्य देशप्रत्यक्ष ही है। इसका विशेषस्वरूप शास्त्रमें इस प्रकार कहा

है कि :-

चिन्तिताचिन्तितार्द्धादिचिन्तिताद्यर्थवेदकम्।
स्यान्मनःपर्ययज्ञानं चिन्तकश्च नृलोकगः।।
द्विधा ह्यत्पर्ययज्ञानमृज्व्या विपुलया धिया।
अवक्रवाङ्मनःकायवर्त्यर्थर्जुमतिस्त्रिधा।।
स्यान्मतिर्विपुला षोढा वक्रावक्राङ्गवाग्घृदि।
तिष्ठतां व्यञ्जनार्थानां षड्भिदां ग्रहणं यतः।।
पूर्वास्त्रिकालरूप्यथान्वर्तमाने विचिन्तके।
वेत्त्यस्मिन् विपुला धीस्तु भूते भाविनि सत्यपि।
विनिद्राष्टदलाम्भोजसन्निभं हृदये स्थितम्।
प्रोक्त द्रव्यमनस्तज्जमनः पर्ययकारणम्।।

चिंतित अचिंतित या अर्द्धचिंतित आदि पदार्थों के जानने को मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। किंतु मनःपर्ययज्ञान के विषयभूत पदार्थ का चिंतवन करनेवाला नृलोक - अढाईद्वीप के भीतर ही रहनेवाला होना चाहिये यह मनःपर्ययोज्ञान दो प्रकार का है; एक ऋजुमति दूसरा विपुलमति। ऋजुमति अकुटिल - सरल मन वचन कायवर्ती पदार्थों को विषय करता है अतएव उसके तीन भेद हैं। विपुलमति छह प्रकार का है, क्योंकि वह कुटिल और अकुटिल दोनो ही प्रकार के मन वचन कायवर्ती छह तरह के व्यंजनपदार्थों का ग्रहण करता है। ऋजुमतिमनःपर्यय त्रिकालवर्ती रूपी पदार्थों को तभी विषय करता है जब कि उनका चिंतवन करनेवाला वर्तमान हो। किंतु विपुलमति, चिंतवन करनेवाला भूत भविष्यत् या वर्तमान कैसा भी हो, त्रिकालवर्ती रूपी पदार्थों को विषय करता है। खिले हुए अष्टदल कमल के समान हृदय में जो द्रव्यमन विराजमान है वह इस मनःपर्ययज्ञान का कारण है।

इस प्रकार इन मति अवधि और मनःपर्यय ज्ञान से भी मुमुक्षुओं को यथायोग्य विषय में श्रुत की तरह उपयोग लेना चाहिये।

श्रुत की सामग्री और स्वरूप इन दोनों का निरूपण करते हैं :-

स्वावृत्त्यपायेऽविस्पष्टं यन्नानार्थप्ररूपणम्।
ज्ञानं साक्षादसाक्षाच्च मतेर्जायेत तच्छ्रुतम्।।५।।

श्रुतज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम हो जानेपर नाना पदार्थों के - उत्पादव्ययध्रौव्यरूप अथवा अनेकात्मक वस्तुओं के समीचीन स्वरूप का निश्चय कर सकनेवाले अस्पष्टज्ञान को श्रुत कहते हैं। यह श्रुत मतिज्ञानपूर्वक हुआ करता है; किंतु श्रुत के पूर्व में मति कहीं साक्षात् - अव्यवहित और कहीं असाक्षात् व्यवहित हुआ करती है।

भावार्थ :- श्रुतज्ञान दो प्रकार का है; एक शब्दजन्य दूसरा लिंगजन्य। घट शब्द के सुननेरूप मतिज्ञान के बाद जो घटपदार्थ का ज्ञान होता है उसको शब्दजन्यश्रुत और चक्षुरादि के द्वारा यह धूम है ऐसा मतिज्ञान हो जानेपर जो अग्नि आदि का ज्ञान होता है उसको लिङ्गजन्यश्रुत कहते हैं। इसके अनंतर घटज्ञान के बाद जो जलधारणादिक का और, अग्निज्ञान के बाद जो उसके पाकादिक का ज्ञान होता है उसको भी श्रुत कहते हैं। किंतु पहले श्रुत के मतिज्ञान साक्षात् पूर्व में है और दूसरे श्रुत के असाक्षात् पूर्व में। फिर भी दोनों ही श्रुतज्ञानों को मतिपूर्वक ही कहा है; क्योंकि आगम में भी मतिपूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञान को भी उपचार से मति कहा है। यथा :-

मतिपूर्वं श्रुतं दक्षैरुपचारान्मतिर्मतां।
मतिपूर्वं ततः सर्वं श्रुतं ज्ञेयं विचक्षणैः।।

आचार्यों ने मतिज्ञानपूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको भी उपचार से मति ही माना है। अतएव विद्वानों को सभी श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही समझने चाहिये। और भी कहा है कि :-

अथदिर्थान्तरज्ञानं मतिपूर्वं श्रुतं भवेत्।
शाब्दं तल्लिङ्गजं चात्र द्व्यनेकद्विषड्भेदगम्।।

मतिज्ञानपूर्वक जो अर्थ से अर्थान्तर का ज्ञान होता है उसको श्रुत कहते हैं। वह

दो प्रकार का है; शब्दजन्य और लिंगजन्य। तथा अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट इस तरह से भी श्रुत के दो भेद हैं। अंगबाह्य के अनेक भेद और अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं।

निरुक्ति की अपेक्षा, जो सुना जाय उसको श्रुत कहते हैं। किंतु उसका अर्थ ज्ञानविशेष ही हैं, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। यह श्रुत दो प्रकार का होता है; एक ज्ञानरूप दूसरा शब्दरूप। ज्ञानरूप को भावश्रुत और शब्दरूप को द्रव्यश्रुत कहते हैं। जिस ज्ञान के होनेपर वक्ता शब्दों का उच्चारण करता है या कर सकता है उसको अथवा श्रोता के शब्द सुनने के बाद जो ज्ञान होता है उसको भावश्रुत कहते हैं। इसीका नाम स्वार्थ भी है; क्योंकि वह विकल्प के निरूपणरूप है, और स्वयं (श्रुतज्ञानी) को जो उसके विषय में अज्ञान या विप्रतिपत्ति हो उसका निराकरण ही इसका फल है। भावश्रुत के लिये निमित्तभूत जो वचन उसको द्रव्यश्रुत कहते हैं। इसको परार्थ भी कहते हैं। क्योंकि वह शब्दप्रयोगरूप है, और अपने विषय में दूसरों को जो अज्ञान या विप्रतिपत्ति है उसका निराकरण ही इसका फल है।

इस प्रकार भाव और द्रव्य की अपेक्षा श्रुत के दो भेद बताये, किंतु उसके भी उत्तरभेद होते हैं या नहीं ? इसके उत्तर में दोनों के उत्तरभेदों का निरूपण करते हैं :-

तद्भावतो विंशतिधा पर्यायादिविकल्पतः।
द्रव्यतोऽङ्गप्रविष्टाङ्गबाह्यभेदाद् द्विधा मतम्।।६।।

भाव :- अंतस्तत्व की अपेक्षा जो श्रुत का भेद बताया है वह - भावश्रुत, पर्याय समास अक्षर अक्षरसमास इत्यादि वीस प्रकार का है। और द्रव्य बहिस्तत्व की अपेक्षा जो भेद है वह - द्रव्यश्रुत मूल में दो प्रकार का हैं; अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य।

भावार्थ :- भावश्रुत के पर्यायादिक बीस भेद और द्रव्यश्रुत के मूल में उक्त दो भेद हैं; जिनमें से अंगप्रविष्ट के आचाराङ्ग सूत्रकृताङ्ग आदि बारह भेद और अङ्गबाह्य के सामायिक आदि चौदह भेद हैं। इनका विशेषस्वरूप आगम के अनुसार समझना चाहिये।

लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीव के, उत्पन्न होने के प्रथम समय में जो ज्ञान होता है उसको पर्याय कहते हैं। इसका दूसरा नाम लब्ध्यक्षर भी है। जैसा कि आगम में भी कहा है :-

सूक्ष्मापूर्णनिगोदस्य जातस्याद्यक्षणेप्यदः।
श्रुतं स्पर्शमतेर्जातं ज्ञानं लब्ध्यक्षराभिधम्।।

सूक्ष्म अपर्याप्त निगोद जीव के उत्पन्न होने के प्रथम स्पर्शजन्य मतिज्ञान के द्वारा जो श्रुतज्ञान होता है उसको लब्ध्यक्षर कहते हैं।

इसका परिमाण अक्षरश्रुत के अनंतवें भागमात्र है। अतएव यह सब ज्ञानों से जघन्य किंतु निरावरण है। इतना ज्ञान नित्य ही प्रकाशमान रहता है। इससे कमज्ञान कभी भी और किसी भी जीव के नहीं हो सकता। यदि इससे भी कम होने लगे तो ज्ञान का ही अभाव हो जाय; क्योंकि यह ज्ञान की सबसे छोटी पर्याय है। एवं, ज्ञान का अभाव हो जायगा; क्योंकि ज्ञानरूप उपयोग ही आत्मा का लक्षण है। अतएव पर्यायज्ञान नित्य प्रकाशमान है।

जैसा कि (गोमटसार में) कहा भी है :-

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुघाडं णिरावरण।।

सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक के उत्पन्न होने के प्रथम समय में जो सर्वजघन्य ज्ञान होता है वह नित्योद्घाटी और निरावरण है। यह ज्ञान सूक्ष्मनिगोद जीव के सर्वजघन्य क्षयोपशम की अपेक्षा से निरावरण है; न कि सर्वथा। वस्तुतः ऊपर के क्षायपशमिक ज्ञानों की अपेक्षा से और केवलज्ञान की अपेक्षा सावरण ही है तथा क्षयोपशमिक भी है; क्योंकि संसारी जीवों के क्षायिकज्ञान हो ही नहीं सकता।

पर्यायज्ञान के ऊपर और अक्षरश्रुतज्ञान के पहले अनंतभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि एवं अनंतगुणवृद्धि के द्वारा जो असंख्येयलोकपरिमाण ज्ञान बढता जाता है उसको पर्यायसमास ज्ञान कहते हैं। इसके बाद एक अकार आदि अक्षरों के अभिधेय के अवगमरूप जो ज्ञान है उसको अक्षरश्रुत कहते हैं। यह समस्तश्रुत के संख्यातवें भागमात्र है। क्योंकि पूर्णश्रुतज्ञान के संख्यात ही अक्षर है इसके ऊपर और पदज्ञान के पहले अक्षरवृद्धि के क्रम से जो दो तीन चार आदि अक्षरों के ज्ञानस्वभावश्रुत बढता जाता है उसको अक्षरसमास कहते हैं। इसी तरह पद पदसमास आदि पूर्वसमास

पर्यन्त भावश्रुत के वीसों भेदों का स्वरूप आगम के अनुसार समझ लेना चाहिये।

श्रुतोपयोग की विधि बताते हैं :-

तीर्थादाम्नाय निध्याय युक्त्याऽन्तः प्रणिधाय च।
श्रुतं व्यवस्येत् सद्विश्वमनेकान्तात्मकं सुधीः।।७।।

बुद्धिधन के धारण करनेवाले भव्यों को तीर्थ - उपाध्याय से आगम को ग्रहण करके और हेतुपूर्वक समझकर के तथा अंतरङ्ग में भले प्रकार निश्चलतया धारण करके सद् - उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त और अनेकान्तात्मक - द्रव्यपर्यायस्वभाव विश्वजीवादिक समस्त पदार्थों का अच्छी तरह निश्चय करना चाहिये।

भावार्थ :- गुरूपदेश द्वारा आगम से तथा 'पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं ; क्योंकि वे सत् सत् हैं। जो सत् नहीं होता वह अनेकान्तात्मक भी नहीं होता, जैसे कि आकाशपुष्प' इत्यादि युक्तियों से जीवादिपदार्थों का निश्चय करना चाहिये। इसीसे श्रुतोपयोग की सिद्धि हो सकती है। और समस्तपदार्थों का ज्ञान हो सकता है। क्योंकि श्रुतज्ञान परोक्षतया समस्तपदार्थों को प्रकाशित करता है जैसा कि कहा भी है :-

श्रुतं केवलबोधश्च विश्वबोधात्समं द्वयम्।
स्यात्परोक्षं श्रुतज्ञानं प्रत्यक्षं केवलं स्फुटम्।।

समस्त पदार्थों के ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों समान हैं। अंतर इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

तीर्थ और आम्नापूर्वक श्रुत का अभ्यास करना चाहिये, ऐसा उपदेश देते हैं :-

वृष्टं श्रुताब्धेरुद्धृत्य सन्मेघैर्भव्यचातकाः।
प्रथमाद्यनुयोगाम्बु पिबन्तु प्रीतये मुहुः।।८।।

समस्त विश्व का उपकार करनेवाले मेघों के समान सत्पुरुषों - शिष्टों - भगवज्जिनसेन प्रभृति आचार्यों के द्वारा श्रुत परमागम - द्वादशाङ्गरूपी समुद्र से उद्धृत कर - निकाल कर वर्षाये हुए - उपदिष्ट प्रथमादि अनुयोग पुराणादि अर्थ के प्रश्नोत्तररूपी जल का भव्यरूपी चातकों को जिनको कि चिरकाल से सदुपदेशरूपी जल पान करने के लिये प्राप्त नहीं हुआ है; पुनः पुनः एवं प्रीतिपूर्वक पान करना चाहिये। क्योंकि वह जल उनकी तृष्णा के विच्छेद करने का प्रधान कारण है।

भावार्थ :- भगवज्जिनसेन प्रभृति आचार्योंने प्रथमानुयोगादिक में जो कुछ कहा है वह भगवद्भाषित और गणधरग्रथित परमागम में कहे हुए पदार्थों को ही कहा है। अतएव वह तीर्थ और आम्नायपूर्वक ही है। इसीलिये मुमुक्षु भव्यों को रुचि - समीचीन श्रद्धापूर्वक उस प्रथमानुयोगादि श्रुत का बार-बार अभ्यास करना चाहिये।

अनुयोग चार हैं - प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इनमें से पहले प्रथमानुयोग के अभ्यास करने में भव्यों को नियुक्त होने का विधान करते हैं।

पुराणं चरितं चार्थाख्यानं बोधिसमाधिदम्।
तत्त्वप्रथार्थी प्रथमानुयोगं प्रथयेत्तराम्।।९।।

हेय और उपादेयरूप समीचीन तत्त्व के प्रकाश को निरंतर चाहनेवाले भव्य को उस पुराण और चरित्ररूप - प्रथमानुयोग का अच्छी तरह प्रकाश करना चाहिये - दूसरे - करणानुयोगादि की अपेक्षा अतिशयरूप से अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि दूसरे अनुयोगों में जिन जिन विषयों का वर्णन किया गया है उन सबके प्रयोग दृष्टांत आदि का अधिकरण यह प्रथमानुयोग ही है; जिसमें कि कल्पित विषयों का नहीं किंतु अर्थ - परमार्थतः सद्भूत विषयों का प्रतिपादन किया जाता है; और जो कि बोधि - रत्नत्रय और समाधि - ध्यान का देनेवाला है। क्योंकि इनके सुनने से जिनको रत्नत्रय प्राप्त नहीं हुआ है, उनको प्राप्त होता है और जिनको प्राप्त है उनका भले प्रकार निर्वहण होता है। इसी प्रकार उसके सुनने से धर्मध्यान और शुक्लध्यान की भी सिद्धि होती है। जो पहले हो गया उसकी- बीती हुई बात को पुराण कहते हैं। जिसमें ये बातें लिखी जाय उस ग्रंथ को भी पुराण कहते हैं। अतएव तिरसठ शलाकापुरुषों की कथाएँ जिसमें लिखी गई हों उस

महापुराण हरिवंशपुराण पद्मपुराण आदि शास्त्रों का नाम पुराण है। पुराण में आठ बातों का वर्णन होता है, जैसा कि आगम में भी कहा है :-

लोको देशः पुरं राज्यं तीर्थं दानं तपोद्वयम्।
पुराणस्याष्टधाख्येयं गतयः फलमित्यपि।।

लोक देश नगर राज्य तीर्थ दान और दो प्रकार का तप इन आठ विषयों का पुराण में निरूपण किया जाता है। इसके सिवाय गतियों तथा पुण्यपाप के फल का भी वर्णन होता है।

लोकमें भी कहा है कि :-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्।।

सर्ग और प्रतिसर्ग तथा वंश और मन्वंतर - कुलकरों का मध्यकाल एवं वंशों में क्रम से चला आया हुआ चरित्र, ये पुराण के पाँच लक्षण हैं - ये पाँच बातें पुराण में होनी चाहिये।

इस प्रकार जिसमें ये सब बातें पाई जांय उस प्रथमानुयोग को पुराण और जिसमें एक पुरुष के आश्रय से कथा लिखी जाय - जिसमें एक पुरुष के चरित्र का वर्णन हो; जैसे चंद्रप्रभचरित्र प्रद्युम्नचरित्र यशोधरचरित्र इत्यादि; उसको चरितरूप प्रथमानुयोग कहते हैं।

करणानुयोग के अभ्यास करने के तरफ भव्यों को प्रयुक्त करते हैं :-

चतुर्गतियुगावर्तलोकालोकविभागविभागवित्।
हृदि प्रणेयः करणानुयोगः करणातिगैः।।१०।।

करण - इन्द्रियों का अतिक्रमण करके रहनेवाले जितेन्द्रिय भव्यों को करणानुयोग अवश्य ही हृदय में धारण करना चाहिये।

गतिनामकर्म के उदय से होनेवाली जीव की पर्यायविशेष को गति कहते हैं। उसके चार भेद हैं नारक तैर्यग् मानुष और देव। उत्सर्पिणीरूप काल के सुषमसुषमा आदि युगों के आवर्त - परिवर्तन को युगावर्त कहते हैं। उसके बाहर जितना अनंत आकाशमात्र है उसको अलोक कहते हैं। इन चारों गतियों तथा युगावर्त और लोकालोक के विभाग को जो जाननेवाला है उस ज्ञानपरिणत आत्मा को करणानुयोग कहते हैं।

भावार्थ :- यहाँ पर भावश्रुत की अपेक्षा से ज्ञानरूप ही करणानुयोग का लक्षण बताया है; किंतु द्रव्यश्रुत की अपेक्षा इन गति आदिकों का जिसमें वर्णन लिखा जाय उस शास्त्र को भी करणानुयोग कहते हैं। यह करणानुयोग मुमुक्षुओं को अवश्य ही हृदयंगत करना चाहिये।

चरणानुयोग की चर्चा करने के लिये भी भव्यों को प्रेरित करते हैं।

सकलेतरचारित्रजन्मरक्षाविवृद्धिकृत्।
विचारणीश्चरणानुयोगश्चरणादृतैः।।११।।

चारित्र के प्रतिबंधक मोहनीयकर्म का क्षयोपशम हो जानेपर चरणानुयोग के द्वारा पूर्ण और अपूर्ण चारित्र का जन्म रक्षा एवं वृद्धि होते हैं; अतएव चारित्र का पालन करने के लिये जो उद्यत हैं उन भव्यों को अवश्य ही इस चरणानुयोग का चित्त में विचार करना चाहिये। आचारांग उपासकाध्ययन या दूसरे भी चारित्रसंबंधी शास्त्रों का अध्ययन या स्वाध्याय करना चाहिये।

भावार्थ :- चरण - चारित्र के जाननेवाले ज्ञान को अथवा उसके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र को चरणानुयोग कहते हैं। हिंसादिक पापों से निवृत्ति का नाम चारित्र है। यह दो प्रकार का है - एक पूर्ण दूसरा अपूर्ण - अप्रादुर्भूत इन दोनों की प्रादुर्भूति का नाम जन्म, प्रादुर्भूत होनेपर उनमें से अतीचार के दूर होने का नाम रक्षा, और रक्षितों में उत्कर्षता के प्राप्त होने का नाम वृद्धि है। इस प्रकार इन दोनों चारित्रों के जन्म रक्षा और वृद्धि की सिद्धि चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम होनेपर चरणानुयोग के द्वारा ही होती है। अतएव चारित्र की इच्छा करनेवाले मुमुक्षु भव्यों को चरणानुयोग का अवश्य ही अभ्यास करना चाहिये।

द्रव्यानुयोग की भावना के लिये भव्यों को व्यापृत करते हैं :-

जीवाजीवौ बंधमोक्षौ पुण्यपापे च वेदितुम्।
द्रव्यानुयोगसमयं समयन्तु महाधियः।।१२।।

कुशाग्रीय बुद्धि के धारक भव्यों को जीव और अजीव का तथा बंध और मोक्ष का एवं पुण्य और पाप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये या भले प्रकार निश्चय करने के लिये द्रव्यानुयोग समय का - सिद्धांतसूत्र मोक्षशास्त्र या पंचास्तिकाय प्रभृति ग्रंथों का अच्छी तरह अभ्यास करना चाहिये।

भावार्थ :- मुमुक्षुओं की अभिलाषा जिस मार्ग से ही पूर्ण हो सकती है उसकी सिद्धि तत्त्वज्ञान पर निर्भर है। और तत्त्वज्ञान, जिनमें जीवादिक तत्त्वों तथा पदार्थों का वर्णन किया गया है ऐसे द्रव्यानुयोग शास्त्रों के अभ्यास पर निर्भर है। अतएव मुमुक्षु एवं तीक्ष्णबुद्धि के धारक भव्यों को द्रव्यानुयोग शास्त्रों का अभ्यास अच्छी तरह करना चाहिये। इसके बिना मोक्ष क्या है और वह किसका होता है तथा उसका विरोधी कौन है और उसके विरुद्धपर्याय के कारण क्या क्या हैं एवं निर्वृत्ति के कारण क्या क्या हैं यह मालूम नहीं हो सकता। और इसके विना निर्वृत्ति नहीं हो सकती।

इस प्रकार जिसमें चारों अनुयोगों का संग्रह किया गया है ऐसे जिन भगवान् के उपदिष्ट आगम की सदा समीचीनतया उपासना करनेवाले भव्यों को जो फल प्राप्त होते हैं उन्हे बताते हैं :-

सकलपदार्थबोधनहिताहितबोधनभावसंवरा
नवसंवेगमोक्षमार्गस्थिति तपसि चात्र भावनान्यदिक्।
सप्त गुणाः स्युरेवममलं विपुलं निपुणं निकाचितं
सार्वमनुत्तरं वृजिनहृज्जिनवाक्यमुपासितुः सदा।।१३।।

जिसमें पूर्वापर का विरोध या अन्य किसी प्रकार का दोष नहीं पाया जाता। जिसमें लोकालोक के सब विषय व्याप्त हैं। पदार्थमात्र का जिसमें वर्णन पाया जाता हैं। जिसमें

सूक्ष्मपदार्थों का भी स्वरूप भले प्रकार दिखाया गया है। और जो निकाचित - अर्थतः अवगाढ - ठोस है। जो सबके लिये हितकर और परमोत्तम है संसार में जिसके बराबर कोई भी उत्कृष्ट पदार्थ नहीं है। एवं जो समस्त पापों को दूर करनेवाला है। ऐसे जिनवाक्य की - अर्हंत भगवान् के उपदिष्ट प्रथमानुयोगादिक प्रवचन की पूर्वोक्त रीति से जो सदा समीचीनतया उपासना करते हैं उन साधुओं को निम्नलिखित सात गुण प्राप्त होते हैं :-

१ - सकलपदार्थबोधन। त्रिकालवर्ती समस्त अनंत पदार्थों और उनकी पर्यायों के स्वरूप का ज्ञान।

२ - हिताहितबोधन। हित - सुख और उसके कारणों की प्राप्ति तथा अहित - दुःख और उसके कारणों के परिहार का ज्ञान।

३ - भावसंवर। मिथ्यात्वादिक परिणामों का, जिनसे कि कर्मों का आस्रव होता है, निरोध - शुद्ध निजात्मस्वरूप के अनुभव परिणामों का होना।

४ - नवसंवेग। प्रतिक्षण नई नई तरह की संसार से भीरुता।

५ - मोक्षमार्गस्थिति। व्यवहार एवं निश्चयरूप रत्नत्रय में अविचलतया स्थिर रहना।

६ - तपोभावना। रागादिकषायों के निग्रह करने के उपाय का अभ्यास करना।

७ - अन्यदिक्। दूसरों को उपदेश देना।

ज्ञानाराधन के लिये आठ प्रकार के विनय का अभ्यास करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं -

ग्रंथार्थतद्द्वयैः पूर्णं सोपधानमनिह्नवम्।
विनयं बहुमानं च तन्वन् काले श्रुतं श्रयेत्।।१४।।

ग्रंथ - संदर्भ और अर्थ - वाच्य पदार्थ तथा उभय - ग्रंथ अर्थ दोनों इनसे पूर्ण और आगम में कहे हुए नियम - विशेषों से युक्त तथा गुरु आदि के निह्नव से रहित श्रुत-जिनागम का विनय - माहात्म्य का उद्भव - प्रकाश करने के लिये किये गये प्रयत्नविशेष को और बहुमान - बड़े भारी आदरसत्कार को बढाते हुए मुमुक्षुओं को योग्य काल में - आगम में कहे गये संध्या ग्रहण आदि से रहित समय में अभ्यास करना चाहिये।

भावार्थ :- जिसके द्वारा श्रुत की भलेप्रकार प्राप्ति हो सके उस उपायविशेष को विनय कहते हैं। उसके आठ भेद हैं - १ - ग्रंथपूर्णता, २ - अर्थपूर्णता, ३ - उभयपूर्णता, ४ - सोपधानता, ५ - अनिह्नव, ६ - विनय, ७ - बहुमान, और ८ - योग्य काल।

इस प्रकार ज्ञानाराधना का वर्णन किया। किंतु सम्यक्त्वाराधना के अनंतर उसका वर्णन करने का क्या हेतु है सो बताते हैं :-

आराध्य दर्शनं ज्ञानमाराध्यं तत्फलत्वतः।
सहभावेऽपि ते हेतुफले दीपप्रकाशवत्।।१५।।

मुमुक्षुओं को सम्यग्दर्शन का आराधन करके ही ज्ञान - श्रुतज्ञान का आराधन करना चाहिये। क्योंकि ज्ञान सम्यग्दर्शन का फल है। ज्ञान की समीचीनता सम्यग्दर्शन के ही अधीन है; अतएव वह उसका कार्य है। आगम में भी सम्यगद्दर्शन की प्रशंसा करते हुए कहा है कि 'णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि' अर्थात् जिसके होनेपर ज्ञान समीचीन हो जाता है। अतएव सम्यक्त्व का आराधन करके ही ज्ञान का आराधन करना चाहिये।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि गौ के बाँये और दाँये दोनो सींगों की तरह से एक ही काल में उत्पन्न होनेवाले ज्ञान और सम्यक्त्व में कार्यकारणभाव कैसा ? इसका उत्तर देते हैं कि :-

यद्यपि ये दोनों सहभावी हैं - युगपत् उत्पन्न होनेवाले हैं फिर भी दीपक और प्रकाश की तरह से उनमें कार्य कारण भाव है। जिस प्रकार प्रदीप और प्रकाश साथ ही उत्पन्न होते हैं। फिर भी प्रदीप का प्रकाश कार्य होता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और ईज्ञान की समीचीनता अथवा ज्ञान इनको परस्पर में क्रम से कारण और कार्य समझना चाहिये। जैसा कि आगम में भी कहा है :-

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्।।

सम्यक्त्व और ज्ञान यद्यपि एक ही काल में उत्पन्न होनेवाले हैं; फिर भी उनमें दीपक

और प्रकाश की तरह से कारणता और कार्यता अच्छी तरह घटती है।

ज्ञान के बिना तप भी समीहित पदार्थों को सिद्ध नहीं कर सकता; यह दिखाते हैं :-

विभावमरुता विपद्वति चरद् भवाब्धौ सुरुक्,
प्रभुं नयति किं तपः प्रवहणं पदं प्रेप्सितम्।
हिताहितविवेचनादवहितः प्रबोधोन्वहं
प्रवृत्तिविनिवृत्तिकृद्यादि न कर्णधारायते।।१६।।

तप एक बडे भारी जहाज के समान है; क्योंकि वह अथाह संसारसमुद्र से पार पहुँचाने में कारण है। फिर भी रागद्वेषात्मक विभावभावों के आवेशरूपी वायु के द्वारा अनेक आपत्तियों से घिरे हुए संसाररूपी समुद्र में जब अत्यंत क्लेश को देते हुए इधर उधर चक्कर खाने लगता है - डगमगाने लगता है तब तरणकला में अत्यंत कुशल नाविक के समान यदि सम्यग्ज्ञान पास न हो तो क्या यह कहा जा सकता है कि, यह अपने स्वामी- मुमुक्षु तपस्वी को, दूसरे पक्ष में यात्री को, यथेष्ट स्थान पर या पद पर पहुँचा सकता है ? कभी नहीं। क्योंकि कर्णधार के समान यह सम्यग्ज्ञान ही निरंतर अप्रमत्त - सावधान रहता और अपने हिताहित के विवेक से प्रवृत्ति निवृत्ति कराता है। यह हित है ऐसा जताकर हितमें प्रवृत्ति करानेवाला और, यह अहित है ऐसा प्रकाशित कर उस अहित से निवृत्ति करानेवाला यह सम्यग्ज्ञान ही है।

भावार्थ :- सम्यग्ज्ञान के द्वारा सुप्रयुक्त ही तप अभीष्टस्थान या अर्थ को सिद्ध कर सकता है; अन्यथा नहीं।

सम्यग्दर्शन की तरह ज्ञान की भी उद्योतादिक पाँच आराधनाएँ हैं। उनमें से आदि की उद्योतन उद्यवन और निर्वहण इन तीन आराधनाओं का स्वरूप बताते हैं :-

ज्ञानावृत्त्युदयाभि[१]मात्युपाहितैः संदेहमोहभ्रमैः
स्वार्थभ्रंशपरैर्वियोज्य परया प्रीत्या श्रुतश्रीप्रियाम्।

१ - अभिमाति - शत्रु

प्राप्य स्वात्मानि यो लयं समयमप्यास्ते विकल्पातिगः
सद्यः सोस्तमलोच्चयश्चिरतपोमात्रश्रमैः काम्यते।।१७।।

जिस प्रकार कोई राजा अपनी प्रिया को शत्रुओं के भ्रष्ट करनेवाले साधनों से बचाकर और परम आनंद के साथ आलिंगन को प्राप्त कराकर कुछ काल के लिये अनिर्वचनीय आनंद को प्राप्त हो जाता है तो उसकी संसार में लोग प्रशंसा करते हैं। उसी प्रकार उद्योत आदि रूप से ज्ञान का आराधन करनेवाला जो मुमुक्षु साधु, आगम में बताई गई 'एको मे सासदो आदा' एक मेरा आत्मा ही शाश्वत है, इस तरह की श्रुतज्ञान की भावनारूपी वल्लभा को, जो कि अपने स्वामी को अत्यंत आनंद का कारण है, ज्ञानावरण कर्म के उदय से, जो कि एक अपकार के ही करने में उद्युक्त रहने के कारण शत्रु के समान है, प्राप्त हुए संदेह मोह और भ्रम - संशय अनध्यवसाय और विपर्यास से, जो कि जीवों के पुरुषार्थों का ध्वंस करने में ही तत्पर रहा करते हैं, बचाकर और परमोत्कृष्ट हर्ष के साथ अपने चित्स्वरूप में एकत्व परिणतिरूप आश्लेष को प्राप्त कराकर कुछ काल के लिये निर्विकल्प वासनाओं से रहित होकर - यह क्या है, किससे सिद्ध होता है, कहाँ रहता है, कब होता है, इत्यादि अंतर्जल्प से संबंध रखनेवालीं अनेक उत्प्रेक्षाओं के जाल से च्युत होकर परम आनंद का भोग कर लेता है; उसकी दूसरे लोग, जो कि केवल नय का ही अभ्यास करनेवाले हैं - ज्ञानाराधना से रहित केवल कायक्लेशादिके अनुष्ठान करने में ही जो चिरकाल तक परिश्रम करनेवाले हैं, प्रशंसा किया करते हैं। यह बड़ा अच्छा तप करनेवाला है ऐसा कहकर उसकी अनुमोदना किया करते हैं, और वैसा ही स्वयं होना चाहते हैं। क्योंकि इस तरह ज्ञानाराधन करनेवाला तपस्वी तत्क्षण - बहुत ही जल्दी अशुभकर्मों के संघात को निर्जीर्ण कर देता है। जैसा कि आगम में भी कहा है कि :-

जे अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ णिमिसद्धमित्तेण।।

जिन कर्मों को अज्ञानी सैंकड़ो हजारों अथवा करोडों भव में यद्वा लाखों कोटि

भव में भी नहीं खपा सकता, उन्ही कर्मों को ज्ञानी आधे निमिषमात्र में - बहुत ही थोड़े काल में तीनों गुप्तियों को धारण कर खपा देता है।

भावार्थ :- ज्ञान का आराधन किये बिना तप भी सफल नहीं हो सकता। अतएव तपस्वियों को उसका भी आराधन करना ही चाहिये। सम्यग्दर्शन की तरह सम्यग्ज्ञान की भी उद्योतादिक पाँच आराधनाएँ हैं। उनमें से आदि की तीन आराधनाओं का स्वरूप यहाँ पर बताया है। ज्ञानावरणकर्म के उदयजनित संदेहादिक से श्रुतभावना के बचाने को उद्योत, परम प्रमोद के साथ चित्स्वरूप में उस भावना के एकत्वपरिणति को प्राप्त करा देने को उद्यवन, और कुछ कालतक निर्विकल्प होकर उस भावना के द्वारा परमानंदरूप से ठहरने को निर्वहण कहते हैं।

अब यहाँ क्रमानुसार अंत की दोनों आराधनाओं का - साधन और निस्तरण का स्वरूप बताना चाहिये किंतु उसके पहले ज्ञानरूप प्रकाश की दुर्लभता प्रकट करते हैं :-

दोषोच्छेदविजृम्भितः कृततमश्छेदः शिवश्रीपथः
सत्त्वोद्बोधकरः प्रक्लृप्तकमलोल्लासः स्फुरद्वैभवः।
लोकालोकततप्रकाशविभवः कीर्तिं जगत्पावनीं
तन्वन् क्वापि चकास्ति बोधतपनः पुण्यात्मनि व्योमनि।।१८।।

बोध - सम्यग्ज्ञान को बिलकुल सूर्य के समान समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार सूर्य अपने कार्य दोषा - रात्रि के क्षय के करने में निरंकुशतया प्रवृत्त हुआ करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी संदेहादिक दोषों के उच्छेदरूप अपने कार्य के करनेमें स्वतंत्रतया प्रवृत्त हुआ करता है। जिस प्रकार सूर्य अंधकार का नाश करता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपने प्रतिबंधक कर्म के ध्वांत का ध्वंस करता है। जिस प्रकार सूर्य - शिवों - मुक्तात्माओं का [१] श्रीपथ - प्रधानमार्ग है उसी प्रकार ज्ञान भी शिवश्री मोक्षलक्ष्मी का मार्ग - प्राप्ति का उपाय हैं। जिस प्रकार सूर्य प्राणियों की निद्रा को दूर करके उद्बोध-जागृतता उत्पन्न करनेवाला है उसी प्रकार ज्ञान भी सत्त्व - सात्त्विकता गुण का उद्बोध करनेवाला

१ - इसका समर्थन अध्याय २ श्लोक ६५ में किया जा चुका है।

हैं - उसको अभिव्यक्त - प्रकाशित करनेवाला है जिस प्रकार सूर्य कमलों के उल्लास - विकास को प्रकाशित करनेवाला है उसी प्रकार ज्ञान भी कमला - लक्ष्मी की उद्गति - उद्भूति का करनेवाला है। अथवा क - आत्मा के मल - रागद्वेषादि विभावों के उद्भव को अच्छी तरह क्षीण नष्ट करनेवाला है। जिस प्रकार सूर्य लोकालोक- निषधाचलपर अपनी आलोकसंपत्ति को विस्तृत करता है उसी प्रकार ज्ञान भी लोक और अलोक दोनों के ऊपर, जिनका कि स्वरूप पहले बताया जा चुका है, अपना प्रकाश डालता है - उनको अच्छी तरह से विषय करता है - जानता है। जिस प्रकार सूर्य अपने [१] वैभव के द्वारा जगत् जनों के मन में अपूर्व चमत्कार उत्पन्न करता है - उसी प्रकार ज्ञान भी करता हैं। इसी तरह जिस प्रकार सूर्य जगत् को पवित्र करनेवाली कीर्ति भक्त पुरुषों के द्वारा की गई स्तुति को विस्तृत करता है उसी प्रकार ज्ञान भी लोकों के मल को दूर करनेवाली धर्मदेशनारूप वाणी को फैलाता है। इस तरह बिलकुल समानता को धारण करनेवाला यह ज्ञानरूपी सूर्य आकाश के समान किसी ही पवित्रात्मा में प्रकाशित - उदित हुआ करता है।

भावार्थ :- दोषोच्छेदकत्वादि विविध गुणों से युक्त सम्यग्ज्ञान का उत्पन्न होना बहुत ही कठिन है। वह एक अपूर्व प्रकाश के समान है। अतएव जिस प्रकार सूर्य किसी मलरहित विशेष नभोदेशमें ही उदय को प्राप्त हुआ करता है, उसी प्रकार उक्त अनेक गुणों से युक्त सम्यग्ज्ञान भी किसी ही पवित्रात्मा - सम्यग्दृष्टि के उत्पन्न हुआ करता है। इस तरह से ज्ञानरूपी प्रकाश से ही मुमुक्षुओं की अभीष्ट सिद्धि हो सकती है। अतएव उनको इसकी आराधना करनी चाहिये।

ज्ञान की साधन और निस्तरण नाम की आराधना का भी स्वरूप बताते हैं :-

निर्मथ्यागमदुग्धाब्धिमुद्धृत्यातो महोद्यमाः।
तत्त्वज्ञानामृतं सन्तु पीत्वा सुमनसोऽमराः।।१९।।

मंदराचल से क्षीर समुद्र की तरह शब्दतः और अर्थतः किये गये आक्षेप और समाधान

१ - तीन जगत् के आधिपत्य अथवा प्रभावविशेष को वैभव कहते हैं।

के द्वारा आगम - द्वादशांग श्रुत का भले प्रकार आलोडन करके उससे तत्त्वज्ञान - परमौदासीन्य ज्ञानरूपी अमृत को निकाल कर और उसका पान करके बढते हुए महान् उत्साह के धारक सुमना - मैत्री आदि भावनाओं से प्रसन्नचित्त रहनेवाले भव्य पुरुष अथवा देवगण अमरपद को प्राप्त हों।

भावार्थ :- इस तरह से निर्मथित आगमरूपी क्षीरसमुद्र से निकालकर तत्त्वज्ञानरूपी अमृत का पान करनेवाले मुमुक्षु जन्म-मरण और अपमृत्यु से रहित हो जाते हैं।

यहाँ पर आगम का अवगाहन कर तत्त्वज्ञान के निकालने को ज्ञान की साधनाराधना समझना चाहिये। क्योंकि समग्र द्रव्यागम के अवगाहन से उत्पन्न हुए भावागम का पूर्ण होना ही ज्ञान का उद्धार है, और ज्ञान - तत्त्वज्ञान परिणति के अनंतर अमरपद का प्राप्त होना ही निस्तरण है।

संयम का धारण करना अत्यंत कठिन है। फिर भी उसका पालन मन के निग्रह से उत्पन्न हुए स्वाध्यायोपयोग के द्वारा अच्छी तरह से हो सकता है। इस बात को मन की चंचलता का निरूपण करते हुए तीन श्लोकों में बताते हैं :-

लातुं वीलनमत्स्यवद्गमयितुं मार्गे विदुष्टाश्ववत्
न्निम्नाद्रोद्धुमगापगौध इव यन्नो वाञ्छिताच्छक्यते।
दूरं यात्यनिवारणं यदणुवद् द्राग्वायुवच्चाभितो
नश्यत्याशु यदब्दवब्दहुविधैर्भृतत्त्वा विकल्पैर्जगत्।।२०।।
नो मूकवद्वदति नान्धवदीक्षते य -
द्रागातुरं बधिरवन्न श्रुणोति तत्त्वम्।
यत्राऽयते यतवचो वपुषोपि वृत्तं
क्षिप्रं क्षरत्यवितथं तितवोरिवाम्भः।।२१।।
व्यावर्त्त्याशुभवृत्तितोसुनयवन्नीत्वा निगृह्य त्रपां
वश्यं स्वस्य विधाय तद्भृतकवत्प्रापय्य भावं शुभम्।
स्वाध्याये विदधाति यः प्रणिहितं चित्तं भृशं दुर्धरं
चक्रेशैरपि दुर्वहं स वहते चारित्रमुच्चैः सुखम्।।२२।।

जो मन पतले चिकने चमकीले और चपल शरीर के धारण करनेवाले मत्स्य की तरह सहसा पकडने में नहीं आ सकता। जिसका दुष्ट स्वभाववाले घोडे की तरह इष्ट और शिष्ट मार्ग पर चलाना अत्यंत कठिन है। जो पर्वत से गिरनेवाली नदियों के समूह की तरह वांछित किंतु निम्न - नीच स्थान - विषय की तरफ गिरने से रोका नहीं जा [१] सकता। जो परमाणु की तरह बेरोक होकर अत्यंत दूरवर्ती देशों में भी जाकर प्राप्त हो जाता है। जो वायु की तरह शीघ्र ही चारों तरफ फैल जाता और मेघों की [२] तरह नाना प्रकार के विकल्पों - चिंताओं के जाल से समस्त जगत को व्याप्त कर शीघ्र ही नष्ट हो जाता। जो राग से आतुर - इष्ट विषयों की रति से आक्रांत होकर वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को वचनशून्य - गूंगे मनुष्य की तरह कह नहीं सकता, और अंधे की तरह देख नहीं सकता, तथा बधिर मनुष्य की तरह उसको सुन भी नहीं सकता। जिसका कि नियंत्रण न करने पर वचन और काय का नियंत्रण करनेवाले का भी वृत्त-व्रत - समिति और गुप्तरूप समीचीन भी चारित्र इस तरह से निकल जाता है - नष्ट हो जाता है जैसे कि चलनी में से जल निकल जाया कर [३] ता है। और जिसका कि वश करना साधारण प्राणियों के लिये बहुत ही कठिन है। ऐसे भी मन को जो मुमुक्षु प्रमादचर्या कलुषता तथा विषयों की लोलुपता आदि व्यापारों से हटाकर और दुर्व्यवहार या दुर्जनपुरुष की तरह से उसका ज्ञानसंस्काररूपी दण्ड के बल से दमन करके तथा उसको लज्जा को प्राप्त कराकर, एवं खरीदे हुए दास गुलाम की तरह वश में करके प्रशस्त रागादिरूप भावों से युक्त कर और एकाग्र - अकंप या निश्चल बनाकर स्वाध्याय में - वाचना पृच्छना

---

१ - संसारी जीवों का मन प्राय: ऊंचे - अच्छे कामों की तरफ से गिरकर - हटकर नीच विषयों की तरफ ही जाया करता है। और उसकी सहसा उसको वह उन्मुखता छूट नहीं सकती।
२ - जिस प्रकार मेघ अनेक तरह के आकार रंग और परिमाण आदि के द्वारा आकाश को व्याप्त करता और शीघ्र ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मन भी कल्पनाराजा के द्वारा समस्त जगत् को व्याप्त करता - आशाओं और चिंताओं का विषय बनाता और फिर शीघ्र ही विलीन हो जाता है।
३ - तितओरिव पानीयं चारित्रं चलचेतसा:।
वचसा वपुषा सम्यक्कुर्वतोऽपि पलायते।।
वचन और शरीर के द्वारा भले प्रकार चारित्र का पालन करते हुए भी चंचलचितवाले मनुष्य से वह इस तरह पलायमान हो जाता है, जैसे कि चलनी से जल।

आदिरूप तप में लगा देता है वही पुरुष उत्कृष्ट चारित्र का - जिसका कि साधारण लोगों की तो बात ही क्या पूर्ण चक्रवर्ती भी पालन नहीं कर सकते, उस व्रत समिति और गुप्तिरूप तथा अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्तिरूप संयम का अच्छी तरह पालन कर सकता है।

भावार्थ :- मन यद्यपि अत्यंत चंचल है फिर भी उसका निग्रह करके यदि उसको स्वाध्यायरूप उपयोग में लगाया जाय तो उससे अत्यंत दुर्धर भी संयम की सिद्धि हो सकती है और सुख संवित्ति की प्राप्ति हो सकती है।

ध्यान को छोडकर बाकी जितने भी तप हैं उन सबमें स्वाध्याय ही एक ऐसा है जो कि आत्मा की उत्कृष्ट शुद्धि का कारण है। अतएव समाधिमरण की शुद्धि के लिये उसको नित्य ही करना चाहिये। ऐसा उपदेश देते हैं -

नाभून्नास्ति न वा भविष्यति तपःस्कंधे तपो यत्समं
कर्मान्यो भवकोटिभिः क्षिपति यद्योन्तर्मुहूर्तेन तत्।
शुद्धिं वानशनादितोऽमितगुणां येनाश्नुतेश्नन्नपि
स्वाध्यायः सततं क्रियेत स मृतावाराधनासिद्धये।।२३।।

अनशनादिक तप करके जो विशुद्ध परिणाम प्राप्त हो सकते हैं उनसे भी अनंतगुणी विशुद्धि को स्वाध्याय के द्वारा यह जीव प्रतिदिन भोजन करता हुआ भी प्राप्त कर लेता हैं। यथाशक्ति उपवासादि करते हुए यदि स्वाध्याय किया जाय तब तो बात ही क्या है। इसी तरह जिन कर्मों को दूसरे तपोनिधि करोडों भव में निर्जीर्ण कर सकते हैं उन्ही कर्मों को यह स्वाध्याय केवल अंतर्मुहूर्त में - कुछ कम दो घडी मात्र काल में खिपा देता है। तथा यह स्वाध्याय एक अपूर्व ही तप है; जो कि अनेक अतिशयों से युक्त है। जैसा कि पहले बताया भी जा चुका है। अनशनादिक छह प्रकार के बाह्यतप और प्रायश्चितादिक पाँच प्रकार के अंतरङ्गतप इन सब में इस स्वाध्याय के समान न तो कोई तप हुआ, न है, न होगा। अतएव मरण समय में आराधना की सिद्धि के लिये - सम्यग्दर्शनादि परिणामों में सातिशय वृत्ति की प्राप्ति के लिये मुमुक्षु जीवों को नित्य ही स्वाध्याय करना चाहिये।

भावार्थ :- ज्ञानाराधना के अनेक फलों में एक बड़ा भारी फल समाधिमरण की

सिद्धि भी है। किंतु वह तभी सिद्ध हो सकता है जब कि प्रतिदिन उसका आराधन किया जाय। अतएव मुमुक्षुओं को नित्य ही स्वाध्याय - ज्ञान का आराधन करना चाहिये।

श्रुतज्ञान की आराधना परंपरा से मोक्ष का कारण है ऐसा बताते हैं :-

श्रुतभावनया हि स्यात् पृथक्त्वैकत्वलक्षणम्।
शुक्लं ततश्च कैवल्यं ततश्चान्ते पराऽच्युतिः।।२४।।

श्रुतभावना - व्यग्रतारहित ज्ञान की अपेक्षा स्वाध्याय से और एकाग्र ज्ञान की अपेक्षा धर्मध्यान से पृथक्त्ववितर्कवीचार और एकत्ववितर्कवीचार नाम के दोनों शुक्लध्यान संपन्न हुआ करते हैं। और इन दोनों का कैवल्य के साथ हेतुहेतुमद्भाव है। अतएव दोनों शुक्लध्यानों से कैवल्य - असहाय ज्ञानदर्शनरूप पर्याय की निष्पत्ति हुआ करती है। और इस पर्याय के प्राप्त हो जानेपर अंत में - संसार का अभाव हो जानेपर परम मुक्तिपद की प्राप्ति हुआ करती है। अथवा अंत शब्द का अर्थ मरण भी होता है। सो भी यहाँ घटित हो सकता है; क्योंकि पंडित - पंडित मरण के द्वारा ही निर्वृत्ति की प्राप्ति हुआ करती है।

भावार्थ :- स्वाध्याय से धर्मध्यान और उससे पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका शुक्लध्यान और उससे एकत्ववितर्कवीचार नामका दूसरा शुक्लध्यान निष्पन्न हुआ करता है। क्योंकि हेतहेतुमद्भाव ऐसा ही है। द्वितीय शुक्लध्यान होनेपर अनंतज्ञानादि चतुष्टयरूप जीवन्मुक्ति और उसके बाद क्रम से सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति नाम के दोनों सातिशय शुक्लध्यान प्रवृत्त हुआ करते हैं। इसके भी बाद - सबके अंत में समस्तकर्मों का क्षय हो जानेपर अनंत सम्यक्त्व प्रभृति अष्टगुणविशिष्ट अवस्थाविशेषरूप परममुक्ति की सिद्धि हुआ करती है। इस प्रकार श्रुतभावना का परंपराफल मोक्ष है।

इति श्री परमपूज्य धर्मसाम्राज्यनायक योगींद्रचूडामणि सिद्धांतपारंगत, चारित्रचक्रवर्ती
श्री १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के आदेश से ज्ञानदान के लिये
श्री प. पू. चा. च. आ. श्री १०८ शांतिसागर दिगंबर जैन जीर्णोद्धारक
संस्था की ओर से छपे हुए श्री महापण्डित श्री आशाधरकृत
अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका विषैं
तृतीय अध्याय संपूर्ण भया।।३।।
ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण वीर नि. सं. २४८१

श्री वीतरागाय नमः

(वीर संवत् २४८१) ।।ॐ नमः सिद्धेभ्यः।। (ग्रंथ प्रकाशन, समिति फलटण

।।महापंडित श्री आशाधर कृत अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका।।

(चारित्राराधना)

अब चारित्राराधना क्रम से प्राप्त है। अतएव उसीके प्रति मुमुक्षुओं को उत्साहित करते हैं।

सम्यग्दृष्टिसुभूमिवैभवलसद्विद्याम्बुमाद्यद्दया -
मूलः सद्व्रतसुप्रकाण्ड उदयद्गुप्त्यग्रशाखाभरः
शीलोद्यद्विटपः समित्युपलतासंपद्गुणोद्भोद्गम -
श्छेत्तुं जन्मपथक्लमं सुचरितच्छायातरुः श्रीयताम्।।१।।

दर्शनविशुद्धिरूपी प्रशस्त भूमि के [१] वैभव से स्फुरायमानता को प्राप्त होते हुए समीचीन श्रुतज्ञानरूपी जल से जिसका [२] दयारूपी मूल अपना कार्य करने के लिये उद्दृप्त रहा करता

---

१ - उस प्रभाव अथवा अचिंत्य शक्तिविशेष को यहाँ पर वैभव समझना चाहिये जो कि अपना कार्य करने में समर्थ है।

२ - दुःखों से पीडित हुए प्राणियों के त्राण की अभिलाषा को दया कहते हैं।

है, समीचीन व्रतों का समूह ही जिसका सुंदर प्रकाण्ड - स्कंध है, और जिसकी गुप्तिरूपी अग्रशाखाओं का भार उदय को प्राप्त - उच्छ्रित रहा करता है, एवं शीलव्रतों का रक्षण ही जिसका विटप - विस्तार है, तथा समितिरूपी उपलताएँ - छोटी छोटी शाखाएँ ही जिसकी संपत्ति है और अनेक प्रकार के उत्पन्न होनेवाले गुण ही जिसके प्रशस्त पुष्प हैं; ऐसे सम्यक्चारित्ररूपी छायावृक्ष का, सम्यक्त्व और ज्ञान का आराधन करनेवाले मुमुक्षुओं को जन्म - जन्ममरण - संसाररूपी मार्ग में चलने के कारण उत्पन्न हुए श्रम - ग्लानि को दूर करने के लिये अवश्य ही सेवन करना चाहिये।

भावार्थ :- 'मैं समस्त सावद्ययोग से विरत हूँ।' इस तरह के सामायिक भाव को ही सम्यक्चारित्र समझना चाहिये। आजकल के ऋषियों वा व्रतियों की अपेक्षा से इस विषय में और जो कुछ कहा गया है वह सब छेदोपस्थापनारूप से इसीका विस्तार है। यह सम्यक्चारित्र छायावृक्ष के समान है। क्योंकि संसारमार्ग के संवरण से उत्पन्न हुए श्रम और ग्लानि की निःशेष शांति इसीसे हो सकती है। सूर्य के फिर जानेपर भी जिसकी छाया नहीं फिरती ऐसे तरु को [१] छायावृक्ष कहते हैं। जिस प्रकार वृक्ष के पल्लवित होने में उत्तम भूमि और जल ये दो प्रधान कारण हैं उसी प्रकार सम्यक्चारित्र के भी समृद्ध होने में सम्यक्त्व और ज्ञान की आराधनाएँ - दर्शनविशुद्धि और श्रुताभ्यास ये दो मुख्य कारण हैं। इसके होनेपर ही चारित्र की मूल दया से अनेक अहिंसादि सद्व्रतों का स्कंध प्रादुर्भूत हो सकता है और उसमें से फिर [२] गुप्तिरूपी गुद्दे - बडी बडी शाखाएँ निकल सकती हैं, जिनमें से कि सुरक्षित रहनेपर [३] समितिरूपी अनेक छोटी छोटी शाखाएँ - टहनियाँ निकलकर उस वृक्ष की संपत्ति को बढाती हैं। और अंत में उस वृक्ष पर अनेक गुणरूपी सुंदर फूल फूलते हैं। जो मुमुक्षु उक्त सांसारिक क्लेद को दूर करना चाहते हैं उन्हे चाहिये कि वे इस सुंदर शीतल सघन सुगंधित तरु की अवश्य ही सेवा करें।

सम्यक्त्व और ज्ञान के पूर्ण हो जानेपर भी जबतक चारित्र पूर्ण नहीं होता तबतक उस जीव को परममुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसी बात को बताते हैं :-

---

१ - अत्यंत सघन। २ - समीचीन योगनिग्रह का नाम गुप्ति है। ३ - आगम में बताये हुए क्रम के अनुसार की गई प्रवृत्ति को समिति कहते हैं।

परमावगाढसुदृशा परमज्ञानोपचारसंभृतया।
रक्तापि नाप्रयोगे सुचरितपितुरीशमेति मुक्तिश्री।।२।।

परमज्ञान - केवलज्ञानरूपी उपचार - सत्कार के द्वारा संभृत - सत्कृत - अच्छी तरह पुष्ट परमावगाढ सम्यग्दर्शन - अचल क्षायिक सम्यक्त्ववृत्तिरूप अतिचतुर दूती के द्वारा अनुकूल की गई भी मुक्तिश्री - परममुक्ति - शरीररहित अनंतसम्यक्त्वादि गुणसंपित्त को जबतक समस्त मोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने के कारण निरंतर निर्मलस्वरूप के धारण करनेवाला आत्यंतिक समीचीन क्षायिकचारित्ररूपी पिता दान नहीं कर देता तबतक वह (गुणसंपत्ति) जीवन्मुक्त के पास गमन नहीं करती।

भावार्थ :- जिस प्रकार अनेक सत्कारोपचार के द्वारा जिसका मनोरथ अच्छी तरह पूर्ण कर दिया गया है ऐसी अतिचतुरदूती के द्वारा संभोग के लिये आकुलित भी कुल कन्या तबतक अपने उस अभीष्ट नायक से अभिगमन नहीं करती जबतक कि उसका पिता उसको दान नहीं कर देता। इसी प्रकार केवलज्ञान ने जिसमें अत्यंत अतिशय उत्पन्न कर दिया है ऐसे परमावगाढ सम्यग्दर्शन ने यद्यपि उस परममुक्ति को अवश्य प्राप्य बना दिया है; फिर भी जबतक अघातिकर्मों की निर्जरा के कारणभूत समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति नाम का परमशुक्लध्यान होकर क्षायिकचारित्र संपूर्ण नहीं हो जाता तबतक अपने उस जीवन्मुक्तरूपी शान्तोदात्त नायक का वह आलिंगन नहीं करती। इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि परममुक्ति का साक्षात् कारण परम चारित्र का आराधन ही है।

ऊपर पहले श्लोक में सम्यगग्दर्शन के द्वारा स्फुरायमान होनेवाले श्रुतज्ञान के विषय में जो कुछ कहा है उसका यहाँ विशेष समर्थन करते हैं :-

ज्ञानमज्ञानमेव स्याद्विना सद्दर्शनं यथा।
चारित्रमप्यचारित्रं सम्यग्ज्ञानं विना तथा।।३।।

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान ज्ञान नहीं, अज्ञान ही रहता है; उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र भी अचारित्र ही माना जाता है।

भावार्थ :- सम्यक्चारित्र की समृद्धि में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दो प्रधानकारण हैं; यह बात पहले लिखी जा चुकी है। इसीका समर्थन करने के लिये यहाँ कहते हैं

कि इन दोनों के बिना चारित्र में समीचीनता भी उत्पन्न नहीं हो सकती। क्योंकि चारित्र में समीचीनता उत्पन्न कर उसको सफल बनाने के प्रति सम्यग्ज्ञान में जो कार्यकारिणी शक्ति है वह सम्यग्दर्शन के बिना स्फुरायमान नहीं हो सकती।

इसी बात का फिर भी समर्थन करते हैं :-

हितं हि स्वस्य विज्ञाय श्रयत्यहितमुज्झति।
तद्विज्ञानं पुरद्वारि चारित्रस्यद्यमाघ्नतः।।४।।

मुमुक्षु जीव आत्मा के हित - सम्यग्दर्शनादि को अच्छी तरह समझ करके ही उसके सेवन करने में और अहित - मिथ्यादर्शनादिक को जानकर उसके छोडने में प्रवृत्त हुआ करता है, - अन्यथा नहीं। यह प्रवृत्ति ही सम्यक्चारित्र है जो कि समस्त कर्मों को निर्मूलन करनेवाली है। अतएव यह बात स्वयंसिद्ध हो जाती है कि हित और अहित के ज्ञानपूर्वक ही परमार्थतः चारित्र हुआ करता है। और ऐसा होनेपर ही वह अपना कार्य-कर्मक्षय संपन्न कर सकता है। अतएव सम्यग्दर्शन और ज्ञान का आराधन करके ही चारित्र के आराधन करने में प्रवृत्त होना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र का पालन करने में प्रयत्न करनेवाला जगत् पर विजय प्राप्त कर लेता है, ऐसा निरूपण करते हैं :-

देहेष्वात्ममतिर्दुःखमात्मन्यात्ममतिः सुखम्।
इति नित्यं विनिश्चिन्वन् यतमानो जगज्जयेत्।।५।।

जो मुमुक्षु सदा इस बात का निश्चय रखता है कि शरीर में आत्मबुद्धि दुःख या दुःख का कारण है और आत्मा में आत्मबुद्धि रखना सुख अथवा सुख का कारण है, वही अपने उस निश्चय के अनुसार परद्रव्य से निवृत्ति और शुद्ध निज आत्मस्वरूप में प्रवृत्तिरूप प्रयत्न कर समस्त जगत् पर विजय - सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ :- शरीर औदारिकादिक पाँच प्रकार के हैं। इनमें से किसीके औदारिक

तैजस कार्मण अथवा वैक्रियिक तैजस कार्मण ये तीन होते हैं और किसीके औदारिक आहारक तैजस कार्मण इस तरह चार होते हैं। इनमें से स्व या पर जहां जिसके जैसे संभव हों उनमें आत्मप्रत्यय का होना - ये ही मैं हूँ और मैं ही ये हैं - इस तरह की कल्पना ही दु:ख - संसार अथवा उसका कारण है। और उसके विरुद्ध आत्मा में आत्मप्रत्यय होना - मैं मैं ही हूँ और पर पर ही है - इस तरह की कल्पना सुख तथा सुख का कारण है। ऐसा निश्चय होना ही सम्यग्ज्ञान है। जो मुमुक्षु अपने इस भेदविज्ञान के अनुसार चारित्र का आराधन करता है। वही चारित्र को सफल बना सकता और सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है।

सम्यक्चारित्ररूपी छायावृक्ष का मूल दया है ऐसा पहले बता चुके हैं। इसी बात का विशेषरूप से समर्थन करते हैं और बताते हैं कि बिना दया के सच्चरित्र हो ही नहीं सकता :-

यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुतः।
न हि भूतद्रुहां कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत्।।६।।

जिन मनुष्यों के हृदय में मुख्य अथवा आरोपित प्राणियों के त्राणरूप करुणा परिणाम नहीं है उनके समीचीन चारित्र किस तरह हो सकता है ! क्योंकि इस चारित्ररूप धर्म का मूल दया है। जो व्यक्ति जंतुओं से द्रोह करता है - उनको कष्ट देता अथवा उनका वध करना चाहता है उसका कोई भी काम कल्याणकर नहीं हो सकता।

भावार्थ :- दयाशून्य व्यक्ति के स्नान देवार्चन और दानाध्ययनादिक सभी कार्य धर्म या कल्याण के कारण नहीं हो सकते। मूल के बिना फल किस तरह प्राप्त हो सकता है ? नहीं हो सकता।

सदय और निर्दय व्यक्ति में कितना अंतर है सो बताते हैं -

दयालोरव्रतस्यापि स्वर्गतिः स्याददुर्गतिः।
व्रतिनोपि दयोनस्य दुर्गतिः स्याददुर्गतिः।।७।।

दयालु पुरुष यदि व्रताचरण नहीं भी करता तो भी उसके लिये स्वर्गति अदुर्गति सहज है। व्रतरहित भी सदय व्यक्ति को दैवपर्याय अथवा वैसी ही और कोई भी अन्य उत्कृष्ट अभ्युदय की प्राप्ति कष्टसाध्य नहीं - सुलभ है। एवं इसके विरुद्ध जो व्रतों का तो पालन करता है - दैवार्चन या उपावासादिक तो खूब करता है किंतु दया से शून्य है - जिसका हृदय सदय नहीं है तो, उसके लिये दुर्गति नरकादिक पर्याय अदुर्गति - सुलभ है।

भावार्थ :- सदय और निर्दय में यही अंतर है कि पहले को तो बिना साधन किये भी उत्तम फल प्राप्त हो सकता है और दूसरे को साधन करने पर भी उत्तम फल प्राप्त नहीं हो सकते; किंतु उल्टा फल प्राप्त हो जाता है।

निर्दय व्यक्ति के तपश्चरणादिक व्यर्थ हैं, और दयालु को पालन न करने पर भी उनका फल प्राप्त होता है, यही बात दिखाते हैं :-

तपस्यतु चिरं तीव्रं व्रतयत्वतियच्छतु।
निर्दयस्तत्फलैर्दीनः पीनश्चैकां दयां चरन्।।८।।

निर्दय व्यक्ति चिरकाल तक तपश्चरण करे - सैंकड़ो वर्ष तक अनशन अवमोदर्य या वृत्तिपरिसंख्यानादिक करता रहे, तथा व्रतों का भी वह चाहे जितना - घोर अनुष्ठान करे, एवं दान भी वह चाहे जितना ही क्यों न दे; फिर भी वह उन कार्यों तपश्चरण व्रत दानादिकों के फल से दीन - रिक्त - कोरा ही रहता है। किंतु इसके विरुद्ध तपश्चरणादिरहित परंतु एक दया का पालन - सेवन करनेवाला उन (दानादि) के फलों से पीन - पुष्ट हो जाता है।

जिसका हृदय सदा दया से आर्द्र रहा करता है और जो नृशंस - क्रूर व्यक्ति है उन दोनों ही का सिद्धि के लिये क्लेश उठाना व्यर्थ है। यही बात बताते हैं :-

मनो दयानुविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये।
मनोऽदयानुविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये।।९।।

हे मुमुक्षो ! भव्य ! यदि तेरा मन दया से अनुविद्ध है, यदि उसमें करुणापरिणामों की भावना दी गई है तो सिद्धि के लिये जो तू इतना क्लेश उठाता है सो व्यर्थ है; क्योंकि सिद्धि का सिद्ध होना एक दयाभाव पर ही निर्भर है। इसी प्रकार तेरा यदि वह मन दया से रहित है तो भी सिद्धि के लिये तेरा क्लेश उठाना व्यर्थ ही है। क्योंकि निर्दय व्यक्ति के केवल कायक्लेशादिक से वह सिद्धि सिद्ध नहीं हो सकती।

विश्वास और त्रास का मूल क्रम से सदय और निर्दय परिणाम हैं ऐसा सूचित करते हैं -

विश्वसन्ति रिपवोपि दयालोर्विन्त्रसन्ति सहृदोप्यदयाच्च।
प्राणसंशयपदं हि विहाय स्वार्थमीप्सति ननु स्तनपोपि।।१०।।

दया पर प्राणी का रिपुगण - अपकार करनेवाले भी विश्वास करते हैं। किंतु जो निर्दय है उससे मित्रगण - उपकार करनेवाले भी डरते हैं। क्योंकि वे सोचते हैं कि कहीं हमारे उपकार का बदला उल्टा ही न निकले। ठीक ही है - जो बालक है वह भी-सांसारिक व्यवहार को न जाननेवाला छोटा सा बच्चा भी 'अभीष्ट सिद्धि के लिये अमुक कार्य में मैं जो प्रवृत्ति कर रहा हूँ उसमें मेरे प्राण रहेंगे या जायेंगे' इस तरह के संदेह को छोडकर अपना इष्ट विषय ही प्राप्त करना चाहता हैं।

भावार्थ :- दयालु के पास जाने में प्राणों का संदेह नहीं है और सिद्धि की आशा है। किंतु निर्दय के पास यह बात नहीं है। उसका स्वभाव दयालु से उल्टा ही है। अतएव उससे सब डरते हैं।

दयार्द्र मनुष्य पर यदि कोई किसी प्रकार के दोष का आरोप लगाता है तो उससे उसका कुछ अपकार नहीं होता किंतु उल्टे उससे अनेक प्रकार के उपकार होते हैं, यही बात दिखाते हैं -

क्षिप्तोपि केनचिद्दोषो दयार्द्रे न प्ररोहति।
तक्रार्द्रे तृणवत्किंतु गुणग्रामाय कल्पते।।११।।

जिस प्रकार छाछ से भीगी हुई जमीन पर तृण का अंकुर ऊग नहीं [१] सकता उसी प्रकार दयार्द्र - जिसका हृदय सदा करुणापरिणामों से मृदु रहा करता है उस पर यदि कोई असहिष्णु व्यक्ति प्राणिवध झूठ चोरी या पिशुनता आदि अपवादों में से किसी भी प्रकार का आरोप लगावे तो वह ऊग नहीं सकता - ठहर नहीं सकता - संसार में अपकीर्ति दुर्गति आदि फल नहीं दे सकता। किंतु उससे उसके अनेक प्रकार के गुण - उपकार प्रकट हुआ करते हैं। उससे उसके अशुभकर्मों की निर्जरा होती अथवा सत्पुरुषों की सभा में उसकी साधुता प्रसिद्ध होती, यद्वा जनता में प्रमाणता प्रख्यात होती है। एवं उस क्षेत्र के अधिष्ठाता देव उसका पक्षपात कर साहाय्य भी किया करते हैं।

भावार्थ :- दयालु पुरुष पर किसी प्रकार का अपराध नहीं लग सकता। किंतु जो निर्दय है उसके सिरपर दूसरे पर लगाया हुआ अपराध भी आ पडता है; ऐसा आश्चर्य के साथ दृष्टांतपूर्वक बताते हैं :-

अन्येनापि कृतो दोषो निस्त्रिंशमुपतिष्ठते।
तटस्थमप्यरिष्टेन राहुमर्कोपरागवत्।।१२।।

दूसरे के द्वारा किया गया दोष - अपराध, तटस्थ भी निर्दय व्यक्ति के सिर आ पडता है। जिस तरह से कि अरिष्ट - विमान के द्वारा होनेवाला अर्कोपराग - सूर्यग्रहण राहु के सिर पडता है।

भावार्थ :- सूर्यग्रहण राहु के द्वारा होता है, यह बात जगत् में प्रसिद्ध है। किंतु वह होता है वस्तुतः राहु के तटस्थ [१] समान मंडलवाले अरिष्ट विमान के आच्छादन से यथा :-

राहुस्स अरिट्ठस्स य किंचूणं जोयणं अधोगंता।
छम्मासे पव्वंतो चंदरविं छादयन्ति कमा।।

---

१ - न विरोहंति गुदजाः पुनस्तक्रसमाहताः। निषिक्तं तद्धि दहति भूमावपि तृणोपलम्।।
कोई भी रोग छाछ का सेवन करने पर अंकुरित - उत्पन्न नहीं हो सकते। यदि भूमि पर उसको सीचा जाय तो वह वहां की घास को भी जला देती है।

चंद्रमा और सूर्य के कुछ कम एक योजन नीचे राहु और अरिष्ट का विमान है जो कि क्रम से छह महीने बाद पर्व के अंत में चंद्रमा और सूर्य का आच्छादन करते हैं। और भी कहा है कि :-

राहुअरिट्ठविमाणद्धयादुवरि पमाणअंगुलचउक्कं।
गंतूण ससिविमाणा सूरविमाणा कमे होंति।।

राहु और अरिष्ट के विमान स्थान से चार प्रमाणांगुल ऊपर क्रम से चंद्रमा का विमान और सूर्य का विमान है। इस आगम कथन से सिद्ध है कि अरिष्ट का दोष तटस्थ राहु को लगता है। इसी प्रकार निर्दय पुरुष चाहे वह तटस्थ निकटवर्ती अथवा उदासीन ही क्यों न हो, उसको दूसरे का भी दोष [२] लग जाता है।

जिस जीव का एक बार कोई अपकार करे तो वह अपने उस अपकर्ता का अनेक वार अपकार करता है यह बात दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं :-

विराधकं हन्त्यसकृद्विराद्धः सकृदप्यलम्।
क्रोधसंस्कारतः पार्श्वकमठोदाहृतिः स्फुटम्।।१३।।

एक बार भी यदि किसी जीव का अपकार किया जाय तो अनंतानुबंधी क्रोध के संस्कार - वासना के वश होकर वह जीव अपने उस अपकर्ता का अनेक बार अपकार

---

१ - यहाँ पर ग्रंथकार ने राहु को अरिष्ट का तटस्थ जो बताया है सो दोनों का समान मंडल है इसलिये बताया है न कि एक क्षेत्र की अपेक्षा। क्योंकि दोनों के क्षेत्र में बहुत अंतर है। आगम प्रमाण में भी जो चंद्रमा और सूर्य के नीचे राहु और अरिष्ट का विमान बताया है उसका भी अर्थ चंद्रमा के नीचे राहु और सूर्य के नीचे अरिष्ट विमान है। क्योंकि ग्रंथान्तरों में सूर्य से अस्सी योजन ऊपर चंद्रमा का विमान बताया है। यथा :-

णवदुत्तरसत्तसया दससीदीचदुदुगतियचउक्कं
तारा रवि ससि रिक्खा बुह भागव अंगिरारसणी

२ - 'नामी चोरे मारा गया'

करता है। इसके लिये उदाहरण ढूँढने की आवश्यकता नहीं, पार्श्व और कमठ का उदाहरण स्पष्ट है।

भावार्थ :- जिसका अपकार किया जाता है उसके मन में बहुधा ऐसा कषाय का संस्कार जम जाता है जो कि अनंतभव में भी नहीं छूटता। और जब मौका पाता है तभी उस कषाय के वश होकर वह जीव उससे बदला लेना चाहता है। पार्श्वनाथ भगवान् तेईसवें तीर्थंकर के जीव ने मरुभूति के भव में अपने बडे भाई कमठ का अपकार भी नहीं किया था। फिर भी अपकार समझकर उसके मन में जो कषायवासना जम गई और उसके अनुसार समय समय पर जो उसने अपराध किये सो सब पुराणों में स्पष्ट हैं। अतएव किसी भी जीव का कभी भी एक बार भी अपकार नहीं करना चाहिये।

जो व्यक्ति सदा दया की भावना - अनुस्मरण करनेवाली है उसको परम प्रमोदरूप फल प्राप्त होता है ऐसा उपदेश देते हैं :-

तत्त्वज्ञानच्छिन्नरम्येतरार्थप्रीतिद्वेषः प्राणिरक्षामृगाक्षीम्।
आलिङ्ग्यालं भावयन्निस्तरङ्गस्वान्तः सान्द्रानन्दमङ्गत्यसङ्गः।।१४।।

मनोज्ञ और अमनोज्ञ पदार्थों में क्रम से होनेवाले राग और द्वेष का जो व्यक्ति - परिग्रह रहित यति तत्त्वज्ञान के द्वारा नष्ट करके और मनको निर्विकल्प बनाकर प्राणिरक्षा-दयारूपी मृगाक्षी - मृगनयनी का उसके गुणों का पुनः पुनः स्मरण करता हुआ आलिङ्न करता है वह अत्यंत निबिड आनंद को प्राप्त होता है।

भावार्थ :- दया के द्वारा आनंद फल प्राप्त करनेवाले को असङ्ग शब्द से जो कहा है उसका अभिप्राय अचेतन परिग्रहों में से जितने का त्याग किया जा सके उतने का त्यागी किंतु जिनका वह त्याग न कर सके उनके विषय में ममत्त्व का त्याग करनेवाला हैं। इसी प्रकार दया को मृगनयनी - कामिनी कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कामिनी का प्रत्येक अंग आनंदोत्पादक होता है उसी प्रकार दया का भी प्रत्येक अंश सुखावह होता है।

इस उक्त दयाधर्म की रक्षा के लिये विषयत्याग करने का उपदेश देते हैं :-

सद्वृत्तकन्दलीं काम्यामुद्भेदयितुमुद्यतः।
यैश्छिद्यते दयाकन्दस्तेऽपोह्या विषयाखवः।।१५।।

मुमुक्षुओं को वे विषयरूपी मूसे दूर ही से बिडारदेने चाहिये, जो कि उन भव्यों को स्पृहणीय सम्यक्चारित्ररूपी कंदली को आविर्भूत करने के लिये उद्यत हुए दयारूपी कंद को छिन्न भिन्न कर डालते हैं।

भावार्थ :- मुमुक्षुओं को इसके लिये सदा सावधान होकर प्रयत्न करना चाहिये कि अभीष्ट चारित्र की मूल दया को कहीं ये विषयरूपी मूसे न कुतर जाय।

इन्द्रियों में जो विवेक को नष्ट करने की सामर्थ्य है उसको बताते हैं :-

स्वार्थरसिकेन ठकवद्विकृष्यतेऽक्षेण येन तेनापि।
न विचारसंपदः परमनुकम्पाजीवितादपि प्रज्ञा।।१६।।

स्वार्थ लंपट ठगों के समान, अपने विषयों में लोलुपता रखनेवाली जो इन्द्रियाँ प्रज्ञा - यथावत् अर्थ के ग्रहण करने की शक्ति को धारण करनेवाली विशिष्ट बुद्धि को उसकी विचारसंपत्ति से दूर कर देती हैं। वे अपने निमित्त के वश बल पाकर, इतना ही नहीं - उस प्रज्ञा की विवेकश्री का अपहरण ही नहीं करती किंतु अनुकंपा दया से भी उसको रहित कर देती हैं; जो कि उसका जीवन है।

भावार्थ :- जिस प्रकार कोई ठग अपना काम - स्वार्थ सिद्ध करने के लिये किसी अतिविदग्ध भी स्त्री की संपत्ति भूषणादिका अपहरण कर लेता और अंत में उसको जीवनरहित बना देता है। उसी प्रकार विषयलोलुप इन्द्रियाँ विशिष्ट भी बुद्धि की संपत्ति - युक्तायुक्त की विवेकशक्ति को अपहरण कर लेती और अंत में उसको करुणा - परिणाम से भी प्रच्युत कर मिथ्यात्वदशा को प्राप्त करा देती हैं। अतएव मुमुक्षुओं को सदा इन्द्रियों पर

विजय प्राप्त करनेके ही लिये प्रयत्न करना चाहिये।

विषयी पुरुष की दुर्गति दिखाते हैं :-

विषयामिषलाम्पट्यात्तन्वन्नृजु नृशंसताम्।
लालामिवोर्णनाभोऽधः पतत्यहह दुर्मतिः।।१७।।

इष्ट विषयविशेष आमिष - मांस की लंपटता - लोलुपता से जो दुर्मति - विषयाभिलाषा से दूषित हो गई है धिषणा - बुद्धि जिसकी ऐसा पुरुष सामने ही नृशंसता को बढाता है, आह ! कितने कष्ट की बात है कि, वह अपनी लाला -लार को बढानेवाले ऊर्णनाभ कीडे - मकडी की तरह अधोगति - नरकादिक में ही जा पडता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार मकडी प्राणिभक्षण के अभिप्राय से अपने मुख से ही लार निकाल कर जाल पूरती है किंतु स्वयं उसमें फँस जाती और लटक रहती है। उसी प्रकार मांस का लोलुपी मनुष्य नृशंसता करने के कारण स्वयं ही अधोगति को प्राप्त हो जाता है।

जो विषयों से निस्पृह रहता है उसके इष्ट की सिद्धि होती है
ऐसा बताते हैं :-

यथाकथंचिदेकैव विषयाशापिशाचिका।
क्षिप्यते चेत्प्रलप्यालं सिध्यतीष्टमविघ्नतः।।१८।।

अधिक कहने से क्या प्रयोजन ? क्योंकि और अधिक बोलना प्रलाप ही समझा जायगा। अतएव इतना कह देना ही पर्याप्त है कि मोक्षार्थी भव्य एक विषयाशा इन्द्रियों के अभीष्ट विषयों की लिप्सारूपी पिशाची - चुडेल का ही यदि किसी तरह से - ज्ञानाराधना से वैराग्य भावना से अथवा अन्य किसी उपाय से निराकरण कर दे - उसको दूर कर दे तो उनका अभीष्ट - प्रकृत में सम्यक्चारित्र का मूलभूत दयाधर्म निर्विघ्नतया - अच्छी

तरह सिद्ध हो जाय। क्योंकि उसकी सिद्धि का एकमात्र निबंधन विषयनिस्पृहता ही है।

इस अध्याय और प्रकरण के प्रारंभ में सुचारित्ररूपी छायावृक्ष का मूल दया और स्कंध समीचीन व्रत हैं; सो बता चुके हैं। उसमें से दयामूल का समर्थन किया। अब समीचीन व्रत क्रमप्राप्त हैं। अतएव व्रतों का स्वरूप बताते हैं :-

हिंसाऽनृतचुराऽब्रह्मग्रंथेभ्यो विरतिर्व्रतम्।
तत्सत्सज्ज्ञानपूर्वत्वात् सद्दृशश्चोपबृंहणात्।।१९।।

हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों से उपरति होने को - मन वचन काय और कृति कारित अनुमोदना के द्वारा इन पापों के छोडने को [१] व्रत कहते हैं। ये व्रत सम्यग्ज्ञानपूर्वक होते हैं, इनके उत्पन्न होने में सम्यग्ज्ञान कारण है। तथा इनके द्वारा सम्यग्दर्शन की वृद्धि होती है। अतएव ये समीचीन या प्रशस्त कहे जाते हैं।

हिंसादि पापों का विशेष लक्षण आगे चलकर लिखेंगे। फिर भी सामान्य से इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि प्रमाद के संबंध प्राणों के व्यपरोपण को हिंसा, असमीचीन वचनों को झूठ, विना दी गई वस्तु के ग्रहण करने को चोरी, मैथुनकर्म को कुशील और मूर्च्छापरिणामों को परिग्रह अथवा ग्रंथ कहते हैं।

इन व्रतों में से पहला अहिंसा व्रत समस्त जीवों के विषय में हुआ करता है। और अचौर्य तथा परिग्रहत्याग समस्त द्रव्य के विषय में हुआ करता है। एवं सत्यव्रत और मैथुनत्याग द्रव्य के एक देश में हुआ करते है। जैसा कि आगम में भी कहा है; -

पढमह्मि सव्वजीवा विदिये चरिमे य सव्वदव्वाणि।
सेसा महव्वदा खलु तदेकदेसह्मि दव्वाणं।।

समस्त जीव पहले व्रत के विषय हैं, तीसरा और अंतिम व्रत समस्त द्रव्यों के विषय

---

१ - ये पाँचो ही व्रत दो प्रकार के हैं - महाव्रत और अणुव्रत। किंतु अणुव्रतों में एक छठा व्रत रात्रिभोजन त्याग और भी बताया है।

में हुआ करता है और बाकी व्रत द्रव्यों के एकदेश विषय में होते हैं।

इन व्रतों के विषय में विशेष वर्णन करने के पहले उनके माहात्म्य का वर्णन करते हैं :-

अहो व्रतस्य माहात्म्यं यन्मुखं प्रेक्षतेतराम्।
उद्द्योतेतिशयाधाने फलसंसाधने च दृक्।।२०।।

उद्योत - शंकादिक मलों का दूर करना, अतिशयाधान - कर्मों का क्षपण करनेवाली शक्ति में उत्कर्षता का संपादन, और फलसंसाधन - इन्द्रादि पद से लेकर निर्वाणपर्यंत अथवा अनेक प्रकार के अपायनिवारणरूप फल का साक्षात् उत्पन्न करना; अपने इन कार्यों के करने में सम्यग्दर्शन को जिसका मुख अच्छी तरह देखना पडता है - जिसकी प्रधान सामर्थ्य की अतिशयरूप से अपेक्षा रखनी पडती है उस व्रत के माहात्म्य का, अहो, कौन वर्णन कर सकता है ?

भावार्थ :- जब कि अचिंत्यशक्ति के धारक सम्यक्त्व को भी व्रतों की अपेक्षा है तब इनका अचिंत्य माहात्म्य स्वयंसिद्ध है। यद्यपि यहाँ पर संक्षेप से एक सम्यक्त्व ही अथवा और चारित्र दो ही आराध्य बताये हैं; किंतु प्रेक्षतेतरां इस शब्द के साथ जो तरां यह प्रत्यय लगा हुआ है अपेक्षा रखने में अतिशयरूप से ऐसा जो कहा है - उसमें ज्ञान की ही अपेक्षा है। क्योंकि उद्द्योतादिक साध्यों के विषय में सम्यक्त्व को ज्ञानमुख की भी अपेक्षा रखनी पडती है।

व्रत दो प्रकार के हुआ करते हैं एक महाव्रत और दूसरे अणुव्रत। इन दोनों व्रतों के स्वामियों को बताते हैं :-

स्फुरद्बोधो गलद्वृत्तमोहो विषयनिःस्पृह।
हिंसादेर्विरतः कात्स्न्र्याद्यतिः स्याच्छ्रावकोंशतः।।२१।।

स्फुरायमान ज्ञान, चारित्रमोहनीय का अभाव, और विषयों में निस्पृहता इन तीन गुणों से युक्त जो जीव हिंसादिक पापों का सर्वथा त्याग करता है उसको यति और जो अंशतः-एकदेश त्याग करता हैं उसको श्रावक कहते हैं।

भावार्थ :- महाव्रतों का स्वामी यति और अणुव्रतों का स्वामी श्रावक होता है। किंतु दोनों ही में तीन गुणों की आवश्यकता है। प्रथम तो यह कि उस जीव का ज्ञान जीवादिक तत्त्वों में जो हेय उपादेय और उपेक्षणीय हैं उनमें उसी प्रकार से प्रकाशमान-जागृत होना चाहिये। दूसरा यह कि उसका चारित्रमोहनीयकर्म क्षयोपशमरूप से हीन होता जाना चाहिये। महाव्रत के स्वामियों के [१] अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ का क्षयोपशम होना चाहिये। तीसरा यह कि उसको विषयों में निस्पृहता हो। दृष्ट श्रुत और अनुभूत भोगोपभोगों में उसकी अभिलाषा न हो।

इन व्रतों का विशेष व्याख्यान करने की इच्छा से क्रमानुसार पहले चौदह श्लोकों में अहिंसाव्रत की व्याख्या करते हैं। किंतु अहिंसा का स्वरूप समझने के लिये पहले हिंसा के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिये। अतएव यहाँ पर पहले हिंसा का ही लक्षण बताते हैं:-

सा हिंसा व्यपरोप्यन्ते यत् त्रसस्थावराङ्गिनाम्।
प्रमत्तयोगतः प्राणा द्रव्यभावस्वभावकाः।।२२।।

प्रमत्तयोग से त्रस और स्थावर जीवों के यथासंभव द्रव्य और भाव प्राण का जो व्यपरोपण होता है उसको हिंसा कहते हैं।

भावार्थ :- इन्द्रियप्रचार को न रोककर जो प्रवृत्ति करता है उसको अथवा तीव्रकषाय के उदय से युक्त होकर जो हिंसादिके कारणों में तो प्रवृत्ति करता किंतु अहिंसा में शठता से प्रयत्न करता है उसको, यद्वा राजा चोर भोजन और स्त्री इनकी कथाओं पंच इन्द्रियों और निद्रा तथा स्नेह में जो प्रवृत्त होता है उसको प्रमत्त कहते हैं। प्रमत्त पुरुष के मन वचन और काय के द्वारा होनेवाले कर्म को - कार्य को प्रमत्तयोग कहते हैं।

---

१ - प्रत्याख्यानावरण के क्षयोपशम तक ही कहने का प्रयोजन यह है कि आजकल यहाँ के जीवों के सामायिक छेदोपस्थापना और संयमासंयम ही संभव है।

अथवा प्रमाद शब्द का अर्थ सकषायता भी होता है। अतएव रागद्वेषादिके वश होकर जो मनवचनादि की प्रवृत्ति होती है उसको भी प्रमत्तयोग कहते हैं।

इस प्रमत्तयोग से जिन प्राणों का व्यपरोपण होता है वे [१] प्राण दश प्रकार के हैं। यथा :-

पंचवि इंदियपाणा मणवचिकायेसु तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण हुंति दह पाणा।।

पाँच इन्द्रिय - स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु श्रोत्र, तीन बल मन वचन काय, एक श्वासोच्छ्वास और एक आयु, ये दश प्राण हैं। ये दो प्रकार के हुआ करते हैं - एक द्रव्यप्राण दूसरे भावप्राण। चित्सामान्य के संबंध से उसके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाले पुद्गलपरिणाम को द्रव्यप्राण, और पुद्गलसामान्य के संबंध से अनुप्रवृत्ति करनेवाले चित्परिणाम को भावप्राण कहते हैं। संसारी जीव यथायोग्य इन दोनों ही प्राणों के धारक होते हैं। इन्ही संसारी जीवों के दो भेद हैं - एक त्रस दूसरे स्थावर। उक्त पाँच इन्द्रियों में से आदि की दो आदि इन्द्रियों के धारक को त्रस और एक पहली ही इन्द्रिय के धारक को स्थावर कहते हैं। जो कि इन्द्रियाँ अपने अपने स्पर्शादिक विषय को पृथक् पृथक् विषय किया करती हैं - जानती हैं। अतएव त्रस चार प्रकार के हैं - द्विन्द्रिय त्रिन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनके भी उत्तर भेद अनेक हैं। यथा :-

जलूकाशुक्तिशम्बूकगण्डूपदकपर्दिकाः।
जठरकृमिशंखाद्याद्वीन्द्रिया देहिनो मताः।।
कुन्थुः पिपीलिका कुम्भी यूकामत्कुणवृश्चिकाः।
कर्कोटकेन्द्रगोपाद्यास्त्रींद्रियाः संति देहिनः।।
पतङ्गा मशका दंशा मक्षिकाकीटगर्मुतः।
पुत्रिकाचञ्चरीकाद्याश्चतुरक्षाः शरीरिणः।।

---

१ - जिनका संयोग रहने तक 'जीव जीता है' और वियोग होनेपर 'मर गया' ऐसा व्यवहार होता है उसको प्राण कहते हैं।

नारका मानवा देवास्तिर्यञ्चश्च चतुर्विधाः।
सामान्येन विशेषेण पञ्चाक्षाः बहुधा स्थिताः।।

जोंक शीप शंबूक गिडोले कौडी, पेट में पडजानेवाले कीडे और शंख प्रभृति जीव द्विन्द्रिय हैं। कुन्थु चेंटी कुम्भी जूं खटमल बिच्छू कर्कोटक इंद्रगोप - वर्सात में होनेवाले मखमली कीडे आदि त्रिन्द्रिय जीव हैं। पतंग मच्छड डांस मक्खी गर्मुत पुत्रिका भ्रमर इत्यादि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। नारक मनुष्य देव और चार प्रकार के तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव हैं। ये सामान्य से भेद गिनाये हैं। विशेषता से बहुत भेद होते हैं।

उक्त इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं - एक भाव दूसरी द्रव्य। भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोगरूप हैं। द्रव्येन्द्रियों का आकार बताते हैं :-

यवनालमसूरातिमुक्तकेन्द्वर्धसन्निभाः।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिव्हाः स्युः स्पर्शनोऽनेकधाकृतिः।।

स्पर्शन जौकी नली के समान, चक्षु मसूर के समान, घ्राण तिल के फूल समान, और जिह्वा अर्धचंद्रमा के समान है। किंतु स्पर्शनेन्द्रिय के आकार अनेक हैं।

उक्त द्विन्द्रियादिक त्रस जीव जहाँ पर पाये जाते हैं उस क्षेत्र को बताते हैं :-

उववादमारणंतियजिणक्कवाडादिरहिय सेस तसा।
तसनाडिबाहिरह्मि य णत्थित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं।।

उपपाद जन्मवाले मारणान्तिक समुद्घातक के और केवलसमुद्घातवाले जीवों को छोडकर बाकी के त्रस जीव त्रस नाडी के बाहर नहीं पाये जाते।

एकेन्द्रिय जीवों का स्वरूप ऊपर लिख चुके हैं कि एक स्पर्शनइन्द्रिय के द्वारा ही जिनको ज्ञान होता है। इनके पाँच भेद हैं; पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति। यद्यपि इनका कोई बुद्धिपूर्वक व्यापार देखने में नहीं आता; फिर भी जिस प्रकार अंडे में त्रस जीव सिद्ध है उसी प्रकार ये भी जीव हैं; यह बात निश्चित हैं। कहा भी है कि :

अंडेसु एवट्ठंता गब्भट्ठा माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगिंदिया णेया।।

जिस तरह अंडों में जीव रहा करते हैं या गर्भ में जीव होते हैं अथवा मूर्छित मनुष्य हुआ करते हैं उसी प्रकार के एकेन्द्रिय जीव भी होते हैं।

इन्ही एकेन्द्रिय जीवों को पाँच स्थावर कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं - एक सूक्ष्म दूसरे बादर - स्थूल। सूक्ष्म स्थावर सर्वत्र लोक में भरे हुए हैं। बादर स्थावरों में से पृथिवी आदि के भेद क्रम से इस प्रकार हैं :-

मृत्तिका वालुका चैव शर्करा चोपलः शिला।
लवणायस्तथा तामं त्रपुः सीसकमेव च।।
रूप्यं सुवर्णं वज्रं च हरितालं च हिंगुलम्।
मनःशिला तथा तुत्थमञ्जनं च प्रवालकम्।।
झीरोलकाभ्रकं चैव मणिभेदाश्च बादराः।
गोमेदो रुजकोऽङ्कश्च स्फटिको लोहितप्रभः।
वैरिकश्चंदनश्चैव बर्वरो वक एव च।।
मोचो मसारगल्वश्च सर्व एते प्रदर्शिताः।
संरक्ष्या पृथिवीजीवा यतिभिर्ज्ञानपूर्वकम्।।

मट्टी बालू [१]शर्करा [२]उपल शिला लवण लोहा तांबा रांग सीसा चांदी सोना वज्र हडताल हिंगुल मेनशिल तूतिया [३] अंजन [४] प्रवाल [५] झीरोलक अभ्रक [६] गोमेद [७] रुचक [८] अंक स्फटिक [९] लोहितप्रभ वैडूर्य चंद्रकान्त जलकान्त सूर्यकान्त [१०] गैरिक [११] चंदन [१२] बर्वर [१३]

---

१ - तिकौनी चौकोर आदि अनेक तरह की अतिरुक्ष कंकडी। २ - गोल पत्थर के टुकडे। ३ - सुरमा। ४ - मूंगा। ५ - अभ्रक की बालू - भुडभुड। ६ - गोरोचन के से रंग की मणि जिसको कर्केतन भी कहते हैं। ७ - राजावर्त मणि जिसका रंग अलसी के फुलकासा होता है। ८ - पुलिक मणि जिसका रंग प्रवालकासा होता है। ९ - पद्मराग। १० - रुधिर मणि, इसका रंग गेरूकासा होता है। ११ - मणिविशेष, इसका वर्ण और गंध चंदन का सा होता है। १२ - मरकत

वक [१४] मोच और [१५] मसारगल्ल। ये सब पृथिवीकायिक जीवों के भेद हैं जिसकी कि महा अहिंसा व्रत के पालक यतियों को रक्षा करनी चाहिये। पृथिवी के इन्ही भेदों में आठो [१६] पृथिवी मेरु आदि पर्वत द्वीप विमान भवन वेदिका प्रतिभा तोरण स्तूप चैत्यवृक्ष जम्बूवृक्ष शाल्मलिवृक्ष घातकीवृक्ष और रत्नाकर आदि अंतर्भूत हैं।

इसी प्रकार जलकाय के भी अनेक भेद हैं; यथा :-

अवश्यायो हिमं चैव मिहिका बिन्दुशीकराः।
शुद्धं घनोदकं चाम्बुजीवा रक्ष्यास्तथैव ते।।

अवश्याय - ओस, हिम - तुषार, मिहिका - ओद - कुहर, बिन्दु, शीकर - सूक्ष्म बिन्दुकण, शुद्ध - चंद्रकान्तादिक का अथवा हाल का वर्षा हुआ जल, घनोदक - समुद्र तालाब और घनवातादिक से उत्पन्न हुआ जल, एवं बावडी झरना ओला आदि जलकायिक जीवों के अनेक भेद हैं। इनकी भी यतियों को यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये।

अग्निकायिक के भेद -

ज्वालाङ्गारस्तथार्चिश्च मुर्मुरः शुद्ध एव च।
अनलश्चापि ते तेजोजीवा रक्ष्यास्तथैव च।।

ज्वाला, अङ्गार, अर्चि - किरण, मुर्मुर - अन्ने कण्डे की अग्नि, शुद्ध - वज्र बिजली सूर्यकान्तादिक से उत्पन्न हुई, अनल - सामान्य, इसके सिवाय स्फुलिङ्ग वडवानल नंदीश्वर धूमकुण्ड, और अग्निकुमारों की मुकुटानल आदि अग्निकायिक जीवों के अनेक भेद हैं। जिनकी कि यातियों को रक्षा करनी चाहिये।

मणि पन्ना। १३ - पुखराज। १४ - नीलम १५ - मणिविशेष, जिसका रंग मूंगाकासा होता है। १६ - सात नरक - भूमि और एक सिद्धशिला।

वायुकायिक के भेद :-

वात उद्भ्रमकश्चान्य उत्कलिर्मण्डलिस्तथा।
महान् घनस्तनुर्गुञ्जास्ते पाल्याः पवनाङ्गिनः।।

वात उद्भ्रम उत्कलि मण्डलि महान् घन गुञ्जा इत्यादि वायु के अनेक भेद हैं। सामान्य वायु को वात, जो घूमती हुई ऊपर को चली जाती है उसको उद्भ्रम, लहरियों को उत्कलि, जमीन से लगी हुई किंतु घूमती हुई जो चलती है उसको मंडलि, जो वृक्षादिक को भी उखार डाले ऐसी आंधी को महान्, सघन को घन, पंखे आदि के द्वारा की गई पतली वायु को तनु, उदर में रहनेवाली पाँच प्रकार की प्राण अपान व्यान संव्यानरूप को गुञ्जा कहते हैं। लोकाच्छादक एवं भवन विमानों की आधारभूत जो वायु है वह भी इसी में अंतर्भूत हो जाती है। इन वायुकायिक जीवों की भी यातियों को रक्षा करनी चाहिये।

वनस्पति के भेद गिनाते हैं :-

मूलाग्रपर्वकन्दोत्थाः स्कन्धबीजसमुद्भवाः।
सम्भूर्छिमास्तथानन्तकायाः प्रत्येककायिकाः।।
त्वग्मूलकन्दपत्राणि प्रवालः प्रसवः फलम्।
स्कन्धो गुच्छस्तथा गुल्मस्तृणं वल्ली च पर्वं च।।
शैवलं पणकः किण्वं कवकः कुहणस्तथा।
बादराः सूक्ष्मकायास्तु जलस्थलनभोगताः।।
गूढसन्धिशिरः पर्वसमभङ्गमहीरुकम्।
छिन्नोद्भवं च सामान्यं प्रत्येकमितरद्वपुः।।
वल्लीवृक्षतृणाद्यं स्यादेकाक्षं च वनस्पतिः।
परिहार्या भवन्त्येते यतिना हरिताङ्गिनः।।

वनस्पति दो प्रकार की होती है; एक साधारण, दूसरी प्रत्येक। जिसका शरीर साधारण

है - जहाँ पर एक ही शरीर में सामान्यरूप से अनंत निगोदजीव रहते हैं उसको साधारण या अनंतकाय कहते हैं। यथा स्नुही, दूधी, गुडूची इत्यादि। जिस शरीर में मुख्यतया एक ही जीव रहता है - जिन वनस्पतिजीवों का शरीर भिन्न भिन्न होता है उसको प्रत्येक शरीर कहते हैं; जैसे सुपारी नारियल। इसके दो भेद हैं, एक सप्रतिष्ठित दूसरा अप्रतिष्ठित। जिसके आश्रय से दूसरे निगोदजीव भी रहें उसको सप्रतिष्ठित और जिसके आश्रय से निगोदजीव न रहें उसको अप्रतिष्ठित कहते हैं। यथा :-

एकमेकस्य यस्याङ्गं प्रत्येकाङ्गः स कथ्यते।
साधारणः स यस्यांगमपरैर्बहुभिः समम्।।

जिस एक जीव का एक ही शरीर होता है उसको प्रत्येकशरीर कहते हैं, और जिस शरीर में दूसरे भी बहुत से जीव साथ में रहें उसको साधारण कहते हैं। साधारण-अनंतकाय वनस्पतियों की त्याज्यता के विषय में कहा है कि :-

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम्।।

साधारणों में एक के मरने मारने पर अनंतजीवों की मृत्यु होती है अतएव उन सबका त्याग अवश्य कर देना चाहिये।

उक्त वनस्पति अनेक प्रकार की होती हैं - कोई तो मूल से ही उत्पन्न होती हैं; जैसे हल्दी अदरक इत्यादि। कोई अग्र से उत्पन्न होती हैं; जैसे गुलाब वेला चमेली इत्यादि। कोई पर्व से उत्पन्न होती हैं; जैसे ईख वेंत आदि। कोई कंद से उत्पन्न होती हैं; जैसे सकलकंदी पिण्डालू इत्यादि। कोई स्कंध से उत्पन्न होती हैं; जैसे पलाश आदिक। और कोई बीज से उत्पन्न होती हैं जैसे जौ गेहूँ मूँग मोठ आदि। ये मूलादिक से उत्पन्न होनेवाली सभी वनस्पति सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित दोनों तरह की होती हैं। इसके सिवाय सम्मूर्छन

---

१ मूल में पत्र शब्द से वृक्ष का अवयव पत्ता और प्रवाल शब्द से पत्र जाति की वनस्पति के बताने का प्रयोजन है।

वनस्पति भी होती है जो कि मूलादिक बीज के बिना ही अपनी उत्पत्ति के योग्य पुद्गलों के मिल जानेपर उत्पन्न हो जाया करती हैं; जैसे घास आदि। क्योंकि देखा जाता है कि कितने ही जीव बिना बीज के भी उत्पन्न हो जाया करते हैं; जैसे कि शृङ्ग से सार और गोबर से विच्छू। उसी प्रकार सम्मूर्छन वनस्पति भी हैं। इससे वनस्पति दो प्रकार की समझनी चाहिये; एक बीजोद्भव दूसरी सम्मूर्छन।

त्वचा मूल कंद पत्र प्रवाल प्रसव फल स्कंध गुच्छा गुल्म तृण वल्ली पर्व शैवल पणक किण्व कवक और कुहण। ये सब बादर वनस्पतियों के भेद हैं। इनके सिवाय सूक्ष्म वनस्पति भी हैं जो कि स्थल और आकाश सर्वत्र व्याप्त हैं।

वृक्ष की छाल को त्वचा, जड को मूल और गड्डा को कंद कहते हैं। पत्ते प्रसिद्ध हैं। जिस पर केवल पत्ते ही आते हैं, फल फूल नहीं आते उसको [१] पत्र, जिस पर बिना फूल के ही फल आ जाते हैं उसको फल, जिस पर केवल फूल ही आते हैं फल नहीं आते उसको पुष्प वनस्पति कहते हैं। स्कंध से पर्व पर्यन्त शब्दों का अर्थ स्पष्ट है। जल में जो हरी हरी काई होती है उसको शैवल, गीली ईंट जमीन और दीवाल पर जो काई लग जाती है उसको पणक, वर्षाकाल में उत्पन्न होनेवाली छत्राकारादि वनस्पतियों को किण्व, जटाकार वनस्पतिविशेष को कवक, और आहार कांजी आदि पर जो फफरूंदा आ जाता है उसको कुहण कहते हैं।

उक्त पृथिवी कायिकादिक पांचों ही स्थावर बादर हैं, पाँचों ही सूक्ष्मकाय भी होते हैं, जिनके की अंगुला - संख्यातवें भाग शरीरनामकर्म का उदय रहता है।

जिनकी संधि सिरा और पर्व गूढ - अदृश्यमान रहता है, जो त्वचारहित है और तन्तुवर्जित है, एवं छिन्न होनेपर भी जो उलह आती है उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक और बाकी वल्ली वृक्ष तृण आदि को अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

प्रत्येकशरीर और साधारणशरीरवाले जीवों की यतियों को रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि ये सब हरितकाय के जीव हैं। ये जीव है यह बात आगम और युक्ति दोनों से सिद्ध हैं। क्योंकि संपूर्ण त्वचा के उपाट लेने पर उनका मरण हो जाता है और उनमें आहारादि संज्ञाओं का अस्तित्व भी पाया जाता है। जल से वनस्पतियाँ हरी रहती हैं; इससे उनमें आहारसंज्ञा का, छूने से संकुचित होती हैं; इससे उनमें भयसंज्ञा का, कामिनियों के कुरला आदि से, हर्ष विकासादिक होता है; इससे उनमें मैथुनसंज्ञा का, और जिधर धन होता

हैं उसी दिशा में जड़ अधिक जाती है; इससे उनमें परिग्रहसंज्ञा का सद्भाव सिद्ध होता है।

ऊपर निगोदजीवों का उल्लेख किया है। अतएव उसका स्वरूप भी यहाँ बता देना उचित है। वह आगम में इस प्रकार बताया है :-

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं।।
जत्थेक्कु मरदि जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
चंकमइ जत्थ इक्को चंकमणं तत्थऽणंताणं।।
एकणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वि तीदकालेण।।

साधारण - निगोदजीवों का लक्षण साधारण ही है। क्योंकि एक जगह पर जितने अनंतानंत निगोद जीव रहते हैं उन सबका समान आहार और समान ही श्वासोच्छ्वास का ग्रहण होता है। उनमें से यदि एक मरता है तो वे अनंतानंत भी मर जाते हैं। और एक यदि उत्पन्न होता है तो अनंतानंत उत्पन्न होते हैं। एक निगोदिया के शरीर में द्रव्यप्रमाण की दृष्टि से सिद्धों से और समस्त भूतकाल से अनंतगुणे जीव रहते हैं। निगोदजीव दो प्रकार के होते हैं - नित्य निगोद और अनित्य निगोद। यथा :-

त्रसत्वं ये प्रपद्यन्ते कालानां त्रितयेपि नो।
ज्ञेया नित्यनिगोतास्ते भूरिपापवशीकृताः।।
कालत्रयेपि यैर्जीवैस्त्रसता प्रतिपद्यते।
सन्त्यनित्यनिगोतास्ते चतुर्गतिविहारिणः।।

अत्यंत पाप के वश हुए जिन जीवों ने तीन काल में भी त्रसपर्याय नहीं प्राप्त की उनको [१] नित्यनिगोद कहते हैं। और जिन्होंने तीन काल में कभी भी त्रसपर्याय प्राप्त कर

---

१ - गोम्मटसार जीवकाण्ड में नित्यनिगोद का स्वरूप इस प्रकार कहा है -
अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो,

ली है उनको अनित्यनिगोद कहते हैं।

पृथिवी आदिक जो पाँच स्थावरों के भेद गिनाये हैं उनमें प्रत्येक के चार चार भेद हैं - सामान्य, काय, कायिक और जीव। जैसे कि पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक, पृथिवीजीव। इनका लक्षण आगम में इस प्रकार बताया हैं :-

क्षमाद्याः साधारणाः क्ष्मादिकाया जीवोज्झिताः श्रिताः।
जीवैस्तत्कायिकाः ज्ञेयास्तज्जीवा विग्रहेतिगैः।।

सामान्य पृथिवी को पृथिवी, जिसको जीव ने शरीर बनाकर छोड दिया है उसको पृथिवीकाय, जिसको जीव शरीर बनाकर रह रहा है उसको पृथिवीकायिक, विग्रहगति में रहनेवाले उन जीवों को जिनके कि पृथिवीनामकर्म का उदय है; पृथिवीजीव कहते हैं। जिस प्रकार यहाँ पृथिवी के भेद बताये उसी प्रकार जलादिक के भी समझना। इनमें अन्त्य के जो दो जीव हैं उनकी संयमियों को रक्षा करनी चाहिये। इन जीवों के शरीर का आकार इस प्रकार बताया हैं :-

समानास्ते मसूराम्भोबिन्दुसूचीव्रजध्वजैः।
धराम्भोग्निमरुत्कायाः क्रमाच्चिन्त्यास्तरुत्रसाः।।

पृथिवीकाय का मसूर के समान, जलकाय का जलबिन्दु के समान, अग्निकाय का सूइयों के समूह के समान और वायुकाय का आकार ध्वजा के समान है। किन्तु वनस्पति और त्रसजीवों का आकार एक प्रकार का नहीं; विविध प्रकार का है।

ऊपर जो प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित भेद गिनाये हैं वे केवल वनस्पति के ही नहीं; समस्त संसारियों के हैं। यथा :-

---

भावकलकसुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति।।
जिन्होंने अबतक व्यवहार राशि प्राप्त नहीं की है उनको नित्यनिगोद कहते हैं।

प्रत्येककायिका देवाः श्वाभ्राः केवलिनोर्द्वयम्।
आहारकधरातोयपावकानिलकायिकाः।।
निगोतैर्बादरैः सूक्ष्मैरेते सन्त्यप्रतिष्ठिताः।
पञ्चाक्षा विकला वृक्षजीवाः शेषाः प्रतिष्ठिताः।।

देव नारकी दोनों प्रकार के केवली पृथिवी जल अग्नि और वायुकायिक जीवों के शरीर तथा आहारक शरीर सूक्ष्म एवं बादर निगोदियाओं में प्रतिष्ठित नहीं हैं। बाकी के पंचेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और वनस्पतिजीवों के शरीर प्रतिष्ठित हैं।

जिन प्राणों के व्यपरोपण से हिंसा का महापाप लगता है वे प्राण दश हैं ऐसा पहले बता चुके हैं। किंतु किस संसारी जीव के कितने प्राण हैं यह बात आगम के अनुसार समझ लेनी चाहिये। जो कि इस प्रकार है :-

सर्वेष्वङ्गेन्द्रियायूंषि पूर्णेष्वानः शरीरिषु।
वाग् द्वित्र्यादिहृषीकेषु मनःपूर्णेषु संज्ञिषु।।
ते संज्ञिनि दशैकैको हीनोन्येष्वंन्त्ययोर्द्वयं।
अपर्याप्तेषु सप्ताधोरेकैकोन्येषु हीयते।।

कायबल इंद्रिय और आयु ये तीन प्राण सभी जीवों के होते हैं। श्वासोच्छ्वास पर्याप्तकों के ही होता है। वचनबल द्विन्द्रिय आदि पर्याप्तकों के और मनोबल प्राण पर्याप्त संज्ञियों के ही होता है। इस प्रकार पर्याप्तकों में संज्ञियों के दश और, आगे चलकर एक एक प्राण कम होता [१]गया है। किंतु अंतिम - एकेन्द्रिय के दो प्राण कम होते हैं। अपर्याप्तकों में संज्ञी असंज्ञी पंचेन्द्रिय के मन वचन और श्वासोच्छ्वास को छोडकर सात प्राण होते हैं। और आगे चलकर एक एक इंद्रियप्राण कम होता गया है। अतएव चतुरिन्द्रियों के

---

१ - संज्ञी पंचेन्द्रियों के पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश, असंज्ञी पंचेन्द्रियों के मन को छोड़कर नव, चतुरिन्द्रियों के श्रोत्र को छोड़कर आठ, त्रिन्द्रियों के चक्षु को छोड़कर सात, द्विनन्द्रियों के घ्राण को छड़कर छह और एकेन्द्रियों के रसना तथा वचन को छोड़कर चार प्राण होते हैं।

छह, त्रिन्द्रियों के पाँच, द्विन्द्रियों के चार और एकेन्द्रियों के तीन प्राण होते हैं।

ऊपर पर्याप्तक और अपर्याप्तक दो भेद करके प्राणों की गणना की है। किंतु यह नहीं बताया कि पर्याप्त किसको कहते हैं। अतएव इन दोनों का लक्षण आगम के अनुसार यहाँ बता देते हैं :-

गृहवस्त्रादिकं द्रव्यं पूर्णापूर्णं यथा भवेत्।
पूर्णेतरास्तथा जीवाः पर्याप्तेतरनामतः।।
आहारांगेंद्रियप्राणवाचः पर्याप्तयो मनः।
चतस्रः पञ्च षट् चैकद्व्यक्षादौ संज्ञिनां च ताः।।
पर्याप्ताख्योदयाज्जीवः स्वस्वपर्याप्तिनिष्ठितः।
वपुर्यावदपर्याप्तं तावन्निर्वृत्त्यपूर्णकः।।
निष्ठापयेन्न पर्याप्तिमपूर्णस्योदये स्वकाम्।
सान्तर्मुहूर्तमृत्युः स्याल्लब्ध्यपर्याप्तकः स तु।।

जिस प्रकार संसार में मकान वस्त्र बर्तन आदि द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकार के हुआ करते हैं। उसी प्रकार संसारी जीव भी पूर्ण अपूर्ण ही दो तरह के हुआ करते हैं।इन्ही को पर्याप्त अपर्याप्त कहते हैं। आहारादि परिणमन जिससे होते हैं उस शक्ति के कारणों की निष्पत्ति - पूर्णता को [१]पर्याप्ति कहते हैं। ये पर्याप्ति छह प्रकार की हैं - आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा और मन। जिन जीवों की पर्याप्ति नामकर्म के उदय से अपने अपने योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती हैं उनको पर्याप्त और जबतक उनकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक उनको निर्वृत्त्यपर्याप्त कहते हैं। एकेन्द्रियों के चार द्विन्द्रियादिकों के पाँच और संज्ञी पंचेन्द्रियों के छह पर्याप्ति होती हैं। जो जीव अपर्याप्ति नामकर्म के उदय से अपनी पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं कर सकते और अंतर्मुहूर्त में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं उनको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं।

---

१ - आहारपरिणादिमाशक्तिकारणसिद्धयः
पर्याप्तयः षडाहारदेहाक्षोच्छ्वासवाङ्मनः।।

इन्ही (सर्व संसारी) जीवों के चौदह जीवसमास भी गिनाये हैं। यथा :-

समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहुमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य।।

पंचेन्द्रियों के दो भेद - समनस्क और अमनस्क; और सभी अमनस्क - चतुरिन्द्रिय त्रिन्द्रिय और द्विन्द्रिय; एवं एकेन्द्रिय के दो भेद बादर और सूक्ष्म। ये सातों ही प्रकार के जीव पर्याप्त भी होते हैं। और अपर्याप्त भी। अतएव जीवसमास के भेद चौदह हैं।

गुणस्थान और मार्गणाओं की अपेक्षा से भी जीवों के चौदह भेद होते हैं।
चौदह गुणस्थानों के नाम :-

मिथ्यादृक् सासनो मिश्रोऽसंयतोऽणुव्रतस्ततः।
सप्रमादेतराऽपूर्वानिवृत्तिकरणास्तथा।
सूक्ष्मलोभोपशान्ताख्यौ निर्मोहो योग्ययोगिनौ।

मिथ्यादर्शन सासादन मिश्र असंयत अणुव्रत प्रमत्त अप्रमत्त अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मलोभ उपशांतमोह क्षीणमोह सयोगी अयोगी। ये संसारी जीवों के चौदह भेद हैं। जो मुक्तजीव हैं वे इन गुणस्थानों से रहित हैं।

चौदह मार्गणाओं के नाम :-

गतयः करणं कायो योगोवेदः क्रुधादयः।
वेदनं संयमो दृष्टिर्लेश्या भव्यः सुदर्शनम्।।
संज्ञी चाहारकः प्रोक्तास्ताश्चतुर्दश मार्गणाः।
मिथ्यादृगादयो जीवा मार्गणासु सदादिभिः।।

गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान संयम दर्शन लेश्या भव्य सम्यक्त्व संज्ञा

आहारक। ये चौदह [१] मार्गणाएँ हैं। इन गुणस्थानों और मार्गणाओं के द्वारा तथा मार्गणाओं में सदादि अनुयोगों के द्वारा गुणस्थानों को लगाकर विस्तार के साथ और आगम के अनुसार जीवों के भेद प्रभेदों का और उनके स्वरूप का भले प्रकार निश्चय करके यतियों को उन जीवों की रक्षा करनी चाहिये।

सारांश :- जीवों के भेदों और उनके स्वरूप को भले प्रकार जाने बिना अहिंसा महाव्रत नहीं पल [२] सकता। अतएव यहाँ पर जीवतत्त्व के विषय में संक्षेप से वर्णन किया हैं। आगम में उनका विशेष स्वरूप कहा है; वहाँ से उसको देखकर विशेष निश्चय करना चाहिये। और जीवों की रक्षाकर यतियों को पूर्ण अहिंसाव्रत पालना चाहिये।

प्रमत्तयोग से होनेवाले प्राणव्यपरोपण को हिंसा कहा है। किंतु वस्तुतः प्रमत्तयोग ही हिंसा है; ऐसा उपदेश देते हैं :-

रागाद्यसङ्गतः प्राणव्यपरोपेऽप्यहिंसकः।
स्यात्तदव्यपरोपेऽपि हिंस्रो रागादिसंश्रितः।।२३।।

यदि जीव राग द्वेष या मोहरूप परिणामों से आविष्ट नहीं है तो प्राणों का व्यपरोपण हो जानेपर भी वह अहिंसक है। और यदि रागद्वेषादि कषायों से युक्त है तो प्राणों का वियोग न होनेपर भी हिंसक है।

भावार्थ :- हिंसा और अहिंसा प्रमाद या कषायरूप परिणामों के होने और न होनेपर निर्भर है। जैसा कि कहा भी है :-

मरदु व जियदु व जीवो अजदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
एयदस्स णत्थि बंधो हिंसामत्तेण समिदस्स।।

---

१ - गुणस्थान व मार्गणादिक का विशेषस्वरूप जीव काण्डादिकों में देखना चाहिये। यहाँ संक्षेप के कारण नाममात्र ही उल्लेख किया है।

२ - दया दया सब ही कहें। दया न जाने कोय।
जीव जाति जाने विना। दया कहाँ से होय।।

जीव मरे या जिये, यत्नाचार न रखनेवाले के हिंसा निश्चित है। और जो यत्न रखनेवाला तथा समीचीन प्रवृत्ति करनेवाला है उसके हिंसामात्र से ही बंध नहीं हो जाता।

प्रश्न :- यदि परिणामों पर ही हिंसा निर्भर है तो प्रमत्तयोग को ही हिंसा कहना चाहिये। उसको देना चाहिये। उसके साथ प्राणव्यपरोपण के भी उपदेश देने से क्या फायदा ?

उत्तर :- हिंसा प्राणव्यपरोपणरूप ही है; किंतु उसका कारण प्रमत्तयोग है। और वह समर्थ कारण है। अतएव कारण में कार्य का उपचार करके उसको हिंसा कहा है। क्योंकि प्रमत्तयोग से प्राणों का व्यपरोपण होता ही है। यदि बाह्य प्राणों का घात न होगा तो भावप्राणों का होगा, पर होगा अवश्य। इसी बात का समर्थन करते हैं :-

प्रमत्तो हि हिनस्ति स्वं प्रागात्माऽऽतङ्कतायनात्।
परो नु म्रियतां मा वा रागाद्या ह्यरयोऽङ्गिनः।।२४।।

दुष्कर्मों का संचय करने के कारण अथवा व्याकुलतारूप दुःख को उत्पन्न करने वा बढ़ाने के कारण प्रमत्त जीव पहले अपना तो घात कर ही लेता है। फिर दूसरा जीव मरो वा मत मरो। क्योंकि जीवों के वास्तविक वैरी तो रागादिक कषाय ही हैं; न कि दूसरों का प्राणवध। क्योंकि दुःखों की प्राप्ति और उनके कारणों का संचय इसीसे होता है। कहा भी है कि :-

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा।
न चैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः।
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम्।।

बंध का कारण न तो जगत् ही है, जिसमें कि अनेक प्रकार के काम हुआ करते हैं। और न यह चंचल काम ही है। एवं न तो अनेक करण - इन्द्रियाँ ही बंध का कारण हैं और न चेतन तथा अचेतन जीवों का वध ही उसका कारण है। उसका कारण निश्चय से केवल वह उपयोगस्वरूप आत्मा ही है जो कि रागादिक के साथ एकता प्राप्त

कर लेता है; क्योंकि विशुद्ध परिणामों के धारक जीव के उसके शरीर का निमित्त पाकर हो जानेवाला परप्राणियों के प्राणों का व्यपरोपण ही यदि बंध का कारण हो जाय तब तो फिर कोई मुक्त ही नहीं हो सकता। क्योंकि योगियों के भी वायुकायिकादि जीवों का वध होता है। उस निमित्त के रहते हुए वे मुक्त किस तरह हो सकते हैं। यथा :-

जई सुद्धस्स य बंधो होदि हि बहिरंगवत्थुजोएण।
णत्थि दु अहिंसगो णाम वाउकायादिवधहेदू।।

यदि केवल बहिरंग वस्तु के संबंध से शुद्ध जीव के भी बंध होने लगे तब तो कोई अहिंसक ही नहीं रह सकता। क्योंकि वायुकायिकादि जीववध के कारण सर्वत्र मौजूद हैं। इसी अर्थ को ग्रंथकार स्पष्ट करते हैं :-

तत्त्वज्ञानबलाद्रागद्वेषमोहानपोहतः।
समितस्य न बन्धः स्याद् गुप्तस्य तु विशेषतः।।२५।।

उपर्युक्त तत्वज्ञान के बल से रागद्वेष और मोहरूपी वैभाविक परिणामों का परित्याग करदेनेवाले जीव के, वह समितियों में प्रवृत्ति करे - अपना प्रत्येक गमनागमनादिक कार्य यत्न अथवा सावधानतापूर्वक करे तो, कर्म का बंध नहीं होता। यदि वह गुप्तियों में परिणत हो जाय - मानसिक वाचिक और कायिक क्रियाओं का निरोध ही कर दे तब तो विशेषरूप से बंध नहीं हो सकता।

भावार्थ :- समिति प्रवृति रूप हैं। अतएव वहाँ पर योग और कुछ कषायांश दोनों ही पाये जाते हैं। इसीलिये वहाँ कुछ शुभकर्मों का बंध भी होता है। किंतु गुप्ति योग के निग्रहरूप है। अतएव उसके होनेपर विशेषतया बंध नहीं हो सकता - पूर्ण योगनिरोध हो जाने पर तो बिलकुल ही बंध नहीं होता। अतएव समितिपरिणत की अपेक्षा गुप्ति परिणत के विशेषतया बंध का निषेध किया है।

रागादिकषायों का उत्पन्न होना ही हिंसा है और उनका उत्पन्न न होना अहिंसा है;

जिनागम के इस परमोत्कृष्ट रहस्य का निश्चय कराते हैं :-

परं जिनागमस्येदं रहस्यमवधार्यताम्।
हिंसा रागाद्युत्पत्तिरहिंसा तदनुद्भवः।।२६।।

हृदय में इस बात को अच्छी तरह से धारण कर लो - निश्चित समझो कि सर्वज्ञ भगवान् के उपदिष्ट समस्त आगम का वही परमोत्कृष्ट रहस्य - अंतस्तत्त्व है कि रागद्वेष और मोहरूप परिणामों का प्रादुर्भूत होना ही हिंसा और इन कषायभावों का उत्पन्न न होना ही अहिंसा है।

हिंसा के कारण एक सौ आठ हैं। उनका त्याग करने पर ही अहिंसक हो सकता है; ऐसी शिक्षा देते हैं :-

कषायोद्रेकतो योगैः कृतकारितसम्मतान्।
स्यात्संरम्भसमारम्भानुज्झन्नहिंसकः।।२७।।

क्रोधादि कषायों के उद्रेक से और मन वचन काय के द्वारा किये गये कराये गये और अनुमोदित संरम्भ समारंभ और आरंभ का छोड़नेवाला ही अहिंसक हो सकता है।

भावार्थ :- प्राणव्यपरोपण आदिक कार्यों में प्रमादयुक्त पुरुष के प्रयत्नावेश को संरम्भ कहते हैं। और इन्द्रिय कषाय अव्रत आदि प्रवृत्ति की कारणभूत अभिलाषा को अथवा साध्यरूप हिंसादिक क्रियाओं के साधनों का अभ्यास करने को समारंभ कहते हैं। तथा हिंसादि के संचित उपकरणों के कार्य में सबसे पहले प्रवृत्त होने को आरंभ कहते हैं। क्रोध के वश होकर काय के द्वारा इन तीनों का स्वयं करना अथवा दूसरे से कराना यद्वा कोई दूसरा करे तो उसकी प्रशंसा करना। इसी प्रकार मानादिक के वश होकर करने कराने आदि को गिना जाय तो छत्तीस भंग होते हैं। क्योंकि संरम्भादिक तीनों भेदों को कृत कारित अनुमोदना इन तीन से और क्रोध मान माया लोभ इन चार से

गुणा किया जाय तो छत्तीस भेद होते हैं। ये भेद काय की अपेक्षा से हैं। किंतु इसी प्रकार वचन और मन की अपेक्षा से भी होते हैं। अतएव छत्तीस भेदों का यदि मन वचन काय इन तीनों से गुणा किया जाय तो जीवाधिकरणरूप आस्रव के भेदों के १०८ प्रकार होते हैं। इनमें से किसी भी भंगरूप परिणत जीव हिंसक ही हैं; क्योंकि वह अपने भावप्राणों का और दूसरों के द्रव्य तथा भाव दोनों ही प्राणों का व्यपरोपण करता है। अतएव इन समस्त भावों से रहित ही जीव अहिंसक हो सकता है। जैसा कि कहा भी है :-

रत्तो वा दुट्ठो वा मूढो वा जं पउंजए पउगं।
हिंसावि तत्थ जायदि तम्हा सो हिंसओ होइ।।

जिस किसी भी कार्य में जीव रागी द्वेषी अथवा मोही होकर प्रवृत्ति करता है उसीमें हिंसा होती है और ऐसा करनेवाला जीव हिंसक कहाता है।

ऊपर सामान्य से क्रोधादिक की अपेक्षा एक सौ आठ भेद गिनाये हैं; किंतु अनंतानुबंधी आदि की अपेक्षा विशेष भेद भी होते हैं। सो आगम के अनुसार पृथक् पृथक् समझ लेने चाहिये।

ऊपर भावहिंसा का वर्णन किया है। किंतु उसके भी निमित्तभूत परद्रव्य हैं। अतएव परिणामों की विशुद्धि के लिये - अहिंसाभाव की निर्मलता की सिद्धि के लिये उस परद्रव्य की भी निवृत्ति करने का उपदेश देते हैं :-

हिंसा यद्यपि पुंसः स्यान्न स्वल्पाप्यन्यवस्तुतः।
तथापि हिंसाऽऽयतनाद्विरमेद्भावशुद्धये।।२८।।

यद्यपि पर वस्तु के संबंध से - प्रमत्त परिणामों के विना केवल बाह्यद्रव्य के ही निमित्त से जीव को जरा भी हिंसा का दोष नहीं लगता, तो भी भावशुद्धि के लिये - आत्मा और मन में निर्मलता की स्थिरता और वृद्धि के लिये मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुए रागद्वेषरूप कालुष्य का उच्छेद करने के लिये भावहिंसा के निमित्तभूत बाह्यपदार्थ मित्र शत्रु प्रभृति से भी मुमुक्षुओं को विरत होना चाहिये।

भावार्थ :- हिंसा के उपकरणभूत जीवाधिकरणों की तरह अजीवाधिकरणों का भी त्याग करना चाहिये; जो कि अजीव की पर्यायरूप और हिंसा के आयतन - भावहिंसा के कारण हैं। इस अजीवाधिकरण के चार भेद हैं - निर्वर्तना निक्षेप संयोग और निसर्ग। किसी वस्तु के इस तरह से प्रयुक्त करने अथवा बताने को जिससे वह हिंसा का उपकरण-साधन हो सके, [१] निर्वर्तना कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है; एक शरीरनिर्वर्तना, दूसरी उपकरण निर्वर्तना। शरीर को उस तरह से दुष्प्रयुक्त करने का नाम शरीर निर्वर्तना और सच्छिद्रादिक उपकरणों के उस तरह से उपयुक्त करने का नाम उपकरण निर्वर्तना है।

किसी भी वस्तु के इस तरह से रखने को कि जिससे वह हिंसा का साधन हो सके निक्षेप कहते हैं। यह चार प्रकार का है - सहसा अनाभोग दुःप्रभृष्ट और अप्रत्यवेक्षित। भय आदि के कारण पुस्तकादिक उपकरणों अथवा शरीर के मलादिकों के शीघ्र ही छोड़ देने को सहसा निक्षेप और शीघ्रता न करके भी यहाँ पर जीव हैं या नहीं इस बात का पर्यालोचन किये बिना ही उपकरणादि के छोड देने को अनाभोगनिक्षेप, एवं बुरी तरह से पर्यालोचन - प्रमार्जन करके उन वस्तुओं के छोड देने को दुःप्रमृष्टनिक्षेप, और प्रमार्जन करके उसके बाद फिर 'यहाँ जीव हैं या नहीं' यह देखकर यों ही उपकरणादि के रख देने को अप्रत्यवेक्षित निक्षेप कहते हैं। ये निक्षेप छहों काय के जीवों को बाधा के स्थान हो सकते हैं। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ होनेवाले संबंधविशेष को संयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं - उपकरण संयोग और भक्तपान संयोग। उपकरणों के परस्पर में ऐसे संयोग को जो कि हिंसा का साधन हो सके उपरकरण संयोग और भोजनपान की वस्तुओं के ऐसे संयोग को भक्तपानसंयोग कहते हैं; जैसे कि शीत पुस्तक का धूप आदि से तप्त हुई पीछी आदि के द्वारा झाडना अथवा ढकना। इत्यादि उपकरण संयोग है। तथा सम्मूर्छनादिके संभव होनेपर किसी एक पेय वस्तु को दूसरी पेय वस्तु के साथ अथवा भोजन के साथ यद्वा किसी एक भोजन को दूसरे भोजन के साथ अथवा किसी पेय वस्तु के साथ मिलाने को भक्तपानसंयोग कहते हैं। जैसे कि उष्णजल को शीतजल के साथ अथवा शीत भोजन के साथ मिलाना भक्तपानसंयोग हैं। निसर्ग शब्द का अर्थ स्वभाव होता है। मन वचन और काय की प्रवृत्ति स्वभाव से ही होती है। किंतु इनकी इस तरह से दुष्ट प्रवृत्ति करना कि जो यह हिंसा का साधन हो सके उसको

१ - निर्वर्तनादिक शब्दों का अर्थ कर्मरूप और क्रियारूप दोनों तरह का हो सकता है।

निसर्ग कहते हैं। और अतएव मन वचन काय की अपेक्षा उसके तीन भेद हैं।

जैसा कि कहा भी है -

सहसानाभोगितदु:प्रमार्जिताप्रेक्षितानि निक्षेपे।
देहश्च दु:प्रयुक्तस्तथोपकरणं च निर्वृत्ति:।।
संयोजनमुपकरणे पानाशनयोस्तथैव संयोग:।
वचनमनस्तनवस्ता दुष्टा भेदा निसर्गस्य।।

सहसा अनाभोगित दु:प्रमार्जित और अप्रत्यवेक्षित ये चार निक्षेप के, और दु:प्रयुक्त शरीर तथा उपकरण ये दो निर्वर्तना के, तथा उपकरण संयोग और भक्तपान संयोग ये दो संयोग के, एवं दुष्ट मन वचन काय ये तीन निसर्ग के भेद हैं।

उपर्युक्त कथन का सारांश यही है कि जो मुमुक्षु, प्राणव्यपरोपण अपनी तरह से दूसरे को भी असह्य दु:ख का कारण है ऐसा निश्चित समझना है वह सभी प्राणियों में सम्यग्दर्शी होकर समस्त हिंसा के साधनों का सर्वथा परित्याग कर देता है। इस उपसंहृत अर्थ को ही आगे के पद्य में प्रकट करते हैं :-

मोहादैक्यमवस्यत: स्ववपुषा तन्नाशमप्यात्मनो
नाशं संक्लिशितस्य दु:खमतुलं नित्यस्य यद्द्रव्यत:।
स्याद्भिन्नस्य ततो भवत्यसुभृतस्तद्घोरदु:खं स्ववज्जानन्
प्राणवधं परस्य समधी: कुर्यादकार्यं कथम्।।२९।।

जिसके मोहनीयकर्म के उदय से आत्मा और शरीर दोनों का भेदज्ञान नहीं हुआ है और इसीलिये जो अपने शरीर के साथ अपनी आत्मा की एकता का निश्चय रखता है शरीर ही मैं हूँ और मैं ही शरीर हूँ ऐसा जो समझता है और जो शरीर के नाश को ही उस आत्मा का भी नाश [१] मानता है; जो कि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नित्य

१ - तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।

अविनाशी और उससे कथंचित् भिन्न हैं, एवं च जिसका हृदय शरीर के द्वारा प्रवृत्त होनेवाली व्याधि जरा मरणादि की भीतियों से सदा संक्लिष्ट रहा करता है उस प्राणी को अपने उस अज्ञान के कारण अतुल दुःख हुआ करता है। अतएव जो पुरुष शत्रु और मित्र दोनों में समान बुद्धि रखता है - रागद्वेष से रहित है और जिसके इस बात का निश्चय है कि यह प्राण व्यपरोपण अपनी तरह से दूसरें को भी असह्य दुःख का कारण वह पुरुष प्राणवध जैसा अकार्य - शास्त्र से निषिद्ध और नीतिविरुद्ध अकृत्य को किस तरह कर सकता है ?

भावार्थ :- आत्मा शरीर से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं। क्योंकि शरीर अनित्य और आत्मा नित्य है, तथा संज्ञा संख्या लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से भी दोनों में कथंचित् भेद है। जिससे दोनों का सहसा पृथक्करण नहीं हो सकता, ऐसे बंध के कारण कथंचित् अभेद है। किंतु मोहोदयजनित अज्ञान के कारण कितने ही लोग ऐसा नहीं समझते। और दोनों में सर्वथा भेद ही मानते हैं। ऐसे लोगों के मतानुसार धर्म दयाप्रधान ही है यह बात सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि सर्वथा भेद होने से शरीर का नाश हो जानेपर भी आत्मा का नाश नहीं हो सकता। और इसके विना हिंसा की उपपत्ति, तथा हिंसा के बिना उसकी निवृत्तिरूप दया की सिद्धि नहीं हो सकती। जैसा कि कहा भी है :-

आत्मशरीरविभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेकाः।
कायवधे हन्त कथं तेषां संजायते हिंसा।।

जो अविवेकी आत्मा और शरीर में सर्वथा भेद बताते हैं, आश्चर्य है कि उनके यहाँ पर शरीर के वध से हिंसा किस तरह हो जाती है ?

इसी प्रकार कितने ही लोग उस अज्ञान के कारण ही आत्मा और शरीर में सर्वथा अभेद मानते हैं। किंतु उनके मतानुसार भी दयाप्रधान धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि उनके यहाँ शरीर का नाश होने से आत्मा का ही नाश हो जायगा। और ऐसा होने से परलोक तथा उसके लिये दयाधर्म का अनुष्ठान बन नहीं सकता। यथा :-

जीववपुषोरभेदो येषामैकान्तिको मतः शास्त्रं।
कायविनाशे तेषां जीवविनाशः कथं वार्यः।।

जिनके शास्त्र में आत्मा और शरीर में एकान्त से अभेद माना गया है वे लोग शरीर का नाश होने से आत्मा का भी नाश हो जायगा, इस आपत्ति का निवारण किस तरह कर सकते हैं ?

अतएव शरीर से आत्मा कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है; ऐसा मानने से ही अहिंसारूप परमधर्म की सिद्धि हो सकती है। उक्त अज्ञान के कारण भेदैकान्त और अभेदैकान्त के समान लोगों में नित्यत्वैकान्त और अनित्यत्वैकान्त भी है। किंतु उससे भी दयाधर्म की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि आत्मा यदि नित्य है तो उसका वध ही नहीं हो सकता। और यदि अनित्य है तो सर्वथा विनाश हो जायगा। फिर परलोक के बिना दयाधर्म का अनुष्ठान ही किस तरह बन सकता है ? जैसा कि कहा भी है :-

जीवस्य हिंसा न भवेन्नित्यस्य परिणामिनः।
क्षणिकस्य स्वयं नाशात्कथं हिंसोपपद्यताम्।।

जीव यदि नित्य है तो अपरिणामी भी अवश्य है उसका नाश नहीं हो सकता। और यदि क्षणिक है तो स्वयं जीव का ही सर्वथा नाश हो जायगा। फिर हिंसा किस तरह सिद्ध हो सकती है ? नहीं हो सकती। अतएव प्रमाणसिद्ध जीव को कथंचित् - द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य और कथंचित् - पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनित्य मानना चाहिये। तभी अहिंसा धर्म सिद्ध हो सकता है; क्योंकि नित्यानित्यात्मक जीव में ही हिंसा संभव हो सकती है। और उसके होनेपर ही उसके त्यागरूप दयाधर्म का पालन बन सकता है।

जिन जीवों का मोहोदयजनित अज्ञान नष्ट हो गया है उनके उपर्युक्त एकान्त प्रत्यय नहीं हो सकता। वे आत्मा के अनेकान्तस्वरूप का ही निश्चय करते है। और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही व्रतों का आचरण हो इसलिये वे हिंसा अहिंसा के वास्तविक स्वरूप को भले प्रकार समझकर अहिंसा का पालन कर सकते हैं। रागद्वेषरूप हिंसा और उसके साधनो का त्यागकर समतापरिणामों को धारण कर सकते हैं तथा अपनी तरह दूसरों के लिये भी घोर दुःख के कारण प्राणवध जैसे अकृत्य का त्यागकर सकते हैं। अतएव ज्ञानी मुमुक्षुओं को हिंसा अहिंसा के स्वरूप साधनादिक को समझकर मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना के द्वारा हिंसा का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये यथा :-

षड्जीवनिकायवधं यावज्जीवं मनोवचःकायैः।
कृतकारितानुमननैरुपयुक्तः परिहर सदा त्वम।।

हे भव्य ! इन षट्कायिक जीवों की हिंसा का तू मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना के सभी भंगो से यावज्जीव सर्वथा परित्याग कर।

इस हिंसा के निमित्त से इस लोक और परलोक दोनों ही जगह ऐसे दुःख और क्लेश उपस्थित होते हैं जो कि अत्यंत ही दुर्निवार हैं। इसी बात को दिखाते हुए मुमुक्षुओं को उससे सर्वथा निवृत्ति का उपदेश देते हैं :-

कुष्टप्रष्ठैः करिष्यन्नपि कथमपि यं कर्तुमारभ्य चाप्त -
भ्रंशोपि प्रायशोत्राप्यनुपरममुपद्रूयतेऽतीव रौद्रैः।
यं चक्राणोथ कुर्वन्विधुरमधरधीरेति यत्तत्कथास्तां
कस्तं प्राणातिपातं स्पृशात शुभमतिः सोदरं दुर्गतीनाम्।।३०।।

जो हिंसा दुर्गतियों की सहोदरी है, जिसके कि निमित्त से जीवों को नरकादिक गतियों का भोग अवश्य ही करना पड़ता है; उसके करने कराने की तो बात ही क्या; जो करने की इच्छा भी करता है वह भी इसी जन्म में कोढ जलोदर भगंदर आदि नाना प्रकार के अत्यंत रौद्र - उग्र - दुर्निवार [१] महारोगों से इस तरह से पीड़ित होता है कि जिसमें कुछ काल के लिये भी उनसे उपरति - उपशांति नहीं मिलती। निरंतर इन रोगों से आक्रांत रहकर दुःख भोगा करता है। इस प्रकार हिंसा की इच्छा करनेवाला ही दुःखी - पीड़ित नहीं होता किंतु जिसने उस हिंसा के करने का प्रारंभ तो कर दिया पर उसके कारणों में किसी तरह विघ्न आ पडने के कारण उसको कर न सका तो

---

१ - चिकित्साशास्त्र में आठ महारोग गिनाये हैं। यथा :-
वातव्याध्यश्मरीकुष्टमेहोदरभगंदराः।
अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगाः सुदुस्तराः।।

वह भी प्राय: इसी जन्म में उन रोगजनित दु:खों से पीडित हुआ करता है। प्राय: इसलिये कि कदाचित् किसी दैववश वह इस जन्म में पीडित न भी हो तो भी जन्मांतरों में वह अवश्य ही पीडित होता है। किंतु जो कुबुद्धि इस तरह की हिंसा करता है या जिसने की है उसको जो क्लेश भोगने पडते हैं उनका तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता। अतएव ऐसा कौन शुभमति - मोक्षार्थी भव्य होगा जो कि इस हिंसा का स्पर्श भी करे - कभी भी किसी भी प्रकार से हिंसा में प्रवृत्त हो।

भावार्थ :- उपर्युक्त समस्त कथन का सारांश यही है कि जो मोक्षार्थी हैं उनको इस हिंसा से यावज्जीव सर्वथा विरत होना चाहिये।

हिंसा का दुर्गतियों का दु:ख का एक फल है; इसी बात को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हैं :-

मध्ये मस्करजालि दण्डकवने संसाध्य विद्यां चिरात्
कृष्टं शम्बुकुमारकेण सहसा तं सूर्यहासं दिव:।
धृत्वायान्तमसिं बलाद्रभसया तां च्छिंदता तच्छिर -
श्छिन्नं यत्किल लक्ष्मणेन नरके ही तत्खरं भुज्यते।।३१।।

यह बात आगम में प्रसिद्ध है कि दण्डकवन - पञ्चवटी में बाँसों की जाली के भीतर बैठकर चिरकाल - छह महीने में विद्या को अच्छी तरह - विधिपूर्वक सिद्ध कर - खड्गाधिपति देवता को वशमें करके शम्बुकुमार - सूर्पणखा के पुत्र ने जिस सूर्यहास खड्ग का आकर्षण किया था वह जब आकाश से आने लगा तो उसको झट से उछलकर लक्ष्मण ने बलपूर्वक अपने हस्तगत कर लिया और उसको लेकर शीघ्रता से - बिना विचारे ही उस वंशजाली को काटते हुए शम्बुकुमार का शिर भी काट डाला। उसीका फल है कि लक्ष्मण आज नरक में अत्यंत दु:सह फल भोग रहे हैं।

भावार्थ :- लक्ष्मण ने बिना विचारे - प्रमादपूर्वक जो शम्बुकुमार का शिरच्छेदन किया उससे आजतक उसको नरक के दु:ख भोगने पड रहे हैं। इससे स्पष्ट कि हिंसा का फल एक दुर्गतियों का दु:ख ही है।

हे भव्य ! हिंसा का त्याग न करके भी, मैं हिंसा करता नहीं हूँ इसलिये मोक्षमार्ग पर ही हूँ, ऐसा मत समझ; क्योंकि हिंसा से अविरति भी हिंसापरिणामों की तरह हिंसा ही है और उससे भी वही फल होता है जो कि हिंसापरिणामों से होता हैं। इसी बात का ज्ञानलवदुर्विदग्ध पुरुष को ज्ञान कराते हैं :-

स्थान्न हिंस्यां न नो हिंस्यामित्येव स्यां सुखीति मा।
अविरामोपि यद्वामो हिंसायाः परिणामवत्।।३२।।

हे सुखार्थी भव्य ! 'मैं अहिंसा का पालन नहीं करता तो हिंसा भी नहीं करता हूँ अतएव मुझको अवश्य ही सुखों की प्राप्ति होगी' ऐसा समझकर तू स्वस्थ मत हो- चारित्राराधन की तरफ से उपेक्षित मत हो। क्योंकि हिंसा के परिणामों की तरह उसकी अनुपरति भी विरुद्ध - दुःखकर ही है।

भावार्थ :- बहुत से लोगों की ऐसी समझ है कि 'दुःख का कारण हिंसा है, सो मैं करता नहीं हूँ। अतएव अहिंसा व्रत का पालन न करके भी अतिशयित सुख प्राप्त कर सकता हूँ' इस विषय में ग्रंथकार कहते हैं कि यह बात नहीं है; क्योंकि हिंसा के अत्याग को अहिंसा नहीं कह सकते; वह हिंसा ही है। अतएव वह सुख का कारण नहीं, दुःख का ही कारण है। जैसा कि कहा भी है कि :-

हिंसाया अविरमणं वधपरिणामोपि भवति हिंसैव।
तस्मात्प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।।

वधपरिणामों की तरह हिंसा से अनुपरति भी हिंसा भी हिंसा ही है; क्योंकि प्रमत्त योग से होनेवाले प्राणव्यपरोपण को हिंसा कहते हैं। इसीलिये आत्मकल्याण के अभिलाषियों को अहिंसा व्रतरूप से ही स्वीकार करनी चाहिये।

हिंसा और अहिंसा के क्रमानुसार विशिष्ट फल को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हुए आत्महित का साधन करने के लिये उद्यत हुए भव्यों को नितांत अहिंसापरिणति के लिये ही उद्यम करने की प्रेरणा करते हैं।

धनश्रियां विश्रुतदुःखपाका -
माकर्ण्य हिंसां हितजागरूकाः।
छेत्तुं विपत्तीर्मृगसेनवच्च
श्रियं वरीतुं व्रतयन्त्वहिंसाम्।।३३।।

आत्महित सिद्ध करने के लिये सदा जागृत रहनेवाले मुमुक्षुओं को उस हिंसा का स्वरूप कि जिसका फल घोर दुःखों का अनुभवन प्रसिद्ध है, और जो कि धनश्री को भोगना पडा था; आप्तपुरुषों से सुनकर - समझकर उन विपत्तियों का नाश करने के लिये और लक्ष्मी का वरण करने के लिये मृगसेन नाम के धीवर की तरह से अहिंसा को व्रतरूप से ही स्वीकार करना चाहिये।

भावार्थ :- धनश्री और मृगसेन के उदाहरण से हिंसा और अहिंसा का फल देखकर और गुरुओं से उनके स्वरूप को समझकर आत्मकल्याण के लिये अहिंसाव्रत का ही आराधन करना चाहिये।

वाग्गुप्ति मनोगुप्ति ईर्यासमिति आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन इन पाँच भावनाओं की जिसमें भावना दी गई - संस्कार किया गया है ऐसा अहिंसाव्रत स्थिर होकर परमोत्कृष्ट माहात्म्य को प्राप्त कराता है ऐसा बताते हैं :-

निगृह्णतो वाङ्मनसी यथावन्मार्गं
चरिष्णोर्विधिवद्यथार्हम्।
आदाननिक्षेपकृतोन्नपाने
दृष्टे च भोक्तुः प्रतपत्यहिंसा।।३४।।

जो पुरुष यथार्थ रीति से वचन और मन का निरोध करता है, संक्लेशरहित होकर और सत्कार तथा लोक में ख्याति लाभ पूजा आदि की अपेक्षा - आकांक्षा न करके जो वाग्गुप्ति का पालन करता है, तथा जो शास्त्रोक्त विधि के अनुसार मार्ग में गमन करता है, शरीरप्रमाण भूमि को शोधता हुआ चलकर इर्यासमिति का पालन करता है,

एवं च जो ज्ञान और संयम में विरोध न आवे इस तरह से उनके उपकरणों का आदान तथा निक्षेपण करता है, जो पुस्तकादिक ज्ञान संयम के साधन हैं उनको असंयम का परिहार करते हुए उठाकर या रखकर आदाननिक्षेपण समिति का पालन करता है, और जो भोजन करते समय अन्न और पान को ये योग्य हैं या नहीं यह अपनी आँखों से देखकर ग्रहण करता - आलोकित पान भोजन करता है; ऐसे मुमुक्षु की अहिंसा का प्रभाव अव्याहत हो जाता है। उसकी अहिंसा अमोघशक्ति होकर सर्वोत्कृष्ट माहात्म्य को प्रकट कर देती है।

भावार्थ :- अहिंसाव्रत को स्थिर रखने के लिये और उसके माहात्म्य को उज्जीवित करने के लिये मुमुक्षुओं को उपर्युक्त पाँच भावनाओं से व्रत को संस्कृत करना चाहिये।

इन उक्त भावनाओं के भानेवाले साधुओं का निजानुभव के भार पर निर्भर रहनेवाला अहिंसामहाव्रत अच्छी तरह प्रकाशित होता है; ऐसा बताते हैं :-

सम्यक्त्वप्रभुशक्तिसंपदमलज्ञानामृतांशुद्युति -
र्निःशेषव्रतरत्नखानिरखिलक्लेशाहिताक्ष्यार्हतिः।
आनन्दामृतसिंधुरद्भुतगुणामर्त्यागभोगावनी
श्रीलीलावसतिर्यशःप्रसवभूः प्रोदेत्यहिंसा सताम्।।३५।।

यह अहिंसा सम्यक्त्वरूपी प्रभु की शक्ति संपत्ति के समान है, जिस प्रकार कोई विजिगीषु राजा अपनी मंत्रशक्ति प्रभुशक्ति और [१]उत्साहशक्ति के द्वारा वैरियों को निर्मूल करता है; उसी प्रकार सम्यक्त्व भी इस अहिंसा के द्वारा कर्मों को भी निर्मूल कर देता है। अथवा यह अहिंसा मानो निर्मल ज्ञानरूपी चंद्रमा का उदय है। क्योंकि जिस प्रकार चंद्रमा के उदय से जगत् को आह्लाद उत्पन्न होता है उसी प्रकार अहिंसा से शुद्ध ज्ञान के द्वारा संसार में परम प्रमोद प्रकाशित होता है। यद्वा यह अहिंसा समस्त व्रताचरणरूपी

---

१ - मंत्रशक्तिर्मतिबलं कोषदण्डबलं प्रभोः।
प्रभुशक्तिश्च विक्रान्तिबलमुत्साहशक्तिता।।

बुद्धिबल को मंत्रशक्ति, धन और दण्डबल को प्रभुशक्ति, तथा पराक्रम - शारीरिक बल को उत्साहशक्ति कहते हैं।

रत्नों की खानि है। क्योंकि जिस प्रकार रत्न खानि में ही उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार समस्त चारित्र और व्रतनियमादिक भी इस अहिंसा के रहते हुए ही उत्पन्न हो सकते हैं। जैसा कि कहा भी है :-

सर्वेषां समयानां हृदयं गर्भश्च सर्वशास्त्राणाम्।
व्रतगुणशीलादीनां पिण्डः सारोपि चाऽहिंसा।।

यह अहिंसा समस्त सिद्धांतो का हृदय, समस्त शास्त्रों का गर्भ, और व्रत गुण शील आदि गुणों का पिण्ड है। इस प्रकार समस्त जगत् में सारभूत पदार्थ एक अहिंसा ही है।

यह समस्त क्लेशरूपी सर्पराजों के लिये गरुड का आघात है। क्योंकि जिस प्रकार गरुड की चोंच के आघात से बड़े-बड़े भी सर्प विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार इस अहिंसा के माहात्म्य से विशेष भी क्लेश निःशेष हो जाते हैं। यह आनंदरूपी अमृत का समुद्र है। क्योंकि जिस प्रकार अमृत को सभी लोग चाहते हैं किन्तु उसके उत्पन्न होने का स्थान समुद्र ही है; उसी प्रकार आनंद - प्रमोद को सभी संसारी चाहते हैं किन्तु उसका उत्पत्ति स्थान अहिंसा ही है। यह अद्‌भुत गुणरूपी कल्पवृक्षों की भोगभूमि है। क्योंकि जिस प्रकार कल्पवृक्षों से साक्षात् इच्छित पदार्थ प्राप्त हुआ करते हैं उसी प्रकार अद्‌भुत - जगत् में चमत्कार दिखा देनेवाले तपःसंयमादिक गुणों से भी अभीष्ट विषयों का संपादन होता है। किन्तु जिस प्रकार कल्पवृक्ष भोगभूमि - देवकुरु उत्तरकुरु में ही उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अद्‌भुत गुण भी अहिंसा - भूमि पर ही उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार यह अहिंसा लक्ष्मी के क्रीडा करने का स्थान है। क्योंकि इसी में वह निरातङ्कतया सुखपूर्वक रह सकती है और क्रीडा कर सकती है। इसी प्रकार यह यश के उत्पन्न होने का भी स्थान है - कीर्ति की जन्मभूमि है। क्योंकि इसके रहते हुए ही कीर्तिलता उत्पन्न हो सकती और प्रकाशित हो सकती है। ऐसी यह आठ विशेषणों से विशिष्ट अहिंसा साधुओं के ही अनन्य सामान्यतया प्रकाशित हो सकती है।

भावार्थ :- अहिंसाव्रत का उपसंहार करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि इस अहिंसा का माहात्म्य कहाँ तक कहें। समस्त गुणों की खानि और सभी इष्ट सिद्धियाँ का साधन यह अहिंसा ही हैं। अतएव साधुओं को इसका आराधन करना ही चाहिये। क्योंकि पूर्ण

अहिंसा का पालन साधु ही कर सकते हैं, जिसका कि विशेष स्वरूप पहले बताया जा चुका है।

अहिंसा महाव्रत के अनंतर सत्यमहाव्रत क्रमप्राप्त है। अतएव बारह पद्यों में उसीका व्याख्यान करना चाहते हैं। किंतु उसके पहले यह बताते हैं कि असत्यादि सभी हिंसा की ही पर्याय है। अतएव उनका त्याग भी अहिंसाव्रत में ही अंतर्भूत होता है।

आत्महिंसनहेतुत्वाद्धिंसैवासूनृताद्यपि।
भेदेन तद्विरत्युक्तिः पुनरज्ञानुकम्पया।।३६।
।

केवल प्राणव्यपरोपण ही हिंसा नहीं है, अनृवचनादिक - असत्यभाषण प्रभृति भी हिंसा ही है। क्योंकि वे आत्मघात के हेतु हैं। उससे आत्मा के शुद्ध परिणामों का उपमर्द ही होता है। क्योंकि प्रमत्तयोग के विना असत्य भाषणादिक भी हो नहीं सकते। प्रमत्तयोग अथवा हिंसा का समर्थ कारण भी हिंसा ही है।

प्रश्न :- असत्यभाषणादिक भी यदि हिंसा ही हैं तो आगम में दोनों को पृथक् पृथक् क्यों बताया है ? आचार्यों ने अहिंसा महाव्रत से भिन्न ही सत्यमहाव्रतादि का उपदेश दिया है। और यहाँ भी पहले ऐसा ही लिखा है।

उत्तर :- हिंसा और झूठ आदि के त्याग का भेदरूप से जो उपदेश दिया है उसका कारण केवल यही है कि कहीं अज्ञ - मंदमति पुरुष मोहित न हो जाय - उनकी बुद्धि असत्यादि की अनुपरति की तरफ उन्मुख न हो जाय; इसलिये उनके ऊपर कृपा करके ऐसा उपदेश दिया है। आगम में भी कहा है कि :-

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधार्थम्।।

जितने असत्य वचनादिक हैं वे भी सब हिंसा ही है; क्योंकि वे आत्मपरिणामों के घात के कारण हैं। हिंसा से भिन्न जो उनको दिखाया है सो केवल शिष्यों को ज्ञान

कराने के लिये - मंदबुद्धि शिष्यों की अपेक्षा से।

सत्यव्रत के स्वरूप का निरूपण करते हैं :-

अनृताद्विरतिः सत्यव्रतं जगति पूजितम्।
अनृतं त्वभिधानं स्याद्रागाद्यावेशतोऽसतः।।३७।।

रागद्वेषरूप परिणामों के आवेश से अप्रशस्त वचनों के बोलने को अनृत कहते हैं। इस अनृत के त्याग को ही सत्यव्रत कहते हैं। यह व्रत समस्त जगत् में पूज्य माना गया है।

भावार्थ :- अप्रशस्त वचन वे ही हो सकते हैं जो कि कर्मबंध के कारण हो। जिन वचनों को रागद्वेष या मोह से आक्रांत होकर मनुष्य बोलता है वे ही वचन कर्मबंध के कारण हो सकते हैं। अतएव सत्यव्रत में भी आत्मपरिणामरूप असत्य वचनयोग का त्याग ही मुख्य समझना चाहिये। क्योंकि वही कर्मबंध का कारण है और इसलिये वस्तुतः त्याज्य तो वही है। पौद्गलिक वचन जो कि उक्त वचनयोग के कारण हैं वे तो व्यवहार से ही त्याज्य बताते हैं; न कि वस्तुतः।

असत्य चार प्रकार का है उनका उदाहरणपूर्वक स्वरूप बताकर मन वचन और काय तीनों ही के द्वारा उनके त्याग करने का दो पद्यों में विधान करते हैं :-

नाकालेस्ति नृणां मृतिरिति सत्प्रतिषेधनं शिवेन कृतम्।
क्ष्मादीत्यसदुद्भावनमुक्षा वाजीति विपरीतम्।।३८।।
सावद्याप्रियगर्हितभेदात् त्रिविधं च निंद्यमित्यनृतम्।
दोषोरगवल्मीकं त्यजेच्चतुर्धापि तत् त्रेधा।।३९।।

जिस प्रकार सर्प वल्मीक में ही उत्पन्न होते और उसीमें निवास किया करते हैं; उसी प्रकार वे दोषरूपी सर्प जिनका कि आगे वर्णन करेंगे और जो अनेक प्रकार से अपाय के ही कारण हैं; असत्यरूपी वल्मीक में ही उत्पन्न होते और निवास किया करते हैं। अतएव मुमुक्षुओं को इस दोषों के उत्पत्ति और निवास के स्थान असत्य का मन

वचन और काय से त्याग ही करना चाहिये।

असत्य चार प्रकार का है - सत्यनिषेध, असदुद्भावन, विपरीत और निंद्य। चरमशरीरी मनुष्यों को छोडकर बाकी कर्मभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्यों का अकाल में - आयुकर्म की स्थिति पूर्ण हुए विना - मरण नहीं होता इस तरह के वचनों को सत्यनिषेध कहते हैं। क्योंकि जीवों का मरण विषवेदनादिक निमित्तों से अकाल में भी होता हैं; ऐसा लोक और आगम दोनों ही में देखने में आता है। यथा :-

विसवेयणरत्तक्खयसत्थगहणाइसंकिलेसेहिं।
आहारोस्सासाणं णिरोहओ छिज्जए आऊ।। *

विष वेदना रक्त क्षय शस्त्रग्रहण संक्लेश परिणाम और आहार तथा श्वासोच्छ्वास का निरोधन इन कारणों से आयुकर्म छीज जाता है - कम हो जाता है अथवा उदीरणा में जाकर पूर्ण हो जाता है।

इसी विषय में दूसरे तो ऐसा कहते हैं कि :-

मरणं प्राणिनां दृष्टमायुःपुण्योभयक्षयात्।
तयोरप्यक्षयाद् दृष्टं विषमाऽपरिहारिणाम्।।

आयु और पुण्य दोनों के क्षीण होने से प्राणियों का मरण होता है। किंतु विषम आयु और पुण्य के धारण करनेवालों का उन दोनों के क्षीण हुए विना भी मरण हो जाता है। अर्थात् या तो आयु पुण्य के विपरीत हो जाय अथवा आयु के विपरीत हो जाय तो भी जीवों का मरण हो जाता है। क्योंकि जीवन के कारण अनुकूल आयु और पुण्य दोनों हैं। इस कथन से तथा विषभक्षणादि करनेवाले तथा शस्त्र से आहत होनेवाले आदि जीवों का मरण होता हुआ लोक में भी देखने में आता हैं। इससे सिद्ध है कि अकाल में भी जीवों का मरण होता है। अतएव इस प्रकार के सद्भूत पदार्थ के निषेध

---

* - 'विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं।
उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ।।'
ऐसा भी पाठ है। इसमें भय को भी गिना है।

करने को सत्प्रतिषेध नाम का असत्य समझना चाहिये।

जो पदार्थ नहीं है - असत् है उसके निरूपण करने को असदुद्भावननामक असत्य का दूसरा भेद समझना चाहिये। जैसे कि यह निरूपण करना कि 'इस जगत् को - पृथिवी पर्वत वृक्षादिकों को महेश्वर ने बनाया है। अथवा 'देवताओं का अकाल में भी मरण होता है।' क्योंकि जगत् का महेश्वर के द्वारा बनाया जाना असत् है। क्योंकि वह प्रमाण से बाधित है - किसी भी प्रमाण से यह बात सिद्ध नहीं होती कि जगत् का कर्ता महेश्वर है। और स्वयं उन्होंने भी कहा है कि 'न कदाचिदनीदृशं जगत्। यह अनुपम जगत् कभी नहीं बना।' अतएव यह बात असत् है। इसी प्रकार अकाल में देवताओं का मरण भी असत् है। ऐसे ही असद्भूत पदार्थों के निरूपण करने को असदुद्भावन नाम का असत्य कहते हैं। किसी पदार्थ को दूसरा पदार्थ बताना इसको विपरीत नाम का असत्य कहते हैं। जैसे कि गौ को घोडा कहना। शास्त्र अथवा लोक से विरुद्ध वचन को निंद्य नाम का असत्य कहते हैं। इसके तीन भेद हैं - सावद्य अप्रिय और गर्हित। हिंसोत्पादक वचन को सावद्य, अरुचिकर भाषण को अप्रिय, और धिक्कार के योग्य अथवा अनादरणीय शब्दों को निंद्य कहते हैं।

ऊपर चार प्रकार के असत्य को जिन दोषरूपी सर्पों की वामी बताया था उन्ही दोषों का निरूपण करते हैं :-

यद्विश्वव्यवहारविप्लवकरं यत्प्राणिघाताद्यघ, -
द्वारं यद्विषशस्त्रपावकतिरस्कारोद्धुराहंकृति।
यन्म्लेच्छेष्वपि गर्हितं तदनृतं जल्पन्न चेद्रौरव -
प्रायाः पश्यति दुर्गतीः किमिति ही जिह्वाच्छिदाद्यान् कुधीः।।४०।।

सत्प्रतिषेध असदुद्भावन और विपरीत इन तीन प्रकार के असत्यों से सभी लौकिक और शास्त्रीय व्यवहारों प्रवृत्तिनिवृत्ति की पद्धतियों का विप्लव हो जाता है। जगत् का समस्त व्यवहार अथवा वर्णाश्रमधर्म का आचार व्यवहार इन असत्यों से नष्ट अथवा विपरीत हो जाता है। सावद्य नामका जो असत्य है वह हिंसा चोरी और कुशील आदि से उत्पन्न

होनेवाले पापों का द्वार है। 'क्योंकि जमीन को खोद डाल, ठंडे [१]पानी से ही स्नान कर ले, पूआ तो पका ले, थोडे फूल तोड ले, यह चोर है' इत्यादि अनेक प्रकार के वचनों के मार्ग से ही उन पापों का आस्रव होता है। अप्रिय नाम का जो असत्य है उसका अहंकार तो इतना उत्कट है कि जो विष शस्त्र और अग्नि का भी तिरस्कार करता है। क्योंकि विष से उतने मोहित नहीं हो सकते जितने कि अप्रिय वचनों से होते हैं। उसी प्रकार शस्त्र से आहत होकर मनुष्यों को उतना असह्य दु:ख नहीं हो सकता जितना कि अप्रियवचनों को सुनकर होता है। एवं च अग्नि से भी मनुष्य उतने संतप्त नहीं हो सकते जितने कि अप्रिय शब्दों से होते हैं।

गर्हित वचनों को निंद्य कहते हैं। इस विषय में कहा है कि :-

'पैशून्यहास्यगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्।।'

चुगली या हास्यपूर्णवचन अथवा कर्कश अयोग्य, और भी जो उत्सूत्र भाषणादिक हैं वे सभी गर्हितवचन कहे जाते हैं। इस तरह के वचन, आर्यपुरुषों की तो बात ही क्या, म्लेच्छों में भी निंद्य समझे जाते हैं। जो सर्व धर्मों से बहिष्कृत हैं उनको म्लेच्छ कहते हैं। ऐसे लोग भी जिस वचन का आदर नहीं करते और उसको घृणा की दृष्टि से देखते हैं; तो उस वचन को आर्यलोग तो बोल ही किस तरह सकते हैं ? इन असत्य वचनों के बोलनेवाला कुबुद्धि मनुष्य जब रौरव प्रभृति नरकादिक दुर्गतियों को ही नहीं देख सकता तो हाय, वह जिह्वाछेदादिक अपायों को तो देख ही किस तरह सकता है।

भावार्थ :- असत्य भाषण करने से संसार में अनेक अनर्थ तो होते ही हैं, किंतु जो ऐसे वचनों के बोलनेवाला है, स्वयं उसको भी इस भव में जिह्वाछेदन स्वजनवियोग मित्र तिरस्कार और सर्वस्वहरणप्रभृति दण्ड मिलते हैं और परभव में अनेक नरकादिक दुर्गतियाँ भोगनी पडती हैं। अतएव मुमुक्षुओं को उक्त दोषरूपी सर्पों से पृथक् रहने के लिये चारों ही प्रकार के असत्य का त्याग करना चाहिये।

जिससे लोक में चमत्कार दिखा देनेवाले फल बहुलतया प्राप्त होते हैं उस सत्य और

---

१ - सचित्त पानी से।

प्रशस्त वचन का ही नित्य सेवन करने का उपदेश देते हैं :-

विद्याकामगवीशकृत्करिमरिप्रातीप्यसर्पौषधं
कीर्तिस्वस्तटिनी हिमाचलतटं शिष्टाब्जषण्डोष्णगुम्।
वाग्देवीललनाविलासकमलं श्रीसिन्धुवेलाविधुं
विश्वोद्धारचणं गृणन्तु निपुणाः शश्वद्वचः सूनृतम्।।४१।।

जो विधिपूर्वक साधन करने से सिद्ध होती हैं उनको विद्या कहते हैं। ये विद्याएँ इच्छित पदार्थों को दिया करती हैं इसलिये इनको कामधेनु के समान समझना चाहिये। किंतु जिस प्रकार बच्चे से पसुराये बिना गौ दूध नहीं देती; उसी प्रकार सत्य वचन के बिना ये विद्याएँ भी इच्छित पदार्थ नहीं दे सकतीं। अतएव विद्यारूपी कामधेनु का बच्चा, यह सत्यवचन ही है। कहा भी है कि :-

सत्यं वदन्ति मुनयो मुनिभिर्विद्या विनिर्मिता सर्वाः।
म्लेंच्छानामपि विद्याः सत्यभृतां सिद्धिमायान्ति।।

जितनी विद्याएँ हैं वे सब मुनियों की बनाई हुई हैं। और मुनिलोग सत्य ही बोलते हैं अतएव जो सत्य भाषण करनेवाले हैं उन्हीं को वे सिद्ध होती हैं। जो म्लेंच्छ होनेपर भी सत्यभाषी हैं तो उनको भी वे विद्याएँ सिद्ध ही हो जाती हैं।

शत्रुओं द्वारा किये गये अपकार रूपी अपाय के कारणभूत सर्प का यह सत्य वचन प्रतीकार - इलाज है। और अत्यंत निर्मल तथा जगत् को आह्लादित करनेवाली कीर्तिरूपी गङ्गा का मानो यह हिमवान् पर्वत है। क्योंकि जिस प्रकार गङ्गा की उत्पत्ति हिमवान् से ही होती है उसी प्रकार कीर्ति का जन्म और प्रचार भी इस सत्य वचन से ही होता है। यह शिष्टपुरुष रूपी कमलवन के लिये मानो सूर्य के समान है; क्योंकि लोक का उपकार करनेवाले सत्पुरुष जब कि कमलवन के सदृश हैं तो जिस प्रकार सूर्य को देखकर कमलवन खिल जाता है उसी प्रकार सत्य वचन को पाकर सत्पुरुष भी विकसित

हो जाते हैं। प्रीति के उत्पन्न करनेवाली वाग्देवी - सरस्वतीरूपी ललना का मानो यह विलासकमल - क्रीडाकमल ही है। जिस प्रकार क्रीडाकमल ललनाओं की रति का कारण होता है उसी प्रकार सत्यवचन भी सरस्वती की प्रीति का कारण है। लक्ष्मीरूपी समुद्र की वेला के लिये मानो यह चंद्रमा के समान है। क्योंकि जिस प्रकार चंद्रमा को पाकर समुद्र की वेला, बढ़ने लगती है उसी प्रकार सत्यवचन के निमित्त से लक्ष्मी की भी वृद्धि होने लगती है। इस प्रकार समस्त जगत् का विपत्तियों से उद्धार कर देने में समर्थ इस सत्यवचन का ही मुमुक्षुओं को निरंतर भाषण करना चाहिये।

भावार्थ :- यह सत्यवचन छह विशेष गुणों से युक्त हैं। १ इससे विद्याएँ सिद्ध होती, २ शत्रुओं का प्रतीकार होता, ३ कीर्ति विस्तृत होती, ४ सत्पुरुष आह्लादित होते, ५ सरस्वती प्रसन्न होती, और ६ लक्ष्मी सिद्ध होती है। अतएव जगत् का उद्धार करने में समर्थ और अद्‌भुत चमत्कारों से युक्त इस सत्यवचन का ही सूक्ष्मदृष्टि रखनेवाले मुमुक्षुओं को निरंतर भाषण करना चाहिये।

उपर्युक्त सत्यवचन के स्वरूप का निरूपण करते हैं :-

सत्यं प्रियं हितं चाहुः सूनृतं सूनृतव्रताः।
तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रियं चाहितं च यत्।।४२।।

सत्य का व्रत रखनेवाले 'मैं सत्य ही बोलूंगा' इस तरह की दृढ प्रतिज्ञा में निष्णात व्यक्तियों ने सत्य का स्वरूप इस प्रकार कहा है कि सत् - उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक पदार्थ के ऐसे निरूपण करने को सत्य कहते हैं जो सत् - प्रशस्त योग्य तथा प्राणियों के कल्याण का कारण हो; जो सुननेवालों को आह्लाद उत्पन्न करनेवाला हो; और जिससे जीवों का उपकार हो। किंतु उस सत्य को भी सत्य न समझना चाहिये जो कि अप्रिय और अहितकर हो। चोर को चोर कहना यद्यपि यथावत् पदार्थ का निरूपण करना ही है। फिर भी अप्रियवचन होने के कारण उसको असत्य ही कहा है। क्योंकि असत्य भाषण के जो दोष बताये हैं वे कर्कशादिक वचन बोलनेवाले को भी लगते हैं। यथा: -

असत्यवचन के जो लौकिक और पारलौकिक दोष बताये हैं वे ही सब कर्कश

वचनादिकों के भी समझने चाहिये।

साधुओं को सज्जन पुरुषों का समीचीन कल्याण करने के लिये समयानुसार ही बोलना चाहिये; ऐसी शिक्षा देते हैं :-

साधुरत्नाकरः प्रोद्यद्दयापीयूषनिर्भरः।
समये सुमनस्तृप्तयै वचनामृतमुद्गिरेत्।।४३।।

उछलते हुए दयारूपी पीयूष - अनुकंपारूपी अमृत से निरंतर पूर्ण रहनेवाले और गांभीर्यादिक अनेक गुणों से युक्त तथा सिद्धि का साधन करने के लिये उद्यत, अतएव रत्नाकर - समुद्र के समान साधु को, देवों के समान सज्जनों को तृप्त करने के लिये अपना वचनरूपी अमृत समयानुसार ही प्रकट करना चाहिये। प्रकरण और आगम के अनुरूप ही बोलना चाहिये।

साधुओं को मुख्यतया मौन ही धारण करना चाहिये। किन्तु यदि कदाचित् बोलना भी पडे तो जिससे आत्मकल्याण में विरोध न आवे इस तरह से ही बोलना चाहिये; ऐसा उपदेश देते हैं :-

मौनमेव सदा कुर्यादार्यः स्वार्थैकसिद्धये।
स्वैकसाध्ये परार्थे वा ब्रूयात्स्वार्थाविरोधतः।।४४।।

अनेक गुण अथवा गुणवान पुरुष जिसका आश्रय लेते हैं ऐसे साधु को परोपकार की अपेक्षा न करके केवल अपनी आत्मा का कल्याण सिद्ध करने के लिये निरंतर मौन ही धारण करना चाहिये। अथवा यदि कोई ऐसा परोपकार का कार्य हो जो कि एक अपने द्वारा ही सिद्ध हो सकता हो तो, उस विषय में बोलना भी चाहिये। किंतु स्वार्थ - आत्मकल्याण में किसी तरह का विरोध न आवे इस तरह का बोलना चाहिये।

भावार्थ :- साधुओं को परोपदेशादिक भी करना चाहिये; किंतु आत्मसिद्धि में किसी तरह विरोध न आवे - बाधा उपस्थित न हो इस तरह से ही वह करना उचित है। क्योंकि यह कार्य गौण है। मुख्यतया तो साधुओं को मौन ही धारण करना चाहिये। कहा भी

है कि :-

मौनमेव हितं पुंसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये।
वचो वातिप्रियं तथ्यं सर्वसत्त्वौपकारि यत्।।

समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि के लिये मनुष्यों को निरंतर मौन ही धारण करना चाहिये। अथवा समस्त जीवों का उपकार करनेवाला अत्यंत प्रिय और सत्य वचन बोलना चाहिये। और भी कहा है कि :-

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे स्वसिद्धान्तार्थविप्लवे।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने।।

जहाँ पर धर्म का नाश होता हो, या क्रियाकाण्ड का ध्वंस होता हो, अथवा आत्मसिद्धांत के अर्थ का विप्लव होता हो, वहाँ पर उनका सत्यस्वरूप प्रकाशित करने के लिये बिना पूछे भी बोलना चाहिये।

क्रोध लोभ भीरुत्व और हास्य इन चार भावों का प्रत्याख्यान - त्याग तथा अनुवीचिभाषण इस तरह पांच भावनाओं को करनेवाले साधु को अपने सत्यव्रत का माहात्म्य अच्छी तरह उद्दीप्त करना चाहिये। इस बात की शिक्षा देते हैं :-

हत्वा हास्यं कफवल्लोभमपास्यामवद्भयं भित्त्वा।
वातवदपोह्य कोपं पित्तवदनुसूत्रयेद्गिरं स्वस्थः।।४५।।

स्वस्थ साधुओं को उचित है कि वे हास्यकषाय को कफ की तरह नष्ट करके, और लोभकषाय को आम विकार की तरह दूर करके, तथा भय को वातदोष की तरह छोडकर; अथवा कोप - क्रोध को पित्त की तरह त्याग कर सूत्रानुसार ही वचन बोलें।

भावार्थ :- व्याधिरहित पुरुष को स्वस्थ कहते हैं - यथा :-

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।

जिसके वात पित्त और कफ समान हैं तथा जिसकी अग्नि समान है और जिसकी धातु तथा मल की क्रियाएँ भी समान एवं जिसके आत्मा इन्द्रिय और मन सदा प्रसन्न रहते हैं उस मनुष्य को स्वस्थ समझना चाहिये। किन्तु प्रकृत में स्व - अपने स्वरूप में ही स्थित होने या रहनेवाले को - जो परद्रव्य के संबंध से सर्वथा रहित है उसको - स्वस्थ कहते हैं; ऐसा अर्थ समझना चाहिये। अतएव जो समस्त परद्रव्यों से संबंध छोड चुका है ऐसे साधु को हास्यकषाय इस तरह से छोड देनी चाहिये जिस तरहसे कि लोग कफ को छोड देते हैं। क्योंकि कफ - श्लेष्मा की तरह हास्य भी जाड्य और मोह - मूर्छा आदि को उत्पन्न करनेवाला है। इसी प्रकार लोभ को [१] आम की तरह अत्यंत दुर्जय विकार समझकर, और भय को वात विकार के समान मन में विप्लव कर देनेवाला समझकर तथा क्रोध को पित्त की तरह अत्यंत संताप उत्पन्न करनेवाला समझकर दूर कर देना चाहिये। ऐसा करने पर ही वह मुमुक्षु पूर्णतया स्वस्थ हो सकता है। कफादिक के उदाहरण देकर हास्यादिके त्याग करने का जो उपदेश दिया है उससे यह अभिप्राय भी समझ लेना चाहिये कि साधु को इन बाह्य विकारों से भी रहित होना चाहिये। क्योंकि व्याधिरहित होकर ही वह आत्मपद का साधन अच्छी तरह कर सकता है।

सत्य वचन और मृषाभाषण का उदाहरण द्वारा फलविशेष दिखाते हैं :-

सत्यवादीह चामुत्र मोदते धनदेववत्।
मृषावादी सधिक्कारं यात्यधो वसुराजवत्।।४६।।

---

१ - आमाशय को प्राप्त दूषित रस को आम कहते हैं। यथा :-

ऊष्मणोल्पबलत्वेन धातुमान्द्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते।।

कोई कोई अतिदूषित वात पित्त कफ के परस्पर में मिलने से आम की उत्पत्ति मानते हैं। यथा :-

अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योन्यमूर्छनात्।
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य संभवम्।।

जो सत्यभाषण करनेवाला है वह पुरुष इस लोक में और परलोक में दोनों ही जगह [१] धनदेव की तरह से प्रमोद को प्राप्त होता और सुखी होता है। किंतु जो मृषाभाषण करनेवाला है वह [२] वसुराजा की तरह जगत् में निंदित होता और अंत में अधोगति - नरकादिक को जाकर प्राप्त होता है।

सत्य दश प्रकार का है :- जनपद - देश, संमति, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीति, संभावना, भाव, व्यवहार, और उपमान। उदाहरण द्वारा इनका स्वरूप प्रकट करते हैं :-

सत्यं नाम्नि नरीश्वरो, जनपदे चोरोन्धसि, स्थापने
देवोक्षादिषु, दारयेदपि गिरिं शीर्षेण संभावने।
भावे प्रासु, पचौदनं व्यवहृतौ, दीर्घः प्रतीत्येति ना
पल्यं चोपमितौ सितः शशधरो रूपेम्बुजं सम्मतौ।।४७।।

ऐश्वर्य न रहनेपर भी व्यवहारमात्र प्रयोजन सिद्ध करने के लिये किसी साधारण मनुष्य की ईश्वर संज्ञा रख देना इसको नामसत्य कहते हैं। किसी देश या प्रांतविशेष की अपेक्षा विषयविशेष में रूढ शब्द को जनपदसत्य कहते हैं। जैसे कि भात को किसी किसी देश में चोर कहते हैं। यह कहना उस देश की अपेक्षा से सत्य है। किसी एक पदार्थ में दूसरे पदार्थका सा व्यवहार करने के लिये उस दूसरे पदार्थ के भाव को निक्षिप्त करने का नाम स्थापना है। और तद्नुसार निरूपण करने को स्थापनासत्य कहते हैं। किसी द्विन्द्रिय कायविशेष को अथवा शतरंज के मुहरों को यद्वा पाषाणादिक को, यह देव है, ऐसा कहना। जो पदार्थ या कार्य जिस रूप में हो सकता है उस रूप में कभी न होनेपर भी उस पदार्थ या कार्य की उस योग्यता के निदर्शन को संभावनासत्य कहते हैं। जैसे कि यह कहना कि 'अपने शिर से यह पर्वत का भी भेदन कर सकता है।' कोई कोई आचार्य इसकी जगह संयोजना सत्य कहते बताते हैं। जैसा कि चारित्रसारमें भी कहा है कि 'धूप चूर्ण वासना लेप चटनी आदिक में किस पदार्थ का कितना भाग रखना उसके विधान करनेवाले वचन को अथवा पद्म मकर हंस सर्वतोभद्र क्रौंच चंद्र शकट

१ - २ इन दोनों की कथाएँ ग्रंथान्तरों में प्रसिद्ध हैं।

आदिक सेना के व्यूह - रचना विशेष प्रभृति में चेतन और अचेतन पदार्थ के कितने भाग को और कहाँ पर विभक्त करना, इस बात के बतानेवाले शब्दों को संयोजनासत्य कहते हैं।' किसी पदार्थ की यथार्थ सूक्ष्म अवस्थाविशेष के प्रकट करनेवाले शब्दों को भावसत्य कहते हैं। जैसे कि छद्मस्थज्ञानी - अल्पज्ञान के धारण करनेवाले संयमी अथवा श्रावकों से जो कि द्रव्य के पूर्ण स्वरूप को देख नहीं सकते, उनके संयमादिक गुणों का पालन करने के लिये सचित्त वस्तु को, यह अप्रासुक है, ऐसा कहना तथा अचित्त वस्तु को, यह प्रासुक है, ऐसा कहना। जिनसे अहिंसादिक भावों का पालन हो सकता है उन वचनों को भी भावसत्य कहते हैं; जैसे कि यह कहना कि देख सोधकर अपने आचार में प्रवृत्त हो और सावधान रह। लोकव्यवहार के अनुरूप वचन को व्यवहारसत्य कहते हैं। जैसे कि पके हुए भी चावलों - भात के विषय में यह कहना कि 'चावल करलो - पकालो' अथवा 'चावल किये हैं' इत्यादि। एक पदार्थ में किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा से कुछ भी वर्णन करने को प्रतीत्यसत्य कहते हैं। जैसे कि यह कहना कि 'यह आदमी लंबा है।' यद्यपि उससे भी अधिक लंबाई पाई जाती है तथा प्रत्येक आदमी में भी कुछ न कुछ लंबाई रहती ही है; फिर भी सर्व साधारण की अपेक्षा से कुछ अधिक लंबाई बताने के लिये ही ऐसा कहा है। यही प्रतीति इस शब्द से होती है। अतएव ऐसे सत्य वचन को प्रतीत सत्य कहते हैं। तुलनात्मकता दिखानेवाले शब्द को उपमितिसत्य कहते हैं। जैसे कि पल्य - खास की सदृशता की अपेक्षा से नाप - विशेषको भी [१] पल्य कहना। अन्य वर्णों के रहते हुए भी किसी विवक्षित वर्ण की अपेक्षा से उस पदार्थ को वैसा ही कहना इसको रूपसत्य कहते हैं। जैसे कि चंद्रमा में काले दाग के रहते हुए भी उसकी अपेक्षा न करके उसको सफेत कहना। जिसमें लोगों का किसी प्रकार विवाद न हो, सभी उसको सत्य समझे ऐसे वचन को संमतिसत्य कहते हैं। जैसे कि कीचड आदि कारणों से उत्पन्न होनेपर भी कमल को अंबुज - अंबु - जल से उत्पन्न होनेवाला कहना।

---

१ - उपमा मान के आठ भेदों में से एक भेदरूप संख्याविशेष। इसका प्रमाण गोम्मटसारादिक में देखना चाहिये।

आगम में भी इसी प्रकार सत्य के दश भेद गिनाये हैं। यथा :-

देशेष्टस्थापनानामरूपापेक्षाजनोक्तिषु।
संभावनोपमाभावेष्विति सत्यं दशात्मना।।
ओदनोप्युच्यते चोरो राज्ञी देवीति संमता।
दृषदप्युच्यते देवो दुर्विधोपीश्वराभिधः।।
दृष्टाधरादिरागापि कृष्णकेश्यपि भारती।
प्राचुर्याच्छ्वेतरूपस्य सर्वशुक्लेति सा स्तुता।।
ह्रस्वापेक्षो भवेद्दीर्घः पच्यन्ते किल मण्डकाः।
अपि मुष्ट्या पिनष्टीन्द्रो गिरीन्द्रमपि शक्तितः।।
अतद्रूपापि चन्द्रास्या कामिन्युपमयोच्यते।
चौरे दृष्टेप्यदृष्टोक्तिरित्यादि वदतां नृणाम्।।
स्यान्मण्डलाद्यपेक्षायां सत्यं दशविधं वचः।

सत्य दश प्रकार का है - १ जनपद, २ संमति, ३ स्थापना, ४ नाम, ५ रूप, ६ अपेक्षा, ७ व्यवहार, ८ संभावना, ९ उपमा, १० भाव। इनके उदाहरण क्रम से इस प्रकार हैं - १ भात को चोर कहना, २ रानी को देवी कहना, ३ पत्थर को देव कहना, ४ भाग्यहीन अथवा कुरूप को भी ईश्वर कहना, ५ यद्यपि भारती के अधर रक्त और केश काले होते हैं फिर भी श्वेतरूप प्रचुरता से पाया जाता है, इसलिये उसको सर्वशुक्ला कहना, ६ किसी वस्तु को उससे भी छोटी वस्तु की अपेक्षा दीर्घ कहना, ७ बनी हुई रोटी के विषय में यह कहना कि पक रही है, ८ इन्द्र यदि शक्ति से काम ले तो वह अपनी मुष्टि से सुमेरु का भी चूर्ण कर सकता है, ९ चंद्रमा के सदृश रूप न रहते हुए भी किसी कामिनी को चंद्रमुखी कहना, १० देखे हुए भी चोर को विना देखा हुआ कहना।

ऊपर के श्लोक में उपमा सत्य के उदाहरण का उल्लेख करते हुए पल्य शब्द के साथ जो च शब्द का प्रयोग किया है सो वह अनुक्तविषयक भी समुच्चय दिखाने के लिये है। अतएव उसमें यह अर्थ भी संगृहीत हो जाता है। नौ प्रकार के असत्यमृषारूप अनुभयवचन को भी यदि साधु आगम से अविरुद्ध बोले तो उससे उसके सत्यव्रत की

हानि नहीं होती। क्योंकि ऐसे इन वचनों से सत्य का अतिवर्तन नहीं होता। यथा :-

सत्यमसत्यालीकव्यलीकदोषादिवर्ज्यमनवद्यम्।
सूत्रानुसारि वदतो भाषासमितिर्भवेच्छुद्धा।।

असत्य अलीक व्यलीक आदि दोषों से रहित अनवद्य और सूत्र के अविरुद्ध बोलनेवाले साधु की भाषासमिति शुद्ध समझी जाती है।

ऊपर जिनका उल्लेख किया है उन नौ प्रकार के अनुभय वचनों को गिनाते और स्पष्ट करते हैं।

याचनी ज्ञापनी पृच्छानयनी संशयिन्यपि।
आह्वानीच्छानुकूला वाक् प्रत्याख्यान्यप्यनक्षरा।।
असत्यमोषभाषेति नवधा बोधिता जिनैः।
व्यक्ताव्यक्तमतिज्ञानं वक्तुः श्रोतुश्च यद्भवेत्।।

१ याचनी, २ ज्ञापनी, ३ पृच्छा, ४ आनयनी, ५ संशयिनी, ६ आह्वानी, ७ इच्छानुकूला, ८ प्रत्याख्यानी, और ९ अनक्षरा। इस प्रकार असत्यमृषाभाषा के जिनेन्द्र देवने ९ भेद गिनाये हैं। इन ९ प्रकार के वचनों को असत्यमृषा इसलिये कहते हैं कि इनके वक्ता और श्रोता दोनों को इनके वाच्यविषय का जो मतिज्ञान होता है वह कुछ व्यक्त और कुछ अव्यक्त होता है।

इन नौ भेदों का विवरण करते हैं -

त्वामहं याचयिष्यामि ज्ञापयिष्यामि किंचन।
प्रष्टुमिच्छामि किंचित्त्वामानेष्यामि च किंचन।।
बालः किमेष वक्तीति ब्रूत संदेग्धि मे मनः।
आह्वयाम्येहि भो भिक्षो करोम्याज्ञां तव प्रभो।।
किंचित्त्वां त्याजयिष्यामि हुं करोत्यत्र गौः कुतः।
याचन्यादिषु दृष्टान्ता इत्थमेते प्रदर्शिताः।।

१ मैं तुम से याचना करवाऊंगा, २ मैं कुछ जनावना चाहता हूँ, ३ मैं कुछ पूछना चाहता हूँ, ४ मैं कुछ लाऊंगा, ५ यह बालक क्या कर रहा है ? बताओ तो मेरा मन संदेह में पड़ गया है, ६ हे साधो ! मैं तुम को बुला रहा हूँ, यहाँ आओ, ७ जो आपकी आज्ञा होगी वही करूंगा, ८ मैं तुमसे कुछ छुडवा दूंगा, ९ यहाँ पर गौ हुँ हुँ क्यों कर रही है। ये क्रम से याचनी आदि भाषा के उदाहरण हैं। इसी तरह और भी समझ लेने चाहिये।

इस प्रकार सत्य का स्वरूप और भेद प्रभेद समझकर साधुओं को सत्यमहाव्रत का पालन करना चाहिये। मैं कुछ अयोग्य वचन नहीं बोलता; एतावता मेरे सत्यव्रत का पालन हो गया; ऐसा मुमुक्षुओं को समझकर संतोष धारण न कर लेना चाहिये। उन्हे असत्य वचनों का सुनना भी छोड़ना चाहिये; क्योंकि उनको सुनकर अशुभ परिणामों का होना संभव है और उनसे फिर महान् कर्मबंध हो सकता है। अतएव साधुओं को यत्न के साथ उन वचनों का सुनना छोड़ देना चाहिये कि जिनसे अशुभ परिणामों का होना संभव हो। जैसा कि आगम में भी कहा है कि :-

तव्विवरीदं सच्चं कज्जे काले मिद सविसए य।
भत्तादिकहारहिदं भणाहि तं चेव य सुणाहि।।

साधुओं को योग्य कार्य योग्य काल और अपने विषय में मित और भक्तादि कथाओं से रहित सत्यवचन बोलना चाहिये और ऐसे ही वचन को उन्हें सुनना भी चाहिये।

इस सत्यमहाव्रत का व्याख्यान पूरा करके क्रमप्राप्त अचौर्यमहाव्रत का ग्यारह पद्यों में व्याख्यान करने की इच्छा से पहले चोरी के दोष दिखाते हुए उसके त्याग करने का उपदेश देते हैं :-

दौर्गत्याद्युग्रदुःखाग्रकारणं परदारणम्।
हेयं स्तेयं त्रिधा राध्दुमहिंसामिष्टदेवताम्।।४८।।

इच्छित पदार्थों को देनेवाली तथा अभिमत देवता के समान अहिंसा का आराधन करने के लिये मुमुक्षुओं को उस स्तेय - चौरकर्म का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये;

जो कि दुर्गति - नरकादिकों के उग्र - महान् दु:ख का प्रधान कारण, और दूसरों का अच्छी तरह विनाश करनेवाला है। क्योंकि चोरी में प्रवृत्ति करनेवाले को परलोक में नरकादिक की जो प्राप्ति होती है वह और उसके सिवाय इस लोक में दारिद्र्य वध बंधन आदि शारीरिक तथा मानसिक जो संतापरूप फल प्राप्त होते हैं वे सब स्पष्ट हैं। यथा :-

'वधबन्धयातनाश्च छायाघातं च परिभवं शोकम्।
स्वयमपि लभते चौरो मरणं सर्वस्वहरणं च।।'

चोरी करनेवाला मनुष्य वधबंधन की यातनाओं अथवा और भी अनेक प्रकार की यातनाओं - दु:खों को, तथा छायाघात - अपनी या पराई छाया के देखने से ही आहत हो जाना, परिभव - तिरस्कार, और शोक को स्वयं ही प्राप्त होता है। किंतु इनके सिवाय मरण और सर्वस्वहरण जैसे फल भी उसको प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार चोरी के निमित्त से जो दूसरों का घात होता है सो भी स्पष्ट है। क्योंकि :-

अर्थेपहृते पुरुष: प्रोन्मत्तो विगतचेतनो भवति।
म्रियते कृतहाकारो रिक्तं खलु जीवितं जन्तो:।।

धन का हरण हो जानेपर मनुष्य अत्यंत उन्मत्त और चेतनाशून्य हो जाता है तथा हाय हाय करता हुआ मर जाता है।

और भी कहा है कि :-

जीवति सुखं धने सति बहुपुत्रकलत्रमित्रसंयुक्त:।
धनमपहरता तेषां जीवितमप्यपहृतं भवति।।

धन के रहते हुए ही मनुष्य अपने बहुत से पुत्र कलत्र मित्र प्रभृति बंधु बांधवो के साथ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है। अतएव जो मनुष्य ही उसके धन का अपहरण करता है वह क्या उसके जीवन का ही अपहरण नहीं करता ? अवश्य करता है। इससे सिद्ध है कि चोरी करनेवाला मनुष्य परघात जैसे अकृत्यको भी करता ही है।

धन का अपहार करना मानो उन प्राणियों के प्राणों का अपहरण करना है, यह बात दिखाते हैं :-

त्रैलोक्येनाप्यविक्रेयानऽनुप्राणयतोऽङ्गिनाम्।
प्राणान्रायोऽणकः प्रायो हरन् हरति निर्घृणः।।४९।।

जिन प्राणों को प्राणी त्रिलोकी के मूल्य से भी बेचना नहीं चाहते उन प्राणों का अनुवर्तन करनेवाले धन का जो निकृष्ट पापी निर्घृण - करुणारहित होकर हरण करता है वह प्रायः उन मनुष्यों के प्राणों का ही हरण करता है। क्योंकि यदि किसीसे यह कहा जाय कि 'हम तुम को तीन लोक की संपत्ति देंगे; उसके बदले में तुम हम को अपने प्राण दे दो' तो कोई भी इस बात पर राजी न होगा। इससे मालूम होता है कि मनुष्यों को अपने प्राण सबसे अधिक प्रिय हैं। और साथ ही साथ प्रत्येक मनुष्य धन को भी अपने प्राणों से अधिक ही समझता है। क्योंकि प्राण जाते भी वह धन को जाने देना नहीं चाहता। इससे यह बात भी मालूम होती है कि मनुष्यों का धन उनके श्वासोच्छ्वास के साथ ही श्वासोच्छ्वास लेता है - जीवित रहता है। जिस प्रकार मनुष्य स्वयं अपने प्राणों का अनुगमन करता है उसी प्रकार अपने धन को वह प्राणों का अनुगमन करता है - प्राणों के साथ ही धन को रखता है। अतएव जो मनुष्य किसी के धन का हरण करता है वह उसके प्राणों का हरण करता है और वह निकृष्ट पापी तथा निर्दय व्यक्ति है ऐसा ही समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि -

पापास्रवणद्वारं परधनहरणं वदन्ति परमेव।
चौरः पापतरोसौ शौकनिकव्याधजारेभ्यः।।

चोरी करनेवाला मनुष्य अहेरिया व्याध और जार पुरुष से कहीं अधिक पापी है। क्योंकि आगम में दूसरों के धन के हरण को अत्यंत उत्कृष्ट ही पापस्रव का द्वार बताया है।

चोरी करनेवाले के माता पिता प्रभृति भी यही चाहते हैं कि यह हम से सदा और सर्वत्र दूर ही रहे। यही बात दिखाते हैं -

दोषान्तरजुषं जातु मातापित्रादयो नरम्।
संगृह्णन्ति न तु स्तेयमषीकृष्णमुखं क्वचित्।।५०।।

यदि कोई मनुष्य चोरी के सिवाय और कुछ अपराध करे तो कदाचित् उसके माता पिता भाई बहिन आदि बांधव उसको आश्रय दे सकते हैं। - छिपा सकते हैं। किंतु जिसका मुख चौरकर्मरूपी कज्जल से काला हो गया है उसको वे कभी आश्रय नहीं दे सकते।

भावार्थ :- चोरी करनेवाले को संसार में कोई भी शरण नहीं दे सकता। जब माता पिता ही नहीं दे सकते तब और कौन दे सकता है। कहा भी है कि :-

अन्यापराधबाधामनुभवतो भवति कोपि पक्षेपि।
चौर्यापराधभाजो भवति न पक्षे निजोपि जनः।।
अन्यस्मिन्नपराधे ददति जना वासमात्मनो गेहे।
मातापि निजे सदने यच्छति वासं न चौरस्य।।

दूसरे अपराधों से पीडित होनेवाले के पक्ष में कदाचित् कोई आदमी हो भी जाय पर चौरी का अपराध करनेवाले के पक्ष में निज का - कुटुम्ब का भी आदमी नहीं हो सकता।

दूसरे अपराधों के होनेपर मनुष्य उस अपराधी को अपने घर में जगह - आश्रय दे दिया करते हैं। किंतु चोरी का अपराध करनेवाले को माँ भी अपने घर में जगह नहीं दिया करती।

चोरी करनेवाले के अत्यंत दु:सह दु:खों के कारणभूत कर्मों का जो बंध होता है उसको बताते हैं :-

भोगस्वाददुराशयाऽर्थलहरीलुब्धोऽसमीक्ष्यैहिकी:
स्वस्य स्वै: सममापद: कटुतरा: स्वस्यैव चामुष्मिकी:।
आरुह्यासमसाहसं परधनं मुष्णन्नधं तस्कर -
स्तत्किंचिच्चिनुते वधान्तविपदो यस्य प्रसूनश्रिय:।।५१।।

चोरी करनेवाला मनुष्य उस अनिर्वचनीय पापकर्म का संचय करता है कि जिसकी वध - प्राणदण्डपर्यन्त होनेवाली विपत्तियाँ ही पुष्पसंपत्ति हैं। क्योंकि अपने कुटुम्बियों - बंधु बांधवों के साथ में जो स्वयं भोगनी पडती है उन इहलोक संबंधी उक्त प्राणदंडान्त विपत्तियों को तथा उन से भी अधिक कटु और जो केवल अपने को ही भोगनी पडती हैं ऐसी परलोक में प्राप्त होनेवालीं आपत्तियों को न देखकर - उनपर किसी प्रकार का विचार न करके और असाधारण साहस पर आरूढ होकर जो वह परधन का हरण करता है सो केवल विषयभोगों का स्वाद लेने की दुष्ट आशा से और एकसाथ ही प्रचुर धन के आने में लुब्ध होकर - गृद्धि रखकर ही करता है।

भावार्थ :- चोरी करनेवाले को जिन कर्मों के उदय से ऐहिक तथा पारलौकिक असह्य यातनाओं को सहन करना पडता है उनके बंध के कारण वे दुर्भाव हैं जो कि विषयभोगों की लोलुपता को तृप्त करने के लिये युगपत् प्रचुरधन प्राप्त करने की इच्छा से दूसरों के धनापहार की गृद्धिरूप होते हैं। इन अभिकांक्षारूप परिणामों से तीव्र कर्मों का संचय होता और फिर उनके उदय से असह्य दु:ख प्राप्त होते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि चोरी करनेवाले के जो दुर्भाव होते हैं उनके अनुसार दोनों भवों में प्राप्त होनेवाले दु:सह दु:खों के कारणभूत घोर पापकर्म का बंध हुआ करता है।

चोरी और उसका परित्याग दोनों का दृष्टांतपूर्वक फल बताते हैं :-

श्रुत्वा विपत्ती: श्रीभूतेस्तद्भवेन्यभवेष्वपि।
स्तेयात्तद्व्रतयेन्माढिमारोढुं वारिषेणवत्।।५२।।

श्रीभूति की तरह इस चोरी के निमित्त से इस भव में तथा भवान्तरोंमें भी विपत्तियाँ प्राप्त होती हैं उनको सुनकर मुमुक्षुओं को पूज्यता पर आरूढ होने के लिये वारिषेण की तरह से चौरकर्म का त्याग ही करना चाहिये।

भावार्थ :- चोरी के निमित्त से दोनों ही भव में जीव को श्रीभूति की तरह विपत्तियाँ प्राप्त होती और उसके त्याग से वारिषेण की तरह पूज्यता प्राप्त होती है। अतएव अचौर्यव्रत धारण करना उचित है।

और भी चोरी के दोषों को प्रकाशित करते हुए उसका त्याग करने के लिये दृढ करते हैं :-

गुणविद्यायशःशर्मधर्ममर्माविधः सुधीः।
अदत्तादानतो दूरे चरेत्सर्वत्र सर्वथा।।५३।।

गुण विद्या यश शर्म - कल्याण और धर्म इन सब के मर्म का छेदन करनेवाले अदत्तादान से सम्यग्ज्ञानियों को सर्वत्र - समस्त देश और समस्त काल में तथा सर्वथा - सभी भंगों से दूर ही रहना चाहिये।

भावार्थ :- दूसरे की बिना दी हुई किसी भी धनादिक वस्तु के ग्रहण कर लेने को चोरी कहते हैं। जिस प्रकार प्राणियों के मर्म पर आघात होते ही उसका मरण हो जाता है उसी प्रकार चौरकर्म में प्रवृत्ति होते ही मनुष्यों के कुलीनता नम्रता धीरता आदि गुण तथा अनेक प्रकार की विद्याएँ और सुख तथा धर्म सब नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञान और संयमादिक के साधनों को यदि कोई विधिपूर्वक दे तो उनको ग्रहण करना चाहिये। ऐसी शिक्षा देते हैं :-

वसतिविकृतिबर्हवृसीपुस्तककुण्डीपुरःसरं श्रमणैः।
श्रामण्यसाधनमवग्रहविनाग्राह्यमिन्द्रादेः।।५४।।

आगम में मुनियों को कोई भी पदार्थ ग्रहण करने का जो विधान बताया है उसी विधि के अनुसार यदि कोई देवेन्द्र या नृपति प्रभृति श्रामण्य के साधन - अध्ययन, कायशुद्धि, तथा संयमादिक की सिद्धि के लिये कारणभूत वसति - प्रतिश्रय, विकृति - भष्म, बर्ह - पिच्छ, वृसी - व्रतियों का आसन, पुस्तक कमण्डलु आदि पदार्थ दे तो तपस्वियों को वे ग्रहण करने चाहिये।

भावार्थ :- साधुओं को रंचमात्र भी अदत्त वस्तु ग्रहण न करनी चाहिये। यदि कोई दे भी तो आगमोक्त विधि के अनुसार दी हुई और ज्ञान तथा संयम का जो साधन हो ऐसी ही वस्तु ग्रहण करनी चाहिये।

विधिपूर्वक दिये हुए संयमादिके साधनों को ग्रहण करके जो साधु यथोक्त संयम का पालन करता है उसीका अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, ऐसा उपदेश देते हैं :-

शचीशधात्रीशगृहेशदेवतासधर्मणां धर्मकृतेस्ति वस्तु यत्।
ततस्तदादाय यथागमं चरन्नऽचौर्यचंचुः श्रियमेति शाश्वतीम्।।५५।।

शचीश - इंद्र - प्रकृत में पूर्व पश्चिम और दक्षिण दिशा का स्वामी सौधर्मेन्द्र तथा उत्तर दिशा का अधिपति ऐशानेन्द्र और भूपति - राजा, एवं वसतिका का स्वामी गृहेश, तथा क्षेत्र का अधिष्ठाता देव, और अपने संग के साधु, इनकी ऐसी वस्तु जो धर्म का साधन हो उसको उसके स्वामी की आज्ञा से ग्रहण करके आगमानुसार संयम का अनुष्ठान करनेवाला साधु अचौर्यव्रत में दृढ रह सकता और शाश्वत - अविनश्वर लक्ष्मी - मुक्तिश्री को पात्र कर सकता है।

भावार्थ :- साधु को कोई भी अदत्त वस्तु ग्रहण न करनी चाहिये। यदि इंद्र राजा गृहेश देवता और साथी साधु इनमें से किसी की ऐसी कोई वस्तु हो कि जिसके निमित्त से अपने ज्ञान संयम का साधन हो सकता हो तो वह भी उस वस्तु के स्वामी की आज्ञा से लेकर ही अपने उस ज्ञानसंयम साधन के काम में लेनी चाहिये। ऐसा करने पर ही उसका अचौर्यव्रत स्थिर रह सकता है।

अचौर्यव्रत को स्थिर रखने के लिये और उसके माहात्म्य को उद्दीप्त करने के लिये साधुओं को १ शून्यागार २ विमोचितावास ३ परोपरोधाकरण ४ भैक्ष्यशुद्धि और ५ सधर्माविसंवाद,

इन पाँच भावनाओं के भाने का उपदेश देते हैं :-

शून्यं पदं विमोचितमुतावसेद्भैक्ष्यशुद्धिमनुयस्येत्।
न विसंवदेत्सधर्मभिरुपरुपन्ध्यान्न परमप्यचौर्यपरः।।५६।।

तृतीय अचौर्यव्रत का पालन करनेवाले साधु को शून्य-निजर्न गुहा गृह प्रभृति तथा विमोचित-परचक्रादिक जिसको खाली करके चलो गये हैं ऐसे स्थान में निवास करना चाहिये। और भैक्ष्य-भिक्षाओं में अथवा भिक्षा से प्राप्त अन्न में शुद्धि का विचार करके - पिंडशुद्धि के प्रकरण में जो भिक्षा के दोष बताये हैं उनका परिहार करके प्रवृत्ति करनी चाहिये। तथा यह तेरा है यह मेरा है यह समझकर अथवा ऐसा प्रकरण उपस्थित करके साधर्मी साधुओं अथवा श्रावकादिक से विसंवाद - झगडा उपस्थित न करना चाहिये। एवं च दूसरों को रोकना भी न चाहिये - अभ्यर्थनादिक के द्वारा किसी का संकोच न करना चाहिये। यदि कोई श्रावकादिक अन्य पुरुष भी उस स्थानादि पर आवें तो उनके प्रतिबंध का प्रयत्न न करना चाहिये। इन पांच भावनाओं के निमित्त से साधुओं का अचौर्यव्रत स्थिर रहता और उद्दीप्त होता है।

अचौर्यव्रत की भावनाओं को प्रकारान्तर से बताते हैं :-

योग्यं गृह्णन् स्वाम्यनुज्ञातमस्यन्
सक्तिं तत्र प्रत्तमप्यर्थवत्तत्।
गृह्णन् भोज्येप्यस्तगर्धोपसङ्गः
स्वाङ्गालोची स्यान्निरीहः परस्वे।।५७।।

स्वामी के द्वारा अनुज्ञात और योग्य - संयम अथवा ज्ञान की साधक वस्तु का ही ग्रहण करते हुए, तथा उसके ग्रहण करनेमें भी आसक्ति का त्याग करते हुए, एवं च दी गई वस्तु को भी प्रयोजन मात्र ग्रहण करते हुए साधुओं को पर वस्तु में सर्वथा

निरीह होना चाहिये। इसी प्रकार भोज्य वस्तु के ग्रहण में तथा शरीर में गृद्धि का परित्याग कर और परिग्रह से रहित हो तथा अपने शरीर का आलोचन करते हुए अथवा आत्मा और शरीर में भेदावलोकन करते हुए मुमुक्षुओं को पर वस्तुओं में आकांक्षा न करनी चाहिये।

भावार्थ :- यहाँ पर दो प्रकार से पाँच पाँच भावनाएँ बताई हैं। एक आचारशास्त्र के अनुसार, दूसरी प्रतिक्रमणशास्त्र के अनुसार। आचारशास्त्र में कहा है कि -

उपादानं मतस्यैव मते चासक्तबुद्धिता।
ग्राह्यस्यार्थकृतो लानमितरस्य तु वर्जनम्।।
अप्रवेशोऽमतेऽगारे गृहिभिर्गोचरादिषु।
तृतीये भावना योग्ययाञ्चा सूत्रानुसारतः।।

तृतीय - अचौर्यव्रत में ये पाँच भावनाएँ भानी चाहिये। १ अनुमत - स्वामी के द्वारा अनुज्ञात और योग्य ही वस्तु का ग्रहण करना, २ और अनुमत वस्तु में भी आसक्तबुद्धि न रखना, ३ तथा जितने से अपना प्रयोजन सिद्ध हो उतना ही उसको ग्रहण करना बाकी को छोड देना, ४ गोचरादिक करते समय जिस गृह में प्रवेश करने की उसके स्वामी की अनुमति नहीं है उसमें प्रवेश न करना, ५ और सूत्र के अनुसार योग्य विषय की ही याचना करना।

इन्ही पाँच भावनाओं का ग्रंथकार ने पूर्वार्ध में निदर्शन किया है। स्वामी के द्वारा अनुज्ञात इस विशेषण से तीन भावनाओं का संग्रह होता है। १ आचारशास्त्र में कही हुई विधि के अनुसार योग्य वस्तु का याचन और २ योग्य ग्रहण, तथा ३ जिस गृह में उसके स्वामी की प्रवेशाज्ञा नहीं है उसमें प्रवेश न करना। क्योंकि ये तीनों ही विषय स्वामी की अनुज्ञा से संबंध रखते हैं। इसी प्रकार योग्य और अनुज्ञात वस्तुके भी ग्रहण करने में आसक्ति न रखनेरूप चतुर्थ भावना तथा प्रयोजनमात्र ही उस वस्तु के ग्रहण करनेरूप पाँचवीं भावना स्पष्ट है। ये भावनाएँ आचरशास्त्र के अनुसार हैं।

उत्तरार्ध में प्रतिक्रमणशास्त्र के अनुसार पाँच भावनाओं का स्वरूप बताया है। प्रतिक्रमणशास्त्र में कहा है कि :-

देहणं भावणं चावि उग्गहं च परिग्गहे।
संतुट्ठो भत्तपाणेषु तदियं वदमस्सिदो।।

तृतीय अचौर्यव्रत को आश्रित - प्राप्त साधु के लिये आगम में ये पाँच भावनाएँ बताई हैं। १ देहन - शरीर की अशुचिता या अनित्यता आदि का विचार, २ भावन - आत्मा और शरीर को भिन्न भिन्न समझना और निरंतर पुनः पुनः ऐसा विचार करना कि ये शरीरादिक मानों आत्मा के एक प्रकार के खेल हैं। कर्म के उदय से आत्मा पर इनका व्यर्थ ही बोझ लदा हुआ है जिनसे कि उसका कुछ भी उपकार नहीं होता, इत्यादि। ३ परिग्रह का निग्रह - त्याग, जितने भी चेतन या अचेतनरूप पर पदार्थ हैं उनके संपर्क से अथवा उनमें ममत्व रखने से आत्मा अपने हित में मूर्छित हो जाती है - अपने वास्तविक कल्याण की सिद्धि नहीं कर सकती। अतएव इनका परिहार करना ही उचित है; ऐसा विचार करना। ४ भक्तसंतोष - विधिपूर्वक जैसा भी भोजन प्राप्त हो जाय; चाहे खीर हो चाहे शाक हो उसीमें संतोष धारण करना और ऐसा समझना कि यह तो केवल शरीर की स्थिरता का उपायमात्र है। यदि न लिया जाय तो शरीर स्थिर नहीं रह सकता। और उसके बिना तपश्चरण द्वारा कर्मों का निर्जरण नहीं किया जा सकता। अतएव उसकी स्थिरता के लिये निरंतराय और विधिपूर्वक जो योग्य शुद्ध भोजन मिल गया वही ठीक है। अथवा भोजन न मिलने पर ऐसा विचार करना कि अच्छा हुआ, अंतरायकर्म उदय में आकर निर्जीर्ण हो गया। अतः मुझको भोजन नहीं मिला। इसलिये मेरी कुछ हानि नहीं हुई, इत्यादि। ५ पानसंतोष - भोज्य वस्तु की तरह पेय वस्तु के लाभालाभमें भी संतोष धारण करना और उसकी प्राप्ति के लिये गृद्धि - लोलुपता न रखना।

इन्ही पाँच भावनाओं को ग्रंथकार ने इस पद्य में उत्तरार्ध में बताया है। जिनमें से भोज्य में गृद्धि का त्याग बताकर भक्तसंतोष और पानसंतोष इन दो भावनाओं को और अपि शब्द से देह में अशुचित्वादि की भावना को, तथा अपसङ्ग शब्द से परिग्रहत्याग की चौथी भावना को और स्वाङ्गालोची शब्द से आत्मा और शरीर के भेद विज्ञानरूपी

पाँचवी भावना को दिखाया है। इन भावनाओं के निमित्त से ही अस्तेयव्रत स्थिर रह सकता है। अतएव साधुओं को आचारशास्त्र के अनुसार योग्य याचन योग्य ग्रहण अननुप्रवेश अनासक्ति और अर्थवद्ग्रहण इन पाँच भावनाओं को तथा प्रतिक्रमणशास्त्र के अनुसार भक्तसंतोष पानसंतोष देहन अपसङ्ग और स्वाङ्गालोचन इन पाँच भावनाओं को भाना चाहिये। और इनका भावन करते हुए पर वस्तु के विषय में सर्वथा निरीह होना चाहिये। ऐसा करने पर ही अस्तेयव्रत स्थिर रह सकता और उसका माहात्म्य उद्दीप्त हो सकता है।

जिस प्रकार अस्तैयव्रत की भावनाओं को प्रकारान्तर से यहाँ बताया है उसी प्रकार दूसरे व्रतों की भी भावनाएँ प्रकारान्तर से ग्रंथान्तरों में और भी बताई हैं। उनको आगम और प्रकरण के अनुसार समझ लेना चाहिये।

अस्तेयव्रत की अत्यंत दृढता पर अच्छी तरह आरूढ हुए और प्रौढ महिमा के धारण करनेवाले साधुओं को जो परम पद की प्राप्ति होती है उसकी प्रशंसा करते हैं :-

ते संतोषरसायनव्यसनिनो जीवन्तु यैः शुद्धचि -
न्मात्रोन्मेषपराङ्मुखाऽखिलजगद्दौर्जन्यगर्जद्भुजम्।
जित्वा लोभमनल्पकिल्विषविषस्रोतः परस्वं शकृन्
मन्वानैः स्वमहत्त्वलुप्तखमंद दासीक्रियन्ते श्रियः।।५८।।

शुद्धचिन्मात्र - समस्त विकल्पों से रहित निश्चल चैतन्य के उन्मेष - साक्षात् अनुभवोपयोग से पराङ्मुख अतएव अशुद्ध चिद्विवर्त का ही अनुभवन करनेवाले इस समस्त जगत् में - बहिरात्म प्राणिगणों में जिसकी भुजाएँ अपने दौर्जन्य - अपकार कर्तृत्व की गर्जना कर रही हैं - इस संसार में हम ही प्राणियों का सबसे अधिक अपकार करने में समर्थ हैं ऐसा उद्घोषण करनेवाले - तीन जगत् के विजेता लोभकषाय को - गृद्धिरूप परिणाम को जीतकर जो तपस्वी दूसरों के धन को शकृत् - विष्टा के समान अथवा ऐसा समझते हैं मानों यह बडे भारी पापरूपी विष का स्त्रोत - नदी का पूर है। और इसीलिये जो अपने महत्त्व से आकाश के भी महत्त्व का लोप करते हुए लक्ष्मियों - संपदाओं को दासी - किंकरी बना लेते हैं। ऐसे संतोषरूपी रसायन का ही सेवन करने में निरंतर तत्पर रहनेवाले साधुगण सदा जीवित रहें - दया दम त्याग समाधिरूप प्राणों को निरंतर धारण करें।

भावार्थ :- यद्यपि लोभकषाय जगद्विजयी है और उसने इस जगत् को - शुद्धात्मस्वरूप के अनुभवन से दूरकर रक्खा है फिर भी वह संतोष के द्वारा जीता जा सकता है। यथा प्राप्त योग्य वस्तु के उपयोग में ही अपना समीचीन हित समझने को संतोष कहते हैं। यह संतोष रसायन के समान है; क्योंकि इसका सेवन दीर्घायुरादिक गुणों की प्राप्ति का कारण है। इसीके निमित्त से साधु पुरुष दूसरों के धन में निरीह होकर - अस्तेयव्रत का दृढता के साथ पालन करके आकाशसे भी अधिक महत्ता प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि जो दूसरों के धन में स्पृहा नहीं रखता उससे भी अधिक महान् और कौन हो सकता है। ऐसे पुरुष की समस्त संपत्तियाँ दासी बन जाती हैं और वह दया दम त्यागदिकरूप प्राणों को धारण कर चिरंजीवी हो, परमपद को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार अचौर्यमहाव्रत का व्याख्यान पूर्ण करके अब क्रमप्राप्त ब्रह्मचर्यमहाव्रत का पैंतालीस पद्यों में व्याख्यान करना चाहते हैं। किंतु मुमुक्षुओं को उसका पालन करने के लिये विशेष रुचि उत्पन्न हो इसलिये पहले उसके माहात्म्य का वर्णन करके नित्य ही उसका पालन करने में उद्यम करने की प्रेरणा करते हैं -

प्रादुःषन्ति यतः फलन्निजगुणाः सर्वेप्यखर्वौजसो
यत्प्रव्हीकुरुते चकास्ति च यतस्तद्ब्राह्ममुञ्चैर्महः।
त्यक्त्वा स्त्रीविषयस्पृहादि दशधाऽब्रह्मामलं पालय
स्त्रीवैराग्यनिमित्तपञ्चकपरस्तद् ब्रह्मचर्यं सदा।।५९।।

जिसके निमित्त से अथवा जिसके होनेपर आत्मा के अहिंसादिक भाव बृहत् होते - बढते हैं उस शुद्ध निजात्मा की अनुभूतिरूप परिणति को ब्रह्म, और उससे भिन्न मैथुनभाव को अब्रह्म कहते हैं। जिस प्रकार ब्रह्म के निमित्त से अहिंसादिक भाव बढ़ते उसी प्रकार अब्रह्म के होनेपर हिंसादिक भाव बढ़ते हैं। क्योंकि मैथुन सेवन में उद्यत हुआ मनुष्य स्थावर और त्रस दोनों ही प्रकार के प्राणियों की हिंसा करता; मृषाभाषण करता; अदत्तवस्तु का ग्रहण करता; और चेतन तथा अचेतन परिग्रह का संग्रह भी करता है। इस तरह स्वभाव से ही दूषित इस अब्रह्म के, स्त्रीसंबंधी रूप रस गंध स्पर्श शब्दप्रभृति विषयों में स्पृहा - अभिलाषा से लेकर बस्तिमोक्षादिक दश भेद हैं जिनका कि आगे चलकर वर्णन

करेंगे। इस दशों प्रकार के अब्रह्म को हे मोक्षार्थी भव्य तू देव गुरु और साधर्मियों की साक्षी से छोड़कर मानुषी तिरश्ची दैवी और उनकी प्रतिमा इस तरह चारों ही प्रकार की स्त्रियों में वैराग्य - रिरंसा - रमण करने की इच्छा का निग्रह करने के लिये जो काम के दोषों का पुनः पुनः विचारप्रभृति पाँच निमित्त कारण बताये हैं जिनका कि स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे उनमें प्रधानतया तत्पर रहकर उस ग्रहण किये हुए निर्मल - निरतीचार ब्रह्मचर्य का सदा - यावज्जीवन पालन कर - उसको अच्छी तरह उद्दीप्त कर। क्योंकि इस ब्रह्मचर्य के ही निमित्त से व्रत शील प्रभृति गुण - संयम के भेद प्रादुर्भूत होते और फलते हैं - आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। तथा जितने भी अखर्व तेज के धारण करनेवाले हैं वे सब इसके सामने नम्र होते हैं। और इसीके निमित्त से शब्द अथवा केवलज्ञानरूपी ब्रह्म का वह श्रुतकेवलित्व अथवा केवलित्वपर्यंत उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ और स्वपरप्रकाशक तेज प्रकाशित होता है जो कि प्रसिद्ध है।

भावार्थ :- ब्रह्मचर्य के होनेपर ही संयम उत्पन्न और सफल हो सकता तथा सांसारिक प्रभुता भी जागृत हो सकती है। क्योंकि इसके तेज के सामने नारायण प्रतिनारायण चक्रवर्ती और प्रतीन्द्रादिक की तो बात ही क्या, अखर्व - बढते हुए और उन्नत तेज तथा उत्साह के धारण करनेवाले इंद्र अथवा अहमिन्द्रादिक भी खडे नहीं रह सकते, नत हो जाते हैं। और इसीके निमित्त से आत्मा का वास्तविक ज्ञानस्वरूप आविर्भूत होता है। अतएव हे मुमुक्षो ! इस तरह के ब्रह्मचर्य का तुझ को देव गुरु और साधर्मि की साक्षी से ग्रहण कर यावज्जीवन पालन करना चाहिये। और उसके विरोधी स्त्रीविषयाभिलाषप्रभृति अब्रह्मभावों का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य के स्वरूप का निरूपण कर उसका पालन करनेवालों को
जो परमानंद प्राप्त होता है उसको बताते हैं।

या ब्रह्माणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचः प्रवृत्तिः।
तद्ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम्।।६०।।

दृष्ट श्रुत और अनुभूत इन तीनों ही प्रकार के भोगों की आकांक्षारूप निदान तथा

और भी जो रागादिरूप वैभाविक मल - दोष हैं उन सबसे रहित होने के कारण यह आत्मा शुद्ध और समस्त पदार्थों का युगपत् साक्षात्कार - प्रत्यक्ष अवलोकन करने में समर्थ है इसलिये बुद्ध है। ऐसे शुद्ध और बुद्ध निजात्मा - अपने चित्स्वरूप ब्रह्म में पर द्रव्यों का त्याग करनेवाले - अपने और पर के शरीर से भी ममत्वरहित व्यक्ति की जो प्रवृत्ति - अप्रतिहत परिणतिरूप चर्या होती है उसीको ब्रह्मचर्य कहते हैं। क्योंकि 'ब्रह्म में चर्या सो ब्रह्मचर्य' ऐसा ही निरुक्तिपूर्व अर्थ वैयाकरण भी करते हैं। यह व्रत समस्तव्रतों में सार्वभौम के समान है। क्योंकि समस्त भूमि के अधिपति चक्रवर्ती को सार्वभौम कहते हैं। जिसप्रकार पृथ्वी के सभी राजा मुकुटबद्ध तक भी चक्रवर्ती के ही अधीन रहा करते हैं उसी प्रकार शेष सभी व्रतों की वृत्ति - प्रवृत्ति ब्रह्मचर्य के अधीन हो सकती है। इसके बिना कोई व्रत पल नहीं सकता। अतएव मुमुक्षु इस ब्रह्मचर्य का पालन - रक्षण करते हैं - उसको अतीचारों से दूषित नहीं होने देते वे ही पुरुष परमप्रमोद - सर्वोत्कृष्ट आनंद - मोक्षसुख को प्राप्त किया करते हैं।

भावार्थ :- समस्त वैभाविक भावों और उनके कारणों से रहित होकर शुद्ध बुद्ध आत्मस्वरूप में रमण करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

निरस्तान्याङ्गरागस्य स्वदेहेपि विरागिणः।
जीवे ब्रह्मणि या चर्या ब्रह्मचर्यं तदीर्यते।।

अपने और दूसरे के भी शरीर में रागरहित पुरुष को जो आत्मस्वरूप ब्रह्म में चर्या होती है उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह सब व्रतों में प्रधान है। अतएव इसके निरतीचार पालने से ही अविनश्वर अनंत आत्मिक सुख प्राप्त हो सकता है।

दश प्रकार के ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिये दश प्रकार के अब्रह्म का त्याग करने की प्रेरणा करते हैं :-

मा रूपादिरसं पिपास सुदृशां मा बस्तिमोक्षं कृथा
वृष्यं स्त्रिशयनादिकं च भज मा मा दा वराङ्गे दृशम्।

मा स्त्रीं सत्कुरु मा च संस्कुरु रतं वृत्तं स्मरस्मार्य मा
वत्स्यन्मेच्छ जुषस्व मेष्टविषयान् द्विःपञ्चधा ब्रह्मणे।।६१।।

हे आर्य ! दश प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये - देव गुरु और साधर्मियों की साक्षी से ग्रहण किये हुए मैथुनविरतिरूपव्रत को सिद्धि के लिये इन दश कामों को तू मत कर - एक तो सुंदरियों के रूपादिक [१] रस का पान करने की अभिलाषा मत कर। उनके मुख प्रभृति अंगों के सौंदर्य का चक्षुओं के द्वारा, बिम्बाफल के समान ओष्ठों के रस का जिह्वा इंद्रिय के द्वारा, निःश्वसितादिक की सुंदर गंध का घ्राणेंद्रिय के द्वारा, पीन - घन और उन्नत स्तनादिकों के स्पर्श का स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा, गीतादिक के मनोहर शब्दों का श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा परिभोग करने की इच्छा मत कर। दूसरे, बस्तिमोक्ष - लिङ्ग की विकारक्रिया को तू मत कर ! क्योंकि लिङ्ग की विकारक्रिया के त्याग करने को ही तो ब्रह्मचर्य कहते हैं। अतएव ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये तू इस क्रिया को मत कर। तीसरे, वृष्य पदार्थों का सेवन मत कर। दूध वगैरह अथवा अन्न में उर्द वगैरह जो ऐसे पदार्थ हैं कि शुक्र की वृद्धि करनेवाले हैं उसका सेवन मत कर। चौथे, वृष्य पदार्थ का ही नहीं किंतु स्त्रीशयनासनादिक का भी सेवन मत कर। क्योंकि जिस प्रकार कामिनियों के अङ्ग के स्पर्श से प्रीति की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार उनके शयनासनादिक भी प्रीति की उत्पत्ति के निमित्त हैं। जैसा कि कामियों को होता हुआ देखते हैं। अतएव स्त्रीसंबंधी [२] शयन और आसन का भी सेवन न करना चाहिये - उन पर बैठना न चाहिये। पाँचवें, तू अपनी दृष्टि को उनके वराङ्ग - योनिस्थान की तरफ मत लगा। दृष्टि से मतलब केवल द्रव्यचक्षु को ही नहीं किंतु भावचक्षु को भी मत लगा। क्योंकि उसका विचार भी रागोद्रेक तथा अब्रह्म का बडा भारी कारण है। अतएव उनके कामाङ्ग को तू निगाह में भी मत ला। छठे, उनका सत्कार - सम्मान मत कर। सातवें, वस्त्र माला आदि श्रृङ्गारसामग्री से उनका संस्कार - भूषण - श्रृङ्गार मत कर। आठवें, तू अपने पूर्वानुभूत मैथुन का स्मरण मत कर। मैंने पहले अपनी कमनीय कामिनियों के

---

१ - इन्द्रियग्राह्य पदार्थों के स्वाद को रस कहते हैं।

२ - यहाँ पर शयन और आसन शब्द से अभिप्राय जिस पर स्त्रियाँ सोती या उठती बैठती हों उस पदार्थ से है। खट्वा - चारपाई अथवा प्रसिद्ध आसन का ही अभिप्राय नहीं है।

साथ इस तरह ऐसा रमण किया था ऐसा स्मरण मत कर। नौवें, आगामी - भविष्यत् के लिये रमण की इच्छा मत कर। मैं स्वर्गीय अङ्गनाओं के साथ इस तरह से रमण करूंगा ऐसी कल्पना या आकांक्षा मत कर। दशवें, इन्द्रियों को अभिलषित और मनोहर विषयों का सेवन मत कर।

भावार्थ :- इन दश प्रकार के अब्रह्मभावों का परित्याग करनेपर ही ब्रह्मचर्य की सिद्धि हो सकती है। अतएव मुमुक्षु तपस्वियों को इनका त्याग ही करना चाहिये।

संसार के विषय दुर्निवार हैं, उनका परित्याग करना सहज नहीं है। वे मुनियों के भी मन में विकार उत्पन्न कर देते हैं। अतएव उनका परिहार करने के लिये जो समर्थ नहीं हैं ऐसे विनेयों को उस परिहार के विषय में सावधान - उद्युक्त करते हैं :-

यद्वज्रद्धुं घुणवद्वज्रमीष्टे न विषयव्रजः।
मुनीनामपि दुष्प्रापं तन्मनस्तत्तमुत्सृज।।६२।।

जिस प्रकार घुण वज्र को नहीं वेध सकता उसी प्रकार जिस मन को ये इन्द्रियों के विषय रूपादिक नहीं वेध सकते - विकृत नहीं कर सकते वह मन मुनियों - तपस्वियों को भी दुर्लभ है। अतएव हे मुमुक्षो ! तू इन दुर्निवार विषयों को छोड।

भावार्थ :- जिस मन को वेधने के लिये ये संसार के दुर्निवार भी विषय सर्वथा असमर्थ और दुर्बल समझे जा सकें ऐसे सुदृढ मन को प्राप्त करना ही मुनियों का कर्तव्य है। इसलिये हे मुमुक्षो ! तू इन विषयों को ऐसा छोड कि जिससे ये तेरे मन को रंचमात्र भी विकृत न कर सके। और तेरे सुदृढ मन के सामने ये दुर्निवार होनेपर भी ऐसे समझे जा सके जैसे कि वज्र के सामने घुण। घुण वज्र को वेधने के लिये बिलकुल असमर्थ और दुर्बल है; क्योंकि वह काष्ठ को वेध सकता है; वज्र को नहीं। उसी प्रकार ये विषय भी चाहे दुर्बल हृदय के संसारी प्राणियों को विकृत कर सकें पर तेरे मन को बिलकुल ही नहीं। तभी ब्रह्मचर्यव्रत पल सकता और आत्महित सिद्ध हो सकता है।

स्त्रियों में वैराग्य का होना ब्रह्मचर्य का मूल है। अतएव पाँच भावनाओं के द्वारा उस वैराग्य को प्राप्त कर ब्रह्मचर्य को बढाने की शिक्षा देते हैं :-

नित्यं [१]कामाङ्गनासङ्गदोषाशौचानि भावयन्।
कृतार्यसङ्गतिः स्त्रीषु विरक्तो ब्रह्म बृंहय।।६३।।

काम अङ्गना और सङ्ग - स्त्रीसंसर्ग इन तीनों के दोषों व अशौच का निरंतर विचार और आर्यसङ्गति तथा स्त्रीविरक्ति इन पाँच भावनाओं के द्वारा हे मुमुक्षो ! तू अपने ब्रह्मचर्यव्रत की वृद्धि कर।

भावार्थ :- ब्रह्मचर्य की वृद्धि स्त्रीवैराग्य से होती और इस वैराग्य की उत्पत्ति व वृद्धि इन भावनाओं से होती हैं; अतएव तपस्वियों को इनका निरंतर ही अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि कामविकार और स्त्रियों तथा उनके संसर्ग में जो दोष - आत्मा का अपकार करनेवाले धर्म - स्वभाव हैं उनका और उनकी अपवित्रता का विचार ही ब्रह्मचर्य को निर्मल बना सकता है। इसी प्रकार ज्ञान और तप आदि की अपेक्षा जो वृद्ध हैं उनकी संगति में रहना और सदा स्त्रियों में विरक्त भाव रखना भी ब्रह्मचर्यव्रत की वृद्धि का कारण है। अतएव इस महाव्रत को सुरक्षित रखने व बढाने के लिये साधुओं को स्त्रीमात्र और उनसे संबंध रखनेवाले सभी भावों से विरक्त रहना चाहिये। जैसा कि कहा भी है :-

मातृस्वसृसुतातुल्यं दृष्टं स्त्रीत्रिकरुपकम्।
स्त्रीकथादिनिवृत्तिर्या ब्रह्म स्यात्तन्मतं सताम्।।

अपने से बडी अपने बराबर की और अपने से छोटी इन तीनों प्रकार की स्त्रियों को देखकर उनको क्रम से माता बहिन और लडकी के समान समझना और स्त्रीकथादिक से भी निवृत्त होना इसको ही सत्पुरुषों ने ब्रह्मचर्यव्रत माना है।

यहाँ से आठ पद्यों में काम के दोषों को निरूपण करना चाहते हैं। किंतु इसके पहले योनि आदिक में रमण करने की इच्छा तीव्र दुःख को उत्पन्न करनेवाली है, इसी बात को उसमें प्रवृत्ति के निमित्तों का कथन करते हुए प्रकाशित करते हैं :-

---

१ - इस श्लोक के प्रथम चरण का पाठ 'कामाङ्गनाङ्गमासङ्ग --' ऐसा भी है। किंतु अभिप्राय एक ही है।

वृष्यभोगोपयोगाभ्यां कुशीलोदासनादपि।
पुंवेदोदीरणात्स्वस्थः कः स्यान्मैथुनसंज्ञया।।६४।।

वृष्य पदार्थों के भोग और उपयोग से तथा कुशील पुरुषों के सेवन से और अंतरङ्ग में उदय को प्राप्त हुए पुंवेद कषाय के निमित्त से होनेवाली मैथुनसंज्ञा से, क्या कोई भी पुरुष स्वस्थ - सुखी हो सकता है ? कभी नहीं।

मैथुन संज्ञा - चारित्रमोहनीयकर्म की उस नोकषायप्रकृति को पुंवेद कहते हैं कि जिसके उदय या उदीरणा होनेपर जीव को योनि आदिक में रमण करने की इच्छा या तीव्र मोह उत्पन्न होता है। प्रकृत में पुरुष को ही विनेय - पात्र श्रोता समझकर मैथुनसंज्ञा की उत्पत्ति का अंतरङ्ग कारण पुंवेद की उदीरणा बताया है। किंतु सामान्य मैथुनसंज्ञा का अंतरङ्ग कारण सामान्य से वेद नोकषाय ही है। अतएव यथास्थान स्त्रीवेद या नपुंसकवेद का ग्रहण करना चाहिये। कोमलता, अस्फुटता, कामदेव का तीव्रआवेश, नेत्रविभ्रम और सुखपूर्वक पुरुष के साथ रमण करने की कामना ये सब स्त्रीवेद के भाव हैं। इसके उल्टे पुरुषवेद के भाव हुआ करते हैं। और दोनों के मिश्ररूप नपुंसकवेद के हुआ करते हैं।

प्रकृत में पुंवेद की उदीरणा होने के बाह्य कारण तीन बताये हैं - वृष्य पदार्थों का भोग और उपयोग तथा कुशीलसेवा। जो पदार्थ काम के बढानेवाले तथा उद्दीप्त करनेवाले हैं ऐसे दूध बतासे आदि के भोजनपान से तथा रमणीय उद्यानादिक का सेवन करने से और स्त्रीलंपट तथा व्यसनीपुरुषों की सेवा उपासना करने अथवा उनके अधीन होकर रहने से पुंवेद की उदीरणा होती है। यहाँ पर अपि शब्द भिन्न क्रम का बोधक है। अतएव इन तीनों अथवा इनमें से एक दो निमित्त से भी पुंवेद की उदीरणा होती है ऐसा समझना चाहिये, अथवा इन कारणों से और पुंवेद की उदीरणा से मैथुनसंज्ञा उद्भूत होती है ऐसा समझना चाहिये। जैसा कि आगम में चार कारणों से मैथुन संज्ञा का उत्पन्न होना बताया है। यथा :-

पणिदरसभोयणाए तस्सुवओगा कुसीलसेवाए।
वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवे चउहिं।।

पुष्ट गरिष्ठ और सरस पदार्थों का भोजन करने से, तथा ऐसे ही जो कि काम के उद्दीपक या बंधक हों उसका - सेवन करने से, एवं कुशील पुरुषों की सेवा करने से, और वेद - नोकषाय की उदीरणा होने से, अर्थात् इन चार कारणों से मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है।

निरुक्ति की अपेक्षा से भी मैथुनसंज्ञा शब्द का अर्थ ऐसा ही होता है। मिथुन - दंपति - स्त्री और पुरुष इन दोनों के कर्म को मैथुन कहते हैं। किंतु रूढिवश उनका विशेषकर्म जो कि रतिसुख का अनुभव करने के लिये चेष्टा की जाती है उसीको मैथुन कहते हैं। संज्ञा शब्द का अर्थ वांछा होता है। अतएव मैथुन की इच्छा को ही मैथुनसंज्ञा कहते हैं। अर्थात् चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से रागविशेष से आक्रांत हुए स्त्री और पुरुष की जो परस्पर में स्पर्श करने की विशेष अभिलाषा होती है उसीको मैथुनसंज्ञा कहते हैं। किंतु यहाँ एक बात और भी है वह यह कि ऐसे रागयुक्त चाहे स्त्री और पुरुष ये दो हों अथवा दो पुरुष ही हों, यद्वा दो स्त्रियाँ ही हों; जो कि परस्पर में एक पुरुष के अथवा स्त्री के स्तनादिक अवयवों का मैथुन के अभिप्राय से संघट्टन करें तो ऐसा सभी कर्म जो कि मैथुन के लिये किया जाता है, उपचार से मैथुन ही कहा जायगा। इसको लोक में संभोगश्रृङ्गार कहते हैं। यथा :-

अन्योन्यस्य सचित्तावनुभवतो नायकौ यदिद्धमुदौ।
आलोकनवचनादि स सर्वः संभोगश्रृङ्गारः।।

बढे हुए हर्ष या प्रीति से युक्त दोनों सहृदय व्यक्ति जब परस्पर में अनुभव करते हुए आपस में प्रेक्षण संभाषण आदि करते हैं उस समय उनका यह समस्त कर्म संभोगश्रृंगार कहा जाता है।

आहारादिक संज्ञाओं की तरह यह मैथुनसंज्ञा भी तीव्र दुःख का कारण है; यह बात आगम और अनुभव दोनों ही से सिद्ध हैं। यथा :-

इह जाहिं बाहिया वि य जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
सेवंतावि य उभये ताओ [१] चत्तारि सण्णाओ।।

---

१ - आहार भय मैथुन और परिग्रह।

आगम में कहा है कि - जिन से बाधित होकर अथवा जिनका सेवन करनेवाले मनुष्य दारुण दु:ख को प्राप्त होते हैं वे संज्ञाएँ चार हैं।

और भी कहा है कि :-

परितप्यते विषीदति शोचति विलपति च खिद्यते कामी।
नक्तदिवं न निद्रां लभते ध्यायति च विमनस्कः।।

कामी पुरुष विमनस्क होकर; क्योंकि उसका मन विक्षिप्त हो जाता है अतएव संतप्त होता विषण्ण होता शोच करता विलाप करता और खिन्न होता है। अधिक क्या निद्रा भी नहीं लेता और दिनरात उसीका ध्यान करता रहता है।

लोक में भी प्रसिद्ध है कि :

उत्कण्ठा परितापो रणरणकं जागरस्तनोस्तनुता।
फलमिदमहो मयाप्तं सुखाय मृगलोचनां दृष्ट्वा।।

सुख का अनुभव करने के लिये मैंने मृगनयनी को देखा तो अहो उसके फलरूप में मुझ को ये वस्तुएँ प्राप्त हुई - उत्कण्ठा परिताप रणरणक - उद्वेग जागरण और शरीर की कृषता।

और भी कहा है कि :-

असणं चयंति दीहं ससंति विरहाणलेण उज्झंति।
सिविणेवि मुणिंदसुहं ण लहंति णियंबिणीमूढा।।

भोजन छोड देता, दीर्घ निश्वास लेने लगता, और विरहानल से तप्त भी होता फिर भी नितंबिनियों में मोहित हुआ यह पुरुष मुनींद्रो के सुख को स्वप्न में भी नहीं पा सकता। अर्थात् वह मुनियों की सी क्रिया करके भी मैथुनसंज्ञा के वश हर तरह से दु:खी ही है।

इन्ही उपर्युक्त सब बातों को ध्यान में रखकर ग्रंथकार कहते हैं कि - ऐसा कौन मनुष्य है जो कि वृष्य पदार्थों का भोग और उपयोग तथा कुशीलसेवा इन तीन बहिरङ्ग

कारणों से और पुरुषवेद के उदयरूप अंतरंग कारण से उद्भूत हुई मैथुनसंज्ञा से स्वस्थ - सुखी हुआ हो या हो सकता हो ? अर्थात् सभी मनुष्यों को इसके कारण दु:ख का ही अनुभव करना पड़ता हैं।

बहिरात्मा - शरीर में ही आत्मबुद्धि रखनेवाले प्राणिगण जो कि काम के दु:खों से ऐसे अभिभूत हो जाते हैं कि जिनका निवारण नहीं किया जा सकता, उनके उस दुर्निवार अभिभव पर दु:ख के साथ शोक प्रकट करते हैं :-

संकल्पाण्डकजो द्विदोषरसनश्चिन्तारुषो गोचर
च्छिद्रोदर्पबृहद्ग्रहो रतिमुखो ही कञ्चुकोन्मोचक:।
कोप्युद्यद्दृशवेगदु:खगरल: कन्दर्पसर्प: समं
ही दन्दष्टि हठद्विवेकगरुडक्रोडादपेतं जगत्।।६५।।

यह कामदेव एक अपूर्व सर्प के समान है जो कि संकल्परूपी अण्डे से उत्पन्न हुआ करता है। इस अङ्गनाओं के देखने सुनने आदि से जो उसके प्रति उत्कंठागर्भित मानसिक व्यापार होते हैं उनको संकल्प कहते हैं। नख की त्वचा के समान कठिनता को प्राप्त हो जानेवाले शुक्र और शोणित - पिता के वीर्य माता के रज का जो चारों तरफ गोल परिवरणविशेष हो जाता है उसको अण्डा कहते हैं। कामदेवरूपी सर्प की उत्पत्ति इस संकल्परूपी अंडे से ही होती है। इसी तरह राग और द्वेष ये दोनों ही इस कामदेवरूपी सर्प की दो जिह्वाएँ हैं। चिंताएँ ही इसका रोष है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को काटने के विषय में अथवा साधारण भी सर्प में रोष - कोपविशेष हुआ करता अथवा रहा करता हैं उसी प्रकार कामदेव में चिंताएँ रहा करती हैं। अभिलषित अंगनाओं के गुणों का समर्थन और दोषों का परिहार करने के लिये जो विचार होता है उसीको चिंता कहते हैं। सर्प में रोष की तरह कामी पुरुष में यह चिंता प्रतिक्षण जागृत रहा करती है। जिस प्रकार सर्प के विषय - रहने के या प्रवेश करने के स्थान वल्मीकादि के रन्ध्र छिद्र हुआ करते हैं उसी प्रकार कामदेव के विषय रूपादिक हैं। छिद्र को पाकर वल्मीक में सूर्य की तरह रूपादिक को पाकर कामदेव अपने अभिलषित विषय में प्रवेश कर जाया करता है। जिस प्रकार सर्प के तालुस्थान में एक डाढ - एक महान दाँत हुआ

करता है जिससे कि वह जीवों को काटा करता है उसी प्रकार इस कामदेवरूपी सर्प के भी महान दर्प - वीर्योद्रेक रहा करता है जिससे कि जीवों की कुकृत्य में प्रवृत्ति हुआ करती हैं। रतिमन का प्रीतिपूर्वक अवस्थान ही इस कामदेवरूपी सर्प का मुख है और ह्री - लज्जा ही इसकी केंचुली है। जिस प्रकार सर्प केंचुली को छोड़ दिया करता है उसी प्रकार कामदेव या कामी पुरुष लज्जा को छोड़ दिया करता है। प्रतिक्षण बढ़ते हुए शोक प्रभृति दश वेग ही इसका जहर है। ऐसा यह अपूर्व कामदेवरूपी सर्प कितने दु:ख की बात है कि देदीप्यमान विवेकरूपी गरुड की क्रोड - दोनों भुजाओं के अंतराल - मोद से बहिर्भूत इस जगत् को - सारे संसार को बड़ी बुरी तरह से काट रहा है।

भावार्थ :- विवेकशून्य मनुष्य ही इस कामदेव के वश हुआ करते और उससे दुर्निवार दु:खों का अनुभव किया करते हैं। अतएव उन दु:खों का अनुभव न करना पडे इसलिये मुमुक्षुओं को विवेकपूर्वक उस काम का परित्याग ही कर देना चाहिये - उससे बिलकुल दूर ही रहना चाहिये जो कि अपूर्व सर्प के समान भयंकर है। क्योंकि सर्प की अपेक्षा कामदेव की भयंकरता बहुत अधिक है। सर्प के काटने पर उतना दु:ख नहीं होता जितना कि कामदेव के उद्रेक पर हुआ करता हैं। इसी प्रकार सर्प के जहर का उतना वेग नहीं होता जितना कि कामदेव का हुआ करता है। शास्त्र में सर्प के विष के सात ही वेग प्रसिद्ध हैं। यथा :-

'पूर्वे दर्वीकृतां वेगे दुष्टं श्यावीभवत्यसृक्।
श्यावता तेन वक्त्रादौ सर्पन्तीव च कीटका:।।
द्वितीये ग्रन्थयो वेगे तृतीये मूर्धगौरवम्।
दुर्गंधो दंशविक्लेदश्चतुर्थे ष्टीवनं वभि:।।
संधिविश्लेषणं तन्द्रा पर्म पर्वभेदनम्।
दाहो हिध्मा च षष्ठे तु हृत्पीडा गात्रगौरवम्।।
मूर्छा विपाकोऽतीसार: प्राप्य शुक्रं तु सप्तमे।
स्कन्धपृष्ठकटीभङ्ग सर्वचेष्टानिवर्तनम्।।'

सर्पों के पहले मनुष्य का रक्त दूषित होकर काला पड़ता है और वह कालापन

क्रम से मुखादिक में भी आ जाता है। तथा शरीर के भीतर ऐसा मालूम पड़ने लगता है मानो कीडे चल रहे हैं - रेंग रहे हैं। दूसरे वेग में शरीर में गांठें पड जाती हैं और तीसरे वेग में शिर भारी हो जाता, दुर्गंध आने लगती और [१] दंशविक्लेद हो जाता है। चौथे वेग में मुख से फसूकर गिरने लगता, वमन होता और संधिस्थानों का [२] विश्लेषण होने लगता है। पाँचवें वेग में [३] पवस्थानों का भेदन होने लगता, शरीर में दाह होता और हिचकी आने लगती है। छठे वेग में हृदय में पीड़ा होने लगती, शरीर भारी हो जाता और मूर्छा विपाक तथा अतीसार हो जाता है। सातवें वेग में वह शुक्र तक पहुँचतर स्कंध पृष्ठ और कटि का भंग कर देता है और समस्त चेष्टाओं की निवृत्ति - मृत्यु हो जाती है।

इस प्रकार सर्प के विष के सात ही वेग हैं। किंतु कामदेव के दश वेग हैं जिनका कि आगे वर्णन करेंगे। अतएव यह अपूर्व सर्प के समान है। यह समस्त बहिरात्म जगत् को एकसाथ ही और बूरी तरह से काट रहा है। बुरेपन का अभिप्राय यह कि वृद्ध पुरुषों में भी यह अपनी अत्यंत तीव्रता दिखाता और उनको अनुचित कामों में प्रवृत्त करा देता है। इस प्रकार बहिरात्म प्राणियों पर इसका एकच्छत्र राज्य हो रहा है। जैसा कि कहा भी है कि :-

इच्छि सरासणु कुसुम सरु अंगु ण दीसइ जासु।
हलितसु मयणमहाभडहु तिहुवणि कवणु ण दासु।।

स्त्री शरासन - धनुष है और कुसुम - पुष्प बाण हैं। यद्यपि जिसके ये धनुष्य और बाण हैं उस धानुष्क का शरीर नहीं दिखता; फिर भी लोक उसको मदन महाभट कहते हैं। तीनो लोक में ऐसा कौनसा मनुष्य है जो उसका दास न हो।

और भी कहा है कि :-

अनङ्गः पञ्चभिः पौष्पैर्विश्वं व्यजयतेषुभिः।
इत्यसंभाव्यमेवैतद्विचित्रावस्तुशक्तयः।।

---

१ - काटी हुई जगह में शीर्णता होना डाट पड जाना।

२ - अलग - अलग हो जाना - खिल जाना। ३ - ग्रंथियों का भिन्न - भिन्न हो जाना।

यह बात असंभव ही है कि [१] अनंग ने पाँच ही बाणों से और सो भी फूल के बाणों से समस्त जगत् को जीत लिया। अथवा ठीक भी है; क्योंकि वस्तुओं की शक्तियाँ विचित्र हुआ करती हैं।

काम के दश वेगों को हेतुपूर्वक बताते हैं :-

शुग्दिदृक्षायतोच्छ्वासज्वरदाहाशनारुचिः।
संमूर्छोन्मादमोहान्ताः कान्तामाप्नोत्यनाप्य ना।।६६।।

काम के वशीभूत हुआ मनुष्य अभिलषित अङ्गनाको न पाकर क्रम से इन दश अवस्थाओं को प्राप्त होता है। १ शोक, २ दिदृक्षा - अपनी प्रियतमा के देखने की अभिलाषा, ३ आयतोच्छ्वास - लंबे लंबे श्वास लेना, ४ ज्वर - शारिरीक संतापरूपी व्याधि, ५ दाह समस्त शरीर में जलन पड़ना, ६ अशनारुचि - भोजनपान की अभिलाषा दूर हो जाना, ७ मूर्छा चेष्टाओं का नष्ट हो जाना, ८ उन्माद, ९ मोह - मूढ़ता और १० अंत - नाश - मृत्यु। ये ही दश दशा कामीपुरुष की कामिनी के न मिलने पर हुआ करती हैं। कहा भी है कि :-

शोचति प्रथमे वेगे द्वितीये तां दिदृक्षते।
तृतीये निःश्वसित्युच्चश्चतुर्थे ढौकते ज्वरः।।
पञ्चमे दह्यते गात्रं षष्ठे भक्तं न रोचते।
प्रयाति सप्तमे मूर्च्छामुन्मत्तो जायतेष्टमे।।
न वेत्ति नवमे किंचिन्म्रियते दशमेऽवशः।
संकल्पस्य वशेनैव वेगास्तीव्रास्तथान्यथा।।

कामीपुरुष काम के पहले वेग में शोक करता, दूसरे वेग में अभीष्ट कामिनी को

---

१ - शरीररहित - कामदेव।

देखना चाहता और तीसरे वेग में दीर्घ नि:श्वास लेने लगता है। चौथें वेग में उसको ज्वर - कामज्वर आ जाता, पाँचवें वेग में शरीर जलने लगता और छठे वेग में उसकी भोजन के ऊपर से रुचि उठ जाती है। तथा सातवें वेग में मूर्छित होता, आठवें में उन्मत्त होता और नौवें में ज्ञानशून्य होकर दशवें वेग मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। कामी पुरुष के ये तीव्र मंद या मध्यम वेग केवल संकल्प के ही निमित्त से हुआ करते हैं।

आदावभिलाषः स्याच्चिन्ता तदनंतरं ततः स्मरणम्।
तदनु च गुणसंकीर्तनमुद्वेगोथ प्रलापश्च।।
उन्मादस्तदनु ततो व्याधिर्जडता ततस्ततो मरणम्।
इत्थमसंयुक्तानां रक्तानां दश दशा ज्ञेयाः।।

विरही कामुक पुरुषों की क्रम से ये दश दशाएँ हुआ करती हैं। सबसे पहले अभिलाषा, उसके बाद चिंता, और उसके अनंतर स्मरण, उसके पीछे गुणसंकीतर्न, और उसके भी पीछे उद्वेग, और फिर प्रलाप, तथा प्रलाप के बाद उन्माद व्याधि जडता और मरण।

काम से पीड़ित हुए मनुष्य के लिये संसार में ऐसा कोई कृत्य नहीं है कि जिसको वह न कर डाले - बुरे से बुरे काम में भी उसकी प्रवृत्ति हो जाती है; यही बात बताते हैं :-

अविद्याशाचक्रप्रसृमरमनस्कारमरुता
ज्वलत्युच्चैर्भोक्तुं स्मरशिखिनि कृत्सनामिव चितम्।
रिरंसुः स्त्रीपङ्के कृमिकुलकलङ्के विधुरितो
नरस्तन्नास्त्यस्मिन्नहह सहसा यन्न कुरुते।।६७।।

जिस समय अविद्या - अज्ञान निमित्त से उत्पन्न हुई आशाओं - भविष्य विषयों के भोग की आकांक्षाओं के बड़े भारी प्रसाररूपी मनस्कार - संकल्प विकल्प की वायु से प्रेरित होकर कामदेवरूपी अग्नि मानो समस्त चेतना का भक्षण कर जाने के लिये ही जोर से जलने लगती है। उस समय व्याकुल यह प्राणी सहसा सूक्ष्म कृमियों के कुल के स्थान स्त्रीरूपी कर्दम में संसार का रमण करने की इच्छा करना प्रवेश करना चाहता

है। हा, ऐसे समय में संसार का ऐसा कौनसा अकृत्य है कि जिसको यह नहीं कर डालता।

भावार्थ :- जिस प्रकार अविद्या - जिसका ज्ञान नहीं हो सकता ऐसी अनिर्धारित विशेष आशाओं दिशाओं से बहनेवाले वायुमण्डल के द्वारा प्रेरित होकर अग्नि मानो अभी सबका भक्षण कर जायगी - सबको भस्मसात् कर देगी इस तरह तीव्ररूप से जब जलने लगती है तब उससे अत्यंत घबडाया हुआ आदमी पास में यदि नितांत कीडों का घर हो तो उसमें भी वह शीघ्र ही गिरना चाहता है। उस समय वह कृत्य और अकृत्य को कुछ भी नहीं देखता। इसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिये।

यहाँ पर स्त्री को कर्दम - कीच के समान बताया गया है। क्योंकि जिस तरह कीच में असंख्यात सूक्ष्मजंतु रहा करते हैं उसी प्रकार स्त्री के योनिस्थान में भी जंतु होते हैं जैसा कि कामशास्त्रमें भी कहा है। यथा :-

रक्तजा कृमयः सूक्ष्मा मृदुमध्याधिशक्तयः।
जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं जनयन्ति तथाविधाम्।।

स्त्रियों के अंगविशेषों में सूक्ष्म जंतु हुआ करते हैं जो कि रक्त से ही उत्पन्न होते और जन्मस्थान - योनि में रिरंसा की कारणभूत कंडूति - खुजली को पैदा किया करते हैं।

जिसकी बुद्धि या मन ग्राम्य सुख का अनुभव करने के लिये उत्सुक रहा करता है ऐसा मनुष्य उस सुख के कारण धन का उपार्जन करने के जितने निमित्त हैं उन सभी कामो में दिनरात परिश्रम करता है और उसका मन समस्त स्त्रियों के विषय में अनियंत्रित ही रहता हैं - सभी स्त्रियों को प्राप्त करने के लिये विकृत रहा करता है - यही बात बताते हैं :-

आपातमृष्टपरिणामकटौ प्रणुन्नः
किंपाकवन्निधुवने मदनग्रहेण।
किं किं न कर्म हतशर्म धनाय कुर्यात्
क्व क्व स्त्रियामपि जनो न मनो विकुर्यात्।।६८।।

जो किंपाकफल की तरह क्षणमात्र तक ही मधुर मालूम पड़ता है - जबतक उसका सेवन किया जाय या जिस समय में किया जा रहा है तभी तक वह सुखावह मालूम पड़ता है ! किंतु परिणाम में जो अत्यंत कटु है - अंत में अथवा रसांतर का अनुभव करते समय जो दु:खावह ही है। ऐसे निधुवन मैथुनकर्म में परतंत्रता के निमित्त भूतादिक के समान मदन - कामदेव से प्रेरित हुआ यह प्राणी धन का उपार्जन करने का ऐसा कौनसा कर्म है जिसको यह नहीं करता। तथा ऐसी कौनसी स्त्री है कि जिसमें यह अपने मन को दुरभिप्रायों के कारण विकृत नहीं बना लेता।

भावार्थ :- मदन के अधीन हुआ दीन पुरुष तीन प्रकार की चेतन, मानुषी देवी और तिरश्ची तथा चौथी अचेतन इन चारों ही प्रकार की स्त्रियों में अपने मन को विकृत बना डालता है। जैसे कि कहा भी है कि - 'अभिप्रवृद्धकामस्तन्नास्ति यन्न करोति। श्रूयते हि किल कामपरवश: प्रजापतिरात्मदुहितरि, हरिर्गोपवधूषु, हर: संतनुकलत्रे, सुरपतिर्गौतमभार्यायां, चंद्रश्च बृहस्पतिपत्न्यां मनश्चकारेति' कामदेव के उद्दीप्त होनेपर ऐसा कोई काम नहीं है कि जिसको मनुष्य न कर डाले। सुनते हैं कि ब्रह्मा अपनी लडकी के विषय में, कृष्ण गोपिकाओं में, महादेव संतनुराजा की स्त्री में, इन्द्र गौतम ऋषि की भार्या अहिल्या में और चंद्रमा गुरुपत्नी के विषय में चंचलचित्त हो गया था। इसीलिये तो कहते हैं कि मुमुक्षुओं को आपातरम्य किंतु परिपाक में दु:खकर समझकर कामसुख का परित्याग ही कर देना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

रम्यमापातमात्रेण परिणामेऽतिदारुणम्।
किंपाकफलसंकाशं तत्क: सेवेत मैथुनम्।।

ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो कि किंपाकफल के समान सेवन समय में ही सुंदर मालूम पड़नेवाले किंतु परिणाम में दारुण मैथुनकर्म का सेवन करना चाहे।

ज्येष्ठज्योत्स्नेऽमले व्योम्नि मूले मध्यन्दिने जगत्।
दहन् कथंचित्तिग्मांशुश्चिकित्स्यो न स्मरानल:।।६९।।

ज्येष्ठमास शुक्लपक्ष और मूलनक्षत्र में तथा दिन को दो पहर के समय मे एवं जब आकाश निरभ्र मेघशून्य हो ऐसे भी [१] समय में अपने तीव्र तेज से जगत् को दग्ध - संतप्त करते हुए प्रचंडरश्मि - सूर्य का किसी प्रकार इलाज किया जा सकता है। शीतलजल का सेक करके या तलघर निकुंज पुष्पवाटिकादिक में बैठकर अथवा दूसरे शीतोपचार करके उसका आतपजन्य क्लेश दूर किया जा सकता है। किंतु जिस समय यह कामदेवरूपी अग्नि प्रदीप्त होती है उस समय इसका कोई भी प्रतीकार नहीं हो सकता। प्रत्युत्त ऐसा देखा गया है कि ज्यों ज्यों इस अग्नि का शीतोपचार किया जाता है त्यों त्यों वह और भी अधिक प्रदीप्त होती है। जैसा कि कहा भी है कि :-

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि
प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभासः।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि
निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः।।

हार जल से भीगा हुआ वस्त्र, कमलिनी के पत्ते, शीतल जलकणों का सिंचन करनेवालीं हिमांशु - चंद्रमा की किरणें और सरस चंदन इत्यादि वस्तुएँ जिसके लिये ईंधन का काम करती हैं वह मनोभवाग्नि - कामाग्नि निर्वाण को किस तरह प्राप्त हो सकती है। और भी कहा है कि :-

चन्द्रः पतङ्गति भुजङ्गति हारवल्ली -
स्रक् चन्दनं विषति मुर्मुरतीन्दुरेणुः।
तस्याः कुमार भवतो विरहातुरायाः
किं नाम ते कठिनचित्त निवेदयामि।।

हे कठोरहृदय कुमार ! तेरे विरह से आतुर हुई - घबडाई हुई उस कामिनी का हाल मैं तुझको कहाँ तक बताऊँ। आजकल उसको चंद्रमा चण्डरश्मि - सूर्य की तरह

---

१ - यह समय सूर्य के सबसे अधिक प्रखर होने का है।

संताप देनेवाला बन रहा है। हारलता भुजङ्गिनी की तरह पीड़ित कर रही है। पुष्पमाला और चंदन जहर का काम कर रहे हैं। एवं इन्दुरेणु - चंद्रमा की धूलि - चांदनी भूसी की आग की तरह झुलसा रही है।

कामदेव का उद्रेक समस्त गुणों के समूह का शीघ्र ही उपमर्दन कर डालता है; ऐसा बताते हैं :-

कुलशीलतपोविद्याविनयादिगुणोच्चयम्।
दन्दह्यते स्मरोदीप्तः क्षणात्तृण्यामिवानलः।।७०।।

कुल - पितादिक के संतानक्रम से चला आया हुआ आचरण, शील - सदाचार और पवित्रता, तप - इन्द्रिय और अतःकरण के नियमन - विषयप्रवृत्ति से निरोध करने का अनुष्ठान, विद्या - ज्ञान, विनय - तप अथवा ज्ञानादिक की अपेक्षा जो बड़े हैं उनके सामने नम्रता रखना, तथा और भी जो प्रतिभा मेधा स्मृति वादित्व वाग्मिता तेजस्विता आरोग्य बल वीर्य लज्जा दाक्षिण्यप्रभृति अनेक लौकिक या पारलौकिक गुण हैं उन सबके समूह को यह प्रदीप्त हुई कामाग्नि क्षणमात्र में इस तरह से भस्म कर देती है जैसे कि साधारण अग्नि घास के ढेर को भी झट से जलाकर भस्म कर देती है।

भावार्थ :- मनुष्य का इस लोक और परलोक दोनों ही जगह उपकार - कल्याण जिनसे हो ऐसे स्वभावों को गुण कहते हैं। इन गुणों का काम के साथ विरोध है। हृदय में इस कामदेव के जागृत होते ही सभी गुण सहसा विलीन हो जाते हैं।

जब से संसार है तभी से अर्थात् अनादिकाल से मैथुनसंज्ञा लगी हुई है। इसके निमित्तसे ही उद्भूत हुए समस्त दुःखों का मुझे अनुभव करना पड़ा ! अतएव इसको धिक्कार है। इस तरह जो मैथुनसंज्ञा और उससे होनेवाले दुःखानुभव की तरफ अतिशयरूप से धिक्कृत बुद्धि रखनेवाला है वही उस पर विजय प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार मैथुनसंज्ञा की तरफ धिक्कार के भाव रखना ही कामभाव के निग्रह करने का उपाय है; ऐसा बताते हैं :-

निःसंकल्पात्मसंवित्सुखरसशिखिनानेन नारीरिरंसा -
संस्कारेणद्ययावद्धिगहमधिगतः किं किमस्मिन्न दुःखम्।
तत्सद्यस्तत्प्रबोधच्छिदि सहजचिदानन्दनिष्यन्दसान्द्रे
मज्जाम्यस्मिन्निजात्मन्ययमिति विधमेत्काममुत्पित्सुमेव।।७१।।

अंतर्जल्प से युक्त उत्प्रेक्षाओं को संकल्प कहते हैं। इन संकल्प विकल्पों के जाल से बहिर्भूत - रहित आत्मसंवेदन - शुद्ध निज चित्स्वरूप अनुभवरूप अथवा उससे उत्पन्न होनेवाले सुखरस के लिये जो अग्नि के समान है, जिसका थोडासा भी स्पर्श होते ही आत्मिक सुखरूपी पारद सहज ही में उड जाता है ऐसे इस नारीरिरंसा के संस्कार - स्त्रियों में रमण करने की अभिलाषारूप भावना को धिक्कार है; कि अबतक मैं अधीन रहा हूँ। जबसे संसार है तबसे आजतक मैं इसके वश में रहा हूँ। इसलिये मुझको धिक्कार है। इसके वशीभूत होकर ऐसा कौनसा दुःख है कि जिसको मैंने नहीं पाया। इसके कारण ही मैंने नरक और निगोदतक के भी दुःखों को भोगा है। अतएव अब मैं बार-बार के आविर्भाव के कारण अत्यंत निबिड और नैसर्गिक - स्वाभाविक ज्ञानानंदरूप अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभव में आनेवाले चित्स्वरूप में जो कि उस मैथुनसंज्ञा के संस्कार को शीघ्र ही - प्रकट होते ही नष्ट कर देनेवाला है; निमग्न होता हूँ। इस प्रकार काम के दोषों का विचार कर साधुओं को जिस समय वह कामदेव उद्भूत होने के सम्मुख हो तभी उसका निग्रह कर देना चाहिये। क्योंकि उत्पन्न हो जानेपर फिर उसकी कोई भी चिकित्सा नहीं हो सकती; जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। और कहा भी है कि 'न कामस्यास्ति किंचिच्चिकित्सितम्।' कामदेव का कोई इलाज ही नहीं है। अतएव साधुओं को उत्पन्न होते ही, जैसा कि ऊपर बताया है वैसी भावनाओं के द्वारा, कामवासना का निग्रह कर डालना चाहिये - उसको दबा देना चाहिये। यही उस पर विजय प्राप्त करने का उपाय है।

पहले ब्रह्मचर्य की वृद्धि के लिये स्त्रीवैराग्य के कारण पाँच भावनाओं को निरंतर भाने का उपदेश दिया था। उनमें से पहली कामदोषभावना का यहाँ व्याख्यान किया। अब स्त्रीदोषभावना प्रकरणप्राप्त है अतएव छहपद्यों में उसीका व्याख्यान करना चाहते हैं।

किन्तु पहले जो स्त्रियों के दोषों को जानता है वही वस्तुतः पंडित है, यह बात मुमुक्षुओं को अभिमुख करके कहते हैं :-

पत्यादीन् व्यसनार्णवे स्मरवशा या पातयत्यञ्जसा
या रुष्टा न महत्त्वमस्यति परं प्राणानपि प्राणिनाम्।
तुष्टाप्यत्र पिनष्ट्यमुत्र च नरं या चेष्टयन्तीष्टितो
दोषज्ञो यदि तत्र योषिति सखे दोषज्ञ एवासि तत्।।७२।।

जो स्त्री स्मर के वश में होकर - कामदेव के अधीन होकर पति पुत्र पिता तथा पितृतुल्य गुरु आदिकों को भी व्यसन के समुद्र में पटक देती है - उनकी अकल्याण में प्रवृत्ति करा देती है। और जो रोष और तोष दोनों ही अवस्थाओं में मनुष्य का अहित ही करनेवाली है। यदि वह वस्तुतः रुष्ट हो जाय, धूर्तता अथवा अनुनयादि कराने के अभिप्राय से नहीं किंतु यथार्थ में ही वह कुपित हो जाय तो वह दूसरे प्राणियों के महत्त्व का ही नहीं किन्तु प्राणों का भी अपहरण कर डालती है और यदि वह तोष संतोष करने लगे - प्रसन्न हो जाय तो उस मनुष्य से इस लोक और परलोक - दोनों ही जगह पर अपनी इच्छानुसार चेष्टाएँ कराकर उसको पीस डालती है। उसके समस्त पुरुषार्थों का उपमर्दन कर चूर्ण कर देती है - उसको बिलकुल भ्रष्ट कर देती है। इस तरह की इस स्त्रीपर्याय के विषय में हे मित्र ! यदि तू दोषज्ञ है - जिनका कि पहले उल्लेख किया जा चुका है उनको तथा और भी स्त्रीदोषों को यदि तू जानता है तब तो सचमुच में ही तू दोषज्ञ - पण्डित है।

भावार्थ :- जो वस्तुओं के यथावस्थित दोषों को जानता है उसको दोषज्ञ कहते हैं। अतएव दोषज्ञ नाम पण्डित का है। और इसी सामान्य अर्थ की अपेक्षा से कोषादिक में भी पण्डित के पर्यायवाचक शब्दों के साथ दोषज्ञ शब्द का भी पाठ किया है। यथा 'विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः'। किंतु ग्रंथकार कहते हैं कि मैं वस्तुतः दोषज्ञ - पण्डित उसको समझता हूँ जो कि स्त्रियों के दोषों को जानता है। दूसरे दोषों को वह जाने या न जाने, यदि स्त्रीदोषों को जानता है तो वह जरूर पण्डित है। और यदि दूसरे पदार्थों के

दोषों के जानते हुए भी स्त्रीदोषों को नहीं जानता तो वह वस्तुतः दोषज्ञ - पण्डित नहीं है। अतएव मुमुक्षु विद्वानों को सबसे पहले स्त्रीदोषों के जानने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके बिना उनके स्त्रीवैराग्य की सिद्धि ब्रह्मचर्य की वृद्धि नहीं हो सकती।

स्त्रियाँ स्वभाव से चंचला - प्रतारणा करनेवाली हैं और इसीलिये वे एक दुःख की ही कारण हैं; इस बात को दिखाते हुए भी प्रकट करते हैं कि फिर भी लोक उन पर निरंतर मुग्ध ही होते हैं :-

लोकः किं नु विदग्धः किं विधिदग्धः स्त्रियं सुखाङ्गेषु।
यद्धुरि रेखयति मुहुर्विश्रम्भं कृन्ततीमपि निकृत्या।।७३।।

अहा मालूम नहीं ये संसारी प्राणी विदग्ध- व्यवहारकुशल पुरुष हैं अथवा विधिदग्ध हैं, पूर्वसंचित दुष्कर्मने इतनी बुद्धि भ्रष्ट कर दी है ? क्योंकि ये लोग सुख के कारणों की गणना करते समय सबसे पहले उस स्त्री की गणना किया करते हैं जो कि वंचना - प्रतारणा के द्वारा बारबार विश्वास का घात किया करती है।

भावार्थ :- जो पुरुष स्त्रियों के द्वारा पुनः पुनः प्रतारित हो जाता है वह अपने को चाहे विदग्ध भले ही समझे किंतु उसको विदग्ध नहीं, मुग्ध ही समझना चाहिये। और कहना चाहिये दुष्कर्म ने उसकी बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया है। तभी तो अपने अहितकर को भी हितकर और सुख का साधन समझकर पुनः पुनः उसमें राग करने लगता है।

स्त्रियों का चरित्र इतना दुर्गम और दुरूह है कि सहसा योगियों के भी लक्ष्य में वह नहीं आ सकता, इसी बात पर लक्ष्य दिलाते हैं :-

परं सूक्ष्ममपि ब्रह्म परं पश्यन्ति योगिनः।
न तु स्त्रीचरितं विश्वमतद्विद्यं कुतोन्यथा।।७४।।

योगिजन - अष्टांग योग के विषय में निष्णात मुमुक्षुजन जो मन का भी विषय नहीं हो सकता ऐसे अत्यंत सूक्ष्म और परमात्मस्वरूप ब्रह्म को स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के द्वारा भलेप्रकार देख सकते और उसका अनुभव भी कर सकते हैं। किंतु स्त्रीचरित्र को वे भी नहीं

देख सकते। क्योंकि यदि देख सकते होते तो यह विश्व - समस्त संसार इस विषय की विद्या से शून्य किस तरह रह सकता था।

भावार्थ :- संसार में जितनी भी विद्याएँ हैं वे सब महर्षियों के ज्ञानपूर्वक ही प्रवृत्त हुई हैं। यदि उनको स्त्रीचरित्र का भी ज्ञान होता तो उनके उपदेश के अनुसार इस विषय की भी कोई विद्या अवश्य प्रवृत्त होती। किंतु ऐसी कोई भी विद्या संसार में प्रवृत्त नहीं है। इससे मालूम पड़ता है कि उन योगियों के भी लक्ष्य में स्त्रीचरित्र आया नहीं था। अतएव वह अत्यंत दुर्लक्ष्य है यह बात स्पष्ट है। जैसा कि कहा भी है कि :-

मायागेहं ससंदेहं नृशंसं बहुसाहसम्।
कामान्धैः स्त्रीमनो लक्ष्यमलक्ष्यं योगिनामपि।।

स्त्रियों का मन संदेह से पूर्ण, नृशंसता - क्रूरता से युक्त और अत्यंत साहस से भरा हुआ मायाचार का घर है। यह योगियों के लिये भी अलक्ष्य है; किंतु काम से अंधे हुए पुरुष को इसको देख सकते हैं।

स्त्रियों में मायाचारप्रभृति दोष प्रचुररूप से पाये जाते हैं अतएव उनको नरक के मार्ग का अग्रेसर - प्रधान कारण बताते हुए इस बात का निरूपण करते हैं कि जितने दुष्कर्म हैं वे सब उस मार्ग में जानेवालों के लिये सूत्रधार का ही काम करनेवाले हैं :-

दोषा दम्भतमस्सु वैरगरलव्याली मृषोद्या तडिन् -
मेघाली कलहाम्बुवाहपटलप्रावृड् वृषौजोज्वरः।
कन्दर्पज्वररुद्रभालदृगऽसत्कर्मोर्मिमालानदी
स्त्री श्वभ्राध्वपुरःसरी यदि नृणां दुर्दैव किं ताम्यसि।।७५।।

जो दंभ - मायाचार - प्रतारणरूपी अंधकार का प्रसार करने के लिये दोषा - रात्रि के समान है। जो वैर - विद्वेषरूपी जहर को उगलने के लिये भुजङ्गी - सर्पिणी के समान है जो मृषावाद - असत्यभाषणरूपी बिजली का चमत्कार दिखाने के लिये कादम्बिनी - मेघमाला के समान है। जो कलह - आपसी झगडे या युद्धरूपी मेघपटल का अच्छी तरह

उद्भव होने के लिये वर्षाऋतु के समान है। जो धर्मरूपी ओज - शुक्रपर्यन्त धातुओं को परम तेज का संहार करने लिये मानो महादेव का तीसरा नेत्र ही है। जो असत् सावद्यकर्मरूपी ऊर्मिमाला - तरङ्गपंक्तियों की पुनः पुनः प्रवृत्ति करने के लिये मानो नदी के समान है। इस प्रकार सात विशेषणों से विशिष्ट स्त्री यदि मनुष्यों को नरक के मार्ग में ले जाने के लिये सबसे अग्रेसर उपस्थित है, तब हे दुर्दैव ! तू अपने को व्यर्थ ही क्यों खिन्न बनाता है ? क्योंकि तेरा जो कार्य है वह तो इस प्रकार की स्त्री से ही सिद्ध हो जायगा।

भावार्थ :- मनुष्यों को नरक में ले जानेवाला सबसे प्रधान यदि कोई है तो वह स्त्री ही है। दुष्कर्मों को जो उसके कारण कहते हैं सो केवल इसीलिये कि वे उसके सूत्रधार हैं।

स्त्रियों के रागद्वेष की उत्कृष्ट कोटी - अंतिम सीमा बताने के लिये उसकी उपपत्ति दिखाते हैं :-

व्यक्तं धात्रा भीरुसर्गावशेषौ रागद्वेषौ विश्वसर्गे विभक्तौ।
यद्रक्ता स्वानप्यसून् व्येति पुंसे पुंसोपि स्त्री हन्त्यसून् द्राग्विरक्ता।।७६।।

मालूम पडता है मानो विश्व - जगत् को उत्पन्न करते समय सृष्टिकर्ता - ब्रह्मा ने जब स्त्री को उत्पन्न किया तब राग और द्वेष के संपूर्ण स्कन्ध से ही उसको बनाया और उसके बन चुकने पर राग और द्वेष का जो भाग अवशेष रहा वह सब उसने अपनी समस्त सृष्टि में विभक्त कर दिया। क्योंकि राग और द्वेष की अंतिम सीमा स्त्री में ही पाई जाती है। यदि वह राग करने लगे - किसी पुरुष पर आसक्त हो जाय तो धनधान्यादिक की तो बात ही क्या वह उस पुरुष को अपने प्राण तक भी दे डालती है। और यदि वह विरक्त हो जाय - द्वेष करने लगे तो शीघ्र ही उस पुरुष के प्राणों का संहार भी कर डाले।

भावार्थ :- स्त्रियों को राग और द्वेष दोनों ही सर्वोत्कृष्ट होकर भी सबसे अधिक भयंकर भी हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

ददाति रागिणी प्राणान् हरति द्वेषिणी पुनः।
रागो वा यदि वा द्वेषः कोपि लोकोत्तरः स्त्रियः।।

स्त्री यदि राग करने लगती है तो अपने प्राणों को दे देती है और यदि द्वेष करने लगती है तो वह दूसरों के प्राणों को ले लेती है। इस प्रकार स्त्रियों का राग हो यद्वा द्वेष, दोनों ही लोकोत्तर हैं।

सम्यक्चारित्र का आराधन करनेवालों को सदाचार की विशुद्धि के लिये दृष्टांतरूप से स्त्रीचरित्र की भावना का उपदेश देते हैं :-

रक्ता देवरतिं सरित्यवनिपं रक्ताऽक्षिपत्पङ्गुके
कान्तं गोपवती द्रवन्तमवधीच्छित्वा सपत्नीशिरः।
शूलस्थेन मलिम्लुचेन दलितं स्वोष्ठं किलाख्यत्पति -
च्छिन्नं वीरवतीति चिन्त्यमबलावृत्तं सुवृत्तैः सदा।।७७।।

राजा देवरति की रानी रक्ता ने पंगु पुरुष पर आसक्त होकर अपने पति को नदी में पटक दिया था; यह बात प्रसिद्ध है। गोपवती ने अपनी सपत्नी - सौत के शिर को काटकर भागते हुए पति को भी मार डाला था, इस बात को भी सब लोग जानते ही हैं। और वीरवती ने कुशूल में छिपकर बैठे हुए मलिम्लुच - अङ्गारक नाम के चोर द्वारा अपने ओष्ठ के खण्डित किये जानेपर भी अपने पति द्वारा उसका काटा जाना जाहिर किया था, यह बात भी आगमानुसार प्रायः विदित ही है। ऐसी ही बातों को देखकर कहना पडता है कि स्त्रियों के दोष और उनका चरित्र बिलकुल दुर्गम है। अतएव सम्यक्चारित्र का आराधन करनेवाले मुमुक्षुओं को अपने सदाचार को शुद्ध रखने के लिये और उसकी वृद्धि के लिये अबलाओं के चरित्र और दोषों का निरंतर विचार करना चाहिये। जिससे कि स्त्रियों में वैराग्य की सिद्धि और ब्रह्मचर्य की वृद्धि हो।

इस प्रकार स्त्रीदोष भावना का वर्णन करके अब क्रमप्राप्त स्त्रीसंसर्ग का वर्णन करना चाहते हैं। उसमें यहाँ पर सबसे पहले, स्त्रियों को दूर ही से छोड देना चाहिये - उनकी संगति न करना चाहिये; यह बात उपपत्तिपूर्वक बताते हैं :-

सिद्धिः काप्यजितेन्द्रियस्य किलन स्यादित्यनुष्ठीयते
सुष्ठ्वामुत्रिकसिद्धयेऽक्षविजयो दक्षैः स च स्याद्ध्वरुम्।
चेतःसंयमनात्तपःश्रुतवतोप्येतच्च तावद्भवेत्
यावत्पश्यति नांगनामुखमिति त्याज्याः स्त्रियो दूरतः।।७८।।

जिसने इन्द्रियों को नहीं जीता है - जो उनको अपने वश में नहीं कर सका है ऐसे मनुष्य के इस लोकसंबंधी अथवा परलोकसंबंधी कोई भी सिद्धि - अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह बात आगम में कही हुई है। नीतिशास्त्र में भी ऐसा ही कहा है। यथा 'नाजितेन्द्रियस्य कापि कार्यसिद्धिरस्ति' - जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं कर सका है उस मनुष्य के किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अतएव जो दक्ष पुरुष हैं - जो अपने आत्महित जैसे परलोकसंबंधी कार्य के सिद्ध करने में उद्यत है वे अपने उस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का अच्छी तरह अनुष्ठान किया करते हैं - चक्षुरादिक इन्द्रियों को अच्छी तरह अपने वश में करने का प्रयत्न किया करते हैं। किन्तु यह बात निश्चित हैं कि यह इन्द्रियविजय तबतक नहीं हो सकता जबतक कि चित्त का संयमन न किया जाय। मन का निरोध करने पर ही इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार उन साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या, जो कि तप और ज्ञान के अभ्यास से शून्य है; किंतु जो तप का और श्रुत का निरंतर आराधन करनेवाले हैं जो इन विषयों में निष्णात हैं उनके भी मन का निरोध तभीतक हो सकता है जबतक कि वे अङ्गनाओं का मुख नहीं देखते। इससे सिद्ध है कि आत्महित चाहनेवाले भव्यों के लिये ये स्त्रियाँ सदा छोड़ देने के ही योग्य हैं।

भावार्थ :- जब इन्द्रियों के अ७धीन हुए पुरुष का कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता है। तब आत्महित जैसा सर्वोत्कृष्ट कार्य तो सिद्ध ही किस तरह हो सकता है। वह तो तभी सिद्ध हो सकेगा जब कि स्त्रीसंसर्ग का भी परित्याग कर दिया जाय। क्योंकि स्त्रीसंसर्ग से योगियों और ज्ञानियों का भी मन चंचल हो जाता है, उसका वे निरोध नहीं कर सकते, और उनका चित्त संयत नहीं हो सकता। एवं च मन के संयत हुए विना वे मोक्ष को भी प्राप्त नहीं कर सकते। अतएव सिद्ध है कि मुमुक्षुओं को अङ्गनाओं का मुख भी न देखना चाहिये और स्त्रीमात्र की संगति भी न करनी चाहिये।

अङ्गना शब्द का अर्थ प्रशस्त अङ्गवाली - सुंदरी होता है। अतएव कोई कह सकता है कि यहाँ पर सुंदरियों के ही मुख देखने का निषेध किया है, जो सुंदरी नहीं हैं उनके मुख देखने आदिका इससे निषेध नहीं होता। किन्तु उसे समझना चाहिये कि यहाँ पर अङ्गना शब्द केवल उपपत्ति के लिये ही आया है। त्याज्यता के उपदेश में सामान्य से स्त्री शब्द का ही पाठ है। क्योंकि सदाचार में विप्लव स्त्रीमात्र के संसर्ग से हो जाया करता है। अतएव मुमुक्षुओं के लिये स्त्रीमात्र की संगति त्याज्य है; ऐसा ही समझना चाहिये। कहा भी है कि :-

द्वयमेव तपःसिद्धौ बुधाः कारणमूचिरे।
यदनालोकनं स्त्रीणां यच्च संग्लापनं तनोः।।

ज्ञानियों ने तपःसिद्धि के दो ही कारण बताये हैं। एक तो स्त्रियों को न देखना - स्त्रीमात्र की संगति न करना, और दूसरा शरीर को अच्छी तरह से क्षीण बनाना - अनशनादि करके अथवा आतापनादि योग के द्वारा उसको कृष करना।

रागी जीव पहले कामिनियों के कटाक्षपात का निरीक्षण करने की तरफ उन्मुख होता और उसके बाद फिर दूसरे भी दुर्भावों में प्रवृत्त होता है। इसी क्रम से अंत में जाकर वह तत्त्वरूप परिणत हो जाता है, इस बात को दिखाते हैं।

सुभ्रूविभ्रमसंभ्रमो भ्रमयति स्वान्तं नृणां धूर्तवत्
तस्माद् व्याधिभरादिवोपरमति व्रीडा ततः शाम्यति।
शङ्का वन्हिरिवोदकात्तत उदेत्यस्यां गुरोः स्वात्मवद्
विश्वासः प्रणयस्ततो रतिरलं तस्मात्ततस्तल्लयः।।७९।।

जिनकी भृकुटियाँ देखते ही मन को हर लिया करती हैं - आपात - रमणीय हैं उन वराङ्गनाओं का विभ्रम - सादर या साभिलाष निरीक्षण मनुष्यों के स्वान्त - मन को भ्रान्त बना देता है - व्याकुल कर देता अथवा अयथार्थ भाव की तरफ इस तरह से झुका देता है, जैसे कि धतूरा पीनेवाले का मन भ्रान्त और व्याकुल हो जाता है, तथा

उसको सफेद वस्तु पीली दिखने लगती है। इसी प्रकार कामिनीकटाक्ष का निरीक्षण कर भ्रान्त और व्याकुल हुआ मनुष्य अहितकर भी स्त्रियों को हितकर समझने लगता है। चित्त के भ्रान्त हो जानेपर उससे लज्जा इस तरह से निवृत्त हो जाती है जैसे कि राग के उद्रेक को पाते ही वह दूर हो जाया करती है। क्योंकि अत्यंत रागी मनुष्य को किसी प्रकार की भी लज्जा नहीं रहती। लज्जा के दूर हो जानेपर मन में शंका - भय, जल से अग्नि की तरह, शांत हो जाती नष्ट हो जाती है। उसको लोकनिंदा या गुरु आदि का भय नहीं रहता। इस प्रकार निर्भय होनेपर वह कामी अपनी अभीष्ट कामिनी पर इस तरह से विश्वास करने लगता है जैसे कि मुमुक्षुपुरुष गुरुओं से अध्यात्मतत्त्व का उपदेश सुनकर निजस्वरूप में श्रद्धा करने लगता है। विश्वास के उद्भूत होते ही कामिनी में उसका प्रणय - प्रेमपरिचय भी उसी तरह से होने लगता है जैसे कि गुरु के निमित्त से आत्मस्वरूप में भव्यों के हुआ करता है। इसके अनंतर जैसे कि कोई साधु आत्मस्वरूप में अच्छी तरह रमण करने लगता और अंत में उसमें लीन - एकतान हो जाता है उसी प्रकार कामीपुरुष भी प्रेमपरिचय के बाद अपनी अभीष्ट नायिका में पर्याप्तरूप से रतिकर्म करने लगता और अंत में लीन हो जाता है। क्योंकि जिस प्रकार साधुओं को अपने शुद्धात्मस्वरूप में समरस हुए विना आत्मिकसुख का अनुभवन नहीं हो सकता उसी प्रकार कामियों को भी कामिनियों में लीन हुए बिना सुखानुभव नहीं हो सकता। अतएव वे तल्लीन हो जाते हैं - समरसीभाव को धारण करने लगते हैं।

कहा भी है कि :-

लब्धायतिप्रगल्भा रतिकर्मणि पण्डिता विभुर्दक्षा।
आक्रान्तनायकमना निर्व्यूढविलासविस्तारा।।
सुरते निराकुलासौ द्रवतामिव याति नायकायाङ्गे।
न च तत्र विविक्तुमलं कोयं काहं किमेतदिति।।

स्नेह अथवा वशित्व को प्राप्त हुई प्रगल्भा नायिका जो कि रतिकर्म में पण्डित विभु दक्ष और अधिकार प्राप्त कर चुकी है, जो विलास का विस्तार करने में निर्व्यूढ - पूर्णतया समर्थ है नायक के मन पर वह सुरत में निराकुल होकर नायक के अंग में इस तरह

से प्रविष्ट हो जाती है जैसे कि कोई पतला पदार्थ। उस समय में भिन्नता का भान बिलकुल नहीं होता। यहाँ तक कि यह कौन है, मैं कौन हूँ, और यह क्या हो रहा है इसकी तरफ भी उसका लक्ष्य नहीं जाता।

और भी कहा है कि :-

समरसरसरंगु गमिण जिह रइया वज्झति।
समरसरसरंगुग्गमिण तिह जोइय सिज्झंति।।

जिस प्रकार रागी पुरुष - नायक और नायिका मिलकर समरस के आनंद का अनुभव कर कर्मबंध को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार योगिजन आत्मस्वरूप में लीनता के आनंद का अनुभव कर सिद्धि प्राप्त करते हैं।

कामिनियों के कटाक्ष का निरीक्षण देखनेमात्रमें ही मनोरम किंतु परिणाम में अत्यंत दारुण - भयानक है। यह बात वक्रोक्ति की उपपत्ति द्वारा बताते हैं :-

चक्षुस्तेजोमयमिति मतेप्यन्य एवाग्निरक्ष्णो-
रणाक्षीणां कथमितरथा तत्कटाक्षाः सुधावत्।
लीढा दृग्भ्यां ध्रुवमपि चरद्विष्वगप्यप्यणीयः
स्वान्तं पुंसां पविदहनवद्दग्धुमन्तर्ज्वलन्ति।।८०।।

वैशेषिकों का सिद्धांत है कि दीपक के समान चक्षुरिन्द्रियमें भी रश्मि - किरणें पाई जाती हैं; अतएव वह तैजस है। तर्क के लिये इस सिद्धांत को मानकर यदि इस पर विचार करें तो मालूम पडता है कि इन मृगनयनी कामिनियों के नेत्रों में यह अग्नि नहीं पाई जाती। भासुररूप और उष्ण स्पर्श गुण से युक्त बाह्य स्थूल स्थिर और मूर्त द्रव्य जिसका कि दाहकता ही लक्षण है, अग्नि नाम से संसार में प्रसिद्ध है। यह अग्नि तो इन अङ्गनाओं के नेत्रों में नहीं पाई जाती, किन्तु इससे विलक्षण ही कोई अग्नि इनमें अवश्य पाई जाती या रहती है क्योंकि अन्यथा यदि विलक्षण अग्नि नहीं है तो देखिये कि, उन अङ्गनाओं के जिन कटाक्षों को लोग अमृत की तरह से स्वादु समझकर पहले अपने नेत्रों के द्वारा

पी जाते हैं - उनका रसास्वादन कर लेते हैं; वे ही कटाक्ष उन मनुष्यों के उस मन को जो कि ध्रुव - नित्यरूप की अपेक्षा सदा अविकृत रहनेवाला और विश्वमात्र में अलातचक्र की तरह से चारों तरफ को घूमनेवाला और इसपर भी जो अत्यंत अणु - जो योगियों के भी सहसा लक्ष्य में न आ सके ऐसा परमाणु से भी अधिक सूक्ष्म है उसको भी भस्मसात् करने के लिये वज्राग्नि की तरह से आत्मा के भीतर प्रज्वलित क्यों हुआ करते हैं।

भावार्थ :- यदि साधारण अग्नि ही उसमें पाई जाती या होती जैसी कि वैशषिकोंने बताई है, तो उसका कार्य प्रकाश या दाह आदि भी होता; सो नहीं होता; बल्कि अमृत की तरह लोग उसका रसास्वादन करने लगते हैं। मालूम इससे पड़ता है कि चक्षुओं में जिस तैजसता की कल्पना वैशेषिकों ने की है वह उसमें नहीं पाई जाती। किंतु यह कहा जा सकता है कि इन मृगनयनियों के नयनों में कोई विलक्षण अग्नि रहती है जो कि ऊपर से तो अमृत के समान मधुर मालूम पड़ती है और भीतर जाकर वज्राग्नि के समान काम करती है। विवेक को नष्ट कर अंतरात्मा के हित को भस्म कर देती है। इसीलिये तो कहते हैं कि कामिनियों के कटाक्ष का निरीक्षण देखनेमात्र में रमणीय किंतु परिणाम में अत्यंत दारुण है।

कटाक्षनिरीक्षण के द्वारा क्षणमात्र में ही मनुष्य के हृदय में जो अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देने की कामिनियों में शक्ति है उसको विदग्धोक्ति के द्वारा प्रकट करते हैं।

हृद्यभिव्यञ्जती सद्यः स्वं पुंसोऽपाङ्गवल्गितः।
सत्कार्यवादमाहत्य कान्ता सत्यापयत्यहो।।८१।।

अपाङ्ग वल्गन - कटाक्षपात के द्वारा दर्शक के हृदय में तत्क्षण ही अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देनेवाली कान्ताप्रमदा, अहो, कितने कष्ट और आश्चर्य की बात है कि बिना प्रमाण के जबर्दस्ती ही सांख्यों के सत्कार्यवाद को सत्य साबित कर दिया करती है।

भावार्थ :- सांख्यों का सिद्धांत है कि :-

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।

जितने भी कार्य हैं वे सभी सत्रूप हैं - सदा उपस्थित रहनेवाले हैं। क्योंकि एक तो यह नियम है कि असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती - जो पदार्थ नहीं है वह कभी उत्पन्न भी नहीं हो सकता। दूसरे वह कार्य अपने उपादान को ग्रहण करता है। यह नियम है कि उपादान के गुण कार्य में आया करते हैं। और यह बात तभी हो सकती है जब कि कार्य सत् हो। क्योंकि जो स्वयं असत् होगा वह उपादान के गुणों को भी ग्रहण किस तरह कर सकेगा। तीसरे, एक पदार्थ से सभी कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती, यदि कार्य असत्रूप होता तो सभी पदार्थों से सब कार्य उत्पन्न हो सकते थे। चौथे, जो पदार्थ जिस कार्य के उद्भूत करने में समर्थ है उसीसे वह उत्पन्न - व्यक्त होता है, अन्य से नहीं। यदि कार्य असत् होता तो चाहे जिस पदार्थ से, चाहे जो पदार्थ उत्पन्न हो सकता था। पाँचवें, कार्यकारणभाव भी तभी बन सकता है जब कि कार्य सद्रूप हो। यदि कार्य असत् हो तो चाहे जिससे भी वह उत्पन्न हो सकता है। किंतु ऐसा नहीं है। इससे मालूम पड़ता है कि कार्य सद्रूप ही है। यह सांख्यों का सिद्धांत यद्यपि असत्य है प्रमाणसिद्ध नहीं है। फिर भी ये प्रमदाएँ अपनी चेष्टा के द्वारा जबरर्दस्ती उसको सिद्ध करने का प्रयत्न करती हैं कि उनके कटाक्ष का निरीक्षण करते ही मनुष्य के हृदय में उनका स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता हैं; और फिर वे ही वे दिखने लगती हैं।

जो मनुष्य इन कामिनियों के कटाक्ष का निरीक्षण करने में प्रवृत्त होते हैं वे अनेक भव तक युक्तायुक्त के विवेक से शून्य हो जाते हैं, यह बात वक्रोक्ति के द्वारा बताते हैं :-

नूनं नृणां हृदि जवान्निपतन्नपाङ्गः
स्त्रीणां विषं वमति किंचिदचिन्त्यशक्ति।
नो चेत्कथं गलितसद्गुरुवाक्यमन्त्रा
जन्मान्तरेष्वपि चकास्ति न चेतनाऽन्तः।।८२।।

यह बात निश्चित मालूम होती है कि स्त्रियों का अपाङ्ग - कटाक्ष मनुष्यों के हृदय पर पड़ते अपूर्व - लोकोत्तर और जिसकी शक्ति अचिन्त्य है ऐसे विष को उगलता है। अन्यथा उसके पड़ते ही आत्मा में चेतना शक्ति को इतनी गाढ मूर्च्छा क्यों आ जाती है जो कि वह सद्गुरुओं के वाक्यरूपी मंत्र के प्रभाव को भी भ्रष्ट कर, इसी जन्म

की तो बात क्या, वह चेतना जन्मांतर में भी प्रकाशित - प्रबुद्ध नहीं होती।

भावार्थ :- ललनाओं के कटाक्ष का असर इतना तीव्र है कि उससे मनुष्यों का विवेक जन्मजन्मांतर के लिये भी नष्ट हो जाता है। और उसके सामने सद्गुरु का उपदेश भी अपना कुछ प्रभाव नहीं दिखा सकता। अतएव कहना चाहिये कि वह ऐसा अलौकिक विष है कि जिसकी शक्ति अचिन्त्य है विचार में नहीं आ सकती। क्योंकि यदि लौकिक विष होता तो उसकी शक्ति मालूम पड़ सकती थी और मंत्र द्वारा दूर भी हो सकती थी। विष का अपहरण करने की शक्ति रखनेवाले अक्षर समूह को मंत्र कहते हैं। लौकिक विष कैसा भी हो, मंत्र द्वारा वह दूर हो सकता है। किंतु गुरूपदेश जैसे मंत्र को भी जो हतप्रभ कर परलोक तक साथ जाता और अपना कार्य - चेतनाशक्ति - विवेक का नाश करता है ऐसा तो कोई अचिन्त्यशक्ति का अलौकिक ही विष हो सकता है।

संयम का सेवन - साधन करनेवाले साधुओं के भी मन को ये स्त्रियाँ आलोकन संभाषण आदि किसी भी प्रकार से उसके भीतर आकर ऐसा विकृत कर देती है कि जिसका सहसा प्रतीकार नहीं हो सकता। ऐसा भय उत्पन्न करके उनका परिहार करने के लिये मुमुक्षुओं को सावधान करते हैं :-

चित्रमेकगुणस्नेहमपि संयमिनां मनः।
यथातथा प्रविश्य स्त्री करोति स्वमयं क्षणात्।।८३।।

संयमियों का मन यद्यपि एकगुणस्नेह है फिर भी आश्चर्य है कि जिस किसी भी तरह से स्त्रियाँ उसमें प्रविष्ट हो जातीं और क्षणमात्र में उसको अपने रूप कर लेती हैं।

भावार्थ :- जिस पदार्थ में स्निग्धत्व या रूक्षत्व गुण की एक ही गुण - अंश - अविभाग प्रतिच्छेद रहता है उसका किसी भी दूसरे पदार्थ के साथ बंध नहीं हो सकता। जैसा कि कहा भी है कि 'न जघन्यगुणानाम्' जघन्यगुण - एक अविभागप्रतिच्छेद से युक्त पदार्थ का किसीके भी साथ बंध नहीं होता ऐसा नियम है। और यह नियम कि बंध होनेपर अधिक गुणवाला कम गुणवाले को अपनेरूप परिणत कर लेता है। तथा च 'बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च'। किंतु प्रकृत में यह बात विरुद्ध नजर आती है कि स्त्रियों का एकगुण स्नेहवाले भी संयमियों के मन से संबंध हो जाता है और वे उसको अपने

रूप कर लेती हैं। अतएव इस विरोधाभास का परिहार करने के लिये ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि - संयमियों का मन यद्यपि सम्यग्दर्शनादिक गुणों में ही उत्कृष्टतया अथवा इन उत्कृष्ट गुणों में ही अनुराग रखनेवाला है; यद्वा एकगुण - एकत्व में ही स्नेह रखनेवाला है; क्योंकि मुमुक्षु साधु समस्त बाह्य उपाधियों से रहित एकाकी होना चाहते हैं अथवा शरीर और कर्म नोकर्म के संबंध से भी रहित होकर शुद्धात्मस्वरूप ही होना चाहते हैं। फिर भी आलोकन संभाषण आदि के द्वारा उसकी प्रवृत्ति स्त्रियों की तरफ झुक जाती है और उससे वह विकृत हो जाता है। अतएव साधुओं को अपने ब्रह्मचर्य महाव्रत की वृद्धि के लिये और उसके कारणभूत स्त्रीवैराग्य की सिद्धि के लिये स्त्रियों के साथ आलोकन संभाषण भी नहीं करना चाहिये।

थोडा सा भी स्त्री संपर्क - उनकी संगति या संयत पुरुष के स्वार्थ - आत्मकल्याण को भ्रष्ट कर देता है, ऐसी शिक्षा देते हैं -

कणिकामिव कर्कटच्या गन्धमात्रमपि स्त्रियाः।
स्वादुशुद्धां मुनेश्चित्तवृत्तिं व्यर्थीकरोत्यरम्।।८४।।

जिस प्रकार कचरी की गंधमात्र से ही स्वादु - मधुर और शुद्ध - स्वच्छ पवित्र भी गोधूमचूर्ण - आटा खराब हो जाता है उसी प्रकार स्त्रियों की गंधमात्र से ही मुनियों की स्वादुशुद्ध - आनंद और वीतरागता से युक्त भी मनोवृत्ति क्षणमात्र में खराब हो जाती है।

भावार्थ :- मुनियों की समस्त प्रवृत्तियाँ कर्मक्षपण के लिये हुआ करती हैं। अतएव शुद्धात्मस्वरूप के अनुभव से उत्पन्न हुए आनंद और वीतरागता से युक्त मनोवृत्ति का भी प्रयोजन कर्मक्षपण ही है। किंतु स्त्रियों का आलोकन स्पर्शन संभाषण कथोपकथन आदि की तो बात ही क्या, गंध भी उस मनोवृत्ति को मलिन बनाकर व्यर्थ कर देती है। क्योंकि उससे जो प्रयोजन सिद्ध होना चाहिये सो न होकर विरुद्ध ही अर्थ - प्रयोजन सिद्ध होता है। कर्मों का क्षय न होकर संचय ही होता हैं। अतएव साधुओं को स्त्रियों का संसर्ग ऐसा दूर से ही छोड देना चाहिये कि जहाँ से उनकी गंध भी न आ सके। तभी उनका प्रयोजन सिद्ध हो सकता है; अन्यथा नहीं :-

स्त्रीसंगति के दोषों को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करके बताते हैं :-

सत्त्वं रेतश्छलात्पुंसां घृतवद् द्रवति द्रुतम्।
विवेकः सूतवत्क्वापि याति योषाग्नियोगतः।।८५।।

स्त्रियाँ अग्नि के समान हैं, अतएव उनके संबंध से - संगति से मनुष्यों का सत्त्व - प्रशस्त मनोगुण रेत - वीर्य के छल से घी की तरह उड़ जाता है। मालूम भी नहीं पडता कि वह कहाँ गया।

भावार्थ :- मनुष्यों के सत्त्व और विवेक को नष्ट करने के लिये स्त्रीसंपर्क ऐसा समझना चाहिये जैसे कि घी और पारे के लिये अग्नि का संबंध।

अभीष्ट कामिनियों की विशिष्ट चेष्टाएँ बड़े भारी मोह के आवेश को उत्पन्न कर देती हैं, यह बात वक्रोक्ति के द्वारा बताते हैं :-

वैदग्धीमयनर्मवक्रिमचमत्कारक्षरत्स्वादिमाः
सभ्रूलास्यरसाः स्मितद्युतिकिरो दूरे गिरः सुभ्रुवाम्।
तच्छ्रोणिस्तनभारमन्थरगमोद्दामक्वणन्मेखला -
मञ्जीराकुलितोपि मङ्क्षु निपतेन्मोहान्धकूपे न कः।।८६।।

रसिक चेष्टाएँ ही जिनका प्रकृत प्रयोजन है ऐसे नर्म और वक्रिमा - परिहास के लिये और कुटिलताओं के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले चमत्कार - विस्मय के आवेश से जिनमें मधुरता - श्रोत्र और हृदय की आह्लादकता का रस झर रहा है और जिनके साथ - साथ भृकुटियों के लास्य - नृत्य - [१]स्निग्ध संचालन का भी रस आ रहा है। एवं जिनसे स्मित - ईषद् हास और द्युति - कान्ति चारों तरफ को फैल रही है। सुंदरी ललनाओं के वचन तो दूर ही रहो; क्योंकि वे तो मोक्षमार्ग के अत्यंत प्रतिबंधक हैं, अतएव उनके विषय में तो यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। किंतु कहना यह है कि ऐसा कौन मनुष्य है जो कि इन प्रमदाओं के श्रोणि - कटि और स्तन के भार से - कटि और कुचों की गुरुता को न सहने के कारण गमन के मंथर - मंद हो जाने

१ - अकर्कश प्रेमोत्पादक।

से उद्दाम - उदार गंभीर मधुर धीमी ध्वनि - रणझण शब्द करते हुए मेखला के मंजीरों से - रशना नूपुरों के शब्दों को सुनते झटिति विक्षिप्तचित्त होकर मोह के अंधकूप में नहीं गिर पड़ता।

भावार्थ :- कामिनियों के भृकुटिसंचालन का रसानुभव आदि तो आत्महित का साक्षात् ही विरोधी है। अतएव उसकी त्याज्यता का तो उपदेश ही क्या दें; क्योंकि मुमुक्षुओं को वह तो सबसे पहले ही त्याज्य है। किंतु उन्हें चाहिये कि कामिनियों का संपर्क करना - संगति में रहना भी वे इस तरह से छोड़ दें कि जहाँ से उनकी मेखलादि का शब्द कानों में पड़कर कहीं उनके मन को विक्षिप्त - मूर्छित न कर दे। क्योंकि जब नूपुरों के शब्द को सुनकर ही मनुष्यों का मन व्याकुल हो जाता है तब उसके उस तरह के वचनों की तो बात ही क्या है।

स्त्रियों के साथ संभाषण करने के दोष बताते हैं :-

सम्यग्योगाग्निना रागरसो भस्मीकृतोप्यहो।
उज्जीवति पुनः साधोः स्त्रीवाक्सिद्धौषधीबलात्।।८७।।

समीचीन योग - समाधिरूपी अग्नि प्रयोगवन्हि के द्वारा भस्मरूप - दग्ध किया गया भी साधुओं का रागरूपी रस-मोहरूपी पारद, अहो, आश्चर्य की बात है कि स्त्रियों के वचनरूपी सिद्धौषधी के बल से फिर उज्जीवित हो जाता है - प्राण धारण कर लेता है।

भावार्थ :- जिस कषाय को साधुगण बड़ी मुश्किल से ध्यान धारणा और समाधि आदि अनेक उपायों के द्वारा शांत या क्षीण कर पाते हैं वही कषाय स्त्रियों के साथ संभाषण करने से क्षणमात्र में फिर उद्दीप्त हो जाता है। जैसे कि अनेक प्रयोगों - अग्निसंस्कारों के द्वारा भस्म बनाया गया भी पारा सिद्धौषधी के द्वारा फिर पारा हो जाता है।

नितंबिनियों के आलिङ्गनसंबंधी फल का विचार कराते हैं :-

पश्चाद्बहिर्वरारोहादोःपाशेन तनीयसा।
बध्यतेन्तः पुमान् पूर्वं मोहपाशेन भूयसा।।८८।।

यह पुरुष इन नितंबिनियों के अत्यंत तुच्छ बाहुपाश में तो बाहिर से और पीछे से बंधता है किंतु भीतर - आत्मा या हृदय में तो उसके पहले ही बड़े भारी मोहपाश में बंध जाता है।

भावार्थ :- बाहिर से यद्यपि देखने में शरीर से स्त्रियों का आलिंगन तुच्छ मालूम पडता है किंतु इसके कारणभूत मोह के निमित्त से आत्मा का कर्म के साथ जो बंध हो जाता है वह बड़ा भारी है, जो कि बहिर्दृष्टियों की दृष्टि में नहीं आ सकता, और जो उसके पहले ही हो जाता है। क्योंकि आलिङ्न के लिये मूर्छित परिणामों के होते ही कर्मस्कंध तो हो ही जाता है फिर चाहे आलिङ्गन हो या न हो।

स्त्रियों के अवलोकनादि से होनेवाले दोषों का उपसंहार करते हैं -:

दृष्टिविष दृष्टिरिव दृक्कृत्यावत्संकथाग्निवत्सङ्गः।
स्त्रीणामिति सूत्रं स्मर नामापि ग्रहवदिति च वक्तव्यम्।।८९।।

हे साधो ! तुझको स्त्रियों के विषय में इन सूत्रों का सदा स्मरण करना चाहिये - निरंतर अध्ययन और विचार करना चाहिये। क्योंकि इन सूत्रों से अनेक अर्थ सिद्ध हो सकते हैं। नाना अर्थों के प्ररूपक वाक्यों को ही सूत्र कहते हैं। वे सूत्र इस प्रकार हैं कि - [१]स्त्रियों की दृष्टि दृष्टिविष सर्प की दृष्टि के समान है। जिस प्रकार कितने ही विशिष्ट सर्पों की दृष्टिमें ही इतना उग्र विष होता है कि उसके पडते ही मनुष्य मूर्छित हो जाते हैं और उनका बल क्षीण हो जाता है। उसी प्रकार स्त्रियों के कटाक्षका भी पात होते ही मनुष्य मोहित हो जाते हैं और उनके सत्त्व - पराक्रम या मनोबल का मर्दन हो जाता है। इसी प्रकार स्त्रियों की कथा - पारस्परिक भाषण को कृत्या के समान समझना [२]चाहिये। जिस प्रकार मारणविद्या मनुष्यों के प्राणों का सहसा संहार कर डालती है, उसी प्रकार यह कथा भी साधुओं के संयमरूपी प्राणों का तुरंत अपहरण कर लेती है। और उनका संसर्ग अग्नि के [३]समान है। जिस प्रकार अग्नि में यदि रत्न को डाल दिया जाय तो वह भस्म हो जाता है, उसी प्रकार स्त्रियों के शरीर का स्पर्श होते ही

१ - पहिला सूत्र। २ - दूसरा सूत्र। ३ - तीसरा सूत्र।

संयमरत्न खाक में मिल जाता है। इस प्रकार ये तीन सूत्र हैं। किंतु इनके ऊपर एक [४] वक्तव्य भी है। उसका भी साधुओं को सदा स्मरण करना चाहिये। यह इस प्रकार है कि - स्त्रियों का नाममात्र भी ग्रह के तुल्य है। क्योंकि जिस प्रकार भूतादिक से आविष्ट हुआ पुरुष विक्षिप्तमन हो जाता है उसी प्रकार स्त्रियों का नाममात्र सुनने से भी विक्षिप्त हो जाता है।

स्त्रियों के संसर्गजन्य दोषों का उपसंहार करते हैं :-

किं बहुना चित्रादिस्थापित्तरूपापि कथमपि नरस्य।
हृदि शाकिनीव तन्वी तनोति संक्रम्य वैकृतशतानि।।९०।।

मुख्यरूप जो सचेतन स्त्रियाँ हैं उनकी तो बात ही क्या किंतु जिनकी केवल आकृति ही देखने में आती है ऐसी चित्र पुस्त काष्ठ आदिक में स्थापित - आरोपित भी ललनाएँ किसी तरह से - प्रज्ञादोष से अथवा अन्य किसी प्रकार से मनुष्यों के हृदय में शाकिनी की तरह से संक्रान्त होकर उससे सैंकड़ो ही विकृत चेष्टाएँ करा देती हैं। और अधिक क्या कहें ?

भावार्थ :- अज्ञानी और रागी मनुष्य स्त्रियों के चित्र को देखकर ही जब विकृतमन होकर अनेक कुचेष्टाएँ करने लगते हैं जिनमें कि केवल उनकी आकृति का ही आरोपण किया जाता है; तो साक्षात् स्त्रियों के संसर्ग से तो, न मालूम क्या क्या अनर्थ नहीं हो सकते। शाकिनी के शरीर में प्रवेश कर जाने पर जो जो चेष्टाएँ मनुष्य करता है वे सब [१] मंत्रमहोदधि आदि ग्रंथों में बताई हुई हैं। तथा स्त्रियों के संसर्ग से जो चेष्टाएँ करता है उनको हम पहले लिख ही चुके हैं।

इस प्रकार स्त्रीसंसर्ग के दोषों का व्याख्यान कर अब क्रमप्राप्त उनकी अशुचिता

---

१ - सूत्र में जो अभिप्राय न आ सके उसको बताने के लिये जो सूत्र से अतिरिक्त वचन कहा जाता है उसको वक्तव्य अथवा वार्तिक कहते हैं।

२ - यथा -: खंधो खंधो पभणइ लुंचइ सीसं ण याणए किपि।
गय चेयणो हु विलवइ उड्ढं जोएइ ग्रह ण जोएइ।।

का वर्णन पाँच पद्यों में करना चाहते हैं। उसमें पहले सामान्य से स्त्रियों के केशपाश मुख और आकृति शरीर का जो कि आहार्यरमणीय किन्तु झटिति विपर्यास के उत्पन्न करनेवाले हैं, व्याख्यान करते हैं, जिससे कि मुमुक्षुओं को मुक्ति का उद्योग करने में सहायता प्राप्त हो सके। क्योंकि अशुचिता की भावना - विचार वैराग्य का कारण है :-

गोगर्मद्व्यजनैकवंशिकमुपस्कारोज्ज्वलं कैशिकं
पादूकृद्गृहगन्धिमास्यमसकृत्ताम्बूलवासोत्कटम्।
मूर्तिश्चाजिनकृद्दृतिप्रतिकृतिः संस्काररम्या क्षणाद्
व्यांजिष्यन्न नृणां यदि स्वममृते कस्तर्ह्युदस्थास्यत।।९१।।

स्त्रियों और पुरुषों के केशपाश मुख और शरीर का वास्तविक स्वरूप देखा जाय तो कुछ और ही है। केश समूह तो, गौ, बैल, भैंस आदि पशुओं की मक्खियों को उड़ाने का जो व्यजन अथवा पूंछ के बालों का जो गुच्छा उसी वंश में उत्पन्न हुआ है। क्योंकि जो उस व्यजन का गोत्र है वही निन्द्यगोत्र स्त्री और पुरुषों के बालों का भी हैं। इसी प्रकार यदि मुख को देखा जाय तो जैसी चमारों के घर में दुर्गंध आया करती है वैसी ही इसमें आती है। शरीर को यदि देखा जाय तो उसको भी ठीक वैसा ही समझना चाहिये जैसी कि चमारों के यहाँ पर रंगी मशक हुआ करती है। परंतु देखते हैं कि ये तीनों ही अपने इस वास्तविक रूप को लोगों के सामने प्रकट न कर उन्हें विपर्यास ही उत्पन्न कराते हैं। स्त्रियों के सामने पुरुषों के और पुरुषों के सामने स्त्रियों के केशसमूह अपने को संस्कार - अभ्यङ्ग स्नान सुगंधित धूपनादि के द्वारा उज्वल - सुंदर सुगंधित मनोहर और प्रदीप्त प्रकट करते हैं। मुख अपने को ताम्बुल की सुगंध से सुगंधित मनोहर और महान् प्रकट करता है। तथा शरीर भी स्नानानुलेपनादि के द्वारा अपने को रमणीय प्रकाशित करता है। परंतु क्षणभर के लिये भी यदि ये ऐसा न करें - संसार के स्त्रियों और पुरुषों को अपने स्वरूप के विषय में विपर्यास उत्पन्न कराने का प्रयत्न न करें तो फिर कौन बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो कि अमृतपद - मोक्ष के लिये तपस्यादि करने का प्रयत्न करे।

भावार्थ :- यद्यपि ये तीनों ही लोगों को विपर्यास ही उत्पन्न कराते हैं फिर भी

मुमुक्षुओं चाहिये कि वे इनके विपर्यास में न आकर इनके वास्तविक स्वरूप का ही विचार किया करें; जिससे कि उनके निर्वेद की सिद्धि होकर अभीष्ट प्रयोजन - मोक्ष के साधनमें भी सहायता प्राप्त हो।

जो काम से अंधा हुआ पुरुष अपने में उत्कर्ष की संभावना करता है, अपने को महान् समझने लगता है उसके प्रति धिक्कार प्रकट करते हैं :-

कुचौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्यभिसरन् -
सुधास्यन्दीत्यङ्गव्रणमुखमुखक्लेदकलुषम्।
पिबन्नोष्ठं गच्छन्नपि रमणमित्यार्तवपथं
भगं धिक् कामान्धः स्वमनु मनुते स्वःपतिमपि।।९२।।

स्त्रियों के कुचों को जो कि गदा के आकार में बन जानेवाली मांस की ग्रंथी - गाठें हैं उनको पीनता उन्नतता और कठिनता गुण के कारण सुवर्ण का कलश समझकर जब आलिङ्गन करने लगता है, तथा शरीर के व्रण के समान अत्यंत अशुचिरूप पदार्थ के बहने या निकलने के द्वार के सदृश मुख के क्लेद से कश्मल हुए ओष्ठ को जब अमृत का झरना समझकर पीने - चूसने लगता है - उनके रस का स्वाद लेने लगता है, और जब रज के बहने के मार्ग योनिरन्ध्र को अत्यंत रमणीय स्थान समझकर भोगने लगता है, उस समय काम से अंधा हुआ यह पुरुष - जिसको कि मन्मथ - मोह के कारण वस्तु का वास्तविक स्वरूप सूझता ही नहीं है; धिक्कार है कि दूसरे साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या, स्वर्गपति - इन्द्र से भी अपने को अधिक उत्कृष्ट समझने लगता है।

भावार्थ :- जो इतना काम से अंधा हो जाता है कि अत्यंत अशुचि और अस्पृश्य पदार्थों में भी रमण करने लगता है तथा उनके सेवन करनेमें भी जो इतना राग करने लगता है कि इन वस्तुओं की प्राप्ति के सामने उत्तम व्यक्तियोंको भी हीन मानने लगता है उसको अब धिक्कार देने के सिवाय और क्या कहें।

जिस समय दृष्टि स्त्रियों के शरीर में अनुराग करने की तरफ प्रवृत्त हो कि उसी समय - झटिति प्रबुद्ध हुआ उनके स्वरूप का परिज्ञान ही उत्पन्न होनेवाले मोह को दूर

कर सकता है, यही बात दिखाते हैं :-

रेतःशोणितसंभवे बृहदणुस्रोतःप्रणालीगल-
द्गर्होद्गारमलोपलक्षितनिजान्तर्भागभाग्योदये।
तन्वङ्गीवपुषीन्द्रजालवदलंभ्रान्तौ सजन्त्यां दृशि
द्रागुन्मीलति तत्त्वदृग् यदि गले मोहस्य दत्तं पदम्।।९३।।

तन्वङ्गी - ललनाओं के शरीर का यदि वास्तविक स्वरूप देखा जाय तो वह शुक्र और शोणित को उत्पन्न करने का स्थान अथवा इनको उत्पन्न करनेवाला है। तथा इसमें प्रणालिकाओं - मोरियों के समान जो बड़े और छोटे छिद्र पाये जाते हैं उनसे अत्यंत ग्लानि के उत्पादक विष्टा मूत्र नाक थूक श्लेष्मा प्रस्वेद प्रभृति बहते हुए मल लोगों को इस बात का अनुभव या ज्ञान करा देते हैं कि इनके अंतर्भाग में - भीतर कितना और कैसा भाग्य का उदय है। फिर भी यह शरीर जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है लोगों को भ्रांति - विपर्यास कराने में पूर्णतया समर्थ है। किन्तु इसकी तरफ दृष्टि के अनुरक्त - विपर्यास की तरफ उन्मुख होते ही, निगाह जाते ही यदि साधुओं का तत्त्वज्ञान झटिति जागृत हो उठता है - शरीर के वास्तविक स्वरूप की तरफ उनका लक्ष्य चला जाता है, तो कहना चाहिये कि उन्होंने मोह के गले पर पैर दे दिया। लात मारकर चारित्रमोहनीयकर्म का तिरस्कार कर दिया और उस पर विजय प्राप्त कर ली।

भावार्थ :- जो स्त्रियों के शरीर में अनुराग का निमित्त पाते ही तत्त्वज्ञान से काम लेते हैं और उसमें राग न करके उनके वास्तविक स्वरूप - अशुचिता का विचार करने लगते हैं वे ही साधु मोहकर्म को जीतकर अपने ब्रह्मचर्य में वृद्धि और अभीष्ट पद की सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

स्त्रियों का शरीर वस्तुतः सुंदर नहीं है किंतु रमणीय आहार वस्त्र भूषण अनुलेपनादि की सजावट से वैसा मालूम पडने लगता है, इसी बात को प्रौढोक्ति द्वारा प्रकट करते हैं :-

वर्चःपाकचरुं जुगुप्स्यवसतिं प्रस्वेदधारागृहं
बीभत्सैकविभावभावनिवहैर्निर्माय नारीवपुः।

वेधा वेद्मि सरीसृजीति तदुपस्कारैकसारं जगत्
को वा क्लेशमवैति शर्मणि रत संप्रत्ययप्रत्यये।।९४।।

जिसके निमित्त से हृदय संकुचित होने लगता है ऐसे बीभत्स रस के ही उत्पन्न होने में आलंबन या उद्दीपनरूप दोष धातु मल प्रभृति कारणभूत पदार्थों के संघातों - स्कंधों से स्त्रियों के ऐसे शरीर को, जो कि उपयुक्त आहारादि के पकाने के लिये मानों चरु - बटलोई के समान है और मूत्र पुरीष आर्त प्रभृति ग्लानि के उत्पादक पदार्थों के ही रहने का मानों स्थान है, तथा प्रस्वेद - पसीना के निकलने के लिये मानों धारागृह - निर्झरस्थान के तुल्य है, बनाकर अब जो विधाता भोगोपभोग के साधनभूत पदार्थों के ही प्रपञ्चरूप इस जगत् को पुनः पुनः बनाता है उसका सारभूत प्रयोजन एक ही मालूम पडता है। वह यह कि, अब उस शरीर का उपकार कर दिया जाय - इन जगत् के समस्त उत्तम पदार्थों से उस स्त्री शरीर को सुगंधित और रमणीय बना दिया जाय। क्योंकि यह चराचर जगत् कामिनियों के शरीर में रमणीयता के संपादन द्वारा ही कामी पुरुषों के मन में परम निर्वृत्ति - उपरति को उत्पन्न कर सकता है। देखते हैं भी कि लोक में उन्होंने रमणियों के उपभोग को ही परम पुरुषार्थ माना है। जैसा कि भट्ट रुद्रट ने भी लिखा है कि -

राज्ये सारं वसुधा वसुन्धरायां पुरं पुरे सौधम्।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम्।।

राज्य में सारभूत पदार्थ वसुधा पृथ्वी है। वसुंधरा का भी सार नगर, और नगर का भी सार महल है। एवं महल में सारभूत पदार्थ पलंग, और पलंग का भी सारभूत रमणीय रमणियों का रमणसर्वस्व है।

अतएव कहना पड़ता है कि असुंदर स्त्री शरीर को सुंदर बनाने अथवा उसकी जुगुप्स्यता या अशुचिता को छिपाने के लिये ही मानो ब्रह्मा भोगोपभोग के साधन ही जिसमें एक सार हैं ऐसे जगत् की बार बार रचना करता है। अथवा ठीक ही है, संप्रत्यय - अतद्गुण वस्तु में तद्गुणता का अभिनिवेश ही है प्रत्यय - कारण जिसका ऐसे सुख में आसक्त

हुआ ऐसा कौन पुरुष होगा जो कि क्लेश - दु:ख का अनुभव कर सके; कोई नहीं।

भावार्थ :- जुगुप्स्य भी स्त्रीशरीर को वस्त्रादिकों के द्वारा सजाकर और उनमें मनोज्ञता का प्रत्यय कर संसारीजन जो सुख का अनुभव करते हैं उसका कारण केवल मिथ्याभिनिवेश ही है।

जो बहिरात्मा या ऐसे अज्ञानी मनुष्य हैं कि जिनकी बुद्धि निरंतर विषयों में ही अच्छी तरह से मूर्छित रहा करती है और जो स्त्रियों के अत्यंत निंदनीय उपस्थस्थान में ही लालसा रखते हैं उनके दु:सह दु:खों का उपभोग कराने की योग्यता से युक्त असाधारण कारणरूप उद्योग पर खेद प्रकट करते हैं :-

विष्यन्दिक्लेदविश्राम्भसि युवतिवपु:श्वभ्रभूभागभाजि
क्लेशाग्निक्लान्तजन्तुव्रजयुजि रुधिरोद्गारगर्होद्धुरायाम्।
आद्यनो योनिनद्यां प्रकुपिकरणप्रेतवर्गोपसर्गै, -
र्मूर्छाल: स्वस्यबाल: कथमनुगुणयेद्वै तरं वैतरण्याम्।।९५।।

तरुणी रमणियों के शरीररूपी नरकभूमि के एक नियत स्थान में अवस्थित, एवं क्लेद - उबला हुआ - उष्णद्रव द्रव्यरूपी दुर्गन्धियुक्त जल निरंतर बहता रहता है, तथा जो क्लेश - नाना प्रकार के दु:खरूपी अग्नि से संतप्त हुए प्राणिसंघात से पूर्ण है और जो बाहिर निकलते हुए - बहते हुए रुधिर की गर्हा - ग्लानि से उद्रिक्त है, ऐसी योनिरूपी नदी में जो लंपट - लालसायुक्त रहता है और जो अत्यंत कुपित हुए इन्द्रियरूपी प्रेतवर्ग - नारिकियों के उपसर्ग - उपद्रवों से मूर्छित हो जाता है, ऐसा यह अज्ञानी मनुष्य खेद और आश्चर्य है कि वैतरणी नदी में अपने को तरने या तरकर पार होने योग्य किस तरह बना सकेगा।

भावार्थ :- स्त्रियों की योनि बिलकुल वैतरणी नदी के समान है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। जब कि संसार के साधारण अज्ञानी जन इसको नहीं तर सकते और इन्द्रियों के उपसर्गों को भी नहीं सह सकते तब यह किस तरह कहा जा सकता है कि वे नरक में वैतरणी को तरने में क्षम हो सकेंगे और नारकियों के उपद्रवों को भी सह सकेंगे, कभी नहीं। वे अवश्य ही नारकियों के द्वारा दिये गये दु:खों को भोगते हुए वैतरणी में पड़े पड़े सडेंगे। इन दु:खों से इनके बचने का उपाय तो यही है कि

ये इस योनिनदी को तरकर पार हो जाय - उसमें रमण करने की इच्छा ही न करें और इन्द्रियों से पराजित न होकर उनपर विजय प्राप्त करें। क्योंकि स्त्रियों के अत्यंत जुगुप्स्य स्थान में रमण करने की लोलुपता रखना और इन्द्रियों के ही पराधीन रहना नरक में जाने का ही प्रयत्न करना है।

इस प्रकार अशुचित्व भावना का निरूपण करके अब क्रमानुसार वृद्ध पुरुषों की संगति करने का पाँच पद्यों में व्याख्यान करना चाहते हैं। जिसमें पहले निरंतर ही अपना कुशल - आत्महित चाहनेवाले मुमुक्षुओं को मोक्षमार्ग रत्नत्रय का [१]निर्वहण करने में निष्णात साधुओं की परिचर्या - वैयावृत्त्य के अतिशयरूप करने का उपदेश देते हैं :-

स्वानूकाङ्कुशिताशयाः सुगुरुवाग्वृत्त्यस्तचेत्तःशयाः
संसारार्तिबृहद्भयाः परहितव्यापारनित्योच्छ्रयाः।
प्रत्यासन्नमहोदयाः समरसीभावानुभावोदयाः
सेव्याः शश्वदिह त्वयादृतनयाः श्रेयःप्रबन्धेप्सया।।९६।।

हे मुमुक्षो साधो ! इस ब्रह्मचर्य के विषय में श्रेय कल्याण अथवा सम्यक्चारित्र के प्रबन्ध - अव्युच्छित्ति को प्राप्त करने की इच्छा से - यदि तू आत्महित और ब्रह्मचर्य व्रत को पूर्ण करना चाहता है तो तुझको निरंतर सद्गुरुओं - उन वृद्ध आचार्यों की सेवा - आराधना करनी चाहिये जो कि नीति का सदा आदर करनेवाले हैं उसके जाननेवाले और तदनुकूल सदा व्यवहार करनेवाले हैं। तथा जिनका कुल पिता या गुरु का वंश उनके आशयों मनोवृत्तियों को सदा उत्पथ में जाने से अंकुश की तरह से रोके रहता है। क्योंकि जो कुलीन पुरुष हैं वे दुरपवाद के भय से - अपकीर्ति के डर से कभी भी अकृत्य में प्रवृत्ति नहीं करते - वे सदा दुष्कृत्यों से ग्लानि ही किया करते हैं। और जिनका मनोभू - कामदेव या उसका संस्कार, सद्गुरुओं - समीचीन उपदेष्टाओं के वचन पर अवस्थान करने के कारण - उनके उपदेशानुसार चलने से सर्वथा अस्त हो चुका है। तथा जिनकी संसार की पीडाओं से भीति विपुल हो गई - जिनका संवेग प्रतिक्षण

---

१ - सम्यग्दर्शनादिका उद्योतादि रूप से आराधन करने का निरूपण करते हुए निर्वहण का भी स्वरूप पहले लिखा जा चुका है।

बढ़ता ही जाता है। और परोपकार - दूसरों के हित के सिद्ध करने में प्रवृत्ति करनेसे ही जिनको नित्य हर्ष का अतिरेक हुआ करता है। जो हर्ष के साथ सदा परोपकार में प्रवृत्ति किया करते हैं। जिनका महान् उदय - मोक्ष निकटकालवर्ती हो चुका है - जो उसी भव में या कुछ ही भव में मोक्ष को प्राप्त करेंगे। जिनके शुद्ध चिदानंदानुभव के अनुभावों - तत्काल उत्पन्न हुए रागादिकों के प्रक्षय तथा जाति वैर और सकारण वैर के उपशमन और उपसर्गों के निवारण आदिकों का उदय - उत्कर्ष सदा बना रहता है, यद्वा जिनको समरसीभाव के कार्य - बुद्धि तप बल विक्रिया औषधि प्रभृति ऋद्धिरूप अभ्युदय की प्राप्ति हो चुकी है।

भावार्थ :- कुलीनता के कारण संयत मनोवृत्ति, और गुरुपदेशानुसार निष्कामता की सिद्धि, बढ़ता हुआ संवेग, सानंद परोपकार में प्रवृत्ति, निकटभव्यता, शुद्ध चिदानंदानुभव के कार्यकारण की प्राप्ति, इन छह विशेषणों से युक्त वृद्धाचार्यों की साधुओं को अपने ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिये अवश्य ही और निरंतर आराधना करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करने पर ही उनका ब्रह्ममहाव्रत निर्मल रह सकता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

यः करोति गुरुभाषितं मुदा संश्रये वसति वृद्धसंकुले।
मुञ्चते तरुणलोकसंगतिं ब्रह्मचर्यममलं स रक्षति।।

जो व्यक्ति हर्ष के साथ गुरूपदेश के अनुसार सदा व्यवहार करता है और तरुण पुरुषों की संगति छोड़कर वृद्ध पुरुषों के बीच सदा उनके निकट ही रहता है, कहना चाहिये कि वह व्यक्ति अपने ब्रह्मचर्य व्रत को निर्मल रखता है।

वृद्ध और इतर पुरुषों की संगतियों के फल में जो अंतर है उसको बताते हैं :-

कालुष्यं पुंस्यदीर्णं जल इव कतकैः संगमाद्व्येति वृद्ध -
रश्मक्षेपादिवाप्तप्रशममपि लघूदेति तत्षिङ्गसङ्गात्।
वार्भिर्गन्धो मृदीवोद्भवति च युवभिस्तत्र लीनोपि योगाद्
रागो द्राग्वृद्धसङ्गात्सरटवदुपलक्षेपतश्चैति शान्तिम्।।९७।।

यथायोग्य निमित्त को पाकर मनुष्यों के हृदय में उद्भूत हुआ कालुष्य - द्वेष शोक भयादिरूप संक्लेश अथवा इनके द्वारा प्रकट होनेवाला कष्मलभाव वृद्ध पुरुषों की संगति से - बढ़ते हुए ज्ञान संयमादि गुणों से युक्त पुरुषों की संगति से इस तरह से प्रशम को प्राप्त हो जाता है जैसे कि निर्मली फल के चूर्ण का संबंध पाकर जल की पङ्कलता प्रशांत हो जाया करती है। किंतु यह प्रशांत भी कालुष्य विट पुरुषों के संसर्ग से शीघ्र ही फिर उद्भूत हो जाता है। जैसे कि उस प्रशांत जल में यदि पत्थर डाल दिया जाय तो उसका गदलापन शीघ्र ही फिर से ऊपर आ जाया करता है।

इसी प्रकार दूसरी बात यह भी है कि यदि मनुष्यों के हृदय में कषायभाव लीन - अनुद्भूत हो - जो अबतक जागृत न हुआ हो तो वह तरुण - विट पुरुषों की संगति से इस तरह से उद्भूत - उदित हो जाता है जैसे कि जल के संबंध से मट्टी में गंध प्रकट हो जाया करती है। किंतु वह अभिव्यक्त भी कालुष्य वृद्ध पुरुषों की संगति से शीघ्र ही इस तरह से प्रशांत हो जाया करता है जैसे कि रंग बदलनेवाले करकेंटा का उद्भूत भी वर्ण वैचित्र्य एक पत्थर के फेंक देने पर झटिति दूर हो जाता है।

भावार्थ :- इस श्लोक के पूर्वार्ध में पहले वृद्ध पुरुषों और पीछे विट पुरुषों की संगति करने से जो फल प्राप्त होता है उसको दृष्टांत द्वारा प्रकट किया है। और उत्तरार्ध में पहले विट पुरुषों और पीछे वृद्ध पुरुषों की संगति करने से जो फल प्राप्त होता है उसको उदाहरण देकर बताया है। इन दोनों उदाहरणों से वृद्ध और इतर पुरुषों की संगति के फल का अंतर स्पष्ट हो जाता है कि मुमुक्षुओं को और अपने ब्रह्मचारी व्रत की निर्मलता बढ़ाने की इच्छा रखनेवालों को सदा वृद्ध पुरुषों की ही संगति करनी चाहिये।

यहाँ एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिये। वह यह कि, इस प्रकरण में वय की प्रधानता के साथ साथ जिसमें ज्ञान संयमादिक गुण भी प्रकर्षरूप से पाये जांय उसीको वृद्ध कहा है। जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है।

प्राय: यह बात प्रसिद्ध हैं कि यौवन अवस्था के निमित्त से विकार उत्पन्न हो ही जाते हैं। अतएव जो तरुण पुरुष हैं वे यदि अतिशयित गुणों से युक्त हों तो भी उनकी संगति पर विश्वास न करना चाहिये। इसी बात को ग्रंथकार प्रकाशित करते हैं :-

अप्युद्यद्गुणरत्नराशिरुगपि स्वस्थः कुलीनोपि ना
नव्येनाम्बुधिरिन्दुनेव वयसा संक्षोभ्यमाणः शनैः।
आशाचक्रविवर्तिगर्जितजलाभोगः प्रवृत्त्यापगाः
पुण्यात्माः प्रतिलोमयन्विधुरयत्यात्माश्रयान् प्रायशः।।९८।।

जिस प्रकार आशाचक्र - दिङ्मण्डल में फैले हुए और गर्जना करते हुए जल के विस्तार से सब तरफ को भरा हुआ, और जिसके भीतर रत्नराशि अपनी दीप्ति को प्रकाशित करने के लिये सदा उद्यत रहा करती है, जो स्वस्थ - अतिशय प्रसन्न तथा कुलीन - पृथ्वी में संश्लिष्ट है ऐसा समुद्र चंद्रमा के उदय को पाकर धीरे - धीरे अत्यंत क्षोभ को प्राप्त हो जाता है - विकृत होकर अपनी स्वाभाविक प्रकृति से चलायमान हो जाता है। और पवित्र गङ्गादिक नदियों को उन्मार्गगामिनी बनाता हुआ अपना आश्रय लेकर रहनेवाले मत्स्यादिकों को भी प्रायः करके कुशलता से भ्रष्ट कर देता है। उसी प्रकार जो मनुष्य स्वस्थ - सदा अच्छी तरह प्रसन्न अथवा निर्मल रहनेवाला है, और कुलीन लोकपूजित कुल में उत्पन्न भी हुआ है तथा जिनके ज्ञान संयमादिक गुणों की दीप्ति भी अपना प्रकाश करने के लिये प्रतिक्षण बधती जाती है वह भी नवीन वय - तारुण्य को पाकर - युवावस्था में धीरे - धीरे क्षुब्ध हो जाया करता है। निर्मलता कुलीनता और ज्ञानसंयमप्रभृति गुणों से युक्त अपनी सात्त्विक प्रकृति से चलायमान होकर अनेक प्रकार के विकृत भावों से युक्त हो जाया करता है। तथा सोत्सेक गर्जना करनेवाले मूढ़ लोकों के आशाचक्र - प्रत्याशा - अभिलाषा की परंपराओं में विविध प्रकार से फँसे हुए भोगों इष्ट विषय के उपयोगों को अच्छी तरह से पूर्ण करनेवाला बनकर गङ्गादिक नदियों के समान पवित्र प्रवृत्तियों - मन वचन काय की कृतियों को उन्मार्गगामी बनाता हुआ विषयसेवन में प्रवृत्त कराता हुआ प्रायः करके अपने आश्रित रहनेवाले शिष्यादिकों को भी श्रेयोमार्ग - आत्महित से भ्रष्ट कर देता है।

भावार्थ :- यौवन अवस्था में प्रायः मनुष्य कुलीन अथवा ज्ञान संयमादि के अभ्यास में निरंतर रहने पर भी विकृत हो ही जाता है और सगर्व गर्जना करनेवाले जड़ मनुष्यों के आशान्वित भोगों की पूर्ति करने में उन्मुख हो ही जाता है - सिद्धि या यंत्र मंत्रादि बताकर उनकी भोगोपभोगसंबंधी अभिलाषाओं के सफल बनाने में सहायक हो ही जाता

है। यह इस अवस्था का ही दोष है कि वह इस प्रकार से अपनी प्रवृत्तियों का दुरुपयोग कर डालता है। ऐसे मनुष्य की संगति से अथवा सेवा आदि करने में रहने से मनुष्य श्रेयोमार्ग से भ्रष्ट ही हो सकता है। अतएव साधुओं को वृद्धों की ही संगति करनी चाहिये; क्योंकि युवावस्था का विश्वास नहीं हैं। जैसा कि लौकिक पुरुष कहा भी करते हैं कि :-

अवश्यं यौवनस्थेन क्लीबेनापि हि जन्तुना।
विकारः खलु कर्तव्यो नाविकाराय यौवनम्।।

युवावस्था में तो नपुंसकों को भी अवश्य ही कुछ न कुछ विकार कर लेना चाहिये। क्योंकि यौवन निर्विकार रहने के लिये थोड़ा ही है।

और भी कहा है कि :-

यस्मिन्रजः प्रसरति स्खलितादिवोच्चै -
रान्ध्यादिव प्रबलता तमसश्चकास्ति।
सत्त्वं तिरोभवति भीकभिवाङ्गजाग्ने -
स्तद्यौवनं विनयसज्जनसङ्गमेन।।

यौवन को पाकर मनुष्य स्खलित होने लगता है, जिससे मालूम पड़ता है कि उसमें रजोगुण अच्छी तरह से अपना प्रसार कर रहा है। इसी प्रकार युक्तायुक्त के विवेक से रहित होकर उसमें अंधता भी आ जाती है जिससे मालूम पड़ता है कि उसमें तमोगुण भी अपनी प्रबलता को प्रकाशित कर रहा है। किंतु उसका सत्त्वगुण मानों उसके शरीर की अग्नि से डरकर ही छिपा जाता है। इस प्रकार का यौवन विनयगुण और सत्पुरुषों की सङ्गति से ही निर्विकार रह सकता है।

जो मनुष्य इस तारुण्य को पाकर भी निर्विकार रहते हैं
उनकी प्रशंसा करते हैं :-

दुर्गेपि यौवनवने विहरन् विवेक -
चिन्तामणिं स्फुटमहत्त्वमवाप्य धन्यः।

चिन्तानुरूपगुणसंपदुरुप्रभावो
वृद्धो भवत्यपलितोपि जगद्विनीत्या।।९९।।

यह यौवनरूपी वन यद्यपि दुर्गम है - दु:ख के साथ भी लोग इसको पार नहीं कर सकते और इसका अतिक्रमण नहीं कर सकते; फिर भी जो मनुष्य इसमें विहार करते हुए भी, स्फुट है महत्त्व जिसका ऐसे विवेकरूपी चिंतामणि को पाकर, चिंता के अनुरूप गुणसंपत्ति के महान् प्रभाव से युक्त हो जाते हैं वे धन्य हैं। और ऐसे पुरुषों को जरा विकार से रहित रहने पर भी जगत् को शिक्षादि देने की अपेक्षा वृद्ध ही समझना चाहिये।

भावार्थ :- जो युवा होकर भी विवेक से युक्त रहते हैं और गुणों से प्रभावित हो जाते हैं वे धन्य हैं। योग्य और अयोग्य अथवा हित और अहित विषय में विचार करने की चतुरता को विवेक कहते हैं। यह विवेक चिंतामणि रत्न के समान है; क्योंकि इससे अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है। इसकी महिमा और जगत्पूज्यता प्रकट है। क्योंकि मोक्ष के कारण संयम का भी इसीके निमित्त से साधन हो सकता है। अतएव इस विवेकचिंतामणि के निमित्त से मनुष्यों को ऐसी गुणसंपत्तियाँ इच्छानुरूप प्राप्त हो जाती हैं कि जिनका प्रभाव - शक्तिविशेष अचिंत्य है। जो यौवन में ही इस विवेक के द्वारा प्राप्त हुए गुणप्रभाव से भूषित हो जाते हैं उन्हें युवा न समझकर वृद्ध ही समझना चाहिये। क्योंकि वे भी जगत् को वृद्धों की तरहसे ही शिक्षादिक दे सकते हैं। किंतु ऐसे धन्य पुरुष विरल ही हो सकते हैं।

असाधु और साधु पुरुषों के साथ संभाषण या संसर्गादि करने से जो फल प्राप्त होता है उसको दृष्टांत द्वारा प्रकट करते हैं :-

सुशीलोपि कुशील: स्याद्दुर्गोष्ट्या चारुदत्तवत्।
कुशीलोपि सुशील: स्यात् सद्गोष्ट्या मारिदत्तवत्।।१००।।

समीचीन और प्रशस्त आचरणवाला भी पुरुष दुष्टजनों की संगति में पड़कर अथवा उनके साथ संभाषणादि करके इस तरह से कुशील - दुर्वृत्त या दुराचारी हो जाता है

जैसे कि [१] चारुदत्त सेठ हो गया था। तथा दुराचारी भी मनुष्य सत्पुरुषों - सज्जनों की संगति पाकर यद्वा उनके साथ संभाषण मात्र ही करके इस तरह से सुशील बन जाता है जैसे कि [२] मारिदत्त राजा बन गया था।

इस प्रकार वृद्ध पुरुषों की संगति करने का उपदेश पूर्ण हुआ और उसके साथ पहले जो ब्रह्मचर्य व्रत की वृद्धि के कारणभूत स्त्रीवैराग्य की पाँच [३] भावनाएँ बताई थी उनका स्वरूप निरूपण भी समाप्त हुआ। किंतु इनके सिवाय पाँच भावनाएँ और भी बताई हैं। यथा - १ स्त्रीरागकथा श्रवणत्याग, २ तन्मोहराङ्ग निरीक्षणत्याग, ३ पूर्वरतानुस्मरणत्याग, ४ वृष्येष्टरसत्याग, ५ स्वशरीरसंस्कारत्याग। साधुओं को अपने ब्रह्मचर्यमहाव्रत की स्थिरता के लिये इन भावनाओं का भी पालन करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं :-

रामारागकथाश्रुतौ श्रुतिपरिभ्रष्टोसि चेद्भ्रष्टदृक्,
तद्रम्याङ्गनिरीक्षणे भवसि चेत्तत्पूर्वभुक्तावसि।
निःसंज्ञो यदि वृष्यवाञ्छितरसास्वादेऽरसज्ञोसि चेत्,
संस्कारे स्वतनोः कुजोसि यदि तत्सिद्धोसि तुर्यव्रते।।१०१।।

हे साधो ! स्त्रियों के द्वारा अथवा स्त्रियों के विषय में रागपूर्वक किये गये ऐसे किसी भी कथोपकथन के जो कि उन रमणियों के विषय में रागरति को उत्पन्न कर सकता है; सुनने के लिये यदि तू ऐसा बन गया है मानो तेरे कान ही नहीं हैं - अत्यंत बधिर है। और उनके मुख कुच त्रिवली जङ्घा नितम्बप्रभृति रमणीय - मनोहर अङ्गों के देखने के लिये नेत्रहीन - अंधा सरीखा बन गया है - उनका निरीक्षण करने के लिये कभी भी अपनी दृष्टि का तू निक्षेप नहीं करता। तथा पहले जो तूने उन रमणीय रमणियों के साथ रमण किया था उसका अब स्मरण करने के लिये यदि तू ऐसा बन गया है मानों असंज्ञी - अमनस्क हैं - कभी उसका स्मरण नहीं करता और वृष्य दुग्धादिक शुक्र के बढ़ानेवाले पदार्थों और अभीष्ट मधुरादिक रसों का आस्वाद लेने के लिये अभ्यासतः सेवन करने के लिये यदि तू अरसज्ञ या ऐसा बन गया है मानो तेरे जिह्वा ही नहीं है।

---

१ - २ इन दोनों कथाओं को क्रम से चारुदत्तचरित्र और यशोधरचरित्र में देखना चाहिये।
३ - 'नित्यं कामाङ्गनादोषाशौचानि भावयन्' इस श्लोक में।

तथा अपने शरीर का संस्कार करने के लिये उसको मनोहर अतिशयित और कान्तियुक्त बनाने के लिये यदि तू बिलकुल ही पराङ्मुख हो गया है मानों वृक्षसरीखा बन गया है; तो कहना चाहिये कि तू चौथे महाव्रत - ब्रह्मचर्य की प्रौढ महिमा को प्राप्त कर चुका।

पूर्वरतानुस्मरण और वृष्येष्टरस का त्याग करने के लिये भी लिखा जा चुका है। किंतु यहाँ पर दूसरी बार फिर वर्णन करने का प्रयोजन यह है कि ब्रह्मचर्यव्रत अत्यंत दु:साध्य है अतएव उसका पालन करने के लिये सावधानी रखकर अधिक प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि समस्त व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत ही क्लिष्ट और महान् माना है। जैसा कि कहा भी है कि :-

अक्खाण रसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभं च।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण सिज्झंति।।

इन्द्रियों में रसना, कर्मों में मोहनीय, व्रतों में ब्रह्मचर्य, और गुप्तियों में मनोगुप्ति, ये चारों ही भाव बड़ी ही कठिनता से सिद्ध हुआ करते हैं।

वृष्यद्रव्य का सेवन करने से जो तृप्ति होती है उसका प्रभाव मनुष्य पर कैसे पड़ता है या उसका फल कैसा मिलता है सो बताते हैं :-

को न वाजीकृतां दृप्त: कंतुं कंदलयेद्यत:।
ऊर्ध्वमूलमध:शाखमृषय: पुरुषं विदु:।।१०२।।

मनुष्यों को घोडे के समान बना देनेवाले दुग्ध प्रभृति वीर्यवर्धक पदार्थों को वाजीकरण करते हैं। इसमें ऐसा कौनसा पदार्थ है जो कि उदृप्त - उत्तेजित होकर कामदेव को उद्भूत नहीं कर देता। सभी सगर्व वाजीकरण पदार्थ ऐसे ही हैं कि जिनके उपयोग से अवश्य ही कामदेव जागृत हो जाया करता है। क्योंकि ऋषियों ने पुरुष का स्वरूप ऊर्ध्वमूल और अध:शाख माना है। जिह्वा और कण्ठप्रभृति अवयव मनुष्य के मूल हैं और हस्तादिक अवयव शाखाएँ हैं। जिस प्रकार वृक्ष के मूल में किये गये सिञ्चन का परिणाम उनकी शाखाओं पर पड़ता है। उसी प्रकार जिह्वादिक के द्वारा उपयुक्त आहारादिक का प्रभाव हस्तादिक शरीर के अंगों पर पड़ता है। यदि मनुष्य वाजीकरण पदार्थों का सेवन करेगा

तो अवश्य ही उसके शुक्र की वृद्धि होकर कामदेव भी उत्तेजित होगा। अतएव साधुओं को ब्रह्मचर्य के साधन में वृष्य पदार्थों के सेवन को विघ्नकारक समझकर अवश्य ही छोड़ देना चाहिये। और समस्त इन्द्रियों में प्रधान रसना को वश में रखना चाहिये।

पूर्वकाल में ऐसे बहुत से पुरुष हो गये हैं जो कि मोक्षमार्ग का अनुसरण करते थे किन्तु ब्रह्मचर्य व्रत में प्रमाद करने के कारण संसार में अत्यंत उपहास के ही पात्र हुए। अतएव इस महाव्रत के साधन करने में तत्पर रहनेवाले साधुओं को अच्छी तरह सावधानता रखने का उपदेश देते हैं :-

दुर्धर्षोद्धतमोहशौल्किकतिरस्कारेण सद्याकराद्
भृत्त्वा सद्गुणपण्यजातमयनं मुक्तेः पुरः प्रस्थिताः।
लोलाक्षीप्रतिसारकैर्मदवशैराक्षिप्य तां तां हठान्नीताः
किन्न विडम्बनां यतिवराश्चारित्रपूर्वाः क्षितौ।।१०३।।

किसी विक्रेय वस्तु के राज्य में लाने पर अथवा राज्य से बाहिर ले जाने पर यद्वा खान आदिमें से निकलनेवाले किसी अन्य पदार्थ पर जो राज्य का ग्राह्यभाग नियत रहता है - कर लगता है उसको शुल्क और उसके वसूल करनेवाले अधिकारी को शौल्किक कहते हैं। यदि कोई मनुष्य उस शौल्किक को छलकर - कर न देकर किन्तु खान में से रत्नादिक को लेकर मार्ग में जाने का प्रयत्न करे तो वह शौल्किक के नियुक्त मदोन्मत्त सिपाहियों द्वारा पकड़ा जाता है और जबर्दस्ती वहाँ से ढकेलकर पीछे को कर दिया जाता है - लौटा दिया जाता है। वहाँ से लौटते ही जिस प्रकार उस मनुष्य की जगत् में विटंबना हुआ करती है उसी प्रकार पूर्वकाल में कितने ही शकट कूर्चवार और रुद्रप्रभृति यति श्रेष्ठों की भी जगत् में वह विटंबना हुई है जो कि लोक में और शास्त्र में सर्वत्र प्रसिद्ध है। क्योंकि यद्यपि ये यतियों में श्रेष्ठ थे। जो केवल शरीरमात्र परिग्रह का धारणकर सम्यग्ज्ञानरूपी नौका के द्वारा तृष्णारूप नदी से पार लगानेवाले योग के लिये यत्न किया करते हैं उनको यति कहते हैं। इस तरह के यतियों में यद्यपि ये शकट कूर्चवारादिक प्रधान और श्रेष्ठ थे, तथा मुख्यतया चारित्र का ही पालन करनेवाले थे, किंतु ज्यों ही उन्होंने दुर्धर्ष जिसका पराभव नहीं किया जा सकता और उद्धत मोहरूपी शौल्किक को छलने का उपक्रम किया और सम्यग्दर्शनप्रभृति समीचीन गुणरूपी पण्यजात

- विक्रेयद्रव्यों को गृहरूपी आकर - खान में से लेकर मोक्ष के मार्ग में जाने का प्रारंभ किया कि त्यों ही उस शौल्किक के मदोन्मत्त लोलाक्षी - रमणीरूपी प्रतिसारकों - भटों ने उनको जबर्दस्ती उस मार्ग से पीछे को ढकेल दिया - संसार की तरफ ही लौटा दिया। इसी प्रकार लौटाये जानेपर जगत् में उनकी कौन कौनसी विटंबना नहीं हुई - हर प्रकार से उनका उपहास ही हुआ।

भावार्थ :- शौल्किक के वेतनभोगी भटों के समान जो यहाँ पर कामिनियों के मोहकर्म के सहायक बताया है सो ठीक ही है। क्योंकि जिस प्रकार भट शौल्किक के कार्य में पूरा योग देते हैं उसी प्रकार कामिनियाँ भी मोहकर्म के कार्य में - संसारी प्राणियों को विषय भोगों में ही मूर्छित करने में पूरा योग देती है। इन्ही के निमित्त से मनुष्य अभीष्ट स्थान पर जाने का प्रयत्न करने पर भी नहीं जा सकता, प्रस्तुत अनिष्ट स्थान की तरफ ही लौट जाता है।

जिस प्रकार रत्नादिक विक्रेयद्रव्य खान में उत्पन्न हुआ करते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादिक गुण भी घर में उत्पन्न हो जाते हैं। किंतु जिस प्रकार विक्रेयद्रव्य जहाँ ले जाने से विशिष्ट अर्थलाभ के कारण हो सकते हैं वहाँ पर शौल्किक के भट उनको ले जाने नहीं देते, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादिक जिस मोक्षमार्ग में चलनेपर विशिष्ट मोक्षरूप अर्थ के लाभ के कारण हो सकते हैं उसमें ये कामिनी - भट जाने नहीं देते - चारित्र का आराधन करने नहीं देते। अतएव साधुओं को उचित है कि वे इन भटों से सदा सावधान रहकर अपने चारित्र - ब्रह्मचर्यव्रत का निरंतर आराधन करने का प्रयत्न करें।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य महाव्रत का व्याख्यान पूर्ण हुआ। अब क्रमानुसार आकिञ्चन्य महाव्रत का अडतालीस पद्यों में वर्णन करना चाहते हैं। किंतु उसमें सबसे पहले मुमुक्षुओं को उसका पालन करने के लिये अच्छी तरह उत्साहित करने के अभिप्राय से उसका लोकोत्तर माहात्म्य प्रकट करते हैं :-

मूर्छा मोह वशान्मेदमहमस्येत्येवमावेशनं
तां दुष्टग्रहवन्न मे किमपि नो कस्याप्यहं खल्विति।
आकिंचन्यसुसिद्धमंत्रसतताभ्यासेन धुन्वंति ये
ते शश्वत्प्रतपन्ति विश्वपतयश्चित्रं हि वृत्तं सताम्।।१०४।।

मोहनीयकर्म के उदय से 'यह मेरा है' और 'मैं इसका हूँ' ऐसा जो परिणामविशेष होता है उसको मूर्च्छा कहते हैं। जो महापुरुष दुष्टग्रह के समान इस मूर्च्छा का, 'न मेरा कोई है' और 'न मैं किसीका हूँ' तथा 'आत्मस्वरूप को छोड़कर मैं और कुछ भी नहीं हूँ। और संसार में भी निजात्मरूप के सिवाय और कुछ भी उपादेय नहीं है' इस प्रकार के आकिञ्चन्य व्रतरूपी सुसिद्ध मंत्र का निरंतर अभ्यास करके, निग्रह कर देते हैं वे ही साधु तीन लोक के स्वामी बनकर अव्याहत तेज के धारक हो जाते हैं। क्योंकि साधुओं का चरित्र विचित्र ही हुआ करता है।

भावार्थ :- मूर्छा के सर्वथा परित्याग को ही आकिञ्चन्यमहाव्रत कहते हैं। मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा के वास्तविक स्वरूप से भिन्न समस्त अंतरङ्ग और बाह्यपदार्थों में होनेवाले ममत्वपरिणाम को मूर्छा कहते हैं। मूर्छा का आकार बताने के लिये इति और एवं इन दो शब्दों का प्रयोग किया है, जिनमें से इति शब्द स्वरूप अर्थ की अपेक्षा से हैं। तदनुसार 'यह जगत मेरा ही स्वरूप है,' अथवा 'इस जगत्स्वरूप ही मैं हूँ।' इस तरह के आवेश को मूर्च्छा कहते हैं। एवं शब्द प्रकार अर्थ की अपेक्षा से है। तदनुसार मैं याज्ञिक हूँ, मैं परिवाड हूँ, मैं राजा हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, इत्यादि [१] मिथ्यात्वादिक परिणामस्वरूप अभिनिवेशों को मूर्छा कहते हैं। कहा भी है कि :-

या मूर्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहोयमिति।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्वपरिणामः।।

मोह के उदय से होनेवाले ममत्वपरिणामों को मूर्छा कहते हैं। और इसीका नाम परिग्रह भी है। यद्यपि यहाँ पर सामान्य शब्द मोह ही लिखा है किंतु फिर भी मूर्छा की उत्पत्ति में विशेष कर लोभपरिणाम ही कारण है। क्योंकि अंतरङ्ग और बाह्य पदार्थों के देखने से प्राप्त करने की अभिलाषारूप परिग्रहसंज्ञा प्रधानतया लोभ के ही निमित्त से हुआ करती है। जैसा कि आगम में भी कहा है कि :-

---

१ - क्योंकि मिथ्यात्व, रागद्वेष तथा हास्यादिक कषायों को अंतरंग परिग्रह में ही गिना है।

उवयरणदंसणेण य तस्सुवओगेण मुच्छिदाए य।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा।।

भोगोपभोग के साधनभूत पदार्थों के देखने से अथवा उनका उपयोग करने से यद्वा ममत्व परिणामों के होनेपर और अंतरंग में लोभकषाय का उदय या उदीरणा होनेपर, इन चार कारणों से जीव को परिग्रह में संज्ञा - वांछा हुआ करती है।

जो महापुरुष इन मूर्छापरिणामों के विरुद्ध निरंतर इस तरह की भावना का अभ्यास किया करते हैं कि 'ये बाह्य और अंतरंग कोई भी पदार्थ मेरे नहीं है, और न मैं इनका हूँ, मैं किसी अन्य पदार्थरूप भी नहीं हूँ और न कोई अन्य पदार्थ ही मुझ स्वरूप हैं।' वे ही महात्मा दुष्ट ग्रह के समान इस परिग्रह का निग्रह कर सकते हैं। और तीनलोक की स्वामिता को प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि; यह आकिञ्चन्यभाव कोई न हमारा, हम न किसीके, यह परिणाम [१] सुसिद्ध मंत्र के समान है जो कि गुरूपदेश के अनंतर ही अपना कार्य कर दिया करता है। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि जो अकिंचन है वह तीन लोक का स्वामी किस तरह हो सकता है ? क्योंकि ये दोनो ही बातें परस्पर विरुद्ध हैं। अतएव उक्त अर्थ न करने के लिये ग्रंथकार कहते हैं कि साधुओं का चरित्र विचित्र ही हुआ [२] करता है।

परिग्रह दो प्रकार का है - एक अंतरंग दूसरा बाह्य। इन दोनों ही प्रकार के परिग्रहों के दोषों को बताते हुए मुमुक्षुओं को उनके त्याग करने का उपदेश देते हैं :-

---

१ - मंत्र तीन प्रकार के होते हैं सिद्ध, साध्य और सुसिद्ध। इनका स्वरूप इस प्रकार है कि :-

सिद्धः सिध्यति कालेन साध्यो होमजपादिना।
सुसिद्धस्तत्क्षणादेव अरि मूलान्निकृन्तति।।

जिसके सिद्ध होने में काल की अपेक्षा रहती है उसको सिद्ध, और जो होम जप आदि करने से सिद्ध हो जाता है उसको साध्य, तथा जो तत्क्षण ही - गुरूपदेश के बाद ही अपना कार्य कर सके उसको सुसिद्ध कहते हैं।

२ - 'भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः'।

शोध्योऽन्तर्न तुषेण तण्डुल इव ग्रंथेन रुद्धो बहि
र्जीवस्तेनबहिर्भुवापि रहितो मूर्छामुपार्छन् विषम्।
निर्मोकेण फणीव नार्हति गुणं दोषैरपि त्वेधते,
तद्ग्रन्थानबहिश्चतुर्दश बहिश्चोज्झेद्दश श्रेयसे।।१०५।।

जिस प्रकार बाह्य तुष - मोटे छिलके से रुद्ध - वेष्टित तण्डुल - धान अंतरंग से भी शुद्ध नहीं किया जा सकता - पतली भूसी उतार कर शुद्ध चावल नहीं बनाया जा सकता; उसी प्रकार बाह्य ग्रंथ - अपने में ममकार के उत्पन्न करानेवाले चेतन और अचेतनरूप परिग्रह से युक्त - आच्छादित अथवा आसक्ति को प्राप्त जीव भी अंतरंग में शुद्ध नहीं हो सकता - कर्मकलङ्क से रहित निर्मल नहीं बन सकता। कहा भी है कि :-

शक्यो यथापनेतुं न कोण्डकस्तण्डुलस्य सतुषस्य।
न तथा शक्यं जन्तोः कर्ममलं सङ्गसक्तस्य।।

जिस प्रकार तुष सहित तण्डुल के भीतर की भूसी दूर नहीं की जा सकती उसी प्रकार सग्रंथ मनुष्य का कर्ममल भी दूर नहीं हो सकता।

इस कथन से किसी किसीको यह शंका हो सकती है कि अंतरंग परिग्रह कोई चीज ही नहीं है, किन्तु बाह्य परिग्रह ही सब कुछ है। और आत्मिक विशुद्ध अवस्था प्राप्त करने के लिये उसीका त्याग करना चाहिये ? अतएव ग्रंथकार इस शंका का परिहार करने के लिये कहते हैं कि - जिस प्रकार निर्भोक - केंचुली से रहित भी विष सहित सर्प गुणी नहीं हो जाता - केंचुली उतर जाने से ही वह निर्विष या शुद्ध जीव हो गया ऐसा नहीं कहा जा सकता बल्कि विष रहने से दोषी ही रहता है या और भी अधिक दोषी हो जाता है। उसी प्रकार बाह्य परिग्रह से रहित भी जीव यदि अंतरंग में मूर्छायुक्त है तो वह अहिंसादिक गुणों से युक्त नहीं हो सकता बल्कि उसमें दोष ही अधिक वृद्धि को प्राप्त हो सकते हैं। ऐसा जीव भी आत्मा की विशुद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव साधुओं को अभीष्ट पद - मोक्ष प्राप्त करने के लिये अथवा उसके साधन चारित्र का आराधन करने के लिये अंतरंग और बाह्य सभी परिग्रह का त्याग करना

चाहिये। अंतरंग परिग्रह के चौदह भेद हैं। यथा :-

मिच्छत्तवेदरागा हस्सादीया य तहय छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चउद्दसाब्भंतरा गंथा।।

मिथ्यात्व, और तीन वेद - स्त्री पुरुष नपुंसक, हास्यादिक छह नोकषाय - हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा, तथा चार कषाय - क्रोध मान माया लोभ, ये चौदह अंतरंग परिग्रह हैं। बाह्य परिग्रह के दश भेद हैं। यथा :-

क्षेत्रं धान्यं धनं वास्तु कुप्यं शयनमासनम्।
द्विपदाः पशवो भाण्डं बाह्या दशः परिग्रहाः।।

क्षेत्र - खेत, धान्य - गेहूँ आदि अन्न, [१] धन - सोना चांदी आदि, वास्तु - मकान, कुप्य - वस्त्र, शयन - खाट आदि, आसन - सिंहासन प्रभृति बैठने की चीजें, द्विपद - दास दासी आदि, पशु - घोडा हाथी ऊंट आदि, भाण्ड - बर्तन - ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं। ये अंतरंग परिग्रह के उत्पन्न करने में, जो कि कर्मबंध का साक्षात्कारण है, निमित्त हैं। अतएव इनका भी त्याग ही करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

मूर्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहस्वस्य।
सग्रन्थो मूर्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः।।
यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि बहिरङ्गः।
भवति नितरां यतोसौ धत्ते मूर्छानिमित्तत्वम्।।
एवमतिव्याप्तिः स्यात् परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्छास्ति।।

---

१ - सर्वार्थसिद्धि में धन शब्द से गौ आदिक लिये हैं। यदि यही अर्थ लिया जाय तो यहाँ पर पशु शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जाता है। अतएव भेदविवक्षा से धन शब्द का अर्थ यहाँ पर सोना चाँदी ही किया है।

परिग्रह का लक्षण मूर्छा किया गया है। अतएव दोनों में व्याप्ति अच्छी तरह से घटित होती है। और इसीलिये बाह्य पदार्थ का ग्रहण न करने पर भी जो मूर्छायुक्त है उसको सग्रंथ ही माना है। कहा जा सकता है कि यदि यही बात है तो बाह्य परिग्रह कोई चीज ही नहीं है। क्योंकि अंतरंग में मूर्छा के रहने पर सपरिग्रह और न रहने पर अपरिग्रह माना जाता है। किन्तु यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि बाह्य परिग्रह अंतरंग मूर्छा का निमित्त है। बाह्य परिग्रह के रहने पर अंतरंग में भी मूर्छा हो ही जाती है क्योंकि अंतरंग मूर्छा के बिना बाह्य परिग्रह का ग्रहण नहीं हो सकता। अतएव बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने को भी परिग्रह ही कहते हैं। इस कथन में भी [१] अतिव्याप्ति दोष दिया जा सकता है। क्योंकि इस लक्षण के अनुसार कर्मग्रहण को भी मूर्छा कह सकते हैं। क्योंकि वह भी आत्मस्वरूप से भिन्न बाह्य पदार्थ के ग्रहणरूप ही है। किंतु यह दोष ठीक नहीं है। क्योंकि अकषाय व्यक्तियों के कर्म के ग्रहण करने में मूर्छा नहीं होती - वह मूर्छापूर्वक नहीं होता।

परिग्रह का त्याग करने की विधि बताते हैं :-

परिमुच्य करणगोचरमरीचिकामुज्झिताखिलारम्भः।
त्याज्यं ग्रन्थमशेषं त्यक्त्वापरनिर्ममः स्वशर्म भजेत्।।१०६।।

जिस प्रकार प्यास से बाधित हुए मृगगण जङ्गल की चटीली भूमि में जल का भ्रम कर बाधित हुए शांति की अभिलाषा से उसकी तरफ उत्सुकता से दौड़ते हैं। उसी प्रकार विषय वासना से संसारी प्राणी इन्द्रियविषयों को सुखकर समझकर उनको प्राप्त करने के लिये चेष्टा किया करते हैं। अतएव ये इन्द्रियों के विषय मृगतृष्णा के समान हैं, वास्तव में ये सुख और शांति के कारण नहीं है। अथवा कर्म के क्षयोपशम के अनुसार इन इन्द्रियों के प्रतिनियत विषयों में यदि कुछ प्रकाश भी होता है तो वह बहुत ही थोड़ा

---

१ - लक्षण के तीन दोष होते हैं :- अव्याप्ति अतिव्याप्ति असंभव। लक्ष्य के एकदेश में लक्षण के रहने को अव्याप्ति, और अलक्ष्य में भी रहने को अतिव्याप्ति तथा लक्ष्यमात्र में न रहने को असंभव दोष कहते हैं।

है - आभासमात्र है। इस तरह की इन्द्रियविषयरूपी मरीचिका को छोड़कर - इन्द्रियविषयों से संयत होकर, और समस्त सावद्य क्रियाओं को - आरंभादिकों को छोड़कर तथा जो छोड़े जा सकते हैं ऐसे समस्त गृह गृहिणी प्रभृति बाह्य पदार्थों को सर्वथा छोड़कर; बाल के अग्रभाग की बराबर भी त्याज्य परिग्रह से अपना संबंध न रखकर, और जो छोंडे नहीं जा सकते - जिनका त्याग करना अशक्य है ऐसे शरीरादिक परिग्रहों के विषय में निर्मम होकर - 'ये मेरे हैं' इस संकल्प को छोड़कर साधुओं को निज आत्मस्वरूप से उत्पन्न सुख का सेवन करना चाहिये।

भावार्थ :- यहाँ पर निर्मम शब्द उपलक्षण अर्थ में आया है; जिससे साधुओं को 'ये मेरे हैं' इस संकल्प की तरह 'ये मैं हूँ' और 'मैं ये हूँ' इस संकल्प से भी रहित होना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

जीवाजीवणिबद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव।
तेसिं सक्कच्चाओ इयरह्मि य णिम्ममोऽसंगो।।

परिग्रह दो प्रकार का है, चेतन और अचेतन अथवा अंतरंग और बाह्य। इनमें से जिनका त्याग किया जा सकता है उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। और बाकी के जो परिग्रह हैं उनमें निर्मम होना चाहिये। इसीका नाम नैर्ग्रन्थ्य है। क्योंकि जो जीव से असंबद्ध उपधि है उसीका सर्वथा त्याग हो सकता है; संबद्ध का नहीं। अतएव जो जीव से संबद्ध हैं ऐसे शरीरादिक परिग्रह में ये मेरे हैं अथवा ये मैं ही हूँ इस तरह की संकल्परूप मूर्छा का ही परित्याग करना चाहिये।

मिथ्याज्ञान जिसका अनुसरण करता है ऐसे मोहकर्म के उदय से जीव के दो प्रकार के भाव हुआ करते हैं एक ममकार, दूसरा अहंकार। इन दोनों का लक्षण इस प्रकार है :-

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रभुखेषु कर्मजनितेषु।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः।।
ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः।
तत्रात्माभिनिवेशोहंकारोहं यथा नृपतिः।।

कर्म के उदय से उत्पन्न हुए अपने शरीर प्रभृति उन पदार्थों में जो कि आत्मा से भिन्न होनेपर भी सदा उससे संबद्ध रहते हैं, आत्मीयता के अभिनिवेश को ममकार कहते हैं। जैसे कि ये मेरा शरीर है। तथा कर्मोदय से प्राप्त हुए उन पदार्थों में जो कि परमार्थ से आत्मा से भिन्न हैं - असंबद्ध हैं उनमें आत्मीयता के अभिनिवेश को अहंकार कहते हैं। जैसे कि मैं राजा हूँ।

आत्मा से भिन्न परद्रव्य का ग्रहण करना ही बंध का कारण है और स्वद्रव्य में संवृत्त रहना ही मोक्ष का कारण है। जैसा कि कहा भी है कि :-

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः।।

परद्रव्य का ग्रहण करनेवाला साधु अपराधी है अतएव वह बंधता है। किंतु जो यति स्वद्रव्य में ही संवृत्त रहता है वह अपराधी नहीं है अतएव वह बंधता भी नहीं है। जिस प्रकार परद्रव्य का अपहरण करनेवाला चोर अपराधी होने के कारण पकडा जाता है - बंधता है - किन्तु जो स्वद्रव्य में ही संतुष्ट रहनेवाला सज्जन है वह निरपराधी होने के कारण बंध नहीं सकता। और भी कहा है कि :-

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।

जितने भी सिद्ध - संसार से रहित हैं वे सब भेदविज्ञान के निमित्त से ही सिद्ध हुए हैं। और जितने संसारी प्राणी हैं वे सब नियम से इस भेदविज्ञान के न रहने के कारण ही कर्मों से बंधते हैं।

धनधान्यादिक परिग्रहरूपी ग्रह जिस पर सवार है ऐसे मनुष्य के जो मिथ्यात्व हास्य वेद रति अरति शोक भय जुगुप्सा मान कोप माया लोभ के निमित्त से जिस किसी भी विषय में परतंत्रता उत्पन्न होकर प्रवृत्त हुआ करती है उसको क्रम से छोड़ने का उपदेश देते हैं :-

श्रद्धतेनर्थमर्थं हसनमवसरेप्येत्यऽगम्यामपीच्छ -
त्यास्तेऽरम्येपि रम्येप्यहह न रमते दैष्टिकेप्येति शोकम्।
यस्मात्तस्माद्बिभेति क्षिपति गुणवतोप्युद्धति क्रोधदम्भा -
नऽस्थानेपि प्रयुंक्ते ग्रसितुमपि जगद्वष्टि सङ्गग्रहार्तः।।१०७।।

परिग्रह का अभिनिवेश - ममकार अहंकाररूप परिणाम भूतावेश के समान है। इससे पीड़ित या आक्रान्त हुआ मनुष्य अतत्त्वभूत पदार्थ का भी श्रद्धान करने लगता है। प्रमाणसिद्ध हेय और उपादेयरूप तथाभूत वस्तु को अर्थ कहते हैं। जो छोड़ने योग्य निश्चित हैं उसको हेय और ग्रहण करने योग्य निश्चित हैं उसको उपादेय कहते हैं। परिग्रहरूपी ग्रह से संक्लिष्ट हुआ पुरुष अर्थ को अनर्थ और अनर्थ को अर्थ समझकर श्रद्धान करने लगता है। तत्त्वभूत पदार्थ में भी अतत्त्वभूत की तरह रुचि नहीं करता और अतत्त्वभूत में भी तत्त्वभूत की तरह रुचि करने लगता है। जो धनधान्यादिक आत्मा का हित सिद्ध करने में बिलकुल भी उपयोगी नहीं हैं उनमें परिग्रहपीड़ित मनुष्य इतनी रुचि करने लगता है और ऐसा रत हो जाता है कि जिससे वह अपने स्वामी का धनलव से खरीदा हुआ गुलाम जैसा बन जाता है। यदि स्वामी नाचता हैं तो आप भी नाचता हैं और यदि स्वामी भागता है तो आप भी उसके साथ परिकर लेकर और पसीना में सराबोर होकर खूब भागने लगता है। यदि स्वामी किसी निर्दोष गुणी पुरुष की निंदा करता है तो आप भी निंदा करता है। स्वामी हँसता है तो आप भी हँसता है। स्वामी रोता है तो आप भी रोने लगता है और [१] डकराता है तो आप भी डकराने लगता [२] है। मतलब यह कि धन को आत्महित समझकर उसके प्राप्त करने की तीव्र लालसा से परिग्रह संज्ञा में रत हुआ प्राणी धनपति की स्वच्छंदताका भी अनुवर्तन करने में रत हो जाया करता है।

---

१ - गला फाडकर चिल्लाना।

२ - हसति हसति स्वामिन्युचै रुदत्यतिरोदिति,
गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिन्दति निन्दति।
कृतपरिकरं स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति
धनलवपरिक्रीतं यंत्रं प्रनृत्यति नृत्यति।।

यह मिथ्यात्व का - अतत्त्वभूत पदार्थ में तत्त्वभूत की तरह रुचि करने का एकमात्र निदर्शन है। इसी प्रकार और भी समझने चाहिये, तथा हास्यादिक शेष अंतरंग परिग्रहों के भी उदाहरणों को स्वयं समझ लेना चाहिये। अतएव हास्यादिक परिग्रहों के कार्यमात्र को ही यहाँ पर दिखाते हैं :-

हास्य कषाय से पीड़ित हुआ मनुष्य अवसर की तो बात ही क्या, बिना अवसर के भी हँसने लगता है, पुरुष वेद से पीड़ित होकर सर्वथा अगम्य - गुरुपत्नी राजपत्नी मित्रपत्नी आदिक से भी गमन करने लगता है। यदि तू मेरे साथ संभोग करे तो मैं तुझ को अमुक वस्तु दूं, इस प्रकार लोभ दिये जानेपर उनका अभीष्ट सिद्ध करने में भी प्रवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के विषय में भी समझ लेना चाहिये। रतिकषाय से पीड़ित मनुष्य भिल्लपल्ली आदि अमनोज्ञ स्थान या पदार्थ में भी प्रेम करने लगता है। और अरति कषाय का उदय होनेपर राजधानी आदि रमणीय स्थान भी मनुष्य को रुचिकर नहीं होते। शोक नोकषाय के उदय से आक्रान्त होनेपर मनुष्य अहा, खेद है कि ऐसे विषयों या पदार्थों में भी शोक करने लगता हैं जिनमें कि केवल दैव ही प्रमाण है - जो केवल कर्म के उदय से ही हो जाया करते हैं। भय का उदय होनेपर चाहे जिस पदार्थ से मनुष्य डरने लगता है, चाहे वह भय का कारण हो चाहे न हो। जुगुप्सा का उदय होनेपर दोषसहित की तो बात ही क्या गुणविशिष्ट पुरुष से भी जीव ग्लानि करने लगता है। इसी प्रकार मान क्रोध और माया का उदय होनेपर मनुष्य अस्थान - गुरु आदि के विषयमें भी स्तब्धता क्रूरता और प्रतारणा का प्रयोग करने लगता है। लोभ के उदय की तो बात ही कहाँ तक कहें। इसके निमित्त से तो जीव समस्त जगत को अपने पेट में ही रख लेना चाहता है।

इस प्रकार ये अंतरंग भावरूप चौदह परिग्रह हैं जिनका कि साधुओं को त्याग करना चाहिये।

चेतन और अचेतन इस तरह दो प्रकार की दुस्त्याज्यता का सामान्यरूप से निरूपण करते हैं।

प्राग्देहस्वग्रहात्मीकृतनियतिपरीपाकसंपादितैत -
द्देहद्वारेण दारप्रभृतिभिरिमकैश्चामुकैश्चालयाद्यैः।

लोकः केनापि बाह्यैरपि दृढमबहिस्तेन बन्धेन बद्धो
दुःखार्तश्छेत्तुमिच्छन् निबिडयतितरां यं विषादाम्बुवर्षैः।।१०८।।

शरीर में आत्मत्व या आत्मीयता का अभिनिवेश या निश्चय करने से जो पूर्वजन्म में नामकर्म का संचय अथवा बंध हुआ था उसके उदय से वर्तमान भव में जो शरीर प्राप्त हुआ है उसके द्वारा, आश्चर्य है कि बाह्य - आत्मा से असंबद्ध भी इन कुत्सित प्रतीयमान स्त्रीप्रभृति और इसी प्रकार दुःखकर ही अनुभव में आनेवाले उन गृहादिक परिग्रहों ने इस संसारी बहिरात्मा प्राणी को किसी अलौकिक ऐसे बंधन से अंतरंग में दृढ़ता से बाँध लिया है जिसका कि इन्ही परिग्रहों के द्वारा प्राप्त होनेवाले दुःखों से पीड़ित होनेपर छेदन करने की इच्छा रखते हुए भी वह प्राणी उसका छेदन नहीं करता बल्कि विषादरूपी जल का सिञ्चन कर उस बंधन को और भी अधिक दृढ़ बना लेता हैं।

भावार्थ :- जीव जैसा विचार करता है वैसा ही उसको फल भी मिलता है। क्योंकि परिणामों के अनुरूप ही कर्मों का संचय और उनका फल हुआ करता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं योभिनन्दति तस्य तत्।
न जातु जन्तोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति।।

जो अविवेकी पुद्गलद्रव्य की प्रशंसा करता है और उसको प्राप्त करना चाहता है उस प्राणी का वह चारों गतियों में कदाचित् भी साथ नहीं छोड़ता। क्योंकि जीव जिन पुद्गलों को आत्मा या आत्मीय समझकर उनमें अभिनिवेश किया करता है वे ही उसके दीर्घ संसार के कारण हुआ करते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

चिरं सुषुप्तास्तमनि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जागृति।।

जिनके हृदय में आत्मा से असम्बद्ध पदार्थों में ममकार और आत्मसम्बद्ध पदार्थों में

अहंकाररूपी निबिड अंधकार जाग्रत हो जाता है या रहता है वे मूढात्मा कुयोनियों में चिरकाल के लिये अच्छी तरह सो जाते हैं - निमग्न हो जाते हैं। इसी प्रकार पूर्व भव में शरीर में आत्मत्व का अध्यवसाय करके जीव ने जिस पुद्गलविपाकी नामकर्म का उपार्जन किया था उसीके उदय से वर्तमान में जो शरीर प्राप्त हुआ उसीके द्वारा स्त्रीपुत्रादिक कुटुंबी जन तथा गृहादिरूपी बाह्य परिग्रहों ने उस बहिर्बुद्धि प्राणी को अति दृढ़रूप से किसी अलौकिक बंधन द्वारा बाँध लिया है। क्योंकि शरीर के द्वारा अथवा उसीके निमित्त से ही समस्त बंध और तज्जनित दु:ख हुआ करते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि आत्मा से अत्यंत भिन्न रहने पर भी इन परिग्रहों ने भीतर से आत्मा को बाँध लिया है। जिसने जीव को अपने साथ गाढरूप से नियंत्रित कर रक्खा है वह बंधन भी ऐसा अलौकिक है कि जिसको काटने की इच्छा रखते हुए भी वह प्राणी उल्टा उसको दृढ़ बना देता है। जिस प्रकार लोक में रस्सी आदिक बंधन पानी के निमित्त से अधिक मजबूत हो जाता है उसी प्रकार विषादरूपी जल का सिञ्चन हो जाने से - छींटा लग जाने से अलौकिक बंधन भी दृढ़ हो जाता है। क्योंकि देखते हैं कि अज्ञानी जन जब स्त्री आदि के निमित्त से उपस्थित होनेवाले दु:खों से पीड़ित होते हैं तब वे उनको कदाचित् छोड़ना चाहते हैं किंतु उनके विरह से उन्हें ऐसा विषाद होता है कि जिसके निमित्त से वे और भी अधिक तीव्र असातावेदनीयकर्म का बंध कर लेते हैं जो कि अधिक दु:ख का ही कारण होता है। अतएव ममकार या अहंकाररूप परिग्रह का बंधन ही जीवों के लिये दु:ख का मूल है। ऐसा समझकर अंतरंग परिग्रहों की तरह बाह्य परिग्रहों का भी त्याग ही करना चाहिये।

बाह्य परिग्रह चेतन और अचेतन इस तरह दो प्रकार का जो बताया है उसमें चेतन परिग्रह को पृथक् विभक्त करके सोलह पद्योंमें उसको दोष बताना चाहते हैं। किंतु उसमें भी पहले पाँच पद्यों में स्त्री परिग्रह के दोषों का वर्णन करते हैं। क्योंकि अत्यंत गाढ़ राग का निमित्त स्त्री ही होती हैं :-

वपुस्तादात्म्येक्षामुखरतिसुखोत्कः स्त्रियमरं
परामप्यारोप्य श्रुतिवचनयुक्त्यात्मनि जडः।
तदुच्छ्वासोच्छ्वासी तदसुखसुखासौख्यसुखभाक्
कृतघ्नो मात्रादीनथ परिभवत्याः परधिया।।१०९।।

बहिरात्मबुद्धि मूढ प्राणी शरीर के साथ अपनी आत्मा का तादात्म्य समझता है। अतएव वह शरीर और आत्मा दोनों को एकरूप में ही देखता है। वह समझता है कि मेरा आत्मा ही शरीर है और शरीर ही आत्मा है, दोनों भिन्न वस्तु नहीं हैं। इस विपरीताभिनिवेशरूप शरीर और आत्मा में होनेवाले एकत्वप्रत्यय के द्वारा ही यह अज्ञानी जीव रति - मैथुनकर्म से उत्पन्न होनेवाले सुख में सदा उत्सुक रहा करता है। यही कारण है कि वह आत्मा की तो बात ही क्या, शरीर से भी सर्वथा भिन्न - अत्यंत अर्थान्तररूप स्त्री का श्रुतिवचन - वेदवाक्यों की युक्ति से अपनी आत्मा में आरोपण कर एकता का प्रत्यय कर लेता है। क्योंकि ब्राह्मण लोग वैदिक मंत्रों के द्वारा विवाह - समय में स्त्री और पुरुष के एकत्व का समर्थन किया करते हैं। इस योजना के अनुसार ही मिथ्यादृष्टि लोग अपने में ही स्त्री का संकल्प करके उसमें इतने अत्यंत आसक्त हो जाते हैं कि उसके उच्छ्वास के साथ ही उच्छ्वास लेने और उसके दु:ख में दु:ख और सुख में सुख का ही अनुभव किया करते हैं। स्त्री का उच्छ्वास बंद हो जानेपर - उसके मर जानेपर आप भी मर जाते और उसके ऊपर विपत्तियाँ संक्लेश उपस्थित होनेपर अपने को विपन्न या संक्लिष्ट समझने लगते तथा सुख और शांति से युक्त देखकर अपने को सुखी मानने लगते हैं। हाय ! इस मिथ्या प्रत्यय के कारण यहाँतक होता है कि वह मूढ स्त्री को ही अपना सर्वस्व समझकर दूसरों की तो बात ही क्या, अपने मातापिता प्रभृति अत्यंत निकटवर्ती बंधुओं तथा गुरुजनोंमें भी परबुद्धि करके - उनको अपना विपक्षी समझकर और उनके प्रति कृतघ्न होकर - 'इनने मेरा किया क्या है ? कुछ नहीं, मैं तो स्वयं अपने पुण्यबल से ऐसा हो गया हूँ' यह समझ उनके किये हुए उपकारों का भी अपलाप करके उनका तिरस्कार कर देता है।

भावार्थ :- बाह्य चेतन परिग्रहों में एक स्त्री ऐसा परिग्रह है कि जिससे आत्मा में इतना तीव्र राग उत्पन्न हो जाता है कि जिसके निमित्त से उसमें कृतघ्नता जैसा महादोष भी आ जाता है।

इस प्रकार स्त्रीपरिग्रह में आसक्ति रखनेवाले पुरुष में माता-पिता आदि के तिरस्कार द्वारा उत्पन्न होनेवाले कृतघ्नता दोष को दिखाकर यह बताते हैं कि यह जीव उसके मरणका भी अनुगमन कर दुरंत दुर्गतियों के दु:खों का भोग किया करता है। यह बात वचनभंगी के द्वारा प्रकट करते हैं :-

चिराय साधारणजन्मदुःखं पश्यन्परं दुःसहमात्मनोग्रे।
पृथग्जनः कर्तुमिवेह योग्यां मृत्यानुगच्छत्यपि जीवितेशाम्।।११०।।

स्त्री में अत्यंत अनुराग रखनेवाला यह बहिरात्मा प्राणी यह देखकर कि अनंतर जन्म में मुझको चिरकाल तक साधारण निगोदपर्याय में जन्मजनित अत्यंत उत्कृष्ट और ऐसे दुःख सहने पडेंगे जो कि दुःसह हैं - सहे नहीं जा सकते। अतएव मानों उनको सहने का अभ्यास करने के लिये ही वह अपनी प्राणाधिक प्रिया - वल्लभा के मरण का भी अनुवर्तन करता है - उसके मरने पर आप भी प्राणपरित्याग कर देता है।

भावार्थ :- कितने ही रागी पुरुष स्त्री के मरते ही असके वियोगजनित दुःख को सह न सकने के कारण अपने भी प्राण छोड़ देते हैं। ऐसे जीव मरकर उस निगोदपर्याय को प्राप्त करते हैं जहाँ पर कि दूसरे साधारण दुःखों की तो बात ही क्या, जन्म मरण संबंधी दुःसह दुःख चिरकाल तक सहने पड़ते हैं।

निगोदिया जीवों का लक्षण पहले बताया जा [१]चुका है कि इस पर्याय में भी जीवों की सब क्रियाएँ साधारण समान ही होती हैं। जब एक शरीर में एक जीव जन्म ग्रहण करता है तब उसी शरीर में उसी समय अनंतानंत जीव और भी जन्म ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार जब उनमें से एक जीव आहार ग्रहण करता है तो बाकी के सब जीव आहार ग्रहण करते हैं और श्वासोच्छ्वास लेता है तो सब श्वासोच्छ्वास लेते है तथा एक मरता है तो सब मर जाते हैं। इसी साधारण निगोदपर्याय के दुःखों को सहने का स्त्रीपरिग्रही कामीपुरुष अपनी प्रेयसी के मरण का अनुकरण करके मानों अभ्यास करता है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा स्त्रीपरिग्रह का फल दुर्गतियों के दुरन्त दुःखों का भोग करना ही बताया है।

संभोग और विप्रलभ्भ शृंगार के द्वारा स्त्रियाँ मनुष्यों के पुरुषार्थ को नष्ट कर देती

---

१ - 'साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं।।
जत्थेक्क मरदि जीवो तत्थ दुमरणं हवे अणंताणं
चंकमइ जत्थ एक्को चंकमणं तत्थणंताणं।।'

हैं। अतएव उनकी इस शक्ति पर उपालभ्भ प्रकट करते हैं :-

प्रक्षोभ्यालोकमात्रादपि रुजति नरं यानुरज्यानुवृत्त्या
प्राणैः स्वार्थापकर्षं कृशयति बहुशस्तन्वती विप्रलम्भम्।
क्षेपावज्ञाशुगिच्छाविहतिविलपनाद्युग्रमन्तर्दुनोति
प्राज्यागन्त्वामिषादामिषमपि कुरुते सापि भार्याऽह हार्या।।१११।।

स्त्रियाँ केवल अपने स्वरूप को दिखा करके ही मनुष्यों को क्षुब्ध कर - उनके हृदय को अच्छी तरह चंचल बनाकर संतप्त - पीड़ित किया करती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्वानुराग के द्वारा स्त्रियाँ पुरुषों को प्रचुर दुःख का कारण ही होती हैं। क्योंकि पूर्वानुराग का स्वरूप ही ऐसा है। कहा है कि :-

स्त्रीपुंसयोर्नवालोकादेवोल्लसितरागयोः।
ज्ञेयः पूर्वानुरागोयमपूर्णस्पृहयोर्दृशोः।।

जहाँ पर स्त्री और पुरुष का परस्पर में नवीन दर्शन होते ही दोनों के हृदय में राग का उद्रेक हो जाता है और दोनों ही की परस्पर में देखने की स्पृहा पूर्ण नहीं हो पाती - अपूर्ण ही रह जाती है वहाँ पर पूर्वानुराग समझा जाता है। यह विप्रलम्भश्रृङ्गार का ही एक भेद है। यथा :-

पूर्वानुरागमानात्मप्रवासकरुणात्मकः।
विप्रलम्भश्चतुर्धा स्यात् पूर्वपूर्वो ह्ययं गुरुः।।

विप्रलम्भश्रृंगार चार प्रकार का है - पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुणा। इनमें पहला पहला भेद अधिक अधिक तीव्र है। करुणा से प्रवास में, प्रवास से मान में, और मान से पूर्वानुराग में राग की तीव्रता अधिक रहा करती है।

अतएव स्पष्ट है कि पहले तो पूर्वानुराग के द्वारा ही पत्नी पुरुष को क्लेश उपस्थित

करती है। और पीछे पति की इच्छानुसार चलकर उसको अपने ऊपर इस तरह से अनुरक्त करके कि जिससे उसके स्वार्थ का अपकर्षण हो जाय - वह धर्मादिक पुरुषार्थों से च्युत हो जाय, बल इन्द्रिय आयु तथा उच्छ्वासरूप प्राणों से भी उसको कृश बना देती है - उसको सुख नहीं देती, सुखा देती है। इससे यह बात भी मालूम हो जाती है कि संभोगश्रृंगार के द्वारा भी स्त्रियाँ पुरुषों के हित में बाधक ही होती हैं। क्योंकि देखते हैं कि कामीपुरुषों से कामिनियाँ एकान्त में उनकी इच्छानुसार व्यवहार कर यथेष्ट चेष्टा कराया करती हैं। तथा :-

यद्यदेव रुरुचे रुचितेभ्यः सुभ्रुवो रहसि तत्तदकुर्वन्।
आनुकूलिकतया हि नराणामाक्षिपन्ति हृदयानि रमण्यः।।

प्रिय पतियों को जो जो विषय रुचिकर मालूम पड़ा सुंदरियों ने वही वही एकान्त में पूरा किया। क्योंकि अनुकूल व्यवहार करके रमणियाँ नियम से पतियों के हृदयों पर अधिकार कर लिया करती हैं।

इसी प्रकार जो स्त्रियाँ धिक्कार अनादर शोक इच्छाविघात विलाप और उत्कण्ठा प्रभृति भावों से उग्र - असह्य विप्रलम्भ - प्रणयभंग या ईर्ष्यादिक से उत्पन्न होनेवाले मान अथवा प्रवासरूप श्रृंगार को बढ़ाकर अच्छी तरह से मनुष्यों के हृदय को पीड़ित किया करती हैं। तथा शत्रुप्रहारादिक प्रचुर आगंतुक दुःखरूपी मांसभक्षक राक्षसों का विषय या ग्रास बना देती हैं। यह कितने आश्चर्य और खेद की बात है कि कामीपुरुष फिर भी उन भार्याओं को आर्या कहते हैं अथवा उनको हार्या - अनुरञ्जनीया समझते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

वाग्मी सामप्रवणश्चाटुभिराराधयेन्नरो नारीम्।
तत्कामिनां महीयो यस्माच्छृङ्गारसर्वस्वम्।।

वचन कुशल और सान्त्वना में प्रवीण पुरुष को चाटुकार - खुशामद से भरे हुए शब्दों के द्वारा स्त्रियों का आराधन करना चाहिये। क्योंकि कामियों के लिये श्रृंगार का सर्वस्व यह आराधन ही मोहनीय या सेव्य विषय है।

भावार्थ :- हाय, यह कितने दुःख और आश्चर्य की बात है कि जो, पूर्वानुराग,

संभोग और विप्रलम्भ तीनों ही प्रकार से मनुष्य को क्रम से संतप्त कृश और अंतरंग में पीड़ित किया करती है उसको मनुष्य उल्टा हार्या और आर्या समझता है। इसके संयोग से मनुष्य आयु बल इन्द्रिय आदिक से रिक्त हो जाता है और वियोग के होनेपर अंतरंग में पीड़ित हो विलापादिक करने लगता है; यह बात शास्त्र और लोक दोनो ही में प्रसिद्ध है। यथा -

स्निग्धाः श्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव।।

इधर आकाश में स्निग्ध मेघ छाये हुए हैं जिनमें कि बगुलों की पंक्ति उड़ रही है और उनकी शामल कान्ति से आकाश आच्छन्न हो रहा है, और इधर जिसमें छोटे छोटे जलकण मिले हुए हैं ऐसी वायु बह रही है और मयूरों की आनंदध्वनि हो रही है। ये सब कलाएँ यथेष्ट - अच्छी तरह से हों - मुझे इनकी कुछ परवाह नहीं है। क्योंकि मेरा हृदय अत्यंत कठोर है, मैं रामचंद्र हूँ, सब कुछ सह सकता हूँ। किंतु हाय हाय इस समय वैदेही किस तरह से होगी। हा देवि ! धीर रहना धैर्य से काम लेना।

और भी कहा है कि:

हारो नारोपितः कण्ठे स्पर्शविच्छेदभीरुणा।
इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः।।

परस्पर के आलिंगन में कहीं जरा भी अंतर न पड़ जाय इसलिये मैंने गले में हार तक नहीं पहराया था पर अब हम दोनों के बीच में हाय, कितने पर्वत नदी और वृक्ष तक पड़े हुए हैं।

इसी प्रकार आक्षेप अवज्ञा शोक और उत्कण्ठा आदिक भावों के भी उदाहरण तत्तत् महाकवियों के ग्रंथों में मिलते हैं। जिससे यह बात स्पष्ट होती है कि पत्नी का संयोग और वियोग दोनों ही दु:खजनक हैं। एवं च जो पत्नी हर तरह से मनुष्य का अहित

ही करती है, आश्चर्य है कि, कामीपुरुष उसको आर्या किस तरह समझते हैं। क्योंकि गुणों से पूर्ण रहने के कारण जिसका आश्रय लिया जाय उसको आर्या कहते हैं।

श्रृंगार के पूर्वानुरागादिक जो भेद बताये हैं उनके द्वारा स्त्रियाँ पुरुषों को किस प्रकार पीड़ित किया करती हैं यह बात दृष्टांत द्वारा क्रम से स्पष्ट करते हैं :-

स्वासङ्गेन सुलोचना जयमऽघाम्भोधौ तथाऽवर्तयत्
स्वं श्रीमत्यऽनु वज्रजङ्घमऽनयद्भोगालसं दुर्मृतिम्।
मानासद्ग्रहविप्रयोगसमरानाचारशङ्कादिभिः
सीता राममतापयत्क्व न पतिं हा साऽऽपदि द्रौपदि।।११२।।

अकंपन राजा की पुत्री सुलोचना ने जयकुमार - मेघेश्वर को अपने रूप पर आसक्त करके पाप - दुःखोत्पादक व्यसनरूपी समुद्र के भंवर में ऐसा पटका जिससे कि उसको अपकीर्ति के साथ महान् युद्ध में प्रवृत्त होना पड़ा। यह बात महापुराण में अच्छी तरह बताई गई है। यह इस बात का उदाहरण है कि स्त्रियाँ पूर्वानुरागरूपी विप्रलम्भ श्रृंगार के द्वारा किस प्रकार पुरुषों को दुःख की उत्पादक हुआ करती हैं। वज्रदंत चक्रवर्ती की पुत्री श्रीमती ने अपने साथ - साथ अपने पति वज्रजङ्घको भी भोगों में अलस बनाकर - विषयसेवन की आसक्ति से अशक्त कर बहुत बुरी मृत्यु को पहुँचाया। जिस प्रासाद में दोनों ही विषयसेवन में आसक्त होकर पड़े थे उसमें केशों को सुगंधित करनेवाली धूप का धुआँ भर जाने से दोनों का ही कण्ठ लख गया और वे बुरी तरह मृत्यु को प्राप्त हुए। यह कथा भी महापुराण में स्पष्टतया लिखी हैं। यह इस बात का उदाहरण है कि संभोगसुख के द्वारा भी स्त्रियाँ किस प्रकार पुरुषों को दुःख की उत्पादक हुआ करती हैं। सीता ने रामचंद्र को भी कुछ कम दुःख नहीं दिया था। पहले तो प्रणयभंगजनित मानश्रृंगार के द्वारा और फिर युद्ध में प्रवृत्त लक्ष्मण की पराजय का निवारण करने के लिये जो उसके पास जाने का रामचंद्रजी से उसने असद्ग्रह - दुरभिनिवेश किया उससे क्या रामचंद्रजी को कुछ कम दुःख हुआ। तथा रावण द्वारा हरण हो जानेपर जो वियोगजनित दुःख हुआ और उसकी प्राप्ति के लिये रावण से युद्ध करने में जो क्लेश उठाना पड़ा तथा लङ्केश्वर के साथ उपभोग की संभावना से जो मानसिक पीड़ा हुई वह क्या कुछ

कम थी। अनाचार की शंका से अग्निपरीक्षा करने पर जब सीता की दिव्य शुद्धि की प्रसिद्धि हो गई तब जो रामचंद्रजी का अपमान हुआ उससे क्या उन्हें कुछ कम दु:ख हुआ। अंत में जब रामचंद्रजी तपस्या कर रहे थे उस समय भी सीता के जीव ने आकर उनके ऊपर घोर उपसर्ग किये ही थे। अतएव सीता ने भी मान असद्ग्रह विरह संग्राम और अनाचार की शंका तथा अपमान और उपसर्गादिक करके रामचंद्रजी को कम संतप्त नहीं किया था। इनकी कथा रामायण में प्रसिद्ध है। यह उदाहरण मान और प्रवासरूप विप्रलम्भश्रृंगार के द्वारा स्त्रियाँ पुरुषों को किस प्रकार दु:ख की उत्पादक हुआ करती हैं इस बात को प्रकाशित करता है। हाय, पञ्चाल राजा की पुत्री द्रौपदी ने तो अपने प्रियपति अर्जुन को कौन कौनसी आपत्ति में नहीं पटका था। उसे तो स्वयंवर के समय में ही युद्ध से लेकर प्राय: सभी विपत्तियों में पड़ना पडा था। जिसकी कि कथा महाभारत में प्रसिद्ध है। इस दृष्टांत से पूर्वानुराग और प्रवासरूप विप्रलम्भ द्वारा स्त्रियों की दु:खोत्पादकता स्पष्ट होती है।

भावार्थ :- लौकिक अनुभव और शास्त्रीय उदाहरणों से यही बात सिद्ध होती है कि स्त्रीरूप चेतनपरिग्रह रागी पुरुषों को दु:ख का ही कारण है।

स्त्रियों की रक्षा करना दु:शक्य है, उनके शीलभंग हो जानेपर बड़ा भारी परिताप प्राप्त हुआ करता है। एवं वे सद्गुरुओं की संगति करने में अंतराय का कारण और परलोक के लिये उद्योग करने में प्रतिबंधक हुआ करती हैं। इस बात का निरूपण कर यह बात व्यक्त करते हैं कि इस तरह की वल्लभाओं का मुमुक्षुओं को पहलेसे ही परिग्रहण न करना चाहिये।

तैरश्नोपि वधूं प्रदूषयति पुंयोगस्तथेति प्रिया -
सामीप्याय तुजेप्यऽसूयति सदा तद्विप्लवे दूयते।
तद्विप्रीतिभयान्न जातु सजति ज्यायोभिरिच्छन्नपि
त्यक्तुं सद्म कुतोपि जीर्यतितरां तत्रैव तद्यन्त्रित:।।११३।।

औरों की तो बात ही क्या कहें। अपने खास पुत्र से भी लोक, यदि वह उनकी

प्रिया - वल्लभा के निकट रहा करता हो तो असूया करने लगते हैं। वह चाहे जितना भी गुणी क्यों न हो अपनी प्रेयसी के निकट सहवास करने के कारण उससे रुष्ट हो लोक ईर्ष्या से उसके गुणों में भी दोषों का आरोपण किया करते हैं। और यह बात ठीक भी है; क्योंकि देखते हैं कि मनुष्यों की तो बात ही क्या, तिर्यंच पुरुषों का भी संयोग बधुओं को अच्छी तरह दूषित कर दिया करता है। जैसा कि प्रभंजन चरितादिक शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। प्रभंजनचरित्र में उस रानी की कथा विदित है जो कि बंदर पर आसक्त हो गई थी। इसी प्रकार लोकों के हृदय में अपनी प्रियतमा का शीलभंग देख लेनेपर अथवा सुन लेनेपर सदा ही परिताप बना रहा करता है। वे नित्य ही उससे कुढते रहते हैं। तथा स्त्री के निमित्त से ही लोक इस भय से कि कहीं प्रिया के प्रेम का भंग न हो जाय धर्माचार्यादिक गुरुजनों की भी संगति में नहीं रह सकता। वह सत्संगति के फल से वञ्चित रहता है। और किसी पुत्रवियोगादिक अगाढ कारण को पाकर घर का परित्याग कर देने की इच्छा करते हुए भी वह अपनी प्रियारूपी शृंखला से जकडा रहने के कारण उसको छोड़ नहीं सकता और घर में पड़ा हुआ ही जरा से जर्जरित हो जाया करता है। इन सब बातों को देख सुनकर विदग्धपुरुष स्वयं ही ऐसा तात्पर्य समझ सकते हैं कि मुमुक्षुओं को पहले से ही स्त्री का परिग्रहण न करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

प्रागेव शक्तोऽशक्तोऽन्त्ये त्यक्त्वा राज्यं विपन्मयम्।
धीरः समाधिना मृत्वा भवाम्भोधेः समुद्धरेत्।।

मनुष्य पहली अवस्था में शक्त और अन्त्य की अवस्था में अशक्त रहा करते हैं। अतएव धीर पुरुषों को पहली अवस्था में ही विपत्तियों से भरे हुए राज्य को छोड़ देना चाहिये और अंत में समाधिपूर्वक मरकर संसारसमुद्र से पार हो जाना चाहिये।

इस प्रकार स्त्रीपरिग्रह के राग से अंधे हुए पुरुषों के दूषणों को प्रकट कर अब पुत्रमोह से अंधे हुओं के दोष बताते हैं :-

यः पत्नीं गर्भभावात्प्रभृति विगुणयन् न्यक्करोति त्रिवर्गं
प्रायो वप्तुः प्रतापं तरुणिमनि हिनस्त्याददानी धनं यः।
मूर्खः पापो विपद्वानुपकृतिकृपणो वा भवन् यश्च शल्य -
त्यात्मा वै पुत्रनामास्ययमिति पशुभिर्युज्यते स्वेन सोपि।।११४।।

जीव जब पिता के वीर्य और माता के रज को ग्रहण कर लेता है तब उसको गर्भ कहते हैं। यथा :-

शुद्धे शुक्रार्तवे सत्त्व स्वकर्मक्लेशचोदितः।
गर्भः संपद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणौ।।

अपने उपार्जित कर्म के उदय से प्रेरित हुआ जीव जब शुद्ध रजवीर्य के पिण्ड में आकर उपस्थित होता है तब उसको गर्भ कहते हैं। जिस प्रकार भस्म से आच्छन्न अंगार में अग्नि छिपी रहती है इस स्वरूप के हो जाने अथवा प्राप्त कर लेने को ही गर्भभाव कहते हैं। इस गर्भभाव से लेकर - जब से जीव माता के उदरस्थ रजवीर्य के पिण्ड को ग्रहण कर गर्भस्वरूप को प्राप्त करता है तभी से वह भार्या - पिता की पत्नी और अपनी जननी के शुभ शुभगता सौंदर्य सौष्ठव आदि गुणों का अपहरण करता हुआ पिता के अथवा मातापिता दोनों के ही त्रिवर्ग का धर्म अर्थ काम इन तीन पुरुषार्थों का भी ऱ्हास कर देता है। और प्रायः यौवन अवस्था प्राप्त कर लेनेपर पिता के ग्राम सुवर्णादिक धन को छीन कर या लेकर प्रताप को भी नष्ट कर देता है - उसे निस्तेज बना देता है। कहा है कि :-

जाओ हरइ कलत्तं वड्ढंतो वड्ढितो हरइ।
अत्थं हरइ समत्थो पुत्तसमो वेरिओ णत्थि।।

गर्भ में आते ही स्त्री का, बढने पर वृद्धि का और समर्थ होनेपर धन का अपहरण करनेवाले पुत्र की बराबर वैरी कौन हो सकता है।

इसी प्रकार यदि वह मूर्ख - अज्ञानी हो, अथवा पापी - ब्रह्महत्या परदाराभिगमन सरीखे पातकों मे प्रवृत्त हो, यद्वा व्याधि काराग्रह आदि विपत्तियों में फँस गया हो, अथवा मूर्खता या असामर्थ्य के कारण उपकार करने में कृपणता करता हो - अनुपकारी हो तो वह शरीर में काँटे की तरह हृदय के भीतर चुभा करता है। इस प्रकार जो पुत्र गर्भ से लेकर बड़े होने तक दु:खों का देनेवाला और नाना प्रकार से अपकार करनेवाला है उसकी भी मूढ - गृहस्थाश्रम के वास्तविक व्यवहार से अनभिज्ञ पुरुष अपने साथ योजना - अपनी आत्मा के साथ एकत्व की कल्पना करते हैं। कहते हैं कि - यह मेरे सामने उपस्थित तू, मैं ही हूँ - हे पुत्र ! तुझमें और मेरी आत्मा में कुछ भेद नहीं है। पुत्र इस नाम की अपेक्षा से ही तू साक्षात् मुझ से भिन्न है, स्वरूप से नहीं। जातकर्म में कहा है कि :-

अङ्गादङ्गात्प्रभवसि हृदयादपि जायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि संजीव शरदः शतम्।।

हे पुत्र ! तू मेरे अंग अंग से उत्पन्न हुआ है। तेरे शरीर का प्रत्येक अंग मेरे उसी उसी अंग से बना हैं। तू मेरे साक्षात् हृदय से निकला है। अतएव यह स्पष्ट है कि पुत्र इस नाम के सिवाय तुझमें और मेरी आत्मा में कुछ भी अंतर नहीं है। अतएव हे हृदय के टुकडे ! चिरंजीव ! तू सैंकड़ो वर्ष की आयु भोग।

मनु ने भी इस विषय में कहा हैं कि :-

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्त्वा जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः।।

पति ही भार्या में प्रवेश कर और फिर गर्भ बनकर उत्पन्न हुआ करता है। जाया का जायापन ही यह है कि उसमें पति प्रवेश कर पुनः उत्पन्न होता है। अतएव पिता और पुत्र की आत्मा में अंतर नहीं है।

भावार्थ :- पुत्र के साथ अपनी आत्मा के अभेद की कल्पना वे मूढ पुरुष ही

करते हैं जो चेतन परिग्रहों में पुत्र के मोह से अंधे हो रहे हैं। उन्हें उसका वास्तविक स्वरूप ही नहीं दिखता उनकी इस बात की तरफ दृष्टि ही नहीं जाती और वे नहीं जानते कि वह एक ऐसी परिग्रह है जो कि उत्पन्न होने के समय से लेकर नित्य ही माता पिता को पीड़ित करती, क्लेश देती और हित से पराङ्मुख कर संतप्त ही किया करती है।

पुत्र के विषय में सांसिद्धिक नैसर्गिक और औपाधिक इस तरह दो प्रकार की जो भ्रांति लगी हुई है उनको दूर कर मुमुक्षुओं को मोक्ष के मार्ग में स्थापित करते हैं - उन्हें वास्तविक पुत्र किसको समझना चाहिये सो बताते हैं :-

यो वामस्य विधेः प्रतिष्कशतयाऽऽस्कन्दन् पितृञ्जीवतो -
प्युन्मथ्नाति स तर्पयिष्यति मृतान्पिण्डप्रदाद्यैः किल।
इत्येषा जनुषान्धतार्य सहजाहार्याथ हार्या त्वया
स्फार्यात्मैव ममात्मजः सुविधिनोद्धर्ता सदेत्येव दृक्।।११५।।

प्रतिकूल विधि - बाधक दैव अथवा शास्त्रविरुद्ध विधान - आचरण का सहकारी बनकर जो जीवित - विद्यमान पिता पितामहादिक को कदर्थित कर - दुष्कर्म की उदीरणा और तीव्र मोह की उत्पत्ति से पीड़ित कर शुद्ध चैतन्यरूप प्राणों से उन्हें वियुक्त कर देता है वह पुत्र उनके मर जानेपर उनको पिण्डदान जलतर्पण और ऋणशोधादिके द्वारा अच्छी तरह तृप्त करेगा ऐसी समझ को अथवा इस आगमवाक्य या लोंकोक्ति को भ्रांति के सिवाय और क्या कहना चाहिये। हे आर्य ! साधो ! इस तरह की नैसर्गिक अथवा आहार्य - दुरुपदेशजन्य जात्यन्धता को तू छोड़ दे। तुझको तो यह निश्चित श्रद्धान करना चाहिये कि मेरा यह आत्मा ही मेरा वास्तविक पुत्र है। क्योंकि नित्य सम्यक्चारित्र का पालन कराकर यही संसारसमुद्र से मेरा उद्धार करनेवाला है।

भावार्थ :- बहुत से लोगों के नैसर्गिक अथवा अज्ञान को फैलने में हस्तावलंबन देनेवाले कदागम के आधार पर मिले हुए दुरुपदेश के निमित्त से ऐसी भ्रांति बैठी हुई है कि पुत्र मरकर परलोक को गये हुए पितृ पितामहादिक को पिण्डदानादि कर्म करके तृप्त किया करता है। किंतु यह वास्तव में भ्रांति ही है। क्योंकि जो पुत्र, चाहे वह विनयी हो चाहे अविनयी, जीवित पितादिक को तृप्त करना तो दूर रहा उल्टा क्लेश

उपस्थित किया करता है और आत्महित से दूर ही रखता है वह उनके मरने पर क्या उन्हे कभी तृप्त कर सकता है ? कभी नहीं। क्योंकि यदि पुत्र कदाचित् विनयी हो तब तो वह अपने विषय में मोह के ग्रह को पितादिक के ऊपर सवार कराकर उनसे परलोक के विरुद्ध आचरण कराता है। और यदि अविनयी हो तब तो वह दु:खों के देने में उन्मुख होकर पितादिक के दुष्कर्मों की उदीरणा का निमित्त हो ही जाता है। अतएव हे आर्य ! इस परिग्रह को भी तू दु:खकर और आत्मा के लिये अहितकर ही समझ और इसके विषय में उक्त नैसर्गिक अथवा औपाधिक भ्रांति को छोड। तथा अपनी उस आत्मा को ही अपना पुत्र समझने की श्रद्धा को दृढ़ कर जो कि सम्यक्चारित्र के द्वारा तेरा संसारसमुद्र से उद्धार करदेनेवाला है।

जो प्राणी पुत्रियों के मोह से ग्रस्त रहते हैं उनका भी स्वार्थ नष्ट हो जाता है इस बात को खेद के साथ प्रकट करते हैं :-

मात्रादीनामदृष्टद्रुघणहतिरिवाभाति यज्जन्मवार्ता
सौस्थ्यं यत्संप्रदाने क्वचिदपि न भवत्यन्वहं दुर्भगेव।
या दु:शीलाऽफला वा स्खलति हृदि मृते विप्लुते वा धवेऽन्त -
र्यादन्दग्धीह मुग्धादुहितरि सुतवद्घ्नन्ति धिक् स्वार्थमन्धा:।।११६।।

जिसके जन्म की वार्ता - यदि कोई आकर कहे कि तुम्हारे लड़की हुई है तो यह समाचार मातापिता को ऐसा मालूम पड़ता है मानो अदृष्ट मुद्गर का आघात हो - मानो इनसे हमारे ऊपर [१] अदृष्ट मुद्गर का प्रहार ही किया है। तथा जन्म के बाद उसका दान यदि वर योग्य न मिले तो माता पिता के चित्त को चैन नहीं लेने देता। समीचीन शास्त्रोक्त विधि के अनुसार और प्रकर्षरूप से जिसको कन्या दी जाय उसको संप्रदान कहते हैं। अतएव संप्रदान नाम वरयिता का है। वरयिता में कुल शील बल विद्या धनादिक जिन जिन गुणों की आवश्यकता है वि यदि उचित न मिले या तरतमरूप में मिले तो उसका दान करते समय माता पिता के हृदय में 'हम योग्य स्थान में अपनी कन्या को

१ - पूर्वसंचित दुष्कर्म अथवा दिखने में न आ सकनेवाला।

नियुक्त कर रहे हैं' ऐसा संतोष नहीं होता। उन्हें असंतोष या असफलताजनित क्लेश ही प्राप्त होता है जो कि जीवनपर्यन्त बना रहता है। इसके बाद यदि कदाचित् वह कन्या दु:शीला व्यभिचारिणी अथवा नि:संतान हो तो वह भी दुर्भगा - अनिष्ट कन्या के ही समान मातादिक के हृदय में दिनरात शल्य की तरह खटकती रहती है; क्योंकि जिस कन्या को कुरूप या कुलक्षणादिक के कारण यदि कोई ग्रहण करना नहीं चाहता तो वह जिस प्रकार दु:ख का ही कारण होती है उसी प्रकार व्यभिचारिणी और नि:संतान भी कन्या मातादिक के हृदय में व्यथा ही उत्पन्न करनेवाली होती है। उस समय तो कन्या मातादिक को हृदय में बहुत ही बुरी तरह और पुन: पुन: जलाया करती है जब कि उसका पति मर जाय, अथवा संन्यास ले जाय, यद्वा कहीं दूर देश को निकलकर चला जाय, अथवा ऐसा पति मिले जो कि त्रिवर्ग - धर्म अर्थ काम पुरुषार्थों का साधन करने में असमर्थ हो। इस प्रकार कन्या भी माता पिता को पुत्र के ही समान अनेक प्रकार के दु:खों के देने में मूल कारण है। फिर भी जो पुरुष उस कन्या में मुग्ध रहते हैं - उसके ममत्वग्रह से अंध हो जाते और तत्त्वस्वरूप को न देख सकने के कारण अपने अभीष्ट प्रयोजन दु:खोच्छेदन और सुखप्राप्ति को नष्ट कर देते हैं, उन्हें धिक्कार है।

भावार्थ :- पुत्र की तरह कन्यारूप चेतन परिग्रह भी मनुष्यों को जन्म से लेकर जबतक जीती है तबतक क्लेश ही देती है। फिर भी लोग उसमें मुग्ध होकर आत्मकल्याण से पराङ्मुख रहते हैं। यह उनके अज्ञान का ही माहात्म्य है।

माता पिता आदि जितने बंधु बांधव हैं वे सब आत्मा का अपकार ही करनेवाले हैं। अतएव उनकी वक्रोक्ति के द्वारा निंदा करते हुए विपक्षियों का अभिनंदन करते हैं। क्योंकि उनके निमित्त से पूर्वसंचित दुष्कर्म की निर्जरा ही होती है; अतएव वे आत्मा के उपकारी ही हैं :-

बीजं दु:खैकबीजे वपुषि भवति यस्तर्षसंतानतंत्र -
स्तस्यैवाधानरक्षाद्युपधिषु यतते तन्वती या च मायाम्।
भद्रं ताभ्यां पितृभ्यां भवतु ममतया मद्यवद् धूर्णयद्भ्य:
स्वान्तं स्वेभ्यस्तु बद्धोञ्जलिरयमरय: पापदारा वरं मे।।११७।।

जो तृष्णासंतति के अधीन होकर - निरंतर और बढ़ती हुई गृद्धि के वश में पड़कर जो मेरे इस दु:खों के एकमात्र - असाधारण कारण शरीर के उत्पन्न होने में बीजभूत है उस पिता का कल्याण हो। और इस शरीर के ही धारण - गर्भाधान तथा पालन पोषण और वर्धनादिक उपकरणों में ही जो मिथ्या मोहजाल को बढ़ाती हुई निरंतर प्रयत्न किया करती है उस माता का भी भला हो। ऐसे पिता माता को दूर ही से नमस्कार है जो कि दु:खों के प्रधान हेतु को उत्पन्न करनेवाले और उल्टे उसीके पालन पोषणादिक में मोहित बनानेवाले हैं। क्योंकि समस्त दु:खों का मूल यह पिता माता से उत्पन्न हुआ शरीर ही है, यह बात स्पष्ट है। गुणभद्रस्वामीने भी कहा है - 'सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम्'। मनुष्यों का शरीर ही समस्त आपत्तियों का स्थान है। जिन्होंने उत्तरोत्तर अधिकाधिक तृष्णा-संतति के अधीन हो मेरे लिये यह अनंतदु:खों की खान तैयार की है और उसीके रक्षणादिक की तरफ मुझे प्रवृत्त कर आत्महित से पराङ्मुख कर दिया है ऐसे माता पिता मुझे नहीं चाहिये। किन्तु ऐसे और वैसे क्या, मैं अपने सभी बंधुओं को हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ और चाहता हूँ कि मद्य के समान मोहित करनेवाले ममकार के द्वारा हिताहित के विचार - विवेक को नष्ट कर हृदय को संक्लिष्ट अथवा विघूर्णित कर देनेवाले ये कोई भी बंधुजन मुझे प्राप्त न हो। क्योंकि ये ऐसे अत्यंत दुष्ट हैं जो कि मोहित बनाकर आत्मा को उसके वास्तविक हित से वंचित रखते हैं। इन दुष्टों को धिक्कार है। इनसे तो मेरे शत्रु ही भले, जिनके कि अपकारादिक करने से मेरा उपकार ही होता है। क्योंकि जब वे किसी प्रकार का अपकार करते या मुझको क्लेश देते हैं तो उनके उस व्यवहार से मेरे पूर्वसञ्चित दुष्कर्मों की उदीरणा हो जाती है और फलत: आत्मा का हित ही होता है।

अधर्म में प्रवृत्त कर देनेवाली दूसरों के साथ की गई मित्रता की निंदा करते हैं :-

अधर्मकर्मण्युपकारिणो ये प्रायो जनानां सुहृदो मतास्ते।
स्वान्तर्बहि:संततिकृष्णवर्त्यन्यरंस्त कृष्णे खलु धर्मपुत्र:।।११८।।

प्राय: करके लोगों के मित्र ऐसे ही हुआ करते हैं जो कि उनको अधर्मकर्म -

पाप क्रियाओं में ही प्रवृत्त करते तथा सहायक हुआ करते हैं। देखते हैं कि धर्मपुत्र - युद्धिष्ठिर ने अपनी अंतरंग संतति - निजात्मा के लिये पापकर्म की प्राप्ति के उपायभूत और बहि:संतति - निज कुल के लिये - कृष्णवर्त्मा - अग्नि के समान - कौरव कुल का संहार करनेवाले कृष्ण के साथ प्रीति की थी।

भावार्थ :- जब धर्मपुत्र की विष्णु के साथ की गई मित्रता ने अंतरंग और बहिरंग अहित ही किया तब दूसरे साधारण लोगों की मित्रता का तो कहना ही क्या है। अतएव समस्त पुरुषार्थों के मूल कारण धर्म का जो पुत्र है उसको इस मित्रता पर कभी विश्वास न करना चाहिये। जो अपने धर्म का अनुवर्तन करना चाहते हैं उन्हे उचित है कि अंतरंग - आत्मा और बाह्य - कुलादिक के लिये कृष्णवर्त्मा - पापमार्ग अथवा अग्नि के समान समझकर इस लौकिक मित्रता को दूर ही से छोड़ दें। क्योंकि यह हर प्रकार से कृष्ण - काली ही है।

जो इस लोक में संचय में सहायता करनेवाले हैं वे सब मोह के ही उत्पन्न करनेवाले और बढ़ानेवाले हैं। अतएव उनकी त्याज्यता प्रकट करते हुए पारलौकिक कार्यों के साधन में अवलंब देनेवाले मित्रों का नीचली दशा में - संपूर्ण परिग्रह के छोड़ने की पूर्ण सामर्थ्य न होनेतक अनुसरण करने का उपदेश देते हैं :-

निश्छद्म मेद्यति विपद्यपि संपदीव
यः सोपि मित्रमिह मोहयतीति हेयः।
श्रेयः परत्र तु विबोधयतीति तावच्छक्यो
न यावदसितुं सकलोपि सङ्गः।।११९।।

संपत्ति के समय में स्नेही मित्र बंधु बांधव तथा सहायक बननेवाले तो बहुत हैं। किंतु उनकी यहाँ पर चर्चा नहीं है। क्योंकि ऐसों को संसार में कोई मित्र भी नहीं कहता। परंतु जो व्यक्ति संपत्ति की तरह विपत्ति में भी - अनेक प्रकार के कष्ट उपस्थित होनेपर भी निष्कपटरूप से स्नेह करता और अवलंब देता है उसीको लोक में मित्र कहते हैं। तत्त्वदृष्टि से यह भी आत्मा को मोह ही उत्पन्न करता है। अतएव मुमुक्षुओं के लिये यह भी त्याज्य ही है। फिर भी जबतक समस्त परिग्रह के छोड़ने की सामर्थ्य नहीं है

तबतक उनको ऐसे सन्मित्रों का आश्रय लेना चाहिये जो कि परलोक के विषय में सहायता करनेवाले और आत्मा तथा शरीर के विशिष्ट भेदज्ञान को प्राप्त करानेवाले हैं।

जैसा कि कहा भी है कि :-

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यो मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः।
स चेत् त्यक्तुं न शक्येत कार्यस्तर्ह्यात्मदर्शिभिः।।

मुमुक्षु मुनियों को सङ्ग रखना सर्वथा वर्ज्य है। किंतु जबतक वे उसको सर्वथा नहीं छोड़ सकते तबतक उन्हें आत्मदर्शियों के साथ सङ्ग रखना चाहिये। और भी कहा है कि :-

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः सङ्गस्य भेषजम्।।

वस्तुतः सङ्ग सर्वथा छोड़ देने के ही योग्य है। किन्तु जबतक वह छोड़ा नहीं जा सकता तबतक सत्पुरुषों के साथ वह करना या रखना चाहिये। क्योंकि सत्पुरुष संग की औषध हैं। संगति के निमित्त से जो दोष उत्पन्न होते हैं वे सब सत्पुरुषों के प्रसाद से दूर हो सकते हैं। अतएव वे आत्मकल्याण के सहायक हैं।

अत्यंत भक्तियुक्त भी भृत्य अकृत्य कराने में ही अग्रेसर हो जाता है अतएव वह भी उपादेय नहीं है इस बात को दृष्टांत के द्वारा बताते हैं :-

योतिभक्ततयात्मेति कार्यिभिःकल्प्यतेङ्गवत्।
सोप्यकृत्येग्रणीर्भृत्यः स्याद्रामस्यांजनेयवत्।।१२०।।

जिस प्रकार बहिरात्मबुद्धि मनुष्य अत्यंत श्लिष्ट रहने के कारण शरीर में मोहवश आत्मकल्पना करने लगता है, उसी प्रकार कार्य - स्वार्थ में तत्पर रहनेवाला मनुष्य अतिभक्ति - अत्यंत अनुराग रखने के कारण जिसमें अपनी कल्पना करने लगता है - यह और मैं

दो नहीं हैं - जो यह है सो ही मैं हूँ ऐसा समझने लगता है; ऐसा भी भृत्य अपने स्वामी से, रामचंद्र के हनुमान की तरह से हिंसादि अकृत्य कराने में अग्रणी बन जाता है।

भावार्थ :- लोक में जो स्वामी के प्रति भक्तिवश कार्य का अच्छी तरह संचालन करते हैं उन सेवकों को लोग अपना प्रतिरूप ही समझते हैं। किंतु जब ऐसे स्वामिभक्त भी सेवक समय पर स्वामी के आत्महित के विरुद्ध दुष्कृत्य कराने में प्रधान कारण बन जाते हैं तब अभक्त सेवकों की तो बात ही क्या है। अतएव सेवकनामक चेतन परिग्रह को भी आत्मा का अहितकर ही समझकर मुमुक्षुओं को उसका संग्रह न करना चाहिये।

दासी दास परिग्रह के ग्रहण से भी मन में संताप ही होता है यह बताते हैं -

अतिसंस्तवधृष्टत्वादनिष्टे जाघटीति यत्।
तद्दासीदासमृक्षीव कर्णात्ताः कस्य शान्तये।।१२१।।

जो दासी और दास अत्यंत परिचय हो जाने से ढीठ होकर स्वामी के अनिष्ट - अनभिलषित भी कार्य के करने में पुनः पुनः प्रयत्न किया करते हैं क्या वे किसीको भी सुख या शांति के कारण हो सकते हैं ? कभी नहीं। कान के पासतक पहुँचा हुआ भालू क्या किसीके भी अनिष्ट का निवारण कर सकता है ? अतएव दासीदासपरिग्रह भी अहितकर होने के कारण त्याज्य ही है।

शिष्यों का शासन करने में अथवा उनको शिक्षादिक देने में भी जो कभी कभी क्रोध का उद्भव हो आया करता है उस पर ध्यान दिलाते हैं :-

यः शिष्यते हितं शश्वदन्तेवासी सुपुत्रवत्।
सोप्यन्ते वासिनं कोपं छोपयत्यन्तरान्तरा।।१२२।।

जिस शिष्य को सत्पुत्र की तरह से दिनरात हित - आत्मकल्याण की शिक्षा दिया करते हैं, देखते हैं कि वह भी कभी कभी - बीच बीच में इस चाण्डाल क्रोध का स्पर्श करा दिया करता है।

भावार्थ :- कभी कभी ऐसा भी होता है कि योग्य भी शिष्य गुरु आदि का विनयादिक करने में प्रवृत्त नहीं हुआ करता। ऐसे समय में गुरुजनों को भी कदाचित् क्रोध का उद्भव हो जाता है। जिससे कि उनका अकल्याण ही होता है। अतएव शिष्यपरिग्रह भी साधुओं के लिये असंग्रहणीय है। जिस प्रकार उच्च व उत्तम पुरुष चाण्डाल का स्पर्श नहीं किया करते और न करना चाहते हैं, उस प्रकार साधुजन भी क्रोधादिक का स्पर्श नहीं किया करते और न करना चाहते हैं। किंतु शिष्यादिक का संबंध रहने पर उसका स्पर्श हो जाया करता है। अतएव मुमुक्षुओं के लिये शिष्यपरिग्रह भी त्याज्य ही है।

चतुष्पद परिग्रह का निषेध करते हैं :-

द्विपदैरथ सत्संगश्चेत् किं तर्हि चतुष्पदैः।
तिक्तमप्यामसन्नाग्नेर्नायुष्यं किं पुनर्घृतम्।।१२३।।

जब द्विपदों - मनुष्यादिकों के साथ किया गया भी संग - संसर्ग असत् - अप्रशस्त - अत्यंत अपाय का ही कारण माना है या होता है तो चतुष्पदों का तो कहना ही क्या है। इन हाथी घोडे आदिकों का संसर्ग तो सुतरां दु:ख का ही कारण होगा। दूषित और अपक्वरस के द्वारा जिसकी औदर्यअग्नि अभिभूत हो गई है ऐसे मनुष्य को जब तिक्तद्रव्य - चिरायता नींब आदि भी आयुर्वर्धक जीवन की स्थिरता के कारण अथवा स्वास्थ्यकर नहीं हो सकते तो घी का तो फिर कहना ही क्या है। क्योंकि तिक्तद्रव्य स्वभाव से ही आम का पाचक है। जब उसीसे किसी आमदूषित व्यक्ति को स्वास्थ्य लाभ नहीं हो सकता तो घी से जो कि स्निग्ध शीत होने के कारण उल्टा आमदोष का वर्धक है पथ्यलाभ हो ही किस तरह सकता है।

भावार्थ :- द्विपदपरिग्रह के दोष पहले बता चुके हैं। जब दो पैरवालों में इतने दोष हैं तो चार पैरवालों में कितने होंगे सो अच्छी तरह समझ में आ सकता है अतएव द्विपदों की अपेक्षा चतुष्पदों को दूना - बहुतर दु:खकर समझकर मुमुक्षुओं को दूर ही से छोड़ देना चाहिये।

अचेतनपरिग्रह की अपेक्षा चेतनपरिग्रह अधिक बाधा देनेवाला है यह बात बताते हैं :-

यौनमौखादिसंबंधद्वारेणाविश्य मानसम्।
यया परिग्रहश्चित्त्वान् मथ्नाति न तथेतरः।।१२४।।

योनि की अपेक्षा अथवा मुखादिक की अपेक्षा से होनेवाले संबंध के द्वारा जिस प्रकार चेतनपरिग्रह मनुष्य के मन में प्रवेश कर - उसके हृदय को अच्छी तरह आक्रांत कर पीड़ित किया करता है वैसा अचेतनपरिग्रह नहीं करता।

भावार्थ :- सहोदर बहिन भाई आदि का जो संबंध है वह योनि की अपेक्षा से है और शिष्य तथा साध्यायी आदि का जो संबंध है वह मुख की अपेक्षा से है। इसी प्रकार जन्यजनक पोष्यपोषक भोज्यभोक्तृत्त्व आदि और भी अनेक संबंध हैं। चेतनपरिग्रह के हृदय तक पहुँचने का द्वार - उसमें ममत्वोत्पत्ति का कारण यह संबंध ही है। जबतक यह द्वार खुला हुआ है तबतक जैसा चेतनपरिग्रह स्वयं हृदय तक पहुँचकर उसको पीड़ित कर सकता है या किया करता है वैसा अचेतनपरिग्रह नहीं कर सकता। यही कारण है कि यहाँ पर चेतन के बाद अचेतन परिग्रह का निर्देश किया है। क्योंकि प्राय: जिस पदार्थ से जितना अधिक या निकट संबंध होगा वह पदार्थ उतना ही अधिक आत्मा को पीड़ित करेगा और जितना दूर होगा वह उतना ही कम क्लेश उत्पन्न करेगा। जीव का जैसा चेतनपरिग्रहों के साथ साक्षात् संबंध होता है वैसा अचेतनपरिग्रह के साथ नहीं। अचेतन के साथ परंपरा संबंध रहता है। अतएव चेतन की अपेक्षा अचेतन परिग्रह कम बाधा दिया करता है।

चेतनपरिग्रह के दोषों का निरूपण करके क्रमानुसार अचेतनपरिग्रह के दोषों को दश पद्यों में बताना चाहते हैं। जिसमें सबसे पहले घर के दोष दिखाते हैं। क्योंकि और बाकी के दोषों का स्थान यह घर ही है :-

पञ्चशूनाद् गृहाच्छून्यं वरं संवेगिनां वनम्।
पूर्वं हि लब्धलोपार्थमलब्धप्राप्तये परम्।।१२५।।

गृहस्थाश्रम में जो अवश्य ही करने पड़ते हैं ऐसे हिंसा के साधनभूत या स्थान अवद्य कर्मों को शूना कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं - उखली, चक्की, चूल, जल, बुहारी।

इन्ही कर्मों के कारण मनुष्य गृहस्थ कहाता और पूर्णतया मोक्षमार्ग पर नहीं चल सकता। तथा इनके न रहते हुए मोक्ष प्राप्त कर सकता है यथा :-

'खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी।
पञ्चशुना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति।।'

अतएव जो संवेगी - संसार से भीरु और मोक्ष के अभिलाषी हैं उनके लिये इन पाँचों अवद्य कर्मों से पूर्ण घर की अपेक्षा, शून्य वन अच्छा। क्योंकि यद्यपि वह विविक्त स्थान हैं किन्तु हिंसा का स्थान तो नहीं है। और इसके सिवाय इस घर में रहने से तो प्राप्त भी संवेग नष्ट हो जाता है। किन्तु उस वन में रहने से संवेगी का संवेग बढ़ता है। इतना ही नहीं किन्तु अलब्ध जो अभीतक उन्हें कभी प्राप्त नहीं हो सका है ऐसा शुद्धात्मतत्त्व प्राप्त हो जाता है।

गृहकार्य में जो निरंतर विशेषरूप से आसक्त रहनेवाले हैं उन्हें जो निरंतर दुःख प्राप्त हुआ करते हैं उन पर अपशोच प्रकट करते हैं :-

विवेकशक्तिवैकल्याद् गृहद्वन्द्वनिषद्वरे।
मग्नः सीदत्यहो लोकः शोकहर्षभ्रमाकुलः।।१२६।।

जिससे हिताहित का विवेचन किया जा सकता है ऐसी विवेकशक्ति से विकल रहने के कारण हाय ये बहिर्दृष्टि लोक गृहस्थाश्रम के कार्यकलाप के झगडेरूपी कर्दम में फँसकर शोक और हर्ष के चक्कर से व्याकुल हुए व्यर्थ ही खेद को प्राप्त हो रहे हैं।

भावार्थ :- जिस प्रकार कीच में फँसा हुआ कोई आदमी सामर्थ्य का प्रतिबंध हो जाने से अपने को उसमें से अलग न कर सकने पर दुःखी हुआ करता है उसी प्रकार गृहस्थाश्रम में फँसा हुआ मनुष्य जिसके द्वारा वह उससे अपने को पृथक् कर सकता है ऐसी विवेकशक्ति का प्रतिबंध हो जानेपर उसमें फँसा हुआ ही खिन्न - संक्लिष्ट रहा करता है। क्योंकि वह शोक हर्ष के परिवर्तन से व्याकुल हो जाता है अथवा हर्ष विषाद और भ्रम से उसका चित्त अस्थिर हो जाता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

रतेररतिमायातः पुना रतिमुपागतः।
तृतीयं पदमप्राप्य बालिशो बत सीदति।।

ये अज्ञानी प्राणी रति के बाद अरति और अरति के बाद पुनः रति को प्राप्त होकर जो व्यर्थ ही क्लेश भोग रहे हैं उसका कारण यही है कि इन दोनों के चक्कर में पड़कर इन्होंने अभीतक तीसरे पद को प्राप्त नहीं किया है। रागद्वेष से रहित उपेक्षातत्त्व - वीतराग अवस्था को ये अभीतक प्राप्त नहीं कर सके हैं।

अथवा :-

वासनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि।।

प्राणियों के लिये यह सुख हैं और यह दुःख है यह केवल वासना - कल्पना ही है - विषयों को सुखकर या दुःखकर समझना भ्रम ही है; क्योंकि, देखते हैं कि आपत्तिमें ये सभी भोग रोगों की तरह से प्राणियों को उद्विग्न - पीड़ित किया करते हैं।

क्षेत्रपरिग्रह के दोष बताते हैं :-

क्षेत्रं क्षेत्रभृतां क्षेममाक्षेत्रज्ञं मृषा न चेत्।
अन्यथा दुर्गतेः पन्था बह्वारम्भानुबन्धनात्।।१२७।।

क्षेत्रज्ञ कोई पदार्थ नहीं है इस सिद्धांत को आक्षेत्रज्ञ कहते हैं। क्षेत्रज्ञ नाम आत्मा का है। क्योंकि क्षेत्र शब्द का अर्थ शरीर होता है और उसके अनुभव करनेवाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। बौद्धौं का सिद्धांत है कि 'जीव नाम का कोई भी पदार्थ नहीं है'। इसी प्रकार चार्वाकों का सिद्धांत है कि 'गर्भ से लेकर मरण तक ही जीव रहता है आगे नहीं' इन दोनों ही सिद्धांतो को आक्षेत्रज्ञ कहते हैं। इस प्रकार बौद्धों का नैरात्म्यवाद यद्यपि कल्पित है किन्तु यदि वह असत्य न होता तथा चार्वाकों का भी आक्षेत्रज्ञ सिद्धांत

कल्पित नहीं होता तो संसारी शरीरधारियों के लिये यह क्षेत्र - धान्यादिक के उत्पन्न होने का स्थान भी जरूर ही ऐहिक सुख संपत्तियों को उत्पन्न कर कल्याण का कारण हो जाता। किन्तु यदि यह बात नहीं है और ये युक्त दोनों ही सिद्धांत मिथ्या हैं तथा जीव पदार्थ शाश्वत् रहनेवाला है तब तो इस क्षेत्रपरिग्रह को नरकादिक दुर्गतियों का ही कारण समझना चाहिये। क्योंकि इसके विषय में अनेक प्रकार का बहुत सा आरंभ पुनः पुनः करना पड़ता है जिससे कि षट्कायिक जीवों का घात ही होता हैं। खेत के जोतने सींचने निराने काटने आदि में जो पापकर्मों का अनुबंध होता है और उससे हिंसा होती है उसीके निमित्त से प्राणियों को दुर्गतियों का भोग करना पड़ता है।

कुप्यादिक परिग्रहों के निमित्त से जो मनुष्य में औद्वत्य आ जाता है अथवा उसको आशाओं का अनुबंधन हुआ करता है उसको बताते हैं :-

यः कुप्यधान्यशयनासनयानभाण्ड, -
काण्डैकडम्बरिताण्डवकर्मकाण्डः।
वैतण्डिको भवति पुण्यजनेश्वरेपि,
तं मानसोर्मिजटिलोज्झति नोत्तराशाः।।१२८।।

कुप्य धान्य शयन आसन यान और भाण्ड इन परिग्रहों के संघात - समूह से अपने ताण्डव कर्मकाण्ड को प्रकृष्टतया आडम्बर युक्त बनानेवाला जो व्यक्ति धन और ऋद्धियों के अधीश्वर - कुबेर का भी उपहास करने लगता है उस व्यक्ति को नाना विकल्पजालों से अन्वित उत्तराशा भविष्यत् विषयों के लिये बढ़ती हुई तीव्र अभिलाषा छोड़ नहीं सकती।

भावार्थ :- जो पुरुष अपनी धनसंपत्ति के गर्व से उत्तरदिशा के अधिपति कुबेर का तिरस्कार कर देता है या करना चाहता है वह मानसरोवर की लहरियों से पूर्ण उत्तरदिशा को भला किस तरह छोड़ सकता है। वह अवश्य ही कैलास के साथ साथ उत्तर दिशाको भी अधिगत करना चाहता है। इसी प्रकार कुप्यादिक परिग्रहों के निमित्त से जिसको अभिमान जागृत हो गया है और इसीलिये जो उन्ही के आडम्बर बढ़ाने में लीन रहता है वह व्यक्ति दूसरे बड़े बड़े संपत्तिशालियों को भी अपने सामने तुच्छ समझने लगता है और इस तरह से उनका उपहास किया करता है जैसे कि निरंतर ताण्डवनृत्य की

विचित्रता दिखाने के लिये अभिनय करनेवाले नट का बड़े - बड़े शिष्ट पुरुष भी उपहास किया करते है। अथवा उपहास करने के लिये ही - यह दिखाने के लिये कि मेरी बराबर ऋद्धि पर कोई भी नहीं हैं; वह परिग्रहों का आडंबर बढ़ाता है क्या ऐसे पुरुष को कभी भी अनेक चिंताओं के जाल से युक्त अभिलाषाएँ छोड़ सकती है ? कभी नहीं वह दिनरात भविष्यत् - अर्थ को प्राप्त करने की आशा से चिंतित ही रहा करता है। उसको कुप्य धान्य शयन आसन यानादिक के संग्रह करने की चिंता लगी ही रहती है।

इस प्रकार इन परिग्रहों के निमित्त से अभिमान उत्पन्न होता और दूसरों को तुच्छ समझने की बुद्धि जागृत होती तथा उनका आडंबर बढ़ाने की चिंताओं से संक्लेश परिणाम उत्पन्न हुआ करते हैं।

सोना और चांदी को छोड़कर बाकी की धातुओं अथवा वस्त्रादिक द्रव्यों को कुप्य कहते हैं। गेंहू चावल आदि अन्न को धान्य कहते हैं। पलंग पालना आरामकुर्सी आदि सोने के साधनों को [१]शयन कहते हैं। मूंढा तख्त पट्टा सिंहासन कुर्सी बेंच आदि बैठने के साधनों को [२]आसन कहते हैं। पालकी पीनस तापझाम विमान आदि बैठकर जाने के साधनों को यान कहते हैं। हींग मजीठ आदि मसाले अथवा किराने के सामान को भाण्ड कहते हैं।

धन में गृद्धि रखनेवाले पुरुष की महापापों में भी प्रवृत्ति होती है
यह बताते हैं :-

जन्तून् हन्त्याह मृषा चरति चुरां ग्राम्यधर्ममाद्रियते।
खादत्यखाद्यमपि धिग् धनं धनायन् पिबत्यपेयमपि।।१२९।।

ग्राम सुवर्ण आदिक धन की अभिकांक्षा - तीव्र गृद्धि रखनेवाला मनुष्य क्या क्या

---

१ - २ वस्तुतः इन शब्दों का अर्थ ऐसा होता है कि जिस पर सोया जाय सो शयन और जिस पर बैठा जाय सो आसन। अतएव भूमि या पत्थर की शिला को भी शयन आसन कह सकते हैं।

अनर्थ नहीं करता ? वह उनको प्राप्त करने की अभिलाषा से महान् से महान् पापकर्म में भी प्रवृत्ति करने लगता है। प्राणिवध असत्यभाषण और चौरकर्म का आचरण करता, ग्राम्यधर्म - मैथुन का भी सेवन करता, सर्वथा अभक्ष्य काकमांसादिक का भी भक्षण करने लगता और उच्चवर्ण तथा प्रशस्त कुल में जिसका पीना सर्वथा निषिद्ध है ऐसे मद्यादिक का भी पान करने लगता है। जिस धन की लिप्सा से मनुष्य की इन हिंसा झूठ चोरी आदि सभी दुष्कर्मों में प्रवृत्ति होने लगती है उस धन को अथवा गृद्धिवश इन महापापों में प्रवृत्ति करनेवाले मनुष्य को धिक्कार है। मुमुक्षुओं को यह धन परिग्रह महापाप का ही कारण समझकर दूर ही से छोड़ देना चाहिये।

भूमि में लुब्ध हुए पुरुष के जो अपाय और अवद्य - निन्द्यकर्म होते हैं उनको दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं :-

तत्तादृग्साम्राज्यश्रियं भजन्नपि महीलवं लिप्सुः।
भरतोऽवरजेन जितो दुरभिनिविष्टः सतामिष्टः।।१३०।।

उस प्रसिद्ध और लोकोत्तर साम्राज्यलक्ष्मी - समस्त चक्रवर्ती की विभूति को भोगते हुए भी जब प्रथम चक्रवर्ती भरत ने पृथ्वी के एक छोटे से हिस्से - केवल सुरम्यनाम के देश को अपने छोटे भाई बाहुबलिकुमार से लेकर अपने हस्तगत करना चाहा उस समय उस कुमार से वह परिभव को ही प्राप्त हुआ और सत्पुरुषोंने भी उसको दुरभिनिवेश युक्त ही समझा।

भावार्थ :- नीतिमार्ग को प्राप्त न करके केवल दूसरों का परिभव करने के ही परिणामों से जो कार्य का आरंभ किया जाता है उसको दुरभिनिवेश कहते हैं। भरत जब समस्त पृथ्वी का उपभोग कर रहा था तब उसको अपने छोटे भाई से वह जरासा भूमिखण्ड भी छीन लेने का आग्रह करना उचित नहीं था। फिर भी नीतिमार्ग का अनुसरण न करके केवल बाहुबली को जीत लेने के ही अभिप्राय से जो उसने युद्ध का आरंभ किया वह उसका दुरभिनिवेश ही था। यह उसकी निंद्यकर्म में प्रवृत्ति केवल भूमि के लोभवश ही हुई। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह अपने उस छोटे भाई से युद्ध में पराभूत हुआ और जगत् में निंदा का पात्र बना।

धन मनुष्य में दीन वचन निर्दयता कृपणता तथा अनवस्थित चित्तता आदि दोषों का उत्पन्न करनेवाला है अतएव इन दोषों की अपेक्षा से धन की निंदा करते हैं :-

श्रीमैरेयजुषां पुरश्चटुपटुर्देहीति ही भाषते,
देहीत्युक्तिहतेषु मुञ्चति हहा नास्तीतिवाग्घ्रादिनीम्।
तीर्थेपि व्ययमात्मनो वधमभिप्रैतीति कर्तव्यता, -
चिन्तां चान्वयते यदभ्यमितधीस्तेभ्यो धनेभ्यो नमः।।१३१।।

धन के द्वारा आतङ्कको प्राप्त हो गई है बुद्धि जिसकी ऐसा मनुष्य हाय मद मोह स्खलन आदि को उत्पन्न करनेवाली लक्ष्मीरूपी मदिरा का सेवन करनेवाले धनिकों के सामने खुशामद भरे शब्दों के बोलने में अति चतुर बनकर 'कुछ दो' इन दीन शब्दों के बोलने में भी संकोच नहीं करता हैं। तथा 'दो' इस अति दीन शब्द का उच्चारण करते ही जो स्वयं आहत हो चुके हैं - प्रायः मर चुके हैं उन पर हाय हाय यह धन से आतङ्कितबुद्धि मनुष्य 'यहाँ कुछ नहीं है' ऐसा वचनरूपी वज्र ऊपर से और भी पटक देता है। इसी प्रकार यह धन में लोलुपता रखनेवाला मनुष्य, औरों की तो बात क्या, तीर्थों में भी हो जानेवाले या किये गये व्यय को अपना मरण मानने लगता है। धर्म के आयतन अथवा कार्य के साधक पुरुषों को तीर्थ कहते हैं। अतएव तीर्थ दो प्रकार के हैं। एक धर्मसमवायी, दूसरे कार्यसमवायी। इन दोनों ही प्रकार के तीर्थों में यदि द्रव्य का विनियोग हो जाय तो वह कंजूस समझता है कि हाय मैं तो मर गया - मेरा धनरूपी प्राण तो निकल ही गया। तथा इसी प्रकार धन की गृद्धि से आकुलित रहनेवाला व्यक्ति निरंतर इतिकर्तव्यता की चिंताओं से ग्रस्त रहा करता है। मुझको यह कार्य इस प्रकार से करना है और यह इस प्रकार से करना है तथा इसके बाद अमुक कार्य करूंगा और उसके बाद अमुक कार्य करूंगा और उसको उस तरह से करूंगा आदि अनेक प्रकार की तर्कणाएँ धनलुब्ध पुरुष के पीछे लगी ही रहती हैं।

भावार्थ :- धन का लोभी पुरुष दिनरात चिंताओं से संक्लिष्ट रहता और उसका संचय करने में ही लगा रहता है। वह सत्पात्रोंमें भी उसका विनियोग करना नहीं चाहता। यदि कदाचित् कोई अर्थी याचना करने आता भी है तो उसके ऊपर निषेधसूचक शब्द

कहकर वह वज्र पटक देता है। गृद्धिवश जो याचना करने में प्रवृत्त होता है वह स्वयं अधमरा हो जाता है, यथा :-

गतेर्भङ्गः स्वरो दीनो गात्रस्वेदो महद्भयम्।
मरणे यानि चिन्हानि तानि चिन्हानि याचने।।

गति में स्खलन होना, स्वर में दीनता आ जाना, शरीर में पसीना छूटना, और महान् भय का उत्पन्न होना आदि जो जो चिन्ह मरते समय होते हैं वे ही चिन्ह याचना के समय में भी हुआ करते हैं। किन्तु इस पर भी जो लोग अर्थियों को निषेध कर देते हैं उनकी गृद्धि का तो ठिकाना ही क्या है। इस प्रकार धन के निमित्त से और अनेक दोषों के सिवाय दैन्यभाषण निर्दयता कृपणता और अनवस्थितचित्तता ये चार महान् दोष भी उत्पन्न हुआ करते हैं।

धन के संचय रक्षण आदि करने में तीव्र दुःख ही उत्पन्न होता है अतएव उसकी प्राप्ति के लिये उद्यम करने का निषेध करते हैं :-

यत्पृक्तं कथमप्युपार्ज्य विधुराद्रक्षन्नरस्त्याजितः,
खे पक्षीव पलं तदर्थिभिरलं दुःखायते मृत्युवत्।
तल्लाभे गुणपुण्डरीकमिहिकावस्कन्दलोभोद्भव, -
प्रागल्भीपरमाणुतोलितजगत्युत्तिष्ठते कः सुधीः।।१३२।।

किसी तरह से एक मांस के टुकडे को पाकर उसकी विघ्न बाधाओं से रक्षा करते हुए पक्षी को यदि दूसरे फलार्थी पक्षी आकाश में उससे वियुक्त कर दें - उससे वह मांस का टुकडा छुडा दें तो उसको जिस प्रकार मृत्यु के समान अत्यंत दुःख होता है इसी प्रकार जो मनुष्य धन में तीव्र गृद्धि रखनेवाला और अत्यंत कष्टों से किसी प्रकार धन का संचय करके उसकी अपायों से तथा कठिनता के साथ रक्षा कर रहा है। यह कष्ट से संचित किया हुआ धन किसी प्रकार नष्ट न हो जाय, चोरी में न चला जाय, अथवा किसी प्रकार खर्च न हो जाय इत्यादि अनेक अपायों के विषय में निरंतर सावधानी

रखता है उस मनुष्य को यदि उस धन के अर्थी याचक या बंधुबांधव कदाचित् उससे वियुक्त कर दें - उससे ले लें या कहीं त्याग - दानादिक करा दें तो उस लुब्ध को ऐसा तीव्र दु:ख होता है जैसा कि मृत्यु के समय - प्राणों का वियोग होनेपर हुआ करता है। यह धन का संचय जिस लोभकर्म चतुर्थ कषाय के उदय से मनुष्य किया करता है वह पुण्डरीक - श्वेतकमल के समान हृदय को आह्लादित करनेवाले सम्यग्दर्शन प्रभृति प्रशस्त गुणों के लिये तुषार वर्षा के समान है। इस लोभोदय की प्रकृष्टता - निरंकुश प्रवृत्ति के कारण ही जीव समस्त जगत् की - स्थावर जंगम संपत्ति के समूहरूप संपूर्ण लोक की भी [१]परमाणु से तुलना करने लगता है। तीन लोक की संपत्ति का भी गृद्धिवश अणुतुल्य ही समझता और इसीलिये उसके अर्जन, रक्षण में निरंतर लगा रहकर क्लेशों को ही उठाया करता हैं। अतएव कहना पड़ता है कि ऐसा कौन मुमुक्षु अथवा विचार कुशल पुरुष होगा जो कि ऐसे लोभ के उदय से प्राप्त होनेवाले दु:खकर धन का संचय करने के लिये उद्यम करे।

भावार्थ :- धन का अर्जन और रक्षण करने में मनुष्यों को तीव्र क्लेश ही उठाना पड़ता है अतएव उसकी प्राप्ति के लिये उद्यम करना व्यर्थ है।

बहिर्दृष्टि मनुष्यों को धन के अर्जन और भोजन से ऐसा उन्माद होता है जिससे कि वे नि:शंक होकर पापकर्म करने में प्रवृत्त होते और मैथुन का भी सेवन करने लगते हैं। इन्ही धन और भोजनसंबंधी दोषों को यहाँ प्रकट करते हैं :-

धनादन्नं तस्मादसव इति देहात्ममतयो,
मनुं मन्या लब्धुं धनमधमशङ्का विदधते।
वृषस्यन्ति स्त्रीरप्यदयमशनोद्भिन्नमदना,
धनस्त्रीरागो वा ज्वलयति कुजानप्यमनस:।।१३३।।

'संपूर्ण जीवों के प्राणों की स्थिति अन्न से ही रह सकती है। भोजन के विना कोई भी प्राणों को स्थिर नहीं रख सकता। किंतु अन्न - भोजन भी प्राप्त होना धन पर निर्भर

१ - आशागर्त: प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमं। कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता।।

है। अतएव समस्त लोक और उसके व्यवहार का मूल धन ही है'। बस, ऐसा समझकर ही बहिर्दृष्टि लोक शरीर को ही आत्मा समझनेवाले विपरीतबुद्धि जन अपने को मनु - लोकव्यवहार के उपदेष्टा कुलकर मानने लगते और धन का उपार्जन करने के लिये निःशंक परलोकादिक के भय से रहित होकर पापकर्मों में भी प्रवृत्ति करने लगते हैं। और उन्होंने जिसको धन का फल समझ रक्खा है ऐसै भोजन के करने पर जब उनके तीव्ररूप से कामदेव का उद्रेक होता है तब निर्दय होकर स्त्रियों में पशुकर्म - रति करने के लिये प्रवृत्त होते हैं। अथवा यह बात ठीक भी है; क्योंकि देखते हैं कि अमनस्क वृक्षों को भी यह धन और स्त्री का राग जलाया करता है - धन का स्वीकार करने के लिये और स्त्रियों के साथ प्रविचार करने के लिये उद्युक्त किया करता है। जैसा कि नीति में भी कहा है कि 'अर्थेषूपभोगरहितास्तरवोऽपि साभिलाषाः किं पुनर्मनुष्याः'। अर्थात् उपभोग रहित वृक्ष भी जब धन में अभिलाषा रखते हैं तब मनुष्यों की तो बात ही क्या है। ऐसा भी देखते हैं कि यदि किसी वृक्ष के मूल के पास धन गाढ दिया जाय तो उसको वृक्ष की जटाएँ वेष्टित कर लिया करती हैं अथवा उधर को ही जड़े अधिक बढ़ा करती हैं। इसी प्रकार कामिनियों के लिवना की अभिलाषा तो अशोकादिक वृक्षों में अच्छी तरह प्रसिद्ध ही है, जैसा कि कहा भी है कि :-

सन्नूपुरालक्तकपादताडितो द्रुमोपि यासां विकसत्यचेतनः।
तदङ्गसंस्पर्शरसद्रवीकृतो विलीयते यन्न नरस्तदद्भुतम्।।

जिन स्त्रियों के सुंदर नूपुर और महाबर से युक्त पैर से ताड़ित होते ही अचेतन वृक्ष भी विकसित हो उठता है - खिल जाता है उन्ही स्त्रियों के शरीरस्पर्श से रस के पिघलाये जानेपर भी मनुष्य विलीन न हो तो यह आश्चर्य की बात है।

और भी कहा है कि :-

यासां सीमन्तिनीनां कुरबकतिलकांशोकमाकन्दवृक्षाः,
प्राप्योच्चैर्विक्रियन्ते ललितभुजलतालिङ्गनादीन्विलासान्।
तासां पूर्णेन्दुगौरं मुखकमलमलं वीक्ष्य लीलालसाढ्यं
को योगी यस्तदानीं कलयति कुशलो मानसं निर्विकारम्।।

जिन सीमन्तिनियों के मनोज्ञ भुजलताओं के आलिंगन प्रभृति विलासों को पाकर कुरबक तिलक अशोक और माकन्दवृक्ष भी अच्छी तरह से विकार को प्राप्त हो जाते हैं उनके लीलारस से भरे हुए और पूर्ण चंद्रमा के समान गौरमुख कमल को अच्छी तरह देखकर ऐसा कौनसा कुशल योगी है जो कि अपने मन को निर्विकार प्रकाशित कर सके या रख सके।

उक्त गृहादिक परिग्रहों में लगी हुई ममत्व बुद्धिरूप मूर्च्छा के निमित्त से आये हुए और उसके रक्षणादि के द्वारा संगृहित पापकर्म अत्यंत दुर्जर है - वे बड़ी ही कठिनता से आत्मा से संबंध छोड़ते हैं, इस बात को प्रकट कहते हैं :-

तद्गेहाद्युपधौ ममेदमिति संकल्पेन रक्षार्जना, -
संस्कारादिदुरीहितव्यतिकरे हिंसादिषु व्यासजन्।
दुःखोद्गारभरेषु रागविधुरप्रज्ञः किमप्याहर, -
त्यंहो यत्प्रखरेपि जन्मदहने कष्टं चिराज्जीर्यति।।१३४।।

गृहादिकों में लगी हुई तृष्णा के कारण अंधी या विपर्यस्त हो गई है प्रज्ञा - बुद्धि जिसकी ऐसे गृहस्थ के जो उन गृह क्षेत्रादिक उपधियों - परिग्रहों में 'ये मेरे हैं' ऐसा संकल्प लगा रहता है उसके कारण ही वह उनके रक्षण अर्जन तथा संस्कारादिके करने में निरंतर पुनः पुनः दुश्चेष्टाएँ किया करता है। यदि ये परिग्रह - गृहादिक पहले से पास में होते हैं तब तो ये नष्ट न हो जाय या अपने हाथ से चले न जाय इस बात की सावधानी रखता है। और यदि पहले से प्राप्त नहीं होते तो उनके प्राप्त करने के लिये प्रयत्न किया करता है। तथा प्राप्त हो जानेपर अनेक प्रकार से उनका संस्कार किया करता है। कभी झाडता कभी सींचता कभी लीपता कभी पीतता और कभी उनकी मरम्मत करता है। इस प्रकार सदा उनके सह्मालने में ही लगा रहता है। और इन क्रियाओं के पुनः पुनः करने में जो दुःखों के उद्गार से अच्छी तरह भरे हुए हिंसादिक कर्म होते हैं उनमें अच्छी तरह और नाना प्रकार से आसक्त होकर उस अनिर्वचनीय पाप का संचय करता है जो कि अत्यंत तीक्ष्ण भी संसाररूप अग्नि में बड़ी ही कठिनता से और चिरकाल में जाकर दग्ध हो सकता है। घोर नरकादिक दुर्गतियों के दुःखों का

अनुभव कराके ही वे आत्मा से विच्छिन्न होते हैं।

चेतन और अचेतन परिग्रहों में जो रागद्वेष का संबंध लगा हुआ हैं वही अनादिकालीन अविद्या - अज्ञान का कारण है। फिर भी जो मनुष्य उन रागद्वेषों में ही प्रवृत्ति करता है उसके जो पुनः पुनः कर्मों का बंध हुआ करता है उसका तिरस्कारपूर्वक निर्देश करते हैं :-

आसंसारमविद्यया चलसुखाभासानुबद्धाशयाः,
नित्यानन्दसुधामयस्वसमयस्पर्शच्छिदभ्यासया।
इष्टानिष्टविकल्पजालजटिलेष्वर्थेषु विस्फारितः,
क्रामन् रत्यरती मुहुर्मुहुरहो बाबध्यते कर्मभिः।।१३५।।

जीवों के अविद्या - अज्ञान या विपर्यस्त बुद्धि जब से संसार है तभी से - अनादिकाल से लगी हुई है। इसके अभ्यास निकट में रहने से मनुष्यों को नित्य - सदातन आनंद - प्रमोद या सुखानुभवरूपी सुधा - अमृत से मधुर शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति तनिक भी नहीं होती। यह अविद्या नित्य एवं वास्तविक आत्मिकसुख का अनुभव जीवों को अंशरूप में भी नहीं होने देती। किंतु इसके ठीक विपरीत चल - क्षणिक अथवा अनित्य सुखाभासों - इन्द्रियों के विषयों अथवा आत्मा से सर्वथा पर पदार्थों के साथ उन जीवों की आशा - तृष्णा को संयुक्त कर देती है। इसके निमित्त से ही संसारीजीव आत्मिकसुख से पराङ्मुख हुए इन्द्रियजनित विषयों अथवा उसके साधनभूत परिग्रहों में सुख की भावना से तृष्णान्वित हुआ करते हैं। और यह विपर्यस्त ज्ञान ही संसार के चेतन और अचेतन पदार्थों में जो कि वस्तुतः न इष्ट हैं और न अनिष्ट हैं उनमें इष्टानिष्ट बुद्धि उत्पन्न कराता है। क्योंकि इसके प्रसाद से ही जीव किसी पदार्थ को इष्ट और किसीको अनिष्ट समझने लगता है। जिनको इष्ट समझता है उनको प्राप्त करने के लिये और जो प्राप्त हों तो उनका सदा संयोग बना रहने के लिये निरंतर चिंता किया करता है। और इसी प्रकार जिनको अनिष्ट समझता है उनकी सदा अप्राप्ति के लिये हमेशह संकल्प विकल्प किया करता है। यह अज्ञान इन्हीं विकल्पजालों से जटिल उक्त चेतन और अचेतन पदार्थों में प्रयत्नावेश को प्राप्त होने के लिये जीवों को प्रेरित किया करता है। विकल्प जाल के विषयभूत इष्टानिष्ट पदार्थों की क्रम से प्राप्ति और अप्राप्ति के लिये प्रयत्न करते रहने की प्रेरणा

किया करता है। जिससे कि प्रेरित हुआ यह जीव अहो बार बार रागद्वेषरूप परिणत होता और ज्ञानावरणादिक कर्मों से पुनः पुनः बंध को प्राप्त होता है।

भावार्थ :- बंध का कारण रागद्वेष है। चेतन और अचेतन परिग्रह के निमित्त से हमेशह रागद्वेष हुआ करते हैं। अतएव परिग्रही जीव के कर्मों का संचय भी प्रतिक्षण हुआ करता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

कादाचित्को बन्धः क्रोधादेः कर्मणः सदा सङ्गात्।
नातः क्वापि कदाचित् परिग्रहग्रहवतां सिद्धिः।।

क्रोधादिक के निमित्त से कदाचित् बंध हुआ करता है किंतु परिग्रह के निमित्त से सदा ही हुआ करता है। यही कारण है कि जो परिग्रहरूपी ग्रह से आविष्ट हैं उनकी कहीं भी और कभी भी सिद्धि - मुक्ति नहीं हो सकती।

यह मोहकर्म इतना प्रबल है कि असमय में काललब्धि के विना तत्त्वज्ञानियों के लिये भी जिसका जितना अत्यंत कष्टसाध्य है। इसी बात पर विचार करते हैं :-

महतामप्यहो महोग्रहः कोप्यनवग्रहः।
ग्राहयत्यस्वमस्वांश्च योऽहंममधिया हठात्।।१३६।।

मोह - चारित्रमोहनीयकर्म ग्रह के समान है। जिस प्रकार ग्रह के निमित्त से जीव विविध प्रकार की कुचेष्टाएँ किया करता है उसी प्रकार इसके निमित्त से भी जीव अनेक प्रकार के विकारों को प्राप्त होकर दुर्व्यवहार किया करता है। यह इतना दुर्निवार या चिर - आवेशरूप है कि जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता। आश्चर्य है कि यह बड़े महापुरुषों को भी पर और परकीय पदार्थों में क्रम से अहंबुद्धि और ममबुद्धि के द्वारा जबर्दस्ती विपरीत ग्रह करा देता है।

भावार्थ :- दूसरे साधारण व्यक्तियों की बात क्या, छद्मस्थ गृहस्थ अवस्था में अवस्थित तीर्थंकर प्रभृति व्यक्ति भी जो कि तत्त्वस्वरूप को भले प्रकार जानते हैं इसके वश में होकर अन्यथा व्यवहार करने लगते हैं। जो निजात्म स्वरूप नहीं है ऐसै शरीरादिक में

'मैं' इस तरह से और अनात्मीय स्त्री पुत्र गृहादिक परिग्रहों में 'ये मेरे हैं' इस तरह से समझकर व्यवहार करने लगते हैं।

यद्यपि अपकार करनेवाला यह चारित्रमोहनीय ही हैं फिर भी इसका उच्छेद करने के लिये विद्वानों को प्रयत्न काललब्धि के विषय में ही करना चाहिये। ऐसी शिक्षा देते हैं :-

दुःखानुबन्धैकपरानरातीन्
समूलमुन्मूल्य परं प्रतप्स्यन्।
को वा विना कालमरेः ग्रहन्तुं
धीरो व्यवस्यत्यपराध्यतोपि।।१३७।।

केवल दुःखों के देने में ही तत्पर रहनेवाले या प्रधान कारणभूत मिथ्यात्वादिक शत्रुओं का समूल उन्मूलन कर - संवर के साथ साथ निर्जरा - एकदेश क्षय करके उत्कृष्टतया तप करने की इच्छा रखनेवाला ऐसा कौन धीर होगा जो कि अपना अपराध - अपकार करनेवाले भी कर्मशत्रु - चारित्रमोहनीय का नाश करने के लिये काल की अपेक्षा किये विना ही उद्युक्त उत्साहित हो।

भावार्थ :- यह बात लोक में भी देखते हैं कि जो धीर - स्थिर प्रकृति का नायक होता है वह इस प्रचलित नीति को हृदय में रखकर कि 'जब तक योग्य समय - अवसर प्राप्त न हो जब तक अपने अपकर्ता के साथ भी सद्व्यवहार ही करना चाहिये,' नित्य ही संतप्त करनेवाले चौर वरटादिकों का निर्बंध - ध्वंस करके अपने प्रकृष्ट तेज को समस्त जगत् के ऊपर उपस्थापित करने की इच्छा से अपना अपराध करने में प्रवृत्त भी उन प्रतिनायक शत्रुओं का घात करने के लिये योग्य समय की प्रतीक्षा किया करता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक कार्य अवसर पर ही उचित रूप से सिद्ध हो सकता है। अतएव जो धीर मुमुक्षु भव्य मिथ्यात्वादिक शत्रुओं का नाशकर - संवरसहभावी निर्जरा - इन कर्मों का एकदेश क्षय करके तप का आराधन करना चाहते हैं वे भी सबसे पहले उस तप के विरोधी चारित्रमोहनीय को निर्मूल करने के लिये योग्य समय की ही प्रतीक्षा किया करते हैं।

लक्ष्मी का उपार्जन कर योग्य सत्पात्रों में उसका विनियोग करनेवाला जो सद्गृहस्थ

उसका सर्वथा परित्याग कर मुख्यतया मोक्षमार्ग में चलने का प्रयत्न करता है - उत्कृष्ट निर्ग्रन्थ लिंग को धारण करता है उसकी प्रशंसा करते हैं :-

पुण्याब्धेर्मथनात्कथं कथमपि प्राप्य श्रियं निर्विशन्,
वैकुण्ठो यदि दानवासनविधौ शण्ठोस्मि तत्सद्विधौ।
इत्यर्थैरुपगृह्णता शिवपथे पान्थान्यथास्वं स्फुर, -
त्तादृग्वीर्यबलेन येन स परं गम्येत नम्येत सः।।१३८।।

पुण्यरूपी समुद्र का मंथन करके किसी न किसी प्रकार से बड़े कष्टों से लक्ष्मी का उपार्जन कर उसका उपभोग करनेवाला जो गृहस्थ यह सोच करके कि 'यदि दान के द्वारा सचमुच में मैं अपनी आत्मा का संस्कार विधान करने में मंद रहा तो सदाचार - सम्यक्चारित्र के पालन करने के लिये प्रयत्न करने में भी भ्रष्ट ही रहूंगा। यदि अपनी इस लक्ष्मी का सत्पात्रों में व्यय नहीं कर सकता तो मुनिधर्म का भी धारण मैं किस तरह कर सकूंगा। अवश्य ही मैं उससे वंचित रहूंगा।' मोक्षमार्ग में नित्य ही प्रस्थान करनेवाले साधुओं को अपने उस धन के द्वारा यथायोग्य उपकार करता है वह सद्गृहस्थ अपने उस स्फुरायमान और मोक्षमार्ग के लिये सर्वथा योग्य वीर्य और बल के द्वारा जब उस उत्कृष्ट मोक्षमार्ग में चलने लगता हैं उस समय में उक्त सदाचार से पूर्ण इस भव्य को मुमुक्षुजन भी नमस्कार किया करते हैं।

भावार्थ :- जिस प्रकार क्षीरसमुद्र का मंथन करके प्राप्त की हुई लक्ष्मी का स्वयं भोग करनेवाले भी विष्णु दान करनेवालों में प्रधान बनने में यदि अलस रहे अथवा दानव - असुरों का विनिपात करने में कुण्ठित रहें तो अवश्य ही वे सद्विधि से भी नितान्त भ्रष्ट ही समझे जायेंगे, या रहेंगे। इसी प्रकार कठिन परिश्रम और पुण्य के द्वारा प्राप्त हुई लक्ष्मी का मैं स्वयं भोग करता हुआ भी यदि उसको दान में खर्च न कर सका और उसके द्वारा सत्पुरुषों पर आनेवाले संकटों का निराकरण न कर सका और उनका उपकार न कर सका तो मैं और उत्कृष्ट आचरण का पालन करने से तो अवश्य ही वञ्चित रहूंगा, जब साधारण गृहस्थोचित धर्म का ही मैं सेवन नहीं कर सकता तो सर्वोत्कृष्ट मोक्षमार्ग- मुनिधर्म का तो धारण ही किस तरह कर सकूंगा। ऐसा सोचकर जो सद्गृहस्थ

अपनी उस लक्ष्मी का भोग करता हुआ भी साधुओं का उपकार करने में व्यय करता है और उसके निमित्त से प्रतिक्षण उद्दीप्त होते हुए मोक्षमार्गपयोगी बल और वीर्य के द्वारा उत्कृष्ट मोक्षमार्ग में गमन करने लगता है वही धन्य है।

गृहस्थाश्रम को छोड़कर यदि तप का आराधन किया जाय तभी मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति निर्विघ्नतया हो सकती है, अन्यथा नहीं। इसी बात को प्रकट करते हैं :-

प्रजाग्रद्वैराग्यः समयबलवल्गात्स्वसमयः,
सहिष्णुः सर्वोर्मीनपि सदसदर्थस्पृशिदृशि।
गृहं पापप्रायक्रियमिति तदुत्सृज्य मुदित,
स्तपस्यन्निःशल्यः शिवपथमजस्रं विहरति।।१३९।।

जिसका वैराग्य - संसार शरीर और भोगों - इन्द्रिय विषयों में तृष्णाराहित्य - रागद्वेषरहित परमप्रशमरूप परिणाम प्रतिक्षण प्रकर्षरूप से प्रदीप्त होता चला जाता है, लाभादिक की अपेक्षा से रहित होने के कारण जिसके वैतृष्ण्य की स्फूर्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। और जिसके अंतरंग में काललब्धि तथा श्रुतज्ञान के सामर्थ्य से निज चित्स्वरूप की प्राप्ति उछल रही है। आगे बढ़ने के लिये सगर्व गर्जना कर रही है। एवं जो समस्त परीषहों को साधुरूप से जितने के लिये प्रवृत्त है, ऐसा मुमुक्षु अंतर्दृष्टि को प्रशस्त और अप्रशस्त पदार्थों के भी स्पर्श करनेवाली होनेपर उस गृह को जिसमें कि अधिकतया ऐसे ही कर्म - क्रियाएँ हुआ करती हैं या करनी पड़ती हैं जिनमें कि प्रायः पाप का ही आरंभ हुआ करता है; प्रसन्नता के साथ माया मिथ्या तथा निदान इन तीन शल्यों से रहित होकर अंतरंग एवं बाह्य दोनों ही प्रकार के तप का आराधन करता है वही तपस्वी रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग में अविश्रांतरूप से विहार कर सकता है।

भावार्थ :- संसार शरीर भोगों से विरक्त हो जानेपर भी और काललब्धि को प्राप्त कर पूर्वोक्त रीति से श्रुतज्ञान के द्वारा निजात्मस्वरूप की उपलब्धि का अभ्यास कर लेने पर तथा अंतरंग में विवेक या भेदज्ञानरूप समीचीन दृष्टि के स्फुरायमान भी होनेपर जब तक अनेक पापारंभ से युक्त घर का परित्याग न किया जाय तब तक निःशल्य होकर तप का आराधन नहीं किया जा सकता। गृहनिरत पुरुष के कोई न कोई शल्य लगी

ही रह सकती है। जैसा कि गुणभद्रस्वामी ने भी कहा है कि 'गृहाश्रमे नात्महितं प्रसिध्यति' गृहस्थाश्रम में आत्मा का हित - मोक्ष अच्छी तरह सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव जो मुमुक्षु अविश्रांतरूप से मोक्षमार्ग में विहार करना चाहते हैं - पूर्णरूप से रत्नत्रय का आराधन करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे उक्त गुणों से युक्त होकर भी पापप्रायक्रियाओं से युक्त गृह का सर्वथा और अवश्य परित्याग करें।

बाह्य परिग्रहों में शरीर सबसे अधिक हेय है ऐसा उपदेश देते हैं :-

शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षितव्यं प्रयत्नतः।
इड़त्याप्तवाचस्त्वग्देहस्त्याज्यं एवेति तण्डुलः।।१४०।।

धर्मसंयुक्त - जिससे धर्म का साधन हो सकता है अथवा जो धर्म का आराधन करनेवाले जीव से युक्त है उस शरीर की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये, इस शिक्षा को आप्त भगवान् के उपदिष्ट प्रवचन का तुष् - छिलका समझना चाहिये। क्योंकि आत्मसिद्धि के लिये शरीर रक्षा का प्रयत्न सर्वथा निरुपयोगी है। तथा 'शरीर सर्वथा त्याज्य ही है' इस शिक्षा को उक्त प्रवचन का तण्डुल समझना चाहिये। क्योंकि सारभूत पदार्थ वही है।

भावार्थ :- जिस प्रकार धान की भुसी निरुपयोगी ही समझी जाती है और भीतर का तण्डुल - चावल ही सारभूत एवं उपयोगी पदार्थ रहता है इसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिये। प्रवचन की शिक्षा में शरीररक्षा के उपदेश को भुसी के समान और शरीरत्याग के उपदेश को तण्डुल के समान समझना चाहिये। अतएव सारभूत शिक्षा को ग्रहण कर बाह्यपरिग्रहों में अत्यंत हेय शरीर के त्याग करने का ही प्रयत्न करना चाहिये। ऐसे करनेपर ही मुमुक्षुओं का अभीष्ट सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि शरीर में लगे हुए ममत्व का उच्छेदन करनेवाला ही पूर्णतया निर्ग्रन्थ हो सकता है और उसीको परमपुरुषार्थ की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। क्योंकि कहा भी है कि :-

देहो बाहिरंगथो अण्णो अक्खाण विसयअहिलासो।
तेसिं चाए खवओ परमट्ठे हवइ णिग्गंथो।।

शरीररूपी बाह्यपरिग्रह और इंद्रियों के विषयों की अभिलाषारूप अंतरंग परिग्रह इन दोनों का परित्याग करने पर ही कर्मों का क्षपण करने के लिये उद्युक्त साधु परमार्थ से निर्ग्रंथ हो सकता है। अर्थात् बाह्य परिग्रहों में शरीर ही प्रधान है और उसका त्याग ही मुमुक्षुओं के लिये आवश्यक है।

शरीर को क्लेश देने में जो जो गुण हैं और उसके लालन पालन में जो जो दोष हैं उनको बताते हुए साधुओं को उपदेश देते हैं :-

योगाय कायमनुपालयतोपि युक्तया,
क्लेश्यो ममत्वहतये तव सोपि शक्त्या।
भिक्षोन्यथाक्षसुखजीवितरन्ध्रलाभात्,
तृष्णासरिद्विधुरयिष्यति सत्तपोद्रिम्।।१४१।।

हे चारित्रमात्रगात्र ! भिक्षो !! योगरत्नत्रयात्मकताकी सिद्धि के लिये पालन करते हुए भी - केवल उपेक्षा करते - हुए ही नहीं किंतु जिससे संयम के पालन में किसी प्रकार का विरोध न आवे इस तरह से रक्षा करते हुए भी शक्ति और युक्ति के साथ - बल और वीर्य को न छिपाकर तथा आगम में बताई हुई विधि के अनुसार ममत्वबुद्धि को दूर करने के लिये - शरीर से लगे हुए ममकार भाव का निराकरण करने के लिये उसका दमन ही करना चाहिये। उसको क्लेश देकर कृष ही कर देना चाहिये। अन्यथा यह निश्चित समझ कि जिस प्रकार साधारण भी नदी प्रवेश करने के लिये मार्गभूत जरासे भी छिद्र को पाकर दुरारोह और दूर्भेद्य भी पर्वत में प्रवेश कर उसको जर्जरित कर दिया करती है उसी प्रकार तुच्छ भी यह तृष्णा - विषयों की आकांक्षारूप नदी ऐन्द्रियसुख और जीवनस्वरूप दो छिद्रों को पाकर समीचीन तपरूपी ऐसे पर्वत को, कि जिस पर कठिनता से आरोहण किया जा सकता है एवं जिसका सहसा भेदन भी नहीं किया जा सकता, छिन्न भिन्न कर जर्जरित कर डालेगी।

भावार्थ :- चक्षुरादिक इन्द्रियों के द्वारा अनुभूयमान अभिलषित अंगनाप्रभृति पदार्थों से उत्पन्न होनेवाले सुख की और जीवन की आशा - तृष्णानदी को समीचीन तपरूपी पर्वत में प्रविष्ट होने के लिये दो छिद्रों के समान हैं। क्योंकि वैषयिक सुख की अभिलाषा

और जीवन की प्रत्याशा के द्वारा ही तृष्णारूप नदी दुरारोह और दुर्भेद्य भी समीचीन तपरूपी पर्वत को छिन्न भिन्न कर जर्जरित कर दिया करती है। यही कारण है कि इन आशाओं के वशीभूत होकर जो शरीर के लालन पालन में लगे रहते हैं या तत्पर रहते हैं उनको तप की सिद्धि नहीं हो सकती और उन्हें उसका संवर - निर्जरारूप फल ही प्राप्त हो सकता है। अतएव हे भिक्षो ! यदि तुझको रत्नत्रय की प्राप्ति व सिद्धि के लिये तपरूपी पर्वत को स्थिर रखना है तो इस तरह से युक्ति और शक्ति के अनुसार काय और कषाय को कृष करने में ही प्रवृत्त होना चाहिये जिससे कि उसमें लगी हुई ममत्वबुद्धि का सर्वथा निराकरण हो जाय। किंतु यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि विना शरीर के स्थिर रहे तप का भी आराधन नहीं हो सकता। अतएव शरीर का पालन भी करना चाहिये किंतु वह इस प्रकार से न करना चाहिये जिससे कि तप और संयम के आराधन में विरोध आ जाय।

जो साधु नैर्ग्रंथ्य व्रत को प्राप्त कर चुका है उसका भी माहात्म्य शरीर में स्नेह करने के कारण नष्ट हो जाया करता है। ऐसी शिक्षा देते हैं :-

नैर्ग्रन्थ्यव्रतमास्थितोपि वपुषि स्निह्यन्नसह्यव्यथा -
भीरुर्जीवितवित्तलालसतया पञ्चत्वचेक्रीयितम्।
याञ्चादैन्यमुपेत्य विश्वमहितां न्यक्कृत्य देवीं त्रपां
निर्मानो धनिनिष्ण्यसंघटनयाऽस्पृश्यां विधत्ते गिरम्।।१४२।।

देव गुरु और सधर्मा पुरुषों की साक्षी से नैर्ग्रंथ्य - समस्त परिग्रह के परित्यागरूप व्रत को प्राप्त करके भी जो साधु शरीर के विषय में स्नेह - राग रखता है वह अवश्य ही असह्य जिनका सहन नहीं किया जा सकता ऐसे परीषह और दु:खों से सदा भयभीत रहा करता है। और इसीलिये वह जीवन और धन में तीव्र लालसा रखकर - अत्यंत लोलुपी होकर मरण के तुल्य - मानों मृत्यु का मित्र या भाई ही हो ऐसे प्रार्थनाजनित दैन्य को प्राप्त कर - दीन बनकर और अतएव अत्यंत प्रभाव से युक्त देवी के समान लज्जा का अभिभव करके अपनी जगत्पूज्य भी वाणी को अंत्यजों के समान दयादाक्षिण्यादि

से रहित धनियों से संपर्क कराकर अस्पृश्य - अनादेय बना देता है। क्या ऐसे भिक्षु का कभी भी महत्त्व स्थिर रह सकता है ? कभी नहीं।

भावार्थ :- केवल शरीर में स्नेह करने के कारण निर्ग्रंथ भी साधुओं का महत्त्व सर्वथा क्षीण हो जाया करता है। क्योंकि ऐसा साधु तपस्वियों के कर्तव्य परीषहोपसर्गादिक के ऊपर विजय प्राप्त करने का पालन नहीं कर सकता किन्तु वह सदा शरीर के पालन पोषण में ही दत्तचित्त और उनके साधनों में लालसायुक्त रह सकता है। और उसके लिये वह ऐसे पदार्थों की धनियों से याचना करने के लिये मरणतुल्य दीनता को धारण कर उस लज्जा को भी छोड़ दे सकता या छोड़ देता ही है जो कि देवी के समान है। जैसा कि कहा भी है कि :-

लज्जां गुणौधजननीं जननीमिवान्या, -
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाः।
तेजस्विनःसुखमसूनपि संत्यजन्ति,
सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम्।।

जो तेजस्वी अत्यंत शुद्ध हृदयवाली दूसरी माता के समान गुणों की खानि लज्जा का अनुसरण करनेवाले हैं और सत्यस्थिति के व्यसनी हैं वे अपने प्राणों को सुखपूर्वक छोड़ सकते हैं किंतु प्रतिज्ञा को नहीं। इससे मालूम होता है कि लज्जा प्रभावशालिनी देवता के ही सदृश है। जिसको कि लंपटी पुरुष दीन याचक बनकर छोड़ दिया करते हैं। अतएव जो साधु शरीर में स्नेह रखते हैं वे क्रम से उसके निमित्त से लंपटी दीन निर्लज्ज और धनियों के सामने याचक बनकर अपनी वाणी का ही नहीं किन्तु अपना भी महत्त्व खो देते हैं।

जो धीर और महा प्रभावशाली तथा धर्म के विषय में निरंतर वीररस से पूर्ण रहनेवाले हैं वे अपने उस धार्मिक आचरण में सहायभूत शरीर की रक्षा के लिये जिनोपदेश के अनुसार भिक्षा गोचरीचर्या के आचरण को स्वीकार करके भी यदि उसमें प्रमाद करते हैं तो वह ठीक नहीं है। इस प्रकार साधुओं को भिक्षा में प्रमाद करने का निषेध करते हैं :-

प्राची मार्ष्टुमिवापराधरचनां दृष्ट्वा स्वकार्ये वपुः
सध्रीचीनमदोऽनुरोद्धुमधुना भिक्षां जिनोपक्रमम्।
आश्रौषीर्यदि धर्मवीररसिकः साधो नियोगाद्गुरो, -
स्तत्तच्छिद्रचरौ न किं विनयसे रागापरागग्रहौ।।१४३।।

हे साधो ! तेने रत्नत्रयस्वरूप आत्मा के साध्यभूत कार्य को जो स्वीकार किया है सो मालूम पड़ता है, मानों पहले - गृहस्थ अवस्था में किये गये अनेक अपराधों की रचना का मार्जन - निराकरण करने के लिये ही [१]किया है। किंतु इस कार्य में सहायक शरीर है इस बात का निश्चय करके इस समय में, जब कि संसार शरीर और वैराग्य परिणाम विशुद्धि की तरफ बढ़ता चला जा रहा है, आत्मकार्य के सहकारीरूप से निश्चित इस शरीर को उसी कार्य में प्रयुक्त करने के लिये धर्म का पालन करने में वीररस - सोत्साहवृत्ति से युक्त होकर गुरु - दीक्षाचार्य की आज्ञानुसार यदि श्री तीर्थंकर भगवान के उपदिष्ट स्वरूप से युक्त भिक्षा को तेनें स्वीकार कर लिया है - साधुओं के योग्य गोचरीचर्या के करने की प्रतिज्ञा कर ली है तो तू इस भिक्षारूपी छिद्र या द्वार से आनेवाले अथवा अमुक ने अमुक वस्तु बहुत अच्छी दी और अमुक ने अमुक वस्तु अच्छी नहीं दी इस तरह से संक्रांत होनेवाले रागद्वेषरूपी भूतों का उपशमन भी क्यों नहीं कर देता ? अवश्य ही तुझको भिक्षा के विषय में होनेवाले प्रमाद - रागद्वेष का परित्याग करना चाहिये।

भावार्थ :- विभावादिकों के द्वारा व्यक्त होनेवाले उत्साहरूप स्थायी भाव को वीररस कहते हैं। कहा भी है कि :-

उत्साहात्मा वीरः स त्रेधा धर्मयुद्धदानेषु।
विषयेषु भवति तस्मिन्नक्षोभो नायकः ख्यातः।।

---

१ - यह बात उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा कही गई है जिसका कि लक्षण इस प्रकार बताया है कि :- कल्पना काचिदौचित्याद्यत्रार्थस्य सतोन्यथा।
द्योत्यते वादिभिः शद्वैरुत्प्रेक्षा सा स्मृता यथा।।

धर्म युद्ध और दान इन विषयों में उत्साहरूप परिणामों को वीररस कहते हैं। अतएव इसके तीन भेद हैं। जो पुरुष इन विषयों में क्षोभरहित रहा करता है वह इस रस का नायक माना जाता है। इसके अनुसार जो धर्म रत्नत्रय का आराधन करनेमें सदा सोत्साह रहा करता है उसको सप्तम गुणस्थानवर्ती अथवा द्रव्य की अपेक्षा से अप्रमत्तसंयत समझना चहिये। जैसा कि कहा भी है कि:-

णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुवसमगो अखवगो झाणणिलीणो हु अपमत्तो।।

नष्ट हो गया है समस्त प्रमाद जिसका और व्रत गुण तथा शीलों से युक्त रहकर भी जो ज्ञानी उपशम या क्षपक श्रेणी का आरोहण न कर निरंतर ध्यान में लीन रहता उसको निरतिशय अप्रमत्त समझना चाहिये।

इस प्रकार धर्म के विषय में वीररस अथवा वीरचर्या से युक्त रहनेवाले, है सिद्धि के साधन करने में उद्यत। यदि तेने गुरु की आज्ञा और आगम के अनुसार शरीर के द्वारा क्रम से धर्म का भी सहायक समझकर भिक्षा करना स्वीकार कर लिया है तो उस विषय में होनेवाली रागद्वेष परिणति को भी तुझे अवश्य ही छोड़ना चाहिये। क्योंकि इसने भोजन में अमुक पदार्थ अच्छा दिया, अथवा, इसने अमुक पदार्थ अच्छा नहीं दिया इस तरह से भिक्षा के निमित्त से जो परिणाम होते हैं वे भूतावेश के समान हैं और साधुओं को उक्त उत्तम पद से गिरानेवाले हैं।

शरीर और आत्मा में भेद भावना के बल से समस्त विकल्पजाल को तोड़ देनेवाले साधुओं के भी जो शुद्ध निजात्मस्वरूप की प्राप्ति होती है उसकी प्रशंसा करते हैं।

नीरक्षीरवदेकतां कलयतोरप्यङ्गपुंसोरचि, -
च्चिद्भावाद्यदि भेद एव तद्लं भिन्नेषु को भिद्भमः।
इत्यागृह्य परादपोह्य सकलोन्मीलद्विकल्पच्छिदा, -
स्वच्छेनास्वनितेन कोपि सुकृती खात्मानमास्तिघ्नुते।।१४४।।

यद्यपि शरीर और आत्मा नीरक्षीर की तरह परस्पर में मिलकर अभिन्नसरीखे हो रहे हैं फिर भी उनमें भेद ही प्रमाणसिद्ध है। क्योंकि शरीर अचित् - जड़ है और आत्मा चित् - चेतन है। जिस प्रकार जल और अग्नि परस्पर में मिल जानेपर यद्यपि एक ही मालूम पड़ते हैं - फिर भी द्रवता और दाहकता आदि गुण भेद या लक्षणभेद की अपेक्षा दोनों में भेद निश्चित ही रहता है। उसी प्रकार जड़ता और चेतनता हेतु से शरीर और आत्मा की विभिन्नता प्रसिद्ध है। इस प्रकार जब अभिन्नसरीखे मालूम पड़नेवाले शरीर और आत्मा में भेद प्रमाणत: सिद्ध है और वैसा ही मालूम भी होता है तब आत्मा से सर्वथा भिन्न कलत्र पुत्र गृह परिजन आदि में तो अभेद भ्रम हो ही किस तरह सकता है। विवेकी पुरुष को आत्मा से सर्वथा भिन्न परिग्रह में ये मुझ स्वरूप ही है ऐसा प्रत्यय कभी नहीं हो सकता। इस तरह से शरीरादिक परिग्रहों से निजात्मा की भिन्नता का दृढ़ निश्चय करके और उससे सर्वथा आत्मा को दूर रखकर कोई विरला ही पुण्यात्मा समस्त उछलते हुए या उद्भूत होते हुए विकल्पों - अंतर्जल्प से अच्छी तरह सिक्त विचारों - संकल्पों के नष्ट हो जाने के कारण अत्यंत निर्मल हुई चेतोवृत्ति के द्वारा निजात्मा का अभेदरूप से अनुभव किया करता है।

भावार्थ :- जन्मांतर में किये गये योगाभ्यास के बल से संचित पुण्यकर्म का जिसके उदय हो आया है ऐसा ही कोई निकटभव्य शरीर और उससे संबंध रखनेवाले सभी परिग्रहों से भिन्नता का दृढ़ निश्चय करके एवं अपने को उनसे हटाकर - उनका सर्वथा परित्याग कर निर्विकल्प ध्यान के द्वारा शुद्धात्मस्वरूप का अभेदरूप से अनुभव किया करता है।

उक्त प्रकार की भावना के बल से समरसीभाव के द्वारा जिनकी स्वभाविक आत्मा की ज्योति उन्मीलित हो उठी है उन पुरुषों के मोहकर्म के ऊपर विजय प्राप्त करने से जो अतिशय प्रकट होता है उसको बताते हैं :-

स्वार्थेभ्यो विरमय्य सुष्ठु करणग्रामं परेभ्य: पराक्,
कृत्त्वान्त:करणं निरुध्य च चिदानन्दात्मनि स्वात्मनि।
यस्तत्रैव निलीय नाभिसरति द्वैतान्धकारं पुनस्तस्योद्दा -
ममऽसीम धाम कतमच्छिन्दत्तम: श्राम्यति।।१४५।।

समस्त इन्द्रियों का तत्तत् विषयों से भले प्रकार हटाकर और अंत:करण को शरीरादिक पर पदार्थों से पराङ्मुख कर चिदानंदस्वरूप - ज्ञानानंदमय निज शुद्धात्मा में रोककर - एकाग्रतया उपयुक्त करके तथा उसीमें अत्यंत लीन होकर जो निष्पन्नयोगवाला साधु द्वैतान्धकार - सविकल्प अवस्थारूपी अंधकार की तरफ अभिमुख नहीं होता, शुद्धात्मस्वरूप में लीन हो जाने के कारण 'यह मैं हूँ और ये पर है, अथवा मैं ध्याता हूँ और ये ध्येय है' इत्यादि विकल्पों की तरफ जो प्रवृत्त नहीं होता उसका नि:सीम - निरबधि या अनंत तथा निरावरणतया प्रकाशमान तेज, ऐसा कौनसा अंधकार है कि, जिसको नष्ट नहीं कर सकता ?

भावार्थ :- इन्द्रियों व मन को अपने अपने विषयों से हटाकर निर्विकल्पतया निज शुद्धात्मस्वरूप में लीन होनेवाले निष्पन्नयोगी के जो स्वाभाविक आत्मिक तेज जागृत होता है वह चिरकाल से लगे हुए - अनादिकालीन अविद्या - अज्ञान या मोह के समस्त विलासों को सर्वथा ध्वस्त कर देता है। ऐसा कोई भी मोहकर्म का अंश नहीं है कि जिसको निरसन करने में वह आत्मज्योति असमर्थ हो। अतएव पूर्वोक्त भावना के निमित्त से आत्मलीनता या समरसीभाव के द्वारा स्वाभाविक आत्मज्योति के प्रकट होते ही मोहकर्म पर विजय प्राप्त होने से आत्मा का अपूर्व ही अतिशय प्रकाशित होने लगता है।

शुद्ध निजात्मस्वरूप की प्राप्ति की तरफ उन्मुख हुए आरब्धयोगी को आगे चलकर होनेवाली निष्पन्नयोग की रमणीयता की प्राप्ति के फल की भावना पर विचार प्रकट करते हैं :-

भावैर्वैभाविकैर्मे परिणतिमऽयतोऽनादिसंतानवृत्त्या,
कर्मण्यैरेकलोलीभवत उपगतैः पुद्गलैस्तत्त्वतः स्वम्।
बुद्ध्वा श्रद्धाय साम्यं निरुपधि दधतो मुत्सुधाब्धावगाधे,
स्याच्चेल्लीलावगाहस्तदयमऽधशिखी किं ज्वलेद्दाह्यशून्यः।।१४६।।

अनादि संतानक्रम से चले आये - जब से संसार है तभी से मेरे साथ सदा सन्निहित रहनेवाले - अव्युच्छिन्न प्रवाहरूप से मेरी आत्मा के साथ लगे हुए ज्ञानावरणादि कर्म के योग्य पुद्गलद्रव्य इस तरह श्लिष्ट हो गये मानो मैं और वे एक ही हैं। और इन्हीं के निमित्त से मैं मोह या रागद्वेषरूप औपाधिक - वैभाविक भावों से भी परिणत होने लगा।

इस प्रकार पर - पुद्गलद्रव्य से कथंचित् तादात्म्य को प्राप्त हुआ और विभावरूप परिणत हुआ मैं अब यदि तत्त्वतः आत्मस्वरूप का श्रद्धान कर और ज्ञान प्राप्त कर उपाधिरहित साम्यावस्था को धारण कर लूं। निजात्मा के शुद्ध चित्स्वरूप को भले प्रकार जानकर और वैसा ही उसका श्रद्धान भी करके रागद्वेष परिणति की निश्छल उपरति को प्राप्त हो जाऊँ। और शुद्ध निजात्मस्वरूप की तरफ इस प्रकार उन्मुख हुए मुझ आरब्धयोगी का गंभीर आनंदामृत के समुद्र में विना किसी परिश्रम के - लीलामात्र से ही यदि अवगाहन होने लगे तो मोहादिक से आविष्ट चित्पर्यायों के न रहने पर यह फल के द्वारा अनुभव में आनेवाली पापरूपी अग्नि किसको दग्ध करेगी ? किसीको भी नहीं। क्योंकि ये पापकर्म फल के द्वारा ही अपना परिचय कराया करते हैं। रागद्वेष या मोह से आक्रांत तथा विभावभावरूप परिणत आत्माओं को ही सताया करते हैं। किंतु जब मैं आरब्धयोगी होकर क्रम से योग की पराकाष्ठा को प्राप्त हो स्वाभाविक चिदानंद का अच्छी तरह अनुभव करने लगूंगा उस समय मेरे ये समस्त वैभाविक भाव नष्ट हो जायेंगे। फिर वह पापाग्नि किसको संतप्त कर सकेगी ? किसीको भी नहीं। जब तृण या काष्ठ ही न रहेगा तब अग्नि किस चीज को जलायेगी ? किसीको भी नहीं। वह स्वयं शांत हो जायेगी।

भावार्थ :- मुझको आत्मा के विषय में वास्तविक सम्यग्दर्शन व ज्ञान प्राप्त कर तथा उसके शुद्धस्वरूप को पाकर उसी में लीन होना चाहिये जिससे कि स्वाभाविक अनंतसुख प्राप्त हो और संसारताप नष्ट हो।

समाधि में आरोहण करने की इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओं को अंतरात्मा की तरफ ही उपयुक्त रहने का उपदेश देते हैं :-

अयमधिमदबाधो भात्यहंप्रत्ययो य, -
स्तमनु निरवबन्धं बद्धनिर्व्याजसख्यम्।
पथि चरसि मनश्चेत्तर्हि तद्धाम हीर्षे,
भवदवविपदो दिङ्मूढ़मभ्येषि नो चेत्।।१४७।।

अहं प्रत्यय के द्वारा जिसका भीतर - आत्मा में प्रतिभास होता है वह आत्मा सर्वथा निर्बाध है। अनुभविताओं को 'मैं' इस शब्द के द्वारा जिसका ज्ञान होता है वही आत्मा

है ऐसा यद्यपि स्वयं प्रतीत होता है फिर भी उसकी अबाधता युक्ति और आगम दोनों प्रमाणों से भी सिद्ध है। क्योंकि जिस पदार्थ का मैं इस शब्द के द्वारा अपने भीतर ही भान होता है वह आत्मा नहीं है इस बात को अथवा उससे भिन्न दूसरा पदार्थ है इस बात को सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है। तथा आगम में भी कहा है कि 'यत्र अहमित्यनुपरितप्रत्ययः स आत्मा'। मैं इस शब्द के द्वारा जिसका अनुपरित ज्ञान होता है वही आत्मा है। हे मन ! इस प्रकार युक्ति और आगम के द्वारा अबाध सिद्ध आत्मा के साथ निश्छल मित्रता जोड़कर यदि तू अस्खलितरूप से श्रेयोमार्ग में प्रवृत्त हो तो अवश्य ही तुझको वह प्रसिद्ध स्थान प्राप्त हो जो कि अनिर्वचनीय तथा केवल अनुभव द्वारा ही गम्य है। अन्यथा - यदि तू अंतरात्मा के साथ उपयुक्त होकर मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति न करेगा तो दिङ्मूढ़ - सद्गुरुओं के उपदेश में व्यामोहित होकर संसाररूपी दावानल की विपत्तियों के ही अभिमुख प्राप्त होगा।

भावार्थ :- जैसे कि दावानल जिसमें जल रहा है ऐसे वन में दिशा भूल हो जानेपर मनुष्य समीचीन मार्ग में न जाकर उल्टा उस मार्ग की तरफ जाने लगे जिसमें कि दावानल जल रहा है तो अवश्य ही उसको उस दावाग्नि की विपत्तियों से त्रस्त होना पड़ेगा। उसी प्रकार यदि मुमुक्षुजन अंतरात्मा के विषय में मूढ़ होकर श्रेयोमार्ग में गमन न करें तो अवश्य ही वे संसारमार्ग की तरफ अभिमुख हो जायेंगे और उसके ताप से विपन्न होंगे।

इस प्रकार आकिञ्चन्य महाव्रत का पालन करने के लिये पूर्णतया तैयार होकर प्रवृत्त होनेवाले साधुओं को और भी आवश्यकीय शिक्षाएँ दीं, किंतु पहले के - गृहस्थ अवस्था के विभ्रम संस्कार के कारण उन शिक्षानुकूल प्रवृत्तियों के करने में कहीं शिथिलता न होने लगे अतएव उसके प्रति तिरस्कार भाव रखने के लिये मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रिय विषयों में रागद्वेष के परित्यागरूप पाँच भावनाओं को भाते हुए प्रयत्न करने का उपदेश देते हैं :-

यश्चार्वचारुविषयेषु निषिध्य राग, -
द्वेषौ निवृत्तिमधियन् मुहुरा निवर्त्त्यात्।
ईर्ते निवर्त्त्यविरहादनिवृत्तिवृत्ति,
तद्धाम नौमि तमसङ्गमसङ्गसिंहम्।।१४८।।

इन्द्रियों के विषय स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों ही प्रकार के होते हैं। संसारी प्राणियों के मनोज्ञ विषयों में राग और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष हुआ करता है। किंतु जो मुमुक्षु इन विषयों में राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति - रति अरति को छोड़कर निवर्त्य पदार्थों के रहने तक निवृत्ति और प्रवृत्ति से रहित आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है उस निरुपलेप निर्ग्रंथसिंह को मैं नमस्कार करता हूँ अथवा उसकी निरंतर स्तुति करता हूँ।

भावार्थ :- कर्मबंध और उसके कारणभूत पदार्थों को निवर्त्य कहते हैं। क्योंकि उनको आत्मा से दूर करना है। जब तक निवर्त्य रागद्वेषरूप परिणति लगी हुई है तब तक साधुओं को निवृत्ति - रागद्वेष के छोड़ने का ध्यान करना चाहिये। बार बार करने पर जब यह ध्यान अभ्यस्थ हो जाय तब उस आत्मपद का ध्यान करना चाहिये जो कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से ही रहित है। किंतु इस अविनश्वर आत्मपद का ध्यान करने के भी पहले जिस निवृत्ति का ध्यान करना आवश्यक है उसके विषय निवर्त्य रागद्वेष जिनका कि संबंध बाह्य पदार्थों से हैं। अतएव मुमुक्षु साधुओं को सबसे पहले मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रिय विषय में क्रम से होनेवाली रागद्वेष परिणति को छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवर्त्त्यंतदभावतः।
प्रवृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम्।।
रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।
तौ च बाह्यार्थसंबंद्धो तस्मात्तान् सुपरित्यजेत्।।

निवर्त्य के रहने तक निवृत्ति का भावन - ध्यान करना चाहिये किंतु उसके छूट जानेपर आत्मा से उस अव्यय पद का ही ध्यान करना आवश्यक है जहाँ न प्रवृत्ति है और न निवृत्ति। रागद्वेष को प्रवृत्ति और उसके त्याग को निवृत्ति कहते हैं। इन दोनों का संबंध बाह्य पदार्थों से हैं। मनोज्ञामनोज्ञ विषयों में ही क्रम से रागद्वेष की परिणति होती है। अतएव सबसे पहले मुमुक्षु भिक्षुओं को इनका ही परित्याग करना चाहिये।

इस प्रकार परिग्रह के परित्यागरूप अकिंचन्य महाव्रत का वर्णन पूर्ण हुआ। अब साधुओं के व्रत, अपनी अपनी भावनाओं के द्वारा स्थिरता को प्राप्त होकर ही उनके

अभिमत को सिद्ध किया करते हैं ऐसा उपदेश देते हैं :-

पञ्चभिः पञ्चभिः पञ्चाप्येतेऽहिंसादयो व्रताः।
भावनाभिः स्थिरीभूताः सतां सन्तीष्टसिद्धिदाः।।१४९।।

हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप हैं। इन पाँचों पापों के परित्याग को ही अहिंसादिक पाँच महाव्रत कहते हैं जिनका कि पहले सविस्तर व्याख्यान किया जा चुका है। इनमें से प्रत्येक व्रत की पाँच पाँच भावनाओं का भी स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। उन भावनाओं के द्वारा स्थिर - निश्चलता को प्राप्त होकर ही ये महाव्रत साधुओं के अभिमत अर्थ को सिद्ध कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। अतएव आत्महितैषी भिक्षुओं को उन भावनाओं में अवश्य ही अच्छी तरह से दृढ़ रहना चाहिये।

उपर्युक्त पाँचों व्रतों के महत्त्व का समर्थनपूर्वक, जिन हेतुओं से ये व्रत महान् माने गये हैं उनको दिखाते हुए और उनकी रक्षा करने के लिये रात्रिभोजनविरतिरूप छठे अणुव्रत का भी उपदेश देते हुए यह बताते है कि उत्तरोत्तर अच्छी तरह किये गये अभ्यास के द्वारा इन व्रतों के संपूर्ण कर देने पर या हो जानेपर ही साधुओं को निर्वाणरूप फल प्राप्त हो सकता है :-

पञ्चैतानि महाफलानि महतां मान्यानि विष्वग्विर, -
त्यात्मानीति महान्ति नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि ये।
प्राणित्राणमुखप्रवृत्त्युपरमानुक्रान्तिपूर्णीभव, -
त्साम्याः शुद्धदृशो व्रतानि सकलीकुर्वन्ति निर्वान्ति ते।।१५०।।

उक्त अहिंसादिक पाँचों व्रतों का महान् शब्द के साथ जो उल्लेख किया है उसके तीन कारण हैं। पहला यह कि इनका फल महान् है, दूसरा यह कि ये महापुरुषों को भी मान्य हैं, तीसरा यह कि ये महा-समस्त विरतिरूप हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम्।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि।।

उत्तम पुरुष इन व्रतों का पालन करते हैं। गणधरदेवादिकों को भी ये अनुष्ठेय तथा सेव्य हैं। और इन्द्रादिकों के द्वारा भी पूज्य हैं; क्योंकि उनकी दर्शनविशुद्धि की अतिशयित वृद्धि में ये कारण हैं। दूसरी बात यह कि ये महान् अर्थ - प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। इनके निमित्त से ही अनंतज्ञानादिक अनंतचतुष्टय स्वरूप तथा मोक्षरूप सर्वोत्कृष्ट महान् फल प्राप्त हो सकता हैं। तीसरी बात यह कि ये स्वयं भी महान् हैं। स्थूल हो या सूक्ष्म, संपूर्ण भेदरूप ही हिंसादिक का इनमें परित्याग किया जाता है। क्योंकि ये सकलविरतिरूप है। इस प्रकार पूज्यता फल और स्वरूप तीनों में ही महत्ता रहने के कारण इन व्रतों को महान् कहते हैं।

और भी कहा है कि :-

महत्त्वहेतीर्गुणिभिः श्रितानि महान्ति मत्त्वा त्रिदशैर्नतानि।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि महाव्रतानीति सतां मतानि।।

आत्मिक महत्ता प्राप्त करने के उद्देश से गुणीपुरुष इनका आश्रय लेते हैं, देवेन्द्रादिक भी महान् समझकर इनको नमस्कार करते हैं, तथा महान् - अनंतसुख ज्ञानादिको ये ही उत्पन्न करनेवाले हैं। यही कारण है कि सत्पुरुष इनको महाव्रत कहते हैं।

ऐसे इन महाव्रतों की रक्षा के लिये मुमुक्षु भिक्षुओं को छठ्ठा अणुव्रत 'रात्रिभोजनत्याग' प्रधानतया पालना चाहिये। क्योंकि इसके विना उनके किसी भी व्रत की रक्षा नहीं हो सकती। जैसा कि कहा भी है कि :-

तेसिं चेव वयाणं रक्खत्थं रायभोयणणियत्ति।
अट्ठ य पवयणमादाउ भावणाओ य सव्वाओ।।

इन व्रतों की रक्षा के लिये रात्रिभोजननिवृत्ति, तथा आठ प्रवचन माताओं (पाँच समिति तीन गुप्ति) और समस्त भावनाओं का पालन करना चाहिये। रात्रिभोजनत्याग को अणुव्रत कहने का प्रयोजन यह है कि मुनियों के भोजन का त्याग काल की अपेक्षा सर्वथा नहीं, एकदेशरूप ही पल सकता है। रात्रि की अपेक्षा से ही उसका सर्वथा त्याग हो सकता है और रात्रि में ही उसकी निवृत्ति बताई है, न कि दिन में। दिन में तो साधुजन भोजन के लिये योग्य समय में प्रवृत्ति कर सकते हैं। रात्रि में ही भोजन का त्याग सो रात्रिभोजनत्याग ऐसा ही इस शब्द का अर्थ है। अतएव उसको अणुव्रत कहना चाहिये। इस अणुव्रत का भी मुनियों को अवश्य ही पालन करना चाहिये क्योंकि इसके विना उनका कोई भी उक्त व्रत सुरक्षित नहीं रह सकता। रात्रिभोजन करने से मुनियों को हिंसा शंका और आत्मविपत्ति आदि अनेक दोष उपस्थित होते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

तेसिं पंचण्हं पाय वयाणबावज्जणं च संखाओ।
आदविवत्ती अह विज्जरादिभत्तप्पसंगह्मि।।

रात्रि में भक्तपान का संग्रह करने पर मुनियों को जो दोष लग सकते हैं वे इस प्रकार समझने चाहिये कि - पाँचो व्रतों का परित्याग, शङ्का, और आत्मविपत्ति।

भोजन का रात्रि में संग्रह तीन प्रकार से हो सकता है। एक रात्रि में जाकर दाता के यहाँ भोजन ग्रहण करना। दूसरा रात्रि में लाकर दिन में भोजन करना। तीसरा दिन में लाकर रात्रि में भोजन करना। ये तीनों ही पक्ष अपायकर हैं। क्योंकि यदि रात्रि में भोजन के लिये भ्रमण करेगा तो हिंसा अवश्यम्भावी है। रात्रि में प्रकाश न रहने के कारण प्राणियों को देखा नहीं जा सकता और फिर ईर्या समिति का भी पालन नहीं हो सकता है, तथा कौनसा स्थान पवित्र है और कौनसा अपवित्र, कहाँ चलना चाहिये कहाँ रूकना दाता के यहाँ जाने आने का मार्ग, उसके और अपने ठहरने का स्थान, और कहाँ झूठन आदिक पड़ी चाहिये आदि बातों का अवलोकन रात्रि में अच्छी तरह नहीं हो सकता। न योग्य अयोग्य आहार का ही निरूपण हो सकता है। अत्यंत सूक्ष्म त्रस जीव जब कि दिन में भी कठिनता से ही देखे और बचाये जा सकते हैं तब रात्रि

में तो उनका परिहार हो ही किस तरह सकता है ? इस प्रकार रात्रिभोजन में प्रवृत्ति करनेवाला आहार का शोधन नहीं कर सकता और हिंसा के दोष से बच नहीं सकता। अच्छी तरह विना परीक्षा किये ही भोजन करनेवाला एषणा समिति का भी पालन किस तरह कर सकता है ? और ऐसी - अयुक्त एषणासमितिविषयक तथा [१]पादविभागिक आलोचना करता हुआ वह सत्यव्रती भी किस तरह रह सकता है ? यदि गृह का स्वामी सो रहा हो और उसके दिये बिना भी आहार ग्रहण कर लिया जायगा तो चोरी का भी दोष लगेगा।विद्वेष रखनेवाले कुटुंबी अथवा अन्य विरोधी लोक अनेक प्रकार की शंका करके रात्रि के समय मार्ग में गमन करनेवाले साधु के ब्रह्मचर्य को नष्ट कर देते हैं या कर दे सकते हैं। यदि भोजन को दिन में लाकर और अपने पात्र में ढककर रख लिया जाय और रात्रि में उसको खाया जाय तो परिग्रह का भी दोष उपस्थित होगा। इस प्रकार रात्रिभोजन के निमित्त से हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह ये पाँचो ही पाप लगते हैं जिससे कि इनके विरोधी व्रत रक्षित नहीं रह सकते। इसके सिवाय रात्रिभोजी को 'मेरे हिंसादिक दोष तो नहीं लग गये' अथवा 'मेरी इस क्रिया में हिंसादि हुई या बची' ऐसी शंका लगी रहती है। और कदाचित् स्थाणु सर्प कण्टकादिक के द्वारा मरण हो जाना भी संभव है। इस प्रकार रात्रिभोजन करने से मुनियों को व्रतघात शंका और आत्मविपत्ति दोष उपस्थित होते हैं। अतएव उनको अपने व्रतों की रक्षा के लिये रात्रिभोजनत्यागरूप अणुव्रत का पालन अवश्य ही करना चाहिये।

जो शुद्ध क्षायिक सम्यग्दृष्टि आद्य अवस्था में होनेवाली प्राणिरक्षा प्रभृति प्रवृत्तियों के उपरितन स्थान में किये गये उपरमकी अनुक्रांति - गुणश्रेणिसंक्रमण के द्वारा अपनी साम्यावस्था - सामायिक चारित्र को पूर्ण कर व्रतों को भी संपूर्ण कर देते हैं वे ही मुमुक्षु जीवन्मुक्त अवस्था को पाकर परममुक्ति को भी प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ :- जो रात्रिभोजनत्यागरूप अणुव्रत के द्वारा सुरक्षित रहते और उपर्युक्त तीन हेतुओं से जिनकी महत्ता सिद्ध है ऐसै वे व्रत आद्यअवस्था में प्रवृत्तिरूप से ही पाले जाते

---

१ - मुनियों की आहोरात्रिक समीचीन चर्या को पदविभागी कहते हैं। अतएव जिसमें उसका वर्णन किया जाय उस आलोचना को पादविभागिक कहते हैं। अच्छी तरह अपरिक्षित विषय में एषणा प्रवृत्ति करनेवाला अपनी प्रवृप्ति की पादविभागिक आलोचना करने में सत्यव्रत का पालन किस तरह कर सकता है ?

हैं। क्योंकि सबसे पहले जीवों की प्राणरक्षा सत्यभाषण दत्तग्रहण ब्रह्मचर्य का पालन और योग्य परिग्रह के ग्रहण करने में ही प्रवृत्ति हुआ करती है। परंतु आगे चलकर ऊपर के स्थानों में इस प्रवृत्ति की उपरति हो जाती है और गुणश्रेणी का उपसर्पण होकर क्रम से समस्त सावद्ययोग की निवृत्तिरूप सामायिक चारित्र पूर्ण हो जाता है। किंतु जो शुद्ध क्षायिक सम्यग्दृष्टि इस सामायिक को भी सूक्ष्मसांपराय की पराकाष्ठा तक पहुँचाकर यथाख्यात चारित्ररूप परिणत कर देते हैं वे ही योगी अयोगी होकर निवृत्ति प्राप्त करते हैं। क्योंकि योग अचारित्र का व्यापक है। जहाँ तक या जहाँ जहाँ योग रहेगा वहाँ तक या वहाँ वहाँ अचारित्र भी रहेगा ही। जिससे कि निर्वृत्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अयोगगुणस्थान के अंतिम समय में ही चारित्र पूर्ण हुआ करता है। और उसीसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है; जैसा कि कहा भी है कि :-

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होई।।

अयोगकेवली में ये तीन बातें प्राप्त होती हैं अथवा जिस जीव में ये तीन बातें प्राप्त हो जाती हैं उसको अयोगकेवली कहते हैं :- १ संपूर्ण चारित्र के स्वामित्व की प्राप्ति, २ - समस्त कर्मास्रवों का निरोध, ३ - कर्मरज का सर्वथा राहित्य।

और भी कहा है कि :-

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः।।

जिसका पुण्य और पाप स्वयं ही निष्फल गल जाता है - विना फल दिये ही निर्जीर्ण हो जाता है उसका पुनः परावर्तन नहीं होता अथवा फिर उसके कर्मों का आस्रव नहीं होता। इससे सिद्ध है कि साधुओं को अपने आरंभिक अवस्था के प्रवृत्तिरूप महाव्रत

सुरक्षित रखकर अभ्यास क्रम से चारित्र की समग्रता को पहुँचा देने चाहिये। क्योंकि ऐसा करने पर ही उन्हे निर्वृत्ति प्राप्त हो सकती है।

सत्त्व गुणाधिक क्लिश्यमान और अविनयी इनमें क्रम से मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ्य भावना रखनेवालों के ये सभी व्रत अच्छी तरह दृढ़ता को प्राप्त हो जाते हैं। अतएव मुमुक्षुओं को इन चारों भावनाओं में नियुक्त रहने का उपदेश देते हैं :-

माभूत्कोपीह दुःखी भजतु जगदसद्धर्म शर्मेति मैत्रीं,
ज्यायोहत्तेषु रज्यन्नयनमधिगुणेष्वेष्विवेति प्रमोदम्।
दुःखाद्रक्षेयमार्तान् कथमिति करुणां ब्राह्मि मामेहि शिक्षा,
काऽद्रव्येष्वित्युपेक्षामपि परमपदाभ्युद्यता भावयन्तु।।१५१।।

अनंत ज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्य। इस अनंतचतुष्यरूप परमपद की प्राप्ति के लिये उद्यत अभिमुख हुए साधुओं को मंत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं का निरंतर चिंतन करना चाहिये। प्राणीमात्र में दुःखों के उत्पन्न न होने की आकांक्षा रखने को मैत्री, अपने से अधिक गुणवालों को देखकर हर्षित होनेरूप मनोराग को प्रमोद, दुःखों से पीड़ित प्राणियों के अभ्युद्धार करने की बुद्धि को कारुण्य, और निर्गुण या विरुद्ध व्यक्तियों में रागद्वेष के प्रकट न करने को माध्यस्थ्य कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

कायेन मनसा वाचा परा सर्वत्र देहिनि।
अदुःखजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदां मता।।
तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भरः।
जायमानो मनोरागः प्रमोदो विदुषां मतः।।
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं करुणात्मनाम्।
हर्षामर्षोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं निर्गुणात्मनि।।

मन वचन और काय के द्वारा संसार के सभी प्राणियों के विषय में ऐसी प्रवृत्ति

करने को, कि जिससे किसीको भी दु:ख उत्पन्न न हो, मैत्री कहते हैं। तप या दूसरे गुण - समयग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदिक जिसमें अधिक पाये जांय ऐसे पुरुष के विषय में होनेवाले उस मनोराग को प्रमोद कहते हैं जिससे कि उस व्यक्ति के विषय में प्रीति भक्ति या विनय उत्पन्न हो; अथवा उनको अपने ऊपर प्रसन्न करने या उनके अनुकूल व्यवहार करने तथा उन जैसा होने का भाव जागृत हो जाय। दु:खी और पीड़ित प्राणियों के अभ्युद्धार की बुद्धि को कारुण्य कहते हैं। निर्गुण - मिथ्यातृष्टियों के विषय में हर्षामर्षरहित प्रवृत्ति को माध्यस्थ्य कहते हैं।

ये भावनाएँ किस प्रकार भाई जाती हैं उसका स्वरूप नीचे लिखे मूजब है :- 'संसार में कोई भी प्राणी दु:ख दु:ख और उसके कारणभूत पाप से युक्त तथा संतप्त न हो, विश्वमात्र को निश्चल - पारमार्थिक कल्याण - आत्मिक सुख प्राप्त हो' ऐसे परिणामों को मैत्री कहते हैं। जैसा कि कहा है कि :-

[१]**शिवमस्तु सर्वजगत: परहितनिरता भवन्तु भूतगणा:।**
दोषा: प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोक:।।

समस्त जगत को कल्याण की प्राप्ति हो, सभी प्राणी दूसरों के हित में निरंतर रत रहें, संसार में से दोष नष्ट हो जांय, और सभी जीवों को सर्वत्र और सर्वदा सुख की प्राप्ति हो। तथा च -

मा कार्षीत् कोपि पापानि मा च भूत्कोपि दु:खित:।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते।।

संसार में कोई भी जीव पाप न करे और न कोई दु:खों से उत्पीड़ित हो। समस्त जगत् निर्वृत्ति प्राप्त करे। ऐसी मति को मैत्री कहते हैं।

पुरोवर्त्ती - दृश्यमान गुणाधिक पुरुषों में अनुरक्त होनेवाले चक्षुओं की तरह देशविप्रकृष्ट और कालविप्रकृष्ट - केवल स्मृतिपथ को प्राप्त हुए गुणोत्कृष्ट व्यक्तियों के विषय में अनुरक्त होनेवाला ही मन प्रशस्यतर समझना चाहिये। ऐसे सद्भावकों को - इन प्रत्यक्ष में उपस्थित

---

१ - इसी तरह से अन्यत्र भी श्लोक हैं।

गुणशालियों को देखकर मेरे नेत्र सफल हो गये, और उन परोक्ष रत्नत्रय धारक पुनीत महात्माओं का स्मरण कर मेरा मन अत्यंत पवित्र हो गया। इस तरह से विचार करने या होने को प्रमोद कहते हैं। इसके होनेपर अंतरंग में जागृत हो उठनेवाली भक्ति विकसित हो जानेवाले मुखादिक के द्वारा अभिव्यक्त हो जाया करती है। इस विषयमें कहा है कि :-

अपास्ताशेपदोषाणां वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोदः प्रकीर्तितः।।

समस्त दोषों को दूर कर वस्तुतत्त्व का अवलोकन करनेवालों के ज्ञानादर्शनादिक गुणों में पक्षपात करने को प्रमोद कहते हैं।

क्लेश भोगते हुए इन प्राणियों की मैं रक्षा किस तरह करूँ। इन संक्लिष्ट जीवों के दु:खो का मैं निवारण किस तरह से कर दूं, ऐसे सद्भाव रखने या विचार करने को करूणा कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धेःकारुण्यमभिधीयते।।

दीन दु:खी भीत और जीवन की याचना करनेवाले - अभय के प्रार्थी जीवों के उन दु:खों का प्रतिकार करने में तत्पर रहनेवाली बुद्धि को कारुण्य कहते हैं।

सत्पुरुषों के द्वारा जिनमें स्थापित किये गये गुण संक्रांत हो जाते हैं उनको द्रव्यपात्र कहते हैं। किन्तु जो इस लक्षण से शून्य हैं और जिन्होंने तत्वार्थ का श्रवण तथा ग्रहण करके श्रोतापने या पात्रता के गुण का संपादन नहीं किया है ऐसे व्यक्तियों को दी गई कोई भी शिक्षा फलवती नहीं हो सकती। अतएव हे ब्राह्मि ! वा देवि ! आओ, साम्यभावना में तत्पर मेरी आत्मा को प्राप्त करो। अपना कार्य छोड़कर मौनावस्था को धारण करो। इस प्रकार साधुओं को अपात्रों के विषय में रागद्वेष छोड़कर उपेक्षा - माध्यस्थ्य को स्वीकार कर मौन धारण करना चाहिये। कहा भी है कि :-

क्रूरकर्मसु निःशङ्कं देवतागुरुनिन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यसथ्यमुदीरितम्।।

क्रूर कर्म करनेवाले, निःशंक होकर देवता और गुरुओं की निंदा करनेवाले, तथा अपनी प्रशंसा करनेवालों के साथ उपेक्षा - रागद्वेषरहित प्रवृत्ति - मौन धारणादि करने को माध्यस्थ्य कहते हैं।

इस प्रकार साधुओं को इन भावनाओं के द्वारा अपने उपर्युक्त महाव्रत अच्छी तरह दृढ़ बना देने चाहिये जिससे कि मुक्तिरूप फल को वे उत्पन्न कर सके।

इन भावनाओं के सिवाय मोक्षाशास्त्र में 'हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम्' और 'दुःखमेव वा', इन दोनों सूत्रों के द्वारा समस्त व्रतों में व्यापक - सामान्यतः सभी व्रतों के लिये उपयोगी और भी जिन भावनाओं का उपदेश दिया है उनको भी हम प्रत्येक व्रत के साथ पहिले दिखा चुके हैं। अतएव यहाँ पर उनके वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है।

अब :-

'अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्मबुद्धिसंपन्नः स्वयमेव परो भवेत्।।'

जो अव्रती हैं उनको व्रत स्वीकार करके और व्रती होनेपर ज्ञान - श्रुत का अभ्यास करके, तथा ज्ञानपरायण हो जानेपर परमात्मध्यान से संपन्न होकर मुमुक्षुओं को स्वयं ही परमात्मरूप हो जाना चाहिये। इस वचन के अनुसार जो मोक्षमार्ग में विहार करने की प्रतिज्ञा कर मनुपिद को स्वीकार कर उक्त महाव्रतों का निर्वाह करने में तत्पर हैं अथवा उनका निर्वहण कर चुके हैं उनकी मैत्री आदि भावनाओं तथा स्वाध्याय और व्यवहार निश्चयरूप ध्यान के करने का फल बताते हुए इन विषयों में भी उपयुक्त होने के लिये सावधान करते हैं :-

मैत्र्याद्यभ्यसनात् प्रसद्य समयादावेद्य युक्त्याञ्चितात्
यत्किंचिद्रुचित्तं चिरं समतया स्मृत्त्वातिसाम्योन्मुखम्।

ध्यात्त्वार्हन्तमुतस्विदेकमितरेष्वत्यन्तशुद्धं मनः,
सिद्धं ध्यायदहंमहोमयमहो स्याद्यस्य सिद्धः स वै।।१५२।।

ऊपर जिन मैत्री आदिक भावनाओं के विषय में वर्णन किया गया है उनके विषय में कहा है कि :-

एता मुनिजनानन्दसुधास्यन्दैकचन्द्रिकाः।
ध्वस्तरागादिसंक्लेशा लोकाग्रपथदीपिकाः।।

ये भावनाएँ मुनिजनों के लिये आनंदामृत की वर्षा या सिञ्चन करनेवाली अपूर्व चंद्रिका के समान हैं, रागादिक संक्लेश परिणामों को ध्वस्त करनेवाली और मोक्षमार्ग को प्रकाशित करने के लिये दीपिका के समान हैं। अतएव इन भावनाओं का अभ्यास करके अपने को अप्रशस्त रागद्वेष कषाय से रहित कर संप्रदाय के अविच्छेद और प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाणादिक हेतुओं से अनुग्रहित - पूजित आगम के अनुसार जीवादिक ध्येय व याथात्म्यरूप से निर्णय - श्रद्धान कर रागद्वेष के अविषय किंतु उस श्रद्धा के विषयभूत किसी भी अनियत चेतन या अचेतन पदार्थ का चिरकाल तक - जब तक परमौदासीन्य की यौग्यता प्राप्त न हो जाय तब तक स्मरण - ध्यान करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते।

जिस विषय में मनुष्य अपनी बुद्धि को उपयुक्त किया करता है उसी विषय में उसकी श्रद्धा होती है, उसी विषय में उसका चित्त लीन हुआ करता है।

और भी कहा है कि :-

किमत्र बहूनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वतः।
ध्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्यं तत्र विभ्रता।।

अधिक क्या कहें, सभी पदार्थों को याथात्म्यकरूप से जानकर और उनका श्रद्धान कर उनमें माध्यस्थ्य को धारण करनेवाले साधुओं को उन सभी पदार्थों का ध्यान करना चाहिये।

इस प्रकार चेतन या अचेतन किसी भी पदार्थ का ध्यान मुमुक्षुओं को अपने को - निजात्मस्वरूप को परमौदासीन्य परिणाम की तरफ उन्मुख - प्रयत्न पर करना चाहिये। और ऐसा होकर अर्हंत - जीवन्मुक्त भगवान् का अथवा आचार्य उपाध्याय साधु इन तीनों में से किसी भी एक का एकाग्रतया ध्यान करना चाहिये। इस पर पुनः पुनः ध्यान करके और परमौदासीन्यस्वरूप परिणत होकर परममुक्त श्री सिद्ध भगवान् का एकाग्रतया ध्यान करने में रत होना चाहिये।

कहा भी है कि :-

सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते।
ततो ज्ञानस्वरूपोयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः।।
तत्रापि तत्त्वतः पंच ध्यातव्याः परमेष्ठिनः।
चत्वारः सकलास्तेषु सिद्धस्वामी तु निष्फलः।।

जिस समय ज्ञाता ज्ञेयविषयों की तरफ प्रवृत्त होता है उस समय सभी ज्ञेय पदार्थ ध्येय हो जाते हैं। किंतु इसके बाद होनेवाला यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही प्रशस्त ध्येय माना गया है। और उसमें भी पंचपरमेष्ठी ही वस्तुतः ध्येय समझने चाहिये। जिनेमें से कि चार अर्हंत आचार्य उपाध्याय और साधु परमेष्ठी तो सशरीर ध्येय हैं और एक सिद्ध परमेष्ठी अशरीर ध्येय हैं।

इस क्रम से ध्यान करते योगियों का मन जिस आत्मज्योति का वे वेदन करते हैं तन्मय हो जाता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

लवणं व सलिलजोए झाणे चित्तं विलियए जस्स।
तस्स सुहासुहडहणो अप्पा अणलो पयासेइ।।

जिस प्रकार नमक की डली पानी के संबंध से गलकर पानीरूप ही हो जाती है

उसी प्रकार जिस साधु का मन ध्यान में लीन होकर ध्येयरूप ही हो जाता है उसके वह आत्मरूप अग्नि प्रकाशित होती है जो कि शुभ और अशुभ अथवा सुख और असुख तथा उनके करणों को जलाकर भस्म कर देती है।

हे महाव्रतों के पालन करने में उद्यत मुने ! जिस साधु का मन इस प्रकार के आत्मतेजोमय स्वरूप को प्राप्त कर चुका है, निश्चय से उसी साधु को सिद्ध समझना चाहिये। वह शुद्धनिश्चयवादियों में, अच्छी तरह धारण किये गये महाव्रतों में निष्णांत हो जाने के कारण प्रसिद्ध हो जाता है। कहा है कि :-

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यम्।।

आगमप्रसिद्ध दोनों ही प्रकार के मोक्षमार्ग की पूर्णतया प्राप्ति ध्यान में अथवा उसके द्वारा ही हो सकती है। अतएव विवेकियों को आलस्यरहित होकर निरंतर उस ध्यान का ही अभ्यास करना चाहिये।

अथवा पूर्वोक्त प्रकार से शुद्धस्वरूप परिणत ध्याता को निश्चय से भावों की अपेक्षा सिद्ध - परममुक्त ही समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हन् स्यात् स्वयं तस्मात्।।

जो आत्मा जिस रूप से परिणत होता है - जिस विषय का ध्यान करता है वह उस ध्यान के द्वारा तन्मय हो जाता है। यही कारण है कि अर्हंत के ध्यान में आविष्ट आत्मा स्वयं भावतः अर्हन् हो जाता है। और भी कहा है कि :-

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा।।

जिस प्रकार स्फिटिक के पीछे जैसी उपाधि लगाई जाय वह वैसा ही हो जाता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी साधु जिस भाव के द्वारा अपनी आत्मा का जिस रूप से ध्यान करता है उस भाव के द्वारा वह उसी स्वरूप हो जाता है।

भावार्थ :- साधुओं को मैत्री आदि भावनाओं के द्वारा रागद्वेष रहित होकर युक्तियुक्त आगम के अनुसार जीवादिक वस्तुओं का यथावत् श्रद्धान करना चाहिये। और उसके विषयभूत पदार्थों का समतापूर्वक परमौदासीन्य योग्यता प्राप्त होनेतक ध्यान करना चाहिये। इसके बाद सकल परमेष्ठी का और अंत में सिद्धभगवान् का ध्यान करना चाहिये जिसके बल से कि स्वयं सिद्धस्वरूप की प्राप्ति हो जाय।

इस प्रकार महाव्रतों का और उनके विशेष सामान्य भावनाओं तथा रात्रिभोजनत्यागरूप परिकरों का निरूपण किया। अब गुप्ति और समिति का व्याख्यान करना चाहते है। क्योंकि इस अध्याय की आदि में सम्यक्चारित्ररूपी छायावृक्ष का व्रतों को प्रकाण्ड, गुप्तियों को अग्रशाखा समितियों को उपशाखा लिखा जा चुका है। अतएव प्रकाण्डव्रतवर्णन के बाद गुप्ति और समिति का वर्णन क्रमप्राप्त है। तीन गुप्ति और पाँच समिति इनको आगम में प्रवचन माता कहा है। ऐसा क्यों कहा है इस बात की उपपत्ति बताते हुए व्रतोद्यत मुमुक्षुओं को उनकी आराध्यता का उपदेश देते हैं :-

अहिंसा पञ्चात्म व्रतमथ यताङ्गं जनयितु,
सुवृत्तं पातुं वा विमलयितुमम्बाः श्रुतविदः।
विदुस्तिस्त्रो गुप्तीरपि च समितीः पंच तदिमाः,
श्रयन्त्विष्टायाष्टौ प्रवचनसवित्रीर्व्रतपराः।।१५३।।

सावद्यकर्म से विरत रहनेवाले अथवा योगानुष्ठान करने के लिये प्रवृत्ति करनेवाले साधुओं का शरीर ही जिसका शरीर है ऐसे अहिंसारूप अथवा अहिंसाप्रभृति पाँच प्रकार के व्रतरूपी समीचीन चारित्र को उत्पन्न करने के लिये तथा सदा निर्मल बनाये रखने के लिये आगम के जाननेवाले आचार्य तीन गुप्तियों और पाँच समितियों को माता समझते हैं। अतएव उक्त व्रतों में निष्ठा रखनेवाले अथवा पूर्णतया पालन करने के लिये तत्परता रखनेवाले मुमुक्षुओं को अपना अभिमत प्रयोजन सिद्ध करने के लिये गुप्तिसमितितरूप आठों

प्रवचन माताओं का जो कि रत्नत्रयरूप प्रवचन की जननी है अवश्य ही आश्रय लेना चाहिये, आराधन करना चाहिये।

भावार्थ :- संतान के प्रति माता के मुख्यतया तीन काम हुआ करते हैं, १ प्रसव, २ पालन, और ३ शोधन। संतानशरीर के उत्पन्न करने का नाम प्रसव है तथा आपत्तिकर या हानिकर विषयों से उसके बचाव रखने एवं पोषक पदार्थों के द्वारा पुष्टिलाभ कराने को पालन, और अंतरंग दोषों को दूर कर शिक्षाभ्यासादि के द्वारा गुण उत्पन्न करने को शोधन कहते हैं। जिस प्रकार माता अपनी संतान के प्रति इन तीनो कर्तव्यों का पालन करती है, उसी प्रकार गुप्ति और समिति भी उक्त व्रतों के प्रति ये तीनों ही काम पूरे किया करती हैं। अतएव आगम में इनको माता कहा है। योगियों का शरीर ही व्रतों का शरीर है, उसको ये उत्पन्न करती हैं और पालन तथा नैर्मल्य के द्वारा उनको पुष्ट तथा समृद्ध बनाती हैं। अतएव उक्त व्रतों के पालन करनेवाले को उचित है कि वह इष्टसिद्धि के लिये इन आठ माताओं का - ३ गुप्ति और ५ समिति का आराधन करे। क्योंकि ये रत्नत्रय की जननी हैं।

गुप्ति का सामान्य लक्षण बताते हैं :-

गोप्तुं रत्नत्रयात्मानं स्वात्मानं प्रतिपक्षतः।
पापयोगान्निगृह्णीयाल्लोकपंक्त्यादिनिस्पृहः।।१५४।।

मिथ्यादर्शन प्रभृति जो तीन प्रकार के कर्मबंध के कारण बताये हैं वे आत्मा के प्रतिपक्षी हैं। उनसे रत्नत्रय स्वरूप अपनी आत्मा को सुरक्षित रखने के लिये लोकपूजा लाभ ख्याति आदि विषयों में स्पृहा न रखकर व्रतोद्यत साधु को पापयोग - व्यवहारनय से पापकर्म के कारण और निश्चयनय से शुभाशुभ कर्मों के आस्रव का कारण होने से निंद्य मनवचनकाय के व्यापार का निग्रह करना चाहिये।

भावार्थ :- मनवचनकाय के द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप योग के समीचीन निग्रह को योगनिग्रह कहते हैं। जैसा कि आगम में भी कहा है कि :-

वाक्कायचितजानेकसावद्यप्रतिषेधकम् -
त्रियोगरोधकं वा स्याद्यत् तद्गुप्तित्रयं मतम्।।

मन वचन और काय के द्वारा होनेवाले अनेक सावद्य कर्मों के रोकने को ही गुप्ति कहते हैं। अतएव गुप्ति तीन प्रकार की बताई है - मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। मोक्षशास्त्र में भी कहा है कि 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः'। यहाँ पर समीचीनता का अर्थ यही है कि लोकपूजादिक में स्पृहा न रखकर और रत्नत्रय अथवा तत्स्वरूप आत्मा की प्रतिपक्षियों से रक्षा करने के लिये। क्योंकि इस प्रकार से किया गया ही योगनिग्रह मुमुक्षुओं के लिये इष्ट का साधक और अतएव समीचीन हो सकता है, अन्यथा नहीं। व्यवहारनय से जो पापकर्म के संचय का कारण है उसको किन्तु निश्चयनय से योगमात्र को आचार्यों ने निंद्य कहा है।

उपर्युक्त गुप्तियों का पालन करने के लिये दृष्टांत देकर
साधुओं को सावधान करते हैं :-

प्राकारपरिखावप्रैः पुरवद्रत्नभासुरम्।
पायादपादात्मानं मनोवाक्कायगुप्तिभिः।।१५५।।

जिस प्रकार राजा रत्नों - तत्तज्जाति के उत्कृष्ट पदार्थों से भासुर - शोभायमान अपने नगर की, उसके अभ्युदय को नष्ट कर देनेवाले अपायों से प्राकार परिखा और वप्र के द्वारा रक्षा किया करता है उसी प्रकार व्रतियों को सम्यग्दर्शन प्रभृति रत्नों से भासुर - देदीप्यमान अपनी आत्मा की रत्नत्रय के विघातक अपायों से मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति के धारण करने में अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिये।

भावार्थ :- परिखा शब्द का अर्थ खाई है, जो कि नगर के चारो तरफ कृत्रिम नदी के रूप में बनाई जाती है। इसके भीतर किंतु नगर के चारों तरफ जो परकोटा बनाया जाता है उसको प्राकार कहते हैं। इसी प्रकार खाई के बाहिर किन्तु नगर के चारों तरफ जो धूलि का परकोटा बनाया जाता है उसको वप्र कहते हैं। जिस प्रकार

इन तीनों उपायों से राजधानी के अभ्युदय की रक्षा होती है उसी प्रकार तीनों गुप्तियों से आत्मा के रत्नत्रय की रक्षा हुआ करती है। अतएव राजाओं के समान व्रतियों को भी क्रम से प्राकार परिक्षा और वप्र के तुल्य मनोगुप्ति और कायगुप्ति के धारण करने में अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिये।

मनोगुप्ति आदि का विशेष लक्षण बताते हैं :-

रागादित्यागरूपामुत समयसमभ्याससद्ध्यानभूतां,
चेतोगुप्तिं दुरुक्तित्यजनतनुभवाग्लक्षणां वोक्तिगुप्तिम्।
कायोत्सर्गस्वभावां विशररतचुरापोहदेहामनीहा -
कायां वा कायगुप्तिं समदृगनुपतन्पाप्मना लिप्यते न।।१५६।।

जीवन और मरण प्रभृति सभी हेय और उपादेय पदार्थों के विषय में समान बुद्धि रखनेवाला अथवा उनका यथावत् श्रद्धान करनेवाला वह साधु ज्ञानावरणादिक पापकर्मों से कभी भी लिप्त नहीं होता जो कि तीनों गुप्तियों का निरंतर पालन किया करता है। इन गुप्तियों का स्वरूप इस प्रकार है :-

रागद्वेष कषायों के और मोह के अभाव को यद्वा विनयपूर्वक समय का अच्छी तरह अभ्यास करने को, अथवा समीचीन ध्यान को मनोगुप्ति कहते हैं। समय तीन प्रकार का बताया है - शब्दसमय, अर्थसमय और ज्ञानसमय जिसका कि अर्थ क्रम से वाचक वाच्य और प्रत्यय होता है। इस विषय में एक जगह कहा है कि :-

विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान्।
स्वाधीनं कुर्वतश्चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।।
सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शाश्वत् प्रेरयतोथवा।
भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः।।

रागद्वेष के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले समस्त संकल्प विकल्पों को छोड़कर समताभाव

में स्थिर हो जानेवाले अपने मन को जो व्यक्ति अपने अधीन - वश में कर लेता है, अथवा सिद्धांत की सूत्ररचना के विषय में निरंतर ही जो अपने मन को लगाता रहता है उसी विचारशील पुरुष के परिपूर्ण मनोगुप्ति पल सकती है।

कठोर वचनादिक के छोड़ देने को अथवा मौन धारण करने को वचनगुप्ति कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

साधुसंवतवाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मुनेः।
संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामतेः।।

जो महामति मुनि संज्ञा - इशारे आदि को छोड़कर अपनी वचनप्रवृत्ति को अच्छी तरह संवरण कर लेता है अथवा मौन धारण कर लेता है उसीके वचनगुप्ति हो सकती या कहीं जा सकती है।

शरीर में ममत्त्वबुद्धि के परित्यागरूप कायोत्सर्ग को, अथवा हिंसा मैथुन और चोरी इन पापों से दूर रहने को, यद्वा समस्त शारीरिक चेष्टाओं की निवृत्ति को कायगुप्ति कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यङ्क संश्रितस्य वा।
परीषहप्रपातेपि कायगुप्तिर्मता मुनेः।।

अत्यंत परीषहों के आ उपस्थित होनेपर भी जो अपने शरीर को स्थिर बनाये रखता है अथवा पर्यङ्कासन में निश्चल रहता है - जो कायोत्सर्ग अथवा पर्यङ्कासन से विचलित नहीं होता उस साधु के कायगुप्ति कही जाती है। और भी कहा है कि :-

कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः।
हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिः समुद्दिष्टा।।

शारीरिक क्रियाओं के परित्याग अथवा कायोत्सर्ग को कायगुप्ति कहते हैं। यद्वा

हिंसादिक पापों की निवृत्ति को भी कायगुप्ति कहते हैं।

वस्तुतः त्रिगुप्तियुक्त का स्वरूप बताकर उसीके उत्कृष्टतया संवर और निर्जरा हो सकती है ऐसा उपदेश देते हैं :-

लुप्तयोगस्त्रिगुप्तोऽर्थात्तस्यैवापूर्वमण्वपि।
कर्मास्रवति नोपात्तं निष्फलं गलति स्वयम्।।१५७।।

जिसका मानसिक वाचिक और कायिक तीनों ही प्रकार का व्यापार लुप्त हो चुका है - जो तीनों ही प्रकार से योगों से सर्वथा रहित हो चुका है वही आत्मा वस्तुतः गुप्तित्रयरूप परिणत समझना चाहिये। ऐसे त्रिगुप्त आत्मा के एक परमाणुमात्र भी नवीन कर्मयोग - पुद्गलद्रव्य का आस्रव नहीं होता। और बिना किसी प्रकार का प्रयत्न किये ही पूर्वसंचित कर्म अपना फल न देकर ही आत्मा से संबध छोड़ जाते है।

भावार्थ :- उपर्युक्त तीनों प्रकार की योग परिणति जिसकी सर्वथा नष्ट हो चुकी है उसीको वस्तुतः त्रिगुप्ति का धारक समझना चाहिये और उसीके परमसंवर तथा परमनिर्जरा हो सकती है या हुआ करती है।

सिद्ध हुए योग - ध्यान के आश्चर्यजनक माहात्म्य को प्रकट करते हैं :-

अहो योगस्य माहात्म्यं यस्मिन् सिद्धेऽस्ततत्पथः।
पापन्मुक्तः पुमाल्लब्धस्वात्मा नित्यं प्रमोदते।।१५८।।

जिस योग - ध्यान के सिद्ध हो जानेपर जीव पापकर्मों के आने के मार्ग का सर्वथा निरोध कर पूर्वसञ्चित पापकर्मों से भी सर्वथा रहित हो निज शुद्धस्वरूप को प्राप्त कर अनंतकालतक निरंतर आत्मिक परमानंद पद का अनुभव करता है, अहो उसके आश्चर्यकारी माहात्म्य का कौन वर्णन कर सकता है।

भावार्थ :- परमसंवर संपूर्ण निर्जरा और परममुक्ति इन तीन लोकोत्तर तत्त्वों की प्राप्ति ध्यान के निमित्त से ही हो सकती है। अतएव उसका माहात्म्य भी लोकोत्तर ही समझना चाहिये। यहाँ पर पाप शब्द से सभी कर्मों का ग्रहण किया है। क्योंकि निश्चयनय

से देखा जाय तो सभी कर्म आत्मा के प्रतिपक्षी हैं और संसाररूप अथवा उसके कारण है। तथा संसार का अभाव हो जानेपर जो जीव को निज शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति होती है उसको मोक्ष कहते हैं। इसके कारण परमसंवर और निर्जरा हैं जिनकी कि सिद्धि उक्त द्वारा ही हो सकती है। यह ध्यान अप्रमत्तसंयत गुणस्थान के प्रथम समय से लेकर अयोगकेवलि गुणस्थान के प्रथम समय को प्राप्त कर क्रम से व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानरूप हो जाता है। यहीं पर इसकी निष्पन्नता होती है और लोकोत्तर माहात्म्य प्रकट होता है।

मनोगुप्ति के अतीचारों को बताते हैं।

रागाद्यनुवृत्तिर्वा शब्दार्थज्ञानवैपरीत्यं वा।
दुष्प्रणिधानं वा स्यान्मलो यथास्वं मनोगुप्तेः।।१५९।।

पहले गुप्तियों का विशेष लक्षण बताते हुए मनोगुप्ति का स्वरूप तीन प्रकार से बताया जा चुका है। १ रागादिक के त्यागरूप, २ समय के अभ्यासरूप, और ३ समीचीन ध्यानरूप। इन्हीं तीन प्रकारों को ध्यान में रखकर यहाँ पर मनोगुप्ति के क्रम से तीन प्रकार के अतीचार बताते हैं।

उस आत्मपरिणति को जिसका कि रागद्वेष कषाय तथा मोहरूप परिणाम अनुगमन करते हैं मनोगुप्ति का पहले लक्षण की अपेक्षा से अतीचार समझना चाहिये। किन्तु यह अतीचार उसी अवस्था में कहा जा सकता है जब कि मनोगुप्ति की अपेक्षा रखते हुए इससे उसके एकदेश का ही भङ्ग हो। क्योंकि अंशभङ्ग का ही नाम अतीचार है। अतएव यह बात आगेत के अतीचारों के विषय में भी ध्यान में रखनी चाहिये।

दूसरे लक्षण की अपेक्षा से शब्दार्थज्ञान के वैपरीत्य को अतीचार बताया है। यह कई प्रकार से होता है किंतु सामान्य से इसके तीन भेद है। शब्दवैपरीत्य, अर्थवैपरीत्य, और ज्ञानवैपरीत्य। व्याकरणशास्त्र के विरोध को अथवा विवक्षित पदार्थ के अन्यथारूप से प्रकाशित करने को शब्दवैपरीत्य कहते हैं। सामान्यविशेषात्मक अभिधेयवस्तु का नाम अर्थ है। अतएव सामान्यमात्र अथवा विशेषमात्र यद्वा दोनों के स्वतंत्र मानने को अर्थवैपरीत्य

कहते हैं। जीवादिक द्रव्यों का जैसा स्वरूप बताया गया है वैसा न मानकर अन्यथा मानना इसको भी अर्थवैपरीत्य कहते हैं। शब्द अर्थ अथवा दोनों के ही विपरीत प्रतिभास का नाम ज्ञानवैपरीत्य है।

तीसरे लक्षण की अपेक्षा से आर्तरौद्रध्यान को अथवा समीचीन विषय में उसके न लगाने को अतीचार कहा है। इस प्रकार मनोगुप्ति के लक्षणभेद की अपेक्षा से तीन प्रकार के अतीचार बताये हैं। किंतु इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि ऐसी कोई भी क्रिया अथवा परिणाम मनोगुप्ति के अतीचारों में ही परिगणित होंगे जो कि अपेक्षाविषय के अनुसार मनोगुप्ति के आंशिक भंग का कारण हों। क्योंकि अंशभंग का ही नाम अतीचार है। यह बात आगे के अतीचारों के विषय में भी ध्यान में रखनी चाहिये।

क्रमप्राप्त वचनगुप्ति के अतीचारों को दिखाते हैं।

कार्कश्यादिगरोद्गारो गिरः सविकथादरः।
हंकारादिक्रिया वा स्याद्वाग्गुप्तेस्तद्वदत्ययः।।१६०।।

भाषासमिति के विषय में कर्कशा पुरुषा कट्वी आदि दश प्रकार के वचनदोष आगे चलकर गिनावेंगे। ऐसे वचनों को विष के समान समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार विष के निमित्त से उसके भक्षण करनेवाले को मोह अथवा संतापादिक हुआ करते हैं उसी प्रकार कर्कश आदि वचनों के निमित्त से उसके सुननेवाले को भी संतापादिक हुआ करते हैं। अतएव ऐसे वचनों का श्रोताओं के प्रतिउच्चारण करना वचनगुप्ति का अतीचार है। इसी प्रकार विकथाओं में आदर - उनको प्रकाशित करने के लिये उद्यम करना भी वचनगुप्ति का अतीचार है। मोक्षमार्ग के विरुद्ध कथोपकथन को विकथा कहते हैं। इसके स्त्री राजा चोर और भोजन इन विषयों की अपेक्षा से चार भेद हैं। मुख से हुंकारादिक के द्वारा अथवा खकार करके यद्वा हाथ और भृकुटिचालन क्रियाओं के द्वारा इङ्गित करना भी वचनगुप्ति का अतीचार है।

पहिले वचनगुप्ति का स्वरूप दो प्रकार से बताया है। एक तो दुर्वचन के त्यागरूप, दूसरा मौनरूप। उपर्युक्त आदिके दो अतीचार प्रथम लक्षण की अपेक्षा से हैं और तीसरा

अतीचार मौनरूप लक्षण की अपेक्षा से है।

कायगुप्ति के अतीचारों को बताते हैं :-

कायोत्सर्गमलाः शरीरममतावृत्तिः शिवादिन्यथा,
भक्तं तत्प्रतिभोन्मुखं स्थितिरथाकीर्णेंघ्रिणैकेन सा।
जन्तुस्त्रीप्रतिमापरस्वबहुले देशे प्रमादेन वा,
सापध्यानमुताङ्गवृत्त्युपरतिः स्युः कायगुप्तेर्मलाः।।१६१।।

आगे चलकर आठवें अध्याय में आवश्यकों का वर्णन करते हुए कायोत्सर्ग संबंधी जिन बत्तीस दोषों का वर्णन करेंगे उनको कायगुप्ति का अतीचार समझना चाहिये। इसी प्रकार यह शरीर मेरा है इस प्रकार की प्रवृत्ति करने को, अथवा महादेव विष्णु ब्रह्मा बुद्ध आदि की मूर्ति के सामने इस तरह से खड़े होने को मानों उनका आराधन करने के लिये खड़े हुए हैं - आराधक की तरह से शिवादि की मूर्ति के सामने हाथ छोड़कर या किसी अन्य प्रकार से खड़े होने को, यद्वा जनसमूह से व्याप्तस्थानमें एक पैर से खड़े होने को भी कायगुप्ति का अतीचार कहते हैं। किंतु ये चारो ही अतीचार कायगुप्तिका जो कायोत्सर्गरूप लक्षण बताया है उसकी अपेक्षा से हैं। ये अतीचार समस्त अथवा व्यस्त दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। कायगुप्ति का दूसरा स्वरूप हिंसादिक के त्यागरूप बताया है। उसकी अपेक्षा से ऐसे स्थान में जिसमें कि अनेक जंतु - प्राणिगण स्त्रियों की प्रतिमाएँ अथवा परकीय धनादिक प्रचुरता से पाया जाता हो। प्रमाद - अयत्नाचारपूपर्वक रहने को कायगुप्ति का अतीचार समझना चाहिये। कायगुप्ति का तीसरा लक्षण समस्त चेष्टाओं का परित्याग बताया है। इस लक्षण की अपेक्षा से शरीर अथवा हस्तादिक के द्वारा परीषह अथवा उपसर्गादिक के दूर करने की चिंतारूप अपध्यान के साथ साथ शरीर व्यापार के छोड़ने को कायगुप्ति का अतीचार समझना चाहिये।

जो मुनि गुप्तियों के पालन करने में असमर्थ है और शरीर से व्यापार करना चाहता है उसको समितियों का पालन करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं :-

गुप्तेः शिवपथदेव्या बहिष्कृतो व्यवहृतिप्रतीहार्या।
भूयस्तद्भक्त्यवसरपरः श्रयेत्तत्सखीः शमी समिती।।१६२।।

जिस प्रकार अभीष्ट नायिका को अपने ऊपर अनुरक्त - प्रसन्न करने की इच्छा रखनेवाला कोई नायक अवसर न मिलने पर उसको अनुकूल करने के लिये अपनी उस प्रेयसी की सखी का आश्रय लेता है, उसी प्रकार गुप्तियों का आराधन करने की इच्छा रखनेवाले पति को उनकी अप्राप्ति में गुप्तियों की सखी के समान समितियों का ही आश्रय लेना श्रेयस्कर है।

यहाँ पर समितियों को गुप्तियों की सखी जो बताया है उसका अभिप्राय यह है कि समितियाँ गुप्तियों के स्वभाव का अनुसरण किया करती हैं किंतु गुप्तियाँ समितियों के स्वभाव का अनुसरण कभी नहीं करतीं।

गुप्तियों को मोक्षमार्ग की अधिदेवता और शरीरादिक की चेष्टा को उनकी प्रतिहारिणी जो कहा है उसका भी अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार प्रतिहारिणी अपनी स्वामिनी का आराधन न करनेवाले अथवा विराधन करनेवाले को दूर कर दिया करती है उसी प्रकार गुप्तियों का आराधन करने में असमर्थ अथवा विराधन करनेवाले यति को व्यवहार चेष्टा मोक्षमार्ग से दूर कर दिया करती है - यथेष्ट संवर निर्जरा नहीं होने देती। क्योंकि कहा भी है कि कर्मों के आगमन के द्वार का निरोध करनेवाले यति के - गुप्ति और शरीरचेष्टा विशिष्ट साधु के समितियाँ हुआ करती है। यथा :-

कर्मद्वारोपरमणरतस्य तिस्रस्तु गुप्तयः सन्ति।
चेष्टाविष्टस्य मुनेर्निर्दिष्टाः समितयः पञ्च।।

अतएव मुमुक्षु यतियों को उचित है कि मोक्षमार्ग की अधिदेवता गुप्ति की प्रतीहारिणी चेष्टा के द्वारा बहिष्कृत होनेपर वे उस देवता के आराधन करने का पुनः अवसर प्राप्त करने में तत्पर हों और उसके लिये उस देवता की सखी सदृश समिति का आश्रय लें।

विशेष भेदों का नामोल्लेख करते हुए समिति का निरुक्तिसिद्ध सामान्य लक्षण बताते हैं :-

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गलक्षणाः ।
वृत्तयःपञ्च सूत्रोक्तयुक्तया समितयो मताः ।।१६३ ।।

सूत्र - श्रुत अथवा आगम में बताये हुए क्रम के अनुसार - समीचीनतया की गयी प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। क्योंकि निरुक्ति के अनुसार समिति शब्द का अर्थ ऐसा ही होता है कि सम् - समीचीनतया की गई इति - प्रवृत्ति। इस समीचीन प्रवृत्ति के पाँच भेद हैं - ईर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग। ईर्या शब्द का अर्थ गमन, भाषा शब्द का अर्थ वचन, एषणा शब्द का अर्थ भोजन, आदाननिक्षेपण शब्द का अर्थ क्रम से ग्रहण करना और रखना तथा उत्सर्ग शब्द का अर्थ छोड़ना - मलमूत्रादि का परित्याग होता है।

पाँचों ही समितियों का विशेषलक्षण बताने की इच्छा से क्रमानुसार पहिले ईर्या समिति का लक्षण बताते हैं :-

स्यादीर्यासमितिः श्रुतार्थविदुषो देशान्तरं प्रेप्सतः,
श्रेयःसाधनसिद्धये नियमिनः कामं जनैर्वाहिते ।
मार्गे कौक्कटिस्य भास्करकरस्पृष्टे दिवा गच्छतः,
कारुण्येन शनैः पदानि ददतः पातुं प्रयत्याङ्गिनः ।।१६४ ।।

प्रायश्चितादि ग्रंथरूप श्रुत के अर्थ का भले प्रकार ज्ञान रखनेवाला जो व्रती या यति आत्मकल्याण के साधन सम्यग्दर्शनादिक अथवा उसके कारण अपूर्व चैत्यालय समीचीन उपाध्याय तथा धर्मचार्यादिक की सिद्धि - प्राप्ति के लिये अपने स्थान से उस साधन के स्थान पर जाने की इच्छा होनेपर ऐसे मार्ग पर जो कि लोगों के द्वारा अच्छी तरह विध्वस्त है - जिसमें कि मनुष्य हाथी घोडा गाडी आदि निरंतर अच्छी तरह चलते हैं और जिसमें सूर्य की किरणें अथवा प्रकाश पड़ रहा हो; करुणाबुद्धि से - दयार्द्रपरिणामों से और बड़े

प्रयत्न - सावधानता के साथ इस तरह मंद मंद पैर रखते हुए कि जिससे किसी भी जीव की विराधना न हो - प्रत्येक जीव की हर तरह से रक्षा करते हुए और इसीलिये रात्रि में नहीं किंतु दिन में तथा कुक्कुटसंपात्य भूमि जूडाप्रमाण धरती को शोधते हुए गमन करता है उसके ईर्यानाम की समिति होती है या समझनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

मग्गुज्जोउवओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचिभणिया इरियासमिदी पवयणम्हि।।

जो उद्योत उपयोग और आलंबन शुद्धि के द्वारा मार्ग में गमन करता है उसी मुनि के सूत्रोक्त निर्दोष ईर्या समिति हो सकती है ऐसा प्रवचन में कहा है।

क्रमप्राप्त भाषा समिति का लक्षण दो श्लोकों में बताते हैं :-

कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी।
छेदङ्करा मध्यकृशातिमायिन्यनयङ्करा।।१६५।।
भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजन्।
हितं मितमसंदिग्धं स्यद्भाषासमितो वदन्।।१६६।।

जो साधु कर्कशादि दुर्भाषाओं को छोड़कर हित मित और असंदिग्ध वचन बोलता है उसके भाषानाम की समिति समझनी चाहिये। जो वचन अपना और दूसरे का उपकार करनेवाले हैं उनको हित, और जो विवक्षित अर्थ के लिये उपयोगी हों उनको मित, तथा जिनसे दूसरों को संशयादिक उत्पन्न न हो उनको असंदिग्ध कहते हैं। दुर्भाषा दश प्रकार की बताई है। यथा :-

१ - तू मूर्ख है, बिलकुल बैल है, कुछ नहीं समझता, इस तरह के संताप उत्पन्न करनेवाले वचनों को कर्कशा भाषा कहते हैं। २ - तू अनेक दोषों की खानि महादुष्ट है, ऐसे मर्मवेधी वचनों को परुषाभाषा कहते हैं। ३ - तू धर्मशून्य है, जातिहीन - कुजाति है, ऐसे उद्वेग उत्पन्न करनेवाले वचनों को कटुभाषा कहते हैं। ४ - तुझे मार डालूंगा,

तेरा शिर उडा दूंगा, ऐसे कठोर शब्दों को निष्ठुर भाषा कहते हैं। ५ - तू तो हसी का स्थान बिलकुल निर्लज्ज है, तेरा तप किस कामका, ऐसे दूसरे को क्रोध उत्पन्न करनेवाले वचनों को परकोपिनीभाषा कहते हैं। ६ - पराक्रमशाली और गुणवान् मनुष्यों का भी निर्मूल विनाश करदेनेवाले, अथवा असद्भूत दोषों को भी प्रकट करनेवाले वचनों को छेदंकरीभाषा कहते हैं। ७ - ऐसे निष्ठुर वचनों को जो कि हड्डियों के भीतर भी कृष कर डाले, मध्यकृषाभाषा कहते हैं। ८ - अपने महत्त्व को और दूसरों की निंदा को प्रख्यात करनेवाले शब्दों को अतिमानिनीभाषा कहते हैं। ९ - शीलसंतोषादिक के खण्डन करनेवाले अथवा परस्पर में मिले हुए या प्रेमबद्ध व्यक्तियों में विद्वेष उत्पन्न करनेवाले वचनों को अनयंकराभाषा कहते हैं। १० - जिनके निमित्त से जीवों के प्राणों का भी वियोग हो जाय ऐसे वचनों को भूतहिंसाकरी भाषा कहते हैं।

एषणा समिति का लक्षण बताते हैं :-

विघ्नाङ्गारादिशङ्काप्रमुखपरिकरैरुद्गमोत्पाददोषैः,
प्रस्मार्यं वीरचर्यार्जितममलमधःकर्ममुग् भावशुद्धम्।
स्वान्यानुग्राहि देहस्थितिपटु विधिवद्दत्तमन्यैश्च भक्त्या,
कालेन्नं मात्रयाश्नन् समितिमनुषजत्येषणायास्तपोभृत्। ।१६७।।

अधः नाम के महादोष का आगे चलकर वर्णन करेंगे। पञ्चसूना और प्राणिहिंसा अथवा सूनाओं के द्वारा होनेवाली हिंसा को अधःकर्म कहते हैं। इसका परित्याग करनेवाले और अतएव इन्द्रिय तथा मन के नियमन की अनुष्ठानरूप तपोलक्ष्मी को निरंतर पुष्ट करनेवाले साधु के उस समय एषणा नाम की समीचीन प्रवृत्ति समझनी चाहिये जब कि वह मात्रा के अनुरूप और योग्यकाल में ऐसे अन्न - चर्तुविध आहार को ग्रहण करे जो कि दाता के घर से वामभाग के तीन घर और दक्षिणभाग के तीन घर तथा एक उस दाता का घर जहाँ प्रतिग्रह किया गया हो इस तरह सात घरों में रहनेवाले ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अथवा सच्छूद्र के द्वारा भक्तिपूर्वक - निष्कपट अनुराग से एवं विधिपूर्वक प्रतिग्रहादि नवधाभक्ति के द्वारा दिया गया हो, जो अपने और पर के उपकार करने में समर्थ, शरीर को आयुप्रमाण

के अनुसार स्थिर रखने में क्षम हो, जो भोक्ता के परिणामों के द्वारा दूषित न किया गया हो अथवा जिसके विषय में भोक्ता के परिणाम विशुद्ध हों, जो पूय रुधिरादिक मलों से तथा अधःकर्म महादोष से रहित हो, जो वीरचर्या अदीन या अयाचकवृत्ति के द्वारा ग्रहण किया गया हो, तथा अंतराय और अंगारादिक एवं शंकाप्रभृति उद्गमदोष तथा उत्पादनादोषों से सर्वथा अलिप्त हो। भोजन बनानेवाले अथवा दाता के प्रयोग से भोजन बनाने में दोष होते हैं उनको उद्गमदोष कहते हैं। इसके औद्देशिकादिक सोलह भेद हैं। इसी प्रकार भोक्ता के द्वारा भोजन बनवाने में या उसके संबंध से जो दोष होतें हैं उनको उत्पादनादोष कहते हैं। इसके छात्रीदूत आदि भेद हैं। एवं भोजनक्रिया में जो विघ्न उपस्थित होते हैं उनको अंतराय कहते हैं। इसी प्रकार भोजनसंबंधी अंगारादिक तथा भोज्यवस्तुसंबंधी शंकादिक दोष भी हैं जिसका कि विशेष वर्णन आगे के अध्याय में करेंगे

भावार्थ :- जो साधु भोजन के संबंध में बताई हुई आठ प्रकार की शुद्धियों के अनुसार छ्यालीस दोष चौदह मल और बत्तीस अंतराय तथा अधःकर्म महादोष से रहित और उपर्युक्त विशेषणों से युक्त भोजन को विधिपूर्वक ग्रहण करता है उसीके एषणानामक समिति समझनी चाहिये।

आदाननिक्षेपण समिति का स्वरूप बताते हैं :-

सुदृष्टमृष्टं स्थिरमाददीत स्थाने त्यजेत्तादृशि पुस्तकादि।
कालेन भूयः कियतापि पश्येदादाननिक्षेपसमित्यपेक्षः।।१६८।।

जो साधु आदाननिक्षेपण समिति की अपेक्षा रखता है और उसको सुरक्षित रखना चाहता है उसे उचित है कि वह पुस्तकादिक किसी द्रव्य को जब ग्रहण करना चाहे तब उसको अपने साक्षात् चक्षुओं से अच्छी तरह देख ले और पीछे पिच्छिका आदि से झाड ले। फिर भी स्थिर - अनन्यचित्त होकर ग्रहण करे। इसी प्रकार जब कोई चीज जहाँ रखनी हो तब उस स्थान को भी उसी प्रकार देख ले और झाडकर साफ कर ले। तथा रखने के बाद भी फिर से उसको कुछ समय में जब कि सम्मूर्छनजीव उत्पन्न

हो सकते हैं, देख लेना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा समासिज्जो।
दव्वं च दव्वठाणं संयमसिद्धीइ सो भिक्ख।
सहसाणाभोइददुप्पमज्जियापच्चुवेक्खणा दोसा।
परिहरमाणस्स भवे समिदी आदाणणिक्खेवा।।

जो साधु किसी भी वस्तु के ग्रहण करने अथवा रखने में सहसा अनाभोग दु:प्रमार्जित और अप्रत्यवेक्षण इन दोषों को छोड़कर तथा उस ग्राह्य अथवा निक्षेप्य वस्तु को और उसके स्थान को अच्छी तरह चक्षु से देखकर और पिच्छी आदि से साफ करके ग्रहण करता अथवा रखता है उसके आदाननिक्षेपण समिति समझनी चाहिये।

उत्सर्ग समिति का स्वरूप बताते हैं :-

निर्जन्तौ कुशले विविक्तविपुले लोकोपरोधोज्झिते,
प्लुष्टे कृष्ट उतोषरे क्षितितले विष्टादिकानुत्सृजन्।
द्यु:प्रज्ञाश्रमणेन नक्तमक्षितो दृष्टे विभज्य त्रिधा,
सुस्पृष्टेप्यपहस्तकेन समितावुत्सर्ग उत्तिष्ठते।।१६९।।

द्विन्द्रियादिक जीवों से तथा हरित तृणादिक से रहित एवं प्रशस्त - सर्प की वामी आदि भय के कारणों से रहित तथा विविक्त - एकान्त जनशून्य अथवा अशुचि आदि कूडे कचडे से रहित, और जहाँ पर किसी प्रकार का संकट उपस्थित न हो, एवं जहाँ पर जाने आने या बैठने आदि में किसीको किसी प्रकार की रुकावट न हो, ऐसे दावाग्नि अथवा श्मशानाग्नि के द्वारा दग्ध हुए स्थान में, यद्वा हल के द्वार बार बार जोते गए खेत में, अथवा स्थण्डिल - खारी मट्टीवाली चटीली जमीन से जो साधु दिन के समय अपने मल मूत्र नाक थूक केश सप्तम धातु पित्त वमन आदि मलों को छोड़ता है उसके उत्सर्ग नाम की समिति कही जाती है। यदि कदाचित् रात्रि के समय मलादिक की बाधा हो

तो उसकी निवृत्ति के लिये साधुओं को उचित हे कि वे प्रज्ञाश्रमण के द्वारा क्रम से तीन मार्गों में विभक्त करके दिन के समय अच्छी तरह देखे गये स्थानमें ही मलादिक का उत्सर्ग करें। यदि फिर भी मलोत्सर्ग के समय किसी जीवादिक की शंका हो तो उस शंका को दूर करने के लिये अपने वाम हाथ से उस स्थान को मलोत्सर्ग के पहिले ही स्पर्श करके देख लें।

भावार्थ :- साधुओं को प्राशुक, निर्भय, एकान्त पवित्र, संकटरहित और ऐसी अनुपरुद्ध भूमि में जो कि दग्ध अथवा जोती हुई यद्वा ऊषर हो, अपने उपर्युक्त मलों का परित्याग करना चाहिये। और रात्रि के समय प्रज्ञाश्रमण के द्वारा निर्दिष्ट स्थान में मलोत्सर्ग करना चाहिये।

जो साधु विनय करने में तत्पर और वैयावृत्त्यादिक में कुशल तथा वैराग्यभावनाओं में रत और समस्त संघ का प्रतिपालन करनेवाला एवं जितेन्द्रिय होता है उसको प्रज्ञाश्रमण कहते हैं। इसको उचित है कि जब तक सूर्य का अस्त न हो जाय - उदय बना रहे तब तक साधुओं को दिन में ही, रात्रि के समय मलमूत्रादि का उत्सर्ग करने के लिये क्रम से तीन स्थान तक देखकर एक उचित स्थान निश्चित कर ले। यदि पहिला स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा, और दूसरा भी अशुद्ध हो तो तीसरा स्थान निश्चित करे। इस निश्चित स्थान पर ही साधुओं को रात्रि के समय मलोत्सर्ग करना चाहिये। फिर भी कदाचित् किसी प्रकार की शंका हो जाय तो वामहाथ से उस स्थान का स्पर्श कर अपना संदेह दूर कर लेना चाहिये तब मलोत्सर्ग करना चहिये। ऐसा करने पर ही उत्सर्ग समिति साधुओं के मानी जा सकती है।

जैसा कि कहा भी है कि :-

वणदाहकिसिमसिकदे थंडीले अनुपरोधविच्छिण्णे।
अवगदजंतुविवित्ते उच्चारादी विसज्जिज्जो।।
उच्चारं पासवणं खेलं सिंघाणयादिजं दव्वं।
अच्चित्तभूमिदेसे पडिलेहित्ता विसज्जिज्जो।।

वनवन्हि के द्वारा दग्ध, अथवा कृष्ट - जो कि हल के द्वारा पुनः पुनः विदीर्ण

कर दी गई हो, यद्वा श्मशानाग्नि के द्वारा जली हुई, अथवा ऊषर भूमि में जहाँ पर कि किसीकी रोकटोक नहीं है और जीवजंतुओं की बाधा भी नहीं है एवं जो अचित्त - प्राशुक है, साधुओं को प्रतिलिखन करके - उस स्थान को अच्छी तरह देख शोध कर मल मूत्र थूक श्लेष्मा आदि का विसर्जन करना चाहिये। तथा :-

रात्रौ च तत्यजेत्स्थाने प्रज्ञाश्रमणवीक्षिते।
कुर्वन् शङ्कानिरासायापहस्तस्पर्शनं मुनिः।
द्वितीयाद्यं भवेत्तच्चेदशुद्धं साधुरिच्छति।
लघुत्वस्यावशे दोषो न दद्याद् गुरुकं यतः।।

मुनियों को रात्रि के समय प्रज्ञाश्रमण के द्वारा निरीक्षित स्थान में मलोत्सर्ग करना चाहिये और अपनी शंका दूर करने के लिये उस स्थान को वामहाथ से स्पर्श करके देख लेना चाहिये। यदि पहिला स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा और दूसरा भी अशुद्ध हो तो तीसरा स्थान देखना चाहिये। कदाचित् बीमारी या किसी विशेष कारणवश शीघ्र ही मल का उत्सर्ग हो जाय तो आचार्य को उचित है कि साधु को विशेष दण्ड न दे।

जो मुनि अतीचार रहित समितियों के पालन करने में तत्पर रहता है उसको हिंसादिक दोषों का अभावरूप फल प्राप्त होता है। इस बात को प्रकट करते हैं :-

समितीः स्वरूपतो यतिराकाराविशेषतोप्यनतिगच्छन्।
जीवाकुलेपि लोके चरन्न युज्येत हिंसाद्यैः।।१७०।।

स्वरूप अथवा लक्षण की अपेक्षा से यद्वा पूर्वोक्त उसके विशेषणों की अपेक्षा से भी जो साधु समितियों में रंचमात्र भी अतीचार नहीं लगने देता और सदा उनके पूर्णतया पालन करने में सावधान रहता है वह स्थावर और त्रस जीवों से व्याप्त संसार में यथेच्छ विहार करते हुए भी हिंसादि दोषों से लिप्त नहीं होता।

समितियों के माहात्म्य का वर्णन करते हुए उनका सदा
सेवन करने के लिये उपदेश देते हैं :-

पापेनान्यवधेपि पद्ममणुशोप्युद्गेव नो लिप्यते,
यद्युक्तो यदनादृतः परवधाभावेप्यलं बध्यते।
यद्योगादधिरुह्य संयमपदं भान्ति व्रतानि द्वया, -
न्यप्युद्भान्ति च गुप्तयः समितयस्ता नित्यमित्याः सताम्।।१७१।।

जो साधु समितियों का भले प्रकार पालन कर वह दैववश अपने से दूसरे प्राणियों का वध हो जानेपर भी जिस प्रकार कमल या उसका पत्ता पानी से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार, पापकर्म से रंचमात्र भी उपश्लिष्ट नहीं होता। किंतु इसके विरुद्ध जो इन समितियों में आदरबुद्धि नहीं रखता और इनका पालन नहीं करता वह परप्राणियों का व्यपरोपण न करके भी तज्जनित हिंसादोष से अथवा पापकर्म से लिप्त हो जाता है। एवं इन समितियों के ही माहात्म्य से महाव्रत और अणुव्रत भी संयमस्थान को पाकर प्रकाशमान होते तथा पूर्वोक्त तीनों प्रकार की गुप्तियाँ भी जागृत होती हैं। अतएव जिनका निरतिचार पालन अहिंसादि का, और न पालन हिंसादि दोषों का कारण है और जिनके निमित्त से व्रत संयमरूप हो जाते तथा गुप्तियाँ उद्भूत होती हैं उन समितियों का सत्पुरुषों को नित्य ही - जब गुप्तियों का पालन न कर सके उस समय अवश्य ही सेवन करना चाहिये। क्योंकि कहा भी है कि :-

अजदाचारो समणो छस्सुवि काएसु बंथगोत्तिमदो।
चरति जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो।।

जो श्रमण आचरण करने में असावधानता रखता है उसके षट्कायसंबंधी पाप का बंध होता है किंतु जो यत्नपूर्वक आचरण - संयम का पालन करता है वह पापकर्म से इस तरह अलिप्त रहता है जैसे कि कमल जल से।

ऊपर समितियों का एक फल यह भी बताया है कि इनके निमित्त से व्रत संयमस्थान

को प्राप्त हो जाते हैं। यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि व्रत और संयम में क्या अंतर है ? इसका उत्तर दर्गणाखण्ड के बंधनाधिकार में इस प्रकार दिया है कि :-

'संयमविरईणं को भेदो ? ससमिदि महव्वयाणुव्वयाइं
संयमो, समिदीहिं विणा महव्वयाणुव्वयाइं विरदी।।' इति।

समितियों के साथ साथ महाव्रत और अणुव्रतों के पालन करने का नाम संयम और बिना समितियों के इनके पालन करने का नाम व्रत है।

इस प्रकार समितियों का वर्णन समाप्त हुआ। अब शील का वर्णन क्रम प्राप्त है। क्योंकि इस अध्याय की आदि में समितियों के व्रत अथवा चारित्ररूपी वृक्ष का रक्षक शील को ही बताया है। अतएव यहाँ पर शील का लक्षण और उसके विशेष भेदों को बताते हुए उसकी उपादेयता का निरूपण करते हैं।

शीलं व्रतपरिरक्षणमुपैतु शुभयोगवृत्तिमितरहतिम्।
संज्ञाक्षविरतिरोधौ क्ष्मादिममलात्ययं क्षमादींश्च।।१७२।।

जिसके द्वारा व्रतों की रक्षा की जाय अथवा उनका पालन किया जाय उसको शील कहते हैं। इसके पालन करने में शुभयोगरूप प्रवृत्ति और अशुभयोग की निवृत्ति करनी चाहिये, संज्ञाओं का परिहार और इन्द्रियों का निरोध करना चाहिये, पृथिवी आदि दश प्रकार के जीवों के प्राणव्यपरोपण का त्याग और उनके अतीचारों का परिहार करना चाहिये, तथा उत्तमक्षमादि दशधर्म को धारण करना चाहिये।

पुण्यास्रव की कारणभूत मनवचनकाय की प्रवृत्ति को अथवा जिनसे समस्त कर्मों का क्षय किया जा सकता है उन गुप्तियों को शुभयोग कहते हैं। अतएव इसके तीन भेद हैं। इसी प्रकार अशुभयोगनिवृत्ति के भी तीन भेद हैं। आहार भय मैथुन और परिग्रह की अभिलाषारूप संज्ञाओं की निवृत्ति चार प्रकार की है। तथा स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र इनका निरोध पाँच प्रकार का है। संयम के विषय की अपेक्षा दश भेद हैं। यथा - पृथिवी जल तेज वायु प्रत्येक साधारण द्विन्द्रिय त्रिन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

एवं धर्म के भी दशभेद हैं - उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य। इन भेदों का परस्पर में गुणा करने से शील के अठारह हजार भेद होते हैं। यथा - तीन प्रकार की शुभयोगप्रवृत्ति के तीन भेदों के साथ गुणा करने पर नौ भैद और फिर इनका चार प्रकार की संज्ञा निवृत्ति से गुणा करने पर ३६ भेद; एवं इनका भी पाँचइन्द्रियनिरोध से गुणा करने पर एकसौ अस्सी भेद तथा इनका भी निरतीचार दश प्रकार के संयम से गुणा करने पर एक हजार आठसौ इनका भी फिर दशधर्म से गुणा करने पर अठारह हजार भेद होते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

योगे करणसंज्ञाक्षे धरादौ धर्म एव च।
अष्टादश सहस्त्राणि स्युः शीलानि मिथोवधे।।

तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाएँ, पाँच इन्द्रिय, दश संयम और दश धर्म इनका परस्पर में गुणा करने पर शील के अठारह हजार भेद होते हैं। जो मुनिश्रेष्ठ मनोयोग और आहारसंज्ञा से रहित तथा मनोगुप्ति का पालन करनेवाला स्पर्शनेन्द्रिय से संवृत्त, पृथिवीकाय के संयम का पालक और उत्तमक्षमा का धारक होता है उस विशुद्ध मुनि के अठारह हजार शील के भेदों में से पहिला भेद समझना चाहिये। तथा जो मुनिश्रेष्ठ इन्ही विशेषणों से युक्त है किन्तु मनोगुप्ति की जगह वाग्गुप्ति का पालन करनेवाला है उसको दूसरा भेद समझना चाहिये। और जो वाग्गुप्ति की जगह कायगुप्ति का पालन करता है उसको तीसरा भेद समझना चाहिये। जो वचनयोग रहित मनोगुप्ति का पालन करता किन्तु शेष उपर्युक्त विशेषणों से युक्त है उसके चौथा भेद, और जो वचनयोगरहित वचनगुप्ति का पालन करते हुए शेष उक्त विशेषणों से युक्त है उसको पाँचवाँ भेद तथा जो वचनयोगरहित कायगुप्ति का पालन करते हुए शेष विशेषणों से युक्त है उसको छठा भेद समझना चाहिये इसी प्रकार गुप्ति योग संज्ञा और इन्द्रियादिकों का अक्षसंचार करके क्रम से संपूर्ण भेद समझ लेने चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

मनोगुप्ते मुनिश्रेष्ठे मनःकरणवर्जिते।
आहारसंज्ञया मुक्ते स्पर्शनेन्द्रियसंवृत्ते।

सधरासंयमे क्षन्तिसनाथे शीलमादिमम्।
तिष्ठत्यविचलं शुद्धे तथा शेषेष्वपि क्रमः।।

इस प्रकार अठारह हजार शील के भेदों को बताकर अब गुणों का लक्षण और उनके चौरासी लाख उत्तर भेदों को बताते हुए उनके पालन करने का उपदेश देते हैं :-

गुणाः संयमवीकल्पाः शुद्धयः कायसंयमाः।
सेव्या हिंसाकम्पितातिक्रमाद्यब्रह्मवर्जनाः।।१७३।।

संयम के ही उत्तरभेदों का नाम गुण है। काय संयम, शुद्धि, हिंसादिवर्जन, आकम्पितादिवर्जन, अतिक्रमादिवर्जन, और अब्रह्मवर्जन, इन सबके भेदों का परस्पर में गुणा करने से चौरासी लाख भेद होते हैं। इन्हीं का नाम ८४ लाख उत्तरगुण है।

पूर्वोक्त संयम के विषय की अपेक्षा से बताये हुए पृथिवीकाय पृथिवीकायिक आदि दश भेदों का परस्पर में गुणा करने पर कायसंयम के सौ भेद होते हैं। हिंसादित्याग के भी विषय की अपेक्षा इक्कीस भेद हैं। इनका अतिक्रमादित्याग के चार भेदों से गुणा करने पर ८४ भेद होते हैं और इनका भी उक्त सौ भेदों से गुणा करने पर ८४०० आठ हजार चारसौ भेद होते हैं। पुनः इनका अब्रह्मत्याग के दश भेदों से गुणा करने पर ८४००० चौरासी हजार और इनका भी आकम्पितादित्याग के दश भेदों से गुणा करने पर आठ लाख चालीस हजार भेद, तथा इनका भी आलोचनादिक प्रायश्चित के दश भेदों से गुणा करने पर चौरासी लाख भेद होते हैं। गुणों के इन सभी भेदों का मुमुक्षुओं को पालन और इनके विरुद्ध दोषों का परित्याग करना चाहिये।

हिंसादित्याग के इक्कीस भेद जिन विषयों की अपेक्षा से बताते हैं उनके नाम इस प्रकार हैं :-

हिंसानृतं तथा स्तेयं मैथुनं च परिग्रहः।
क्रोधादयो जुगुप्सा च भयमप्यरती रतिः।।

मनोवाक्कायदुष्टत्वं मिथ्यात्वं सप्रमादकम्।
पिशुनत्वं तथा ज्ञानमक्षाणां चाप्यनिग्रहः।।

हिंसा झूट चोरी कुशील परिग्रह क्रोध मान माया लोभ जुगुप्सा भय अरति रति मनोमंगुल वचनमंगुल कायमंगुल मिथ्यात्व प्रमाद पिशुनता अज्ञान और इन्द्रियों का अनिग्रह।

विषयव्यासङ्ग से अथवा संक्लेशपरिणामों से आगम में बताये हुए काल की अपेक्षा अधिक कालतक आवश्यकादिक के करते रहने को अतिक्रम, और विषयव्यासङ्गादिकी अपेक्षा से ही नियतकाल से कम समय में उस क्रिया के करने को व्यतिक्रम तथा क्रियाओं के करने में आलस्य करने को अतीचार, और व्रतों के पालन करने अथवा खण्डित कर देने को अनाचार कहते हैं।

अब्रह्म शीलविराधना के दश भेद इस प्रकार हैं :-

स्त्रीगोष्टी वृष्यभुक्तिश्च गन्धमाल्यादिवासनम्।
शयनासनमाकल्पः षष्ठं गन्धर्ववादितम्।।
अर्थसंग्रहदुःशीलसङ्गती राजसेवनम्।
रात्रौ संचरणं चेति दश शीलविराधनाः।।

स्त्रियों की संगति, पुष्ट आहार का ग्रहण, सुगंधद्रव्य अथवा पुष्पमाला आदि के द्वारा शरीर का संस्कार करना, कोमल शय्या, उत्तम मृदु आसन, कटक कुण्डल आदि भूषणों का धारण, गीतादि गाना और बांसरी आदि बाजों का बजाना, सुवर्णादि धन का संग्रह करना, विटप्रभृति कुशीली पुरुषों का सहवास, राजा की सेवा, और रात्रि में इतस्ततः संचरण करना, इस तरह कुशील के दश भेद होते हैं।

आकम्पितादिक आलोचनासंबंधी दश दोषों के नाम इस प्रकार हैं :-

आकम्पिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च।
छण्णं सद्दाउलियं बहुजणमव्वत्ततस्सेवी।।

आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, प्रच्छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त, और तत्सेवी।

प्रायश्चितसंबंधी आलोचनादिक दश भेद इस प्रकार हैं :-

आलोचन, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान। इन दश भेदों का ही नाम शुद्धि भी है।

इस प्रकार हिंसादिक, अतिक्रमादिक, कायादिक और अब्रह्मसंबंधी स्त्रीसंगमादिक, तथा आकम्पितादिक दोषों के नाम और उनकी संख्या यहाँ पर बताई है। इन दोषों के नाम से उल्टा गुणों का नाम समझना चाहिये। और अतएव गुणों की संख्या भी उतनी ही समझनी चाहिये जितनी कि दोषों की है। इस तरह इन गुणों की संख्या का और दश प्रकार की प्रायश्चितरूप शुद्धि का परस्पर में गुणा करने पर गुणों के चौरासी लाख उत्तरभेद होते हैं जैसा कि ऊपर भी बताया जा चुका है। आगम में भी कहा है कि :-

इगवीसचदुरसविहा दस दस दसगा य आणुपुव्वीए।
हिंसादिक्कमकाया विमहणालोचणासोही।।

हिंसादित्याग के इक्कीस भेद, चार प्रकार के अतिक्रमादिक, और पृथिवीकायादि के सौ भेद, तथा शीलविराधना के त्याग के दशभेद, एवं आलोचन के दश भेद आकम्पितादिक और दशभेदरूप शुद्धि - प्रायश्चित। इन सबका परस्पर में गुणा करनेपर चौरासी लाख भेद होते हैं। इन गुणों के उच्चारण का विधानक्रम आगम में इस प्रकार से बताया है कि :-

मुक्ते प्राणातिपातेन तथातिक्रमवर्जिते।
पृथिव्याः पृथिवीजन्तोः पुनरारम्भसंयते।।
निवृत्तवनितासङ्गे चाकम्प्यपरिवर्जिते।
तथालोचनया शुद्धे गुण आद्यस्तथा परे।।

अर्थात् :- गुणों के भेदों में से पहिले हिंसादित्याग के इक्कीस भेदों को उसके

बाद अतिक्रमादित्याग के चार भेदों को इसके बाद पृथिवीत्यागादि सौ भेदों को उसके बाद स्त्रीसंगमादित्याग के दश भेदों को और उसके भी बाद आकम्पितादित्याग के दश भेदों को और अंत में आलोचनादिक प्रायश्चित के दश भेदों को पंक्तिक्रम से स्थापन करना चाहिये। इनमें क्रम से अक्षसंचार करने पर हिंसा के त्यागी अतिक्रमदोष से रहित पृथिवीकायिक जीव के भी आरंभ से संयम तथा स्त्रीसंसर्ग से निवृत्त और आकम्पितदोषसे भी मुक्त एवं आलोचनाशुद्धि के धारक साधु के चौरासीलाख उत्तरगुणों का प्रथम भेद होगा। इसी प्रकार जो हिंसात्याग की जगह मृषावाद से मुक्त हो तो दूसरा भेद, अचौर्यव्रत से युक्त विशेषण पर संचार करने पर तीसरा भेद और कुशीलत्याग विशेषण पर संचार करने से चौथा भेद होता है। इसी तरह आगे भी अक्षसंचार के क्रम से संपूर्ण भेदों को निकाल लेना चाहिये।

इस प्रकार सम्यक्चारित्र का विस्तारपूर्वक वर्णन करके अब उसकी उद्योतना आराधना का तीन पद्यों में वर्णन करना चाहते हैं। किंतु उसमें सबसे पहले मुमुक्षुओं को अतिक्रमादिक उपर्युक्त चार दोषों के त्याग करने का उपदेश देते हैं :-

चित्क्षेत्रप्रभवं फलर्धिमुभगं चेतोगवः संयम, -
व्रीहिव्रातमिमं जिघत्सुरदमः सद्भिः समुत्सार्यताम्।
नो चेच्छीलवृत्तिं विलघ्य न परं क्षिप्रं यथेष्टं चरन्,
धुन्वन्नेनमयं विमोक्ष्यति फलैर्विष्वक् च तं भङ्क्ष्यति।।१७४।।

व्रतों के धारण करने, मन वचन और काय की प्रवृत्ति का त्याग करने तथा कषायों का निग्रह इन्द्रियों का विजय और समितियों के पालन करने को संयम कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

व्रतदण्डकषायाक्षसमितिनां यथाक्रमम्।
संयमो धारणं त्यागो निग्रहो विजयोऽवनम्।।

इस संयम को शालि आदि धान्यों के समान समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार धान्य खेत में उत्पन्न होता है और जिस प्रकार वह अपनी सस्यसम्पत्ति के द्वारा लोगों को प्रीतिकर होता है उसी प्रकार यह भी [१]बुद्ध्यतिश्यादिक ऋद्धिरूपी फलों के द्वारा आराधकों को रुचि उत्पन्न किया करता है। अतएव साधुओं को जो कि चारित्र का आराधन करने के लिये उद्यत हैं इस धान्यसमूह के समान संयम का भक्षण करने के लिये उत्सुक हुए मनरूपी अदम्य बलीवर्दसांड का दमन ही कर देना चाहिये। क्योंकि यदि इसका दमन न किया गया तो यह शीघ्र ही संयमरूपी धान्यसमूह की रक्षा की कारणभूत शीलरूपी वाड़ को लाँघकर और यथेष्ट - अभिलषित विषयों को चरता तथा नष्ट करता हुआ उस संयम - धान्य को केवल उससे प्राप्त होनेवाले मुख्य और आनुषंगिक सस्यादिक फलों से वियुक्त कर देगा। इतना ही नहीं किंतु खूंद खांदकर उसका चारों तरफ से मर्दन भी कर डालेगा। और इस तरह संयमधान्य को वह बिलकुल ही नष्ट कर देगा।

यहाँ पर संयम को ऋद्धिरूप फल के द्वारा प्रीतिकर बताकर उसके विषय में अतिक्रम को सूचित किया है। इसी प्रकार 'लाँघकर' शब्द के द्वारा व्यतिक्रम, यथेष्टादि शब्दों के द्वारा अतीचार तथा चारों तरफ से आदि वाक्य के द्वारा अनाचार को सूचित किया है। क्योंकि अतिक्रमादिक का स्वरूप आगम में इसी प्रकार कहा है कि :-

क्षति मनःशुद्धिविघरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलङ्घनम्।
प्रभोतिचारं विषयेषु वर्तनं, वदन्त्यनाचारनिहातिसक्तताम्।।

संयम के विषय में मानसिक शुद्धि न रहने को अतिक्रम, शील की वाड़ के उल्लंघन होने को व्यतिक्रम; विषयों में प्रवृत्ति होने को अतीचार और उन विषयों में अत्यंत आसक्त होने को अनाचार कहते हैं।

चारित्रविनय का स्वरूप बताते हुए उसका पालन करने के लिये साधुओं को प्रेरित करते हैं।

---

१ - बुद्धितओविय लद्धीविउवणलद्धी तहेव ओसहिया।
रसबलअक्खीणा वि य रिद्धीओ सत्त पण्णता।।
बुद्धि तप विक्रिया औषध रस बल अक्षीण इस तरह ऋद्धियों के सात भेद हैं।

सदसत्स्वार्थकोपादिप्रणिधानं त्यजन् यतिः।
भजन्समितिगुप्तिश्च चारित्रविनयं चरेत्।।१७५।।

यहाँ पर चारित्र शब्द से व्रतों का ही ग्रहण किया है। अतएव चारित्र में कहिये अथवा व्रतों में कहिये निर्मलता उत्पन्न करने के लिये प्रयत्न करने को ही चारित्रविनय कहते हैं। यतियों को उचित है कि इष्ट और अनिष्ट दोनों ही प्रकार के इन्द्रियविषयों में रागद्वेष करने को और क्रोध मान माया आदि कषायों तथा हास्यादिक नोकषायों का परित्याग करें। प्रशस्त विषयों में राग और अप्रशस्त विषयों में द्वेष न करें। तथा आत्मा को कषायरूप परिणत न होने दें। साथ ही पूर्वोक्त समितियों और गुप्तियों का पालन करे। क्योंकि ऐसा करने पर ही उनके चारित्रविनय की सिद्धि हो सकती है।

इस भरतक्षेत्र और दुःषमकालमें भी जो मोक्षमार्ग में विहार कर रहे हैं और उनमें प्राधान्य को प्राप्त कर चुके हैं उनमें श्रामण्य का बोध करानेवाले संयम का निरूपण करते हुए भावतः उनकी स्तुति करते हैं :-

सर्वावद्यनिवृत्तिरूपमुपगुर्वादाय सामायिकं,
यश्छेदैर्विधिवद्व्रतादिभिरुपस्थाप्याऽन्यदन्वेत्यपि।
वृत्तं बाह्य उतान्तरे कथमपि च्छेदेप्युपस्थापय, -
त्यैतिह्यानुगुणं धुरीणमिह नौम्यैदंयुगीनेषु तम्।।१७६।।

संपूर्ण सावद्ययोग के परित्याग करने को सामायिक संयम कहते हैं। इसमें संक्षेप से सभी महाव्रतों का संग्रह हो जाता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

क्रियते यदभेदेन व्रतानामधिरोहणम्।
कषायस्थूलतालीढः स सामायिकसंयमः।।

यद्यपि सामायिक संयम में बादर संज्वलन कषाय का संबंध रहता है फिर भी इसके

धारण करनेवाले मुमुक्षु के अभेदरूप के सभी व्रतों का धारण हो जाता है। अतएव जो साधु दीक्षाचार्य के समीप विधिपूर्वक इस संयम को धारण करके इसके दूसरे विकल्पों का अभ्यास न रहने के कारण उनके विषय में प्रमाद होनेपर अपनी आत्मा का विधिपूर्वक उन विकल्पों में - सामायिकसंयम के ही विशेष भेद पाँच महाव्रतों में और उनके भी परिकररूप शेष तेईस मूल गुणों में आरोपण - उपस्थापन करके छेदोपस्थापनाचारित्र को धारण करता है और कभी कभी सामायिकसंयम का भी पुनः धारण कर लेता है। क्योंकि ऐसी नीति भी है कि जो आदमी केवल सुवर्णमात्र को चाहता है वह कडा कुण्डल अथवा अंगूठी आदि किसी भी वस्तु के मिल जाने को श्रेयस्कर ही समझता है। हाँ, सर्वथा सुवर्ण का अभाव उसको अभीष्ट नहीं रहता। इसी प्रकार सर्वसावद्य के त्यागरूप सामायिकसंयम का अभिलाषी साधु उसके परिकररूप अठ्ठाईस मूलगुणों में अपने को उपस्थित कर दूसरे - छेदोपस्थापनसंयम का पालन किया करता है। क्योंकि उसको सर्वथा संयम का अभाव इष्ट नहीं है। इसी तरह जो साधु किसी प्रकार से बाह्य - द्रव्यहिंसारूप अथवा अंतरंग भावसंयम को धारण करता है, ऐसे वर्तमानकालीन साधुओं में प्रधान संयमी को मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ :- संयम के पाँच भेद आगम में बताये हैं - सामायिक छेदोपस्थापन परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात। इनमें से आजकल यहाँ पर - इस दुःषमकाल और भरतक्षेत्र में मुनियों के आदिके दो ही संयम हो सकते हैं। अतएव जो मोक्षमार्ग में विहार करता हुआ इन दोनों ही संयमों का पालन करता है उसको आजकल श्रमणोत्तम समझना चाहिये।मैं भी उसको नमस्कार करता हूँ।

सामायिकसंयम का स्वरूप ऊपर लिखा जा चुका है कि संपूर्ण सावद्ययोग के त्याग को सामायिक कहते हैं। और इसमें सब मूलगुणों का संग्रह हो जाता है। सामायिक के ही छेदो - विकल्पों - पाँच महाव्रतों और उनके परिकररूप तेईस मूलगुणों में अनभ्यासादि के कारण प्रमाद होनेपर उनमें पुनः अपने को उपस्थित करने का नाम छेदपस्थापन संयम है। सामायिक में अशक्त हुआ श्रमण इस संयम को धारण करता है। इसकी विधि इस प्रकार है कि :-

जो मुमुक्षु श्रमण होना चाहता है वह पहले यथाजातरूप के धारकपने के साधक तथा परमगुरु श्री अर्हद्भट्टारक अथवा तत्कालीन दीक्षाचार्य के द्वारा दिये हुए - उपदिष्ट

बहिरंग और अंतरंग लिंग को धारण करता है और सम्मानपूर्वक उसमें तन्मय होता है। यहाँ यह बात भी समझ लेने की कि यद्यपि लिंग कोई दीयमान वस्तु नहीं है - वह स्वत: सिद्ध है। फिर भी परमगुरु श्री अर्हद्भट्टारक के द्वारा अथवा तत्कालीनता की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो दीक्षाचार्य के द्वारा उसके ग्रहण करने के विधान का प्रतिपादन किया जाता है। अतएव व्यवहार की अपेक्षा - उपदेश की अपेक्षा से उसको दीयमान कहते हैं। इस दिये हुए लिंग को आदान क्रिया के द्वारा धारण करने के बाद उस श्रमण के [१] भाव्यभावक भाव से जो स्व और पर का विभाग इस तरह से प्रवृत्त होता है जिससे कि आत्मा संवलन को और पर पदार्थ प्रत्यस्तमन को प्राप्त होने लगता है, उससे वह सर्वस्व का दान - उपदेश करनेवाले उन मूल उत्तर और परमगुरुओं को नमस्क्रिया के द्वारा सम्भावित बनाकर भावत: उनकी स्तुति और वंदना करने में अत्यंत लीन हो जाता है। इसके बाद समस्त सावद्य योग का प्रत्याख्यान ही सर्वोत्कृष्ट महाव्रत है इस श्रवणरूप श्रुतज्ञान के द्वारा, जब कि वह अपनी आत्मा का - समय द्वारा - आत्मस्वरूप में लीन रहने का अनुभव कर रहा हो, सामायिक संयम पर आरोहण करता है। इसके बाद जब कि वह प्रतिक्रमण आलोचन के प्रत्याख्यान रूप क्रियाओं के श्रवणरूप श्रुतज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा में लीन कालसंबंधी कर्मों से पृथक होने का - 'मेरा यह आत्मा त्रैकालिक कर्मों से रहित हो रहा है' ऐसा अनुभव कर रहा हो उस समय में वह भूतकाल में उत्पन्न हुए किंतु वर्तमान में अनुपस्थित कायिक वाचिक और मानसिक कर्मों से रहित अवस्था का आरोहण करता है। इसके बाद जब वह समस्त अवद्य कर्मों के घर शरीर को भी छोड़कर सर्वोत्कृष्ट यथाजातरूप - नागन्य स्वरूप का एकाग्रता से अवलंबन लेकर अवस्थित होने लगता है उस समय उसको उपस्थित कहते हैं। और उपस्थित होने पर जब कि वह संपूर्ण विषयों में समदृष्टि को धारण करने लगता है उस समय उसको साक्षात् श्रमण कहते हैं। इस प्रकार सामायिक के छेदों - विकल्पों में अथवा उनके द्वारा अपनी आत्मा के स्वरूप को उपस्थित करनेवाले का नाम ही छेदोपस्थापक है। जैसा कि प्रवचनसार की चूलिकामें भी कहा है कि :-

---

१ - भाव्य - पर स्वरूप और भावक - आत्मा।

जहजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिद हिंसादीदो अप्पडिकम्मं ववदि लिङ्गं।।
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंगाणावरविक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं।।
आदाय तं च लिंगं गुरुणा परमेण तं णमसिंता।
सोच्चासवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो।।
वदसमिदिंयरोधो लोचावस्यगमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च।।
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि।।

केश और स्मश्रुओं का उत्पाटन कर देखेभर तथा यथाजातरूप के धारण करने पर जो शुद्ध स्वरूप उत्पन्न होता है जो कि हिंसादिक तथा प्रतिक्रमणादिक से भी रहित है, मूर्छा और आरंभ से रहित किन्तु उपयोग योग और शुद्धियों से युक्त हैं जो दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता और अपुनर्भव - मोक्ष का कारण है उसको जैन लिंग कहते हैं। परमगुरु के उपदेशानुसार उनको नमस्कार करके जो मुमुक्षु इस लिंग को धारण करके और व्रतों तथा क्रियाओं का स्वरूप सुनकर उनमें उपस्थित होता है उसको श्रमण कहते हैं। पाँच व्रत और शेष उनकी परिकररूप तेईस क्रियाएँ हैं जिनके कि नाम इस प्रकार है - पाँच व्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक, और एक लोच, एक आचेलक्य, एक अस्नान, एक पृथ्वी पर सोना, एक अदंतधावन, एक स्थितभोजन, तथा एक एकभुक्ति। इस प्रकार जिनेन्द्रदेवने श्रमणों के अठ्ठाईस मूलगुण बताये हैं। इनमें जो प्रमत्त रहता है वह श्रमण छेदोपस्थापनसंयम का धारक समझा जाता है, अथवा होता है।

छेदोपस्थापन इस शब्द में छेद शब्द का अर्थ छोप भी होता है। अतएव सामायिक के किसी विकल्प का धारण कर लेनेपर भी कारणवश उसका छेद भंग - लोप हो जानेपर पुनः उसके धारण करने को - उसमें उपस्थित होने को छेदोपस्थापन संयम कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

व्रतानां छेदनं कृत्वा यदात्मन्यधिरोपणम्।
शोधनं वा विलोपे तच्छेदोपस्थापनं मतम्।।

अंश विभाग करके जो अपनी आत्मा में व्रतों का आरोपण करना, अथवा धारण कर लेने के बाद लोप होनेपर उनका शोधन करना, इसको छेदोपस्थापनसंयम कहते हैं।

इस पद्य में अपि शब्द जो दिया गया है उससे यह अभिप्राय भी ग्रहण कर लेना चाहिये कि उक्त श्रमण केवल छोदोपस्थापन संयम का ही अनुसरण नहीं करता किंतु कभी कभी पुनः सामायिक संयम पर भी अधिरोहण किया करता है।

इस प्रकार चारित्र के उद्योतन का निरूपण करके अब उसके उद्यमनादिक - उद्यमन, निर्वहण सिद्धि और निस्तरण का भी निरूपण करते हैं :-

ज्ञेयज्ञातृतथाप्रतीत्यनुभवाकारैकदृग्बोधभाग्,
दृष्टृज्ञातृनिजात्मवृत्तिवपुषं निष्पीय चर्यासुधाम्।
पक्तुं बिभ्रदनाकुलं तदनुबन्धायैव कंचिद्विधिं,
कृत्वाप्यामृति यः पिबत्यधिकशस्तामेव देवः स वै।।१७७।।

हेयोपादेयरूप जानने योग्य तत्त्वों को ज्ञेय कहते हैं और जाननेवाले शुद्ध चित्तस्वरूप आत्मा को ज्ञाता कहते हैं। इन दोनों का जैसा कि वस्तुतः स्वरूप है, अथवा जैसा कि सर्वज्ञ वीतराग के उपदेशानुसार आगम में वर्णित है तदनुसार इन दोनों के विषय में अथवा ज्ञाता भी ज्ञेयरूप से भिन्न नहीं है, वह भी ज्ञेयत्व से उपलक्षित ही है अतएव ज्ञेयरूप ज्ञाता के विषय में जो प्रतीति होती है उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसी प्रकार ज्ञेय और ज्ञाता के विषय में अथवा ज्ञेयरूप ज्ञाता के विषय में जो तथाभूत अनुभवाकार का होना उसको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ये दोनों ही आकार - तात्विक सम्यक्त्व और तात्विक ज्ञान आत्मा के मुख्य स्वरूप हैं। अतएव तादात्म्यरूप से इनको धारण करनेवाला जो मुमुक्षु द्रष्टा - जैसा कि ऊपर तात्त्विक सम्यक्त्व का स्वरूप कहा गया है तदनुसार ज्ञेय ज्ञाता की तथा प्रतीतिरूप परिणत, और ज्ञाता - ज्ञेयज्ञाता के विषय में तथानुभूति स्वरूप ज्ञानमय परिणत अपनी आत्मा में जो उत्पादव्ययध्रौव्यरूप अस्तित्त्व है वही जिसका स्वरूप है ऐसे चारित्ररूपी अमृत का निरंतर और अतिशयेन पान करके - उसमें अत्यंत उपयुक्त होकर, जिस प्रकार

संसाार में लोग अमृतमय - स्वादु भोजन पान करने के बाद उसको पकाने के लिये - भुक्त अन्न का अभीष्ट रस बने इसलिये निराकुलता को अथवा सवारी विनोद आदि के द्वारा प्रसन्नता को धारण किया करते हैं उसी प्रकार इस चारित्ररूपी अमृत को जो कि आत्मा को अजरामर बनाने का कारण है पकाने के लिये - अभीष्ट फल देने की तरफ परिणत करने के लिये निराकुलता को अथवा ख्याति लाभ पूजा आदि की अपेक्षारूप क्षोभ से रहित होकर - निराकुलतया [१] उसीको धारण करता है और उसके पान का अनुवर्तन करने के लिये ही आगमोक्त तीर्थयात्रादि किसी भी व्यवहार को करके भी मरणपर्यंत भी उसको नहीं छोड़ता, प्रत्युत अधिकाधिक रूप में उसका पान करता रहता है, नियम से उसको देव समझना चाहिये।

भावार्थ :- उद्यमनादि का सामान्य स्वरूप पहिले लिख चुके हैं किंतु प्रकृत में जो ये चारो बातें बताई हैं उनका अभिप्राय इस प्रकार है कि :-

जीवसहावं णाणं अप्पडिहददंसणं अणण्णमयं।
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं।।

इसको ही मोक्ष का कारण समझकर निरंतर और अत्यंत उसमें उपयुक्त होने को चारित्र का उद्यमन समझना चाहिये। फल देने तक आकुलतारहित होकर उसके धारण करने को उसका निर्वहण, दूसरे तीर्थयात्रादि व्यवहारचारित्र के न करने पर तो बात ही क्या, करके भी मरणपर्यंत उनके न छोड़ने को निस्तरण, तथा उत्तरोत्तर अधिकाधिक रूप में उसमें उपयुक्त होते जाने को उसकी सिद्धि कहते हैं। इन चारों आरधनाओं के धारण करनेवाले को देव कहते हैं। यथा :-

मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोर्हितम्।
द्वयं यस्य स देवः स्याद् द्विहीनो गणपूरणः।।

तप रहित ज्ञान मान्य होता है और ज्ञान रहित तप भी पूज्य माना गया है। अतएव

---

१ - चारित्र को।

जिसमें ये दोनों ही बातें पाई जांय उसको देव और जिसमें दोनों ही न हों उसको केवल संख्या पूरी करनेवाला ही समझना चाहिये। देव शब्द का निरुक्तिसिद्ध अर्थ भी यही होता है कि इन्द्रादिक भी जिसकी स्तुति और वंदना करें। अतएव शुद्धात्मद्रव्य को अथवा उसके मूल कारण इस चारित्रशुद्धि से युक्त जीव को ही देव समझना चाहिये। फलतः मुमुक्षुओं को चाहिये कि वे इस चारित्रशुद्धि और उसका आराधन करने में फलसिद्धि तक अवश्य ही निरंतर रत रहें। जैसा कि कहा भी है कि :-

द्रव्यस्य सिद्धिचरणस्य सिद्धौ द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेपि द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु।।

इस प्रकार चारित्र के विषय में उद्योतनादिक पाँचों आराधनाओं का प्रकरण समाप्त हुआ।

यहाँ से चार श्लोकों में माहात्म्य का वर्णन करना चाहते हैं। किन्तु उसमें सबसे पहिले चारित्र में रुचि उत्पन्न करने के लिये उसके अभ्युदयरूप आनुषंगिक फल को और मोक्षरूप मुख्य फल को दिखाते हैं :-

सद्दृग्ज्ञप्त्यमृतं लिहन्नहरहर्भोगेषु तृष्णां रहन्।
वृत्ते यत्नमथोपयोगमुपयन्निर्मायमूर्मीनऽयन्।
तत्किंचित् पुरुषश्चिनोति सुकृतं यत्पाकमूर्छन्नव, -
प्रेमास्तत्र जगच्छ्रियश्चलदृशेपीर्ष्यन्ति मुक्तिश्रिये।।१७८।।

विषयों - भोगों में तृष्णारहित होकर निरंतर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत का आस्वाद लेनेवाला और सम्यक्चारित्र का आराधन करने में केवल उद्यम ही नहीं किन्तु उपयोग और सदा उसका अनुष्ठान करनेवाला, तथा निष्कंपरूप से क्षुधादि परीषहों पर विजय प्राप्त करनेवाला पुरुष ऐसे पुण्यकर्म का संचय करता है कि जिसके उदय से बढ़ता हुआ है नवीन प्रेम जिनका ऐसी संसार की संपूर्ण संपतियाँ - लक्ष्मियाँ स्त्रीसुलभस्वभाव के कारण अपने स्वामी पर - उक्त चारित्रभक्ति के अनुराग से विशिष्ट पुण्यकर्म का संचय करनेवाला पुरुष पर जब कि केवल कटाक्षपात ही करनेवाली मोक्षलक्ष्मी से ईर्ष्या करने लगती हैं

तब उसके संगम करने पर तो बात ही क्या है ?

भावार्थ :- उक्त प्रकार की चारित्राराधना के अनुराग से विशिष्ट पुण्य का संचय करनेवाला पुरुष जगत् के संपूर्ण भोगों को भोगकर अंत में कृतकृत्य हो जाता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुवरायविहवेहि।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणाओ।।

दर्शन और ज्ञान का जिसमें प्राधान्य पाया जाता है ऐसे चारित्र के द्वारा जीव को सुर असुर मनुष्य और उनके राजवैभवों के साथ साथ निर्वाण भी सिद्ध होता है।

तप का यद्यपि चारित्र में ही अंतर्भाव है। तो भी उसको विशेषता जाहिर करने के लिये यहाँ पर अथ शब्द के द्वारा पृथक् व्याख्यान समझ लेना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

चरणं हितं जो उज्जमो अउज्जणाय जा होइ।
सो चेव जिणेहिं तओ भणिओ असढं चरंतस्स।।

चारित्र को ही ऊर्जित करने के लिये जो उद्यम किया जाता है उसको तप कहते हैं।

इस सम्यक्चारित्र की आराधना के निमित्त से पूर्वकाल में इस भरतक्षेत्रमें भी जो अपायरहित पद को प्राप्त कर चुके हैं उनसे सांसारिक क्लेश के उच्छेद की याचना करते है :-

ते केनापि कृताऽऽजवंजवजयाः पुंस्पुङ्गवाः पान्तु मां,
तान्युत्पाद्य पुरात्र पञ्च यदि वा चत्वारि वृत्तानि यैः।
मुक्तिश्रीपरिरम्भशुम्भदसमस्थामानुभावात्मना,
केनाप्येकतमेन वीतविपदि स्वात्माभिषिक्तः पदे।।१७९।।

जिन्होंने इस दुःषम काल से पूर्व के युग - चतुर्थ काल और इसी भरतक्षेत्र में उपर्युक्त

पाँचों संयमों को अथवा चार को उत्पन्न करके या धारण करके शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा एक - अभिन्न ही किन्तु अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा रत्नत्रयरूप आत्मा के द्वारा संसार का सर्वथा नाश कर दिया और जिन्होंने उक्त उत्पन्न संयमोंमें से मोक्षलक्ष्मी के आलिंगन से शोभमान असाधारण शक्ति के माहात्म्यरूप और अत्यंत उत्कृष्ट किसी भी एक - अनिर्वचनीय भेद के द्वारा अपनी आत्मा को विपत्तितरहित - मोक्षस्थान में प्रतिष्ठित कर दिया वे पुरुषोत्तम मेरी संसार के व्यसनों से रक्षा करें।

भावार्थ :- मोक्ष की सिद्धि यद्यपि यथाख्यात संयमसे ही होती है अन्य से नहीं। फिर भी व्यवहार से क्षपकश्रेणी मांडने के पूर्व जो संयम रहता है उससे भी उसकी सिद्धि कही जाती है। अतएव यहाँ पर किसी भी एक संयम के द्वारा आत्मा को निर्वाणपद में उपस्थित कर लेना किंतु अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा रत्नत्रयात्मक और शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अभिन्नात्मा के ही द्वारा संसार का नाश होना बताया है।

पाँच संयमों में से आदि के दो सामायिक और छेदोपस्थापन का स्वरूप पहले लिख चुके हैं। शेष तीन का स्वरूप आवश्यक समझकर लिखते हैं :-

त्रिंशुद्धर्षवया वर्षपृथक्त्वे वा स्थितो जिनम्।
यो गुप्तिसमित्यासक्तः पापं परिहरेत् सदा।।
स पञ्चैकयमोधीतप्रत्याख्यानो विहारवान्।
स्वाध्यायद्वयसंयुक्तो गव्यूत्यर्धाध्वगो मुनिः।।
मध्या ह्रकृद्द्विगव्यूतिगच्छन्मन्दं दिनं प्रति।
कृषीकृतकषायारिः स्यात् परीहारसंयमी।।
सूक्ष्मलोभं विदन् जीवः क्षपकः शमकोपि वा।
किंचिदूनो यथाख्यातात्स सूक्ष्मसांपरायकः।।
सर्वकर्मप्रभौ मोहे शान्ते क्षीणेपि वा भवेत्।
छद्मस्थो वीतरागो वा यथाख्यातयमी पुमान्।।

तीस वर्ष की आयु तक सुखपूर्वक घर में ही रहने के बाद [१]पृथक्त्व वर्ष तक

१ - तीन से नौ तक की संख्या को पृथक्त्व कहते हैं।

तीर्थंकर भगवान् के पादमूल में रहकर गुप्ति और समितियों के पालन करने में आसक्त हुआ जो साधु पापकर्मों से सदा परिहत रहता और पाँच प्रकार के संयमों में किसी भी एक संयम का पालन करता हुआ प्रत्याख्यानपूर्व का अध्ययन करके विचार करता है, और एक आध कोस मार्ग में चलकर दो प्रकार का स्वाध्याय करता तथा प्रतिदिन संध्याकालों को मंदगति से दो कोस गमन करता है ऐसे कषायरूप शत्रुओं को कृष कर देनेवाले मुनि के परिहार विशुद्धि नाम का संयम होता है। जो क्षपक अथवा उपशमक श्रेणी का आरोहण कर चुका है और जिसका कषाय अत्यंत सूक्ष्म रह गया है ऐसे साधु के यथाख्यात से कुछ ही कम जो संयम होता है उसको सूक्ष्मसांपराय कहते हैं। संपूर्ण कर्मों में प्रधान मोहकर्म के सर्वथा उपशांत हो जानेपर अथवा क्षीण हो जानेपर जो छद्मस्थ अथवा वीतराग साधुओं के संयम होता है उसको यथाख्यातसयंम कहते हैं।

संयम के विना केवल कायक्लेशरूप तप के अनुष्ठान से कर्मों की निर्जरा होती तो है किन्तु वह बंधसहभाविनी होती है। अतएव सिद्धि के अभिलाषिओं को इस संयम का आराधन अवश्य ही करना चाहिये। ऐसा उपदेश देते हैं :-

तपस्यन् यं विनात्मानमुद्वेष्टयति वेष्टयन्।
मन्थं नेत्रमिवाराध्यो धीरैः सिद्ध्यै स संयमः।।१८०।।

जिस प्रकार मठ्ठा विलोने का दण्ड अपने खींचनेवाली रस्सी से एक साथ ही बंधता भी है और खुलता भी है। उसी प्रकार संयम के विना - हिंसादिक विषयों में की गई प्रवृत्ति के साथ तप - आतापनादिक कायक्लेश को करता हुआ यह जीव भी बंधसहभाविनी निर्जरा किया करता है। जिस समय कुछ कर्मों से मुक्त हुआ करता है उसी समय दूसरे कर्मों से वेष्टित भी हुआ करता है। फलतः संयम के विना तप भी निरर्थक है - आत्मसिद्धि का साधक नहीं हो सकता। अतएव अक्षोभ्य प्रकृति के धारण करनेवाले साधुओं को आत्मसिद्धि के लिये निश्चयनय से रत्नत्रय में एकसाथ प्रवृत्त एकाग्रतारूप और व्यवहारनय से प्राणिरक्षा और इन्द्रियनिरोधरूप संयम का आराधन करना ही चाहिये।

संयमरहित तप करनेवाले के जितने कर्मों की निर्जरा होती है उससे अधिक कर्मों का संचय हो जाता है। इस बात को दिखाते हुए और इसीलिये सुतरां साधुओं का संयमाराधन

के प्रति उद्यत करने के लिये उनको पूजातिशय से पूर्ण तीन लोक की अनुग्रहतारूप उसका फल बताते हैं :-

कुर्वन् येन विना तपोपि रजसा भूयो हृताद् भूयसा,
स्त्रानोत्तीर्ण इव द्विपः स्वमपधीरुद्धूलयत्युद्धुरः।
यस्तं संयममिष्टदैवतमिवोपास्ते निरीहः सदा,
किं - कुवाणमरूद्गणः स जगतामेकं भवेन्मङ्गलम्।।१८१।।

सरोवर में स्नानावगाहन करके बाहर निकला हुआ मदोन्मत्त हस्ती जिस प्रकार कुछ धुल जानेवाली धूलि की अपेक्षा कहीं अधिक धूलि से अपने को धूसरित बना लेता है, उसी प्रकार मद के उद्रेक को प्राप्त हुआ जडबुद्धि जीव, जिसके विना, तप करके भी निजीर्ण कर्मों की अपेक्षा बहुत अधिक पाप कर्मों से अपनी आत्मा को उल्टा मलिन बना लेता है, उस संयम की जो साधु ख्यातिलाभादि की अपेक्षा से रहित होकर नित्य ही इष्टदेवता की तरह उपासना करता है वह संसार के सभी बहिरात्मा प्राणियों के लिये उत्कृष्ट मंगलरूप हो जाता है। क्योंकि उसके निमित्त से संसारी जीवों के पाप का क्षय और पुण्य का संचय होता है। इसी प्रकार संयमाराधक के सम्मुख देव और उनके इन्द्र भी किंकर की तरह - 'हम क्या करे' - इस तरह से आदेश की प्रार्थना के लिये निरंतर उन्मुख हुए खडे रहते हैं।

तप का चारित्र में अंतर्भाव किस प्रकार हो जाता है
उसकी उपपत्ति बताते हैं :-

कृतसुखपरिहारो वाहते यच्चरित्रे,
न सुखनिरतचित्तस्तेन बाह्यं तपः स्यात्।
परिकर इह वृत्तोपक्रमेऽन्यत्तु पापं,
क्षिपत इति तदेवेत्यस्ति वृत्ते तपोऽन्तः।।१८२।।

तप दो प्रकार का है - एक बाह्य दूसरा अंतरंग। यह दोनों ही प्रकार का तप चारित्र में अंतर्भूत हो जाता है। क्योंकि अनशनादिक जो बाह्यतप हैं उनका संबंध भोजनप्रभृति बहिर्भूत पदार्थों के ही त्यागादिक से है। इसी प्रकार चारित्र के विषयमें भी बाह्यपदार्थों का त्याग करना ही पड़ता है। क्योंकि जो पुरुष शरीर के द्वारा भोग में आनेवाले विषयों अथवा सुखों का परित्याग कर देता है वही चारित्र का आराधन कर सकता है, न कि शारीरिक सुखों में आसक्तचित्त रहनेवाला। इससे सिद्ध है कि बाह्यतप इस प्रकरण में निर्दिष्ट चारित्र का ही परिकर है। इसी प्रकार अंतरंग तप भी चारित्र में अंतर्भूत है। क्योंकि जिस प्रकार चारित्र नवीन कर्मों को आने से रोकता है और संचित कर्मों को नष्ट करता है उसी प्रकार तप भी करता है। प्रायश्चितादिक अंतरंग तप के द्वारा भी संवर और निर्जरा दोनों ही कार्य होते हैं। जैसा कि 'तपसा निर्जरा च' इस सूत्र के द्वारा भी बताया हैं।

इसी अर्थ को प्रकारान्तर से स्पष्ट करते हैं :-

त्यक्तसुखोनशनादिघंभिरुत्सहते वृत्त इत्यधं क्षिपति।
प्रायश्चित्तादीन्यपि वृत्तेन्तर्भवति तप उभयम्।।१८३।।

अनशनादिक के द्वारा बाह्य सुखों का परित्याग कर देनेवाला ही चारित्र के विषय में सोत्साह प्रवृत्त हो सकता है और प्रायश्चितादिक भी चारित्र की तरहसे ही पापकर्मों का क्षय करते हैं। अतएव दोनों ही प्रकार के तप को चारित्र में ही अंतर्भूत समझना चाहिये।

इति श्री परमपूज्य धर्मसाम्राज्यनायक योगींद्रचूडामणि सिद्धांतपारंगत, चारित्रचक्रवर्ती
श्री १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के आदेश से ज्ञानदान के लिये
श्री प. पू. चा. च. आ. श्री १०८ शांतिसागर दिगंबर जैन जीर्णोद्धारक
संस्था की ओर से छपे हुए श्री महापण्डित श्री आशाधरकृत
अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका विषैं
चतुर्थ अध्याय संपूर्ण भया।।४।।
ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण वीर नि. सं. २४८१

श्री वीतरागाय नमः

(वीर संवत् २४८१) ।।ॐ नमः सिद्धेभ्यः।। (ग्रंथ प्रकाशन, समिति फलटण

।।महापंडित श्री आशाधर कृत अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका।।

सम्यक्चारित्राराधना का व्याख्यान चतुर्थ अध्याय में समाप्त हुआ। किन्तु उसके प्रकरण में विघ्नाङ्गारादि इस [१]सूत्र के द्वारा जिस एषणा समिति का वर्णन किया था उसकी अंगभूत पिण्डशुद्धि का वर्णन अब इस अध्याय में करना चाहते हैं। आगम में पिण्डशुद्धि आठ प्रकार की बताई है। यथा :-

'उद्गमोत्पादनाहारसंयोगः सप्रमाणकः।
अङ्गारधूमौ हेतुश्च पिण्डशुद्धिर्मताष्टधा।।'

उद्गमशुद्धि, उत्पादशुद्धि, आहारशुद्धि, संयोगशुद्धि, प्रमाणशुद्धि, अङ्गारशुद्धि, धूमशुद्धि और हेतुशुद्धि। इन आठों का वर्णन करने के पूर्व संक्षेप से पिण्ड की योग्यता और अयोग्यता का विधिमुख और निषेधमुख से निर्देश करते हैं।

षट्चरित्वारिंशता दोषैः पिण्डोधःकर्मणा मलैः।
द्विसप्तैश्चोज्झितोविघ्नं योज्यस्त्याज्यस्तथार्थतः।।१।।

---

१ - अध्याय ४ श्लोक १६७

पिण्ड नाम आहार का है। जिस आहार को मुनिजन आगमोक्त विधि के अनुसार ग्रहण कर सकें उसको योग्य और जिसको ग्रहण न कर सकें उसको अयोग्य कहते हैं। आगम के अनुसार अंतरायों के न होनेपर छयालीस दोष, चौदह मलों और अध:कर्म से रहित ही पिण्ड साधुओं के लिये ग्राह्य है। किन्तु इसके विरुद्ध अंतरायों के होनेपर अथवा दोष मल और अध:कर्म से युक्त होनेपर अग्राह्य कहा जाता है।

उपर्युक्त - उद्गमादिक, विषयों के नाम हैं। ये यदि ऐसे हो जिनसे कि पिण्ड ग्रहण करने में बाधा न हो तब तो इनको उद्गमशुद्धि आदि शब्दों से कहते हैं। और ये यदि आगम के अनुसार ठीक न हों तो इनको ही दोष शब्द से कहते हैं। उद्गमादि शब्दों का अर्थ आगे चलकर यथास्थान करेंगे। यहाँ पर केवल उनके भेद बताते हैं, सो भी दोषों की अपेक्षा से। क्योंकि पिण्डशुद्धि में दोषों का न रहना ही अभीष्ट हैं। इन भेदों का स्वरूप भी आगे चलकर लिखेंगे।

उद्गम दोष के सोलह भेद हैं, और उत्पादनादोष के भी सोलह भेद हैं, किन्तु आहारसंबंधी शङ्कितादिक दश दोष हैं और संयोजना प्रमाण अङ्गार तथा धूम इनका एक एक ही भेद हैं। इस तरह कुल मिलाकर दोषों के छयालीस भेद हैं। हेतुदोष को ही अध:कर्म कहते हैं। इनके सिवाय पिण्ड के ही विषय में पूयादिक चौदह मल और भी होते हैं जिनका कि वर्णन आगे चलकर करेंगे। इसी प्रकार अंतराय के भी बत्तीस भेदों का व्याख्यान मलों के बाद ही करेंगे। अब यहाँ पर क्रम प्राप्त उद्गम और उत्पादना दोषों का स्वरूप तथा उनकी संख्या बताते हैं।

दातुः प्रयोगा यत्यर्थे भक्तादौ षोडशोद्गमाः।
औद्देशिकाद्या धात्र्याद्याः षोडशोत्पादना यतेः।।२।।

दाता के द्वारा आहार औषध वसतिका और उपकरण प्रभृति देय वस्तुओं के देनेमें जो दोष होते हैं उनको उद्गम दोष कहते हैं। इनके औद्देशिकादिक सोलह भेद हैं। अपने लिये भोजनादि बनवाने आदि के लिये किये गये प्रयोगों को उत्पादना दोष कहते हैं। इसके भी धात्री दूत आदि सोलह भेद हैं।

शेष दोषों का भी उद्देश - स्वरूप कथन करते हैं :-

शङ्किताद्या दसान्नेन्ये चत्वारोङ्गारपूर्वकाः।
षट्चत्वारिंशदन्योधःकर्म सूनाङ्गिहिंसनम्।।३।।

अन्न - भोज्यपदार्थ के संबंध में जो दोष होते हैं उनको आहारदोष कहते हैं। इसके शङ्कित पिहित आदि दश भेद हैं। इनके सिवाय भुक्तिक्रियासंबंधी चार दोष और भी हैं। यथा - अङ्गार धूम संयोजन और प्रमाण। इस प्रकार इन उपर्युक्त दोषों के कुल छयालीस भेद हुए। इन सबसे भिन्न अधःकर्म नाम का एक दोष और भी है जिसको कि हेतुदोष भी कहते हैं। इसको छयालीस दोषों से भिन्न बताने का कारण यह है कि यह उन सब दोषों से बड़ा - महादोष है क्योंकि इसमें हिंसा का संबंध रहता है। चूल चक्की ओखली बुहारी और पानी भरना इन पाँच क्रियाओं को पंचसूना कहते हैं। जिस काम के करने में इन पंच सूनाओं के द्वारा प्राणियों की - षट्कायिक जीवों की हिंसा होती हैं उसको अथवा स्वयं सूना और प्राणीहिंसा को ही अधःकर्म कहते हैं। अतएव वसतिकादि के बनवाने या सुधारने आदि में जो हिंसा होती है उसको अधःकर्म ही समझना चाहिये। इस शब्द का अनुगत अर्थ भी ऐसा ही होता है कि जो कर्म अधोगति का निमित्त है उसको अधःकर्म कहते हैं। यह गृहस्थोचित निकृष्ट व्यापार माना गया है। साधुओं को न यह कर्म करना ही चाहिये और यदि कोई करता हो तो उसकी अनुमोदना भी न करना चाहिये। फलतः संयमियों को तो यह दूर ही से छोड़ देना चाहिये। यदि कोई साधु वैयावृत्य को छोड़कर अपने भोजन के लिये इस गृहस्थों के काम को करने लगे तो उसको श्रमण न कहकर गृहस्थ कहना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

छज्जीवणिकायाणं विराहणोद्दावणेहि णिप्पण्णं।
आधाकम्मं णेयं सयपरकदमादसंपण्णं।।

षट्कायिक जीवों की विराधना अथवा पीड़ा से उत्पन्न हुई आहारादि वस्तु को अधःकर्म कहते हैं। चाहे तो वह स्वयं बनाई हो अथवा दूसरे ने बनाई हो।

उद्गम और उत्पादना ये दोनों शब्द अन्वर्थ हैं इसी बात को दिखाते हैं :-

भक्ताद्युद्गच्छत्यपथ्यौयैर्यैरुत्पाद्यते च ते।
दातृयत्योः क्रियाभेदा उद्गमोत्पादनाः क्रमात्।।४।।

उद्गम शब्द में उत् उपसर्ग का अर्थ उन्मार्ग और गम् धातु का अर्थ गमन करना होता है। यहाँ पर करण अर्थ में घ प्रत्यय किया गया है। अतएव जिन क्रियाओं के द्वारा भोज्य द्रव्य उन्मार्ग की तरफ चला जाय - आगम की आज्ञारूप मार्ग के विरुद्ध रत्नत्रय का घातक सिद्ध हो ऐसी दाता की क्रियाओं को उद्गमदोष कहते हैं। इसी प्रकार उत्पादन शब्द का अर्थ उत्पन्न कराना होता है। यहाँ पर उत्पूर्वक ण्यंत पद् धातु से करण अर्थ में युट् प्रत्यय हुआ है। अतएव जिन मार्ग विरुद्ध क्रियाओं के द्वारा भोजन उत्पन्न कराया जाय ऐसी यति - पात्र की क्रियाओं को उत्पादना दोष कहते हैं।

अब यहाँ पर दो श्लोकों में उद्गम के भेदों का नाम गिनाते और उनमें दोषपने का समर्थन करते हैं।

उद्दिष्टं साधिकं पूति मिश्रं प्राभृतकं बलिः।
न्यस्तं प्रादुष्कृतं क्रीतं प्रामित्यं परिवर्तितम्।।५।।
निषिद्धाभिहृतोद्भिन्नाच्छेद्यारोहास्तथोद्गमः।
दोषा हिंसानादरान्यस्पर्शदैन्यादियोगतः।।६।।

उद्दिष्ट 'औद्देशिक' साधिक पूति मिश्र प्राभृतक बलि न्यस्त प्रादुष्कृत (प्रादुष्कर) क्रीत प्रामित्य परिवर्तित निषिद्ध अभिहृत उद्भिन्न अच्छेद्य और आरोह। इस प्रकार उद्गम के सोलह भेद हैं। इनमें हिंसा अनादर अन्य - स्पर्श और दीनता आदि का संबंध पाया जाता है इसलिये इनको दोष कहते हैं। किन्तु इन बातों का संबंध इनमें किस तरह से पाया जाता है यह बात तब तक समझ में नहीं आ सकती जब तक कि इन प्रत्येक का स्वरूप समझ न लिया जाय। अतएव इनका यथाक्रम से सामान्य और विशेषरूप से स्वरूपनिर्देश करते हैं।

तदौद्देशिकमन्नं यद्देवतादीनलिङ्गिनः।
सर्वपाषण्डपार्श्वस्थसाधून् वोद्दिश्य साधितम्।।७।।

जो अन्न यक्ष राक्षस नाग आदि देवताओं के उद्देश से अथवा दु:खित दरिद्र व्यक्तियों के उद्देश से यद्वा जैनदर्शन से बहिर्भूत आचरण करनेवाले या वेश रखनेवालों के उद्देश से बनाया गया हो उसको औद्देशिक कहते हैं। इसी प्रकार जो सर्व साधारण के उद्देश से अथवा पाषण्डियों पार्श्वस्थों और साधुओं के उद्देश से भोजन बनाया जाता है उसको भी औद्देशिक कहते हैं।

पाषंडियों का स्वरूप पहले बता चुके हैं। पार्श्वस्थ पाँच प्रकार के होते हैं, अवसन्न पार्श्वस्थ मृगचरित प्रकट और कुशील। यथा,

'वृत्तेऽलसोऽवसन्नः पार्श्वस्थो मलिनपरदृशेष्टेऽनिष्टे।
संसक्तो मृगचरितः स्वकल्पिते प्रकटकुचरितस्तु कुशीलः।।'

चारित्र में प्रमादी रहनेवाले को अवसन्न, जिसका सम्यग्दर्शन मलिन हो जाय उसको पार्श्वस्थ, जो इष्टानिष्ट विषयों में आसक्त रहनेवाला है उसको मृगचरित, स्वकल्पित आचरण करनेवाले को प्रकट, और खोटे आचरण करनेवाले को कुशील कहते हैं।

पूर्वोक्त जिनलिङ्ग के धारक २८ मूलगुणों का पालन करनेवाले निर्ग्रन्थों को साधु कहते हैं। अतएव निमित्तभेद से औद्देशिक अन्न के चार भेद हो जाते हैं। सर्व साधारण के उद्देश से दिया हुआ, पाषंडियों के उद्देश से दिया हुआ, पार्श्वस्थों के उद्देश से दिया हुआ, और साधुओं के उद्देश से दिया हुआ। आगम के अनुसार इनके क्रम से चार नाम हैं, - उद्देश, समुद्देश, आदेश और समादेश।

उद्गम दोष के दूसरे भेद साधिक का स्वरूप दो प्रकार से बताते हैं :-

स्याद्दोषोध्यधिरोधो यत्स्वपाके यदिदत्तये।
प्रक्षेपस्तण्डुलादीनां रोधो वाऽऽपचनाद्यते:।।८।।

यदि दाता अपने लिये पकते हुए भात दाल आदि धान्य में अथवा उसके लिये पकते हुए जल - अधेंन में मुनियों को दान देने के अभिप्राय से - 'आज तो हम साधु महाराज को आहार देंगे' इस संकल्प से चावल दाल आदि डाले तो उसकी इस क्रिया को साधिक दोष कहते हैं। अथवा भोजन के पकने - तैयार होने तक पूजा धर्म आदि विषयों के प्रश्नादि के छल से साधुओं को रोक रखने को भी साधिक दोष कहते हैं। इस दोष का दूसरा नाम अध्यधिरोध भी है।

दो प्रकार के पूतिदोष को बताते हैं।

पूति प्रासु यदाप्रासुमिश्रं योज्यमिदंकृतम्।
नेदं वा यायदार्येभ्यो नादायीति च कल्पितम्।।९।।

जो द्रव्य स्वरूप से प्रासुक है, उसमें यदि अप्रासुक वस्तु भी मिला दी जाय तो उसको पूति दोष से दूषित समझना चाहिये। इसको पूति दोष का अप्रासुकमिश्रण नाम का पहला भेद समझना चाहिये। इसी प्रकार किसी वस्तु की अपेक्षा से ऐसी कल्पना करना कि 'इस पात्र द्वारा अथवा इसमें बनाये हुए अमुक पदार्थ का यद्वा इस भोजन का दान साधुओं को न हो जाय तब तक इसका उपभोग किसीको भी न करना चाहिये।' इसे पूति दोष कहते हैं। यह पूति दोष का पूतिकर्मकल्पना नाम का दूसरा भेद है। इसका उदाहरण इस प्रकार समझना कि - 'हमारे यहाँ पर यह नवीन चूल जो बनी है उस पर बने भोजन का अथवा यह नवीन पात्र जो आया है उसका साधु महाराज के दान में जब तक उपयोग न कर लिया जायगा तबतक दूसरे किसीको भी इसका उपयोग न करना चाहिये,' दाता की ऐसी कल्पना को पूतिकर्मकल्पना नाम का दोष कहते हैं। इसके चक्की उखली चूल दर्वी और पात्र की अपेक्षा से पाँच भेद होते हैं। यथा :-

मिश्रमप्रासुना प्रासु द्रव्यं पूतिकमिष्यते।
चुल्लीकोदूखलं दर्वी पात्रगन्धौ च पञ्चधा।।

इसी विषय में और भी कहा है कि :-

अप्पासुएण मिस्सं पासुयदव्वं तु पूतिकम्मं तु।
चुल्लीउखलीदव्वीभायणगंधित्ति पंचविहं।।

इनके उदाहरणों की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिये।

मिश्रदोष का स्वरूप बताते हैं :-

पाषण्डिभिर्गृहस्थैश्च सह दातुं प्रकल्पितम्।
यतिभ्यः प्रासुकं सिद्धमप्यन्नं मिश्रमिष्यते।।१०।।

प्रासुक - अचित्त भी बनाये हुए उस अन्न को आचार्यों ने मिश्रदोष से दूषित ही कहा है, यदि वह दाता ने पाषण्डियों और गृहस्थों के साथ साथ यतियों को देने के लिये तैयार किया हो।

काल की हानि और वृद्धि की अपेक्षा से प्राभृत दोष के दो भेद होते हैं; एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म। दोनों का स्वरूप बताते हैं :-

यद्दिनादौ दिनांशे वा यत्र देयं स्थितं हि तत्।
प्राग्दीयमानं पश्चाद्वा ततः प्राभृतकं मतम्।।११।।

आगम में जो वस्तु जिस दिन जिस पक्ष या जिस वर्ष में देने योग्य बताई है अथवा दिन के जिस पूर्वाह्ण या अपराह्ण में देने योग्य बताई हैं उससे पहले या पीछे यदि उस वस्तु को दिया जाय तो उसको आगम में प्राभृत दोष से दूषित माना हैं। पहले पीछे को ही काल की हानि और वृद्धि कहते हैं। इसकी अपेक्षा से ही प्राभृत दोष के दो भेद हो जाते हैं - एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म। स्थूल भी काल की हानि वृद्धि की अपेक्षा से होता है और सूक्ष्म भी। अंतर इतना ही है कि दिन पक्ष मास आदिक में हानि वृद्धि का होना स्थूलप्राभृत है और दिन के अंशों में पहले पीछे होना सूक्ष्मप्राभृत है यथा :-

जिस वस्तु को आगम में शुक्ल पक्ष की अष्टमी को देने योग्य बताया है उसको उस दिन न देकर उससे पहले ही - शुक्ला पंचमी को ही यदि दाता दे अथवा जो चैत्र के शुक्ल पक्ष में देने योग्य निर्धारित है उसको उससे पहले कृष्ण पक्ष में ही दिया जाय, तथा इसी तरह और भी जो कालहानि की अपेक्षा से होनेवाले दोष हैं उस सबको स्थूल प्राभृत कहते हैं। इसी तरह शुक्ल पंचमी के दिन देने योग्य वस्तु को उसके बाद शुक्ल अष्टमी के दिन देना अथवा चैत्र कृष्ण पक्ष में देने योग्य को चैत्र शुक्ल में देना तथा और भी जो इसी तरह कालवृद्धि की अपेक्षा से होनेवाले दोष हैं उन सबको भी स्थूलप्राभृत ही कहते हैं। मध्याह्न में देने योग्य को पूर्वाह्न में देना और अपराह्न में देने योग्य को मध्याह्न में देना, इत्यादि कालहानि की अपेक्षा से होनेवाले दोषों को सूक्ष्मप्राभृत कहते हैं। इसी प्रकार पूर्वाह्न में देने योग्य वस्तु को जो मध्याह्नादिक में देना वह सब भी कालवृद्धि की अपेक्षा से होनेवाला सूक्ष्मप्राभृत कहा जाता है। कहा भी है कि :-

द्वेधा प्राभृतकं स्थूलं सूक्ष्मं तदुभयं द्विधा।
अवसर्पस्तस्थोत्सर्पः कालहान्यतिरेकतः।।
परिवृत्त्या दिनादीनां द्विविधं बादरं मतम्।
दिनस्याद्यन्तमध्यानां द्वेधा सूक्ष्मं विपर्ययात्।।

प्राभृतदोष के दो भेद हैं - एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म। इनमें भी प्रत्येक के कालहानि और कालवृद्धि की अपेक्षा क्रम से दो दो भेद होते हैं - एक अवसर्प दूसरा उत्सर्प। दिन पक्ष मासादिक में हानिवृद्धि होने से स्थूलप्राभृत के दो भेद, और दिन के ही आदि मध्य अंत में हानि वृद्धि होने से सूक्ष्मप्राभृत के दो भेद होते हैं।

बलि और न्यस्त का लक्षण बताते हैं :-

यक्षादिबलिशेषोर्चासावद्यं वा यतौ बलिः।
न्यस्तं क्षिप्त्वा पाकपात्रात्पात्यादौ स्थापितं क्वचित्।।१२।।

यक्ष नाग माता कुलदेवी और पित्रादि के लिये बनाये हुए में से अवशिष्ट आहार यदि संयमियों को दिया जाय तो उसको बलिदोष से दूषित समझना चाहिये। यद्वा यतियों के निमित्त से सावद्य पूजन का आरंभ करना भी बलिदोष माना जाता है। जिस बर्तन में भोजन पकाया या बनाया गया हो उनमें से निकालकर कटोरी कटोरा आदि किसी दूसरे बर्तन में रखकर यदि उसको किसी दूसरे स्थान में - अपने ही घर में अथवा परघर में रख दिया जाय तो उसको न्यस्त कहते हैं। इसको इसलिये दूषित कहा है कि यदि रखनेवाले की अपेक्षा कोई भिन्न मनुष्य उसको दे तो वह उसमें गडबड कर सकता है।

प्रादुष्कार और क्रीत का स्वरूप बताते हैं :-

पात्रादेः संक्रमः साधौ कटाद्याविष्क्रियाऽऽगते।
प्रादुष्कारः स्वान्यगोर्थविद्याद्यैः क्रीतमाहृतम्।।१३।।

प्रादुष्कार के दो भेद हैं - एक संक्रम दूसरा प्रकाश। साधु के घर आनेपर भोजन आदिको का एक जगह से दूसरी जगह ले जाना संक्रमदोष है। और किवाड मंडप आदि का दूर करना, भस्मादिक से अथवा जलादिक से बर्तनादिकों का माजना यद्वा दीपक का जलाना आदि प्रकाश दोष है। जैसा कि कहा भी है कि :-

संक्रमश्च प्रकाशश्च प्रादुष्कारो द्विधा मतः।
एकोत्र भाजनादीनां कटादिविषयोऽपरः।।

अपने अथवा पराये यद्वा दोनों के यथासंभव गौ अर्थ विद्यादिकों के बदले में जो भोज्यद्रव्य लाया जाय उसको क्रीत कहते हैं। अर्थात् भिक्षार्थ साधु के घर में प्रविष्ट हो जानेपर उनके लिये उक्त गौ आदि को देकर जो भोज्य सामग्री लाई जाय उसको क्रीतदोष से दूषित समझना चाहिये।

यहाँ पर गौ शब्द उपलक्षण है अतएव इससे गाय बैल भैंस घोडा बकरी आदि सभी चेतन द्रव्य समझने चाहिये। पारिशेष्यात् अर्थ शब्द से सोना चांदी रुपया पैसा आदि अचेतन

पदार्थ समझना चाहिये। विद्या के प्रज्ञप्ति आदि अनेक भेद हैं। यहाँ पर आदि शब्द से चेटक मंत्र आदि को समझना चाहिये। ये चीजें अपनी हों या दूसरे की अथवा दोनों की - साजे की, किन्तु उनके द्वारा यदि भिक्षार्थ साधु के आनेपर कोई भोज्य सामग्री लाई जाय तो उसको क्रीत दोष से दूषित समझना चाहिये। यथा :-

क्रीतं तु द्विविधं द्रव्यं भावः स्वकपरं द्विधा।
सचित्तादिभवो द्रव्यं भावो विद्यादिकं तथा।।

प्रामित्य और परिवर्तित का स्वरूप बताते हैं :-

उद्धारनीतमन्नादि प्रामित्यं वृद्ध्यवृद्धिमत्।
व्रीह्यन्नाद्येन शाल्यन्नाद्युपात्तं परिवर्तितम्।।१४।।

मुनियों के दान के लिये किसीसे उधार लाये हुए अन्न आदि को प्रामित्य कहते हैं। उधार लाने में और उसके चुकाने में दाता को अनेक क्लेश उठाने पड़ते हैं परिश्रम करना पड़ता और कदर्थित होना पड़ता है। अतएव माधुकरी वृत्ति धारण करनेवाले साधुओं के लिये यह दोष माना है। यहा दो प्रकार का माना है एक वृद्धिमत् दूसरा अवृद्धिमत्। क्योंकि कोई भी चीज जो उधार लाई जाती है वह दो प्रकार की हो सकती है एक व्याजू दूसरी विना व्याजू। यथा :-

भक्तादिकमूणं यच्च तत्प्रामित्यमुदाहृतम्।
तत्पुनर्द्विविधं प्रोक्तं सवृद्धिकमथेतरत्।।

एक चीज के बदले में यदि दूसरी चीज लाई जाय जैसे कि साठी के बदले में शाली के चावल अथवा उर्द के बदले में मूंग तो उसको परिवर्तित कहते हैं। ऐसा करने में भी दाता को संक्लेश होता है अतएव यह भी मुनियों के लिये दोष ही है यथा :-

व्रीहिभक्तादिभिः शालिभक्ताद्यं स्वीकृतं हि यत्।
संयतानां प्रदानाय तत्परीवर्तमिष्यते।।

निषिद्ध दोष और उसके भेद प्रभेदों को बताते हैं :-

निषिद्धमीश्वरं भर्त्रा व्यक्ताव्यक्तोभयात्मना।
वारितं दानमन्येन तन्मन्येन त्वनीश्वरम्।।१५।।

जो चीज किसीके मना करने पर भी मुनियों को आहार के लिये दी जाय उसको निषिद्ध कहते हैं। इसके दो भेद हैं एक ईश्वर दूसरा अनीश्वर। वस्तु के स्वामी से निषिद्ध वस्तु को ईश्वर और जो वस्तुतः स्वामी तो नहीं है किन्तु अपने को स्वामी समझता है ऐसे पुरुष के द्वारा निषिद्ध हो उस वस्तु की अनीश्वर कहते हैं। स्वामी के तीन भेद हैं - व्यक्त अव्यक्त और उभय। जो अपने अधिकार अथवा रक्षणादि कार्य के करने में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता ऐसे सर्वतंत्र स्वतंत्र अधिकारी को व्यक्त और जो दूसरे की अपेक्षा रखनेवाला है उसको अव्यक्त कहते हैं। किन्तु जो व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार का कहा जा सकता हो अथवा ऐसे दो संयुक्त व्यक्ति हों तो उनको उभय कहते हैं। इसी प्रकार अनीश्वर दोष के भी ये तीन भेद होते हैं। अतएव व्यक्तेश्वरनिषिद्ध आदि निषिद्ध दोष के छह भेद हो जाते है। इस विषय का आचार टीका में,

'अणरिट्ठं पुण दुविहं ईसरमहणीसरं च दुवियप्पं।
पढमेस्सरसारक्खं वत्तावत्तं च संघाडं।।'

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए बहुत विशेष वर्णन किया है। किन्तु बुद्धिमान लोग संपूर्ण व्याख्यान की अपनी बुद्धि से यहाँ पर ही घटना कर सकते हैं अतएव प्रकृत में किसी प्रकार के सूत्रविरोध आदि की शंका न करनी चाहिये।

अविहृत दोष का व्याख्यान करते हैं :-

त्रीन् सप्त वा गृहान् पङ्क्त्या स्थितान्मुक्त्वान्यतोऽखिलात्।
देशादयोग्यमायातमन्नाद्यभिहृतं यतेः।।१६।।

एक सरल पङ्क्ति में स्थित तीन अथवा सात मकानों को छोड़कर बाकी सब जगहों से मुनियों के भोजन के लिये आई हुई अयोग्य अन्नादिक भोज्य सामग्री को अभिहृत कहते हैं। ऐसी सामग्री के ग्रहण करने में ईर्यासमिति आदि का पालन नहीं हो सकता किन्तु उसमें प्रचुरतया दोष आता है अतएव साधुओं के लिये भोजन ग्रहण करने में अभिहृत दोष है।

इस दोष के मूल में दो भेद हैं :- एक देशाभिहृत दूसरा सर्वाभिहृत। देशाभिहृत के दो भेद हैं - आदृत दूसरा अनादृत। सर्वाभिहृत के चार भेद हैं - स्वग्रामागत परग्रामागत स्वदेशागत परदेशागत। जिस ग्राम, नगर या देश में भोक्ता यति उपस्थित हो उसको स्वग्राम या स्वदेश और बाकी को परग्राम तथा परदेश समझना चाहिये। एक ही पङ्क्ति में स्थित तीन अथवा सात मकानों में से जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि एक दाता का मकान और उसके दोनो तरफ से तीन तीन मकान इस तरह एक ही सरल पंक्ति के सात मकानोंमें से आये हुए को आदृत और उनके सिवाय दूसरे मकानों या स्थानों से आये हुए औषधाहारादि को अनादृत कहते हैं। एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में लाये गये भोजनादिको स्वग्रामागत और बाकी को परग्रामागत कहते हैं। इसी तरह स्वदेशागत का और परदेशागत का भी स्वरूप समझना चाहिये।

उद्भिन्न और आच्छेद्य दोष के स्वरूप का निरूपण करते हैं :-

पिहितं लाञ्छितं वाज्यगुडाद्युद्घाट्य दीयते।
यत्तदुद्भिन्नमाच्छेद्यं देयं राजादिभीषितैः।।१७।।

ऐसी कोई भी घी गुड खांड या छुआरा आदि वस्तु जो कि भट्टी या लाख आदि

से ढकी हुई हो अथवा किसी तरह की नाम की सील मुहर की गई हो वह खोलकर साधुओं को भोजन के लिये दी जाय तो इसको उद्भिन्न दोष से दूषित कहा है क्योंकि देखा जाता है कि चींटी आदि जीवों का प्रवेश प्राय: हो जाया करता है। इसी प्रकार यदि राजा या मंत्री आदि के भय से गृहस्थ लोग साधुओं को आहार दे तो उस दी गई वस्तु को आच्छेद्य दोष से दूषित समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

संयतश्रममालोक्य भीषयित्वा प्रदापितन्।
राजचौरादिभिर्यत्तदाच्छेद्यमिति कीर्तितम्।।

संयतों के भिक्षाश्रम को देखकर यदि कोई राजा अथवा उसके समान प्रभुता रखनेवाला मंत्री आदि कोई भी व्यक्ति यद्वा चौर आदि गृहस्थों को यह भय दिखाकर कि इन आये हुए संयतों को यदि तुम लोग भिक्षा न कराओगे तो हम तुम्हारा संपूर्ण द्रव्य लूंट लेंगे या ग्राम से निकाल देंगे; भोजन करवावे, तो उस दी हुई वस्तु को आच्छेद्य दोष से दूषित समझना चाहिये।

मालारोहण दोष को बताते हैं :-

निश्रेण्यादिभिरारुह्य मालमादाय दीयते।
यद् द्रव्यं संयतेभ्यस्तन्मालारोहणमिष्यते।।१८।।

नसेनी या जीना - दादरा आदि के द्वारा मकान के ऊपर के खन - माले पर चढ़कर और वहाँ से लाकर जो द्रव्य संयमियों को आहार के लिये दिया जाय उसको मालारोहण कहते हैं। इस क्रिया के करने से दाता का अपाय दिखता है अतएव इसको दोष माना है।

इस प्रकार उद्गमदोषों का प्रकरण समाप्त हुआ अब उत्पादनादोषों का व्याख्यान करने के लिये सबसे पहले उनके नाम का उल्लेख करते हैं। यहाँ पर यह बात स्मरण में रखनी चाहिये कि ये दोष भोक्ता संयमी के प्रयोग की अपेक्षा से होते हैं; चाहे तो उसने उस देय वस्तु को तैयार होने में स्वयं प्रयोग किया हो या कराया हो अथवा उसके

लिये उपदेश दिया हो।

उत्पादनास्तु धात्री दूतनिमित्ते वनीपकाजीवौ।
क्रोधाद्याः प्रागनुनुतिवैद्यकविद्याश्च मन्त्रचूर्णवशाः।।१९।।

उत्पादन दोष के सोलह भेद हैं। धात्री दूत निमित्त वनीपक वचन आजीव क्रोध मान माया लोभ पूर्वस्तुति पश्चात्स्तुति वैद्यक विद्या मंत्र चूर्ण वश।

पाँच प्रकार के धात्री दोष को बताते हैं :-

मार्जनक्रीडनस्तन्यपानस्वापनमण्डनम्।
बाले प्रयोक्तुर्यत्प्रीतो दत्ते दोषः स धात्रिका।।२०।।

धात्री शब्द का अर्थ धाय होता है। जो बालक का पोषण करे उसको धाय कहते हैं। उसके भिन्न - भिन्न कार्य की अपेक्षा पाँच भेद हैं; मार्जन मंडन खेलन स्वापन और क्षीर। स्नानादि के द्वारा बालक के पोषण करनेवाली को मार्जनधाय, जो भूषणादिक के मंडन द्वारा करे उसको मण्डनधाय, जो नाना प्रकार से क्रीड़ा करावे उसको खेलनधाय, जो माता की तरह सुलावे उसको स्वापनधाय और जो दूध पिलाकर पुष्ट करे उसको क्षीरधाय कहते हैं। इनमें से एक या अनेक कार्यों का यदि भोक्ता संयमी बालक में प्रयोग करे और अनुरक्त हुआ गृहस्थ उस प्रयोग द्वारा उत्पन्न कराये हुए भोजन को दे तथा उसको वह संयमी ग्रहण करे तो उसके वह धात्री नाम का उत्पादनदोष समझना चाहिये। जैसा कि कोई संयमी गृहस्थ के बालक को खिलाने का इस तरह से स्वयं प्रयोग करे या करावे अथवा उसके लिये उपदेश दे कि जिससे भोजन के उत्पन्न होने में सहायता पहुँचे और अनुरक्त गृहस्थ के द्वारा दिये हुए उस उत्पन्न भोजन को ग्रहण करे तो उस संयमी के खेलनधात्री नाम का उत्पादनदोष लगेगा। जैसा कि कहा भी है कि :-

स्नानभूषापयःक्रीडामातृधात्रीप्रभेदतः।
पञ्चधा धात्रिकाकार्यादुत्पादो धात्रिकामलम्।।

इन कार्यों से दोष का आना इसलिये बताया है कि इनसे स्वाध्याय का विनाश होता है और जिनमार्ग में दूषण लगता हैं।

दूतदोष और निमित्तदोष को स्पष्ट करते हैं :-

दूतोऽशनादेरादानं संदेशनयनादिना।
तोषिताद्दातृरष्टाङ्गनिमित्तेन निमित्तकम्।।२१।।

संबंधी पुरुषादिकों के वचन - वृत्तान्त - संदेश को स्थानांतर में पहुँचाना दूतकर्म कहा जाता है। ऐसे कर्म करके संतुष्ट किये गये दाता के द्वारा दिये हुए भोजनादिक ग्रहण करना दूतदोष है। जैसा कि कहा भी है कि :-

जलस्थलनभःस्वान्यग्रामस्वपरदेशतः।
संबन्धिवचसो नीतिर्दूतदोषो भवेदसौ।।

अपने ग्राम या अपने देश से जल स्थल या आकाशमार्ग से दूसरे ग्राम या दूसरे देश में जाकर और वहाँ पहुँचकर किसीके समाचारों को उसके संबंधी के पास पहुँचाकर भोजन ग्रहण करे तो वहाँ दूतदोष समझा जायगा। इस कर्म के करने से शासन में दूषण लगता है जिनलिङ्गियों के लिये यह दोष माना है।

अष्टाङ्गनिमित्त के द्वारा संतुष्ट किये गये दाता के द्वारा दिये हुये भोजन के ग्रहण करने को निमित्तदोष कहते हैं। अष्टांगनिमित्त के नाम इस प्रकार हैं :-

लाञ्चनाङ्गस्वरं छिन्नं भौमं चैव नभोगतम्।
लक्षणं स्वपनश्चेति निमित्तं त्वष्टधा भवेत्।।

मसा तिल लहसन आदि को लाञ्छन या व्यञ्जन कहते हैं। हाथ पैर सिर पेट अंगुली

आदि शरीर के किसी भी भाग को अंग कहते हैं। स्वर शब्द का अर्थ शब्द स्पष्ट है। अस्त्र शस्त्रादिक के घाव को अथवा वस्त्रादि में छेद वगैरह के हो जाने को छिन्न कहते हैं। पृथ्वी के किसी विभागविशेष को भौम कहते हैं। सूर्य चंद्रादि के ग्रहण उदय अस्त आदि होने को अंतरिक्ष कहते हैं। शरीर में नंद्यावर्त कमल चक्र हाथी आदि के आकार के पड जाने को लक्षण कहते हैं। और सोते हुए मनुष्य को हाथी विमान महिष आदि जो दिखा करते हैं उसको स्वप्न कहते हैं।

इन व्यंजनादिकों को देखकर भविष्य में होनेवाले शुभाशुभ फल का जो ज्ञान होता है उसको निमित्तज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के द्वारा तथाभूत फल को बताकर दाता को संतुष्ट करके उसके दिये हुए आहारौषधादि का ग्रहण करना निमित्त नाम का उत्पादन दोष समझना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने में रसास्वादन दीनता आदि दोष दिखते हैं।

वनीपक और आजीवदोषों का लक्षण कहते हैं :-

दातुः पुण्यं श्वादिदानादस्त्येवेत्यनुवृत्तिवाक्।
वनीपकोक्तिराजीवो वृत्तिः शिल्पकुलादिना।।२२।।

याचना करनेवाले को वनीपक कहते हैं। अतएव भोजन ग्रहण करने के अभिप्राय से दाता के अनुकूल वचन बोलकर जहाँ आहारादि ग्रहण किया जाय वहाँ वनीपकवचन नाम का उत्पादन दोष समझना चाहिये। जैसे कि दाता के यह पूछने पर कि कुत्ता काक कोढी मांसासक्त द्विज दिक्षोपजीवी पार्श्वस्थ तापस श्रमण छात्र इत्यादिकों को दान देने में पुण्य होता है या नहीं ? उत्तर में आहार के अभिप्राय से ऐसे अनुकूल वचन बोलना कि 'इसमें क्या संदेह है, होता ही है,' ऐसे ही वचनों को वनीपक वचन नाम का दोष कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

साण - किविण - तिहिमाहण - पासत्थिय - सवण - काग - दाणादि।
पुण्णं णवेति पुट्ठे पुण्णं ति वणिवयं वयणं।।

ऐसे वचनों के बोलने से दीनता प्रकट होती है अतएव इसको दोष माना है।

अपने हस्तरेखादि के अथवा शिल्पशास्त्रादि के ज्ञान को यद्वा कुल जाति एश्वर्य तपोऽनुष्ठानादि को प्रकट करके भोजन ग्रहण करने में आजीव नाम का दोष होता है। यथा :-

आजीवस्तप ऐश्वर्यं शिल्पं जातिस्तथा कुलम्।
तैस्तूपादनमाजीव एष दोषः प्रकथ्यते।।

ऐसा करने में वीर्य - सामर्थ्य का अनिगूहन और दीनता प्रकट होती है अतएव इसको दोष माना है।

क्रोध मान माया लोभ इन चार दोषों का, पूर्व काल में हस्तकल्यादिक नगरों में हो जानेवाले इनके आख्यानों को बताते हुए, स्वरूप निर्देश करते हैं।

क्रोधादिबलादऽदतश्चत्वारस्तदभिधा मुनेर्दोषाः।
पुरहस्तिकल्यवेन्नातटकासीरासीयनवत् स्युः।।२३।।

क्रुद्ध होकर भोजनादि के ग्रहण करने में क्रोधदोष, अभिमान के वशीभूत होकर ग्रहण करने में मानदोष, समाचार को धारण करके भोजनादि करने में मायादोष, और लुब्ध परिणामों से आहार औषधादि के ग्रहण करने में लोभदोष होता हैं। जैसा कि पूर्वकाल में हस्तिकल्यादिक नगरों में हो भी चुका है। हस्तिकल्य नाम के नगर में क्रोध के बल से भोजन करनेवाले मुनि को क्रोध नामका दोष, और वेन्नातट नामक नगर में मान के बल से भोजन करनेवाले के मानदोष, काशी नगरी में मायाचार के बल से भोजन करनेवाले के मायादोष, तथा लोभ के बल से रासीयन नामके नगर में भोजन करनेवाले के लोभ नाम का दोष घटित हो चुका है। उसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

पूर्वस्तुति और पश्चातस्तुति दोषों को बताते हैं।

स्तुत्वा दानपतिं दानं स्मरयित्वा च गृह्णतः।
गृहीत्वा स्तुवतश्च स्तः प्राक्पश्चात्संस्तवौ क्रमात्।।२४।।

तुम बड़े दानवीर हो, तुम्हारी कीर्ति संपूर्ण जगत् में व्याप्त हो रही है, इत्यादि अनेक प्रकार से दाता की प्रशंसा करके; अथवा 'पहले तुम बड़े दानशूर थे मुक्तहस्त होकर लोगों को दान किया करते थे, पर अब तो कुछ न मालूम, क्यों भूल से गये हो' इत्यादि अनेक प्रकार से उसको पहले दान का स्मरण दिलाकर भोजन करने में पूर्वस्तुति नाम का दोष होता है। तथा भोजन करने के अनंतर उसी प्रकार स्तुति करना दान का स्मरण दिलाना उसको पश्चातस्तुति नाम का दोष कहते हैं। ऐसा करने में जिनलिंग के कर्तव्यों से विरुद्ध कृपणता प्रकट होती है अतएव इसको दोष माना है।

चिकित्सा विद्या और मंत्र इन तीन दोषों को बताते हैं :-

चिकित्सा रुक्प्रतीकाराद्विद्यामाहात्म्यदानतः।
विद्या मन्त्रश्च तद्दानमाहात्म्याभ्यां मलोश्नतः।।२५।।

ज्वरादिक व्याधि अथवा ग्रहादिकों की बाधा दूर करने को चिकित्सा कहते हैं इसके आठ अंग हैं - रसायन विष क्षार बाल शरीर भूत शल्य और शलाका। यथा :-

रसायनविषक्षाराः कौमाराङ्गचिकित्सिते।
चिकित्सा दोष एषोऽस्ति भूतं शल्यं शिराष्टधा।।

अतएव इस चिकित्साविधि के द्वारा उक्त व्याधिबाधा का स्वयं प्रतिकार करके अथवा उसके निराकरण का उपदेश देकर जो साधु भोजन करता है उसके चिकित्सा नाम का उत्पादनदोष लगता है। क्योंकि ऐसा करने से सावद्यादिक अनेक दोषों की उद्भूति होती है।

आकाशगामिनी आदि अनेक प्रकार की विद्याएँ प्रसिद्ध हैं। उनका माहात्म्य दिखाकर अथवा उनका दान करके - सिद्ध कराकर, यद्वा मैं तुझको अमुक विद्या दे दूंगा ऐसा आश्वासन देकर भोजन करनेवाले साधु के विद्या नाम का दोष लगता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

विज्जा साधिदसिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं।
तिस्से माहप्पेण य विज्जादोसो दुउप्पादो।।

इसी प्रकार मंत्र का माहात्म्य दिखाकर यद्वा उसका दान करके - सिद्ध कराके अथवा सिद्ध करा देने का आश्वासन देकर भोजन करनेवाले साधु के मंत्र नाम का दोष लगता है। ऐसा करने में लोकप्रतारण, रसनेन्द्रिय की गृद्धि आदि अनेक दोष प्रकट होते हैं। अतएव इनको दोष माना है।

विद्या और मंत्र इनके दोषों का स्वरूप प्रकारान्तर से बताते हैं :-

विद्या साधितसिद्धा स्यान्मंत्रः पठितसिद्धकः।
ताभ्यां चाहूय तौ दोषौ स्तोश्नतो भुक्तिदेवताः।।२६।।

जप होम आदि के द्वारा आराधन करनेपर जो सिद्ध - वशीभूत हुई हो उसको विद्या कहते हैं। उसके द्वारा भुक्तिदेवता - भोजन प्रदान करनेवाले व्यंतरादिदेवों का आह्वान करके उनसे प्राप्त हुई आहारौषधादिक सामग्री के ग्रहण करनेवाले साधु के विद्या नामका दोष होता है। इसी प्रकार जिसका पहले गुरुमुख से अध्ययन किया हो किन्तु पीछे वह सिद्ध हो गया हो - अपनी शक्ति के अनुसार कार्य का साधक बन गया हो उसको मंत्र कहते हैं। इसके द्वारा उक्त भुक्तिदेवता का आमंत्रण करके उसके द्वारा संपन्न हुई आहार्य सामग्री का ग्रहण करनेवाले के मंत्र नाम का दोष लगता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

विद्यामन्त्रैः समाहूय यद्दानपतिदेवताः।
साधितः स भवेद्दोषो विद्यामन्त्रसमाश्रयः।।

चूर्ण और मूलकर्म दोषों को बताते हैं :-

दोषो भोजननं भूषाञ्जनचूर्णयोजनाच्चूर्णः।
स्यान्मूलकर्म चावशवशीकृतिवियुक्तयोजनाभ्यां तत्।।२७।।

वस्तुओं की रजविशेष को चूर्ण कहते हैं। प्रकृत में यह दो प्रकार का कहा जा सकता है, एक भूषाचूर्ण दूसरा अंजनचूर्ण। जिससे शरीर शोभायमान या अलंकृत हो ऐसी द्रव्यरज को भूषाचूर्ण और जिससे नेत्रों में निर्मलता आदि उत्पन्न हो उसको अंजनचूर्ण कहते हैं। इस तरह के चूर्णों का दाता के लिये संपादन करके उसके यहाँ भोजन ग्रहण करनेवाले साधु के चूर्ण नाम का दोष लगता है। क्योंकि यह क्रिया जीविका के द्वारा जीवन करने में प्रवृत्त करती है अतएव इसको दोष माना है। जो अपने अधीन नहीं है उसको वश में करने का उपाय बताकर या वैसा होने की योजना करके, और परस्पर में वियुक्त हुए - विरही स्त्रीपुरुषों का मेल कराकर अथवा उसका उपाय बताकर भोजन ग्रहण करनेवाले साधु के मूलकर्म नाम का उत्पादनदोष लगता है। क्योंकि ऐसा करने में लज्जादि का आभोग स्वीकार किया जाता है।

इस प्रकार उत्पादनदोषों का प्रकरण समाप्त हुआ। अब क्रम प्राप्त दश प्रकार के अनशनदोषों के नाम गिनाते हैं :-

शङ्कितपिहितम्रक्षितनिक्षिप्तच्छोटितापरिणताख्याः।
दश साधारणदायकलिप्तविमिश्रैः सहेत्यशनदोषाः।।२८।।

भोज्यसामग्री से संबंध रखनेवाले दोषों को अशन कहते हैं। इसके दश भेद हैं :- शंकित पिहित म्रक्षित निक्षिप्त छोटित अपरिणत साधारण दायक लिप्त और विमिश्र।

इनका स्वरूप बताने की इच्छा से क्रम के अनुसार पहले शङ्कित और पिहित इन दोषों का लक्षण करते हैं।

संदिग्धं किमिदं भोज्यमुक्तं नो वेति शंकितम्।
पिहितं देयमप्रासु गुरु प्रास्वपनीय वा।।२९।।

इस वस्तु को आगम में ग्रहण करने के योग्य बताया है अथवा अयोग्य ऐसा जिस वस्तु के विषय में संशय हो उसके ग्रहण करने में शङ्कित नाम का दोष माना है।

अथवा यह वस्तु कहीं अध:कर्म के द्वारा तो निष्पन्न नहीं हुई ऐसा जिसके विषय में संदेह हो जाय, फिर भी उसको यदि ग्रहण कर लिया जाय तो भी शंकित नाम का दोष होता है।

अप्रासुक वस्तु के द्वारा अथवा प्रासुक किन्तु गुरु - भारी पदार्थ के द्वारा ढकी हुई भोज्यसामग्री को उघाड़कर दिये जानेपर ग्रहण करने में पिहित नाम का दोष लगता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

पिहितं यत्सचितेन गुर्वचित्तेन वापि यत्।
तत् त्यक्त्वैव च यद्देयं बोद्धव्यं विहितं हि तत्।।

म्रक्षित और निक्षिप्त दोषों का लक्षण बताते हैं :-

म्रक्षितं स्निग्धहस्ताद्यैर्दत्तं निक्षिप्तमाहितम्।
सचित्तक्ष्माग्निवार्बीजहरितेषु त्रसेषु च।।३०।।

घी तैल आदि के द्वारा स्निग्ध - सचिक्कण हुए हाथ अथवा चमचा करछली आदि पात्रों के द्वारा दी गई भोज्यसामग्री के ग्रहण करने में म्रक्षित नाम का दोष लगता है। जो वस्तु सचित्त पृथिवी जल अग्नि बीज और हरितकाय इन पाँच के ऊपर अथवा छठे त्रसकाय - द्विन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के ऊपर रक्खी हुई हो उसके ग्रहण करने में निक्षिप्त नाम का दोष लगता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

सच्चित्त पुढवि आऊ तेऊ हरिदं च बीज तसजीवा।
जं तेसिमुवरि ठविदं णिक्खित्तं होदि छब्भेयम्।।

छोटितदोष का स्वरूप बताते हैं :-

भुज्यते बहुपातं यत्करभेष्यथवा करात्।
गलद्धित्त्वा करौ त्यक्त्वाऽनिष्टं वा छोटितं च तत्।।३१।।

प्रकार भेद से छोटितदोष पाँच तरह का है। क्योंकि बहुत सी भोज्यसामग्री को गिराकर अथवा छोड़कर थोड़े आहार के ग्रहण करने में, और परोसनेवाले दाता के द्वारा हाथ पर छोड़ी गई किन्तु तक्र आदि के द्वारा झरती हुई वस्तु के ग्रहण करने में, तथा जिससे भोज्य सामग्री टपक रही है ऐसे हाथ से भोजन करने में, एवं दोनों हाथों को अलहदा अलहदा करके भोजन करने में, और अनिष्ट आहार को छोड़कर इष्ट पदार्थ के ग्रहण करने में छोटितदोष लगता है।

अपरिणत दोष को बताते हैं :-

तुषचणतिलतण्डुलजलमुष्णजलं च स्ववर्णगन्धरसैः।
अरहितमपरमपोदृशमपरिणतं तन्न मुनिभिरुपयोज्यम्।।३२।
।

भूसी चना तिल अथवा चावल के धोवन का जल यद्वा ऐसा जल जो कि गरम हो करके पुनः ठंडा हो गया हो जिसके कि वर्ण गंध और रस का परिवर्तन नहीं हुआ है एवं और भी जो इसी तरह का जल हो जो कि हरितकी चूर्णादि के द्वारा अच्छी तरह विध्वस्त नहीं हुआ हो - अपने वर्णादि को छोड़कर वर्णान्तर को प्राप्त न हुआ हो उसको अपरिणत कहते हैं। अतएव संयमियों को उसका ग्रहण न करना चाहिये। ग्रहण करने पर अपरिणत नाम का दोष लगता हैं। यथा :-

तिलादिजलमुष्णं च तोयमन्यच्च तादृशम्।
कराद्यऽताडितं नैव ग्रहीतव्यं मुमुक्षुभिः।।

साधारणदोष का स्वरूप बताते हैं :-

यद्दातुं संभ्रमाद्वस्त्राद्याकृष्यान्नादि दीयते।
असमीक्ष्य तदादानं दोषः साधारणोऽशने।।३३।।

आकुलता भय अथवा आदर से वस्त्रादिकों का आकर्षण करके अच्छी तरह पर्यालोचन किये विना ही दाता के द्वारा दी गई आहार औषधादिक वस्तु के ग्रहण करने में साधारण दोष माना हैं। यथा :-

संभ्रमाहरणं कृत्त्वाऽऽदातुं पात्रादिवस्तुनः।
असमीक्ष्यैव यद्देयं दोषः साधारणः स तु।।

दायक दोष का स्वरूप बताते हैं :-

मलिनीगर्भिणीलिङ्गिन्यादिनार्या नरेण च।
शवादिनापि क्लीबेन दत्तं दायकदोषभाक्।।३४।
।

रजस्वला गर्भभार से युक्त अथवा जिनलिङ्ग आदि के धारण करनेवाली आर्यिकाओं तथा दूसरी भी रक्तपटिका आदि अनेक प्रकार की स्त्रियों के द्वारा ही नहीं किन्तु शव को श्मशान में छोड़कर आये हुए मृतक सूतक से युक्त यद्वा व्याधियुक्त तथा क्लीब - नपुंसक आदि पुरुषों के द्वारा भी दिये हुए आहार को दायक दोष से युक्त समझना चाहिये।

यहाँ पर स्त्री पुरुष वेदों के साथ जो आदि शब्द दिया है उससे और भी आगममें बताये हुए भेदों का ग्रहण कर लेना चाहिये। यथा:-

सूती शौण्डी तथा रोगी शवः षण्ढः पिशाचवान्।
पतितोच्चारनग्नाश्च रक्ता वेश्या च लिङ्गिनी।।
वान्ताभ्यक्ताङ्गिका चातिबाला वृद्धा च गर्भिणी।
अदंयन्धा निषण्णा च नीचोच्चस्था च सान्तरा।।
फूत्कारं ज्वालनं चैव सारणं छादनं तथा।
विध्यापनाग्निकार्ये च कृत्त्वा निश्चयावघट्टने।।

लेपनं मार्जनं त्यक्त्वा स्तनलग्नं शिशुं तथा।
दीयमानेपि दानेस्ति दोषो दायकगोचरः।।

सूती - जननहारी - जिसके संतान उत्पन्न हुई हो, जो मद्यपान करने में लंपट हो जो वातादिक की बाधा से पीड़ित अथवा भूतपिशाच आदिके द्वारा मूर्च्छित हो, जो रक्ता - मासिक धर्म से युक्त हो, जो पंचश्रमणि का रक्तपटिका आर्यिका आदि का लिंग धारण करनेवाली हो, जिसने वान्ति की हो, अथवा शरीर में अभ्यंग लगा रक्खा हो यद्वा पात्र के स्थान से नीचे या ऊँचे प्रदेश पर खड़ी हो, जो भींत वगैरह के आड में आ गई हो, जो अग्नि को फूंककर जलाकर बढ़ाकर भस्मादिके द्वारा दबाकर जलादिक के द्वारा बुझाकर या इधर उधर बखेरकर अथवा उसमें से लकड़ी वगैरह कम करके यद्वा किसीसे उसको घिट्ट करके, इसी प्रकार घर आंगन दीवाल आदि के मट्टी गोबर आदिसे लीपने को या स्नानादि को अथवा दूध पीते हुए बच्चे को छोड़कर दान करने में प्रवृत्त हुई हो यद्वा जो बिलकुल बालिका है या गर्भिणी अथवा अंधी है, इसी प्रकार जो पुरुष रोगी है अथवा मृत को श्मशान में छोड़कर आया है यद्वा नपुंसक या पतित है अथवा मलमूत्रादिका परित्याग करके आया है, जिसने एक ही वस्त्र को धारण कर रक्खा है या जो नग्न है जो पिशाचादि से आक्रान्त है, उसके द्वारा आहार के देने में दायक दोष बतलाया है। यहाँ पर कुछ विशेषण ऐसे दिये हैं जो कि स्त्री के होकर भी पुरुष में भी घटित हो सकते हैं, जैसे कि मद्यपान करनेवाली आदि। इसी प्रकार कुछ विशेषण ऐसे भी दिये हैं जो कि हैं तो पुरुष के किन्तु वे स्त्री में भी घटित हो सकते हैं, जैसे कि रोगी आदि। क्योंकि पुरुष भी मद्यप हुआ करते हैं और स्त्रियाँ भी रोगिणी हुआ करती हैं। अतएव संपूर्ण विशेषणों को यथासंभव घटितकर लेना चाहिये।

लिप्तदोष का स्वरूप बताते हैं :-

यद्गैरिकादिनाऽऽमेन शाकेन सलिलेन वा।
आर्द्रेण पाणिना देयं तल्लिप्तं भाजनेन वा।।३५।।

गेरू हडताल खडिया मेनशिल आदि पदार्थों के द्वारा अथवा गेहूँ चावल आदि के कच्चे आटे से, यद्वा हरित शाक और अप्रासुक जल से लिप्त हुए अथवा भीगे हुए हाथ यद्वा पात्र अथवा दोनों ही के द्वारा भोजन के देने में लिप्त नाम का अशनदोष माना है। जैसा कि कहा भी है कि :-

गेरुयहरिदालेण व सेढियमण्णो सिलामपिट्ठेण।
सपवालयगुल्लेणव देयं करभाजणे लित्तं।।

मिश्रदोष का स्वरूप बताते हैं :-

पृथ्व्याऽप्रासुकयाऽद्भिश्च बीजेन हरितेन यत्।
मिश्रं जीवत्त्रसैश्चान्नं महादोषः स मिश्रकः।।३६।।

सचित्त पृथिवी जल बीज (गेहूँ जौ आदि) हरितकाय (फल फूल पत्ते आदि) और त्रस - जिसमें कि साक्षात् जीते हुए द्विन्द्रियादिक जीव दृष्टिगोचर हो, ये पाँच वस्तुएँ जिसमें मिली हुई है उस अन्न को मिश्रदोष से युक्त माना है, और इसको आचार्यों ने महादोष कहा है।

इस प्रकार अशन दोषों का निरूपण करके क्रम प्राप्त भुक्ति क्रियासंबंधी चार दोषों का व्याख्यान करने के उद्देश से अंगार धूम और संयोजना नामक तीन भेदों का स्वरूप बताते हैं :-

गृद्ध्याङ्गारोऽश्नतो धूमो निन्दयोष्णाहिमादि च।
मिथो विरुद्धं संयोज्य दोषः संयोजनाह्वयः।।३७।।

यह वस्तु बड़ी अच्छी है, रुचिकर है, मुझे इष्ट है, कुछ और मिले तो बड़ा अच्छा हो; इस प्रकार आहार में अत्यंत लंपटता भोजन करनेवाले साधु के अंगार नाम का भुक्तिदोष माना है। यह वस्तु बड़ी खराब बनी है, मुझे बिलकुल अच्छी नहीं मालूम होती, इस प्रकार

आहार में जुगुप्सा रखकर भोजन करनेवाले साधु के धूम नाम का भुक्तिदोष माना है। गरम और ठंडा अथवा स्निग्ध और रूक्ष के साथ इस तरह परस्पर विरुद्ध पदार्थों को आपस में गरम को ठंडे के साथ अथवा ठंडे को गरम के साथ तथा स्निग्ध को रूक्ष के साथ अथवा रूक्ष को स्निग्ध के साथ मिलाकर ग्रहण करने में, यद्वा आयुर्वेद में बताये हुए विरुद्ध दूध पदार्थों को आदि के साथ ग्रहण करने पर साधु के संयोजना नाम का भुक्तिदोष माना है। जैसा कि कहा भी है कि :-

उक्तः संयोजनादोषः स्वयं भक्तादियोजनात्।
आहारोतिप्रमाणोस्ति प्रमाणगतदूषणम्।।

अतिमात्र नामक भुक्तिदोष के चौथे भेद का स्वरूप बताते हैं :-

सव्यञ्जनाशनेन द्वौ पानेनैकमंशमुदरस्य।
भृत्त्वाऽभृतस्तुरीयो मात्रा तदतिक्रमः प्रमाणमलः।।३८।।

साधुओं को उदर के दो भाग - भूख के आधे प्रमाण को व्यजन दाल शाक आदि और अशन - भात रोटी लड्डु आदि के द्वारा भरना - पूर्ण करना चाहिये। तथा एक अंश चतुर्थांश को पानी आदि द्रव्य पदार्थों से पूर्ण करना चाहिये। किन्तु उदर का एक चतुर्थांश खाली ही रखना चाहिये। परंतु जो साधु इस प्रमाण का अतिक्रमण करता है उसके अतिमात्र नाम का भुक्तिदोष लगता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

अन्नेन कुक्षेद्वविंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्।
आश्रमं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत्।।

पेट का चतुर्थ भाग वायु आदि का स्थान माना है। अतएव उसको रिक्त रखना ही उचित है। उसको भी भर लेने पर आलस्य निंद्रा आदि विकार होने लगते हैं, ज्वरादि व्याधियाँ भी उद्भूत हो सकती हैं; जिससे कि स्वाध्याय आदि आवश्यक कर्मों की क्षति

ही होती है। इसीलिये अतिप्रमाण भोजन को दोष माना है।

इस प्रकार पिण्डदोष के छ्यालीस भेदों का निरूपण करके
अब क्रम प्राप्त चौदह मलों का निरूपण करते हैं :-

पूयास्रपलास्थ्यजिनं नखः कचमृतविकलत्रिके कन्दः।
बीजं मूलफले कणकुण्डौ च मलाश्चतुर्दशान्नगताः।।३९।।

जिनसे कि संसक्त - स्पृष्ट होनेपर अन्नादिक आहार्य सामग्री साधुओं को ग्रहण न करनी चाहिये उनको मल कहते हैं। उनके चौदह भेद हैं जिनके कि नाम इस प्रकार हैं - पीव - फोडे आदि में हो जानेवाला कच्चा रुधिर, तथा साधारण रुधिर - रक्त - खून, मांस, हड्डी, चर्म, नख, केश, मरा हुआ विकलत्रय - द्विन्द्रिय त्रिन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, कंद सूरण आदि, जो उत्पन्न हो सकता हो ऐसा गेहूँ आदि [१] बीज, मूली अदरख आदि मूल, बेर आदि फल तथा [२] कण - गेहूँ जौ आदि का बाह्य खण्ड, और कुण्ड - शाली आदि के अभ्यंतर सूक्ष्म अवयव अथवा बाहर से पक्व भीतर से अपक्व को कुण्ड कहते हैं।

आठ प्रकार की पिण्डशुद्धि में पाठ न रहने के कारण
इन मलों का पृथक् निरूपण किया है।
इनमें से उत्तम मध्यम जघन्य भेदों को गिनाते हैं :-

पूयादिदोषे त्यक्त्वापि तदन्नं विधिवच्चरेत्।
प्रायश्चित्तं नखे किञ्चित् केशादौ त्वन्नमुत्सृजेत्।।४०।।

उक्त चौदह मलों में से आदि के पीव रक्त मांस हड्डी और चर्म इन पाँच दोषों को महादोष माना है। अतएव इनसे संसक्त आहार को केवल छोड ही न देना चाहिये किन्तु उसको छोड़कर आगमोक्त विधि के अनुसार प्रायश्चित भी ग्रहण करना चाहिये।

---

१ - कहीं कहीं बीज शब्द से अंकुरित अवस्था ली है।

२ - कहीं कहीं कण शब्द का अर्थ चावल आदि किया है।

नख का दोष मध्यम दर्जे का है, अतएव नखयुक्त आहार को छोड़ तो देना ही चाहिये किन्तु कुछ प्रायश्चित भी ग्रहण करना चाहिये। केशादिक का दोष जघन्य दर्जे का है अतएव साधुओं को उनसे युक्त आहार केवल छोड़ देना चाहिये।

केशादिक से अभिप्राय केश और मृतविकलत्रय का है। अतएव शेष कंदादिक के विषय में विधि का भेद है क्योंकि इस विषय में ऐसा विधान है कि कंदादिक को आहार से अलहदा कर देना चाहिये। यदि वे अलहदा न हो सकते हों तो आहार को भी छोड़ देना चाहिये। इसी विधिविशेष को बताते हैं :-

कन्दादिषट्कं त्यागार्हमित्यन्नाद्विभजेन्मुनिः।
न शक्यते विभक्तुं चेत् त्यज्यतां तर्हि भोजनम्।।४१।।

कंद बीज मूल फल कण और कुण्ड ये छह वस्तुएँ ऐसी हैं जो कि आहार से पृथक् की जा सकती हैं। अतएव साधुओं को आहार में यदि ये वस्तुएँ मिल गई हों तो उन्हें निकालकर दूर ही कर देना चाहिये। यदि कदाचित् उनका पृथक् करना अशक्य हो तो वह आहार ही छोड़ देना चाहिये।

बत्तीस अंतरायों का निरूपण बताते हैं :-

प्रायोन्तरायाः काकाद्याः सिद्धभक्तेरनन्तरम्।
द्वात्रिंशद्धाकृताः प्राच्यैः प्रामाण्या व्यवहारतः।।४२।।

काक अमेध्य छर्दि रोधन रुधिर अश्रुपात इत्यादि अंतराय के ३२ भेद हैं। जिनके निमित्त से साधुजन भोजन का परित्याग कर देते हैं उनको अंतराय कहते हैं। ये अंतराय प्रायः करके सिद्धभक्ति का उच्चारण करने के अनंतर हुआ करती हैं। प्रायः कहने से कोई कोई अंतराय सिद्धभक्ति के पहले भी होते हैं यह सूचित होता है; जैसे कि अभोज्यगृहप्रवेश इस नाम का अंतराय जिसका कि लक्षण आगे चलकर करेंगे, सिद्धभक्ति के पूर्व ही हो सकता है। इन अंतरायों का प्राचीन ऋषियोंने सूत्ररूप में नहीं किन्तु टीका

ग्रंथो में व्याख्यान किया है यद्यपि यहाँ पर अंतरायों के नाम ३२ ही गिनाये हैं किन्तु आम्नाय के अनुसार इनके सिवाय और भी अंतराय हो सकते हैं।

काक नामक अंतराय का स्वरूप बताते हैं।

काकश्वादिविडुत्सर्गो भोक्तुमन्यत्र यात्यधः।
यतौ स्थिते वा काकाख्यो भोजनत्यागकारणम्।।४३।।

जहाँ पर सिद्ध भक्ति का उच्चारण किया हो वहाँ से किसी कारणवश यदि वह संयमी जिसने कि सिद्ध भक्ति का उच्चारण कर लिया है भोजन करने के लिये किसी अन्य स्थान पर जाय अथवा सिद्ध भक्ति करके भोजन ग्रहण करने के लिये वहीं अथवा अन्यत्र खड़ा हो जाय और ऊपर से कोई काक या कुत्ता आदि जानवर मलोत्सर्ग कर दे तो काक नाम का अंतराय समझना चाहिये, जो कि भोजन छोड़ देने का कारण है।

अमेध्य छर्दि और रोधन नामक तीन अंतरायों का स्वरूप बताते हैं :-

लोपऽमेध्येन पादादेरमेध्यं छर्दिरात्मना।
छर्दनं रोधनं तु स्यान्मा भुङ्क्ष्वेति निषेधनम्।।४४।।

भोजन के लिये स्थानांतर को जाते हुए अथवा खड़े हुए साधु के यदि किसी तरह चारण जङ्घा जानु आदि किसी भी शरीर के अवयव से अमेध्य - विष्टा आदि अशुचि पदार्थ का स्पर्श हो जाय तो अमेध्य नाम का अंतराय होता है। यदि किसी कारण से स्वयं साधु को वमन हो जाय तो छर्दि नाम का अंतराय माना है। आज भोजन मत करना, इस प्रकार रोक देने पर रोधन नाम का अंतराय होता है।

रुधिर अश्रुपात और जान्वघःपात इन तीन अंतरायों का
स्वरूप दो श्लोकों में बताते हैं :-

रुधिरं स्वान्यदेहाभ्यां वहतश्चतुरंगुलम्।
उपलम्भोऽस्त्रपूयादेरश्रुपातः शुचात्मनः।।४५।।
पातोश्रूणां मृतेन्यस्य क्वकापि वाक्रन्दतः श्रुतिः।
स्याज्जान्वधः परामर्शः स्पर्शो हस्तेन जान्वधः।।४६।।

अपने या शरीर से चार अंगुल तक या उससे अधिक रुधिर पीव आदि को वहता हुआ देखने से साधु को रुधिर नाम का अंतराय होता है। और शोक से अपना अश्रुपात हो जाने को अथवा अपने संबंधी के मर जानेपर जोर से रोते हुए स्त्री अथवा पुरुष के आक्रन्दन के सुनाई पड़ने को भी अश्रुपात नाम का अंतराय कहते हैं। तथा सिद्धभक्ति के अनंतर अपनी जानु के नीचे के भाग का हाथ से स्पर्श हो जाने को जान्वधःपरामर्श नामक अंतराय कहते हैं।

जानूपरिव्यतिक्रम, नाभ्यधोनिर्गमन, प्रत्याख्यातसेवन और जंतुवध इन चार अंतरायों का स्वरूप दो श्लोकों में बताते हैं :-

जानुदघ्नतिरश्चीनकाष्ठाद्यपरिलङ्गनम्।
जानुव्यितिक्रमः कृत्त्वा निर्गमो नाभ्यधः शिरः।।४७।।
नाभ्यधोनिर्गमः प्रत्याख्यातसेवोज्झिताशनम्।
स्वस्याग्रेन्येन पञ्चाक्षघातो जंतुवधो भवेत्।।४८।।

घोंटूतक ऊँचे अथवा उससे अधिक ऊँचे किन्तु तिरछे लगे हुए काष्ट - अर्गल या पाषाणादि को लाँघकर जाने में जानूपरिव्यतिक्रम नामका अंतराय होता हैं। यदि अपने शिर को नाभि से नीचे करके निकलना पड़े तो नाभ्यधोनिर्गम नाम का अंतराय होता है। देवगुरु की साक्षी से छोड़ा हुआ पदार्थ यदि खाने में आ जाय तो प्रत्याख्यातसेवा

नाम का अंतराय होता है। यदि अपने ही (संयमी के ही) सन्मुख कोई दूसरा - बिल्ली कुत्ता आदि मूसे आदि पञ्चेन्द्रिय जीव का घात करे तो जंतुवध नाम का अंतराय होता है।

काकादिपिण्डहरण, पाणिपिण्डपतन, पाणिजंतुवध, मांसादिदर्शन, उपसर्ग और पादांतर पञ्चेन्द्रियागमन, इन छह अंतरायों का स्वरूप तीन श्लोकों में बताते हैं :-

काकादिपिण्डहरणं काकगृद्धादिना करात्।
पिण्डस्य हरणं ग्रासमात्रपातेश्नतः करात्।।४९।।
स्यात्पाणिपिण्डपतनं पाणिजन्तुवधः करे।
स्वयमेत्य मृते जीवे मांसमद्यादिदर्शने।।५०।।
मांसादिदर्शनं देवाद्युपसर्गे तदाह्वयः।
पादान्तरेण पंचाक्षगमे तन्नामकोऽश्नतः।।५१।।

यदि भोजन करते हुए साधु के हाथ पर से काक गृद्ध आदि कोई भी जानवर भोज्यद्रव्य का हरण कर ले तो काकादिपिण्डहरण नाम का अंतराय होता है। यदि भोजन करते हुए साधु के हाथ से ग्रास गिर जाय तो पाणिपिण्डपतन नाम का अंतराय होता है। यदि भोजन करते हुए साधु के हाथ पर कोई जीव आकर विना किसीके प्रयोग के ही मर जाय तो पाणिजन्तुवध नाम का अंतराय होता है। भोजन करते हुए मांस मद्य आदि दिख जाय तो साधु को मांसादिदर्शन नाम का अंतराय होता है। इसी प्रकार - भोजन करते समय देव मनुष्य या तिर्यञ्च इनेमें से किसी के भी द्वारा यदि उत्पात हो तो देवाद्युपसर्ग नाम का अतंराय होता है। और चलते समय यदि चरणों के अंतराल में पञ्चेन्द्रिय जीव आ जाय तो पादान्तरपंचेन्द्रियागमन नाम का अंतराय होता है।

भाजनसंपात और उच्चार नामक दो अंतरायों का स्वरूप बताते हैं :-

भूमौ भाजनसंपाते परिवेषिकहस्ततः।
तदाख्यो विघ्न उच्चारो विष्टायाः स्वस्य निर्गमे।।५२।।

संयमी के हस्तपुट पर जलादि सामग्री का प्रक्षेपण करनेवाले के हाथ से कोई भी पात्र भूमि पर गिर जाय तो भाजनसंपात नाम का अंतराय होता है और यदि स्वयं संयमी के गुदद्वार से मल - विष्टा निकल जाय तो उच्चार नाम का अंतराय होता है।

प्रस्रवण और अभोज्य गृहप्रवेश इन दो अंतरायों का स्वरूप बताते हैं :-

मूत्राख्यो मूत्रशुक्रादे श्वाण्डालादिनिकेतने।
प्रवेशो भ्रमतो भिक्षोरभोज्यगृहवेशनम्।।५३।।

यदि संयमी के मूत्र शुक्र अश्मरी आदि निकल जाय तो मूत्र नाम का अंतराय होता है। और भिक्षा के लिये पर्यटन करते हुए यदि चाण्डाल आदि अस्पृश्य जीवों के गृह में प्रवेश हो जाय तो उस संयमी के अभोज्यगृहप्रवेश नाम का अंतराय माना है।

पतन उपवेशन और संदंश इन तीन अंतरायों का स्वरूप बताते हैं :-

भूमौ मूर्छादिना पाते पतनाख्यो निषद्यया।
उपवेशनसंज्ञोसौ संदंशः श्वादिदंशने।।५४।।

यदि स्वयं संयमी मूर्छा भ्रम क्लम श्रम आदि के द्वारा भूमि पर गिर जाय तो पतन नाम का अंतराय होता है। और किसी कारण से भूमि पर बैठना उपवेशन नाम का अंतराय है। कुत्ता तथा बिल्ली आदि के द्वारा काटे जानेपर संदंश नाम का अंतराय होता हैं।

भूमिस्पर्श निष्ठीवन उदरक्रिमिनिर्गमन और अदत्तग्रहण इन चार अंतरायों का स्वरूप दो श्लोकों में बताते हैं :-

भूस्पर्शः पाणिना भूमेः स्पर्शे निष्ठीवनाव्हयः।
स्वेन क्षेपे कफादेः स्यादुदरक्रिमिनिर्गमः।।५५।।

उभयद्वारतः कुक्षिक्रिमिनिर्गमने सति।
स्वयमेव गृहेऽन्नादेरदत्तग्रहणाव्हयः।।५६।।

हाथ से भूमि का स्पर्श करने पर भूमिस्पर्श नाम का अंतराय होता है और स्वयं ही, न कि खांसी आदि के वश से कफ थूक नाक आदि का निरसन करने पर निष्ठीवन नाम का अंतराय होता है। तथा ऊर्ध्वमार्ग - मुख की तरफ से अथवा अधोमार्ग - गुदद्वार से उदरगत क्रिमि के निकलने पर उसी नाम क८९। - उदरक्रिमिनिर्गमन अंतराय होता है। और दाता के दिये विना ही भोजन पान औषध आदि यदि ग्रहण कर लिया जाय तो अदत्तग्रहण नाम का अंतराय होता है।

प्रहार ग्रामदाह पादग्रहण और करग्रहण
इन चार अंतरायों का स्वरूप दो पद्यों में बताते हैं :-

प्रहारोऽस्यादिना स्वस्य प्रहारे निकटस्य वा।
ग्रामदाहोग्निना दाहे ग्रामस्योध्दृत्य कस्यचित्।।५७।।
पादेन ग्रहणे पादग्रहणं पाणिना पुनः।
हस्तग्रहणमादाने भुक्तिविघ्नोन्तिमो मुनेः।।५८।।

अपना (संयमी का) अथवा निकटवर्ती किसी अन्य व्यक्ति का खड्ग बर्छी आदि के द्वारा प्रहार होनेपर प्रहार नाम का अंतराय होता है। जिसमें स्वयं का निवास हो रहा हो ऐसे ग्राम के अग्नि से जलने पर अग्निदाह नाम का अंतराय होता है। किसी भी रत्न सुवर्ण आदि वस्तु को पैर से उठाकर ग्रहण करने में पादग्रहण नाम का अंतराय होता है। यदि किसी वस्तु को भूमि पर से हाथ के द्वारा उठाकर ग्रहण किया जाय तो करग्रहण नाम का अंतराय माना है।

इस प्रकार बत्तीस अंतरायों का वर्णन किया, किन्तु दो पद्यों में शेष अंतरायों का भी संग्रह करते हैं :-

तद्वच्चाण्डालादिस्पर्शः कलहः प्रियप्रधानमृती।
भीतिर्लोकजुगुप्सा सधर्मसंन्यासपतनं च।।५९।।
सहसोपद्रवभवनं स्वभुक्तिभवने स्वमौनभङ्गश्च।
संयमनिर्वेदावपि बहवोऽनशनस्य हेतवोन्येपि।।६०।।

अंतराय शब्द का अर्थ ऊपर बताया जा चुका है कि भोजन छोड़ देने के कारणों को अंतराय कहते हैं। इस अर्थ पर विचार करने से अंतराय के ३२ ही भेद हैं ऐसा निर्धारण - नियम नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त काकप्रभृति अंतरायों की तरह और भी बहुत से भेद हो सकते हैं। यथा - चाण्डालादि का स्पर्श हो जाना, कलह होना, अपने इष्ट अथवा मुख्य व्यक्ति का मरण हो जाना, जिस किसीसे पापभय होना, लोगों में निंदा का होना तथा साधर्मी का संन्यासमरण हो जाना, यद्वा जिस गृह में भोजन कर रहे हों उसमें अकस्मात् उपद्रव का हो उठना, जो कि भोजन के समय अवश्य ही पालनीय है ऐसे अपने मौन का अज्ञान से अथवा प्रमाद से भङ्ग हो जाना, इसी प्रकार संयम - प्राणीरक्षा और इन्द्रियों का दमन करने के लिये परिणामों का निग्रह करना, तथा निर्वेद - संसार शरीर और भोगों के विषय में वैराग्य की सिद्धि और वृद्धि के लिये जो प्रयत्न किया जाय वह भी अंतराय कहा जा सकता है। अतएव यद्यपि अंतराय के ३२ भेद गिनाये हैं किन्तु अर्थ की अपेक्षा से उसके अनेक भेद हो सकते हैं।

आहार ग्रहण करने के कारणों को बताते हैं :-

क्षुच्छमं संयमं स्वान्यवैयावृत्त्यमसुस्थितिम्।
वाञ्छन्नावश्यकं ज्ञानध्यानादींश्चाहरेन्मुनिः।।६१।।

क्षुधाबाधा का उपशमन, संयम की सिद्धि और स्वपर की वैयावृत्त्य - आपत्तियों का प्रतिकार करने के लिये तथा प्राणों की स्थिति बनाये रखने के लिये एवं आवश्यकों और ध्यानाध्ययनादिको निर्विघ्न चलते रहने के लिये मुनियों को आहार ग्रहण करना चाहिये। **भावार्थ :-** साधुओं को आत्मकल्याण का सहायक समझकर ही आहार ग्रहण करना

चाहिये न कि शरीर को सुदृढ सुंदर और सतेज बनाये रखने के लिये अथवा रसनेन्द्रियादिकों की तृप्ति के लिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

वेयणवज्जावच्चे किरियुट्ठाणे य संजमट्ठाए।
तवपाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहि आहारं।।

जो मनुष्य बुभुक्षा से पीड़ित है उसके दया क्षमा आदिक कोई भी गुण स्थिर नहीं रह सकते ऐसा उपदेश देते हैं :-

बुभुक्षाग्लपिताक्षाणां प्राणिरक्षा कुतस्तनी।
क्षमादयः क्षुधार्तानां शंक्याश्चापि तपस्विनाम्।।६२।।

जिन मनुष्यों की इन्द्रियों को क्षुधाबाधा ने सर्वत्र अशक्त बना डाला है उनके भीतर प्राणीरक्षा - दया कहाँ से आ सकती है। इसी प्रकार चिरकाल से तपस्या करनेवाले भी किन्तु बुभुक्षापीड़ित साधु के क्षमादिक गुणों के स्थिर रहने में संदेह ही समझना चाहिये।

योगियों में भी जो क्षुधा से अशक्त है उसके लिये वैश्यावृत्त्य का करना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार उनके प्राणों का सुरक्षित रहना भी आहार पर ही अवलंबित हैं। अतएव उनको आहार में प्रवृत्ति करने का उपदेश देते हैं।

क्षुत्पीतवीर्येण परः स्ववदार्तो दुरुद्धरः।
प्राणाश्चाहारशरणा योगकाष्ठाजुषामपि।।६३।।

क्षुधा के द्वारा नष्ट हो गई है शक्ति जिसकी ऐसा मनुष्य जब कि स्वयं ही दुःखी अथवा पीड़ित हो रहा है तब क्या उसके लिये दूसरे दुःखपीड़ित लोगों का उद्धार करना अशक्य नहीं है - अवश्य है। इसी प्रकार जो आरब्धयोगी हैं अथवा जिन्होंने अभी योग का आरंभ भी नहीं किया है उनकी तो बात ही क्या, जो घटमानयोगी हैं और जिन्होंने यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि इस अष्टांग योग का अभ्यास किया है उनके भी प्राणों को निःसंदेह आहार ही शरण है।

भोजन छोड़ने के निमित्तों को दिखाते हैं :-

आतङ्के उपसर्गे ब्रह्मचर्यस्य गुप्तये।
कायकार्ष्यंतपःप्राणिदयाद्यर्थं च नाहरेत्।।६४।।

किसी भी आकस्मिक व्याधि - मारणान्तिक पीड़ा के उठ खडे होनेपर, देवादिक के द्वारा किये गये उत्पातादिक के उपस्थित होनेपर, अथवा ब्रह्मचर्य को निर्मल बनाये रखने के लिये यद्वा शरीर की कृषता तपश्चरण और प्राणीरक्षा आदि धर्मों की सिद्धि के लिये भी साधुओं को भोजन का परित्याग कर देना चाहिये।

साधुओं को स्वास्थ्य की स्थिरता के लिये सर्वैषणादिकों के द्वारा भोजन करने का उपदेश देते हैं :

द्रव्यं क्षेत्रं बलं कालं भावं वीर्यं समीक्ष्य च।
स्वास्थ्याय वर्ततां सर्वविद्धशुद्धाशनैः सुधीः।।६५।।

विचारपूर्वक आचरण करनेवाले साधुओं को आरोग्य और आत्मस्वरूप में अवस्थान रखने के लिये द्रव्य क्षेत्र काल भाव बल और वीर्य इन छह बातों का अच्छी तरह पर्यालोचन करके सर्वाशन विद्धाशन और शुद्धाशन के द्वारा आहार में प्रवृत्ति करना चाहिये।

आहारादिक सामग्री को द्रव्य और पृथ्वी के जाङ्गलादिक प्रदेश को क्षेत्र कहते हैं। यह क्षेत्र तीन प्रकार का माना है - जाङ्गल अनूप और साधारण जिनका कि लक्षण इस प्रकार हैं :-

देशोल्पवारिद्रुनगो जाङ्गलः स्वल्परोगदः।
अनूपो विपरीतोऽस्मात्सः साधारणः स्मृतः।।
जाङ्गलं वातभूयिष्ठमनूपं तु कफोल्वणम्।
साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत्।।

पृथ्वी के जिस भाग में जल वृक्ष और पर्वत अल्प प्रमाण में पाये जाते हैं उसको जाङ्गल कहते हैं। इसमें रोगों की उत्पत्ति प्राय: कम हुआ करती है। इससे ठीक विपरीत प्रदेश को अर्थात् जिसमें जल वृक्ष और पर्वत अधिक प्रमाण में पाये जांय उसको अनूप कहते हैं। और जहाँ पर ये जलादिक वस्तुएँ समरूप में पाई जाती हैं कम या अधिक नहीं पाई जाती उस प्रदेश को साधारण कहते हैं। जाङ्गल देश में वात की और अनूपदेश में कफ की प्रधानता रहा करती है, किन्तु साधारण प्रदेश में वात पित्त और कफ तीनों ही समानरूप में रहा करते हैं।

हेमंत शिशिर वसंत ग्रीष्म वर्षा और शरद इन छह ऋतुओं का काल समझना चाहिये। इनके भेद से भी चर्या में भेद हुआ करता है। यथा :-

शरद्वसन्तयो - रूक्षं शीतं घर्मघनान्तयो:।
अन्नपानं समासेन विपरीतमतोन्यदा।।

शरद् और वसंत ऋतु में रूक्ष तथा ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में शीत अन्नपान ग्रहण करना चाहिये। और भिन्न समय में इससे विपरीत भोजन पान करना चाहिये। यथा :-

शीते वर्षासु चाद्यांस्त्रीन्वसन्तेऽभ्यान् रसान्भजेत्।
स्वादुं निदाघे शरदि स्वादुतिक्तकषायकान्।।
रसा: स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायका:।
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहा:।।

पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति आदि के संबंध से रहनेवाले रस छह प्रकार के माने हैं - मधुर अम्ल लवण तिक्त उषण और कषाय। इनको उत्तरोत्तर कम कम बलवर्धक माना है। फलत: मधुर रस सबसे अधिक और कषाय सबसे कम बलवर्धक माना है। इनमें से आदि के तीन रसों को शीत और वर्षा में तथा अंत के तीन रसों को वसंत में तथा ग्रीष्म ऋतु में मधुर रस और शरद ऋतु में मधुर तिक्त और कषाय रस का सेवन करना चाहिये।

भाव शब्द का अर्थ श्रद्धा उत्साह आदि तथा बल शब्द का अर्थ अन्नपानादि के निमित्त से उत्पन्न हुई शारीरिक सामर्थ्य और वीर्य शब्द का अर्थ स्वाभाविक शक्ति होता है।

एषणा समिति के द्वारा शुद्ध भोजन को सर्वाशन, और शुद्ध तैल तथा घी दूध दहीं आदि से रहित किन्तु छाछ आदि से युक्त निर्विकृत भोजन को विद्धाशन, तथा पककर जैसा तैयार हुआ हो वैसे के वैसे ही - जिसमें किसी भी प्रकार से - व्यञ्जनादिक के द्वारा अन्यथापन नहीं लाया गया है ऐसे भोजन को शुद्धाशन कहते हैं।

इस श्लोक में च शब्द के द्वारा जो विशेष बात बताई है वह यह है कि सर्वाशनादिक से विपरीत - असर्वाशन अविद्धाशन और अशुद्धाशन कदाचित् योग्य किन्तु कदाचित् अयोग्य दोनों ही प्रकार का हो सकता है। अतएव उनका भलेप्रकार पर्यावलोचन करके ही ग्रहण करना चाहिये।

जो भोजन विधिपूर्वक किया जाता है उससे स्व और पर दोनों का उपकार होता है, इस बात को प्रकट करते हैं :-

यत्प्रत्तं गृहिणात्मने कृतमपेतैकाक्षजीवं त्रसै -
र्निर्जीवरैपि वर्जितं तदशनाद्यात्मार्थसिद्धयै यतिः।
युञ्जन्नुद्धरति स्वमेव न परं किं तर्हि सम्यग्दृशं
दातारं द्युशिवश्रिया च सचते भोगैश्च मिथ्यादृशम्।।६६।।

जिस भक्तपान औषध आदि को गृहस्थ ने स्वयं अपने ही लिये बनाया हो और जो कि मृत अथवा जीवित द्विन्द्रियादिक जीवों से तथा एकेन्द्रिय प्राणियों से सर्वथा रहित है ऐसे उस भक्तपानादि को नवधा भक्ति के द्वारा गृहस्थ के द्वारा दिये जानेपर आत्मकल्याण को सिद्ध करने के अभिप्राय से विधिपूर्वक ग्रहण करनेवाला यति संयमी केवल अपना ही नहीं किन्तु उस दाता का भी उपकार किया करता है। क्योंकि यदि वह दाता सम्यग्दृष्टि हो तब तो उसको स्वर्ग मोक्षरूपी लक्ष्मी से युक्त बना देता है और यदि मिथ्यादृष्टि हो तो उसे अभीष्ट विषयों की प्राप्ति करा देता है।

ब्राह्मणादिकों में से जो गृहस्थ नित्य नैमित्त अनुष्ठान करनेवाले हैं वे दाता हो सकते

हैं; किन्तु शिल्पी आदि नहीं हो सकते जैसा कि कहा भी है कि :-

शिल्पिकारुकवाक्पण्यशंफलीपतितादिषु।
देहस्थितिं न कुर्वीत लिङ्गिलिङ्गोपजीविषु।।
दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेपि जन्तवः।।

जिस नवधा भक्ति से दाता दान देता है उसको नवपुण्य शब्द से कहा है। जिसके कि नाम इस प्रकार है :-

पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमञ्चणं च पणमं च।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धीय णवविहं पुण्णं।।

प्रतिग्रह उच्चस्थान पादप्रक्षालन पूजन प्रणाम और मन वचन काय की शुद्धि तथा भोजनसंबंधी शुद्धि इस प्रकार नौ कर्तव्यों को नवपुण्य शब्द से कहा है।

द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि में क्या अंतर है सो बताते हैं :-

द्रव्यतः शुद्धमप्यन्नं भावाशुद्ध्या प्रदुष्यते।
भावो ह्यशुद्धो बन्धाय शुद्धो मोक्षाय निश्चितः।।६७।।

यदि अन्न - भोज्य सामग्री द्रव्यतः शुद्ध - प्रासुक भी हो किन्तु भावतः - 'मेरे इसने यह बहुत अच्छा किया' इत्यादि परिणामों की दृष्टि से अशुद्ध हैं तो उसको अशुद्ध - सर्वथा दूषित ही समझना चाहिये। क्योंकि बंधमोक्ष के कारण परिणाम ही माने हैं। आगम में अशुद्ध परिणामों को कर्मबंध का और विशुद्ध परिणामों को मोक्ष का कारण बताया है। अतएव जो अन्न द्रव्य से शुद्ध रहते हुए भी भाव से भी शुद्ध है उसीको ग्रहण करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

प्रगता असवो यस्मादन्नं तद् द्रव्यतो भवेत्।
प्रासुकं किं तु तत्स्वस्मै न शुद्धं विहितं मतम्।।

दूसरे के लिये बनाये हुए अन्न का ग्रहण करनेवाला भोक्ता यति दूषित नहीं होता इस बात को दृष्टांत द्वारा दृढ़ करते हैं :-

योक्ताऽधःकर्मिको दुष्येन्नात्र भोक्ता विपर्यात्।
मत्स्या हि मत्स्यमदने जले माद्यन्ति न प्लवाः।।६८।।

अन्नादिक की योजना करने बनाने तथा रखने उठाने संचय आदि करने में प्रवृत्ति दाता की हुआ करती है अतएव अधःकर्मसंबंधी दूषण दाता को ही लगता है, न कि भोक्ता को; क्योंकि उसका अधःकर्म से बिलकुल भी संबंध नहीं रहता। ठीक ही है - यदि जल मत्स्यों के लिये मद का कारण बन जाय तो उससे मत्स्य ही मद को प्राप्त हो सकते हैं, न कि मण्डूक। जैसा कि कहा भी है कि :-

मत्स्यार्थं प्रकृते योगे यथा माद्यन्ति मत्स्यकाः।
न मण्डूकास्तथा शुद्धः परार्थं प्रकृते यतिः।।
अधःकर्मप्रवृत्तः सन् प्रासुद्रव्येपि बन्धकः।
अधःकर्मण्यसौ शुद्धो यतिः शुद्धं गवेषयेत्।।

अथवा :-

आधाकम्मपरिणदो पासुगदव्वेपि बंधगो भणिदो।
सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मेवि सो सुद्धो।।

प्रासुक द्रव्य को ग्रहण करते हुए भी यदि साधु अधःकर्म से प्रवृत्त होता है तो वह कर्मों का बंध ही करता है। अतएव शुद्ध आहार की गवेषणा करनेवाले साधु को अधःकर्म के विषय में भी विशुद्ध रहना चाहिये।

इस प्रकार इस अध्याय में पिण्डशुद्धि का वर्णन करके अंत में शुद्ध आहार के

निमित्त से प्राप्त हुई सामर्थ्य के द्वारा त्रिकालसंबंधी - भूत भविष्यत् और वर्तमान सिद्धिविषयक उत्साह को उद्योतित करनेवाले मुमुक्षुओं से ग्रंथकर्त्ता - आशाधर अपनी सिद्धि की प्रार्थना करते हैं।

विदधति नवकोटीशुद्धभक्ताद्युपाजे -
कृतनिजवपुषो ये सिद्धये सज्जमोजः।
विदधतु मम भूता भाविनस्ते भवन्तो -
प्यसमशमसमृद्धाः साधवः सिद्धिमद्धा।।६९।।

कृत कारित अनुमोदना को मन वचन और काय से गुणा करने पर नवभंग होते हैं। इन्हीं को नवकोटी कहते हैं। इन नवकोटियों से शुद्ध भोजनपानादि के द्वारा अपने शरीर को बलाधान पहुँचानेवाले और अद्वितीय उपशमरूप समृद्धि को धारण करनेवाले जो साधु अपने उत्साह को सिद्धि के प्राप्त करने में साक्षात् समर्थ बना रहे हैं अथवा बना चुके हैं या जो आगे चलकर बनावेंगे वे परम साधु मुझको भी शीघ्र ही निज आत्मस्वरूप की प्राप्ति करावें।

यहाँ पर 'कृतनिजवपुषः' की जगह विकल्प में 'कृततनुसुहृदः' ऐसा भी पाठ रक्खा है। क्योंकि सिद्धि प्राप्त करने में अनुकूल कारण बनकर आत्मा के लिये शरीर मित्र की तरह उपकारक है।

ऊपर जो नवकोटी के भेद बताये हैं उसके सिवाय आर्ष आगम में प्रकारान्तर से भी उनको गिनाया है। यथा :-

दातुर्विशुद्धता देयं पात्रं च प्रपुनाति सा।
शुद्धीर्देयस्य दातारं पुनीते पात्रमप्यदः।।
पात्रस्य शुद्धिर्दातारं देयं चैव पुनात्यतः।
नवकोटिविशुद्धं तद्दानं भूरिफलोदयम्।।

दाता देय और पात्र इनकी शुद्धि का संबंध परस्पर में जोड़ने से नव भेद हो जाते

हैं। यथा :- दाता की शुद्धि से देय और पात्र की शुद्धि होना तथा देय की शुद्धि से दाता और पात्र की शुद्धि का होना, एवं पात्र की शुद्धि से दाता और देय की शुद्धि का होना। 'जिस दान में ये नवशुद्धि पाई जाती हैं वह अत्यंत उत्कृष्ट फल देता है, इसमें संदेह नहीं है।'

पिण्डशुद्धि विधानीय नामा पञ्चम अध्याय समाप्त।

इति श्री परमपूज्य धर्मसाम्राज्यनायक योगींद्रचूडामणि सिद्धांतपारंगत, चारित्रचक्रवर्ती
श्री १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के आदेश से ज्ञानदान के लिये
श्री प. पू. चा. च. आ. श्री १०८ शांतिसागर दिगंबर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक
संस्था की ओर से छपे हुए श्री महापण्डित श्री आशाधरकृत
अनगारधर्मामृत की हिंदी टीका विषैं
पंचम अध्याय संपूर्ण भया।।५।।
ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण वीर नि. सं. २४८१

श्री वीतरागाय नमः

(वीर संवत् २४८१) ।।ॐ नमः सिद्धेभ्यः।। (ग्रंथ प्रकाशन, समिति फलटण

।।महापंडित श्री आशाधर कृत अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका।।

उस रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग में जिसका कि लक्षण पहले बताया जा चुका है महान् उद्योग करने का जिन्होंने दृढ़ विचार कर लिया है और जो कायिक वाचिक तथा मानसिक अथवा सहज शारीर और आगंतुक इन तीन प्रकार के तापों का उच्छेदन करना चाहते हैं उन साधुओं को समीचीन तप के आराधन के उपक्रम की विधि बताते हैं :-

दृग्वज्रद्रोण्युपघ्नेऽद्भुतविभववृषद्वीपदीप्रे स्फुटानु -
प्रेक्षातीर्थे सुगुप्तिव्रतसमितिवसुभ्राजि बोधाब्जराजि।
मग्नोन्मग्नोर्मिरत्नत्रयमहिमभरव्यक्तिदृप्तेभियुक्ता
मज्जन्त्विच्छानिरोधामृतवपुषि तपस्तोयधौ तापशान्त्यै।।१।।

मोक्षमार्ग में चलने का निरंतर ही उद्योग करनेवाले साधुओं को मानसिक वाचनिक और कायिक अथवा सहज शारीर और आगंतुक इन तीन प्रकार के संतापों की शांति के लिये या दुःखों का उच्छेद करने के लिये इच्छानिरोधरूपी अमृत ही है शरीर जिसका ऐसे तपरूपी समुद्र में निरंतर स्नान और अवगाहन करना चाहिये।

रत्नत्रय को आविर्भूत करने के लिये जो इच्छाओं का निरोध किया जाता है उसको तप कहते हैं। इसमें अवगाहन करना उतना ही कठिन है जितना कि समुद्र में। अतएव

इसको समुद्र के समान बताया है। जिस प्रकार संसार में अग्नि अथवा धूप आदि के संताप को दूर करनेवाला अपूर्व कारण अमृत माना गया है उसी प्रकार समस्त सांसारिक संतापों का शमन करने के लिये मोहनीयकर्मजनित इच्छाओं का निग्रह अद्वितीय साधन माना गया है। अतएव इस इच्छानिरोधरूपी अमृत को जो तपरूपी समुद्र का शरीर कहा है सो ठीक ही है। क्योंकि इसीमें अवगाहन करने से समस्त संताप दूर हो सकते हैं।

इस तपःसमुद्र का आश्रय सम्यग्दर्शनरूपी वज्रमय नौका है।

जिस प्रकार समुद्र का आधारस्थल वज्रमय नाव के आकार में हैं उसी प्रकार तपस्याका भी आश्रय दृढ सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार समुद्र में उद्भूत वैभव को धारण करनेवाले अंर्तद्वीप रहा करते हैं उसी प्रकार तपश्चरण में विस्मयनीय विभूति को संपन्न करनेवाले उत्तम क्षमा आदि दश धर्म रहा करते हैं। धर्मों को अंर्तद्वीपों के समान बताना ठीक ही है; क्योंकि जिस प्रकार अंर्तद्वीपों की देवगण नित्य सेवा किया करते हैं उसी प्रकार मुमुक्षुजन इन धर्मों की सेवा किया करते हैं। जिस प्रकार समुद्र में प्रवेश करने के लिये किनारे पर घाट बने रहते हैं उसी प्रकार तपःसमुद्र में प्रवेश करने के लिये अनित्य अशरण संसार एकत्व अन्यत्व अशुचित्व आदि बारह अनुप्रेक्षाओं को समझना चाहिये। जिस प्रकार समुद्र में जगत को आह्लादित कर देनेवाले हीरा मोती आदि रत्न रहा करते हैं उसी प्रकार तपश्चरण में समीचीन व्रत गुप्ति और समिति हुआ करती हैं। समुद्र यदि जगत को आह्लादित करनेवाले चंद्रमा के द्वारा शोभायमान होता है तो तपश्चरण वैसे ही सम्यग्ज्ञान के द्वारा प्रदीप्त होता है। जिस प्रकार समुद्र में कोई कोई लहरी निमीलित और कोई कोई उन्मीलित रहा करती है, उसी प्रकार तपश्चरण में भावनाबल के द्वारा कोई कोई परीषह तिरोहित - अपना कार्य करने में असमर्थ और कोई कोई उद्भूत - कार्य करने में समर्थ रहा करती है। जिस प्रकार समुद्र अपने ऐरावत कौस्तुभ और पारिजातक इन तीन रत्नों के माहात्म्य का अतिशय प्रकट होने से अपने उत्कर्ष की संभावना किया करता है उसी प्रकार तपश्चरण भी अपने को सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रयरूप परिणत आत्मा के घाति अघाति कर्मों का क्षपण करने में समर्थ शक्त्यतिशय के द्वारा उत्कृष्ट प्रकट करता है।

भावार्थ :- समुद्र समान तपश्चरण में अवगाहन करनेसे ही सांसारिक तापत्रय की शांति हो सकती है और रत्नत्रय तथा आत्मोपलब्धि की प्राप्ति हो सकती है। अतएव

साधुओं को मोक्षमार्ग में महोद्योग करने के लिये इस तप:समुद्र में अवगाहन करना ही चाहिये।

दश धर्मों का स्वरूप बताते हैं :-

क्रूरक्रोधाद्युद्भवाङ्गप्रसङ्गेप्यादत्तेऽद्धा यन्निरीहः क्षमादीन्।
शुद्धज्ञानानन्दसिद्धयै दशात्मा ख्यातः सम्यग्विश्वविद्भिः सः धर्मः।।२।।

दु:ख अथवा दुनिर्वार क्रोधादि कषायों का उद्भव कर देनेवाले कारणों का व्यक्तरूप में अथवा सहसा प्रसंग आ जानेपर भी ऐहिक विषयों के लाभादिक की अपेक्षा न रखकर जो अंत:कलुषता के उपशम का धारण करना उसको धर्म कहते हैं। जिसको कि सर्वज्ञ देव ने शुद्धज्ञान तथा शुद्धप्रमोद की सिद्धि का साधन बताया है और जो कि उत्तमक्षमा उत्तममार्दव उत्तमआर्जव उत्तमसत्य उत्तमशौच उत्तमसंयम उत्तमतप उत्तमत्याग उत्तमआकिंचन्य उत्तमब्रह्मचर्य इस तरह दश प्रकार का है।

कषाय आत्मा को तेज का नाश करनेवाले और अत्यंत दुर्जय हैं इस बात को प्रकाशित करते हुए उनकी जेयता दिखाकर यह बात भी बताते हैं कि उनका विजय कर लेनेपर ही वास्तविक आत्मरूप की उपलब्धि हो सकती है :-

जीवन्तः कणशोपि तत्किमपि ये घ्नन्ति स्वनिघ्नं महस्ते
सद्भिः कृतविश्वजीवविजया जेयाः कषायद्विषः।
यन्निर्मूलनकर्मठेषु बलवत्कर्मारिसंघाश्चिता -
मासंसारनिरूढबंधविधुरा नोत्क्राथयन्ते पुनः।।३।।

अधिक प्रमाण की तो बात ही क्या एक कण - अंशमात्र भी अस्तित्त्व में बैठे हुए कषायरूपी शत्रु जिन्होंने कि समस्त संसार के जीवों पर विजय प्राप्त कर रक्खा है, आत्मा के उस स्वाधीन तेज का जो कि अनिर्वचनीय है नाश कर देते हैं। किन्तु जो इन कषाय शत्रुओं का नि:शेष नाश करने में शूर हैं उनको अनादिकाल से परतंत्रता के दु:ख को पुन: पुन: भुगानेवाले एवं बलवान भी ये कर्मशत्रुओं के संघ उत्पीड़ित नहीं

कर सकते, अतएव साधुओं को इन क्रोधादिक शत्रुओं के जीतने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

क्रोधकषाय का फल अनर्थ ही है इस बात को दिखाकर
उसके जीतने का उपाय बताते हैं :-

कोपः कोप्यग्निरन्तर्बहिरपि बहुधा निर्दहन् देहभाजः
कोपः कोप्यन्धकारः सह दृशमुभयीं धीमतामप्युपघ्नन्।
कोपः कोपि ग्रहोऽस्तत्रपमुपजनयन् जन्मजन्माभ्यपायां -
स्तत्कोपं लोप्तुमाप्तश्रुतिरसलहरी सेव्यतां क्षान्तिदेवी।।४।।

क्रोध कषाय को एक अपूर्व अग्नि के समान समझना चाहिये जो कि संसारी प्राणियों के बाह्य शरीर नेत्र आदि को तथा अंतस्तत्त्व - आध्यात्मिक भावों का नाना प्रकार से ऐसा भस्मसात् किया करता है कि जिसका कोई प्रतिकार नहीं हो सकता। यद्वा उसको एक अपूर्व अंधकार के तुल्य समझना चाहिये जो कि मूर्खों की तो बात ही क्या, विद्वानों को भी अंतरंग और बाह्य दोनों ही प्रकार की दृष्टियों को अंधा बना देता है। अथवा उसको एक अपूर्व ग्रह के समान भी कहा जा सकता है जो कि निर्लज्जता के साथ साथ नाना प्रकार के क्लेशों के इस जन्म और जन्मांतरो में भी उत्पन्न किया करता है। फलतः यह बात सिद्ध है कि क्रोध का फल अनर्थ के सिवाय और कुछ भी नहीं है। अतएव मुमुक्षुओं को इस कोप का लोप करने के लिये उस क्षमादेवता का आराधन करना चाहिये, जो कि आप्तोक्त आगम के अर्थ ज्ञान का उल्हास करने में कारण है।

उत्तमक्षमा के माहात्म्य की प्रशंसा करते हैं :-

यः क्षाम्यति क्षमोप्याशु प्रतिकर्तुं कृतागसः
कृत्तागसं तमिच्छन्ति क्षान्तिपीयूषसंजुषः।।५।।

अपना अपराध करनेवालों का शीघ्र ही प्रतिकार करने में समर्थ रहते हुए भी जो पुरुष अपने उन अपराधियों के प्रति उत्तमक्षमा धारण करता है उसको क्षमारूपी अमृत का समीचीनतया सेवन करनेवाले साधुजन पापों को नष्ट कर देनेवाला समझते हैं।

क्षमाभावना की विधि बताते हैं :-

प्राग्वास्मिन्वा विराध्यन्निममहमबुधः किल्विषं यद्बबन्ध
क्रूरं तत्पारतन्त्र्याद् ध्रुवमयमधुना मां शपन्काममाघ्नन्।
निघ्नन्वा केन वार्यः प्रशमपरिणतस्याथवावश्यभोग्यं
भोक्तुं मेद्यैव योग्यं तदिति वितनुतां सर्वथार्यस्तितिक्षाम्।।६।।

मुझ अल्पज्ञने पूर्वजन्म में अथवा इसी जन्म में जो इस जीव की विराधना की थी उससे दुःखद एवं उदग्र पापकर्म का बंध किया जिसकी कि परतंत्रता के कारण ही आज मुझको यह गाली दे रहा है अथवा चाबुक से पीट रहा है यद्वा मेरे प्राणों का अपरहण कर रहा है। भला जिसकी कि मैंने विराधना की वह यदि उस विराधनाजनित पापकर्म के उदय से मेरे साथ भी वैसा ही व्यवहार करे तो उसको वैसा करने से कौन रोक सकता है। क्योंकि संचित कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है जब कि यह अवश्य ही भोगना पड़ता है तब मुझको प्रशमरूप परिणत होकर आज ही उनका भोग लेना योग्य हैं। इस प्रकार से साधुओं को अपनी क्षमाभावना विस्तृत करनी चाहिये।

भावार्थ :- किसी विराधक के उपस्थित होनेपर साधुओं को ऐसा विचार करना चाहिये कि मेरे पूर्वसंचित पापकर्म के उदय से ही यह मेरे प्रति ऐसा व्यवहार कर रहा है। अतएव इस पापफल को मध्यस्थ भावों से जहाँ तक हो, शीघ्र ही भोग लेना उचित है; जिससे कि इन कर्मों की निर्जरा हो जाय।

किसी के इस तरह से गाली आदि दिये जानेपर भी कि जिसके सुनते ही क्रोध उत्पन्न हो जाय, जो साधु अपने चित्त को संयत रखता है उसीको इष्ट आत्मोपलब्धि हो सकती है; इस बात को बताते हैं :-

दोषो मेस्तीति युक्तं शपति शपति वा तं विनाज्ञः परोक्षे
दिष्ट्या साक्षान्न साक्षादथ शपति न मां ताडयेत्ताडयेद्वा।
नासून् मुष्णाति तान्वा हरति सुगतिदं नैष धर्मं ममेति
स्वान्तं यः कोपहेतौ सति विशदयति स्याद्धि तस्येष्टसिद्धिः।।७।।

उत्तमक्षमा का साधक जो मुमुक्षु किसीके गाली आदि देने अथवा निंदा आदि करनेपर इस तरह का विचार करता है कि मेरे पापकर्म के उदय के वशीभूत हुआ यह जीव जिन दोषों के सबब से मेरी निंदा कर रहा है, सचमुच में वे दोष मुझमें [१] मौजूद हैं, अथवा मुझमें दोषों के न रहने पर भी जो मेरी यह बुराई करता है सो इसका यह लड़कपन है, क्योंकि असद्भूत दोषों का उद्भावन अज्ञबालक ही कर सकते हैं या किया करते हैं। अथवा मेरे परोक्ष में मेरी बुराई करके इसने मेरा बढप्पन ही रक्खा है। यदि कोई प्रत्यक्ष में ही निंदा करता हो तो जो साधु ऐसा विचार करता है कि - 'यह केवल मेरी निंदा ही तो करता है मुझको मारता या पीटता तो नहीं है,' यदि वह पीटता हो तो उसके विषय में ऐसा विचार करता है कि 'मुझको पीटता ही है न, मेरे प्राणों का अपहरण तो नहीं करता,' यदि कोई वैसा भी करने लगे तो जो उत्तमक्षमा का निधि अपने मन में ऐसा विचार किया करता है कि 'यह मेरे प्राणों का अपहरण ही करता है न कि मेरे स्वर्गापवर्गरूप फल देनेवाले आत्मधर्म का;' उसी साधु के अभीष्ट अर्थ की सिद्धि हो सकती है।

भावार्थ :- निंदा आदि क्रोध के निमित्त मिल जानेपर भी जो साधु अपने हृदय को प्रशान्त रखता है - विकृत नहीं होने देता उसके व्रत शील आदि सब सुरक्षित रहते और इस लोक में अथवा परलोक में कहीं भी उसको दुःख नहीं भोगना पड़ता। उसको सर्वत्र सम्मान सत्कार आदि का लाभ ही होता है।

क्रोध का फल अपकीर्ति तथा दारुण दुःख ही है, इसी बात को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हुए उसका दूर ही से परित्याग करने का उपदेश देते हैं :-

---

१ - इसको अपने में दोषों के सद्भाव का चिंतवन करना कहते हैं।

नाद्याप्यन्त्यमनोः स्वपित्यवरजामर्षार्जितं दुर्यशः
प्रादोदोन्मरुभूतिमत्र कमठे वान्तं सकृत् क्रुद्विषम्।
दग्ध्वा दुर्गतिमाप यादवपुरीं द्वीपायनस्तु क्रुधा
तत्क्रोधं ह्यरिरित्यजत्वपि विराराधत्यरौ पार्श्ववत्।।८।।

[१] अंतिम मनु - भरत चक्रवर्ती का अपने छोटे भाई बाहुबलिकुमार के ऊपर किये गये क्रोध द्वारा संचित अपयश क्या आजतक इतना समय बीत जानेपर भी सो गया, नहीं, वह बराबर जागृत है और अपना काम कर रहा है। इसी प्रकार अपने बड़े भाई कमठ के ऊपर केवल एक ही बार छोड़े हुए क्रोधरूपी विषने क्या मरुभूति - पार्श्वनाथ स्वामी के पूर्वभव के जीव को बार बार और अतिशयरूप से संतप्त नहीं किया ? अवश्य किया। तथा क्रोधानल यद्वा तपोलब्धिविशेष के द्वारा उत्पन्न हुए तैजस शरीर के द्वारा द्वारावती नगरी को भस्मसात् करके स्वयं दुर्गति को प्राप्त होनेवाले द्वीपायन तपस्वी का नाम किसने नहीं सुना है ? फलतः यह बात स्पष्ट है कि क्रोधकषाय मनुष्यों के लिये शत्रु के समान अपकार करनेवाला है अतएव उक्त पार्श्वनाथ स्वामी के ही समान साधुओं को क्षमस्वियों का धुरीण बनकर किसी शत्रु के द्वारा अपनी पुनः पुनः तथा अतिशयेन विराधना भी किये जानेपर शत्रुतुल्य क्रोध का क्षेपण अथवा शमन करना उचित है।

इस प्रकार उत्तमक्षमाधर्म का निरूपण करके क्रमप्राप्त मार्दवधर्म का लक्षण करने के लिये जिसका उदय रहने से यह धर्म उद्भूत नहीं हो सकता उस मानकषाय को धिक्कार देते हैं :-

हृत्सिन्धुर्विधिशिल्पिकल्पितकुलाद्युत्कर्षहर्षोर्मिभिः
किर्मीरः क्रियतां चिराय सुकृतां म्लानिस्तु पुंमानिनाम्।
मानस्यात्मभुवापि कुत्रचिदपि स्वोत्कर्षसंभावनं
तद्ध्वेयेपि विधेश्चरेयमिति धिग्मानं पुमुत्प्लाविनम्।।९।।

---

१ - इसको अपने में दोषों के अभाव का चिंतवन करना कहते हैं।

जो दैवरूपी शिल्पी के द्वारा रचे गये वंशरूप तप ऐश्वर्य प्रभृति के अतिरेक से जनित प्रमोदरूपी लहरियों के द्वारा पुण्यात्माओं [१] भाग्यहीन व्यक्तियों के हृदयरूपी समुद्र को जीवनभर के लिये चित्रविचित्र बना देता है। और जिसके कि निमित्त से वास्तविक पुंस्त्व के न रहते हुए भी अपने को पुरुष समझनेवालों को किसी विषय में इस प्रकार से अपने लिये अधिकता की उत्प्रेक्षा होने लगती हैं कि मैं इस विषय में उत्कृष्ट हूँ। किंतु औरों की तो बात ही क्या खास अपने पुत्र के द्वारा भी कभी कभी उनको वह मान म्लान हो जाता है। इसी प्रकार जो पुरुषों को अपने माहात्म्य से भ्रष्ट कर दिया करता है उस मानकषाय को धिक्कार हो। अब मुझको चाहिये कि उस दैव के लिये भी स्मरणीय जहाँ पर कि भाग्य भी अपना अनुष्ठान नहीं कर सकता उस विषय में प्रवृत्ति करूँ।

अभिमान के निमित्त से होनेवाली अनर्थ परंपराओं को दिखाते हैं :-

गर्वप्रत्यग्नगकवलिते विश्वदीपे विवेक -
त्वष्टर्युच्चैः स्फुरितदुरितं दोषमन्देहवृन्दैः।
सत्रोद्वृत्ते तमसि हतदृग् जन्तुराप्तेषु भूयो
भूयोऽभ्याजत्स्वपि सजति ही स्वैरमुन्मार्ग एव।।१०।।

जिसके द्वारा कर्तव्याकर्तव्य का पृथक्करण किया जा सकता है ऐसा विवेकरूपी सूर्य जो कि समस्त संसार को प्रकाशित करने के लिये प्रदीप के समान है, जब अहंकाररूपी अस्ताचल के द्वारा ग्रस्त हो जाता है और रागद्वेष प्रभृति राक्षसगणों के साथ साथ अतिशयरूप में बढ़ रही और फैल रही है चोरी व्यभिचार आदि पापकर्मों की प्रवत्तियाँ जिसमें, ऐसा मोहरूपी अंधकार अच्छी तरह से - उच्छृंखलता के साथ साथ निबिडरूप में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है उस समय में इस प्राणी की दृष्टि नष्ट हो जाती है, और कष्ट की बात है कि वह अभीष्ट मार्ग को छोड़कर गुरु आदि आप्तजनों के द्वारा पुनः पुनः रोके जानेपर भी स्वच्छन्दतया उन्मार्ग - पुरुषार्थ विरोधी मार्ग में ही आसक्त होता है।

---

१ - विपरीत लक्षण के अनुसार ऐसा अर्थ किया गया है।

अहंकारजनित पापकर्म के उदय से होनेवाले अत्यंत उग्र अपमान दु:ख का निरूपण करते हैं :-

जगद्वैचित्र्येस्मिन्विलसति विधौ काममनिशं
स्वतन्त्रो न क्वास्मीत्यभिनिविशतेऽहंकृतितमः।
कुधीर्येनादत्ते किमपि तदघं यद्रसवशा -
च्चिरं भुङ्क्ते नीचैर्गतिजमपमानज्वरभरम्।।११।।

'स्थावरजंगम स्वरूप संसार की विचित्रता प्रसिद्ध है। इसमें निरंतर और यथेष्टरूप से भाग्य के स्फुरायमान होनेपर ऐसा कौनसा विषय है कि जिसको मैं प्राप्त नहीं कर सकता। संसार के सभी विषयों को प्राप्त करने में मैं स्वतंत्र हूँ।' ऐसा समझनेवाला यह जडबुद्धि जीव अहंकाररूपी अंधकार को उच्छृंखल बना देता है और उससे उस अनिर्वचनीय पापकर्म का संचय करता है कि जिसका उदय होनेपर नीचगतिसंबंधी अपमानज्वर को चिरकाल तक उसे भोगना पड़ता है। क्योंकि जीवों को उनका अपमान - महत्त्व की हानि ज्वरसे भी अधिक तीव्र संताप करनेवाला और दु:ख देनेवाला है। तथा यह निगोदादिक नीच पर्यायों में होनेवाला अपमान अभिमान के निमित्त से ही होता है जैसा कि आगम में कहा है कि :-

जातिरूपकुलैश्वर्यशीलज्ञानतपोबलैः।
कुर्वाणोहंकृतिं नीच गोत्रं बध्नाति मानवः।।

जाति आदि आठ विषयों का मद करनेवाला नीचगोत्र का बंध करता है। पूर्वोक्त प्रकार के दु:खद मान का मर्दन मार्दवधर्म ही कर सकता है। अतएव उसकी प्रशंसा करते हैं :-

भद्रं मार्दववज्राय येन निर्लूनपक्षतिः।
पुनः करोति मानाद्रिर्नोत्थानाय मनोरथम्।।१२।।

उस मार्दवरूपी वज्र का कल्याण हो जिसके द्वारा अपने पक्ष शक्तिविशेष के समूल छिन्न हो जानेपर यह मानरूपी पर्वत पुनः उठने का प्रयत्न नहीं कर सकता।

भावार्थ :- मान के दूर करने को मार्दव कहते हैं। जाति रूप कुल ऐश्वर्य आदि अतिशयों के रहते हुए भी उनका मद न होना, अथवा दूसरों के द्वारा किये गये तिरस्कार आदि निमित्तों के मिलने पर भी अभिमान का जागृत न होना, यद्वा अपने सामने दूसरों को तुच्छ समझने के सकषाय भाव का उद्भूत न होना आदि मार्दव कहाता है। इस मार्दवधर्मरूपी वज्र के द्वारा ही मानरूपी पर्वत का चूर्ण किया जा सकता है। अतएव इस अपूर्व धर्म का सदा कल्याण हो।

अहंकार कभी भी कर्तव्य नहीं हो सकता इस बात का
उपदेश देने के लिये संसार की दुरवस्था को प्रकट करते हैं।

क्रियेत गर्वः संसारे न श्रूयेत नृपोपि चेत्।
दैवाज्जातः कृमिर्गूथे भृत्त्यो नेक्ष्येत वा भवन्।।१३।।

दूसरे साधारण जीवों की तो बात ही क्या, एक राजा तक अपने संचित पापकर्म के उदय से मरकर विष्टा का कीडा हुआ, यह बात यदि आप्तसंप्रदाय के द्वारा सुनने में न आई होती, अथवा आजकल भी एक देश का नरेश क्षणभर के बाद किंकर होता हुआ देखने में न आता होता तब तो कदाचित् संसार में गर्व किया भी जा सकता था। किन्तु यह बात नहीं है - उक्त सभी बातें सुनने और देखने में आती हैं। अतएव संसार के इस दुःस्वरूप का जाननेवाला कोई भी मनुष्य किसी भी वस्तु के निमित्त से गर्व करना कर्तव्य किस तरह समझ सकता है।

समीचीन व्रतों का अभ्यास करनेवाले साधुओं को आरंभिक अवस्था में अभिमान को जीतने का उपाय करना चाहिये किन्तु कर्मों को नष्ट करने के लिये उसको उत्तेजित करना चाहिये। ऐसा उपदेश देते हैं :-

प्राच्यानैदंयुगीनानथ परमगुणग्रामसामृद्ध्यसिद्धानद्धा
ध्यायन्निरुन्ध्यान्मदिमपरिणतः शिर्मदं दुर्मदारिम्।

छेत्तुं दौर्गत्यदु:खं प्रवरगुरुगिरा संगरे सद्व्रतास्त्रै:
क्षेप्तुं कर्मारिचक्रं सुहृदमिव शितैर्दीपयेद्वाभिमानम्।।१४।।

जो आत्मा का अपाय करे उसको शत्रु कहते हैं। मान कषाय आत्मा का अत्यंत अपाय ही करता है अतएव उसको भी प्रबल शत्रु के ही समान समझना चाहिये। और इसीलिये जो आत्महित को सिद्ध करना चाहते हैं उन साधुओं को मार्दवधर्म से युक्त होकर तथा पूर्वकाल के और इस युग के भी उन संपूर्ण साधुओं को जो कि अपने ज्ञान विनय दया सत्यप्रभृति परम गुणगणों की समृद्धि के द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं तत्त्वत: ध्यान करते हुए उस दुष्ट मदरूपी शत्रु का निवारण करना ही उचित है। अथवा इस मानकषाय को मित्र के समान समझना चाहिये। जिस प्रकार विजय लाभ की इच्छा रखनेवाला कोई भी वीर योद्धा दारिद्र्यादिक दु:खों को नष्ट करने के लिये अपने मंत्री या सेनापति आदि अधिकारी के कथनानुसार संग्राम में अपना प्रहार करने के लिये उद्यत हुई शत्रुसैन्य का तीक्ष्णशस्त्रों के द्वारा निरसन करने के लिये मित्र को उत्तेजित किया करता है उसी प्रकार मुमुक्षुओं को दुर्गतियों का निराकरण करने के लिये सद्गुरुओं के उपदेशानुसार प्रतिज्ञाओं में स्थिर होकर धर्मरूपी शत्रुसैन्य का उनकी संपूर्ण शक्तियों का नाश करने में सर्वथा समर्थ निर्मल अहिंसादिक व्रतों के द्वारा नाश करने की इच्छा से मित्र के समान अभिमान को उत्तेजित करना चाहिये। क्योंकि आद्य अवस्था में मुमुक्षुओं के लिये अभिमान भी विधेय हो सकता हैं। क्योंकि उसके निमित्त से कर्मों का क्षेपण करने की प्रवृत्ति में उत्तेजना लाई जा सकती है।

यद्यपि मानकषाय की शक्ति मार्दवधर्म के द्वारा अभिभूत हो जाती है फिर भी उसका सर्वथा नाश शुक्लध्यान की प्रवृत्ति से ही हो सकता है। अतएव वैसा करने के लिये उपदेश देते हैं :-

मार्दवाशनिनिर्लूनपक्षो मायाक्षितिं गत:।
योगाम्बुनैव भेद्योन्तर्वहता गर्वपर्वत:।।१५।।

मार्दवरूपी वज्र के द्वारा पक्षच्छेद हो जानेपर मायारूपी पृथ्वी पर पड़े हुए गर्वरूपी पर्वत

का भेदन अंतरंग में बहते हुए योगरूपी जल के द्वारा ही हो सकता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार इन्द्र के द्वारा छोड़े हुए वज्र से पक्षच्छेद हो जानेपर पर्वत का पृथ्वी पर पतन तो हो जाता है किन्तु वास्तविक विदारण नहीं होता सो वह उसके ही भीतर बहनेवाले जल के ही द्वारा हो सकता है। इसी प्रकार मार्दव भावना के द्वारा शक्तिविशेष के नष्ट हो जाने से गर्वरूपी पर्वत संज्वलन मायारूप में आकर प्राप्त तो हो जाता है किन्तु उसका वास्तविक निर्हरण आत्मस्वरूप में संततिक्रम से प्रवर्तमान पृथक्त्ववितर्कवीचार नाम के शुक्लध्यान द्वारा ही हो सकता है। क्योंकि क्षपक श्रेणी में शुक्लध्यान के द्वारा मानसंज्वलन का उन्मूलन मायासंज्वलन में क्षेपण करके ही किया जाता है।

मान के निमित्त से महापुरुषों के भी अभिप्रायों की जो बड़ी भारी क्षति हुई है या हुआ करती हैं उस पर लक्ष्य दिलाते हुए इस बात का उपदेश देते हैं कि उसका नाश करने के लिये मुमुक्षुओं को मार्दवभावों का अवश्य ही पालन करना चाहिये :-

मानोऽवर्णमिवापमानमभितस्तेनेऽर्ककीर्तेस्तथा
मायाभूतिमचीकरत्सगरजान् षष्टिं सहस्त्राणि तान्।
तत्सौनन्दमिवादिराट् परमरं मानग्रहान्मोचयेत्
तन्वन्मार्दवमाप्नुयात् स्वयमिमं चोच्छिद्य तद्वच्छिवम्।।१६।।

अहंकार के द्वारा आदिचक्रवर्ती भरतेश्वर के पुत्र अर्ककीर्ति का जो अपमान, अपयश और तेजोवध हुआ वह आगम में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार मानकषाय ने आर्षप्रसिद्ध सगरचक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों की मणिकेतु नामक देव के द्वारा जो मायाभस्म करा दी सो भी आगम में प्रसिद्ध ही है। अतएव साधुओं को चाहिये कि यदि कोई इस अहंकाररूपी भूत के आवेश से ग्रस्त हुआ हो तो वे उसको शीघ्र ही उससे छुड़ाने का इस तरह से प्रयत्न करें कि जिस तरह से भरतराज ने बाहुबलिकुमार के विषय में किया था। तथा स्वयं भरतचक्रवर्ती की ही तरह मार्दवधर्म को धारण करके और मानकषायरूपी ग्रह को निर्मूल करके अभ्युदय तथा मोक्षपद को प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि जो पुरुष मार्दवधर्म से युक्त है उसका गुरुजन अनुग्रह करते और साधुगण भी मान करते

हैं। तथा अंत में वह सम्यग्ज्ञानादिक का पात्र बनकर स्वर्गापदर्गरूपी फल को प्राप्त कर लेता है।

क्रम प्राप्त आर्जवधर्म का वर्णन करने की इच्छा से सबसे पहले सर्वथा परिहरणीय माया के विलासों को बताते हैं :-

क्रोधादीनसतोपि भासयति या सद्वत् सतोप्यर्थतो
ऽसद्वद्दोषधियं गुणेष्वपि गुणश्रद्धां च दोषेष्वपि।
या सूते सुधियोपि विभ्रमयते संवृण्वती यात्यणू -
न्यप्यभ्यूहपदानि सा विजयते माया जगह्यापिनी।।१७।।

समस्त संसार को व्याप्त कर लेनेवाली माया ने सबपर विजय - सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त कर रक्खा है। क्योंकि यह प्रयोजन के अनुसार जहाँ जब जैसा भाव प्रकट करना चाहिये वहाँ उस समय वैसा ही भाव प्रकट किया करती है। कभी तो अनुद्भूत भी क्रोध मान या लोभरूप कषायभावों को उद्भूत की तरह प्रकट किया करती है, और कभी प्रयोजन के आश्रय से उद्भूत भी इन कषायों को अनुद्भूत की तरह दिखाया करती है। जैसा कि कहा भी है कि :-

भेयं [१] मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात्।
यस्मिँल्लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः।।

मिथ्यादर्शन या विपर्यासरूप निबिड अंधकार से व्याप्त उस मायाचाररूपी महान गर्त से अवश्य ही डरना चाहिये जिसमें कि पड़े गये हुए क्रोधादि कषायरूपी विषयभुजंग देखने में नहीं आ सकते।

यह माया दृष्टि को शान्त बनाकर गुणों में दोषबुद्धि और दोषों में गुणों की श्रद्धा उत्पन्न कर दिया करती है। अधिक क्या कहें, ऐसे अत्यंत सूक्ष्म तर्कणा के स्थानों को

१ - यह श्लोक श्रीगुणभद्रस्वामी ने कहा है।

जो कि सहसा दृष्टिमें भी आ सके, ढककर साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या, कुशलबुद्धियों को भी भ्रम में डाल देती है। जैसा कि कहा भी है कि :-

[१] बहिः सर्वाकारप्रवणरमणीयं व्यवहरन्,
पराभ्यहस्थानान्यपि तनुतराणि स्थगयति।
जनं विद्वानेवं सकलमतिसंघाय कपटै, -
स्तटस्थः स्वानर्थान् घटयति च मौनं स भजते।।

यह माया इस लोक और परलोक दोनों ही जगह दु:ख का ही कारण है। इस बात को दिखाते है :-

यः सोढुं कपटीत्यकीर्तिभुजगीमीष्टे श्रवोन्तश्चरीं,
सोपि प्रेत्य दुरत्ययात्यमयीं मायोरगीमुज्झतु।
नो चेत्स्त्रीत्वनपुंसकत्वविपरीणामप्रबन्धार्पितं,
ताच्छील्यं बहु धातृकेलिकृतपुंभावोप्यभिव्यङ्क्ष्यति।।१८।।

'यह कपटी है' इस तरह की अपकीर्तिरूप सर्पिणी के अपने कान के पास घुमने को जो सहन नहीं कर सकता उसकी तो बात ही क्या, जो सहन कर सकता है उसको भी चाहिये कि वह परलोक में नि:सीम दु:खों को देनेवाली इस मायासर्पिणी को दूर से ही छोड़ दे। क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो जिसके उदय से पुंस्त्वपर्याय प्राप्त होती है उस कर्म के निमित्त से पुल्लिङ्गपर्याय से युक्त रहते हुए भी अपने स्त्रीत्वरूप विविध परिणामों की संतति के द्वारा मिश्रित हुए उन प्रभृत भावों को - भावस्त्रीत्व या भावनपुंसकत्व को अवश्य ही प्रकट कर देगा।

भावार्थ :- मायाचार का त्याग करने पर संसार में जो अपयश होता है सो तो होता ही है किन्तु उससे परलोक में स्त्रीत्व या नपुंसकत्वपर्याय की जिससे प्राप्ति हो ऐसै कर्म का संचय भी होता है। अतएव वर्तमान में भले ही वह पुरुषविधायक कर्म के

---

१ - यह श्लोक मुद्राराक्षसनाटकमेंका है।

उदय से पुल्लिंग दिखे किन्तु मरकर वह अवश्य ही स्त्री या नपुंसक होगा।

मायाचारी का लोक में बिलकुल भी विश्वास नहीं होता
इस बात को प्रकाशित करते हैं।

यो वाचा स्वमपि स्वान्तं वाचं वञ्चयतेऽनिशम्।
चेष्टया च स विश्वास्यो मायावी कस्य धीमतः।।१९।।

जो मनुष्य निरंतर अपने हृदय को भी वचनों से और वचनों को भी काव्य व्यवहार से धोखा दिया करता है उस मायाचारी का भला ऐसा कौन विचारशील होगा जो कि विश्वास करें क्योंकि मायाचारी मनुष्य जो कुछ मन में होता है उसको तो कहता नहीं और जैसा कुछ कहता है वैसा करता नहीं।

इस कलिकाल में आर्जवधर्म के धारण करनेवालों की दुर्लभता बताते हैं :-

चित्तमन्वेति वाग् येषां वाचमन्वेति च क्रिया।
स्वपरानुग्रहपराः सन्तस्ते विरलाः कलौ।।२०।।

आजकल इस पंचमकाल में ऐसे सत्पुरुष बहुत ही विरल हैं - दो चार की संख्या में मिलने भी कठिन हैं कि जो अपना और पर का उपकार करने में ही तत्पर रहते हुए भी अमायिक हों - जिनका कि हृदय के अनुरूप वचन और वचन के अनुरूप काव्य व्यवहार हो।

आर्जवधर्म के धारकों का माहात्म्य प्रकट करते हैं :-

आर्जवस्फूर्जदुर्जस्काः सन्तः केपि जयन्ति ते।
ये निगीर्णत्रिलोकायाः कृन्तन्ति निकृतेर्मनः।।२१।।

आर्जवधर्म के द्वारा बढ़ता हुआ है तेज अथवा उत्साह जिनका, और इसीलिये जो तीनलोक को अपने पेट में रखनेवाली - जगत्त्रयी को अपने अधीन करनेवाली माया के हृदय को विदीर्ण कर डालते हैं वे लोकोत्तर सत्पुरुष सदा जयवंते रहो अथवा ऐसे ही साधुजन सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त कर सकते हैं।

माया कषाय का जितना अत्यंत कठिन कार्य है। फिर भी जिन्होंने आर्जवधर्म के द्वारा उसको जीत लिया है उनको मोक्षमार्ग प्रवृत्ति में किसी भी प्रकार का प्रतिबंध नहीं आ सकता। ऐसा उपदेश देते हैं :-

दुस्तरार्जवनावा यैस्तीर्णा मायातरङ्गिणी।
इष्टस्थानगतौ तेषां कः शिखण्डी भविष्यति।।२२।।

जो आर्जवधर्मरूपी नौका के द्वारा दुस्तर भी मायारूपी नदी को लाँघकर पार हो गये हैं उनके अभीष्ट स्थान के जाने में भला कौन अंतराय हो सकता है ? कोई नहीं।

भावार्थ :- मायाकषाय के जीतनेवालों का मोक्षमार्ग निष्कण्टक समझना चाहिये।

मायाचार के निमित्त से जो दुर्गतियों में क्लेश अथवा दुःसह गर्हा - निंदा हुआ करती है उसको उदाहरण द्वारा बताते हैं :-

खलूक्त्वा हृत्कर्णक्रकचमखलानां यदतुलं
किल क्लेशं विष्णोः कुसृतिरसृजत् संसृतिसृतिः।
हतोऽश्वत्थामेति स्ववचनविसंवादितगुरु -
स्तपःसूनुर्म्लानः सपदि श्रुणु सद्भ्योन्तरधित।।२३।।

हे साधुओं ! सुनो सज्जनों के हृदय और कानों को विदीर्ण करने के लिये करोंतके समान मायावचन का सत्पुरुष कभी भी प्रयोग नहीं करते। संसारमार्ग के बढानेवाली इस अनंतानुबंधिनी माया ने विष्णु - वासुदेव को जो असाधारण क्लेश दिया वह किसीसे छिपा नहीं हैं; क्योंकि वह लोक और शास्त्र सर्वत्र सुनने में आता है। इसी प्रकार 'कुञ्जरो न नरः' ऐसे मायापूर्ण वचनों से युक्त 'अश्वत्थामा मारा गया' इन वचनों के द्वारा अपने

गुरु द्रोणाचार्य को धोखा देने के कारण युधिष्ठिर को ऐसी ग्लानि हुई थी कि जिसके संबंध से उन्होंने अपने को सत्पुरुषों से छिपा लिया था - वे सज्जनों को अपना मुख दिखाना नहीं चाहते थे।

भावार्थ :- इस माया के प्रसाद से बड़े बड़े पुरुषों को भी क्लेश ही हुआ है ऐसा समझकर हृदय तथा कर्ण तक को विदीर्ण कर देनेवाली इस माया का साधुओं को परित्याग ही करना चाहिये।

इस प्रकार आर्जवधर्म का निरूपण करके शौचधर्म का व्याख्यान करना चाहते हैं। किन्तु उसमें सबसे पहले निकटवर्ती अथवा यथाप्राप्त विषयों में गृद्धि उत्पन्न करनेवाले लोभ कषाय का अवश्य ही निराकरण करने के लिये मुमुक्षुओं को उपदेश देते हैं। क्योंकि यह लोभ संपूर्ण पापों का मूल तथा समस्त गुणों का विध्वंस करनेवाला हैं और इसका निराकरण होनेपर ही शौचधर्म प्रकट हो सकता है। -

लोभमूलानि पापानीत्येतद्वैर्न प्रमाण्यते।
स्वयं लोभाद् गुणभ्रंशं पश्यन्तः श्यन्तु तेपि तम्।।२४।।

जो लोग 'लोभमूलानि पापानि - समस्त पापों का मूल लोभ कषाय ही है' इस जगत्प्रसिद्ध वाक्य को प्रमाण नहीं मानते उनको कम से कम यह देखकर तो भी, कि इसके निमित्तसे ही दया मैत्री साधुता आदि समस्त गुणों का विध्वंस होता है, लोभ को कृश कर डालना चाहिये।

भावार्थ :- जो पुण्यपाप का विश्वास करनेवाले आस्तिक हैं वे तो इसको पाप का मूल समझकर छोड़ते ही हैं किन्तु जो वैसा विश्वास नहीं करते उनको कम से कम अपने इस अनुभव से तो भी इस लोभ को छोड़ना चाहिये कि वह समस्त गुणों का नाशक है। जैसा कि व्यास ने भी कहा है कि :-

भूमिष्ठोपि रथस्थांस्तान् पार्थः सर्वधनुर्धरान्।
एकोपि पातयामास लोभः सर्वगुणानिव।।

भूमिपर खड़े हुए और अकेले ही अर्जुन ने रथ में बैठे हुए संपूर्ण धनुर्धारियों को इस तरह से निपातित कर दिया जैसे कि अकेला ही लोभ संपूर्ण गुणों को नष्ट कर दिया करता है।

एक औचित्य गुण करोड़ गुणों की बराबर है। किन्तु वह भी अत्यंत लुब्ध मनुष्य को छोड़ने योग्य मालूम पड़ता है, ऐसा उपदेश देते हैं :-

गुणकोट्या तुलाकोटिं यदेकमपि टीकते।
तदप्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य गरलायते।।२५।।

दान और प्रिय वचनों के द्वारा दूसरों को संतोष उत्पन्न करना इसको औचित्य कहते हैं। यदि करोड़ गुणों को एक तरफ और औचित्य को दूसरी तरफ रखकर देखा जाय तो एक औचित्य का ही प्रमाण अधिक मिलेगा किन्तु जो नितान्त लोभ से आक्रान्त है उसे वह भी विष के समान जान पड़ता है। और जगह भी कहा है कि :-

औचित्यमेकमेकत्र गुणानां राशिरेकतः।
विषायते गुणग्राम औचित्यपरिवर्जितः।।

फलतः औचित्यरहित लुब्ध मनुष्य शेष गुणों को भी धारण नहीं कर सकता।

आत्मजीवन परजीवन और आरोग्य तथा पाँचों इन्द्रिय के उपभोग, इन आठ विषयों की अपेक्षा से लोभ के भी आठ भेद माने हैं। इनसे आकुलितचित्त रहनेवाला मनुष्य सदा और संपूर्ण अकृत्यों को कर डालता है। इस बात को बताते हैं :-

उपभोगेन्द्रियारोग्यप्राणान् स्वस्य परस्य च।
गृध्यन् मुग्धः प्रबन्धेन किमकृत्यं करोति न।।२६।।

अपने अथवा पर-स्त्री पुत्रादिकों के उपभोगों इन्द्रियों आरोग्य और प्राणों की गृद्धि रखनेवाला मूढ मनुष्य गुरुवध पितृवध आदिकों में से ऐसा कौनसा अकृत्य है कि जिसको वह चाहे तभी नहीं कर सकता। अपितु सभी दुष्कृत्यों को वह कर सकता है। अतएव मोह को छोड़कर इस लोभ का भी निरसन ही करना चाहिये।

लोभ के वश होते ही मनुष्य के गुण नष्ट हो जाते हैं
इस बात को बताते हैं :-

तावत्कीर्त्त्य स्पृहयति नरस्तावदन्वेति मैत्रीं
तावद् वृत्तं प्रथयति बिभर्त्याश्रितान् साधु तावत्।
तावज्जानात्युपकृतमघाच्छङ्कते तावदुच्चै -
स्तावन्मानं वहति न वशं याति लोभस्य यावत्।।२७।।

मनुष्य तभीतक कीर्ति की स्पृहा और उसका संचय कर सकता तथा अखण्डरूप में उसको कायम रख सकता, एवं मैत्री का भी अविच्छिन्नतया पालन वह तभीतक कर सकता, और अपने चारित्र की वृद्धि भी तभीतक कर सकता है, इसी प्रकार अपने आश्रित व्यक्तियों का भलेप्रकार पोषण भी वह तभीतक कर सकता, और किसीके किये हुए उपकार का स्मरण, या पाप से भय तभीतक कर सकता, एवं अपने बढ़े हुए मान - आत्मगौरव का धारण या रक्षण भी वह तभीतक कर सकता है; जबतक कि वह लोभ के वश नहीं होता। किन्तु उसके अधीन होते ही ये संपूर्ण गुण निःसंदेह नष्ट हो जाते हैं।

जिस उपाय से लोभ का विजय किया जा सकता है उसका आराधन करने के लिये मुमुक्षुओं को उत्साहित करते हैं :-

प्राणेशमनु मायाम्बां मरिष्यन्तीं विलम्बयन्।
लोभो निशुम्भ्यते येन तद्भजेच्छौचदैवतम्।।२८।।

जो व्यक्ति मनोगुप्ति का पालन नहीं कर सकता वह यदि परवस्तुओं में अनिष्ट उपयोग का परित्याग कर दे तो उसके शौचधर्म माना जायगा। क्योंकि मन के संपूर्ण परिष्पंदों के निरोध को मनोगुप्ति और लोभ की उत्कृष्ट निवृत्ति को शौचधर्म कहते हैं। यह दोनों में अंतर है। इस शौचधर्म को देवता के समान समझना चाहिये। क्योंकि यह अपने आश्रितों का पक्षपात रखनेवाला है। अतएव इस शौचधर्मरूपी देवता का मुमुक्षुओं को अवश्य ही आराधन करना चाहिये। क्योंकि वह उस लोभ कषाय का निग्रह करता है जो कि अपने प्राणेश - मोह के मरते ही स्वयं भी मरने के लिये तैयार हुई मायारूपी अपनी माता को अवलंबन देता - बचा लेता है, जिस प्रकार पति के मरते ही उसका अनुगमन करने की इच्छा रखनेवाली स्त्री को उसका पुत्र बचा लिया करता है, उसी प्रकार मोह पिता के नष्ट होते ही मायारूपी माता को नष्ट होने से बचानेवाला यह लोभ ही है। इस प्रकार से माया के पोषक लोभ का निग्रह शौचधर्म ही करता है। अतएव प्रत्येक मुमुक्षु को इस शौचरूपी देवता का आराधन करना ही चाहिये।

जो लोग संतोष का अभ्यास करके तृष्णा को दूर करनेवाले हैं उनके आत्मध्यान में होनेवाले उपयोग के उद्योग को प्रकाशित करते हैं :-

अविद्यासंस्कारप्रगुणकरणग्रामशरण।
परद्रव्यं गृध्नुः कथमहमधोधांश्चेमरगाम्।
तदद्योद्यद्विद्यादृतिधृतिसुधास्वादहततृङ्गरः।
स्वध्यात्योपर्युपरि विहराम्येष सततम्।।२९।।

अनादिकाल से लेकर अब तक मैं, यह कितने दु:ख की बात है कि शरीर और आत्मा में अभेद - प्रत्ययरूप अविद्या की वासना से विषयों की तरफ उन्मुख हुई इन्द्रियों के वश में पड़कर और इसीलिये आत्मस्वरूप से भिन्न शरीरादिकों से गृद्धियुक्त होकर नीचे नीचे की तरफ ही जा रहा हूँ। अतएव शरीर और आत्मा में भेदज्ञान के हो जानेपर अब मैं उस अविद्या के विरुद्ध प्रकाशित होती हुई और बढ़ती हुई विद्या के अंत:सारस्वरूप संतोषमय सुधा का बारबार पान करने के कारण तृष्णारूपी विष का परिहार हो जाने

से आत्मा में ही निरंतर प्रवर्तमान तथा निर्विकल्पतया निश्चल ध्यान के द्वारा निरंतर उन्नतौन्नत दशा में उपयुक्त होते जाना ही उचित समझता हूँ।

शौच के माहात्म्य की प्रशंसा करते हैं।

निर्लोभतां भगवतीमभिवन्दामहे मुहुः।
यत्प्रसादात्स्तां विश्वं शश्वद्धातीन्द्रजालवत्।।३०।।

जिसके कि प्रसाद से शुद्धोपयोग में स्थिर रहनेवाले साधुओं को यह संपूर्ण चराचर जगत निरंतर इन्द्रजाल के समान अनुपभोग्य मालूम पड़ने लगता है उस निर्लोभता - प्रकर्ष को प्राप्त हुई लोभनिवृत्तिरूपी भगवती के सन्मुख खड़े होकर मैं पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ और उसकी स्तुति करता हूँ।

दृष्टांत द्वारा लोभ के माहात्म्य को प्रकट करते हैं।

तादृक्षे जमदग्निमिष्टिनमृषिं स्वस्यातिथेयाध्वरे
हत्त्वा स्वीकृतकामधेनुरचिराद्यत्कार्तवीर्यः क्रुधा।
जघ्ने सान्वयसाधनः परशुना रामेण तत्सूनुना
तर्हुदाण्डित इत्यपात निरये लोभेन मन्ये हठात्।।३१।।

समस्त लोगों के चित्त को चमत्कृत कर देनेवाले और जहाँ पर कि अपना आतिथेय सत्कार किया जा रहा था उसी जगह जमदग्नि के आश्रममें ही आतिथेय कार्य में प्रवृत्त उस जमदग्नि ऋषि को ही मारकर उसकी कामधेनु को हस्तगत करनेवाले कार्तवीर्य का जो उस जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने कुद्ध होकर अपने परशु के द्वारा संतानसैन्य सहित वध किया उससे मुझको तो ऐसा जान पड़ता है मानो उसके लोभकषायने ही यह समझ करके कि यह दुर्दण्डित है बिना अपराध के ही दूसरों को दंड देनेवाला हैं उसे जबर्दस्ती नरक में पटक दिया।

भावार्थ :- लोभ के वश होकर मनुष्य निरपराधियों के घात जैसा पाप भी करने लगता हैं जिससे कि उसको इस लोक और परलोक दोनों ही जगह दु:खमय ही फल प्राप्त होता है।

इस प्रकार उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, और शौच, इन चार धर्मों का जो कि क्रम से क्रोध मान माया और लोभ की निवृत्ति होने से उद्भूत होते हैं, वर्णन कर चुकने पर अंत में इन चारों कषायों में से प्रत्येक की अनंतानुबंधिनी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन, इस तरह चार - चार अवस्थाएँ होती हैं, उनको दृष्टांत द्वारा करते हुए क्रम से उनके फलों को भी दो पद्यों में दिखाते हैं।

दृशदवनिरजोऽबराजिवदश्मस्तम्भास्थिकाष्ठवत्रेकवत्।
वंशांघ्रिमेषशृङ्गोक्षमूत्रचामरवदनुपूर्वम्।।३२।।
कृमिचक्रकायमलरजनिरागवदपि च पृथगवस्थामि:।
क्रुन्मानदम्भलोभा नारकतिर्यङ्नृसुरगती: कुर्यु:।।३३।।

क्रोध मान माया और लोभ इनमें से प्रत्येक की सर्वोत्कृष्ट और उसकी अपेक्षा हीन हीनतर तथा हीनतम उदयरूप शक्तियों की अपेक्षा से चार चार अवस्थाएँ होती हैं जिनको कि क्रम से अनंतानुबंधी आदि कहते हैं। इन अवस्थाओं के द्वारा ही ये क्रोधादिक क्रम से नारक, तिर्यक्, मानुष और देवगति को उत्पन्न किया करते हैं। क्योंकि अनंतानुबंधी क्रोध मान माया और लोभ के द्वारा नारकगति का और अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादिक के द्वारा तिर्यग्गति का तथा प्रत्यख्यानावरण क्रोधादिक के द्वारा मनुष्य गति का एवं संज्वलन क्रोध मान माया और लोभ के द्वारा देवगति का बंध होता है।

क्रोध की अनंतानुबंधी आदि जो चार अवस्थाएँ बताई हैं वे क्रम से पाषाणरेखा, पृथ्वीरेखा, धूलिरेखा और जलरेखा के समान हुआ करती हैं। जिस प्रकार पत्थर में पड़ी हुई दरार सैकड़ों उपायों के करने पर भी फिर नहीं जुड़ सकती उसी प्रकार अनंतानुबंधी क्रोध के द्वारा फट हुआ मन भी जुड़ नहीं सकता। जिस प्रकार पृथ्वी में पड़ी हुई दरार अनेक उपाय करने पर कठिनता से जुड़ सकती है उसी तरह अप्रत्याख्यानावरण क्रोध के द्वारा विदीर्ण मन भी कठिनता से ही मिलता है। जिस प्रकार धूलि के ऊपर की

गई रेखा सहज उपाय के द्वारा ही मिट जाती है उसी प्रकार प्रत्याख्यानावरण क्रोध के द्वारा विदीर्ण हुआ मन भी सरल उपाय के द्वारा ही शांत हो जाता है। जिस प्रकार लकड़ी आदि के द्वारा जल में की गई रेखा तुरंत मिट जाती है और फिर वह जल स्वयं जैसे का तैसा हो जाता है उसी प्रकार संज्वलन क्रोध के द्वारा उत्पन्न हुआ मनोभाव भी सहसा स्वयं मिट जाता है।

मान के अनंतानुबंधी आदि अवस्थाओं की अपेक्षा जो चार भेद बताये हैं वे क्रम से पाषाण के स्तंभ, हड्डी, लकड़ी, और बेत की लता के समान होते हैं। जिस प्रकार पाषाण का स्तंभ टूट सकता है पर नम्र नहीं हो सकता उसी प्रकार अनंतानुबंधी मान के उदय से ग्रस्त जीव नष्ट हो सकता है पर किसीके लिये नम्र नहीं हो सकता। जिस प्रकार हड्डी में अत्यंत अल्प नम्रता आ सकती है उसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरणमानी भी कुछ नम्रता को धारण कर सकता है। जिस प्रकार हड्डी की अपेक्षा लकड़ी अधिक नम्र हो सकती है उसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरणमानी की अपेक्षा प्रत्याख्यानावरणमानी भी अधिक नम्र हो सकता है। तथा जिस प्रकार बेत की लता सबसे अधिक नम्र होती है उसी प्रकार संज्वलनमानी भी अत्यंत नम्र हुआ करता है।

इसी प्रकार माया के वांस की जड़ के समान, मेंढ़ा के सींग के समान, तथा गोमूत्र के समान और चमरी गौ के केशों के समान इस तरह अनंतानुबंधी आदि चार भेद माने हैं। और लोभ के कृमिराग (हिरिमिजी का रंग) चक्रमल (गाढी के पहिये का ओंगन) शरीरमल, और हल्दी के रंग के समान इस तरह अनंतानुबंधी आदि चार भेद बताये हैं। इनका उपमानार्थ स्पष्ट ही है।

जो साधु उत्तम क्षमादिकों के द्वारा क्रोधादिकों को जीत लेता है उसके लिये जीवन्मुक्ति सुलभ समझनी चाहिये। क्योंकि वह शुक्लध्यान के द्वारा सहजमें ही उस अवस्था को प्राप्त कर सकता है - ऐसा उपदेश देते हैं :-

संख्यातादिभवान्तराब्ददलपक्षान्तर्मुहूर्ताशयान्
दृग्देशव्रतवृत्तसाम्यमथनान् हास्यादिसैन्यानुगान्।
यः क्रोधादिरिपून् रुणद्धि चतुरोप्युद्घक्षमाद्यायुधै -
र्योगक्षेमयुतेन तेन सकलश्रीभूयमीषल्लभम्।।३४।।

कषायों के जिस प्रकार शक्तिभेद की अपेक्षा चार भेद माने हैं उसी प्रकार उनका वासनाकाल और कार्य भी भिन्न भिन्न ही होता है। अनंतानुबंधी का संस्कार संख्यात असंख्यात और अनंतभव तक रह सकता है और उसके उदय से सम्यग्दर्शन का घात होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण का संस्कार छह महीने तक रह सकता है और वह देशव्रत को रोकता है। उसके उदय से एकदेशचारित्र भी नहीं हो सकता। प्रत्याख्यानावरण का संस्कार पंद्रह दिन तक रह सकता है और वह सकलचारित्र को नहीं होने देता। तथा संज्वलन का संस्कार अंतर्मुहूर्त कुछ कम दो घड़ी तक रह सकता है जो कि यथाख्यात चारित्र को रोकनेवाला है। इस प्रकार कषायों का संस्कार कार्य भिन्न भिन्न ही है। इनके अनुगामी हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री पुरुष और नपुंसक ये नव नोकषाय और भी हैं। इनको उक्त क्रोधादि कषायरूप शत्रुओं का सैन्य समझना चाहिये। अतएव जिस प्रकार कोई विजिगीषु व्यक्ति उत्कृष्ट मध्यम आदि प्रताप के रखनेवाले एवं उत्कृष्ट मध्यम आदि वैरभाव के भी रखनेवाले चारों तरफ के ससैन्य शत्रुओं को तीक्ष्णशस्त्रों के द्वारा जीतकर अपने योगक्षेम - अलब्धलाभ और लब्धपरिरक्षण के द्वारा सकलसाम्राज्य - षट्खण्डभूमि के अधिपत्य को सहज ही में प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार जो मुमुक्षु भव्य उक्त चार प्रकार की वासनाओं से युक्त और सम्यग्दर्शनादिक का घातकर आत्मा का अपाय करनेवाले तथा हास्यादिक की सेना से युक्त अनंतानुंबधी क्रोधादि चार प्रकार के शत्रुओं को निर्मल - ख्याति लाभ पूजा आदि की अपेक्षा से रहित होने के कारण प्रशस्त - उत्तमक्षमादि शस्त्रों के सकल - सशरीर लक्ष्मी - अंतरंग केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टय स्वरूप और बाह्य समवसरणरूप विभूति को अनायास ही प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ :- जो व्यक्ति उत्तमक्षमादिकों के द्वारा कषायों का निरोध कर देता है वह विना किसी परिश्रम के ही शुक्लध्यान में स्थिर होकर शीघ्र ही अर्हन्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

क्रम प्राप्त सत्यधर्म के लक्षण और उपलक्षण को बताते हुए
उसका फल भी बताते हैं :-

कूटस्थस्फुटविश्वरूपपरमब्रह्मोन्मुखाः सम्मताः
सन्तस्तेषु च साधुसत्यमुदितं तत्तीर्णसूत्रार्णवैः।

आ शुश्रूषुतमःक्षयात्करुणया वाच्यं सदा धार्मिकैर्गो -
राज्ञानविषार्दितस्य जगतस्तद्धयेकमुज्जीवनम्।।३५।।

चराचर जगत की भूत भविष्यत् वर्तमान अनंतपर्याय स्वरूप और जो द्रव्यरूपतया नित्य तथा स्पष्ट संवेदन के द्वारा जाना जाता है ऐसे परब्रह्म - आत्मजोतिस्वरूप में परिणत होने के लिये जो उद्युक्त रहते हैं उनको सत् - सत्पुरुष कहते हैं और उस परब्रह्म की तरफ उन्मुखता होने में जो उपकारक हो उसको सत्य कहते हैं। अतएव धार्मिक आचरण करनेवाले प्रवचनसमुद्र के पारदर्शियों को श्रोताओं के दु:ख का उच्छेदन करने की करुणापूर्ण इच्छा से सदा ऐसे ही वचन बोलने चाहिये जो कि उनको उक्त आत्मज्योति की तरफ उन्मुख करनेवाले हों और सो भी तब तक बोलने चाहिये जब तक कि उनके सुनने की इच्छा रखनेवालों के उस विषय के अज्ञान का नाश न हो जाय। क्योंकि यह सत्य वचन घोर अज्ञानरूपी विष से मूर्छित - अभिभूत हुए बहिरात्मा प्राणियों के उज्जीवित - प्रबुद्ध करने के लिये अद्वितीय रसायन के समान है।

भावार्थ :- सत् शब्द का अर्थ आत्मस्वरूप है। अतएव जिन क्रियाओं के निमित्त से आत्मस्वरूप की तरफ प्रवृत्ति हो उनको ही सत्य कहते हैं। इसीलिये साधु ऐसे वचन बोलता है कि जिनसे श्रोताओं की प्रवृत्ति उस आत्मस्वरूप की तरफ हो जाय उसीको सत्यवक्ता और उसके वचनों को सत्यवचन कहते हैं।

प्रकृत चारित्र के विषय में सत्य शब्द का संबंध तीन जगह किया गया है, - सत्यमहाव्रत में, भाषासमिति में और सत्यधर्म में; किन्तु इन तीनों सत्यों के स्वरूप में अंतर क्या है सो बताते हैं :-

असत्यविरतौ सत्यं सत्स्वसत्स्वपि यन्मतम्।
वाक्समित्यां मितं तद्धि धर्मे सत्स्वेव बह्वपि।।३६।।

सत्य शब्द का अर्थ ऊपर बताया जा चुका है कि सत् के विषय में जो उपकारक हो उसको सत्य कहते हैं किन्तु यह लक्षण निरुक्ति की अपेक्षा से किया गया है। अतएव केवल सत् के ही विषय में नहीं, कदाचित् असत् के विषय में भी जो उपकारक हो

उसको भी सत्पुरुषोंने सत्य माना है।

इस सत्य की प्रवृत्ति व्रत समिति और धर्म इस तरह तीन जगह की जाती है। किन्तु इनमें जो अंतर है वह यही कि अनृतविरति महाव्रत में तो सत् और असत् दोनों ही विषयों में थोड़ा भी और बहुत भी दोनों ही प्रकार से बोला जाता है। तथा भाषासमिति में सत् और असत् दोनों ही विषयों में किन्तु थोड़ा ही बोला जाता है। एवं सत्य धर्म में केवल सत् विषयमें ही किन्तु थोड़ा बहुत दोनों ही तरह से बोला जाता है।

सत्यधर्म के अनंतर क्रम के अनुसार संयमधर्म का वर्णन करना चाहते हैं। संयम दो प्रकार का माना हैं एक उपेक्षारूप दूसरा अपहृतरूप। आजकल के कितने ही समितियों में प्रवृत्ति रखनेवाले इन संयमों में से अपहृत संयम का पालन किया करते हैं - ऐसा उपदेश देते हैं :-

प्राणेन्द्रियपरीहाररूपेपहृतसंयमे।
शक्यक्रियप्रियफले समिताः केपि जाग्रति।।३७।।

त्रस और स्थावर जीवों की पीड़ा को परिहार करने और स्पर्शनादिक इन्द्रियों की अपने अपने विषयों में प्रवृत्ति न होने देने को अपहृतसंयम कहते हैं। अपहृतसंयम के फल अथवा कार्य को उपेक्षासंयम कहते हैं। अपहृतसंयम का अनुष्ठान शक्य और फल इष्ट है। अतएव इसके शक्यानुष्ठान और इष्टप्रयोजन की अपेक्षा से आजकल कितने ही समितियों के पालन करनेवाले इस अपहृतसंयम के विषय में ही प्रमाद रहित प्रवृत्ति किया करते हैं।

फलतः अपहृतसंयम दो प्रकार का है :- एक प्राणिसंयम दूसरा इन्द्रियसंयम। दोनोंमें भी प्रत्येक के उत्तम मध्यम जघन्य इस तरह तीन तीन भेद हैं। जो साधु इस संयम का पालन करता है उसको उसका अच्छी तरह से अभ्यास करने के लिये प्रेरणा करते हैं।

सुधीः समरसाप्तये विमुखयन् स्वमर्थान्मन,-
स्तुदोथ दवयन्स्वयं तमपरेण वा प्राणितः।

तथा स्वमपसारयन्नुत नुदन् सुपिच्छेन तान्,
स्वतस्तदुपमेन वापहृतसंयमं भावयेत्।।३८।।

रागद्वेष को उद्भूत कर चित्त को क्षुब्द कर देनेवाले स्पर्शादिक विषयों से स्पर्शनादिक इन्द्रियों को पराङ्मुख रखना इसको उत्तम इन्द्रियसंयम कहते हैं। उन विषयों को स्वयं इस तरह से दूर रखना कि जिससे इन्द्रियाँ उनको ग्रहण न कर सकें, इसको मध्यम इन्द्रियसंयम कहते हैं। और गुरु आदि की आज्ञा प्रभृति के द्वारा प्रेरित होकर उन विषयों को इन्द्रियों से परे रखना इसको जघन्य इन्द्रियसंयम कहते हैं।

स्वयं उपस्थित प्राणियों से अपने को पृथक् रखना इसको उत्तम प्राणीसंयम कहते हैं। और पाँच [१] गुणों से युक्त प्रतिलेखन - पीछी के द्वारा अपने शरीरादिक के ऊपर से उन जीवों को दूर करदेना इसको मध्यम प्राणीसंयम कहते हैं। तथा वैसी पीछी के न होनेपर उसके समान दूसरे मृदु वस्त्रादि के द्वारा प्राणियों के दूर करने को जघन्य प्राणिसंयम कहते हैं।

विवेकपूर्व कार्य करनेवाले मुमुक्षुओं को उपेक्षासंयम की सिद्धि अथवा प्राप्ति के लिये इन छहों प्रकार के अपहृतसंयम का भले प्रकार अभ्यास करना चाहिये।

जो मन अपने वश में नहीं रहता वह बाह्यविषयों की तरफ दौड़ा करता है, इस बात को ध्यान में रखकर ग्रंथकर्ता अपने अपने विषयों से प्राप्त होनेवाले प्रचण्ड दु:खों को दिखानेवाली स्पर्शनादिक इन्द्रियोंमें से एक एक के द्वारा अपनी अपनी सामर्थ्य का प्रतिपादन कराकर जगत में स्वतंत्रतया घूमनेवाले मन का निरोध करने के लिये उपदेश देते हैं :-

स्वामिन्पृच्छ वनद्विपान्नियमितान्नाथाश्रुपिल्लाझषी:,
पश्याधीश विदन्त्यमी रविकरा: प्राय: प्रभोग्ने: सखा।
कि दूरेधिपते क्क पक्कणभुवां दौ:स्थित्यमित्येकश:,
प्रत्युप्तप्रभुशक्ति स्वैरिव जगद्धावन्निरुन्ध्यान्मन:।।३९।।

---

१ पीछी के आचार्यों ने पाँच गुण बताये हैं। - धूलिरहित, प्रस्वेदरहित, मृदु, सुकुमार, और लघु।

कुलीन पुरुषों की अपने मुँह अपनी तारीफ करना शोभा नहीं देता, वह उनके लिये लज्जा का ही कारण माना है; अतएव मैं अपने मुँह अपनी तारीफ क्या करूँ, पर आपको मेरा पराक्रम जानना है तो 'हे [१]स्वामिन् मन ! आप जरा उन जंगली हाथियों से ही पूछिये जो कि इस समय स्तंभों से बँधे हुए हैं !'

'हे नाथ ! आप उस रोती हुई मछली की तरफ देखिये,' उसीसे आपको मेरा पराक्रम मालूम पड़ जायगा !

'हे अधीश ! मेरे काम को तो प्रायः ये सूर्य की किरणें ही जानती हैं।'

'हे प्रभो यह अग्नि का मित्र वायु क्या कुछ दूर है ?' पास ही तो है; अतएव मेरे कार्य के विषय में इसीसे पूछिये। क्योंकि सदा सर्वत्र रहनेवाला यही मेरे कृत्य का साक्षी हो सकता है।

'हे अधिपते ! क्या आपने कहीं भी अहेरिया या भील आदियों की आजीविका कष्टमय देखी है ?' नहीं। फिर वे जो सर्वत्र सुखपूर्वक आजीविका कर लेते हैं वह किसका प्रताप है ?

इस प्रकार प्रत्येक स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन पाँचों इन्द्रियों ने क्रम से ऊपर लिखे मूजब जो मन के समक्ष अपनी सामर्थ्य प्रकट करने के लिये व्यंगपूर्ण वचन कहे हैं उनसे यह बात अच्छी तरह मालूम होती है कि मन ने इन्द्रियों के द्वारा संसार में उस प्रभुशक्ति को सर्वत्र रोप रखा है कि जिसकी सामर्थ्य का कोई भी प्रतिविधान प्रतिकार नहीं हो सकता। अतएव जगत् में अपनी प्रभुता को कायम करनेवाले और बड़े वेग के साथ विश्वभर में दौड़ लगानेवाले इस मन का मुमुक्षुओं को निरोध करना ही [२] उचित हैं।

इन्द्रियों का स्वामी मन है। यदि वह वश में न हो तो इन्द्रियों को वह अपने विषय

---

१ - यह स्पर्शनेन्द्रिय का कथन है। इसी प्रकार आगे क्रम से रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र का भी कथन है उसको भी घटित कर लेना चाहिये।

२ - उक्त पाँचों इन्द्रियों के कथन में क्रम से हस्तिनीस्पर्शदोष, जाल के द्वारा डाली गई गोली के रसास्वादन में लंपट अपने पति - मत्स्य के मरण का दुःख, गंध के लोभी भ्रमर का कमल के कोश में मरण, और रूप के देखने में उत्सुक पतंग की मृत्यु, एवं गीतध्वनि में अनुरक्त मृग का वध व्यंग्य है। जो बात स्पष्ट न कहकर अभिप्राय से जाहिर की जाय उसको व्यंग्य कहते

में प्रवृत्त करता है। और यदि वश में कर लिया जाय तो इन्द्रियाँ भी स्वयं अपने विषयों से निवृत्त हो जाती हैं। अतएव जितेन्द्रिय बनने के लिये - यदि इन्द्रियों को अपने वश में करना हो तो मन को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभु।
मन एव जयेत्तसम्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः।।

अतएव ग्रंथकार इन्द्रियसंयम की सिद्धि के लिये मन को संयत करने का मुमुक्षुओं को उपदेश देते हैं :-

चिग्दृग्धीर्मुदुपेक्षितास्मि तदहो चित्तेह हृत्पङ्कजे,
स्फूर्जत्त्वं किमुपेक्षणीय इह मेऽभीक्ष्णं बहिर्वस्तुनि।
इष्टद्विष्टधियं विधाय करणद्वारैरभिस्फारयन्,
मां कुर्याः सुखदुःखदुर्मतिमयं दुष्टैर्न दूष्येत किम्।।४०।।

मैं, प्रमाण की अपेक्षा स्वरूप और पररूप का संवेदयिता - स्वपर प्रकाशक और शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा स्वरूपमात्र का अनुभविता स्वात्मोपलब्धिरूप तथा अन्य विषयों की तरफ उन्मुख न होकर परस्वरूप का भी ध्यान करनेवाला हूँ। अतएव निश्चयनय की अपेक्षा से मैं संपूर्ण अंतरंग और बाह्य विकल्पजालों के विलीन हो जाने से आत्मा में विश्रान्ति लाभ कर अत्यंत आह्लादको प्राप्त हूँ शुद्ध स्वात्मा के अनुभवरूप अत्यंत सुखस्वभाव में परिणत हूँ। और स्वरूप या पररूप किसीमें भी रागी द्वेषी न होकर उपेक्षास्वभाव - परम उदासीन ज्ञानमय हूँ। अतएव हे मन ! इस हृदयकमल - तत्तत् विषयों के ग्रहण से व्याकुल हुआ तू क्या इन बाह्य वस्तुओं के विषय में जो कि सदा इन्द्रियगोचर और वस्तुतः उपेक्षणीय हैं - जिनमें कि रागद्वेष को न करके मध्यस्थभाव ही धारण करना चाहिये, मुझको इष्टानिष्ट-

---

हैं। स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन इन्द्रियोंने भी अपना कार्य स्पष्ट नहीं बताया है किन्तु जिनको उनके कार्य से प्रचण्ड क्लेश उत्पन्न हुआ है उनका उल्लेख कर अभिप्राय से वह जाहिर किया है।

बुद्धि उत्पन्न कर इन इन्द्रियों के द्वारा उनके विषयोपभोग की तरफ उन्मुख बनाता हुआ मुझे सुख अथवा दु:ख के मिथ्याज्ञानरूप में परिणत कर सकता है ? कभी नहीं। अथवा ऐसा भी हो सकता है; क्योंकि जो स्वयं दुष्ट - दोषयुक्त - विकृत हुआ करते हैं वे दूसरी शुद्ध - अविकृत वस्तु को भी दोषयुक्त बना दिया करते हैं।

भावार्थ :- हे मन ! पापकर्म के निमित्त से द्रव्यमन में विलास करनेवाला तू जो सकल विकल्पों से शून्य भी चेतन को नाना विकल्पजालों से जटिल बना देता है सो तेरा वह कार्य अन्याय्य है। मैं इसकी निंदा करता हूँ।

उत्कृष्ट कुलीनता के अभिमान का स्मरण कराते हुए
अंतरात्मा को उपालंभगर्भित शिक्षा देते हैं :-

पुत्रो यद्यन्तरात्मन्नसि खलु परमब्रह्मणस्तत्किमक्षै,
र्लौल्याद्यद्वल्लतान्ताद्रसमलिभिरसृग्रक्तपाभिर्व्रणाद्वा।
पायं पायं यथास्वं विषयमघमयैरेभिरुद्गीर्यमाणं,
भुञ्जानो व्यात्तरागारतिमुखमिमकं हंस्यमा स्वं सवित्रा।।४१।।

हे अंतरात्मन् ! मन के दोष और आत्मस्वरूप के विचार करने में चतुर चिद्विवर्त ! यदि तू परब्रह्मपरमात्मा का पुत्र है तो भ्रमर अथवा मक्खियों के द्वारा पुष्पों से पी पी कर उगले हुए रस के समान अथवा जोंकों के द्वारा घावमें से पी पी कर पुन: उद्गमन किये हुए खून के समान पापप्रचुर इन्द्रियों के द्वारा अपने अपने अनुरूप भोग भोगकर छोड़े हुए इन पापबंध के कारण, अतएव कुत्सित स्पर्शादिक विषयों को, रागद्वेष को बढ़ाते हुए भोगकर क्यों अपने पिता परमब्रह्म के साथ साथ अपना भी वध करता है।

भावार्थ :- स्पर्शन रसन और घ्राण इन तीनों इन्द्रियों के विषय भोगकर भी फिर फिर से भोगने में आते हैं। अतएव इनको वमन अथवा उगलन के समान समझना चाहिये। इसीलिये हे अंतरात्मन ! तुझको परमात्मा का पुत्र होकर - कुलीन होकर उसका सेवन करना उचित नहीं है। ऐसा करने से तेरा, तेरे पिता - परमात्मा दोनों का ही घात होता है। यहाँ पर बहिरात्मपरिणति को अंतरात्मा का घात और शुद्धस्वरूप से च्युत कराकर

आत्मा को रागद्वेष युक्त बनाना परमात्मा का घात समझना चाहिये।

इन्द्रियों के द्वारा अनादिकाल से लगी हुई अविद्या की वासना के वश से अनेक बार छिन्न हो गई है दुराशाएँ जिसकी ऐसे चित्त की विषयासक्ति को हटाते हुए उस योग्यता की विधि का उपदेश देते हैं जिससे कि परमपद की प्राप्ति हो सकती हैं। :-

तत्तद्गोचरभुक्तये निजमुखप्रेक्षीण्यमूनीन्द्रिया -
ण्यासेदु क्रियसेऽभिमानघन भोश्चेतः कयाऽविद्यया।
पूर्या विश्वचरी कृतिन् किमिमकैरङ्कैस्तवाशा ततो
विश्वैश्वर्यचणे सजत्सवितरि स्वे यौवराज्यं भज।।४२।।

हे निबिड अभिमान के पुंज मन ! क्या तुझको यह बात मालूम है कि अपने उन प्रतिनियत इष्टानिष्ट विषयों का अनुभव करने में स्वाधीनवृत्ति को धारण करनेवाली इन इन्द्रियों का उपस्थाता तुझको किस अविद्या ने बना दिया है ? और हे कुशल ! हे गुणदोषों के विचार तथा स्मरणादि करने में प्रधान ! संबद्ध एवं वर्तमान तथा प्रतिनियत रूपादिविषयों को ही ग्रहण करनेवाली इन रंक इन्द्रियों से क्या तेरी वह आशा जो कि संपूर्ण जगत् को कवलित कर लेनेवाली हैं, पूर्ण हो सकती हैं ? नहीं, कभी नहीं। अतएव अपने अपने पिता परमब्रह्म के विश्वमात्र के ऐश्वर्य का भोक्ता समस्त वस्तु विस्तार का अधिपति रहते हुए तुझको यौवराज्य - शुद्ध निजात्मा के अनुभव की योग्यतारूप कुमारपद का ही सेवन करना चाहिये। एकत्ववितर्क अविचारनामक शुक्लध्यान में स्थिर होना चाहिये।

इन्द्रियों के विषय, जिस समय में उनको भोगा जाता है, उसी एक क्षण में रमणीय मालूम होता हैं किन्तु अनंतर समय में ही उनका अत्यंत कटु अनुभव होने लगता है, इस बात को बताते हुए और साथ ही इस बात का भी ज्ञान कराते हुए कि वे आविर्भूत होकर अनंतर समय में ही तृष्णा में पुनः नवीनता को उद्भूत कर स्वयं तिरोभूत हो जाते हैं। अतएव तृष्णासंताप को उत्पन्न करनेवाले और क्षणभंगुर हैं। फिर भी जो अज्ञानी लोक इन विषयों के ही लिये अपने सन्मुख विपत्तियों को बुलाते हैं उनकी कृति पर अपशोच प्रकट करते हैं :-

सुधागंर्व खर्वन्त्यभिमुखहृषीकप्रणयिनः
क्षणं ये तेप्यूर्ध्वं विषमपवदन्त्यङ्ग विषयाः।
त एवाविर्भूय प्रतिचितघनायाः खलु तिरो -
भवन्त्यन्धास्तेभ्योप्यहह किमु कर्षन्ति विपदः।।४३।।

अपने अपने विषयों को ग्रहण करने के लिये उत्सुक हुई इन्द्रियों के साथ यथायोग्य - अपने अपने अनुरूप परिचय रखनेवाले जो विषय के अमृत के भी गर्व का खण्डन कर देते हैं - फलतः जो सेवन करते समय अमृत से भी अधिक रमणीय मालूम पड़ते हैं ऐसे अत्यंत उत्तम गिने जानेवाले पुष्पमाला स्त्री चंदन प्रभृति विषय भी अंत में सेवन क्षण के बाद ही मोह मूर्छा और संतापादि को उत्पन्न कर जहर ही उगलते हैं। इसके सिवाय ये आविर्भूत होकर - उपभोग्यता को धारण करके क्षणभर के बाद ही भोगोपभोगो की गृद्धि को बढ़ाकर तिरोभूत - विलीन हो जाते हैं - उपभोग के योग्य नहीं रहते। इस प्रकार तत्त्वदृष्टि से ये विषय आपातमात्र रमणीय किन्तु परिपाककटु और तृष्णासंताप के जनक तथा क्षणभंगुर ही है। हाय फिर भी मालूम नहीं, ये अंधे - तत्त्वस्वरूप से अनभिज्ञ लोक इन विषयों के लिये अपने सन्मुख विपत्तियों को क्यों बुलाते हैं ? जैसा कि कहा भी है कि :-

आरम्भे तापकान् प्राप्तावऽतृप्तिप्रतिपादकान्।
अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः।।

जो आरंभ में संताप करनेवाले है और जो प्राप्त होकर भी अतृप्ति - असंतोष को जाहिर करनेवाले हैं तथा जिनका अंत में भी छोड़ना कठिन है ऐसे आदि मध्य और अंत सर्वदा ही आत्मा को संक्लिष्ट बनानेवाले इन विषयों का ऐसा कौन विवेकी होगा जो कि सेवन करना चाहे।

ये विषय इस लोक और परलोक दोनों ही जगह आत्मा की चैतन्यशक्ति को आच्छादित करनेवाले हैं, इस बात को प्रकट करते हैं :-

किमपीदं विषयमयंविषमतिविषमं पुमानयं येन।
प्रसभमभिभूयमानो भवे भवे नैव चेतयते।।४४।।

यह विषयरूपी विष - अपूर्व अथवा अलौकिक ही है जो कि अतिशय - विषम - अत्यंत कष्टकर और ऐसा विलक्षण हैं कि जिससे सहसा मूर्छित हुआ यह जीव भव भव तक - अनंत पर्यायों में भी सचेत नहीं हो सकता।

भावार्थ :- स्वसंवेदन का अनुभव करनेवाला भी जीव इन विषयों के प्रसाद से ऐसे वैभाविकभावों को प्राप्त हो जाता है कि जिससे वह फिर अनंतभव तक भी ज्ञानचेतना का लोभ नहीं कर सकता। अतएव जो साधु ज्ञानचेतनारूप अमृत का पान करने की इच्छा रखते हैं उनके लिये इस विषयरूप विष से विरत होना ही श्रेयस्कर हैं।

ऊपर अपहृतसंयम को उत्तम मध्यम और जघन्य इस तरह तीन प्रकार का बताया है। उसमें से उत्तम प्रकार से इन्द्रिय परिहाररूप अपहृत संयम को भावना का विषय बनाने के लिये उपदेश देकर मध्यम और जघन्यरूप से भी उसकी भावना करने के लिये उपदेश देने का उपक्रम करते हैं :-

साम्यायाक्षाजयं प्रतिश्रुतवतो मेऽमी तदर्थाः सुखं
लिप्सोर्दुःखविभीलुकस्य सुचिराभ्यास्ता रतिद्वेषयोः।
व्युत्थानाय खलु स्युरित्यखिलशस्तानुत्सृजेद् दूरत
स्तद्विच्छेदननिर्दयानथ भजेत्साधून्परार्थोद्यतान्।।४५।।

दुःखों से अतिशय डरनेवाले और सुख को प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले तथा उपेक्षासंयम को सिद्ध करने के लिये इन्द्रियविजय स्वीकार करनेवाले - इन्द्रियों को वश करने में प्रवृत्त हुए मेरे निकटवर्ती ये इन्द्रियों के विषय क्षणमात्र में राग या द्वेष को उत्पन्न कर सकते हैं। अतएव इन संपूर्ण विषयों को दूर ही से छोड़ देना उचित है।

अथवा जो इस प्रकार से छोड़ देने में असमर्थ है उसको उन चिरकाल के दीक्षित

साधुओं की सेवा करनी चाहिये जो कि इन विषयों का विच्छेद करने में अत्यंत निर्दय और दूसरों का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये सदा उद्यत रहा करते हैं।

भावार्थ :- संयम के उत्तम मध्यम जघन्य तीनों भेदों का स्वरूप पहले लिखा जा चुका है; जिसमें से उत्तम भेद का ऊपर अच्छी तरह वर्णन किया जा चुका है। जिसमें कि अंतर्वृत्ति के द्वारा ही आत्मा को विषयों से पृथक् रहना दिखाया गया है। किन्तु यहाँ पर पहले वाक्य में मध्यम संयम का और दूसरे वाक्य में जघन्य संयम का उपदेश हैं क्योंकि पहले वाक्य में बाह्यवृत्ति के द्वारा आत्मा से विषयों के दूर करने का उपदेश है दूसरे वाक्य में गुरुओं के निमित्त से उनको पृथक् करने का उपदेश है।

स्वयं ही विषयों को दूर करनेरूप मध्यम अपहृतसंयम का पालन करने के लिये साधुओं को उद्यत करते हैं :-

मोहाज्जगत्युपेक्ष्येपि छेत्तुमिष्टेतराशयम्।
तथाभ्यस्तार्थमुज्झित्वा तदन्यार्थं पदं व्रजेत्।।४६।।

यह संपूर्ण चराचर जगत् वस्तुतः उपेक्षणीय ही है; इसमें न तो कोई वास्तव में राग का ही विषय है और न द्वेषका ही। फिर भी इसमें जो इष्टानिष्ट वासना की प्रवृत्ति होती है सो केवल मोह - अज्ञान का ही कार्य है। अतएव संयम के अभिलाषियों को चाहिये कि वे उसको दूर करने के लिये उस पद को, जिसमें कि इष्टानिष्टतया पुनः पुनः विषयों का सेवन किया जाता है; छोड़कर उस पद का आश्रय लें जहाँ पर संपूर्ण विषय इष्टानिष्ट वासना से सर्वथा अलिप्त हैं।

मन को विक्षिप्त कर देनेवाले इन्द्रियविषयों के दूर करने में कुशल गुरु आदिकों का अभिनंदन करते हैं :-

चित्तविक्षेपिणोक्षार्थान् विक्षिपन् द्रव्यभावतः।
विश्वाराट् सोयमित्यार्यैर्बहु मन्येत शिष्टराट्।।४७।

।

रागद्वेषादि को उद्भूत कर मन में लोभ उत्पन्न कर देनेवाले द्रव्य और भावरूप - बाह्य और अंतरंग इन्द्रियों के विषयों का अच्छी तरह परित्याग कराने में कुशल शिष्टराट् का उत्तम पुरुष 'यह जगन्नाथ है - संपूर्ण जगत् के अधीश की तरह शोभायमान होनेवाला है' यह कहकर अत्यंत सम्मान करते हैं।

भावार्थ :- तत्त्वार्थों का श्रवण या ग्रहण आदि करके जिन्होंने अनेक गुणों का संपादन किया है ऐसे शिष्ट पुरुषों में जो उनके अधीश की तरह शोभायमान होता है उसको शिष्टराट् कहते हैं। ऐसे पुरुष के प्रसाद से ही मन को क्षुब्ध बनानेवाले समस्त विषय दूर किये जा सकते हैं। अतएव आर्यपुरुषों के द्वारा वह संसार के स्वामी के समान अतिशय सम्मानित होता है।

इन्द्रियसंयम की तरह प्राणिपरिहाररूप अपहृतसंयम भी उत्तम माध्यम और जघन्य इस तरह तीन प्रकार का बताया हैं। इनका विस्तृतरूप से वर्णन करते हैं :-

बाह्यं साधनमाश्रितो व्यसुवसत्यन्नादिमात्रं स्वसाद् -
भूतज्ञानमुखस्तदभ्युपसृतान् जन्तून्यतिः पालयन्।
स्वं व्यावर्त्य ततः सतां नमसितः स्यात् तानुपायेन तु
स्वान्मार्जन् मृदुना प्रियः प्रतिलिखन्नप्यादृतस्तादृशा।।४८।।

ज्ञान और चारित्र की क्रियाओं को अपने अधीन रखनेवाला और उनके बाह्य साधन प्रासुक वसतिका तथा अन्न पुस्तकादि मात्र को ही ग्रहण करनेवाला जो संयमी उन प्रासुक भी वसतिका आदि में दैवात् आकर पड़ जानेवाले जीवजंतुओं के वियोग या उपघात आदि का विचार न करके स्वयं अपने को ही उनसे अलग रखकर उन जीवों की रक्षा करता है वही उत्तम प्राणिपरिहाररूप अपहृतसंयम का पालक समझा जाता हैं। ऐसे संयम की साधुजन भी पूजा करते हैं। किन्तु जो साधु इस तरह अपनेको ही उन जीवों से पृथक् न रखकर अपने शरीरादिके ऊपर आकर पड़ जानेवाले उन जीवों का उक्त पाँच गुणों

से युक्त कोमल पीछी आदि के द्वारा मार्जन करके उनकी रक्षा करता है वह मध्यम प्राणिपरिहाररूप अपहृतसंयम का पालन करनेवाला माना गया है और उसको सत्पुरुष बड़ी प्रेम की दृष्टि से देखते हैं। तथा जो यति उस तरह की पीछी न मिलने पर उसके समान किसी भी दूसरी कोमल वस्तु से उन जीवों का शोधन करता हैं वह जघन्य प्राणिपरिहाररूप अपहृतसंयम का पालन करनेवाला माना गया है वह भी सत्पुरुषों के लिये आदरणीय होता है।

अपहृतसंयम को बढ़ाने के लिये आठ प्रकार की
शुद्धि का उपदेश देते हैं :-

भिक्षेयाशयनासनविनयव्युत्सर्गवाङ्मनस्तनुषु।
तन्वन्नष्टसु शुद्धिं यतिरपहृतसंयमं प्रथयेत्।।४९।
।

भिक्षा ईर्या शयनासन विनय व्युत्सर्ग और मन वचन काय इन आठ विषयों में संयमियों को निरवद्यता बढ़ाते हुए अपहृतसंयम को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि इन शुद्धियों के निमित्त से ही संयम की वृद्धि हो सकती हैं।

भिक्षाशुद्धि का वर्णन पिण्डशुद्धि के प्रकरण में कर चुके हैं। फिर भी यहाँ पर इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि मुनियों की भिक्षा गोचार, अक्षम्रक्ष, उदराग्निप्रशमन, भ्रामरी और श्वभ्रपूरण इस तरह पांच प्रकार की मानी है। गौ के समान भक्षण करने को गोचार कहते हैं। जिस प्रकार गौ अपने प्रयोक्ता के सौन्दर्य आदि की तरफ निरीक्षण न करके और उचित स्वाद वगैरह की भी अपेक्षा न करके जैसा कुछ प्राप्त हो जाता है उसीको निर्विशेषरूप से ग्रहण किया करती है, उसी प्रकार जो साधु दाता के गुणों की परीक्षामें न लगकर और न आहार के स्वाद अथवा उचित संयोजना आदि की ही अपेक्षा करके यथा प्राप्त भोजन को ग्रहण करता है उसकी इस भिक्षा को गोचार कहते हैं। गाढी का पहिया जिस काष्ठ पर ठहरा रहता है उसको किसी न किसी स्नेह -

तैल आदि से ओंगना पड़ता है। क्योंकि उसके ओंगे बिना बोझ से भरी हुई गाढी अभीष्ट स्थान तक पहुँच नहीं सकती। उसी प्रकार आयुष्यादि को स्थिर रखने के लिये और रत्नत्रयरूप गुणों के भार से पूर्ण शरीररूपी गाढी को अभीष्ट स्थानतक पहुँचाने के लिये जो यथाविधि किसी भी निर्दोष आहार का ग्रहण करना उसको अक्षम्रक्षण कहते हैं। जिस प्रकार खजाने में आग लग जानेपर किसी भी जल से उसको बुझाया जाता है; उसमें यह जल पवित्र है और यह अपवित्र है ऐसा विचार नहीं किया जाता। इसी प्रकार उदराग्नि के प्रज्वलित होनेपर उसको शांत करने के लिये जो यह सरस है या विरस है ऐसा विचार न करके आहार ग्रहण किया जाय उसको उदराग्निप्रशमन कहते हैं। जिस प्रकार भ्रमर पुष्प को किसी भी प्रकार की पीड़ा न देकर उससे आहार ग्रहण करता है, उसी प्रकार जो मुनि दाता को किसी भी तरह से बाधित न करके उससे आहार्य सामग्री को ग्रहण करता है, उसकी भिक्षा को भ्रामरी कहते हैं। जिस प्रकार कचरा वगैरह का ख्याल न करके जिस किसी भी तरह गढ़े को भर दिया जाता है उसी प्रकार यह स्वादु है या यह अस्वादु है ऐसा विचार न करके यथाप्राप्त भोजन के द्वारा जो उदररूपी गड्ढे का भर देना उसको श्वभ्रपूरण कहते हैं।

ईर्या व्युत्सर्ग और वचन इन तीन प्रकार की शुद्धियों का वर्णन समितियों के प्रकरण में आ चुका है, और शयनासन तथा विनयशुद्धि का वर्णन आगे चलकर तप के प्रकरण में करेंगे; अतएव यहाँ पर इनके दुहराने की आवश्यकता नहीं है। रही मनःशुद्धि सो उसका स्वरूप इस प्रकार है कि कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाली और रागादिके उद्रेक से रहित तथा जिसमें मोक्षमार्ग की रुचि के द्वारा अतिशय निर्मलता प्राप्त हो चुकी है ऐसी भावशुद्धि को मनःशुद्धि कहते हैं। संपूर्ण शुद्धियों में प्रधान इसी शुद्धि को माना है। क्योंकि चारित्र का प्रकाश इसीसे हो सकता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

सर्वासामेव शुद्धीनां भावशुद्धिः प्रशस्यते।
अन्यथालिङ्ग्यते पत्यमनम्यथालिङ्ग्यते पतिः।।

सब में प्रशस्त भावशुद्धि ही गिनी गई है। क्योंकि देखते हैं कि माता जो संतान का आलिङ्गन करती है उसमें और पति का जो आलिङ्गन करती है उसमें एकसी क्रियायें रहते हुए भी परिणामों का बड़ा भारी अंतर हैं।

शरीर की ऐसी चेष्टा को कायशुद्धि कहते हैं जो कि वस्त्र भूषण और संस्कारादि से सर्वथा रहित हो तथा बालक के समाने यथाजात रूप से युक्त किन्तु जिसमें किसी भी प्रकार से अंग का विकार नहीं पाया जाता, तथा जिसके देखते ही लोगों को ऐसा जान पड़े मानों यह मूर्तिमान् प्रशम ही है। ऐसी कायशुद्धि ही अभयपद का कारण हो सकती है। क्योंकि इसके होनेपर अपने को दूसरे से और दूसरे को अपने से किसी भी तरह का भय नहीं हो सकता।

यद्यपि इन आठ शुद्धियों का वर्णन समिति आदि के प्रकरण में आ जाता है फिर भी उसका यहाँ पर पृथक् वर्णन जो किया है उसका अभिप्राय यही है कि बाल या अशक्त भी मुनिवर्ग अत्यंत दुष्कर भी संयम का पालन करने में सदा प्रयत्नशील बने रहें।

इस प्रकार अपहृतसंयम का वर्णन करके क्रमप्राप्त उपेक्षा संयम का अथवा उसके धारण करनेवाले का स्वरूप बताते हैं :-

तेमी मत्सुहृदः पुराणपुरुषा मत्कर्मक्लृप्तोदयैः
स्वेः स्वेः कर्मभिरीरितास्तनुमिमां मन्नेतृकां मद्धिया।
चञ्चम्यन्त इमं न मामिति तदाबाधे त्रिगुप्तः परा -
क्लिष्ट्योत्सूष्टवपुबुधः समतया तिष्ठत्युपेक्षायमी।।५०।।

देश काल के विधान को जाननेवाला और आत्मा तथा शरीर के भेदज्ञान से युक्त उपेक्षासंयम का धारक यति मानसिक वाचिक और कायिक तीनों ही प्रकार के व्यापारों का अच्छी तरह विरोध करके तथा शरीर में सर्वथा ममत्व का परित्याग करके उपद्रव करनेवाले अथवा हिंसादिक जीवजंतुओं के द्वारा अनेक प्रकार का दुःख दिया जानेपर भी उनको किसी भी तरह का क्लेश नहीं देता किन्तु सदा समता परिणामों को ही धारण

किया करता है। किसी भी पदार्थ को वह इष्ट या अनिष्ट समझकर उसमें राग या द्वेष नहीं करता। क्योंकि वह सोचता है कि ये व्याघ्रादिक जो मेरे इस शरीर का उग्रता के साथ और बार बार भक्षण करते हैं सो विचारे समझते हैं कि यह शरीर ही मैं हूँ। किन्तु ऐसा नहीं है, मैं इस शरीर का केवल प्रयोक्ता हूँ। जिस प्रकार कहार यदि बेंगी को ढोता है, तो उसको उसका प्रयोक्ता कहा जा सकता है। पर बेंगीको ही कहार नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार मैं भी इस शरीर का वाहक मात्र हूँ। शरीर ही मैं नहीं कहा जा सकता। किन्तु ये विचारे मेरे शरीर को ही मुझे समझकर भक्षण कर रहे हैं। सो इनका यह अज्ञान है। तथा इसमें इनका कोई अपराध भी नहीं है। क्योंकि मेरे ही पूर्वसंचित उपाघातादि कर्म के उदय का साहाय्य पाकर फल दे सकनेवाले अपने पूर्वार्जित [१] परघातादि कर्मों के उदय से प्रेरित होकर ये ऐसा कर रहे हैं। किन्तु शुद्ध द्रव्यदृष्टि से यदि देखा जाय तो इनमें और मुझमें कोई अंतर नहीं है। ये मेरे ही समान है। क्योंकि 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा से सभी जीव शुद्ध हैं। अथवा ये मेरे उपकारी मित्र ही हैं। क्योंकि पिता आदि पर्यायों को धारण कर इस अनादि संसार के भीतर कभी न कभी इन्होंने मेरा उपकार ही किया होगा। जैसा कि कहा भी है कि :-

सर्वे तातादिसंबन्धा नासन् यस्याङ्गिनोऽङ्गिभिः।
सर्वैरनेकधा सार्द्धं नासावऽङ्गयपि विद्यते।।

अतएव मुझसे सर्वथा भिन्न शरीर का यदि ये भक्षण करते हैं तो भले ही करो। मेरी इससे क्या हानि लाभ है। क्योंकि स्वसंवेदन के द्वारा जिसका प्रयत्न हो सकता है ऐसे टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वभाव आत्मा का तो ये कुछ भक्षण कर ही नहीं रहे हैं। शरीर के निमित्त से यह केवल व्यवहार है कि मेरा भक्षण कर रहे हैं। वास्तव में तो जो आत्मस्वरूप की तरफ लीन हो रहा है उसका बाह्य दुःखों की तरफ लक्ष्य भी नहीं जाता। और न उनसे उसको किसी प्रकार के दुःख का अनुभव ही होता है।

---

१ - उपघात और परघात दोनों कर्म साथ ही उदय में आकर फल दे सकते हैं। जो घात करनेवाला है उसके परघात प्रकृति का और जिसका घात हो उसके उपघात प्रकृति का उदय होता है।

जैसा कि कहा भी है :-

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः।।
आनन्दो निर्दहत्युद्यं कर्मेन्धनमनारतम्।
नचासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः।।
आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोपि न खिद्यते।।

संयम का वर्णन करके तपोरूप धर्म का व्याख्यान करते हैं। यह धर्म उपेक्षासंयम की सिद्धि का कारण है। अतएव जो साधु उसका पालन करते हैं उनको वैसा करने के लिये अधिक उत्साहित करते हैं :-

उपेक्षासंयम मोक्षलक्ष्मीश्लेषविचक्षणम्।
लभन्ते यमिनो येन तच्चरन्तु परं तपः।।५१।।

संयमियों को स्वध्याय और ध्यानस्वरूप उत्कृष्ट तप का अनुष्ठान अवश्य ही करना चाहिये। क्योंकि केवल ज्ञानादि अनंतचतुष्टयरूप मोक्षलक्ष्मी का आलिङ्गन कराने में चतुर दूत के समान इन उपेक्षासंयम की प्राप्ति तप के प्रसाद से ही हो सकती है।

इस प्रकार तपोधर्म का निरूपण करके क्रमप्राप्त त्यागधर्म का वर्णन करते हैं :-

शक्त्या दोषैकमूलत्वानिवृत्तिरुपधेः सदा।
त्यागो ज्ञानादिदानं वा सेव्यः सर्वगुणाग्रणीः।।५२।।

संपूर्ण परिग्रह रागादिक दोषों के उत्पन्न करने में प्रधान कारण है। अतएव साधुओं को शक्ति के अनुसार उनका त्याग ही करना चाहिये। इसीको दान कहते हैं। अथवा ज्ञानादिके देने को भी दान कहते हैं। अतएव मुनियों को इसका भी निरंतर अभ्यास

करना चाहिये। क्योंकि यह दान धर्म संपूर्ण गुणों में प्रधान माना गया हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि दान और उत्सर्ग तथा शौच इन तीनों में क्या अंतर है ? क्योंकि तीनों जगह पर परिग्रह के छोड़ने का ही उपदेश दिया जाता है।

उत्तर :- त्याग और उत्सर्ग में अनियतकाल और नियतकाल का अंतर है। क्योंकि अपनी शक्ति के अनुसार अनियतकाल के लिये परिग्रह के छोड़ने को त्याग और नियतकाल के लिये संपूर्ण परिग्रहों के छोड़ने को उत्सर्ग अथवा कायोत्सर्ग कहते हैं। इसी प्रकार शौच और दान में असन्निहित और सन्निहित विषयों के छोड़ने की अपेक्षा से भेद है। असन्निहित विषयों में भी जो कर्म के उदय से गृद्धि हुआ करती है शौचधर्म में उसका भी परित्याग किया जाता है; किन्तु दानधर्म में सन्निहित - निकटवर्ती ही विषय छोड़े जाते हैं। यह परस्पर में भेद समझना चाहिये।

दूसरे संपूर्ण दानों के माहात्म्य की अपेक्षा ज्ञानदान का माहात्म्य अधिक है इस बात को प्रकट करते हैं :-

दत्ताच्छर्म किलैति भिक्षुरभयादा तद्भवाद्भेषजादा
रोगान्तरसंभवादशनतश्चोत्कर्षतस्तद्दिनम्।
ज्ञानात्त्वाशुभवन्मुदो भवमुदां तृप्तोऽमृते मोदते
तद्दातृंस्तिरयन् ग्रहानिव रविर्भातीतरान् ज्ञानदः।।५३।।

अभयदानादिका फल जैसा कुछ आगम में बताया गया है वह प्रसिद्ध है। अभयदान के प्रसाद से साधु को सुख प्राप्त होता है - उसको किसीसे भी भय नहीं हो सकता। किन्तु यह फल उसको ज्यादे से ज्यादे उसी एक भव के लिये प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार औषध के दान से रोग की निर्वृत्तिरूप फल भी तभी तक के लिये मिल सकता जब तक कि और कोई दूसरा रोग उत्पन्न नहीं हो जाता। तथा आहार दानसे भी साधु को ज्यादे से ज्यादे उसी एक दिन के लिये औदर्यशान्तिलाभ फल मिल सकता है, अधिक नहीं। किन्तु तत्क्षण आनंद उत्पन्न करनेवाले ज्ञान के प्रसाद से साधु संसार के संपूर्ण सुखों में तृप्तिलाभ कर - कृतकृत्य होकर अमृतपद में जाकर विराजमान हो जाता है और वहाँ पर नित्यसुख से आह्लादित रहा करता है। अतएव जिस प्रकार सूर्य

शेष संपूर्ण नक्षत्रों को अपने प्रकाश के द्वारा तिरोहित कर सबके ऊपर प्रकाशित होता है उसी प्रकार ज्ञान का दान करनेवाला साधु भी अपने माहात्म्य से अभय भेषज और भोजन तीनों ही प्रकार के दान करनेवालों को अधःकृत कर देता है।

भावार्थ :- दान चार प्रकार का माना है, अभय, औषध, आहार और ज्ञान। इनमें से आदि की तीन वस्तुएँ यदि साधुओं को दी जांय तो उनसे उनको उतना लाभ नहीं हो सकता जितना कि ज्ञान के प्रसादसे हो सकता है। क्योंकि आत्मा का वास्तविक कल्याण ज्ञान ही से हो सकता है। अतएव ज्ञान के दान का माहात्म्य भी इतर दानों के माहात्म्य की अपेक्षा उत्कृष्ट ही माना गया है।

क्रमप्राप्त आकिंचन्यधर्म का स्वरूप बताने के अभिप्राय से उसका पालन करनेवालों को भी उत्कृष्ट तथा उद्‌भूत फल प्राप्त हुआ करता है उसको प्रकट करते हैं।

अकिञ्चनोऽहमित्यस्मिन् पथ्यक्षुण्णचरे चरन्।
तददृष्टचरं ज्योतिः पश्यत्यानन्दनिर्भरम्।।५४।।

मुझसे संबंध रखनेवाले ये शरीरादिक भी मेरे नहीं हैं ऐसे आकिंचन्यधर्मरूप और अपूर्व - जिनका कि पहले कभी भी अनुभव नहीं किया है, आत्मस्वरूप की प्राप्ति के उपाय में विहार करनेवाला साधु उस आनंद रस से पूर्ण एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभावस्वभाव आत्म-ज्योति का अनुभव करता है जो कि पहले कभी भी अनुभव में नहीं आ सकी है।

भावार्थ :- आत्मा से सर्वथा असंबद्ध परिग्रहों की तो बात ही क्या, संबद्ध शरीरादिक परिग्रह में भी संस्कारादि को छोड़कर 'ये मेरे हैं' इस तरह के मूर्छारूप परिणामों का त्याग करना इसको आकिंचन्यधर्म कहते हैं।

ब्रह्मचर्यधर्म का स्वरूप बताते हैं :-

चरणं ब्रह्मणि गुरावस्वातन्त्र्येण यन्मुदा।
चरणं ब्रह्मणि परे तत्स्वातन्त्र्येण वर्णिनः।।५५।।

मैथुनकर्म से निवृत्त वर्णों की आत्मतत्त्व के उपदेष्टा गुरुओं की प्रीतिपूर्वक अधीनता स्वीकार कर की गई प्रवृत्ति को अथवा ज्ञान और आत्मा के विषय में स्वतंत्रतया की गई प्रवृत्ति को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

भावार्थ :- जो चतुर्थ व्रत को स्वीकार करनेवाला साधु व्यवहार से अध्यात्मगुरुओं की और परमार्थ से अपनी आत्मा की ही अधीनता स्वीकार करके प्रीतिपूर्वक व्यवहार करता है वही उत्कृष्ट और स्वच्छंद ज्ञान का अनुभव करता है।

इस प्रकार दश धर्मों का वर्णन करके अंत में इन सभी के साथ उत्तम विशेषण लगाने की आवश्यकता और गुप्ति आदि से इनका पृथक् वर्णन करने का कारण बताते हैं :-

गुप्त्यादिपालनार्थं ततःएवापोद्धृतैः प्रतिक्रमवत्।
दृष्टफलनिर्व्यपेक्षैः क्षान्त्यादिभिरुत्तमैर्यतिर्जयति।।५६।।

पूर्वकृत दोषों के निराकरण को प्रतिक्रमण कहते हैं। जिस प्रकार गुप्ति समिति और व्रतों का पालन करने के लिये प्रतिक्रमण का पृथक् उल्लेख किया गया है उसी प्रकार उनका पालन और रक्षण आदि करने के लिये क्षमादिकों से पृथक् वर्णन किया गया है। जो साधु ख्याति लाभ पूजा आदि ऐहिक - दृष्टफल की अपेक्षा न रखकर इन उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों के द्वारा सदा शुद्धोपयोग में प्रयत्नशील बना रहता है वह सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार दश धर्मों का निरूपण करके, इस अध्याय की आदि में तपरूपी समुद्र के तीर्थरूप में जिनका निर्देश किया है अनुप्रेक्षाओं का वर्णन क्रमप्राप्त है। जिन मुमुक्षुओं का चित्त निरंतर इन अनुप्रेक्षाओं के चिंतवन में लगा रहता है उनको मोक्षमार्ग के अनेक विघ्नों से युक्त रहते हुए भी किसी भी प्रकार का प्रत्यवाय - अपराध नहीं लग सकता। अतएव उनका निरंतर चिंतवन करते रहने के लिये साधुओं को प्रेरणा करते हैं।

बहुविघ्नेपि शिवाध्वनि यन्निघ्नधियश्चरन्त्यमन्दमुदः।
ताः प्रयतैः संचिन्त्या नित्यमनित्याद्यनुप्रेक्षाः।।५७।।

जिन अनुप्रेक्षाओं से अपनी मति को निरत रखनेवाले साधु जन मोक्षमार्ग में अनेक विघ्नों के उपस्थित होते हुए भी आनंद के उद्रेक को प्राप्त होकर यथेच्छ विहार करते रहते है उन [१] अनित्यादिक बारहों अनुप्रेक्षाओं का मुमुक्षुओं को प्रयत्नशील होकर शरीरादिक के विषय में नित्य ही चिंतवन करते रहना चाहिये।

आयु, काय, इन्द्रिय, बल, यौवन आदि में क्षणभंगुरता का विचार करने से जो मोह का उपमर्दन होता है उसको दिखाते हैं :-

चुलुकजलवदायुः सिन्धुवेलावदङ्ग,
करणबलममित्रप्रेमवद्यौवनं च।
स्फुटकुसुमवदेतत् प्रक्षयैकव्रतस्थं,
क्वचिदपि विमृशन्तः किं नु मुह्यन्ति सन्तः।।५८।।

क्या वे सत्पुरुष कभी भी आयु आदि के विषय में मोह को प्राप्त हो सकते हैं? कभी नहीं। जो कि आयुआदि के स्वरूप का निरंतर इस प्रकार से विचार करते रहते हैं कि यह आयु - भव को धारण करने के लिये कारणभूत कर्मविशेष अंजलि के जल के समान क्षणभंगुर है। जिस प्रकार अंजलि में भरा हुआ जल छिद्रों में होकर टपक टपक कर शीघ्र ही समाप्त हो जाता है उसी प्रकार आयुः कर्म भी प्रतिक्षण उदय में आ आकर सहसा समाप्त हो जाता है। यह शरीर लवण समुद्र की वेला के समान अनित्य है। जिस प्रकार समुद्र के जल का उच्छ्वास सदा एकसा नहीं रहता, जहाँतक उसे बढ़ना चाहिये वहाँतक बराबर बढ़ता जाता है और फिर जहाँतक उसे घटना चाहिये वहाँतक बराबर घटता जाता है। इसी प्रकार यह शरीर भी अपने प्रमाणतक बराबर धातु उपधातुओं के द्वारा बढ़ता जाता है और उसके बाद क्रम से घटकर क्षीण हो जाता है। इन्द्रियों का सामर्थ्य - विषय ग्रहण करने की शक्ति शत्रुओं के प्रेम के समान है क्योंकि उचित उपचार होनेपर भी ये व्यभिचार ही प्रकट करती हैं। जिस प्रकार योग्य आसनादि देकर

---

१ - अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्मस्वाख्यातत्त्व।

अनुकूलता की तरफ उन्मुख किया हुआ भी शत्रु प्रेम विघटित होने में समय की अपेक्षा नहीं रखता उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी पथ्य आहार विहार के द्वारा सुपुष्ट की जानेपर भी अपनी सामर्थ्य के छोड़ने में बुद्धि के अपराध को ढूंढा करती हैं। यह यौवन खिल हुए फूल के समान शीघ्र ही विकार को प्राप्त हो जानेवाला है। जिस प्रकार फूल कुछ क्षणों के लिये अपनी मनोहरता दिखाकर क्षणमात्र में ही कुमला जाता है उसी प्रकार यह यौवन भी कुछ क्षणों के लिये चमत्कार दिखाकर मुरझा जाता या विकार को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार ये साधु शरीर इन्द्रिय और यौवन सभी क्षणभंगुर हैं। इन्होंने सर्वथा नष्ट होने का उत्कृष्ट व्रत ले रक्खा है। अतएव इनका निर्मूल प्रलय अवश्यम्भावी है।

भावार्थ :- आयु आदि अंतरंग पदार्थों की क्षणभंगुरता का निरंतर चिंतवन करनेवाला मुमुक्षु उनमें कभी भी मोहित नहीं हो सकता - उन विषयों में कभी भी उसके ममत्त्वबुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती, और न उनके विषय में उसको नित्यता का ही प्रत्यय हो सकता है।

इस प्रकार आयु आदि अंतरंग पदार्थों की क्षणभंगुरता विचार करके संपत्ति आदि बाह्य पदार्थों की भी अनित्यता को प्रकट करते हैं :-

छाया माध्यान्हिकीश्रीःपथि पथिकजनैःसङ्गमःसङ्गमःस्वैः,
स्वार्थाः स्वप्नेक्षितार्थाः पितृसुतदयिता ज्ञातयस्तोयभङ्गाः।
सन्ध्यारागोनुरागः प्रणयरससृजां ऱ्हादिनीदाम वैश्यं,
भावाः सैन्यादयोन्येष्यनुविदधति तान्येव तद्ब्रह्म दुह्यः।।५९।।

लक्ष्मी स्थिर रहनेवाली नहीं है, वह मध्याह्नकाल की छाया के समान क्षणमात्र के लिये अपना प्रकाश दिखाकर तिरोभूत हो जानेवाली है। इसी प्रकार और भी दृष्टांत व दार्ष्टांत समझने चाहिये। जैसे बंधु बांधवों के साथ संयोग भी ऐसा ही है जिस तरह से कि मार्ग में पथिकों के साथ कुछ क्षण के लिये संयोग हो जाया करता है। जिस प्रकार भिन्न भिन्न दिशाओं से आकर पथिकजन विश्राम के लिये एक वृक्ष की छाया में कुछ क्षण के लिये एकत्रित हो जाते हैं किन्तु थोड़ी ही देर बाद वे अपने अपने स्थान को चले जाते हैं - वियुक्त हो जाते हैं। उसी प्रकार भिन्न भिन्न गतियों से आये हुए जीव

अपने अपने कर्म के अनुसार आयु का उपभोग करने के लिये एक ही कुल या ज्ञाति में कुछ क्षण के लिये इकट्ठे हो जाते हैं और उसके बाद अपने अपने कर्म के अनुसार भिन्न भिन्न गतियों में चले जाते हैं। अतएव बंधुबांधवों का संयोग मार्ग में होनेवाले पथिकसंयोग के समान क्षणभंगुर है। इन्द्रियों के विषय भी स्वप्न में देखे हुए पदार्थों के समान अकिंचित्कर ही है। क्योंकि जिस प्रकार स्वप्न में देखे हुए पदार्थ उस समय देखने मात्र के ही हैं, निंद्रा खुलते ही सब विलीन हो जानेवाले हैं। उनसे कोई भी वास्तविक कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। उसी प्रकार इन्द्रियों के विषय भी उपभोग के समय में ही मनोहर मालूम पड़नेवाले हैं। उसके बाद उनसे कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। माता पिता लड़का लड़की और स्त्री आदि जितने कुटुम्बीजन हैं वे सब भी जलकल्लोल के समान क्षणभंगुर ही हैं। जिस प्रकारा जल की कल्लोल अपना चमत्कार दिखाकर क्षणमात्र में तिरोभूत हो जाती है उसी प्रकार कुटुम्बीजन भी कुछ कालतक ठहरकर विलीन हो जाते हैं। प्रेमरस को ही सदा प्रगट करनेवाले मित्रप्रभृति का अनुराग भी सन्ध्याकाल के राग के ही समान है। जिस प्रकार सन्ध्या के समय कुछ ही क्षणों में आकाश में कई वर्णों का विलक्षण २ परिणमन हो होकर सहसा विलीन हो जाता है, उसी प्रकार मित्रजनों का प्रेम भी कुछ समय तक ही अपना रूप दिखाकर तिरोहित हो जाता है। पूज्यता और आज्ञाप्रभृति का ऐश्वर्य भी बिजली के चमत्कार की तरह क्षणमात्र में ही नष्ट हो जानेवाला है। अधिक कहाँतक कहें, सेना, हाथी, घोडे, रथ, पैदल, महल, बगीचा आदि जितने भी बाह्यपदार्थ हैं वे सब क्षणभंगुरता का ही अनुसरण करते हैं। अतएव हमें इन संपूर्ण क्षणविनश्वर पदार्थों का परित्याग करके आत्मा और शरीर के भेदज्ञानरूप ब्रह्म को स्वाभाविक आनंद से पूर्ण करना ही उचित है।

इस प्रकार अंतरंग और बाह्य - संबद्ध और असंबद्ध दोनों ही प्रकार के पदार्थों में नश्वरता का विचार करते रहने से आसक्ति नहीं होती और उनके भोगकर छोड़ देने पर -वियोगकाल में फिरते उनको भोगने के लिये दुष्परिणाम भी नहीं होते।

अशरणता का निरूपण करते हैं :-

तत्तत्कर्मग्लपितवपुषां लब्धवल्लिप्सितार्थ
मन्वानानां प्रसभमसुवत्प्रोद्यतं भक्तुमाशाम्।

यद्वद्वार्यं त्रिजगति नृणां नैव केनापि दैवं
तद्वन्मृत्युर्ग्रसनरसिकस्तद् वृथा त्राणदैन्यम्।।६०।।

मसि कृषि आदि कर्मों ने जिनके शरीर को निःसत्व कर डाला है और जो अभीष्ट पदार्थ के विषय में समझते हैं कि यह तो हमारे हाथ में ही है ऐसे मनुष्यों की प्राणों के समान आशा का - भविष्य पदार्थों के प्राप्त करने की आकांक्षा का बलात्कार उपमर्दन करदेने के लिये उद्युक्त हुए दैव - पूर्वकृत अशुभकर्म को दूर करने के लिये क्या तीनों लोक में भी कोई समर्थ है ? नहीं ! इस त्रिलोकी में चेतन या अचेतन ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो कि पूर्वसंचित कर्म का निवारण कर [१] सके। मनुष्य भविष्य के लिये अनेक प्रकार की आशाएँ बांधता है किन्तु पूर्वकर्म उदय में आकर हठात् उसमें विघ्न डाल देता है। जिस प्रकार कोई भी इन्द्रादिक या मंत्रादिक कर्म की शक्ति से नहीं रोक सकते उसी प्रकार आयु भी अनिवार्य ही है। संसारी जीवमात्र के प्राणों का संहार करने में उद्युक्त हुए मृत्यु का भी कोई निवारण नहीं कर सकता। जब कि यह बात है - दैव और मृत्यु दोनों का ही निराकरण नहीं हो सकता तब रक्षण या शरण के लिये किसीका भी अनुसरण करना या किसीके सामने दीनता प्रकाशित करना व्यर्थ ही है। क्योंकि न तो कोई मेरे भाग्य में परिवर्तन कर सकता है और न मेरी मृत्यु को ही रोक सकता है। ये दोनों कार्य अवश्यम्भावी हैं अतएव इनके लिये धैर्य का अवलंबन लेना ही सत्पुरुषों को उचित है।

चक्री अर्धचक्री इन्द्र या योगीन्द्र कोई भी क्यों न हो, काल का प्रतिकार नहीं कर सकता; इस बात का निरंतर चिंतवन करते रहनेवाला मुमुक्षु किसी भी बाह्य वस्तु में मोहित नहीं हो सकता। इस बात को प्रकट करते हैं :-

सम्राजां पश्यतामप्यभिनयति न कि स्वं यमश्चण्डिमानं
शक्राः सीदन्ति दीर्घे क्क न दयितवधूदीर्घनिद्रामयस्ये।

---

१ - कर्माण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति। प्रतिवेद्धुं न शक्यन्ते नक्षत्राणीव केनचित्।।

आ कालव्यालदंष्ट्रां प्रकटतरतपोविक्रमा योगिनोपि
व्याक्रोष्टुं न क्रमन्ते तदिह बहिरहो यत् किमप्यस्तु किं मे।।६१।।

यह यमराज बलात्कार प्राणों का हरण कर लेनेवाली अपनी क्रूरता का अभिनय भला कहाँ कहाँ पर नहीं दिखाता है, संपूर्ण पृथ्वी का उपयोग करनेवाले चक्रवर्ती बैठे ही रहते हैं और उनके सामने यह क्रूर काल उनके पुत्रादिकों के प्राणों का संहार कर ही डालता है; पर वे कुछ नहीं कर सकते, देखते ही रह जाते हैं। अपनी प्रियतमा वधूओं के मरण से उत्पन्न हुए चिरकालीन - सागरों तक के दु:ख से क्या ये इन्द्रादिक दु:खी नहीं होते ? होते ही हैं। क्योंकि देवांगनाओं की आयु पल्योपम और इन्द्रों की आयु सागरोपम हुआ करती है अतएव जिस प्रकार सागर - समुद्र में अनेक लहरें उत्पन्न होकर विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार एक इन्द्र की आयु में अनेक देवियाँ उत्पन्न हो हो कर आयु पूर्णकर जाती हैं। उन सबके वियोग का दु:ख इन्द्रों को आयु पर्यंत भोगना पड़ता है। इसीलिये तो कहते हैं कि यह यमराज भला किसको दु:खकर अभिनय नहीं दिखाता ?

कदाचित् कोई समझेगा कि चक्रवर्ती या इन्द्र यदि यमराज का मुकाबिला नहीं कर सकते तो न सही; पर उत्कृष्ट तपस्या से उत्पन्न हुए पराक्रम के धारक योगीश्वर उसका प्रतिकार अवश्य कर सकते होंगे। सो ऐसा भी नहीं है। हमें यह बड़े दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि भुजंग अथवा सिंह के समान काल की भयंकर डाढ़ का प्रतिरोध अतिशयित और जगद्विख्यात तपोविक्रम की शक्ति को धारण करनेवाले ऋषिगण भी नहीं कर सकते। उन्हें भी कालकवलित होना ही पड़ता है। अतएव हे तत्त्वज्ञान में प्रवीण महर्षियों ! तुम ऐसा विचार करो कि इन बाह्य पदार्थ शरीरादिकों में जरा मरण या व्याधि आदि कुछ भी होता रहे, मेरा क्या नुकसान ? कुछ नहीं। जैसा कि कहा भी है कि :-

न मे मृत्यु कुतो भीतिर्न मे व्याधि: कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोहं न युवैतानि पुद्गले।।
जीवोन्य: पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रह:।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोस्तु तस्यैव विस्तर:।।

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः।
नाहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन।।

आधि व्याधि मृत्यु और भय तथा बाल वृद्धा और युवा आदि अवस्थाएँ मेरी आत्मा में नहीं, पुद्गल में होती हैं। जीव दूसरा पदार्थ है और पुद्गल दूसरा पदार्थ हैं। जिन जिन इन भिन्न वस्तुओं का निरूपण किया जाता है वे सब पुद्गल की ही अवस्थाएँ हैं। ततत्त्वदृष्टि से यदि देखा जाय तो शरीरादिक मुझसे और मैं शरीरादिक से सर्वथा भिन्न हूँ। मैं इनका कोई नहीं और ये मेरे कोई नहीं।

इस प्रकार से जो नित्य ही अशरणता का विचार करता रहता है उस विरक्तबुद्धि के किसी भी संसारिक पदार्थ में ममत्त्वबुद्धि उत्पन्न नहीं होती किन्तु आत्मप्रत्यय या स्वावलंबन का भाव दृढ़ होता है और सर्वज्ञ के मार्ग में प्रीति उत्पन्न होती हैं।

संसारनुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं :-

तच्चेद् दुःखं सुखं वा स्मरसि न बहुशो यन्निगोदाहमिन्द्र -
प्रादुर्भावान्तनीचोन्नतविविधपदेष्वा भवाद्भुक्तमात्मन्।
तत्किं ते शाक्यवाक्यं हतक परिणतं येन नानन्तराति -
क्रान्ते भुक्तं क्षणेपि स्फुरति तदिह वा क्वकास्ति मोहः सगर्हः।।६२।।

हे आत्मन ! अनादिकाल से लेकर अब तक अनंत बार तेने जो निगोद से लेकर अहमिन्द्र तक की नीच और ऊँच नाना [१]प्रकार की पर्यायों में सुख या दुःख जो कुछ भोगा है उसका तुझे स्मरण क्यों नहीं होता ? जिस प्रकार नीच स्थानों में तू निगोद तक पहुँचा और वहाँ तेने दुःखों का अनुभव किया उसी प्रकार ऊँच स्थानों में भी अनेक बार तेने अहमिन्द्र तक की पर्यायों को धारण किया और वहाँ पर सांसारिक सुखों का

---

१ - समभवमहमिन्द्रोऽनन्तशोऽनन्तवारान्, पुनरपि च निगोतोऽनंतशोऽन्तर्निवृत्तः।
किमिह फलमभुक्तं तद्यदद्यापि भोक्ष्ये, सकलफलविपत्तेः कारणं देव देयाः।।

भी अनुभव किया। पर तुझे न तो उन नीच स्थानों के भोगे हुए दु:खों का ही स्मरण होता है और न उन ऊँच स्थानों के सुखों का ही। इसका क्या कारण है ? हे दुरात्मन् ! क्या निरन्वय क्षणिक वादरूप बौद्ध सिद्धान्त के वचन तेरे एकतानता को प्राप्त हो गये हैं ? क्या क्षणिक सिद्धांत के अनुसार पूर्व पर्याय में सर्वथा नष्ट होकर अब सर्वथा नया पदार्थ उत्पन्न हुआ है ? पूर्व पर्याय तो क्या, इसी पर्याय में तू प्रतिक्षण नष्ट हो होकर नवीन ही उत्पन्न हो रहा है ? अन्यथा अभी थोड़े ही समय पहले जिन सुखों और दु:खों को तेने भोगा था उनका भी तुझे स्मरण क्यों नहीं होता ? अथवा ठीक ही है, इस लोक में प्राणीमात्र को निगल जानेवाले मोह को क्या किसी भी प्राणी के विषय में ग्लानि होती है ? नहीं। यही कारण है कि तुझको उन दु:खकर या सुखकर स्थानों का स्मरण नहीं होता, अथवा होकर भी उनकी तरफ से तुझे उपेक्षा नहीं होती। क्योंकि मोह के प्रसाद से जीव ऐसा मूर्छित रहता है जिससे कि संसार के वास्तविक स्वरूप की तरफ उसका लक्ष्य ही नहीं जाता।

संसार की दुरवस्था का स्वयं विचार करने के लिये उपदेश देते हैं :-

अनादौ संसारे विविधविपदातङ्कनिचिते,
मुहुः प्राप्तस्तां तां गतिमगतिकः किं किमवहम्।
अहो नाहं देहं कमथ न मिथो जन्यजनकाद्युपाधिं
केनागां स्वयमपि हहा स्वं व्यजनयम्।।६३।।

इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग द्वारा आकर प्राप्त होनेवाली नाना प्रकार की विपत्तियों और उनसे होनेवाले क्लेशों में अत्यंत भरे हुए इस अनादि संसार में उसके दुखों से छूटने का कोई भी उपाय न पाकर भला कौन कौनसी गति को मैंने अनेक बार नहीं पाया है ? नारक तिर्यक् और मनुष्य आदि सभी गतियों में तो मैंने बार बार भ्रमण किया है। तथा कौनसा ऐसा शरीर है कि जिसको मैंने धारण नहीं किया; सिवाय उसके कि जो सम्यक्त्व के सहचारी पुण्यकर्म के उदय से ही प्राप्त होता है। और तो काले गोरे छोटे मोटे ऊँचे नीचे आदि अनेक प्रकार के वर्ण और संस्थान के प्राय: सभी शरीरों को

मैंने धारण किया है। इसी प्रकार ऐसा कौनसा जीव है कि जिसके साथ मैंने पिता पुत्रादि के संबंध की उपाधि नहीं पाई है ? जिस जीव का कभी पुत्र हुआ हूँ तो कभी उसीका पिता भी हुआ हूँ, कभी सेवक हुआ हूँ तो कभी स्वामी हुआ हूँ। और यदि कभी भोज्य हुआ हूँ तो कभी उसीका भोजक भी हुआ हूँ। इस प्रकार प्राय: जीवमात्र के साथ मैं वैभाविक भावों को पा चुका हूँ। हाय जब मुझे उन दु:खमय अवस्थाओं का स्मरण होने से बड़ा कष्ट होता है। पर मैंने अपने आप ही तो अपने को दुरवस्थाओं में पटका था।

इस तरह से विचार करनेवाला मनुष्य संसार के दु:खों से उद्विग्न होकर उसको छोड़ने की तरफ प्रवृत्ति करता है।

क्रमप्राप्त एकत्त्वानुप्रेक्षा की विधि बताते हैं :-

किं प्राच्य: कश्चिदागादिह सह भवता येन साध्येत सध्र्यङ्
प्रेत्येहत्योपि कोपि त्यज दुरभिमतिं संपदीवापदि स्वान्।
सध्रीचो जीव जीवन्ननुभवसि परं त्वोपकर्तुं सहैति
श्रेयोंहश्चापकर्तुं भजसि तत इतस्तत्फलं त्वेककस्त्वम्।।६४।।

हे आत्मन् ! क्या पूर्वभव का पुत्र मित्र या बहिन भाई आदि में से कोई भी इस भव में तेरे साथ आया है ? जिसको कि देख करके यह अनुमान किया जा सके कि इस भव का भी कोई परभवतक तेरे साथ जा सकेगा। जब कि ऐसा नहीं है - दृष्टांत के लियेभी परभव से साथ में आया हुआ कोई बंधु बांधव नहीं मिलता तो यह किस तरह माना जा सकता है कि इस भव के दृष्ट जनों में से भी कोई तेरे या किसीके भी साथ जा सकेगा ? अतएव इनके विषय में तुझको जो मिथ्याज्ञान बैठा हुआ हैं कि ये मेरे हैं सो उस दुरभिनिवेश को छोड़ दे। हे जीव ! क्या तेने जीते हुए कभी इस बात का अनुभव किया है कि जिनको तू अपने समझता है वे तेरी संपत्ति की तरह विपत्ति में भी कभी सहायक हुए हैं ? नहीं। क्योंकि जब तेरे जीते जी यह हाल है कि संपत्ति के रहते हुए तो ये सब तेरा साथ देते हैं पर विपत्ति को देखकर दूर ही भाग जाते हैं; तब मरने पर साथ देने की तो बात ही कहाँ। हे आत्मन् ! यह निश्चय

समझ कि इनमें से तेरे साथ जानेवाला कोई भी नहीं है। हाँ, पुण्य और पाप जिनका कि तेने ही संचय किया है, उनमें से तेरा उपकार करने के लिये पुण्य और अपकार करने के लिये पाप परभव तक तेरे साथ अवश्य जायगा। किंतु उनका सुख और दु:खरूप फल इस लोक की तरह परलोकमें भी तुझे अकेले को ही भोगना पडेगा। उसको भी कोई बाँट नहीं सकता। अतएव यह निश्चय मान कि संसार के भीतर माना योनियों में पर्यटन और पुण्य पाप के सुखदु:खरूप फलों का अनुभव तुझे अकेलेको ही करना पड़ता है उसमें तेरा भागीदार कभी कहीं भी और कोई भी नहीं हो सकता।

वास्तव में आत्मा के साथ जानेवाला कोई भी नहीं है,
इस बात को प्रकट करते हैं :-

यदि सुकृतममाहंकारसंस्कारमङ्गं,
पदमपि न सहैति प्रेत्य तत् किं परेर्था:।
व्यवहृत्तिमिरेणैवार्पितो वा चकास्ति,
स्वयमपि मम भेदस्तत्त्वतोस्म्येक एव।।६५।।

जिसमें कि ममकार और अहंकार का संस्कार - दृढ़ प्रत्यय जन्म से ही किया गया है ऐसा यह शरीर ही जब कि परलोक के लिये मेरे क्या किसीके भी एक पग भी साथ नहीं जाता है तब स्त्रीपुत्रादिक और धन धान्यादिक जो कि सर्वथा ही भिन्न दिख रहे हैं; किस तरह साथ जा सकते हैं। अतएव मेरा और इनका भेद निश्चित है। अथवा मेरा भेद ही स्वयं अपने स्वरूप को दिखा रहा है कि मैं अंधकार के समान यद्वा नेत्ररोग के समान व्यवहारनय - उपचार से हूँ न कि निश्चयनय से। निश्चयनय से तो मैं एक ही हूँ - मुझमें ज्ञान सुख दु:ख आदि पर्यायों की अपेक्षा भेद नहीं है। मैं सदा एक चैतन्यरूप में ही रहनेवाला हूँ।

इस प्रकार एकत्व का विचार करनेवाले मुमुक्षु के स्वजन या परजन किसीमें भी रागद्वेष की उद्भूति नहीं होती, वह नि:संग होकर मोक्ष में प्रवृत्त होता है।

अन्यत्व भावना के अतिशयित फल को दिखाकर उसके विषय में प्रलोभन उत्पन्न

करते हुए उसका वर्णन करते हैं :-

नैरात्म्यं जगत इवार्य नैर्जगत्यं,
निश्चिन्वन्ननुभवसिद्धमात्मनोपि।
मध्यस्थो यदि भवसि स्वयं विविक्तं,
स्वात्मानं तदनुभवन् भवादपैषि।।६६।।

'अहं' या 'मैं' ऐसी जिसमें प्रतीति होती है उसको आत्मा कहते हैं। यह प्रतीति अंतस्तत्त्व में ही होती है, शेष संपूर्ण जगतमें नहीं होती। अतएव जगत् का स्वरूप नैरात्म्य माना है। हे आर्य ! जिस प्रकार जगत् का स्वरूप नैरात्म्य है उसी प्रकार आत्मा का स्वरूप नैर्जगत्य भी है। क्योंकि वह संपूर्ण वस्तुओं के ग्रहण से रहित है। अतएव अपने नैर्जगत्यों को अनुभवसिद्ध निश्चय करके - इस बात का दृढ़ प्रत्यय करके कि मेरी आत्मा इन संपूर्ण दृश्यमान पदार्थों से सर्वथा अलिप्त है, यदि तू मध्यस्थ हो जाय - समस्त वस्तुओं में रागद्वेष रहित होकर आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाय तो अवश्य ही तू अपनी आत्मा की शरीरादिक से भिन्नता का अनुभव करते हुए उसको संसार और शरीर दोनों से ही मुक्त कर सकता है।

भावार्थ :- यदि तू अपनी आत्मा को संसार और शरीर से सर्वथा भिन्न समझकर निरंतर उसका विचार करता रहे तो अवश्य ही एक न एक दिन तेरा आत्मा उनसे रहित हो जायगा।

अन्यत्व की भावना में रत रहनेवाले के अपुनर्भव की
जो अभिलाषा होती है या रहना चाहिये उसको प्रकट करते हैं :-

बाह्याध्यात्मिकपुद्गलात्मकवपुर्युग्मं भृशं मिश्रणाद्धेम्नः,
किट्टककालिकाद्वयमिवाभादऽप्यदोऽनन्यवत्।
मत्तो लक्षणतोन्यदेव हि ततश्चान्योहमर्थादत, -
स्तद्भेदानुभवात्सदा मुदमुपम्यन्वेमि नो तत्पुनः।।६७।।

यह शरीर जो देखने में आता है सो बाह्य और अंतरंग दो पौद्गलिक शरीरों का जोड़ा है - इसमें रस रक्तादिक धातुमय औदारिकशरीर बाह्य और ज्ञानावरणादि कर्मस्वरूप कर्मशरीर अंतरंग है जो कि दोनों ही पौद्गलिक हैं। जिस प्रकार सुवर्ण के साथ बाह्य स्थूल मल किट्ट और अंतरंग सूक्ष्म मल कालिका दोनों ही अत्यंत जुड़े रहते हैं उसी प्रकार मेरे साथ ये दोनों शरीर भी अत्यंत जुड़े हुए हैं - मेरे साथ मिलकर सर्वथा एकमेक से हो गये हैं इसीलिये मैं और ये दोनों अभिन्न सरीखे जान पड़ते हैं। किन्तु वास्तव में ये मुझसे सर्वथा भिन्न है क्योंकि मेरा और इसका लक्षण या स्वरूप सर्वथा भिन्न-भिन्न है। मैं अमूर्त और यह मूर्त, मैं ज्ञानदर्शनादि उपयोगरूप चेतन और यह अज्ञानस्वरूप जड़, मैं आनंदमय और यह निरानंद, इस प्रकार मुझमें और इसमें महान् अंतर है। अतएव अत्यंत संयोग की अपेक्षा यह मुझसे अभिन्न सरीखा मालूम होते हुए भी वास्तव में भिन्न ही है। ये मुझसे भिन्न हैं मैं इनसे भिन्न हूँ। इस प्रकार वास्तविक भेद का अनुभव हो जाने से अब मैं सदा आत्मिक सुख में ही मग्न रहूँगा, इस शरीर का अनुवर्तन न करूंगा।

इस प्रकार शरीरादिक से भिन्नता का विचार करनेवाला साधु उन विषयों में निरीह होकर मोक्ष के साधन में सतत सोत्साह बना रहता है।

यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि एकत्वानुप्रेक्षा और अन्यत्वानुप्रेक्षा में क्या अंतर है ? किन्तु दोनों का अंतर स्पष्ट है। एकत्व भावना में तो 'मैं अकेला हूँ' इस तरह विधिरूप से चिंतवन किया जाता है और अन्यत्व भावना में 'मुझसे भिन्न हैं, मेरे नहीं हैं,' इस तरह निषेधरूप चिंतवन किया जाता है। अतएव दोनों में महान् अंतर है।

शरीर की अशुचिता का विचार कराते हुए आत्मा को शरीर के विषय में जो पक्षपात लगा हुआ है उसकी निंदा करते हैं :-

कोपि प्रकृत्यशुचिनीह शुचेः प्रकृत्या,
भूयान्वसेरकपदे तव पक्षपातः।
यद्विश्रसा रुचिरमर्पितमर्पितं द्राग्,
व्यत्यस्यतोपि मुहुरुद्विजसेऽङ्ग नांगात्।।६८।।

हे आत्मन् ! चंदन गंध आदि रमणीय और पवित्र भी वस्तुएँ इस शरीर पर लगाई

जांय तो भी और बार बार लगाने पर भी यह शरीर स्वभाव से ही उनके लगाते ही झट से बिगाड़ देता है - अपवित्र बना देता है। फिर भी देखते हैं कि स्वभाव से ही शुद्ध और रमणीय तू इससे उद्विग्न - विरक्त नहीं होता। अतएव मालूम होता है कि तेरा स्वभाव से ही अपवित्र और अमनोज्ञ इस शरीरमें जो कि उस स्थान के समान थोड़े ही समय तक ठहरने के लिये है जहाँ पर कि पथिकजन रातभर के लिये ही विश्राम किया करते हैं, अपूर्व और बड़ा भारी पक्षपात है। क्योंकि यदि तुझे इसमें पक्षपात न होता तो क्या तू पवित्र होकर और इसकी अपवित्रता का अनुभव करके भी इससे विरक्त न होता ? अवश्य होता।

शरीर के ऊपर चाम का आच्छादन मात्र लगा हुआ है इसीलिये गृद्धादिक मांसभक्षी पक्षी उसको चोंथ चोंथ कर नहीं खाते हैं, अन्यथा वे इसको छोड़ते भी नहीं। इससे सिद्ध है कि शरीर की बराबर कोई भी पदार्थ अपवित्र नहीं है। फिर भी शुद्ध स्वरूप के देखने में कुशल या स्थिर आत्मा का आधार मात्र होनेसे ही वह पवित्र भी हो सकता है। अतएव अशुचि भी शरीर में समस्त संसार की विशुद्धि की कारणता का संपादन करने के लिये आत्मा को उत्साहित करते हैं :-

निर्मायास्थगयिष्यदङ्गमनया वेधा न भोश्चेत् त्वचा,
तत् क्रव्याद्भिरखण्डयिष्यत खरं दायादवत् खण्डशः।
तत्संशुद्धनिजात्मदर्शनविधावग्रेसरत्वं नयन्,
स्वस्थित्येकपवित्रमेतदखिलत्रैलोक्यतीर्थं कुरु।।६९।।

हे आत्मन् ! यह शरीर इतना अशुचि है कि यदि विधाता इसको बनाकर ऊपर से इस दिखते हुए चमड़े से इसे आच्छादित न कर देता तो गृद्धादिक जितने मांसभक्षी पक्षी हैं वे सब इसको अच्छी तरह से चोंथ डालते। जिस प्रकार भाई बंधु आदि दायादजन अविभाज्य - जिसको विभाग नहीं किया जा सकता ऐसी भी वस्तु के लिये आपस में क्रोध और स्पर्धा के साथ लड़ लड़कर खण्ड खण्ड करके उस वस्तु को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार गृद्ध वगैरह पक्षी इस शरीर के लिये करते। इस प्रकार यद्यपि यह अशुचिपदार्थमय है फिर भी इसमें तू निवास करता है इसलिये यह पवित्र भी समझा जाता है। अतएव

अत्यंत शुद्ध निज आत्मस्वरूप का अवलोकन करने में इस शरीर को अग्रेसर बनाकर संपूर्ण त्रिलोकी के लिये तीर्थस्वरूप विशुद्धि का कारण बना देना चाहिये।

भावार्थ :- यद्यपि यह शरीर स्वभाव से अपवित्र ही है किन्तु तेरे संबंध से पवित्र भी है। अतएव ज्यों ज्यों तू पवित्र होता जायेगा त्यों त्यों यह भी अधिकाधिक शुद्ध होता जायेगा। जिस समय तू अत्यंत निर्मल निजात्म स्वरूप का अवलोकन करने लगेगा उस समय तेरा यह शरीर भी परमौदारिक होकर समस्त संसार के लिये तीर्थरूप हो जायेगा। किन्तु तेरा पवित्र होना भी इस शरीर के ऊपर ही निर्भर है। क्योंकि जिस उत्कृष्ट ध्यान के बल से तुझे निज शुद्धात्मा का साक्षात्कार हो सकता है उसकी प्राप्ति उत्तम संहननवाले शरीर से ही हो सकती है। अतएव तुझे उसको तीर्थरूप बनाना ही उचित है।

इस प्रकार निरंतर चिंतवन करनेवाला साधु शरीर से विरक्त होकर अशरीर अवस्था प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करने लगता है।

आस्रव के स्वरूप का विचार करने के लिये
उसके दोषों का चिंतवन करते हैं :-

युक्ते चित्तप्रसत्त्या प्रविशति सुकृतं तद्धविन्यत्र योग, -
द्वारेणाहत्य बद्धः कनकनिगडवद्येन शर्माभिमाने।
मूर्छन् शोच्यः सतां स्यादतिचिरमयवेत्यात्तसंक्लेशभावे,
यत्वंहस्तेन लोहान्दुकवदवसितच्छिन्नमर्मेव ताम्येत्।।७०।।

जिस समय यह संसारीजीव प्रशस्त राग या अनुकंपादिक परिणामों से युक्त होता है उस समय मन वचन काय के द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेश परिस्पंदरूप योग के द्वारा पुण्यकर्म का संचय होता है। सम्यग्दर्शनादिक भावों से युक्त आत्मा के प्रदेशों में रहनेवाले कर्मस्कंधों में सातावेदनीय शुभआयु शुभनाम और शुभगोत्ररूप पुण्यकर्म के योग्य पुद्गलद्रव्य का योग के द्वारा अनुप्रवेश होता है। पौद्गलिक कर्मों का स्कंध और भी पुद्गलों से एक क्षेत्रावगाह करके आपस में जकड़ जाता है। जिस प्रकार सुवर्ण की बेढ़ियों से जकड़ा हुआ कोई राजपुरुष अपने महत्त्व का ख्याल करके सुख का अभिमान करता हो। किन्तु तत्त्वदर्शी

लोग उस पर खेद ही जाहिर करते हैं। उसी प्रकार पुण्यकर्म के उदय से मैं सुखी हूँ इस तरह के अभिमान में चिरकाल - पल्यों तक मूर्छित रहनेवाले पर सिद्धि के साधन में उद्यत रहनेवाले सत्पुरुष खेद ही किया करते हैं। क्योंकि यह पुण्यकर्म भी जीव को बलात्कार परतंत्र ही बनाता है।

जिस समय यह जीव राग द्वेष अथवा मोहरूप संक्लेशपरिणामों से युक्त होता है उस समय मिथ्यात्वादिक भावों से युक्त आत्मा के प्रदेशों में रहनेवाले कर्मस्कंधों में उक्त योग के द्वारा पापकर्म के योग्य पुद्गलद्रव्यों का अनुप्रवेश होता है। विशिष्ट शक्ति को प्राप्त इस पापकर्म के निमित्त से सर्वथा पराधीन हुआ यह संसारीजीव मर्मवेधी पीड़ाओं से इस प्रकार खेद और दीनता को प्राप्त होता है जिस तरह से कि लोहे की शृंखलाओं से बंधा हुआ कोई सापराध व्यक्ति मार्मान्तिक पीड़ाओं से दुःखी हुआ करता है।

भावार्थ :- पुण्य और पाप दोनों ही कर्मों का आस्रव वास्तव में आत्मा की पराधीनता का ही कारण है और शोचनीय ही है।

जो मुमुक्षु आस्रव का निरोध कर देते हैं उन्हीं को कल्याण की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं। जो आस्रव का निरोध नहीं करते उनका इस दुरंत संसार में पतन ही होता है। ऐसा उपदेश करते हैं :-

विश्रातङ्कविमुक्तमुक्तिनिलयद्रङ्गाग्रिमाप्त्युन्मुखः,
सद्गत्नोच्चयपूर्णमुद्भटविपद्धीमें भवाम्भोनिधौ।
योगच्छिद्रपिधानमादधदुरूद्योगः स्वपोतं नयेन्नो,
चेन्मङ्क्ष्यति तत्र निर्भरविशत्कर्माम्बुभारादसौ।।७१।।

अनंतचतुष्टयरूप अवस्था को मुक्ति कहते हैं। जो व्यक्ति इस अवस्था को प्राप्त करके परमात्मा बन गये हैं उन्हें मुक्ति का धाम या आश्रम समझना चाहिये। यह मुक्तिधाम संपूर्ण नगरों में प्रधान तथा समस्त आतङ्को - आपत्तियों और विपत्तियों के द्वारा हृदय में होनेवाले क्षोभों से सर्वथा रहित है। किन्तु इस स्थान को प्राप्त करने के लिये संसाररूपी समुद्र को पार करना पड़ता है। अतएव जो साधु उस स्थान को प्राप्त करने के लिये अभिमुख हुए हों उन्हें महान् उद्योग करके - दश प्रकार के धर्म और आठ प्रकार की

शुद्धियों में विपुल उत्साह को धारण करके अप्रमत्तसंयत का होकर प्रशस्त रत्नो के समूह से भरे हुए - सम्यग्दर्शनादिक गुणों से परिपूर्ण अपने आत्मरूपी जहाज को उसके छिद्रों के समान योगों को रोककर जिनका कोई प्रतिकार नहीं किया जा सकता ऐसी विपत्तियों से भयंकर इस संसाररूपी समुद्र से पार कर देना चाहिये। क्योंकि यदि योगरूपी छिद्रों को रोका न जायेगा तो उनके द्वारा झरझर भरते हुए कर्मरूपी जल के भार से वह आत्मारूपी जहाज संसारसागर में अवश्य ही डूब जायगा।

इस प्रकार विचार करनेवाले साधु के उत्तमक्षमादिक धर्मों के विषय में कल्याणकारिणी बुद्धि स्थिर होती है।

क्रमप्राप्त संवरभावना का स्वरूप बताने के लिये
उसके गुणों का विचार करते हैं :-

कर्मप्रयोक्तृपरतन्त्रतयात्मरङ्गे
प्रव्यक्तभूरिरसभावभरं नटन्तीम्।
चिच्छक्तिमग्रिमपुमर्थसमागमाय
व्यासेधतः स्फुरति कोपि परो विवेकः।।७२।।

जिस प्रकार लोक में नृत्यकर्म के प्रयोक्ता नटाचार्य के अधीन होकर रंगभूमि में नटी श्रृंगारादि नाना प्रकार के रसों और भावों के अद्‌भुत चमत्कार को दर्शकों के सम्मुख प्रकट करती हुई नृत्य किया करती है किन्तु जो पुरुष उत्तम पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिये उसका परिहार कर देते हैं उन्ही को विवेकी - हिताहित का विचारशील समझा जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय के वश में पड़कर आत्मा की रंगभूमि में अनेक प्रकार के रसों और भावों के लोकोत्तर चमत्कार को परीक्षकों के सम्मुख प्रकट करते हुए नृत्य करनेवाली चेतनाशक्ति का उत्कृष्ट पुरुषार्थ मोक्ष अथवा धर्म को प्राप्त करने के लिये परिहार कर देते हैं उन्हीं के अनिर्वचनीय और उत्कृष्ट विवेक - शुद्धोपयोग में स्थिरता प्रकट हो सकती है।

भावार्थ :- कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले किन्तु नवीन कर्मों के ग्रहण करने

में कारण आत्मप्रदेश परिस्पंदरूप योग का निरोध कर देनेवाले ही उस शुद्धपयोगी स्थिरता को प्राप्त कर सकते हैं जिससे कि मोक्षपुरुषार्थ की सिद्धि हो सकती है।

कर्मों के रोकने को अथवा उसके उपायों को संवर कहते हैं। वह शुद्ध सम्यग्दर्शनादिके भेद से अनेक प्रकार का है। जो साधु इन प्रकारों के द्वारा आस्रव के मिथ्यात्वादिक भेदों का निरोध कर देता है उसको जो अशुभ कर्मों का संवरणरूप मुख्य फल और संपूर्ण संपत्तियों के प्राप्त करने की योग्यतारूप आनुषंगिक फल प्राप्त होता है उसको बताते हैं :-

मिथ्यात्वप्रमुखद्विषद्बलमवस्कन्दाय दृप्यद्बलं
राद्धु शुद्धसुदर्शनादिसुभटान् युञ्जन् यथास्वं सुधीः।
दुष्कर्मप्रकृतीर्न दुर्गतिपरीवर्तैकपाकाः परं
निःशेषः प्रतिहन्ति हन्त कुरुते स्वं भोक्तुमुक्ताः श्रियः।।७३।।

जिस प्रकार प्रतिपक्षियों के ऊपर विजय प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाला कोई भी विद्याविनीतमति नायक उस शत्रुओं के बल का निरोध करने के लिये कि जिसके पराक्रम का अहमहमिका से और गर्व के साथ बढ़ना अपने महत्त्व को नष्ट कर दने के लिये हो, यथायोग्य सुभटों की योजना करता है - जैसे शत्रु की तरफ योद्धा हों वैसे ही वीर योद्धाओं की योजना ही अपने यहाँ भी कर लेता है। क्योंकि ऐसा करने पर वह दारिद्र्यादि दुःखों का फल भुगानेवाले संपूर्ण अमात्यादिकों का नाश कर देता है। इतना ही नहीं किन्तु अपने ऊपर विजयलक्ष्मी अथवा अभ्युदय संपत्तियों को उत्कण्ठित भी बना लेता है। इसी प्रकार जो विचारशील मुमुक्षु अपने ऊपर शुद्धात्मस्वरूप का घात करने के लिये बढ़ रहा है पराक्रम जिनका ऐसे मिथ्यात्वप्रभृति शत्रुओं के बल का निरोध करने के लिये यथायोग्य शुद्ध समयग्दर्शनादिक सुभटों की योजना करता है। वह न केवल नरकादिकों में परिभ्रमण करना ही है फल जिनका ऐसी संपूर्ण पापप्रकृतियों को ही नष्ट करता है, किन्तु हर्ष के साथ कहना पड़ता है कि वह देवेन्द्र - नरेन्द्रादिकों की विभूतियों अथवा मोक्षलक्ष्मी को भी अपना उपभोग करने के लिये अपने ऊपर उत्कण्ठित बना लेता है।

भावार्थ :- जो साधु सम्यग्दर्शन के द्वारा मिथ्यात्व का, ज्ञान के द्वारा अज्ञान का,

समिति के द्वारा अविरति का, संयम के द्वारा इन्द्रियासंयम का, व्रतों के द्वारा प्राणासंयम का, उत्साह के द्वारा प्रमाद का और क्षमा के द्वारा क्रोध का तथा मार्दव के द्वारा मान का या आर्जव के द्वारा माया का अथवा शौच के द्वारा लोभ का तथा इसी प्रकार अन्य भी यथायोग्य उपायों से आस्रव के भेदों का निरोध कर देता है; उसके संपूर्ण पापकर्मों का नाश हो जाता है और अभ्युदयों की सिद्धि होती है।

ऐसा विचार करते रहनेवाला साधु निरंतर संवर करने में प्रयत्नशील बना रहता है।

निर्जरा के स्वरूप का विचार करने के लिये
उसका फल प्रगट करते हैं :-

यः स्वस्याविश्य देशान् गुणपविगुणतया भ्रश्यतः कर्मशत्रून्
कालेनोपेक्षमाणः क्षयमवयवशः प्रापयंस्तप्तुकामान्।
धीरस्तैस्तैरुपायैः प्रसभमनुषजत्यात्मसंपद्यजस्रं
तं बाहीकश्रियोङ्कं श्रितमपि रमयत्नयान्तरश्रीः कटाक्षैः।।७४।।

जो मुमुक्षु सम्यग्दर्शनादिक गुणों की विगुणता - मिथ्यादर्शनादिरूप परिणति के द्वारा अपने प्रदेशों - कर्मों के द्वारा मलीमस हुए चेतना के अंशों में अनुप्रवेश करके यथासमय स्वयं भ्रष्ट होते हुए - उदय में आकर और फल देकर आत्मा से संबंध छोड़कर निर्जीर्ण होते हुए कर्मरूपी शत्रुओं की उपेक्षा कर देता है, और जो कर्म अपना फल देने के लिये उन्मुख हैं उनका उन अनशन अवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान आदि प्रसिद्ध उपायों के द्वारा खण्ड खण्ड करके प्रयोगपूर्वक क्षय कर देता है, तथा परीषह और उपसर्गों के द्वारा क्षोभ को प्राप्त न होकर आत्मसंपत्ति में ही निरंतर आसक्त रहता है उसके तपोतिशय की गृद्धिरूप बाह्यलक्ष्मी की गोद में बैठे रहने पर भी उससे अंतरंगलक्ष्मी अनंतज्ञानादि विभूति कटाक्षों के द्वारा रमण किया करती हैं।

भावार्थ :- जो साधु यथासमय स्वयं पककर गलनेवाले कर्मों की संवरपूर्वक निर्जरा कर देता है तथा औपक्रमिक कर्मों का अंशतः क्षय करता हैं उस तपस्वी को शीघ्र ही अंतरंगलक्ष्मी प्राप्त हो जाती है।

निर्जरा दो प्रकार की हुआ करती है - एक बंधसहभाविनी, दूसरी संवरसहभाविनी। पहले प्रकार की निर्जरा अनादिकाल से होती आ रही है। उसके फल को कहते हुए दूसरे प्रकार की निर्जरा का फल जो आत्मध्यान ही है उसके लिये प्रतिज्ञा करते हैं :-

भोजं भोजमुपात्तमुज्झति मयि भ्रान्तेल्पशोनल्पशः
स्वीकुर्वत्यपि कर्म नूतनमितः प्राक् को न कालो गतः।
संप्रत्येष मनोऽनिशं प्रणिदधेऽध्यात्मं न विन्दन्बहि -
र्दुःखं येन निरास्रवः शमरसे मज्जनभजे निर्जराम्।।७५।।

अबतक मेरा जो काल व्यतीत हुआ है उसके प्रत्येक क्षण में मैंने संचित कर्मों के भोग भोगकर छोड़े तो थोड़े परंतु अनादि मिथ्यात्व के संस्कार के वश में पड़कर शरीर और आत्मा में एकत्व का निश्चय करके नवीन कर्मों का ग्रहण अधिक प्रमाण में किया। अबतक मेरे बंधसहभाविनी ही निर्जरा हुई है जिससे कि प्रत्येक क्षण में कर्मों की जितनी निर्जरा हुई थी उसकी अपेक्षा कहीं अधिक कर्मों का बंध होता रहा है। क्योंकि नरकादिकों में कर्म के वश से होनेवाली अबुद्धिपूर्वक निर्जरा का नाम ही अकुशलानुबंधिनी प्रसिद्ध है। इस प्रकार अबतक की निर्जरा का फल बंध ही रहा है। अतएव अब मैं स्वस्वरूप का प्रत्यक्ष हो जानेपर अपने मन को आत्मस्वरूप में ही नियुक्त रक्खूंगा। जिससे कि परीषह और उपसर्गादिकों के द्वारा होनेवाले दुःखों की तरफ बेखबर रहकर और पूर्वकृत अशुभकर्मों के आस्रव का निरोध करके तथा प्रशमसुख में निमग्न रहकर कर्मों के एकदेश क्षयरूप निर्जरा को कर सकूँ। इस संवरसहभाविनी निर्जरा को कुशलानुबंधिनी भी कहते हैं। यह परीषहों का विजय करने पर होती है। अतएव इसके लिये आत्मस्वरूप की तरफ ही मन को सदा प्रवृत्त रखना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से ही वास्तविक कर्मों की निर्जरा और प्रशमसुख की प्राप्ति हो सकती है।

इस प्रकार निर्जरा के गुण और दोषों का विचार करनेवाला साधु कुशलानुबंधिनी निर्जरा के लिये हुआ करता है।

लोकानुप्रेक्षा क्रमप्राप्त है। अतएव लोक और अलोक के स्वरूप का निरूपण करके

उसका विचार करने से जो निजात्मस्वरूप के प्राप्त करने की योग्यता उत्पन्न होती है उसको बताते हैं :-

जीवाद्यर्थचित्तो दिवर्धमुरजाकारस्त्रिवातीवृतः,
स्कंधः खेऽतिमहाननादिनिधनो लौकः सदास्ते स्वयम्।
नृन् मध्येत्र सुरान् यथायथमधः श्वाभ्रांस्तिरश्चोभितः,
कर्मोद र्चिरुपप्लुतानधियतः सिद्ध्यौ मनो धावति।।७६।।

जहाँ पर जीवादिक पदार्थ देखने में आवें उसको लोक कहते हैं। बहुत से लोग समझते हैं कि यह लोक शूकर की डाढ़ पर या गौ की पूंछ पर अथवा कछुए की पींठ पर या शेष नाग के फण पर ठहरा हुआ है। कोई कोई समझते हैं कि यह सदा से नहीं है - कभी न कभी किसी न किसी ने इसको बनाया था और कभी नष्ट भी हो जायगा किन्तु यह बात नहीं है, यह सदा से और स्वयं आकाश में ठहरा हुआ है। कभी किसीने इसको न तो धारण ही किया और न उत्पन्न ही किया है। यह जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल इन छह द्रव्यों से व्याप्त है। अथवा इन छह द्रव्यों के समूह को ही लोक समझना चाहिये। आधे मृदंग को खड़ा रखकर उसके मुखपर पूरा मृदंग खड़ा करने से जैसा आकार बने वैसा ही इसलोक का आकार है। अथवा इसलोक के तीन भेद हैं। अधोलोक ऊर्ध्वलोक और मध्यलोक। वेत्रासन के आकार अधोलोक, मृदंग के आकार ऊर्ध्वलोक, और झल्लरी के आकार मध्यलोक है। यह संपूर्ण लोक घनोदधि घनवात और तनुवात इन वातवलयों से इस प्रकार सर्वत्र वेष्टित है जैसे कि तीन त्वचाओं से वृक्ष वेष्टित रहा करता है। संपूर्ण द्रव्यों का समुदायरूप यह लोक अत्यंत महान् है। इसमें ऊँचाई, मोटाई और चौडाई तीनों बाते पाई जाती हैं। इस धनरूप आकार से लोक का कुल विस्तार तीनसौ तैंतालीस राजू का होता है। इस प्रकार अत्यंत विपुल यह लोक सृष्टि और संहार से सर्वथा रहित है। जैसा कि कहा भी है कि :-

लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिब्बंधो।
जीवाजीवेहिं फुढो सव्वागासऽवयवो णिच्चो।।

इस लोक के अधोभाग में नरक हैं, जहाँ पर कर्मों के उदयरूप अग्नि से संतप्त नारकी निवास करते हैं। ऊर्ध्वभाग में स्वर्ग है जहाँ पर कि वैमानिकदेव रहते हैं। ये देव भी ज्ञानावरणादि पापकर्मों की उदयाग्नि से दग्ध ही रहा करते हैं। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्रों में से ढाईद्वीप और दो समुद्रों का मनुष्यक्षेत्र है जिसका प्रमाण ४५ लाख योजन का होता है। मनुष्य इसी क्षेत्र में रहते हैं। कर्मोदय के संतापसे ये भी बचे हुए नहीं हैं। ये भी तापत्रय से पीड़ित ही हैं। इनके सिवाय तिर्यंचजीव सर्वत्र भरे हुए हैं। वैमानिक देवों के सिवाय शेष देवों के स्थान भिन्न स्थानों में हैं। नागकुमारादिक नवप्रकार के भवनवासीदेव इस पृथ्वी के खरभाग में रहा करते हैं, असुरकुमार और राक्षस पंकभाग में रहा करते हैं। तथा व्यंतरों का निवास चित्रा और वज्रा पृथ्वी के संधिस्थान से लेकर मेरु पर्वत और तिर्यक् भी सर्वत्र है। ज्योतिषीदेवों का स्थान इस भूमि से सातसौ नब्बे योजन ऊपर जाकर आकाश में है।

इस प्रकार जो साधु इस लोक के स्वरूप का और उसमें सर्वत्र यथायोग्य स्थानों में रहनेवाले किन्तु कर्मोदय की अग्नि से सदा संतप्त रहनेवाले देव नारकी मनुष्य और तिर्यंच जीवों का ध्यान करता है उसका मन सिद्धि के लिये दौड़ने लगता है। वह इस लोक के बाहर सिद्धक्षेत्र - लोक के अग्रभाग को अथवा निज - आत्मस्वरूप क्षेत्र को पाने का विचार करने लगता है। अतएव मुमुक्षु साधुओं को इस लोक के स्वरूप का विचार निरंतर करते रहना चाहिये।

जो साधु लोक के स्वरूप का भले प्रकार विचार करता रहता है उसके संवेगगुण की सिद्धि होती है। जिससे कि मुक्ति प्राप्त करने की सामर्थ्य उसमें प्रकट हो जाती हैं। इसी बात को बताते हैं :-

लोकस्थितिं मनसि भावयंते यथावद्
दुःखार्तदर्शनविजृम्भितजन्मभीतेः।
सद्धर्मतत्फलविलोकनरञ्जितस्य
साधोः समुल्लसति कापि शिवाय शक्तिः।।७७।।

इस प्रकार साधु जो उपर्युक्त लोक के स्वरूप का अपने मन में बार बार और यथावत् विचार करता रहता है उसको दु:खों से पीड़ित रहनेवाले लोकों का अवलोकन करने के कारण संसार से भय उत्पन्न होता है जिससे कि शुद्धात्मा के अनुभवरूप श्रेष्ठ धर्म तथा उसके परमानन्दरूप फल में उसको अनुराग होता है। इस संसार से भीरुतारूप संवेग और धर्म के अनुराग से ही उस साधु के मोक्ष को प्राप्त करने के लिये वह शक्ति प्रकट हो जाती है जो कि अलौकिक तथा अननिर्वचनीय है।

जो इस प्रकार निरंतर विचार करता रहता है उसके तत्त्वज्ञान की विशुद्धि हुआ करती है।

क्रमप्राप्त बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं :-

जातोत्रैकेन दीर्घं घनतमसि परं स्वानभिज्ञोऽभिजानन्
जातु द्वाभ्यां कदाचित्त्रिभिरहमसकृज्ज्जातुचित्खैश्चतुर्भि:।
श्रोत्रान्तै: कर्हिचिच्च क्वकचिदपि मनसानेहसीदृङ्नरत्वं
प्राप्तो बोधिं कदापं तदलमिह यते रत्नवज्जन्मसिंधौ।।७८।।

मैंने अतएव आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ रहकर पर पदार्थों को ही अपना समझा। इसीलिये चिरकाल तक मैं मिथ्यास्वरूप निबिड़ अंधकार से व्याप्त निगोतादि स्थानों में एकेन्द्रिय होकर उत्पन्न हुआ और इसी तरह अनंतकाल मैंने वहाँ पर व्यतीत कर दिया। कभी कभी स्पर्श और उस गुण से प्रधानतया युक्त परद्रव्य को आत्मस्वरूप समझकर मैं लट वगैरह द्विन्द्रिय जीवस्थानों में भी उत्पन्न हुआ। और चिरकाल तक उन अंधकारमय स्थानों में ही बना रहा। इसी प्रकार अनंत बार पिपीलिकादि स्थानोंमें भी मैं उत्पन्न हुआ जहाँ पर कि स्पर्शन रसन और घ्राण ये तीन ही इन्द्रियाँ पाई जाती हैं। अनेक बार श्रोत्रेन्द्रिय को छोड़कर बाकी चार इन्द्रियों से युक्त भ्रमरादिक पर्यायों में भी मैं उत्पन्न हुआ। कदाचित् श्रोत्रेन्द्रिय से भी युक्त किन्तु मन से रहित गोरहरादि असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यायों में भी मैं उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार अनेक बार संज्ञी पंचेन्द्रिय भी हुआ, कदाचित् मनुष्य भी हुआ। किन्तु इन सभी पर्यायों में मैं आत्मस्वरूप से पराङ्मुख ही रहा। मैंने पर पदार्थों को कभी

स्पर्शप्रधान कभी स्पर्शरसप्रधान कभी स्पर्शरसगंधप्रधान तो कभी स्पर्शरसगंधवर्ण चारों गुणों से युक्त पुद्गलद्रव्यको ही अपना स्वरूप समझा। प्रायः विना इच्छा के किन्तु कभी कभी - मनुष्यादि पर्यायों में इच्छासहित भी मैं उत्पन्न हुआ परंतु मिथ्यात्व के निबिड़ अंधकार में ही पड़ा रहा। क्या मैंने कभी भी इस उत्तम कुल प्रशस्त जाति आदि से युक्त मनुष्य पर्याय को पाकर रत्नत्रय को भी पाया है ? नहीं, कभी नहीं। क्योंकि जिस प्रकार समुद्र में बहुमूल्य रत्न का मिलना अत्यंत दुर्लभ है उसी प्रकार रत्नत्रय को पाना भी अत्यंत दुर्लभ है। अतएव जन्ममरणरूप इस संसारसमुद्र में इस दुर्लभ रत्नत्रय को ही पाने का मुझे यथेष्ट प्रयत्न करना चाहिये।

यदि पाया हुआ यह रत्नत्रय कदाचित् प्रमाद से क्षण के लिये भी छूट गया तो उसी क्षण में ऐसे कर्मों का बंध होगा कि जिनका उदय होते ही मुझे उनके वश में पड़कर दुःखों का ही अनुभव करना पड़ेगा। फिर उस रत्नत्रय का मिलना और भी अधिक कष्टसाध्य हो जायगा। इसी बात को बताते हैं :-

दुष्प्रापं प्राप्य रत्नत्रयमखिलजगत्सारमुत्सारयेयं
नो चेत्प्रज्ञापराधं क्षणमपि तदरं विप्रलब्धोक्षधूर्तैः।
तत्किंचित्कर्म कुर्यां यदनुभवमवत्क्लेशसंक्लेशसंविद्
बोधेर्विन्देय वार्तामपि न पुनरनुप्राणनास्याः कुतस्त्याः।।७९।।

संपूर्ण संसार में सारभूत और दुर्लभ इस रत्नत्रय को पाकर यदि मैंने प्रज्ञापराध को नहीं छोड़ा और क्षणमात्र के लिये भी उसको - प्रमादरूप आचरण को धारण किया तो अवश्य ही मैं उन इन्द्रियरूपी धूर्तों से ठगा जाऊंगा और शीघ्र ही मेरे उस दारुण कर्म का संचय होगा कि जिनके उदय से होनेवाले क्लेश और संक्लेश दोनों का ही मुझे अनुभव करना पड़े। इन भावों का अनुभव करने पर सम्यग्दर्शनादिका पुनरुज्जीवन तो कहाँ, उसकी बात भी मैं न पा सकूंगा। अतएव रत्नत्रय को पाकर मुझे प्रतिसमय ऐसी सावधानता रखनी चाहिये कि जिससे क्षणमात्र के लिये भी वह छूट न जाय।

भावार्थ :- एक निगोद शरीर में सिद्धराशि से अनंतगुणे जीव रहा करते हैं। ऐसे

ही स्थावर जीवों से यह संपूर्ण लोक खचाखच भरा हुआ है। इसमें त्रसता पंचेन्द्रियत्व मनुष्यत्व देश कुल इन्द्रिय आरोग्य और सद्धर्म की संपत्ति का प्राप्त करना उत्तरोत्तर कठिन है; तब उक्त संपूर्ण बातों का मिलना तो और भी कठिन है। किन्तु इन सब बातों के मिलनेपर भी समाधिमरण का होना बहुत ही कठिण है। रत्नत्रय का फल भी समाधिमरण ही है। अतएव सम्यग्दर्शनादिक का प्राप्त हो जाना भी समाधिमरण के हो जानेपर ही सफल हो सकता है।

इस प्रकार रत्नत्रय की दुर्लभता के विचार करते रहने को ही बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कहते हैं। जो साधु इस प्रकार निरंतर विचार करता रहता है वह उसकी रक्षा में सावधान रहता है। वह दुर्लभ रत्नत्रय को पाकर एक क्षण के लिये भी ऐसा प्रमाद नहीं करना चाहता जिससे कि उसकी रंचमात्र भी मलिनता हो सके।

क्रमप्राप्त धर्मस्वाख्यातत्त्व नाम की बारहवीं अनुप्रेक्षा का वर्णन करने के लिये केवलि भगवान के द्वारा निरूपित और तीन लोक में अद्वितीय मंगलरूप तथा संपूर्ण लोक में उत्तमधर्म के प्रकट होने की आशा करते हैं :-

लोकालोके रविरिव करैरुल्लसन् सत्क्षमाद्यैः
खद्योतानामिव घनतमोद्योतिनां यः प्रभावम्।
दोषोच्छेदप्रथितमहिमा हन्ति धर्मान्तराणां
स व्यख्यातः परमविशदख्यातिभिः ख्यातु धर्मः।।८०।।

संपूर्ण पदार्थों की विशेषताओं को स्पष्टतया प्रकाशित करने में कुशल और उत्कृष्ट ज्ञान के धारण करनेवाले सर्वज्ञ भगवान् ने चौदह गुणस्थानों में गति आदिक चौदह मार्गणास्थानों में जो आत्मतत्त्व का विचार होता है उसको अथवा वस्तुओं के यथावत् स्वरूप को व्यवहार और निश्चय दोनों ही नयों से समीचीन धर्म बताया है। मैं चाहता हूँ कि सभी जीवों के तथा मेरे भी यह धर्म उद्भूत हो और सदा प्रकाशमान बना रहे। क्योंकि मिथ्यात्वरूपी निबिड़ अंधकार में नाम मात्र को प्रकाश करनेवाले खद्योतों के समान वेदादि निरूपित धर्मों के माहात्म्य को नष्ट करनेवाला धर्म यही है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होनेपर खद्योतों का प्रकाश नष्ट हो जाता है उसी प्रकार इस धर्म के प्रकट

होते ही इतर धर्मों का महत्त्व हृदय में से नष्ट हो जाता है। और जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों के द्वारा चकवा चकवी के आलापों को उल्लसित किया करता है उसी प्रकार यह धर्म भी अपने उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव आदि किरणों के द्वारा भव्यजीवों के अंतरंग में सम्यग्दर्शन को प्रकाशित किया करता है। जिस प्रकार सूर्य का महत्त्व रात्रि को नष्ट कर देने में प्रख्यात हैं उसी प्रकार इस धर्म का माहात्म्य भी रागद्वेषादिक दोषों के निर्मूल करने में प्रसिद्ध है।

अहिंसा ही एक ऐसा धर्म है कि जिसका फल अक्षयसुख है। अतएव इस धर्म को ही सबसे अधिक दुर्लभ, संपूर्ण शब्दब्रह्म - सिद्धांतवचनों का प्राण समझना चाहिये। इसी बात को प्रकट करते हैं :-

सुखमचलमहिंसालक्षणादेव धर्माद्
भवति विधिरशेषोप्यस्य शेषोऽनुकल्पः।
इहभवगहनेसावेव दूरं दुरापः
प्रवचनवचनानां जीवितं चायमेव।।८१।।

अंतरंग में रागद्वेषादि का उत्पन्न न होना इसको अहिंसा कहते हैं। अविनश्वर सुख की प्राप्ति इस अहिंसाधर्म से ही हो सकती है। इसके सिवाय सत्यवचन अचौर्यप्रवृत्ति और ब्रह्मचर्य आदि जिन जिन धर्मों का आगम में विधान किया गया है वे सब इस अहिंसाधर्मके ही अनुयायी हैं। क्योंकि उनके द्वारा द्रव्य अथवा भावरूप अहिंसाका ही समर्थन किया जाता है। अतएव इस संसाररूपी वन में यह अहिंसाधर्म ही अत्यंत दुर्लभ है। इसको संपूर्ण प्रवचन वचनों का प्राण समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।

जो मुमुक्षु इस प्रकार निरंतर धर्म के वास्तविक स्वरूप का और फल का विचार करता रहता है उसके उस धर्म में अनुराग होता और बढ़ता रहता है।

इस प्रकार बारह भावनाओं का वर्णन करके अंत में इस बात का उपदेश देते हैं कि जो साधु इन संपूर्ण अनुप्रेक्षाओं का अथवा इनमें जो कोई भी उसे इष्ट हों उन एक दो का भी ध्यान करता रहता है उसके इन्द्रियों का मन का प्रसार होना रुक जाता है तथा आत्मस्वरूप में अपनी आत्मा का स्वयं संवेदन होने लगता है। जिससे कि वह कृतकृत्य होकर जीवन्मुक्त अवस्था को और अंत में परममुक्ति को भी प्राप्त कर लेता है :-

इत्येतेषु द्विषेषु प्रवचनदृगनुप्रेक्षमाणोऽध्रुवादिष्वद्धा
यत्किंचिदन्तःकरणकरणजिद्वेत्ति यः स्वं स्वयं स्वे।
उच्चैरुच्चैःपदाशाधरभवविधुराम्भोधिपारात्पिराजत्का -
र्तार्थ्यः पूतकीर्ति प्रतपति स परैः स्वैर्गुणैलोकमूर्ध्नि।।८२।।

परमागम ही हैं नेत्र जिसके ऐसा जो मुमुक्षु अनित्य अशरण संसार एकत्व अन्यत्व अशुचित्व आस्रव संवर निर्जरा लोक बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्व इन बारह अनुप्रेक्षाओंमें से जिनका कि स्वरूप ऊपर लिखा जा चुका है, यथारुचि एक अनेक अथवा सभी का तत्वतः ध्यान करता है वह मन और इन्द्रियाँ दोनों पर विजय प्राप्त करके आत्मा में ही आत्मा का स्वयं अनुभव करने लगता हैं। तथा जहाँ पर महर्द्धिकदेव चक्रवर्ती इन्द्र अहमिन्द्र और गणधर तथा तीर्थंकरनाम के उन्नतोन्नत पदों को प्राप्त करने की अभिलाषा लगी हुई है और इसीलिये जो निन्द्य समझा जाता है ऐसे संसार के दुःखसमुद्र से पार पहुँचकर शोभमान - कृतार्थ - कृतकृत्यता को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि संसार के संपूर्ण पदों से संतोष हो जाने को कृतकृत्यता कहते हैं। वह संसार के उस पार ही प्रकाशमान है। इस प्रकार वह मुमुक्षु पवित्र यश और वचनों को धारण करके जीवन्मुक्त बनकर अंत में अपने - आत्मिक - सिद्ध अवस्था में प्रकट होनेवाले सम्यग्दर्शनादिक उत्कृष्ट गुणों के द्वारा तीनों लोकों के ऊपर - लोक के अंत में प्रदीप्त होता है।

दुःखों का अनुभव किये बिना यदि ज्ञान का अभ्यास किया जाय तो प्रायः दुःखों के उपस्थित होते ही नष्ट भ्रष्ट - आत्मानुभव से च्युत हो सकता है। अतएव मुनियों को चाहिये कि वे आत्मा का ध्यान या विचार अपनी शक्ति के अनुसार दुःखों के साथ साथ ही किया करें। जैसा कि कहा भी है कि :-

अदु:खभावितं ज्ञानं क्षीयते दु:खसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दु:खैरात्मानं भावयेन्मुनि:।।

इसी बात को ध्यान में रखकर अनुप्रेक्षाओं के अनंतर परीषहों का वर्णन करने के लिये उनकी विशेष संख्या को अंतर्गर्भित करके उनका सामान्य लक्षण बताते हुए इस बात का निर्देश करते हैं कि इन क्षुत्पिपासा आदि परीषहों का विजय कैसा व्यक्ति कर सकता है :-

दु:खे भिक्षुरुपस्थिते शिवपथाद्भ्रश्यत्यदु:खश्रितात्
तत्तन्मार्गपरिग्रहेण दुरितं रोद्धुं मुमुक्षुर्नवम्।
भोक्तुं च प्रतनं क्षुदादिवपुषो द्वाविंशतिं वेदना:
स्वस्थो यत्सहते परीषहजय:साध्य: स धीरै: परम्।।८३।।

यदि संयमी साधु विना दु:खों का अनुभव किये ही मोक्षमार्ग का सेवन करे तो वह उसमें दु:खों के उपस्थित होते ही भ्रष्ट हो सकता है। अतएव साधुओं के लिये परीषहों को जीतने का उपदेश है। जैसा कि कहा भी है कि :-

परिषोढव्या नित्यं दर्शनचारित्ररक्षणे नियता:।
संयमतपोविशेषास्तदेकदेशा: परीषहाख्या: स्यु:।।

अतएव जो मुमुक्षु समीचीन ध्यानरूपी मोक्षमार्ग को स्वीकार करके उसके द्वारा नवीन दुष्कर्मों का निरोध करने के लिये और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करने के लिये आत्मस्वरूप में स्थिर होकर क्षुधा पिपासा आदि बाईस प्रकार की वेदनाओं को सहता है उसीको परीषह-विजयी कहते हैं। धीर पुरुष ही परीषहविजय को सिद्ध कर सकते हैं। जो दु:खों के उपस्थित होनेपर रंचमात्र भी कायरता प्रकट नहीं करते ऐसे धीर पुरुष ही परीषहविजय को सिद्ध कर सकते हैं।

भावार्थ :- क्षुधादिक वेदनाओं के परीषह और आत्मस्थ होकर उनके सहने को

परीषह विजय कहते हैं। धीर व्यक्ति ही इस विजय को सिद्ध करने का अधिकारी है। और इसका फल नवीन कुकर्मों का संवर तथा प्राचीन कर्मों की निर्जरा होना है। अतएव मुमुक्षुओं को कायरता छोड़कर परीषहों पर विजय प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने पर ही संवर और निर्जरा के सिद्ध हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

बालकों की व्युत्पत्ति कराने के लिये परीषहों का सामान्य लक्षण फिर से विस्तारपूर्वक बताते हैं :-

शारीरमानसोत्कृष्टबाधहेतून् क्षुदादिकान्।
प्राहुरन्तर्बहिर्द्रव्यपरिणामान् परीषहान्।।८४।।

अंतरंग द्रव्यजीव के क्षुधा पिपासा आदि परिणामों को और बाह्य द्रव्यपुद्गल के शीत उष्णता आदि जो शारीरिक अथवा मानसिक उत्कृष्ट बाधाओं के कारण हो ऐसे परिणामों को आचार्य परीषह कहते हैं।

जो आत्मकल्याण के अभिलाषी हैं उनको चाहे जितने विघ्नों के पड़ने पर भी आरब्ध श्रेयोमार्ग से हटना न चाहिये। इस बात की शिक्षा देते हैं :-

स कोपि किल नेहाभून्नास्ति नो वा भविष्यति।
यस्य कार्यमविघ्नं स्यान्नयक्कार्यो हि विधेः पुमान्।।८५।।

जिसका कोई भी कार्य विघ्नरहित हो ऐसा कोई भी पुरुष न तो आजतक हुआ, न वर्तमान में है, और न आगे ही होगा; क्योंकि निश्चय से देव पुरुष का अभिभव ही किया ही करता है। शास्त्र और लोक दोनों ही जगह यह बात प्रसिद्ध है कि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि'। अतएव विचारशील साधुओं को श्रेय साधन का प्रारंभ करके विघ्नों के भय से उसको कभी भी न छोड़ना चाहिये। जैसा कि अन्य लोगों ने भी कहा है।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः, प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति।।

जो साधु दु:ख और परिश्रम से घबड़ा जाता है उसका यह लोक और परलोक दोनों ही भ्रष्ट हो जाते हैं - कहीं भी उसका अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार भय का उद्भावन कर परीषह और उपसर्गों को जीतने के लिये मुमुक्षुओं को उद्युक्त करते हैं :-

विक्लवप्रकृतिर्यः स्यात् क्लेशादायासतोथवा।
सिद्धस्तस्यात्रिकध्वंसादेवामुत्रिकविप्लवः।।८६।।

जो व्याधि आदिक बाधाओं से अथवा परिश्रम से घबड़ा जानेवाला है उसके अभीष्ट - पारलौकिक कल्याण का विनाश निश्चित है। क्योंकि उसकी तीनों बातें नष्ट हो जाती हैं। जिसका फल इसी लोक में प्राप्त करना चाहता है उसका और जिसका फल परलोक में प्राप्त करना चाहता है उसका तथा जो कार्य शुरू किया है उसका इस तरह तीनों ही नष्ट हो जाते हैं।

जिस साधु का मन अत्यंत तीव्र उपसर्गों और परीषहों के बार बार आ पड़ने पर भी विचलित नहीं होता उसीको अभीष्ट नि:श्रेयस पद की प्राप्ति हो सकती है, ऐसा उपदेश देते हैं :-

क्रियासमभिहारेणाप्यापतद्भिः परीषहैः।
क्षोभ्यते नोपसर्गैर्वा योपवर्गं स गच्छति।।८७।।

प्रचुर प्रमाण में और बार बार भी आ पड़नेवाले परीषह तथा उपसर्गों - देव मनुष्य तिर्यंच अथवा अचेतन निमित्त से होनेवाले पीड़ाविशेषों के द्वारा जिसका हृदय क्षुब्ध - चलायमान नहीं होता ऐसा ही मुमुक्षु साक्षात् मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

जिसने परीषहों पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास पहले से ही कर लिया है ऐसा धीर वीर व्यक्ति ही क्रम से घातिकर्मों का क्षय करके लोक के अंत में प्राधान्य को प्राप्त किया करता है :-

सोढाशेषपरीषहोऽक्षतशिवोत्साहः सुदृग्वृत्तभाग्
मोहांशक्षपणोल्वणी कृतबलो निस्सांपरायं स्फुरन्।
शुक्लध्यानकुठारकृत्तबलवत्कर्मद्रुमूलोऽपरं
ना प्रस्फोटितपक्षरेणुखगवद्यात्यूर्ध्वमस्त्वा रजः।।८८।।

जो द्रव्य से पुल्लिंग है और जिसने सबसे पहले क्षुधादिक परीषहों को सह्य बना लिया है। जो इन परीषहों के अथवा उपसर्गों के द्वारा कभी भी अभिभूत नहीं होता और अप्रतिहत तथा प्रतिक्षण बढ़ता हुआ है मोक्ष के लिये उत्साह जिसका एवं क्षायिकसम्यक्त्व और सामायिक छेदोपस्थापन आदि में से किसी भी चारित्र में तन्मय हो जानेवाला क्षपकश्रेणी पर आरोहण करने के लिये उन्मुख हुआ है ऐसा सातिशय अप्रमत्त सम्यग्दृष्टि जीव ही क्रम से मोहनीयकर्म के अंशों - चारित्रमोहनीय की कुछ प्रकृतियों के क्षीण हो जाने से उत्कट सामर्थ्य को धारणकर - अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों को पाकर अकषायता - लोभ के अभाव को प्रकाशित करते हुए शुक्लध्यानरूपी कुठार के द्वारा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय इन तीन बलवान् कर्मरूपी वृक्षों को जड़ से उखाड़कर - जीवन्मुक्त होकर आत्मरूप को आच्छादित करने के लिये धूलि के समान वेदनीय आयु नाम गोत्र इन अघातिकर्मों का निरसन करके ऊर्ध्वगति - लोक के अग्रस्थान को प्राप्त किया करता है। जिस प्रकार यदि किसी पक्षी के पंखों में धूलि लगी हो तो वह उड़ नहीं सकता किन्तु उसके दूर होते ही यथेच्छ उड़कर ऊपर को जा सकता है। इसी प्रकार जीवन्मुक्तरूपी पक्षी अघातिकर्मरूपी धूलि को हटाकर ऊर्ध्वगमन किया करता है।

भावार्थ :- ज्ञानावरणादि बलिष्ठ कर्मों को निर्मूल करने के लिये छेदन करने में कारण शुक्लध्यानरूपी कुठार को जो बताया है वह यद्यपि सामान्य निर्देश है किन्तु उससे एकत्ववितर्क अविचार नामक दूसरा शुक्लध्यान समझना चाहिये। क्योंकि पृथक्त्ववितर्क-विचार नाम का शुक्लध्यान आठवें आदि गुणस्थानों में ही हो जाता है। इसी प्रकार अघातिकर्मों का निरसन व्युपरतक्रियानिवृत्ति नाम के शुक्लध्यान से हुआ करता है। किन्तु यह सब और इसके भी पहले क्षपकश्रेणी का आरोहण तक भी उसी व्यक्ति के हो सकता है

जिसने कि परीषहों और उपसर्गों को जीतने का भलेप्रकार अभ्यास कर लिया है। अतएव मुमुक्षुओं को सबसे पहले इसी का अभ्यास करना चाहिये। यही कारण है कि यहाँ पर मुमुक्षु का सबसे पहला विशेषण 'सोढाशेषपरीषहः' दिया है। इस विशेषण को स्पष्ट करने के लिये सबसे पहले क्षुधापरीषह पर जय प्राप्त करने का विधान करते हैं :-

षट्कर्मीपरमादृतेनरशनाद्यात्यक्रशिम्नोऽशनस्या -
लाभाच्चिरमप्यरं क्षुदनले भिक्षोर्दिधक्ष्यत्यसून्।
कारापञ्जरनारकेषु परवान् योऽभुक्षि तीव्राः क्षुधः
का तस्यात्मवतोऽद्य मे क्षुदियमित्युज्जीव्यमोजो मुहुः।।८९।।

छह आवश्यक क्रियाओं के करने में परम आदरभाव रखनेवाले और अनशनादिक बाह्य तपों के करने से अत्यंत कृशता को प्राप्त हुए भिक्षु - भिक्षान्नवृत्ति करनेवाले संयमी साधु को चिरकाल तक - वर्षभर तक भोजन के न मिलने से यदि क्षुधाबाधारूप अग्नि शीघ्र ही प्राणों को भी दग्ध कर देने के लिये प्रवृत्त हो तो इस प्रकार विचार करके अपने उत्साह को बार बार उद्दीप्त करना चाहिये कि :-

मनुष्यपर्याय में जेलखाने में, तिर्यंचपर्याय के धारण करनेपर पिंजरे आदिक में, और नारकपर्याय के अंदर नरकादिकों में पराधीन होकर जैसी जैसी मैंने तीव्र क्षुधाबाधाएँ सही हैं या मुझे सहनी पड़ीं उनकी अपेक्षा आज, जब कि मैं आत्माधीन - स्वतंत्र हूँ, मेरी यह क्षुधाबाधा तो चीज ही क्या है ? कुछ भी नहीं।

भावार्थ :- चिरकाल तक उपवास करने से जठराग्नि प्राणों को भी दग्ध किया करती है। जैसा कि वैद्यक ग्रंथों में भी लिखा है कि :-

आहारं पचति शिखी दोषानाहारवर्जितः पचति।
दोषाक्षये च धातुन् पचति च धातुक्षये प्राणान्।।

अतएव चिरकाल तक तपस्या और उपवासों के करने से यदि ऐसी भी अवस्था आकर उपस्थित हो जाय तो भी साधुओं को अपने आवश्यक कर्मों और तपोऽनुष्ठानों

से विचलित न होना चाहिये, किन्तु पूर्व जन्मों में भोगी हुई तीव्र आहारबाधाओं का विचार करके वर्तमान बाधा की नगण्यता का विचार कर उक्त आवश्यकों और तपोऽनुष्ठानों में अपने उत्साह को और भी अधिक उद्दीप्त करना चाहिये।

पिपासा परीषह में तिरस्कार प्रकट करते हैं :-

पत्रीवा नियतासनोदवसितः स्नानाद्यपासी यथा -
लब्धाशी क्षपणाध्वपित्तकृदवष्वाणज्वरोष्णादिजाम्।
तृष्णां निष्कुषिताम्बरीषदहनां देहेन्द्रियोन्माथिनीं
संतोषोद्धकरीरपूरितवरध्यानाम्बुपानाज्जयेत्।।९०।।

पक्षियों के समान साधुजन भी एक जगह स्थिर नहीं रहते - वे सदा भ्रमण ही करते रहते हैं। न उनका कोई घर ही नियत है। वनों में या पर्वतों की कंदराओं में अथवा यत्र तत्र बनी हुई वसतिकाओं आदि में ही वे निवास किया करते हैं। पानी के न मिलने पर स्नानादि करने से भी कदाचित् मनुष्यों को शान्तिलाभ हो सकता है। किन्तु साधुजन स्नान अवगाहन परिषेचन शिरोलेपन आदि सभी उपचारों का परित्याग करनेवाले हैं। वे केवल यथाप्राप्त भोजन ग्रहण करते हैं जिससे कि उल्टी तृष्णा - प्यास बढ़ ही सकती है। फिर भी आत्मसिद्धि की साधना में प्रवृत्त हुए साधुओं को उपवास मार्गगमन तथा कडुआ कसेला नमकीन आदि पित्तवर्धक आहार एवं ज्वरजनित संताप और उष्णता या मरुदेशप्रभृति कारणों से उत्पन्न हुई भाडकी अग्निको भी जीतनेवाली और शरीर तथा इन्द्रियों को कदर्थित कर डालनेवाली पिपासा का संतोषरूपी माघमास के बने हुए प्रशस्त घट में प्राप्त उत्कृष्ट धर्म्य और शुक्लध्यानरूपी जल का पान करके शमन कर देना चाहिये।

शीतपरीषह को जीतने का उपाय बताते हैं :-

विष्वक्चारिमरुच्चतुष्पथमितो घृत्येकवासाः पतत्वन्वङ्गं
निशि काष्ठदाहिनि हिमे भावांस्तदुच्छेदिनः।

अध्यायन्नधियन्नधोगतिहिमान्यर्तीर्दुरन्तास्तपो -
बर्हिस्तप्तनिजात्मगर्भगृहसंचारी मुनिर्मोदते।।९१।।

शीतऋतु के दिनों में रात्रि के समय जब कि प्रत्येक प्राणी के ऊपर उस हिम - तुषार का पतन हुआ करता है जिससे कि बड़े-बड़े वृक्ष और वनस्पति भी दग्ध हो जाया करते हैं, मुनिजन उस चौराहे पर जाकर निवास करते हैं जहाँ पर कि चारों ही तरफ की हवा चलती रहती है। उस समय वे साधुजन संतोषरूपी अद्वितीय वस्त्र को धारण करते हैं। किन्तु जिनसे कि शीत की बाधा दूर की जा सकती है ऐसे पूर्वानुभूत पदार्थों का स्मरण भी नहीं किया करते। हाँ, अधोगति - नरकों की तीव्र शीतजनित वेदनाओं का स्मरण अवश्य किया करते हैं। तथा तपस्यारूपी अग्नि से संतप्त हुए अपने आत्मस्वरूप गर्भगृह - तलघर में विहार करते हुए आनंद का अनुभव किया करते हैं।

भावार्थ :- मुख्यतया चार कारणों से शीतपरीषह का निग्रह किया जा सकता है - १ संतोष से, २ पूर्वानुभूत रजाई अंगीठी गंधतैल और केशर आदि का स्मरण न करने से, ३ नरकादिकी शीतवेदनाओं के स्मरण से, ४ आत्मस्वरूप में लीन रहने से।

उष्णपरीषह को सहने का उपाय बताते हैं :-

अनियतविहृतिर्वनं तदात्वज्वलदनलान्तमितः प्रवृद्धशोषः।
तपतपनकरालिताध्वखिन्नः स्मृतनरकोष्णमहार्तिरुष्णसात्स्यात्।।९२।।

साधुओं का विहार अनियत हुआ करता है; क्योंकि वे सदा एक स्थान में अवस्थित नहीं रहा करते। अतएव ग्रीष्मकाल में सूर्य की प्रचण्ड किरणों से संतप्त मार्ग में गमन करने के कारण खेद को प्राप्त हुए और इसीलिये जिनका मुख भीतर से बिलकुल सूख गया है ऐसे साधुजन यदि कदाचित् ऐसे वन में जाकर प्राप्त हो जांय कि जिसके सभी प्रान्तभाग तत्काल लगी हुई अग्नि से जल रहे हों और फिर भी वे अपनी उष्ण बाधा का कुछ भी विचार न कर नरकादिकों में होनेवाली उष्णता की महा वेदनाओं का स्मरण करें तो कहना चाहिये कि वे महामुनि उष्णपरीषह के सहन करनेवाले हैं।

भावार्थ :- ऊपर के श्लोक में नरकों की शीतवेदना का और इस श्लोक में उष्णवेदना का उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि आदि के चार नरकों में और पाँचवें नरक के चार भागों में से तीन भागों में उष्णवेदना हुआ करती है। बाकी पाँचवें नरक के चतुर्थ भाग में और छठ्ठे तथा सातवें नरक में शीतवेदना हुआ करती है।

दंशमशकपरीषह विजय का वर्णन करते हैं :-

दंशादिदंशककृतां बाधामघजिघांसया।
निःक्षोभं महतो दंशमशकोर्मीक्षमा मुनेः।।९३।।

डांस मच्छर मक्खी पिस्सू वर्र ततैया दीमक खटमल कीड़ा मकोड़ा चींटी बिच्छू आदि काटनेवाले जितने कीटक - क्षुद्र प्राणी हैं उनके काटने से उत्पन्न हुई पीड़ा को जो साधु अशुभकर्मोदय का नाश करने की इच्छा से निश्चलचित होकर सहन करता है उसके दंशमशकपरीषह का विजय माना जाता है।

नाग्न्यपरीषह के जीतनेवाले साधुओं का स्वरूप बताते हैं :-

निर्ग्रन्थनिर्भूषणविश्वपूज्यनाग्न्यव्रतो दोषयितुं प्रवृत्ते।
चित्तं निमित्ते प्रबलेपि यो न स्पृश्येत दोषैर्जितनान्यरुक् सः।।९४।।

वामदृष्टि शापाकर्णन कामिनीनिरीक्षण आदि जिनका प्रतिकार नहीं किया जा सकता ऐसे प्रबल कारणों के, मन को मलिन करने के लिये विकार की तरफ ले जाने के लिये प्रवृत्त होनेपर भी जिस साधु को वे दोष छू नहीं पाते और जो वस्त्रादि परीषहों से रहित तथा कटक कुण्डलादि भूषणों से रिक्त एवं संसार के लिये पूज्य नग्नस्वरूप रहने की प्रतिज्ञा में स्थिर रहता है उसीको नग्नपरीषह का विजेता समझना चाहिये।

अरतिपरीषह के जीतने का उपाय बताते हैं :-

लोकापवादभयसद्व्रतरक्षणाक्ष -
रोधक्षुदादिभिरसह्यमुदीर्यमाणाम्।
स्वात्मोन्मुखो धृतिविशेषहृतेन्द्रियार्थ
तृष्णः शृणात्वरतिमाश्रितसंयमश्रीः।।९५।।

इन्द्रियों के विषयों में लगी हुई तृष्णा को विशिष्ट संतोष के द्वारा दूर करके और निज आत्मस्वरूप की तरफ उन्मुख होकर संयम - संपत्ति के धारक - रति का स्मरण दिलानेवाली देखी सुनी अथवा स्वयं अनुभव में आई हुई कथाओं के श्रवण का परित्याग करनेवाले साधुओं को लोकापवाद का भय सद्व्रतों की रक्षा तथा इन्द्रियनिरोध और क्षुधादि कारणों के द्वारा दुःसह रूप से उद्भूत हुई अरति - किसी भी एक शयन अथवा आसनादिक में अवस्थित न रहने का परित्याग करना चाहिये।

यहाँ पर यदि कोई कहे कि चक्षुरादिक सभी इन्द्रियाँ अरति की कारण हैं अतएव अरति की पृथक् ग्रहण करना अयुक्त है, तो वह ठीक नहीं हैं। क्योंकि कदाचित् क्षुधादिका बाधा होनेपर भी केवल कर्मोदय के निमित्त से भी संयम में अरति हो जाया करती हैं।

स्त्री परीषह को सहने का उपदेश देते हैं :-

रागाद्युपप्लुकतमतिं युवतीं विचित्रां
श्चित्तं विकर्तुमनुकूलविकूलभावान्।
संतन्वतीं रहसि कूर्मवदिद्रियाणि
संवृत्त्य लघ्वपवदेत गुरूक्तियुक्तया।।९६।।

रागद्वेष के निमित्त से अथवा यौवन का गर्व रूप का मद विभ्रम या उन्माद और मद्यपान के आवेश से नष्ट हो गई है बुद्धि जिसकी ऐसी युवती स्त्री यदि कदाचित् चित्त

को विकृत बनाने के लिये एकान्त में नाना प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल भावों को करने का सतत प्रयत्न करे तो साधुओं को शीघ्र ही गुरूनिरूपित युक्ति - विधान के अनुसार अपनी इन्द्रियों का कच्छप की तरह संकोच कर उसका निराकरण कर देना चाहिये।

भावार्थ :- जिस प्रकार किसी आघात के उपस्थित होते ही कच्छप अपने हाथ पैर ग्रीवा आदि को संकोच लेता है उसी प्रकार विकृतमति तरुणियों के द्वारा एकान्त में किये गये मन को मलिन करनेवाले विविध प्रकार के अनुकूल प्रतिकूल भावों के आघात के उपस्थित होते ही साधुओं को अपनी इन्द्रियाँ संकुचित कर लेनी चाहिये। ऐसा करने पर ही स्त्रीपरीषह पर विजयलाभ हो सकता है। क्योंकि जो मुनि स्त्रियों के दर्शन स्पर्शन आलाप अभिलाषादि में उत्सुकता नहीं रखता तथा जो उनके नेत्र मुख भौंह आदि के विकारी एवं रूप गमन हसी लीला जम्हाई पीनोन्नतस्तन जघन उरुमूल कांख और नाभि आदि स्थानों के देखने पर भी विकृत मना नहीं होता और जिसने वंशगीतादि के सुनने आदि तौर्यत्रिक का परित्याग कर दिया है वही साधु स्त्रीपरीषह का विजयी कहा जा सकता है।

चर्यापरीषह को सहने का निरूपण करते हैं :-

बिभ्यद्भवाच्चिरमुपास्य गुरून्निरूढ
ब्रह्मव्रतश्रुतशमस्तनुज्ञयैकः।
क्षोणीमटन् गुणरसादपि कण्टकादि
कष्टे सहन्त्यनधियन् शिबिकादिचर्याम्।।९७।।

संसार से उद्विग्न और धर्माचार्यादि गुरुजनों की चिरकाल तक सेवा करने से अत्यंत दृढ़ता को प्राप्त हो गया है ब्रह्मचर्य और शास्त्रज्ञान तथा कषायों का उपशम जिसका ऐसा जो साधु दर्शनविशुद्धि आदि कारणों में अनुराग रखकर गुरुओं की आज्ञा के अनुसार पृथ्वी पर एकाकी विहार करते हुए कांटा खोबरा कंकड पत्थर या और किसी नुकिली चीज के छिद जाने आदि का कष्ट होते हुए भी पूर्वानुभूत पालकी पीनस रथ बैली हाथी घोडा आदि याप्य यान या वाहन आदि किसी भी सवारी का स्मरण नहीं करता उसके

चर्यापरीषह का विजय समझना चाहिये।

निषद्यापरीषह के विजय का स्वरूप बताते हैं :-

भीष्मश्मशानादिशिलातलादौ, विद्यादिनाऽजन्यगदाद्युदीर्णम्।
शक्तोपि भङ्क्तुं स्थिरमङ्गिपीडां, त्यक्तुं निषद्यासहनः समास्ते।।९८।।

भयंकर श्मशान प्रेतवन शून्यग्रह या गिरिकंदरादिक में शिलातल अथवा किसी स्थंडिल प्रदेश पर ध्यान करते समय विद्या मंत्र अथवा औषधि आदि के निमित्त से उद्भूत हुए उपसर्ग या किसी भी तरह की व्याधि को नष्ट करने के लिये स्वयं समर्थ रहते हुए भी जो साधु स्थिर होकर समाधि - वीरासनादिक कायोत्सर्ग से चलायमान नहीं होता उसको ही निषद्यापरीषह का सहन करनेवाला समझना चाहिये।

शय्यापरीषह को जीतने का उपदेश देते हैं :-

शय्यापरीषहसहोऽस्मृतहंसतूल,
प्रायोऽविषादमचलन्नियमान्मुहूर्तम्।
आवश्यकादिविधिखेदनुदे गुहादौ,
न्यस्त्रोपलादिशबले शववच्छयीत।।९९।।

स्वाध्यायप्रभृति आवश्यक कर्मों के करने से उत्पन्न हुए खेद का निराकरण करने के लिये जो साधु विषादरहित होकर 'यह स्थान व्याघ्रादि हिंस्र जंतुओं से व्याप्त है, यहाँ से जल्दी निकल चलना ही अच्छा है, देखें कब रात खतम होती है,' इस तरह की भयपूर्ण आकुलता से रहित होकर नियम - एकपार्श्व से अथवा दण्डवत् लंबे होकर सोने की प्रतिज्ञा से चलायमान न होता हुआ तिकोने गठीले आदि कंकड पत्थरों से व्याप्त पर्वत की गुहा कंदरा आदि में शव की तरह निश्चेष्ट होकर शयन करता है और पूर्वानुभूत

हंसतूलशय्या अथवा आस्तरणादिक स्मरण नहीं करता उस साधु को शय्यापरीषह का विजयी समझना चाहिये।

आक्रोशपरीषह जीतनेवाले का स्वरूप बताते हैं :-

मिथ्यादृशश्चण्डदुरुक्तिकाण्डैः, प्रविध्यतोऽरूंषि मृधं निरोद्धुम्।
क्षमोपि यः क्षाम्यति पापपाकं, ध्यायन् स्वमाक्रोशसहिष्णुरेषः।।१००।।

मिथ्यादृष्टियों के मर्मवेधी अत्यंत अनिष्ट तथा प्रचण्ड दुर्वचनरूपी बाणों का शीघ्र ही प्रतिकार करने में समर्थ रहते हुए भी जो साधु अपने पूर्वसंचित पापकर्म के उदय का स्मरण करके उनपर क्षमा कर देता है उसीको आक्रोश परीषह का विजेता समझना चाहिये।

वधपरीषह के विजय का स्वरूप बताते हैं :-

नृशंसेऽरं क्वचित्स्वैरं कुतश्चिन्मारयत्यपि।
शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिवित्तः स्याद्वधमर्षणः।।१०१।।

यदि कभी कोई चोरप्रभृति नृशंस मनुष्य - क्रूरकर्म करनेवाला आदमी दृष्ट या अदृष्ट किसी भी कारण के वश शीघ्र ही स्वच्छंद होकर मार डालने के लिये तैयार हो उस समय में जो साधु अपने शुद्धात्मद्रव्य के अनुभव से विश्वस्त होकर स्थिर रहता है उसीको वधपरीषह का विजयी समझना चाहिये।

भावार्थ :- जो साधु किसी भी क्रूरजीव के द्वारा अपना प्राणापहार होनेपर भी ऐसा विचार करता है कि यह जीव मेरे शरीर का घात करता है जो कि विनश्वर और दुःखद ही है; किन्तु आत्मस्वरूप ज्ञान का घात नहीं करता जो कि उससे सर्वथा विपरीत अविनश्वर और सुखमय है। उसीको वध बाधा का अबाध विजेता समझना चाहिये।

साधुओं को याचना परीषह जीतने के लिये भी उत्साहित करते हैं :-

भृशं कृशः क्षुन्मुखसन्नवीर्यः, शम्पेव दातृन् प्रतिभासितात्मा।
ग्रासं पुटीकृत्य करावऽयाञ्चा, व्रतोपि गृह्णन् सह याचनार्तिम्।।१०२।।

हे साधो ! प्राण निकल जानेपर भी आहार वसतिका और आदि के लिये मैं किसीसे याचना तो नहीं ही औषध करूँगा किन्तु दीनवचन मुखवैवर्ण्य और शरीर के इशारे आदि से याचना करने का अंतर्गत भाव भी प्रकट न करूँगा, इस प्रकार अयाचनाव्रत का धारण करनेवाला तू, दिखने लगी हैं हड्डी और नसें जिसकी ऐसा अत्यंत कृश होकर भी तथा क्षुधा मार्गगमन तपस्या और रोग आदि के द्वारा अपनी स्वाभाविक शक्ति के क्षीण हो जानेपर भी दानोद्यत गृहस्थों को बिजली के चमत्कार की तरह क्षणमात्र के लिये ही एकबार अपना स्वरूप मात्र दिखाकर दाता के दिये हुए आहार को अपने हस्तपुट - दोनों हाथों को ही पात्र बनाकर ग्रहण करते हुए याचनापरीषह पर विजय प्राप्त कर सकता है।

अलाभपरीषह के विजय का स्वरूप दिखाते हैं :-

निःसङ्गो बहुदेशचार्यऽनिलवन्मौनी विकायप्रती -
कारोऽद्येदमिदं श्व इत्यविमृशन् ग्रामेस्तभिक्षः परे।
बह्वोकःस्वपि बह्वहं मम परं लाभादलाभस्तपः
स्यादित्यात्तधृतिः पुरोः स्मरयति स्मार्तानलाभं सहन्।।१०३।।

जो साधु वायु की तरह निर्ग्रंथ है - किसी भी पदार्थ से संसक्ति नहीं रखता और अनेक देशों में भ्रमण करता रहता है, जो मौनव्रत को धारण करता किन्तु अपने शरीर का कभी भी प्रतिकार नहीं करता है। जो कभी इस प्रकार का संकल्प भी नहीं करता कि आज इस घर में विहार करेंगे और कल उस घर में। जो एक ग्राम में भिक्षा न मिलने पर उसी दिन दूसरे ग्राम में भिक्षा के लिये पर्यटन करने की उत्सुकता नहीं रखता, और अनेक गृहों में तथा अनेक दिनतक आहार मिलते रहने की अपेक्षा न मिलना ही

मेरे लिये उत्कृष्ट तप है, ऐसा समझता है वह परम संतोष को धारण करनेवाला ऋषि ही अलाभपरीषह का जीतनेवाला समझा जाता है। ऐसा साधु अपने इस उत्कृष्ट धैर्य के द्वारा, उन ऋषियों को जो कि परमागमरूप उद्धार शास्त्र के ज्ञाता तथा तदनुसार आचरण करनेवाले हैं; भगवान् आदिनाथ का स्मरण करा देता है।

भावार्थ :- आहार के लाभ से अलाभ को ही श्रेय:साधन समझकर अपने उत्कृष्ट धैर्य से विचलित न होना ही अलाभपरीषह का विजय समझा जाता है।

रोगपरीषह के विजय का स्वरूप बताते हैं :-

तपोमहिन्मा सहसा चिकित्सितुं, शक्तोपि रोगानतिदुस्सहानपि।
दुरन्तपापान्तविधित्सया सुधी:, स्वस्थोधिकुर्वीत सनत्कुमारवत्।।१०४।।

शरीर और आत्मा में भेदज्ञान रखनेवाला जो साधु एकसाथ उपस्थित हुई अत्यंत दुस्सह कुष्टादिक अनेक व्याधियों का विशिष्टतप के बल से प्राप्त हुई जल्लौषधि आदि अनेक ऋद्धियों के द्वारा क्षणमात्र में प्रतिकार करने के लिये समर्थ होते हुए भी प्रतिकार नहीं करता किन्तु सनत्कुमारचक्रवर्ती की तरह दु:खद पापकर्मों का विनाश करने की इच्छा से निराकुल होकर उनकी बाधा का सहन करता है उसको रोगपरीषह का विजयी समझना चाहिये।

तृणस्पर्शपरीषह के सहने का स्वरूप निर्देश करते हैं :-

तृणादिषु स्पर्शखरेषु शय्यां भजन्निषद्यामथ खेदशान्त्यै।
संक्लिष्यते यो न तदर्तिजातखर्जुस्तृणस्पर्शतितिक्षुरेष:।।१०५।।

सूखे तृण पत्ते या कंकरीली भूमि अथवा पत्थर की शिला यद्वा ऐसी कण्टकित भूमि पर जो कि छूने में भी कर्कश मालूम होती है, व्याधि, मार्ग में विहार अथवा ठंडी गर्मी आदि के निमित्त से उत्पन्न हुए श्रम-खेद को दूर करने के लिये शयनासन करनेवाला जो साधु शुष्कतृष्णादिक की पीड़ा से खुजली आदि विकारों के उत्पन्न होनेपर भी उनसे

संक्लिष्ट - खिन्न नहीं होता उसको तृणस्पर्शपरीषह का विजयी समझना चाहिये।

मलपरीषह के विजय को दिखाते हैं :-

रोमास्पदस्वेदमलोत्थासिध्म, प्रायार्त्यवज्ञातवपुः कृपावान्।
केशापनेतान्यमलाग्रहीता, नैर्मल्यकामः क्षमते मलोर्मिम्।।१०६।।

रोमछिद्रों में रहनेवाले प्रस्वेदमल के निमित्त से उत्पन्न हुए दाद खाज छाजन आदि अनेक चर्मरोगों की पीड़ा से शरीर युक्त रहते हुए भी जो साधु उसकी तरफ कभी लक्ष नहीं करता; प्रत्युत उसमें केवल दया - परिणामों को सिद्ध करने का ही भाव रखता है। क्योंकि उसने शरीराश्रित प्रतिष्ठित बादरनिगोदिया जीवों की दया का पालन करने के लिये ही उद्धर्तन करने का और जलकायिक जीवों की रक्षा करने के लिये ही स्नान का परित्याग कर दिया है। इसी प्रकार जो साधु केशों का लोच करने में और उसके बाद संस्कार न करने से जो पीड़ा होती है उसको सहन करता है और अन्य मल का ग्रहण नहीं करता उस कर्ममलरूप पङ्क के दूर करने की इच्छा रखनेवाले साधु को मलपरीषह का विजयी समझना चाहिये।

भावार्थ :- कर्ममल को दूर करने की इच्छा और दयापरिणामों के सिद्ध करने की अभिलाषासे ही मलजनित अनेक बाधाओं और व्याधियों के होते हुए भी उनकी तरफ लक्ष्य न करने को और निर्मम होकर केशोत्पाटनादिक करने को मलपरीषह का विजय कहते हैं।

सत्कारपुरस्कारपरीषह के विजय का स्वरूप बताते हैं :-

तुष्येन्न यः स्वस्य परैः प्रशंसया
श्रेष्ठेषु चाग्रे करणेन कर्मसु।
आमन्त्रणेनाथ विमानितो न वा
रुष्येत्स सत्कारपुरस्क्रियोर्मिजित्।।१०७।।

दूसरे लोग यदि अपनी प्रशंसा करें अथवा धार्मिक एवं मांगलिक कार्यों के समय अपने को बुलाकर अथवा अग्रस्थान देकर अपना सम्मान करें तो उससे जो साधु प्रसन्न नहीं होता और इसके विरुद्ध यदि कोई अपनी निन्दा करें अथवा श्रेष्ठ कार्यों के समय अपने को न बुलाकर या अग्रस्थान न देकर अपना अपमान करे तो उससे रुष्ट नहीं होता उस साधु को सत्कारपुरस्कारपरीषह का विजयी समझना चाहिये।

भावार्थ :- चिरकाल से ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला महा तपस्वी स्वसमय और परसमय का ज्ञाता हितोपदेश का निरूपण करने में कुशल और अनेक बार परवादियों पर विजय प्राप्त करनेवाला होकर भी जो साधु अपने मन में ऐसा विचार नहीं लाता कि 'देखो, कोई भी मुझे प्रमाण नहीं मानता या मेरी भक्ति अथवा मुझे ससंभ्रम उच्चासन का प्रदान नहीं करता। इससे तो मिथ्यादृष्टि ही अच्छे जो कि अपने मूर्ख भी साधर्मी का सर्वज्ञतुल्य सम्मान करके अपने धर्म की प्रभावना किया करते हैं। व्यंतरादिकों के विषय में भी जो सुना जाता है कि वे प्राचीन समय में अत्यंत उग्र तपस्या करनेवालों की प्रत्यग्र पूजा किया करते थे सो भी बात कुछ मिथ्यासरीखी ही मालूम होती है। अन्यथा आज वे साधर्मी होकर भी हम सरीखों का अनादर क्यों करते हैं ?' इस प्रकार के दुर्भावों से जिसका मन अलिप्त रहता है और जो मानापमान में तुल्यवृत्ति है वही सत्कारपुरस्कार-परीषह का विजयी समझा जा सकता है।

प्रज्ञापरीषह के विजय का स्वरूप बताते हैं :-

विद्याः समस्ता यदुपज्ञमस्ताः प्रवादिनो भूपसमेषु येन।
प्रज्ञोर्मिजित् सोस्तु मदेन विप्रो गरुमता यद्वदखाद्यमानः।।१०८।।

जो संपूर्ण अंगपूर्व और प्रकीर्णक विद्याओं का प्रथमोपदेष्टा है, जिसने अनेक बार अनेक राजसभाओं में अनुमानादि विषयों पर अनेक मिथ्या प्रवादियों का निराकरण करके विजय प्राप्त किया है। फिर भी गरुड के द्वारा ब्राह्मण की तरह ज्ञान का गर्व जिसका भक्षण नहीं कर सकता उसको प्रज्ञापरीषह का विजयी समझना चाहिये।

भावार्थ :- मिथ्यापुराणों में एक कथा प्रसिद्ध है कि विष्णु ने एक बार अनेक राक्षसों को मारा। मारने से जो कुछ थोड़े से राक्षस शेष रहे थे उनके लिये उन्होंने अपने गरुड को मारने का आदेश किया। बस फिर क्या था, गरुड उन राक्षसों का भक्षण करने लगा। किन्तु राक्षसों के साथ साथ एक ब्राह्मण भी पेट में चला गया जो कि उसे पचा नहीं। अंत में गरुड ने उस ब्राह्मण का वमन कर दिया। इसी प्रकार जो साधु अनेक विद्याओं का अधीश होकर भी ज्ञानमद से पचता नहीं है वही प्रज्ञापरीषह का विजयी हो सकता है।

अज्ञानपरीषह के विजय को बताते हैं :-

पूर्वेऽसिधन् येन किलाशु तन्मे, चिरं तपोभ्यस्तवतोपि बोधः।
नाद्यापि बोभोत्यपि तूच्यकेहं, गौरित्यतोऽज्ञानरुजोऽपसर्पेत्।।१०९।।

जिस तप के माहात्म्य से पूर्वकाल में अनेक तपस्वी शीघ्र ही सिद्धि को प्राप्त हो गये सुने जाते हैं, उसी तप को चिरकाल से अभ्यास करते हुए भी आजतक मुझको कोई सातिशय अथवा प्रकृष्टज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ। प्रत्युत मुझको लोग अज्ञानी - मंदबुद्धि देखकर 'यह बैल है' इत्यादि कुत्सित शब्दों के द्वारा ही बोला करते हैं। इस प्रकार का अज्ञानजनित दुःख जिसके हृदय में कभी भी उद्भूत नहीं होता उसको अज्ञानपरीषह का विजयी समझना चाहिये।

भावार्थ :- जो साधु 'तू मूर्ख है, निरा पशु ही है, कुछ नहीं समझता,' इस तरह के तिरस्कार के शब्दों को सुनकर भी सहन करता और निरंतर अध्ययन में रत रहता है; किन्तु मन वचन काय की अनिष्ट चेष्टाओं से निवृत्त और महोपवासादि का अनुष्ठान करनेवाला होकर भी 'आजतक मेरे किसी तरह का ज्ञानातिशय उत्पन्न नहीं हुआ' ऐसे दुर्भाव से अभिभूत नहीं होता वही अज्ञानपरीषह का विजयी हो सकता है।

अदर्शनपरीषह के विजय को दिखाते हैं :-

महोपवासादिजुषां मृषोच्चाः, प्राक् प्रातिहार्यातिशया न हीक्षे।
किंचित्तथाचार्यपि तद् वृथैषा, निष्ठेत्यसन् सद्दृगदर्शनासट्।।११०।।

मैं महोपवासादि को करते हुए भी अपने में प्रातिहार्य या ज्ञानातिशयादिकों का उत्पन्न होना नहीं देखता हूँ। इससे मालूम होता है, पूर्वकाल में पक्ष मास आदिक महोपवासादि के करनेवाले साधुओं के प्रातिहार्य या ज्ञानातिशयादि की उत्पत्ति होना जो बताया जाता है वह सब झूठी बात है। अन्यथा मुझमें भी वे अतिशय आज जागृत क्यों नहीं होते। अतएव इस तपस्या का अनुष्ठान करना भी व्यर्थ ही है। इस तरह के भाव जिसके हृदय में उद्भूत नहीं हुआ करते उस दर्शनविशुद्धियुक्त साधु को ही अदर्शनपरीषह का विजयी समझना चाहिये।

इस प्रकार बाईस परीषहों के विजय का स्वरूप और साधन बताया गया। ये सभी परीषह कर्मोदय के निमित्त से प्राप्त हुआ करती हैं। ज्ञानावरण के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान, दर्शनमोह के उदय से अदर्शन, अंतराय के उदय से अलाभ, मान के उदय से नागन्य निशद्या आक्रोश याचना और सत्कारपुरस्कार, अरति के उदय से अरति, वेद के उदय से स्त्री, और वेदनीय के उदय से क्षुधा पिपासा शीत उष्ण दंशमशक चर्या शय्या वध रोग तृणस्पर्श तथा मल परीषह होती हैं।

इन बाईस परीषहों में से एक समय में एक जीव के एक से लेकर उन्नीस तक हो सकती हैं। क्योंकि चर्या शय्या और निशद्या इन तीन परस्पर विरोधी परीषहोंमें से एक काल में कोई सी एक ही हो सकती है। इसी प्रकार शीत उष्ण में से भी एक काल में एक ही हो सकती है। इस प्रकार तीन के कम हो जाने से बाकी उन्नीस तक हो सकती हैं।

यहाँ पर कोई प्रश्न कर सकता है कि प्रज्ञा और अज्ञान परीषह में भी सहानवस्थान विरोध है इसलिये इनमें से भी एक काल में एक ही परीषह हो सकेगी। और फिर वैसा होनेपर एक काल में एक जीव के १९ परीषह तक होने का नियम किस तरह स्थिर रह सकता है ? इसका उत्तर सहज है। क्योंकि श्रुतज्ञान की अपेक्षा प्रज्ञा का प्रकर्ष रहते हुए भी साथ में अवधिज्ञानादिके अभाव की अपेक्षा अज्ञान भी रह सकता है। अतएव इनमें सहानवस्थान विरोध की कल्पना ठीक नहीं है।

मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयतपर्यन्त सात गुणस्थानों में सभी - बाईसों परीषह होती हैं। अपूर्वकरण में अदर्शन के सिवाय शेष २१, अनिवृत्तिकरण के सवेद भाग में अरति को छोड़कर शेष २०, और अवेदभाग में स्त्री परीषह के विना १९ तथा इसी गुणस्थान

में मानकषाय के उदय का अभाव हो जाने से नाग्न्य निषद्या आक्रोश याचना और सत्कारपुरस्कार को छोड़कर शेष १४, अतएव अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसांपराय उपशांतकषाय और क्षीणकषाय इन चार गुणस्थानों में १४ परीषह होती हैं। इसके अंत में प्रज्ञा अज्ञान और अलाभ परीषह नष्ट हो जाती हैं इसीलिये सयोगी भगवान् के ११ परीषह ही मानी हैं। सयोगी भगवान् के वेदनीयकर्म सत्ता में रहता है। अतएव तन्निमित्त ११ परीषह जो भी हैं वे उपचार से मानी जाती हैं। जिन भगवान् के संपूर्ण घातिया कर्मरूपी इन्धन ध्यानाग्नि के द्वारा दग्ध हो चुका है और अप्रतिहत अनंतचतुष्टय उद्भूत हो चुका है, साथ ही उनके अंतरायकर्म का अभाव हो जाने से निरंतर सातावेदनीयरूप शुभ पुद्गलोंका ही संचय हुआ करता है। यही कारण है कि उनके सत्ता में बैठा हुआ भी वेदनीयकर्म अपना फल प्रकट नहीं सकता। क्योंकि वेदनीयकर्म घातियाकर्मों की तथा विशेषकर मोहनीयकर्म की सहायता से ही अपना फल प्रकट कर सकता है, अन्यथा नहीं। जिस प्रकार मंत्र या औषधि आदि के बल से मारण शक्ति के नष्ट हो जानेपर विषद्रव्य अपना कार्य - मारनेरूप नहीं कर सकता, और जिस प्रकार जड़ के कट जानेपर कोई भी वृक्ष फल फूल देने में समर्थ नहीं हो सकता, तथा जिस प्रकार उपेक्षा संयम के धारण करनेवाले नौवें और दशवें गुणस्थानवर्ती साधुओं के मैथुन परिग्रह संज्ञा कार्यरूप नहीं हो सकती। एवं जिस प्रकार संपूर्ण ज्ञान के धारक सर्वज्ञ-भगवान के एकाग्रचिन्तानिरोधरूप लक्षण के न रहने पर भी कर्मरज की निर्जरारूप फल की अपेक्षा से ध्यान का उपचार किया जाता है। उसी प्रकार क्षुधा रोग वध आदि कार्यरूप परीषहों के न होनेपर भी वेदनीयकर्म का द्रव्य जो सत्ता में बैठा हुआ है उसके सहन करनेरूप द्रव्यपरीषह की अपेक्षा से वेदनीयकर्म संबंधी ग्यारह परीषह भगवान् के उपचार से कही जाती है। यही कारण है कि मोक्षशास्त्र में 'एकादश जिने' ऐसा कहा है। फलतः इस विषय में विधि और निषेध दोनों ही उत्पन्न होते हैं। वेदनीयकर्मरूप द्रव्य के सद्भाव की अपेक्षा भगवान् के ग्यारह परीषह है, किन्तु घातियाकर्म तथा विशेषकर मोहनीयकर्म की शक्ति की सहायता से ही वेदनीयकर्म फल दे सकता है, अन्यथा नहीं। भगवान् के ये कर्म नष्ट हो चुके हैं। अतएव सहायक के विना वेदनीयकर्म जिन भगवान् के अपना फल नहीं दे सकता। फलतः कार्यरूप की अपेक्षा भगवान् के ये ग्यारह परीषह नहीं होती हैं।

मार्गणाओं की अपेक्षा से नरकगति और तिर्यग्गति में सभी परीषह होती हैं। मनुष्यगति

में ऊपर लिखे अनुसार गुणस्थानों की अपेक्षा से सभी परीषह होती हैं। देवगति में घातियाकर्म से उत्पन्न और वेदनीय से उत्पन्न कुल चौदह परीषह होती हैं। इन्द्रिय और कायमार्गणा में भी सब परीषह होती हैं। योगमार्गणा में वैक्रियिकद्वय की अपेक्षा देवगति के समान, तिर्यञ्च और मनुष्यों की अपेक्षा बाईस, तथा शेष योगों और वेदादिक अन्य मार्गणाओं में अपने अपने गुणस्थान की अपेक्षा परीषह हुआ करती हैं।

इस प्रकार बाईस परीषहों के विजय का स्वरूप बताया। अब इसी प्रकरण में गौणतया उपसर्गों के सहन करने का भी उपदेश देना उचित समझकर उदाहरणपूर्वक चारों प्रकार के ही उपसर्गों को जीतने का उपदेश देते हैं :-

स्वध्याच्छिवपाण्डुपुत्रसुकुमालस्वामिविद्युच्चर, -
प्रष्टाः सोढविचिन्नृतिर्यगमरोत्थानोपसर्गाः क्रमात्।
संसारं पुरुषोत्तमाः समहरंस्तत्तत्पदं प्रेप्सवो,
लीनाः स्वात्मनि येन तेन जनितं धुन्वन्त्वजन्यं बुधाः।।१११।।

किसीके भी निमित्त से उत्पन्न हुए या आकर प्राप्त हुए क्लेशविशेष को उपसर्ग कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है - अचेतनकृत मनुष्यकृत तिर्यञ्चकृत और देवकृत। क्रम से इन उपसर्गों को शिवभूतिनामक मुनि, युधिष्ठिर आदि पाण्डुपुत्र और सुकुमालस्वामी तथा विद्युच्चर प्रभृति अनेक उत्तम पुरुषों ने आत्मध्यान के द्वारा जीत करके ही संसार का संहार किया था।

भावार्थ :- बिना उपसर्गों का सहन किये परमपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। पूर्वकालमें भी जिन उत्तम पुरुषों ने संसार को नष्ट कर अजरामर पद को प्राप्त किया था उन्होंने भी इन उपसर्गों को सहन करके ही किया था। उपसर्गों का सहन आत्मध्यान के द्वारा ही हो सकता है अतएव जिस प्रकार आगमप्रसिद्ध शिवभूति मुनि और एणिकापुत्रादिकों ने आत्मस्वरूप में स्थिर होकर अचेतनकृत उपसर्गों का सहन किया, तथा पाण्डव गजकुमार गुरुदत्त प्रभृति ने मनुष्यकृत उपसर्गों का सुकुमाल सुकोशल सिद्धार्थ आदि ने तिर्यक्कृत उपसर्गों का, तथा विद्युच्चर श्रीदत्त सुवर्णभद्रादिकों ने देवकृत उपसर्गों का सहन कर निर्भयपद प्राप्त किया, उसी प्रकार हे मुमुक्षुओं ! यदि उस पद के प्राप्त करने की इच्छा है तो

आपको भी चिदानंदमय आत्मस्वरूप में लीन होकर अचेतनादि में से किसीके भी द्वारा उत्पन्न किये यथायोग्य प्राप्त हुए उपसर्गों का सहन करना चाहिये।

प्रकृत विषय - परीषहविजय और उपसर्गसहन का उपसंहार कर मोक्षनगरी के पथिक साधुओं को बाह्य और अभ्यंतर तप का आचरण करने के लिये उद्यमी होने को उपदेश देते हैं :-

इति भवपथोन्माथस्थामप्रथिम्नि पृथूद्यमः,
शिवपुरपथे पौरस्त्यानुप्रयाणचणश्चरन्।
मुनिरनशनाद्यस्त्रैरुग्रैः क्षितेन्द्रियतस्कर,
प्रसृतिरमृतं विन्दत्वन्तस्तपःशिबिकां श्रितः।।११२।।

इस प्रकार शिवनगरी के मार्ग - रत्नत्रय में विहार करते हुए और पूर्वाचार्यों का अनुगमन कर प्रतीति को प्राप्त हुए साधुओं को संसार के मार्ग - मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का उच्छेदन करनेवाली शक्ति के प्रपंच में महान् उत्साह को धारण करके तथा अनशन अवमौदर्य आदि बाह्य तपश्चरणरूपी तीक्ष्ण एवं दुःसह शस्त्रों के द्वारा इन्द्रियरूपी चोरों के प्रसार का निराकरण कर और अंतरंग तपरूपी पालकी में बैठकर मोक्षस्थान अथवा उसके अभाव में स्वर्ग को प्राप्त करना चाहिये।

भावार्थ :- ऐसा करने पर ही उनको स्वर्ग मोक्षादिकी प्राप्ति हो सकती है।

इस प्रकार रत्नत्रयमार्ग में महान् उद्योग करने का जिसमें वर्णन किया गया है ऐसा छठ्ठा अध्याय समाप्त हुआ।।६।।

इति श्री परमपूज्य धर्मसाम्राज्यनायक योगींद्रचूडामणि सिद्धांतपारंगत, चारित्रचक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के आदेश से ज्ञानदान के लिये श्री प. पू. चा. च. आ. श्री १०८ शांतिसागर दिगंबर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था की ओर से छपे हुए श्री महापण्डित श्री आशाधरकृत अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका विषैं छठ्ठा अध्याय संपूर्ण भया।।६।।
ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण वीर नि. सं. २४८१

श्री वीतरागाय नमः

(वीर संवत् २४८१) ।।ॐ नमः सिद्धेभ्यः।। (ग्रंथ प्रकाशन, समिति फलटण

।।महापंडित श्री आशाधर कृत अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका।।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन आराधनाओं का वर्णन करके क्रमानुसार सम्यक्तप आराधना का वर्णन करने की इच्छा से ग्रंथकार सबसे पहले इस बात की शिक्षा देते हैं कि मुक्ति का प्रधान साधन वीतरागता है और राग-द्वेष का अभाव तप के द्वारा ही हो सकता है; अतएव मुमुक्षुओं को वीतरागता की सिद्धि के लिये नित्य ही तप का संचय करना चाहिये :-

ज्ञाततत्त्वोपि वैतृष्ण्यादृते नाप्नोति तत्पदम्।
ततस्तत्सिद्धये धीरस्तपस्तप्येत नित्यशः।।१।।

जिसको हेयोपादेयरूप वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं है उसकी तो बात ही क्या, जो उसका भले प्रकार निश्चय कर चुका है उसको भी अनंतज्ञानादि चतुष्टयरूप परमपद क्षायिक यथाख्यात चारित्रस्वरूप वीतरागता के विना प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव वीतरागता प्राप्त करने के लिये पूर्वोक्त परीषह और उपसर्गों से विचलित न होनेवाले धीर वीर साधुओं को उस तप का, जिसका कि लक्षण आगे चलकर करेंगे, नित्य ही संचय करना चाहिये। क्योंकि तप के द्वारा ही उसकी सिद्धि हो सकती है।

तप का निरुक्तिसिद्ध लक्षण बताते हैं :-

तपो मनोक्षकायाणां तपनात् सन्निरोधनात्।
निरुच्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छानिरोधनम्।।२।।

तप शब्द का अर्थ समीचीनतया निरोध करना होता है। अतएव आत्मा में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय का आविर्भाव करने के लिये इच्छा के रोकने को - मन इन्द्रिय और शरीर के इष्टानिष्ट विषयोंमें से इष्ट के ग्रहण करने की और अनिष्ट के छोड़ने की जो अभिलाषा हुआ करती है उसके न होने देने को ही तप कहते हैं।

इस प्रकार 'इच्छा का समीचीनतया निरोध' यह तप का लक्षण उसकी धातु के अर्थ के अनुसार ही है। फिर प्रकारान्तर से उसका निरुक्तिसिद्ध ही लक्षण बताते हैं :-

यद्वा मार्गाविरोधेन कर्मोच्छेदाय तप्यते।
अर्जयत्यक्षमनसोस्तत्तपो नियमक्रिया।।३।।

उपर्युक्त रत्नत्रय में किसी भी प्रकार का आघात न पहुँचाकर संपूर्ण शुभाशुभकर्मों का निर्मूल नाश करने के लिये जो मुमुक्षु साधु इन्द्रिय और मन के विरुद्ध आचरण करता है - मन व इन्द्रियों को अपने अपने विषयों में प्रवृत्त होने से रोकता है उसकी इस विरुद्ध प्रवृत्ति को ही तप कहते हैं।

भावार्थ :- प्रत्येक संसारी आत्मा मन व इन्द्रियों के आधीन हो रहा है। किन्तु मुमुक्षु साधु इसके विरुद्ध आचरण करता है। वह मन और इन्द्रियों को आत्मा के अधीन बनाता है। बस, उसके इस विरुद्धाचरण को ही तप कहते हैं।

इस प्रकार तप का निरुक्तिसिद्ध लक्षण बताया। फिर भी ग्रंथांतरों में जो उसका लक्षण बताया है उसका भी उल्लेख करते है और उसके भेद प्रभेदों का वर्णन करते हुए उसका अनुष्ठान करने का उपदेश देते हैं :-

संसारायतनान्निवृत्तिरमृतोपाये प्रवृत्तिश्च या
तद्वृत्तं मतमौपचारिकमिहोद्योगोपयोगौ पुनः।
निर्मायं चरतस्तपस्तदुभयं बाह्यं तथाभ्यन्तरं
षोढाऽत्राऽनशनादि बाह्यमितरत् षोढैव चेतुं चरेत्।।४।।

चारो गतियों अथवा उसके अनेक भेदों में जीव के इतस्ततः पर्यटन करने को ही संसार कहते हैं। यह पाँच प्रकार का है - द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव। इस परिभ्रमण का मूल कारण कर्मबंध है किन्तु कर्मबंध का भी मूल कारण मिथ्यात्रिक - मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। अतएव इस मिथ्यात्रिक से निवृत्त होने और इसके विरुद्ध मोक्ष के उपाय रत्नत्रय में प्रवृत्त होने को ही उपचरित सम्यक्चारित्र कहते हैं। इस उपचरित सम्यक्चारित्र में मायाचार को छोड़कर उद्योग करने तथा सदा उपयुक्त - तल्लीन रहने का ही नाम तप है। वह दो प्रकार का माना है - एक अंतरंग और दूसरा बाह्य। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इनको अंतरंगतप कहते हैं। और अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तश्य्यासन तथा कायक्लेश इनको बाह्यतप कहते हैं। इन में से अंतरंगतप की सिद्धि और वृद्धि का कारण बाह्यतप है। अतएव मुमुक्षुओं को अभ्यंतरतप को स्थिर रखने के लिये अथवा उसको बढ़ाते रहने के लिये बाह्यतप का आचरण करते ही रहना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :- 'बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्व-माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्'।

बाह्यतप कारणरूप है अतएव उसका ही वर्णन सबसे पहले करना चाहते हैं; किन्तु विशेष वर्णन करने के पूर्व इस बात के लिये युक्ति उपस्थित करते हैं कि उसके उत्तर भेद अनशनादिक तप क्यों हैं ?

देहाक्षतपनात्कर्मदहनादान्तरस्य च।
तपसो वृद्धिहेतुत्वात् स्यात्तपोऽनशनादिकम्।।५।।

अनशन अवमोदर्य आदिक तप इसलिये हैं कि इनके होनेपर शरीर इन्द्रियाँ उद्रिक्त नहीं हो सकती किन्तु कृश हो जाती हैं। दूसरे इनके निमित्त से संपूर्ण अशुभकर्म अग्नि

के द्वारा इंधन की तरह भस्मसात् हो जाते हैं। तीसरे अभ्यंतर प्रायश्चित आदि तपों के बढ़ाने में ये कारण हैं।

अनशनादिक को बाह्यतप माना हैं। जिसमें से उनका तप होना तो युक्तिपूर्वक सिद्ध किया। अब उनके बाह्यत्व के लिये भी युक्ति उपस्थित करते हैं :-

बाह्य वल्भाद्यपेक्षत्वात्परप्रत्यक्षभावतः।
परदर्शनिपाषण्डिगोहिकार्यत्वतश्च तत्।।६।।

अनशनादि तपों को बाह्य कहने में तीन कारण हैं। एक तो यह कि इनके करने में बाह्यद्रव्य की अपेक्षा रहती है। अनशन में भोजन के छोड़ने की, अवमोदर्य में अल्प भोजन की वृत्तिपरिसंख्यान में बाहिर दृष्टि से दिख सकने योग्य किसी भी वस्तु के आश्रय से नियम करने की, इसी प्रकार रसपरित्यागादिक में भी रसादिक बाह्यवस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। दूसरा कारण यह भी है कि ये दूसरे लोगों को दिखते हैं। स्वसंघ के और परसंघ के सभी लोगों को यह तो साक्षात् ही मालूम हो जाता है कि इन्होंने आज भोजन किया है अथवा नहीं किया। तीसरा कारण यह भी है कि इन अनशनादि तपों को केवल निर्ग्रंथ साधु ही नहीं किया करते, और लोग भी किया करते हैं। बौद्धप्रभृति जैनेतर धर्मों के अनुयायी और कापालिकप्रभृति पाषण्डी तथा इतर गृहस्थलोग भी उपवासादिक किया करते हैं। अतएव साधारणतया बाह्यलोगों का कार्य होने से भी इन तपों को बाह्य कह सकते हैं।

बाह्यतप का फल बताते हैं :-

कर्माङ्गतेजोरागाशाहानिध्यानादिसंयमाः।
दुःखक्षमासुखासङ्गब्रह्मोद्योताश्च तत्फलम्।।७।।

अनशनादि तप के करने से ज्ञानावरणादिक कर्म और शरीर का तेज क्षीण होता हैं। अथवा कर्मों के कारणभूत हिंसादिक की और शुक्र की हानि होती है। इसके

सिवाय रागद्वेषादिक कषाय और विषयभोगों की आशा का अपकर्षण होता है। इस तरह से बाह्यतप के द्वारा अनेक दोषों की हानि होती है। केवल हानि ही हानि होती है यह बात नहीं है किन्तु ध्यान स्वाध्याय आरोग्य मार्गप्रभावना और कषाय - मदमात्सर्यादि का मंथन तथा परप्रत्ययकरण दयादिक उपकार और तीर्थायतनों की स्थापना इत्यादि अनेक उत्तम फलों की और संयम की सिद्धि भी होती है। जैसा कि कहा भी है कि :-

विदितार्थशक्तिचरितं कायेन्द्रियपापशोषकं परमम्।
जातिजरामरणहरं सुनाकमोक्षाश्रयं सुतपः।।

इस समीचीन बाह्यतप का प्रयोजन शक्ति और चरित सर्वत्र प्रसिद्ध है। क्योंकि यह शरीर इन्द्रिय और पाप का शोष करनेवाला तथा जन्म जरा और मरण का हरण करनेवाला, एवं मोक्ष का आश्रय है।

प्रकृत में ध्यान शब्द से धर्म्य और शुक्लरूप प्रशस्त ध्यान का तथा संयम शब्द से पूर्वोक्त उसके उपेक्षा और अपहृतरूप दो भेदों का ग्रहण करना चाहिये।

इनके सिवाय अनशनादि के प्रसाद से तापत्रय का सहन सुखों में अनासक्ति और ब्रह्मोद्योत - ब्रह्मचर्य में निर्मलता का उत्पन्न होना आदि और भी अनेक गुण उद्भूत हुआ करते हैं।

बाह्यतप परंपरा से मन के जीतने में भी कारण है
इस बात को स्पष्ट करते हैं :-

बाह्यैस्तपोभिः कायस्य कर्शनादक्षमर्दने।
छिन्नवाहो भट इव विक्रामति कियन्मनः।।८।।

इन्द्रियाँ मनरूपी सुभट के वाहन के समान हैं। और अनशनादिक बाह्यतपों के द्वारा शरीर का कर्शन हो जाने से उसका मर्दन हो जाता है। अतएव इन्द्रियों का दलन हो जानेपर दुर्जय भी मन अपना पराक्रम किस तरह प्रकट कर सकता है ? कैसा भी वीर पुरुष क्यों न हो, प्रतियोद्धा के द्वारा अपने वाहन - घोडे के मारे जानेपर अवश्य ही

निर्बल हो जायगा।

अनशनादि का विशेषस्वरूप बताने के पहले इस बात की शिक्षा देते हैं कि तपस्वियों को भोजन इस प्रकार से करना चाहिये कि जिससे प्रमाद प्रकट न हो सके :-

शरीरमाद्यं किल धर्मसाधनं, तदस्य यस्येत् स्थितयेऽशनादिना।
तथा यथाक्षाणि वशे स्युरुत्पथं, न वानुधावन्त्यनुबद्धतृड्वशात्।।९।।

शरीर के विना तप तथा और भी ऐसे ही धर्मों का साधन नहीं हो सकता। अतएव आगम में ऐसा कहा है कि रत्नत्रयरूप धर्म का आद्य साधन शरीर है। इसीलिये साधुओंको भी भोजन पान शयन आदि के द्वारा इसके स्थिर रखने का प्रयत्न करना चाहिये। किन्तु इस बात को सदा लक्ष्य में रखना चाहिये कि भोजनादिक में प्रवृत्ति ऐसी और उतनी ही हो कि जिससे इन्द्रियाँ अपने ही आधीन बनी रहे। ऐसा न होना चाहिये कि अनादिकाल की वासना के वशवर्ती होकर वे उन्मार्ग की तरफ भी दौड़ने लगें।

भावार्थ :- साधुओं को भोजन में प्रवृत्ति ऐसे मध्यम मार्ग का आश्रय लेकर करनी चाहिये कि जिससे इन्द्रियाँ अपने अधीन भी बनी रहें और उन्मार्ग में भी प्रवृत्त न हों।

अभिमत और स्वादुभोजन के दोष प्रकट करते हैं :-

इष्टमृष्टोत्कटरसैराहारैरुद्भटीकृताः।
यथेष्टमिन्द्रियभटा भ्रमयंति बहिर्मनः।।१०।।

इन इन्द्रियरूपी सुभटों को यदि अभीष्ट और स्वादु तथा उत्कट रस से पूर्ण - ताजी बने हुए भोजनों के द्वारा उद्भट - दुर्दम बना दिया जाय तो ये अपनी इच्छानुसार - जो जो इन्हें इष्ट हों उन सभी बाह्यपदार्थों में मन को भ्रमाने लगते हैं।

भावार्थ :- इष्ट सरस और स्वादु भोजन के निमित्त से इन्द्रिय और मन स्वाधीन नहीं रह सकते।

अनशन का लक्षण और उसके भेद बताते हैं :-

चतुर्थाद्यर्धवर्षान्त उपवासोथवाऽऽमृतेः।
सकृद्भुक्तिश्च मुक्त्यर्थं तपोनशनमिष्यते।।११।।

कर्मों का क्षय करने के उद्देश से भोजन के परित्याग को अनशन नाम का तप कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है - एक तो सकृद्भुक्ति - प्रोषध, दूसरा उपवास। दिन में एकबार भोजन करने को प्रोषध और सर्वथा भोजन के परिहार को उपवास कहते हैं। यह दो प्रकार का माना है - अवधृतकाल और अनवधृतकाल। अवधृतकाल के चतुर्थ से लेकर षाण्मासिकतक अनेक भेद हैं। जो मरणपर्यंत के लिये उपवास धारण किया जाता है उसको अनवधृतकाल कहते हैं।

भावार्थ :- एक दिन की दो भुक्ति समझी जाती है। इसीलिये प्रोषधोपवास का दूसरा नाम चतुर्थोपवास है क्योंकि धारण और पारण के दिन की एक एक भुक्ति और उपवास के दिन की दो भुक्ति इस तरह मिलाकर चार भुक्ति का उसमें परित्याग किया जाता है। इस तरह से भोजन के चार समयों में चतुर्विध आहार के परित्याग का नाम आगम में रूढि से चतुर्थ ऐसा प्रसिद्ध है। यदि धारण और पारण के मध्य में दो उपवास किये जांय तो उसका नाम षष्ठ और तीन उपवास किये जाय तो अष्टम, चार उपवास किये जांय तो दशम तथा पाँच उपवास किये जांय तो द्वादश होता है। इसी तरह अर्धवर्षान्त भेद समझने चाहिये। लगातार छह महीने के उपवास करने को षाण्मासिक अथवा अर्धवार्षिक उपवास कहते हैं। उपवास और क्षपण ये पर्यायवाचक शब्द हैं। चतुर्थ से लेकर षाण्मासिक तक में काल का प्रमाण नियमित रहता हैं। अतएव ये सब अवधृतकाल नामक अनशनतप के भेद होते हैं। जिसमें काल का प्रमाण नियमित नहीं रहता ऐसे मरणपर्यन्त के लिये किये गये उपवास को अनवधृतकाल कहते हैं।

नञ् शब्द के निषेध और ईषत् इस तरह दोनों ही अर्थ होते हैं। अतएव अनशनके भी दो अर्थ हो जाते हैं - एक तो भोजन का सर्वथा अभाव, दूसरा कुछ भोजन। पहले अर्थ की अपेक्षा से उसका मध्यम तथा जघन्य भेद समझा जाता है। अतएव इस श्लोक में समुच्चयार्थक शब्द का पाठ किया है जिससे कि उत्कृष्ट के साथ साथ मध्यम और जघन्य भेद का भी संग्रह कर लिया जाय।

'अर्धवर्षान्त' इस शब्द में एक वर्ष शब्द का लोप समझना चाहिये।. ऐसा होने से वार्षिक उपवास भी सिद्ध होता है। क्योंकि दण्डक या आचारादि शास्त्रों में [१] सांवत्सरिक अनशन का भी उल्लेख किया गया है।

उपवास का निरुक्तिपूर्वक लक्षण बताते हैं :-

स्वार्थादुपेत्य शुद्धात्मन्यक्षाणां वसनाल्लयात्।
उपवासोशनस्वाद्यखाद्यपेयविवर्जनम्।।१२।।

उपपूर्वक वस धातु से उपवास बनता है। उपसर्ग का अर्थ उपेत्य हटकर, तथा वस धातु का अर्थ निवास करना या लीन होना होता है। अतएव इन्द्रियों के अपने अपने विषयों से हटकर शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन होने को उपवास कहते हैं।

भावार्थ :- यों तो उपवास में सभी इन्द्रियों के विषयों का परित्याग होता है किन्तु रसनेन्द्रिय के विषय के परित्याग की मुख्यता रहती है। रसना का विषय चार प्रकार का भोजन माना है - अशन स्वाद्य खाद्य और पेय। इन चारों का विशेष लक्षण आगे चलकर करेंगे। अतएव यहाँ इतना ही समझना चाहिये कि इन चारो ही प्रकार के भोजनों का परित्याग करके शेष संपूर्ण इन्द्रियों के विषय से विरत हो आत्मस्वरूप में लीन होने को उपवास कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकायेतः।
वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरूपवासोऽभिधीयते।।

---

१ - 'अर्धवर्षान्त' ऐसा शब्द श्लोक में है। यहाँ पर अर्थ शब्द को वर्ष का विशेषण बनाने से छह महीने का उपवास अर्थ निकलता है। परंतु 'अर्ध और वर्ष' ऐसा समास करने से वर्ष शब्द का अर्थ एक वर्ष का उपवास भी हो जाता है। इस दूसरे अर्थ के समय भी अर्ध शब्द के साथ वर्ष शब्द जोडने की आवश्यकता है, वह वर्ष शब्द यहाँ पर लुप्त हुआ मानना चाहिये। एकशेष विधि से एक वर्ष शब्द का दो बार उपयोग हो जाता है। ऐसा व्याकरण का आधार है।

तथा इसी तरह किसी किसी ने ऐसा भी कहा है कि :-

उपावृत्तस्य दोषेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह।
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः।।

अशनादिक चार प्रकार के भोजन का लक्षण बताते हैं :-

ओदनाद्यशनं स्वाद्यं ताम्बुलादि जलादिकम्।
पेयं खाद्यं त्वपूपाद्यं त्याज्यान्येतानि शक्तितः।।१३।।

भात दाल दलिया खिचडी आदि भोज्य सामग्री को अशन, पान सुपारी इलायची लोंग तथा अनार संतरा ककडी खरबूजा आदि भक्ष्यपदार्थों को स्वाद्य, जल, दुग्ध, शरबत आदि पीने योग्य द्रव्यपदार्थों को पेय और पूडी पूआ कचौडी लड्डु आदि चर्वण करने योग्य वस्तुओं को खाद्य कहते हैं।

भावार्थ :- जिनके द्वारा क्षुधा शांत करने की प्रधान अपेक्षा रहा करती है उनको अशन और जिनका मुख्यतया स्वाद लेना अपेक्षित रहा करता है उनको स्वाद्य तथा जिनके द्वारा प्राणों का तर्पण करने की इच्छा हो अथवा किया जाता हो इनको पेय और जिनके भक्षण करने में चर्वण आदि के द्वारा विशेष प्रयत्न करना पड़े उनको खाद्य कहते हैं - मुमुक्षु साधुओं को उपवास करने की अभिलाषा से अपनी अपनी शक्ति के अनुसार उन चारों ही प्रकार के पदार्थों का परित्याग करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि 'शक्तितस्त्यागतपसी'।

उत्तम मध्यम और जघन्य के भेद से तीनों ही प्रकार का उपवास प्रचुर दुष्कर्मों का भी शीघ्र ही नाश कर सकता है, अतएव उसका विधिपूर्वक पालन करने के लिये उपदेश देते हैं।

उपवासो वरो मध्यो जघन्यश्च त्रिधापि सः।
कार्यो विरक्तैर्विधिवद्धह्वागःक्षिप्रपाचनः।।१४।।

उत्तम मध्यम अथवा जघन्य तीनों में से कौनसा भी उपवास प्रचुर पातकों की भी शीघ्र ही निर्जरा कर सकता है। अतएव प्राणसंयम और इन्द्रियसंयम के पालन करनेवाले विरक्त पुरुषों को शक्ति के अनुसार और विधिपूर्वक इसका पालन करना चाहिये।

उपवास के उत्तमादिक तीनों भेदों का लक्षण बताते हैं :-

धारणे पारणे सैकभक्तो वर्यश्चतुर्विधः।
साम्बुर्मध्योनेकभक्तः सोधमस्त्रिविधावुभौ।।१५।।

जिसके धारण और पारण के दिन एक भुक्ति तथा उपवास के दिन चारों प्रकार के पदार्थों का दोनों भुक्तिवेलाओं में परित्याग किया जाय उसके उपवास को उत्तम भेद समझना चाहिये। जिसके धारण और पारण के दिन दोनों भुक्तिवेलाओं में भी आहार का परित्याग किया जाय किन्तु जल के सिवाय शेष आहार्य सामग्री को ही छोड़ा जाय उसको मध्यम भेद समझना चाहिये किन्तु जिसके धारण और पारण के दिन एक भुक्ति भी न की जाय और उपवास के दिन जल भी ग्रहण कर लिया जाय उसको जघन्य भेद समझना चाहिये। इनमें से उत्तम भेद का अपर नाम चतुर्विध और शेष भेदों का नाम त्रिविध है। क्योंकि उत्तम भेद में चतुर्विध आहार का और मध्यम जघन्य भेद में त्रिविध आहार का ही परित्याग होता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

चतुर्णां तत्र भुक्तीनां त्यागे वर्यश्चतुर्विधः।
उपवासः सपानीयस्त्रिविधो मध्यमो मतः।।

विना शक्ति के भोजन का परित्याग करने में जो दोष उत्पन्न होते हैं उनको प्रकट करते हैं :-

यदाहारमयो जीवस्तदाहारविराधितः।
नार्तरौद्रातुरो ज्ञाने रमते न च संयमे।।१६।।

यह प्राणी प्रधानतया द्रव्यप्राणों से ही जीवित रहता है। अत: इसको आहारमय, मानो भोजन के द्वारा ही बना है ऐसा कहना चाहिये। अतएव विना भोजन के यह प्राय: स्थिर नहीं रह सकता। यदि उससे बलात्कार भोजन का परित्याग करा दिया जाय तो वह आर्त और रौद्र ध्यान करने में आतुर हो उठता है। और यह स्पष्ट ही है कि इस तरह के दुर्ध्यानों से पीड़ित व्यक्ति का मन न तो स्वाध्याय आदि के द्वारा ज्ञान का अभ्यास करने में और न संयम का आराधन करने में ही लग सकता है।

इसी बात को फिर भी प्रकारान्तर से बताते हैं :-

प्रसिद्धमन्नं वै प्राणा नृणां तत्त्याजितो हठात्।
नरो न रमते ज्ञाने दुर्ध्यानार्तो न संयमे।।१७।।

'अन्नं वै प्राणा:' यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। अन्न नाम आहार का है, वह निश्चय ही मनुष्यों का जीवन है। क्योंकि उसके विना वह जीवित नहीं रह सकता। प्राण का लक्षण ही यह है कि जिसके रहने पर जीवित रहे और जिसके वियोग होनपर मर जाय। अन्न के विषय में भी यह बात देखी जाती है। इसीलिये उसको भी प्राण कहा जा सकता है। अतएव जिस व्यक्ति से बलात्कार अन्न छुड़वा दिया जाता है वह अंतरंग में आर्त और रौद्र ध्यान से संक्लिष्ट हो उठता है। फिर वह इन दुर्ध्यानों से पीड़ित होकर ज्ञानाभ्यास या संयम के आराधन में रत नहीं रह सकता।

साधुओं को उचित है कि यदि आयु बहुत अधिक बाकी हो तो उसके बहुत से हिस्से को विधिपूर्वक यथाशक्ति नित्य नैमित्तिक उपवास करके, किन्तु अंत के शेष भाग को अनशन द्वारा ही बितावे। इसी बात की शिक्षा देते हैं :-

तन्नित्यनैमित्तिकभुक्तिमुक्तिविधीन्यथाशक्ति चरन्विलङ्ध्य।
दीर्घं सुधीर्जीवितवर्त्म युक्तस्तच्छेषमत्येत्वशनोज्झयैव।।१८।।

आहार के प्रत्याख्यान करने की विधि दो प्रकार की बताई है एक नित्य, दूसरी नैमित्तिक। केशलोच आदि के समय भोजन के परित्याग को नित्य विधि और कनकावलि आदि में वैसा करने को नैमित्तिक विधि कहते हैं। जो विवेकी साधु हैं उन्हें उचित है कि वे अपनी शक्ति को न छिपाकर ऊपर लिखे अनुसार महान् फल की साधक इन विधियों का पालन करते हुए अपने जीवन के सुदीर्घ मार्ग को तय करें किन्तु उन्हें उसका शेष भाग चतुर्विध आहार का परित्याग करके भक्तप्रत्याख्यान इङ्गिनी प्रायोपगमनमरण आदिमें से किसीके द्वारा ही व्यतीत करना चाहिये।

अनशनतप में विशिष्ट रुचि उत्पन्न कराते हैं :-

प्राञ्चः केचिदिहाप्युपोष्य शरदं कैवल्यलक्ष्म्याऽरुचन्,
षण्मासानशनान्तवश्यविधिना तां चक्रुरुत्कां परे।
इत्यालम्बितमध्यवृत्त्यनशनं सेव्यं सदार्यैस्तनुं,
तप्तां शुद्ध्यति येन हेम शिखिना मूषामिवात्माऽऽवसन्।।१९।।

जिस प्रकार मूषा - घरिया में पड़ा हुआ सुवर्ण विना अग्नि के शुद्ध नहीं हो सकता। अग्नि के द्वारा संतप्त होनेपर ही किट्ट कालिकादि दोषों से रहित हो सकता है। उसी प्रकार शरीर के भीतर पड़ा हुआ कर्ममल से युक्त आत्मा विना तप के शुद्ध नहीं हो सकता। अनशनादि तपरूपी अग्नि से संतप्त होनेपर ही द्रव्यकर्म और भावकर्म से रहित हो सकता है। इसीलिये तो विदेहक्षेत्रों की तो बात ही क्या, इस भरतक्षेत्र में भी कर्मभूमि के प्रारंभ में बाहुबलि प्रभृति कितने ही पूर्व पुरुषों ने एक एक वर्ष तक उपोषित रहकर कैवल्यलक्ष्मी - अनंतज्ञानादि चतुष्टय के द्वारा अपने को उद्योतित किया। और कितने ही भगवान् आदीश्वरप्रभृति महापुरुषों ने चतुर्थ से लेकर षाण्मासिकतक की अनशनविधीरूपी वशीकरणमंत्र के द्वारा उस लक्ष्मी को अपने ऊपर उत्कण्ठित बनाया। अतएव वर्तमान में भी संपूर्ण मुमुक्षुओं को इस अनशन तप का सदा पालन करना चाहिये। किन्तु न सर्वथा उत्कृष्ट और न सर्वथा जघन्य, किन्तु मध्यम दर्जे की चर्या का आश्रय लेकर सदा उसका सेवन करना चाहिये।

आहार की अभिलाषा चार कारणों से हुआ करती है। अतएव उसका निग्रह उन कारणों के विरुद्ध भावना करने से हो सकता है। इसीलिये साधुओं को वैसा करने का उपदेश देते हैं :-

भुक्त्यालोकोपयोगाभ्यां रिक्तकोष्ठतया सतः।
वेद्यस्योदीरणाच्चान्नसंज्ञामभ्युद्यतीं जयेत्।।२०।।

आहारसंज्ञा चार कारणों से उद्भूत हुआ करती है - भुक्त्युपयोग, रिक्तकोष्ट और असातावेदनीयकर्म की उदीरणा। जैसा कि कहा भी है कि :-

आहारदंसणेण य तस्सुवओगेण ओमकोठाए।
वेदस्सुदीरणाए आहारे जायदे सण्णा।।

अर्थात् आहार की तरफ दृष्टि डालने से, उसकी तरफ अपने मन का उपयोग लगाने से, पेट खाली होनेपर और क्षुधा वेदनीयरूप असाताकर्म का उदय होनेपर आहार के विषय में अभिलाषा उत्पन्न हुआ करती है। साधुओं को इसका निग्रह करना चाहिये।

भावार्थ :- निग्रह करने के उपाय का उल्लेख नहीं किया है। क्योंकि वह आहारसंज्ञा के कारणों का प्रदर्शन करने से स्वयं मालूम हो जाता है। यह नियम है कि जिन कारणों से जिस कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है उनके अभाव में अथवा उनके विरुद्ध कारण मिलने पर वह कार्य नहीं हो सकता। इस सिद्धांत के अनुसार यह बात भी स्वयं ही सिद्ध हो जाती है कि आहारदर्शनादिके विरुद्ध भावना करने से आहारसंज्ञाका भी निग्रह हो सकता है। अतएव अनशनतप के अभिलाषी साधुओं को प्रतिपक्ष भावनाओं के द्वारा आहारसंज्ञा का निग्रह करने में सदा प्रवृत्त रहना चाहिये।

अनशनतप की भावना करने में साधुओं को प्रवृत्त करते हैं :-

शुद्धस्वात्मरुचिस्तमीक्षितुमपक्षिप्याक्षवर्गं भजन्,

निष्ठासौष्ठवमङ्गनिर्ममतया दुष्कर्मनिर्मूलनम्।
श्रित्त्वाऽब्दानशनं श्रुतार्पितमनस्तिष्ठन् धृतिन्यक्कृत,
द्वन्द्वः कर्हि लभेय दोर्बलितुलामित्यस्त्वनाश्चांस्तपन्।।२१।।

अत्यंत निर्मल निज चित्स्वरूप में श्रद्धा और रुचि को धारण करके उस शुद्धात्मस्वरूप का साक्षात् अवलोकन करने के लिये जो साधु स्पर्शनादिक इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से हटाकर चारित्रसौदर्य का सेवन करते हुए शरीरसंबंधी ममत्व का परित्याग कर संपूर्ण अशुभकर्मों की निर्जरा करने में कुशल सांवत्सरिक उपवास को स्वीकार करके श्रुतज्ञान के आराधन - अभ्यास में ही अपने मन को लगाता हुआ आत्मस्वरूप के धारण करनेरूप धैर्य अथवा प्रसत्ति के द्वारा समस्त परीषहों को परास्त कर देता है और इस तरह की भावना रखता है कि 'वह दिन कब प्राप्त होगा कि मैं बाहुबलि की समकक्षता को धारण कर सकूँगा' वही अनशनतप का करनेवाला समझा जा सकता है।

इस प्रकार अनशनतप का व्याख्यान करके क्रमप्राप्त अवमोदर्यतप का लक्षण और फल बताते हैं :-

ग्रासोऽश्रावि सहस्रतन्दुलमितो द्वात्रिंशदेतेऽशनं,
पुंसो वैश्रसिकं स्त्रियो विचतुरास्तद्धानिरौचित्यतः।
ग्रासं यावदथैकसिक्थमवमोदर्यं तपस्तच्चरेद्धर्मा, -
वश्यकयोगधातुसमतानिद्राजयाद्याप्तये।।२२।।

स्वाभाविक भोजन पुरुष का बत्तीसग्रास और स्त्री का अठ्ठाईसग्रास का होता है तथा एक ग्रास का प्रमाण एक हजार चावल की बराबर हुआ करता है। ऐसा आम्नाय के अनुसार शिष्ट पुरुषों से सुनते हैं। इस प्रमाण में यथा योग्य कम करके उसके ग्रहण करने को अवमोदर्य कहते हैं। यह कमी एकोत्तर श्रेणी के द्वारा - एक दो तीन चार आदि ग्रास के क्रम से एक ग्रासतक हो सकती है। अथवा भोजन ग्रहण करने की विधि पहले इस प्रकार बता चुके हैं कि पेट के चार भागों में से दो भागों में अन्न तथा एक भाग में जल भरना चाहिये और एक भाग वायु के लिये खाली छोड़ देना चाहिये।

इस प्रमाण में कमी करके - चौथाई आदि भाग का त्याग करके भोजन ग्रहण करने को अवमोदर्य कहते हैं। इस तप के प्रसाद से उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्म की और षडावश्यक कर्तव्यों की तथा आतापनादि यद्वा समीचीन ध्यानादिरूप योगों की प्राप्ति अथवा सिद्धि हुआ करती है। निद्रा पर विजय प्राप्त होता और इन्द्रियाँ बलाढ्य होकर द्वेषी नहीं बन सकतीं। इसी तरह इस तप के और भी अनेक फल हैं जो कि मुमुक्षु साधु के लिये आवश्यक हैं। अतएव तपस्वियों को इस तप का पालन तथा अनुष्ठान अवश्य ही करते रहना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

धर्मावश्यकयोगेषु ज्ञानादावुपकारकृत्।
दर्पहारींद्रियाणां च ज्ञेयमूनोदरं तपः।।
द्वात्रिंशाः कवलाः पुंस आहारस्तृप्तये भवेत्।
अष्टाविंशतिरेवेष्टाः कवलाः किल योषितः।।
तस्मादेकोत्तरश्रेण्या यावत्कवलमात्रकम्।
ऊनोदरं तपो ह्येतत्तद्भेदोपीदमिष्यते।।

अधिक भोजन करने से उत्पन्न होनेवाले दोषों को प्रकट करते हैं :-

बह्वाशी चरति क्षमादिदशकं दृप्यन्ननावश्यकान्य, -
क्षूणान्यनुपालयत्यनुषजत्तन्द्रस्तमोऽभिद्रवन्।
ध्यानाद्यर्हति नो समानयति नाप्यातापनादीन्वपुः, -
शर्मासत्कमनास्तदर्थमनिशं तत्स्यान्मिताशी वशी।।२३।।

अवमोदर्य का फल ऊपर बता चुके हैं। उसके विरुद्ध जो व्यक्ति अधिक - उचित प्रमाण का अतिक्रमण करके भोजन करता है वह प्रमाद और कषाय के वशवर्ती हो जाने से उत्तमक्षमादि दशधर्मरूप आचरण नहीं कर सकता न निर्दोष अथवा संपूर्ण आवश्यकों का ही पालन कर सकता हैं और न मोह से अभिभूत हो जाने के कारण ध्यान स्वाध्याय आदि में ही प्रवृत्त हो सकता है। इसी प्रकार वह आतापन वर्षायोग तथा बाह्य शयन आदि योगों को भी भले प्रकार पूर्ण नहीं कर सकता। क्योंकि उसका मन शरीर के विषय में निर्मम होने के बदले प्रीतियुक्त हो जाता है - वह शरीरसुख में ही आसक्त

होने लगता है। अतएव मुमुक्षुओं को धर्मादि की प्राप्ति के लिये जितेन्द्रिय होकर - रसनेन्द्रिय की लोलुपता छोड़कर नित्य परिमित ही भोजन करना चाहिये।

परिमित भोजन करने से इन्द्रियाँ दर्प को धारण नहीं करतीं, किन्तु अपने अधीन हो जाती हैं, इसी बात को प्रकट करते हैं :-

नाक्षाणि प्रद्विषन्त्यन्नप्रतिक्षयभयान्न च।
दर्पात्स्वैरं चरन्त्याज्ञामेवानूद्यन्ति भृत्यवत्।।२४।।

परिमित आहार करनेवाले व्यक्ति की इन्द्रियाँ मानो इस भय से कि कहीं उपवास के द्वारा हमारा नाश ही न हो जाय, विरुद्ध नहीं हुआ करती और न मद के वेग में आकर स्वच्छंद विषयों में विहार ही किया करती हैं। किन्तु एक नौकर के समान आज्ञा के साथ ही निर्दिष्ट कार्य करने के लिये उद्यत हो जाया करती है।

परिमित भोजन करने से और भी
जो विशिष्ट गुण उत्पन्न हुआ करते हैं उनको बताते हैं :-

शमयत्युपवासोत्थवातपित्तप्रकोपजाः।
रुजो मिताशी रोचिष्णु ब्रह्मवर्चसमश्नुते।।२५।।

उपवास के द्वारा वात पित्त के कुपित हो जाने से जो व्याधियाँ उत्पन्न हुआ करती हैं वे सब परिमित भोजन के द्वारा शांत हो जाया करती हैं। क्योंकि वात पित्त दोनों ही उन्मार्गगामी हैं। अतएव अनशन के निमित्त से धातुओं में वैषम्य उत्पन्न होता है और परिमित भोजन से उनमें साम्य आता है। इसके सिवाय इस अवमोदर्य के प्रताप से साधु प्रकाशस्वभाव परमात्मतेज को अथवा श्रुतज्ञान को भी प्राप्त हुआ करता है।

इस प्रकार अवमोदर्यतप का वर्णन करके क्रमानुसार वृत्तिपरिसंख्यात्मनतप का लक्षण और उसका फल बताते हैं :-

भिक्षागोचरचित्रदातृचरणामत्रान्नसद्मादिगात्,
संकल्पाच्छूमणस्य वृत्तिपरिसंख्यानं तपोङ्गस्थितिः।
नैराश्याय तदाचरेन्निजरसासृग्मांससंशोषण,
द्वारेणेन्द्रियसंयमाय च परं निर्वेदमासेदिवान्।।२६।।

भिक्षा के विषय में दाता, गमन, [१]पात्र, अन्न और गृह आदि के संबंध से अनेक प्रकार के संकल्प किये जा सकते हैं। क्योंकि साधुओं की शरीर के लिये संकल्पपूर्वक होनेवाली वृत्ति का ही नाम वृत्तिपरिसंख्यान है। यह संकल्प दाता आदि के संबंध से नीचे लिखे अनुसार अनेक प्रकार का हो सकता है। यथा -

दाता के संबंध से - चातुर्वर्ण्य में से जिनके यहाँ का भोजन ग्रहण कर सकते हैं उनके विषय में ऐसा विचार करना कि आज यदि ब्राह्मण पडगावेगा तब तो भोजन करेंगे, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार क्षत्रियादि के विषय में। अथवा ऐसा संकल्प करना कि आज यदि वृद्ध पुरुष प्रतिग्रह करेगा तब तो भोजन के लिये ठहरेंगे, अन्यथा नहीं। इसी तरह बाल, युवा आदि के विषय में समझना चाहिये। यद्वा ऐसा विचार करके भोजन के लिये निकलना कि आज यदि जूता पहरकर सामने आता हुआ व्यक्ति भोजन के लिये कहेगा तो ठहरेंगे, अन्यथा नहीं। अथवा बीच मार्ग में खड़ा होकर पडगावेगा तो ठहरेंगे, अन्यथा नहीं। यद्वा ऐसा विचार कर लेना कि हाथी पर चढ़ा हुआ व्यक्ति प्रतिग्रह करेगा तभी भोजन करेंगे, अन्यथा नहीं इस संबंधं में पुरुष की तरह स्त्रियों के विषय में भी परिसंख्यान किया जा सकता हैं। इस प्रकार दाता के संबंध से अनेक प्रकार के संकल्प हो सकते हैं।

गमन के संबंध से - जिस गली में होकर जाना पडता है उसमें घुसते ही यदि भोजन का निमित्त मिलेगा तब तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार गली में प्राञ्जल, गोमूत्रिका के आकार, अथवा चतुरस्त्राकार, यद्वा भीतर से लेकर बाहर निकलने तक, या शलभमाला के भ्रमण की तरह अथवा गोचर्या के आकार में भ्रमण करते हुए आज भोजन के लिये मुझे कोई पडगावेगा तो ठहरूँगा, अन्यथा नहीं। इत्यादि गमन के निमित्त

---

१ - कुंडी आदि भाजन - बर्तन

से भी अनेक तरह का संकल्प हुआ करता है।

पात्र के संबंध से - भी विविधा प्रकार का संकल्प किया जाता है। यथा - आज मुझे सुवर्णपात्र में यदि कोई आहार देगा तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार चांदी कांसा तांबा पीतल मट्टी आदि के बने हुए अथवा उसके किसी अवान्तर भेद के विषय में भी संकल्प किया जाता है।

अन्न के विषय में - आज मुझे पिण्डभूत आहार, अथवा द्रवरूप पेय पदार्थ, यद्वा लपसी या मसूर चना जव आदि अन्न मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार शाक कुल्माषादि से मिला हुआ भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। यद्वा चारों तरफ शाक और बीच में भात रक्खा हुआ मिलेगा तो भोजन करूँगा अन्यथा नहीं। इसी तरह चारों तरफ व्यञ्जन और बीच में या एक तरफ अन्न, या अनेक व्यञ्जनों के बीच में पुष्पावली की तरह रक्खा हुआ [१]सिक्थक अथवा निष्पाचादि से मिला अन्न, यद्वा केवल शाक या व्यञ्जनादिक, हाथ जिसमें लिप्त हो जाय या न हो सकें ऐसी चीज, झोलदार या वगेर झोल का पदार्थ या और किसी पानक प्रभृति पदार्थ के निमित्त से भी ऐसा संकल्प किया जा सकता है कि यदि ऐसा भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।

गृह के विषय में - अमुक अमुक मकानों में या इतने ही मकानों में भोजन के लिये प्रवेश करूँगा, अधिक में नहीं इत्यादि। आदि शब्द से गली बाजार भिक्षा और दातृक्रिया आदि का संकल्प भी समझ लेना चाहिये। जैसे कि अमुक गली या बाजार में प्रवेश करने के बाद यदि भिक्षा का लाभ होगा तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं; ऐसा संकल्प करना। अथवा इसी प्रकार एक दो आदि संख्या की अपेक्षा गली कूंचों में आहार के लिये प्रवेश करने का संकल्प करना। तथा पाटक निवसन विषयक संकल्प का स्वरूप भी कई प्रकार से है - कोई कोई कहते हैं कि पाटक निवसन से केवल मुहल्ला की ही भूमि के स्पर्श करने का संकल्प किया जाता है; उसके भीतर बने हुए घरों की भूमि के स्पर्श करने का संकल्प नहीं किया जाता। कोई कहते हैं कि घर की परिकर भूमि - आसपास की जमीन का स्पर्श करके आहार ग्रहण करने के संकल्प को निवसनसंकल्प कहते हैं। और कोई कोई मुहल्ला की तथा घर के आसपास की ऐसे

१ - जिसमें पानी का भाग कम हो ऐसे रंधे हुए दाल खिचडी आदि आहार को और सत्तू को भी सिक्थक कहते हैं।

दोनों ही भूमियों में प्रवेश करके आहार ग्रहण करने के संकल्प को पाटक निवसन के संकल्प में लेते हैं।

इसी प्रकार भिक्षा के विषय में भी संकल्प किया जाता है। जैसे कि एक ही भिक्षा ग्रहण करूँगा या दो ही ग्रहण करूँगा, अधिक नहीं; इत्यादि। अथवा भिक्षा को अनियत रखकर, इतने ही ग्रास लूंगा, अधिक नहीं; या इतनी ही वस्तुओं को लूंगा, अधिक को नहीं। यद्वा इतने काल तक ही भिक्षा लूंगा, अथवा इसी काल में भिक्षा लूंगा, बाद में नहीं; ऐसा भी संकल्प किया जाता है। इसी तरह दातृक्रिया का भी संकल्प किया जाता है। जैसे कि एक ही दाता भोजन देगा तो ग्रहण करूँगा; अथवा दो या तीन मिलकर आहार देंगे तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं इत्यादि। जैसा कि कहा भी है कि :-

गत्वा प्रत्यागतमृजुविधिश्च गोमूत्रिका तथा पेटा।
शम्बुकावर्तविधिः पतङ्गवीथी च गोचर्या।।
पाटकनिवसनभिक्षापरिमाणं दातृदेयपपरिमाणम्।
पिण्डाशनपानाशनखिच्चयवागूर्व्रतयति सः।।
संसृष्टफलकपरिखा पुष्पोपहतं च शुद्धकोपहतम्।
लेपकमलेपकं पानकं च निःसिक्थकं ससिक्थं च।।
पात्रस्य दायकादेरवग्रहो बहुविधः स्वसामर्थ्यात्।
इत्येवमनेकविधा विज्ञेया वृत्तिपरिसंख्या।।

भावार्थ :- जो मुमुक्षु संसार शरीर और भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो चुका है उसको चाहिये कि नैराश्य और इन्द्रियसंयम को सिद्ध करने के लिये इस उत्कृष्ट वृत्तिपरिसंख्यानतप का पालन करे। यह तप अपने शरीर के रस रक्त मांस के शोषण करने से ही हो सकता है। अतएव शक्ति के अनुसार अनेक प्रकार के जो वृत्तिपरिसंख्यान के भेद गिनाये हैं उनका पालन करके विषयों की आशा और इन्द्रियों के उद्रेक का निरोध सिद्ध करना चाहिये।

रसपरित्यागतप का लक्षण बताते हैं :-

त्यागः क्षीरदधीक्षुतैलहविषां षण्णां रसानां च यः,
कात्स्न्र्येनावयवेन वा [१]यदसनं सूपस्य शाकस्य च।
आचाम्लं विकटौदनं यददनं शुद्धौदनं सिक्थव, -
द्रूक्षं शीतलमप्यसौ रसपरित्यागस्तपोऽनेकधा।।२७।।

दूध वही [२]इक्षु तैल और हविष् - घृत अथवा मधुर आम्ल लवण कटु कषाय और तिक्त इन रसों के सर्वात्मना अथवा एकदेशरूप से छोड़ने को, यद्वा दाल आदि व्यंजन और शाक - हरितकाय वनस्पति आदि में से किसी भी एक दो के अथवा सबके छोड़ देने को रसपरित्याग कहते हैं। केवल मांड ग्रहण करना, अथवा विकट - अतिपक्व यद्वा उष्ण जल मिला हुआ भोजन करना, केवल भात ही लेना, अथवा जिसमें द्रवरहित सूखा ग्रास तोड़कर लिया जाता हो ऐसे रोटी आदिका ही भोजन करना, यद्वा स्नेहहीन रूक्ष पदार्थ ही ग्रहण करना, अथवा ठंडा कुछ देर रक्खा हुआ भोजन लेना, ये सब रसपरित्याग के ही स्वरूप हैं। अतएव यह तप अनेक प्रकार का हो सकता है।

भावार्थ :- रसपरित्याग शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं। अतएव इसके विशेष लक्षण करने की आवश्यकता नहीं हैं। किन्तु इतना बता देना आवश्यक है कि रस अनेक तरह का हो सकता है और वह अनेक तरह से छोड़ा जा सकता है। अतएव यह तप भी अनेक प्रकार का हो सकता है। इसीलिये यहाँ पर उसके कई प्रकार बता दिये गये हैं। और बाकी के भेदों का भी संग्रह कर लेने के लिये अपि शब्द का उल्लेख कर दिया है। अतएव इस तप के पालन करने में प्रवृत्त हुए साधुओं को श्रेष्ठ और इष्टरूप रस गंधादि से युक्त तथा रूप बल वीर्य गृद्धि एवं दर्प के बढ़ानेवाले, यद्वा जिनके बनाने आदि के लिये महान् आरंभ में प्रवृत्ति करनी पडे, ऐसे परमान्नपान फलभक्षण औषधादिक सभी आहारों का परित्याग कर देना चाहिये।

जो संसार से भीरु है, सर्वज्ञ की आज्ञा में दृढ़ भक्ति रखता है, तथा तप और

---

१ - असन - त्याग। २ - इक्षु शब्द से मतलब गुड खांड शक्कर राव आदिका है।

समाधि का अभिलाषी है, किन्तु सल्लेखना प्रारंभ करने के पूर्व ही जिसने नवनीतादिक चारों महाविकृतियों का जीवनभर के लिये परित्याग कर दिया है, ऐसा शरीरसल्लेखना की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति ही रसपरित्याग का विशेषरूप से अभ्यास कर सकता है। इस बात को दो पद्यों में बताते हैं :-

काङ्क्षाकृन्नवनीतमक्षमदसृण्मांसं प्रसङ्गप्रदं,
मद्यं क्षौद्रमसंयमार्थमुदितं यद्यच्च चत्वार्यपि।
संमूर्छालसवर्णजन्तुनिचितान्युच्चैर्मनोविक्रिया, -
हेतुत्वादपि यन्महाविकृतयस्त्याज्यान्यतो धार्मिकैः।।२८।।
इत्याज्ञां दृढमार्हतीं दधदधाद्धीतोऽत्यजत् तानि,
यश्चत्वार्येव तपःसमाधिरसिकः प्रागेव जीवावधि।
अभ्यस्येत्स विशेषतो रसपरित्यागं वपुः संलिखन्,
स्याद् दूषीविषवद्धि तन्वपि विकृत्यङ्गं नं शान्त्यै श्रितम्।।२९।।

जो साधु भगवान अर्हन्तदेव की आज्ञा को दृढ़ता के साथ धारण करता है। अर्थात् 'अबतक जो मैं संसार में पड़ा हूँ वह सर्वज्ञदेव की आज्ञा का उल्लंघन करने से ही; और भविष्यत् में भी यदि उसका उल्लंघन करूँगा तो इस दुरंत संसार में ही पड़ूंगा, अतएव संसार में छूटने की इच्छा रखनेवाला मैं अब कभी भी इस आज्ञा का उल्लंघन न करूँगा।' इस तरह की दृढ़ता रखकर जो मुमुक्षु जिनेन्द्रदेव की, चारों महा विकृतियों के सर्वथा परित्याग करने की, आज्ञा को धारण करता है और इसलिये जो तप में एकाग्रता धारण करने का प्रेमी है, अथवा तप और समाधि दोनों ही की आकांक्षा रखता है, तथा पापरूप अथवा पाप के कारणभूत संसार से त्रस्त हो चुका है उसे शरीरसल्लेखना का प्रारंभ करने के पूर्व ही चारों महाविकृतियों का जीवनपर्यन्त के लिये परित्याग कर देना चाहिये।

नवनीत मांस मद्य और मधु इन चार पदार्थों को आगम में महाविकृति कहा है। क्योंकि ये हृदय में महान् विकार उत्पन्न करनेवाले हैं। इसके सिवाय इनमें, जिस वर्ण

के ये पदार्थ होते हैं सर्वथा उसी वर्ण के, अनंतानंत सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हुआ करते हैं। नवनीत में नवनीत के आकार और मांस में मांस के आकार के अनंतानंत निगोदिया जीव हर अवस्था में उत्पन्न हुआ करते और रहा करते हैं। इसी प्रकार मद्यादिकको भी हर समय ऐसे त्रसजीवों से व्याप्त ही समझना चाहिये। अतएव इन चारों ही पदार्थों के सेवन में द्रव्यहिंसा अवश्यम्भाविनी है। और इतना ही नहीं किन्तु प्रत्येक में विशिष्ट दोष भी पाये जाते हैं। यथा :-

नवनीत - यह गृद्धि को उत्पन्न किया करता है। मांस - इन्द्रियों में दर्प उत्पन्न करनेवाला है। मद्य - इसके एकबार सेवन करते ही पुनः पुनः सेवन करने की अभिलाषा हुआ करती हैं, अथवा अगम्या - वेश्या या परस्त्री आदि के साथ रमण करने में विशेषरूप से प्रवृत्ति होने लगती है। मधु - इसके निमित्त से असंयम उत्पन्न हुआ करता है। क्योंकि मधु के भक्षण करने से रस में विशेष अनुराग हुआ करता है, इसलिये इन्द्रियासंयम, और उसमें उत्पन्न होनेवाले या रहनेवाले जीवों का घात होता है इसलिये प्राणासंयम भी हुआ करता है। इस प्रकार इन चारों ही महाविकृतियों में समस्त रूप से या व्यस्तरूप से महान् दोष पाये जाते हैं। अतएव अहिंसाधर्म का पालन करनेवाले भव्यों को इनका सर्वथा परिहार करना उचित है।

ऐसा समझकर और ऊपर लिखे अनुसार जो साधु चारों ही महाविकृतियों का परित्याग कर देता है वही शरीर को कृश करते हुए इस रसपरित्याग तप का विशेषरूप से अभ्यास कर सकता है। इसलिये जो मुमुक्षु हैं उन्हें इनका त्याग करके इस तप में विशेष अभ्यास करना ही चाहिये। क्योंकि इसका थोड़ासा भी पालन कल्याण के लिये ही होगा। वह दूषित विष की तरह रंचमात्र भी विकार पैदा नहीं कर सकता।

क्रमप्राप्त विविक्तशय्यासन तप का लक्षण और फल बताते हैं :-

विजन्तुविहिताबलाद्यविषये मनोविक्रिया,
निमित्तरहिते रतिं ददाति शून्यसद्मादिके।
स्मृतं शयनमासनाद्यथ विविक्तशय्यासनं,
तपोर्तिहतिवर्णिताश्रुतसमाधिसंसिद्धये।।३०।।

पहले पिण्डशुद्धि के प्रकरण में जो उद्गमादिक दोष बताये हैं उनसे रहित, और जहाँ पर स्त्री, पशु, नपुंसक, गृहस्थ तथा क्षुद्र जीवों का संचार नहीं पाया जाता, जो - मनमें विकार उत्पन्न करनेवाले - जिनसे अनेक प्रकार का संकल्प विकल्प उत्पन्न हो सकता है - ऐसे शब्द - कोलाहलादिक से रहित है, जहाँ पर मन की विषयान्तर में गमन करने की उत्सुकता निवृत्त हो जाया करती है, और जहाँ पर किसीका भी आहार विहार या संसर्ग नहीं पाया जाता ऐसे एकान्तस्थान में अनेक प्रकार की पीड़ाओं का परिहार करने के लिये अथवा ब्रह्मचर्य का पालन और शास्त्रों का विचार तथा उत्तम ध्यान को भले प्रकार सिद्ध करने के लिये शयन और आसन - उठने बैठने या खड़े होने आदि को आचार्य विविक्तशय्यासन नाम का तप कहते हैं।

इस तप का पालन करनेवाला साधु असाधुलोकों के संसर्ग संभाषण आदि से होनेवाले दोषों या संक्लेशादि भावों से युक्त नहीं हो सकता। अतएव विविक्तशय्यासन के इस महान् फल को प्रकट करते हैं :-

असभ्यजनसंवासदर्शनोत्थैर्न मथ्यते।
मोहानुरागविद्वेषैर्विविक्तवसतिं श्रितः।।३१।।

जो साधु एकान्तस्थान में निवास करता है वह असभ्य लोगों के सहवास अवलोकन संभाषण आदि के द्वारा उत्पन्न होनेवाले मोह - अज्ञान अथवा ममत्व यद्वा अनुराग विद्वेषप्रभृति दोषों से दूषित अथवा त्रस्त नहीं हो सकता। जैसा कि कहा भी है कि :-

कलहो रोलं झञ्झा व्यामोहः संकरो ममत्वं च।
ध्यानाध्ययनविधातो नास्ति विविक्ते मुनेर्वसतः।।

असाधु लोगों के पास में रहने से किसी भी प्रकार का झगडा टंटा या कोलाहल नहीं हो सकता।। न किसी प्रकार का परिणामों में संक्लेश ही हो सकता है। असंयमी पुरुषों के साथ मिश्रण होते रहने से संयम के पालन में हानि पहुँचती है। और ध्यान

तथा स्वाध्याय में बाधा उपस्थित होती है।

बाह्यतप के छठ्ठे भेद कायक्लेश का लक्षण बताकर
उसका पालन करने के लिये साधुओं को प्रेरित करते हैं :-

ऊर्ध्वार्काद्ययनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः,
स्थानैरेकपदाग्रगामिभिरनिष्ठीवाग्रिमावग्रहैः।
योगैश्चातपनादिभिः प्रशमिना संतापनं यत्तनोः,
कायक्लेशमिदं तपोऽर्त्युपनतौ सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत्।।३२।।

पीड़ा या दुःखों के आकर उपस्थित होनेपर भी प्रशस्त ध्यान से विचलित न होकर उलटा उनको भले प्रकार सिद्ध करने के लिये जिन क्रियाओं के करने से शरीर को क्लेश पहुँच सकता है उन क्रियाओं के करने को कायक्लेश कहते हैं। यह तप भी मुमुक्षुओं के लिये आवश्यक हैं। अतएव प्रशांत तपस्वियों को इसका नित्य ही सेवन करना चाहिये।

यह शरीर के कदर्थनरूप तप अयन शयन आदि अनेक उपायों के द्वारा सिद्ध हुआ करता है। प्रकृत में यह उपाय छह प्रकार बताया है। यथा अयन, शयन, आसन, स्थान, अवग्रह और योग। इनमें भी अयन के अनुसूर्यादिक, शयन के शवशय्यादिक, आसन के निरासनादिक, स्थान के एकपदादिक, अवग्रह के अनिष्ठीवनादिक और योग के आतपनादिक अनेक उत्तर भेद होते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

ठाणसयणासणेहिं विविहेहिमवग्गहेहिं बहुगेहिं।
अणुवीचीपरिताओ कायकिलेसो हवदि एसो।।

उत्तर भेदों के नाम इस प्रकार हैं :-

अनुसूर्य प्रतिसूर्य तिर्यक्सूर्य तथोर्ध्वसूर्यं च।
तद्भ्रमकेणापि गतं प्रत्यागमनं पुनर्गत्वा।।

साधारं सविचारं ससन्निरोधं तथा विसृष्टाङ्गम्।
समपादमेकपादं गृद्ध्रस्थित्या यतेः स्थानम्।।
समपर्यङ्कनिषद्योऽसमयुतगोदोहिकास्तथोत्कुटिका।
मकरमुखहस्तिहस्तौ गोशय्या चार्धपर्यङ्कः।।
वीरासनदण्डाद्या यतोर्ध्वशय्या च लगडशय्या च।
उत्तानमवाक्शयनं शवशय्या चैकपार्श्वशय्या च।।
अभ्रावकाशशय्या निष्ठीवनवर्जनं न कण्डूया।
तृणफलकशिलेलास्वावसेवनं केशलोचं च।।
स्वापवियोगो रात्रावस्नानमदन्तघर्षणं चैव।
कायल्लेशतपोदः शीतोष्णातापनाप्रभृति।।

अयन :- इसके अनुसूर्य आदि अनेक भेद हैं। सूर्य के सन्मुख गमन करने को अनुसूर्य, सूर्य को पीठ की तरफ करके गमन करने को प्रतिसूर्य, और वाम भाग में अथवा दक्षिण भाग में सूर्य को करके गमन करने को तिर्यक् - सूर्य तथा शिर के ऊपर सूर्य को करके गमन करने को ऊर्ध्वसूर्य कहते हैं। इसी प्रकार सूर्य जिधर जिधर को घूमता जाय उधर उधर ही घूमते जाने को सूर्यभ्रमगति और किसी ग्रामादिक या तीर्थादिक स्थान को जाकर वहाँ से पुनः लौटने को गमनागमन कहते हैं। इसी तरह अयन के अनेक भेद होते हैं।

स्थान -: इसके भी साधारादिक अनेक भेद हैं। कायोत्सर्ग धारण करने को स्थान कहते हैं। जिसमें स्तंभादिक का आश्रय लेना पड़े उसको साधार, जिसमें संक्रमण पाया जाय उसको सविचार, जो निश्चलरूप से धारण किया जाय उसको ससन्निरोध, जिसमें संपूर्ण शरीर छोड़ दिया जाय - ढीला डाल दिया जाय उसको विसृष्टाङ्ग, जिसमें दोनों पैर समान रक्खे जांय उसको समपाद, एक पैर से खड़े होने को एकपाद, और जिस तरह गृद्धपक्षी उड़ते समय अपने दोनों पंख ऊपर को कर लेता है उसी प्रकार दोनों भुजाओं को ऊपर करके जो कायोत्सर्ग धारण किया जाता है उसको प्रसारितबाहु कायोत्सर्ग कहते हैं। इस तरह स्थान के भी अनेक भेद हैं।

आसन :- जिसमें पिंडलियाँ और स्फिक् बराबर मिल जांय इस तरह से बैठने को

समपर्यङ्कासन कहते हैं। इससे उल्टा असमपर्यङ्कासन हुआ करता है जिस तरह गौ के दुहने के समय बैठते हैं उसी तरह से ध्यानादिके लिये बैठने को गोदोहासन कहते हैं। ऊपर को संकुचित होकर बैठने का नाम उत्कुटिकासन है। मकर के मुख की तरह दोनों पैरों को बनाकर बैठने का नाम मकरमुखासन है। हाथी की सूंड की तरह एक पैर को अथवा एक हाथ को फैलाकर बैठने का नाम हस्तिहस्तासन है। जिस तरह गौ बैठती है उस तरह से बैठने को गोशय्यासन कहते हैं। अर्धपर्यङ्कासन शब्द का अर्थ स्पष्ट ही है। दोनों जंघाओं को दूरवर्ती रखकर बैठने का नाम वीरासन है।. जिसमें शरीर दण्ड के समान आयत बन जाय इस तरह से बैठन को दण्डासन कहते हैं। इस प्रकार आसन के अनेक भेद हैं।

शयन :- शरीर को संकुचित करके सोने को लगडशय्या कहते हैं। ऊपर को मुख करके सोने का नाम उत्तानशय्या, और नीचे को मुख करके सोने का नाम अवाक्शय्या है। शव की तरह पड़कर सोने को शवशय्या कहते हैं। वाम या दक्षिण किसी भी एक भाग से सोने को एकपार्श्व शय्या कहते हैं। बाहिर निरावरण स्थान में सोने को अभ्रावकाश शय्या कहते हैं। इस प्रकार शयन के भी अनेक भेद होते हैं।

अवग्रह :- अनेक प्रकार की बाधाओं के जीतने को अवग्रह कहते हैं। यह भी अनेक प्रकार का हो सकता है। यथा - थूँकने या खकारने की बाधा को जीतना, छींक या जंभाई को रोकना, खुजली मालूम पड़ने पर भी खुजाना नहीं, तृण कांटा या किसी तरह की लकड़ी आदि के लग जानेपर खिन्न न होना, फोडा फूँसी या फफोला आदि के हो जानेपर भी दु:खी न होना, कंकड पत्थरों के लग जानेपर या वैसी निम्नोन्नतादिक भूमि के स्पर्श से भी खेद न मानना, यथा समय केशों का उत्पाटन करना और उसकी पीड़ा की तरफ लक्ष्य न देना, रात्रि में भी नहीं सोना, कभी स्नान न करना, और न कभी दांतों को मांजना। इत्यादि अवग्रह के अनेक भेद हैं। क्योंकि जिन क्रियाओं और अभिप्रायों से धर्मकृत्यों के साधन करने में सहायता मिल सकती है उन सभी को अवग्रह कह सकते हैं।

योग :- इसके भी आतपनादिक अनेक भेद हैं। ग्रीष्मऋतु में पर्वत के शिखर पर सूर्य के सन्मुख खड़े होना आतपन कहलाता हैं। इसी प्रकार वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे और शीतकाल में चौराये पर ध्यानादि के लिये बैठना; इत्यादि अनेक प्रकार से योग

हुआ करता है।

भावार्थ :- यही बात पहले भी कही जा चुकी है कि दु:खों को सहने करने का अभ्यास न रहने से कदाचित् दु:खों के उपस्थित होते ही ज्ञान ध्यान आदि सब कुछ छूट जाता है अतएव साधुओं को अपनी शक्ति के अनुसार दु:खों के सहने करते रहने का अभ्यास करना चाहिये। इसलिये यहाँ पर अनेक उपायों से कायक्लेश करने का उपदेश दिया है। जिससे कि स्वाध्याय और ध्यानादिक के साधन में तथा दूसरे भी संपूर्ण अवश्य पालनीय कर्तव्यों में आपत्तियों के आ जानेपर बाधा पड़ जाय।

इस प्रकार बहिरंगतप के छह भेदों का वर्णन समाप्त हुआ। अब अंतरंगतप का व्याख्यान करते हैं। इस तप के प्रायश्चितादिक छह भेदों का नाम पहले लिखा जा चुका है। यहाँ पर सबसे पहले यह बताते हैं कि तप के इन छह भेदों को अंतरंग कहने का कारण क्या है ? :-

बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् स्वसंवेद्यत्वत: परै:।
अनध्यासात्तप: प्रायश्चित्ताद्यभ्यन्तरं भवेत्।।३३।।

प्रायश्चितप्रभृति तपो में बाह्यद्रव्य की अपेक्षा नहीं हैं, उसमें मुख्यतया अंत:करण के परिणामों का ही संबंध रहता है। इसके सिवाय इनका स्वयं ही संवेदन होता है, प्राय: करके इनका स्वरूप बाह्येन्द्रियों के द्वारा देखने में नहीं आ सकता। तथा जिस प्रकार अनशनादिकों को अनार्हत लोग धारण किया करते हैं उस प्रकार वे प्रायश्चितादिकों को धारण नहीं करते। अतएव प्रायश्चित विनय वैयावृत्त्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यान इन छह तपों को अंतरंग माना है।

प्रायश्चित का लक्षण और अवान्तर भेदों की संख्या बताते हैं :-

यत्कृत्याकरणे वर्ज्याऽवर्जने च रजोर्जितम्।
सोतिचारोत्र तच्छुद्धि: प्रायश्चितं दशात्म तत्।।३४।।

जिनका अवश्य ही पालन करना चाहिये ऐसे षडावश्यकप्रभृति कृत्यों का पालन

न करने से और जो वर्ज्य हैं - जिनका कभी भी पालन न करना चाहिये ऐसे हिंसादिक कर्मों का त्याग न करने से अथवा उनका अनुष्ठान करने से जो पाप का संचय होता है उसको अतिचार कहते हैं। इस अतिचार या पाप की शुद्धि का ही नाम प्रायश्चित है। इसके आलोचनादिक दश भेद हैं; जैसा कि आगे चलकर वर्णन करेंगे।

दो श्लोकों में प्रायश्चित के पालन करने का प्रयोजन प्रकट करते हैं :-

प्रमाददोषविच्छेदममर्यादाविवर्जनम्।
भावप्रसादं निःशल्यमनवस्थाव्यापोहनम्।।३५।।
चतुर्द्धाराधनं दार्ढ्यं संयमस्यैवमादिकम्।
सिसाधयिषताऽऽचर्यं प्रायश्चितं विपश्चिता।।३६।।

जो साधु चारित्र के पालन करने में असावधानता के कारण लगे हुए दोषों - अतिचारों का परिहार करना चाहता है, और मर्यादा के उल्लंघन को छोड़ना चाहता है - चाहता है कि मुझ से प्रतिज्ञात व्रतों का उल्लंघन किसी भी प्रकार न हो, जैसा कि कहा भी है कि :-

महातपस्तडागस्य संभृतस्य गुणाम्भसा।
मर्यादापालिबन्धेऽल्पावप्युपैक्षिष्ट मा क्षतिम्।।

यह महान् तप एक प्रकार का बड़ा भारी तलाव है जो कि गुणरूपी जल से भरा हुआ है। मर्यादा - इसके किनारे - पार हैं। चाहे ये किनारे छोटे से ही क्यों न हों, फिर भी उनको तोड़ने का प्रयत्न न करना चाहिये।

इसके सिवाय जो साधु परिणामों से कश्मलता को दूरकर अंतरंग भावों में प्रसत्ति उद्भूत करना चाहता है, तथा माया मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों को - अंतरंग के स्खलनरूप अतीचारों को हटाना चाहता है, एवं अनवस्था - अपराध के भी ऊपर अपराध करते जाने का निराकरण करना चाहता है, सम्यग्दर्शनादिक चारों आराधनाओं को उद्योतित करना चाहता है, संयम के साधन में दृढ़ता उत्पन्न करना चाहता है, और इसी तरह के और भी अनेक सुप्रयोजनों को सिद्ध करना चाहता है उस विवेकी साधु

को प्रायश्चित तप का अनुष्ठान अवश्य ही करना चाहिये।

प्रायश्चित शब्द का निरुक्तिसिद्ध अर्थ बताते हैं :-

प्रायो लोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धिकृत्क्रिया।
प्राये तपसि वा चित्तं निश्चयस्तन्निरुच्यते।।३७।।

प्राय: शब्द का अर्थ लोक और चित्त शब्द का अर्थ मन होता है। अतएव उस क्रिया या अनुष्ठान को प्रायश्चित्त कहते हैं जिसके कि करने से अपने साधर्मी और संघ में रहनेवाले लोगों का मन अपनी तरफ से शुद्ध हो जाय। किसीसे अपराध बन जानेपर सहवर्तियों के मन में जो ग्लानि उत्पन्न हो जाती है वह जिस कर्म के करने से दूर हो जाय उसीको प्रायश्चित्त कहते हैं।

अथवा प्राय: शब्द का अर्थ तप और चित्त शब्द का अर्थ निश्चय होता है। अतएव अनशन अवमोदर्य आदि तपों के विषय में उनकी अनुष्ठेयता के श्रद्धान करने को भी प्रायश्चित्त कहते हैं।

साधुओं का चित्त जिस कर्म में लीन हो या रहना चाहिये उस कर्म को अथवा अपराध के संशोधन को भी प्रायश्चित्त कहते हैं।

इस प्रायश्चित्त नामक तप के दश भेद माने हैं। यथा :- आलोचन प्रतिक्रमण तदुभय (आलोचनप्रतिक्रमण) विवेक व्युत्सर्ग तपछेद मूलपरिहार और श्रद्धान। इनमें से क्रम के अनुसार पहले भेद आलोचन का स्वरूप और उसके भेद दिखाते हैं :-

सालोचनाद्यस्तद्भेद: प्रश्रयाद्धर्मसूरये।
यद्दशाकम्पिताद्यूनं स्वप्रमादनिवेदनम्।।३८।।

धर्माचार्य के सम्मुख विनय और भक्ति से नम्र होकर अपने प्रमाद और तज्जनित दोषों को छोड़कर निवेदन कर देने का नाम आलोचन प्रायश्चित्त है। जैसा कि कहा भी है कि :-

मस्तकविन्यस्तकरः कृतिकर्म विधाय शुद्धचेतस्कः।
आलोचयति सुविहितः सर्वान् दोषांस्त्यजन् रहसि।।

आलोचन प्रायश्चित्त के विषय में एक बात विशेष समझने की है। वह यह कि पुरुष यदि अपने दोषों का आलोचन करे तो एकान्तमें भी कर सकता है, किन्तु स्त्रियों को ऐसा न करना चाहिये। उन्हें दो या तीन के आश्रय से तथा प्रकाश में ही आलोचन करना उचित हैं।

आलोचन के संबंध में देशकाल के विधान का निर्णय करते हैं :-

प्राह्णेऽपराह्णे सद्देशे बालवत् साधुनाखिलम्।
स्वागस्त्रिरार्जवाद्वाच्यं सूरेः शोध्यं च तेन तत्।।३९।।

प्रमाद से अपराध करनेवाले साधु को अपना संपूर्ण पाप धर्माचार्य के सम्मुख माया या कपट को छोड़कर बालक की तरह ज्यों का त्यों कह देना चाहिये। तथा याद कर करके तीन बार कहना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

इयमुजुभावमुवगदो संवेदो सेसरिं तु तिक्खंतो।
लेस्साहि विसुज्झंतो उवेदि सल्लं समुद्धरिदुं।।
जह बालो जप्पंतो कज्जमकज्जं च उज्जुगं भणदि।
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूणं।।

इस प्रकार जब साधु अपने दोषों का निवेदन कर चुके तब धर्माचार्य को प्रातःकाल के समय अथवा सायंकाल के समय प्रशस्त स्थान में और उत्तम लग्न में सुनिरूपित प्रायश्चित देकर उस साधु के अपराध का निराकरण कर देना चाहिये।

अर्हद्गृह सिद्धक्षेत्र समुद्र कमलसरोवर क्षीरफलों से व्याप्त स्थान और तोरण उद्यान आदि स्थान आलोचन करने और प्रायश्चित देने के लिये उत्तम और प्रशस्त माने गये हैं। आचार्यगण ऐसे स्थानों पर ही साधु को शुद्ध करने के लिये आलोचना कराना चाहते

हैं।

स्थान की तरह लग्न के विषयमें भी शुभ चंद्रमा तिथि नक्षत्र घडी आदि देख लेना उचित है। जैसा कि कहा भी है कि :-

आलोचणादिआ पुण होदि पसत्थेवि सुद्धभावं सा।
पुव्वह्णे अवरह्णे सोम्मत्तिहीरिक्खवेलाए।।

जिस रत्नत्रय मार्ग का साधु आराधन करता है उसका यदि एकदेशरूप से विराधन हो जाय तब तो आकंपितादिक दश दोषों से रहित पदविभागिका नाम की आलोचना करनी चाहिये। और यदि दोष बड़ा हो या स्मरण में न आ सके अथवा व्रतभंग हो जाय तो औधी नामक आलोचना करना उचित है। इसी बात का दश दोषों के नाम और लक्षण बताते हुए पाँच पद्यों में वर्णन करते हैं :-

आकम्पितं गुरुच्छेदभयादावर्जनं गुरोः।
तपःशूरस्तवात्तत्र स्वाऽशक्त्याख्यानुमापितम्।।४०।।
यद् दृष्टं दूषणस्यान्यदृष्टस्यैव पृथा गुरोः।
बादरं बादरस्यैव सूक्ष्मं सूक्ष्मस्य केवलम्।।४१।।
छन्नं कीदृक्चिकित्से दृग्दोषे पृष्टेवति तद्विधिः।
शब्दाकुलं गुरोः स्वागः शब्दनं शब्दसंकुले।।४२।।
दोषो बहुजनं सूरिदत्तान्यक्षुण्णतत्कृतिः।
बालाच्छेदग्रहोऽव्यक्तं समात्तत्सेवितं त्वसौ।।४३।।
दशेत्युज्झन् मलान्मूलाप्राप्तः पदविभागिकाम्।
प्रकृत्यालोचनां मूलप्राप्तश्चौर्धीं तपश्चरेत्।।४४।। (पञ्चकम्)

जिस रत्नत्रय मार्ग का साधु आराधन करता है उसका प्रमादवश एक देशरूप से विराधन हो जानेपर मुमुक्षु को दश दोष छोड़कर पदविभागिका नामक आलोचन करके

प्रायश्चित्त तप का अनुष्ठान करना चाहिये।

विशेष आलोचना को पदविभागिका कहते हैं। जिस समय दीक्षा ग्रहण की हो उसी समय से जो जब जहाँ और जिस तरह से अपराध बन गया हो उसको उसी समय और उसी जगह तथा उसी तरह प्रकाशित करने को विशेष आलोचन कहते हैं।

जिसने अपने व्रतादिक को सर्वात्मना भंग कर दिया है उसको दश दोष रहित औधी आलोचना करनी चाहिये। सामान्य आलोचन को औधी कहते हैं।

आलोचन करते समय जिन दश दोषों को छोड़ना चाहिये उनका लक्षण इस प्रकार है :-

१ - आचार्य महान् प्रायश्चित्त न दे दें इस भय और शंका से उपकरण आदि देकर अथवा किसी अन्य उपाय से उनको थोड़ा प्रायश्चित्त देने के लिये अपने अनुकूल करने का नाम आकंपित दोष है।

२ - प्रार्थना करनेपर गुरु थोड़ासा ही प्रायश्चित देकर मुझपर अवश्य ही अनुग्रह करेंगे इस बात को अनुमान से जानने के बाद 'उन वीर पुरुषों को धन्य है जो कि उत्कृष्ट तप किया करते हैं या कर सकते है' इस तरह से तपःशूर पुरुषों की स्तुति करके तप के विषय में अपनी अशक्ति जाहिर कर अपने अपराध के प्रकाशित करने को अनुमापितदोष कहते हैं।

३ - यदि अपने अपराध को किसीने देख लिया तब तो गुरु के समक्ष कह दिया, अन्यथा नहीं। इस तरह दूसरे के द्वारा देखे हुए ही दोष के प्रकाशित करने को दृष्ट दोष कहते हैं।

४ - गुरु के सामने छोटे छोटे अपराध को तो छिपा लेना, और केवल बड़े बड़े ही अपराधों को जाहिर करना इसको बादर दोष कहते हैं।

५ - स्थूल दोषों को छिपाकर केवल सूक्ष्म दोषों को ही गुरु के सम्मुख निरूपण करना इसको सूक्ष्मदोष कहते हैं।

६ - अपने दोष के उद्देश से गुरु से यह पूछना कि ऐसा अपराध बन जानेपर, क्या प्रायश्चित्त होना चाहिये ? किन्तु अपने दोष को जाहिर न करना। और उत्तर में गुरु से प्रायश्चित्त मालूम हो जानेपर उसका चुपके से अनुष्ठान कर लेना इसको छन्नदोष कहते हैं।

७ - पक्षादिक अतीचारों की शुद्धि के समय जहाँ पर बहुत से लोगों का शब्द हो रहा हो वहाँ पर उस कोलाहल में ही गुरु के सामने अपने दोष कथन करने को

शब्दाकुल दोष कहते हैं।

८ - अपने गुरु के दिये हुए प्रायश्चित्त का दूसरे भी उस विषय के दक्ष व्यक्तियों से चर्चा कर पालन करने को बहुजनदोष कहते हैं।

९ - अपने से ज्ञान व संयम में जो हीन है उससे प्रायश्चित्त ग्रहण करने को अव्यक्त दोष कहते हैं।

१० - अपने समान - अपराधी - पार्श्वस्थ से प्रायश्चित्त ग्रहण करने को अव्यक्तदोष कहते हैं।

इस प्रकार आलोचन के दश दोष बताये हैं। इन दोषों को छोड़कर ही गुरु के सामने अपने दोषों का आलोचन करना चाहिये। क्योंकि इस तरह से आलोचन के विना किया हुआ महान् भी तप संवर की सवर्तिनी निर्जरा का कारण नहीं हो सकता। किन्तु केवल आलोचन ही कार्यकारी है ऐसा भी न समझना चाहिये; क्योंकि आलोचन करनेपर भी अन्य विहित विधियों का आचरण न करनेवाला साधु सर्वथा दोषों से रहित नहीं हो सकता। अतएव सर्वदा दोनों ही कामों का करना आवश्यक हैं - आलोचन भी करना चाहिये और गुरुनिरूपित उचित आचरण का पालन भी करना चाहिये। इसी बात की शिक्षा देते हैं :-

सामौषधवन्महदपि न तपोऽनालोचनं गुणाय भवेत्।
मन्त्रवदावलोचनमपि कृत्वा नो विजयते विधिमकुर्वन्।।४५।।

जिस प्रकार विना विचार किये ही दी हुई सामदोष से युक्त महान् भी जीवन औषध आरोग्य के करनेवाली नहीं हो सकती उसी प्रकार उपर्युक्त आलोचन के विना किया हुआ महान् भी तप आत्मा के लिये गुणकारी नहीं हो सकता।। क्योंकि अनालोचित तप से संवर और निर्जरा दोनों नहीं हो सकते। इसी तरह मंत्र के समान आलोचन को करके भी विहित आचरण का अनुष्ठान न करनेवाला भी तपस्वी दोषों का विजेता नहीं बन सकता।

कार्य आरंभ करने के उपाय का गुप्तरूप से विचार करना इसको मंत्र कहते हैं। शत्रुओं के द्वारा अपना विनिपात तो न हो और अपने कार्य की सिद्धि हो ही जाय इसके

लिये पाँच बातों का विचार करना पड़ता है - पुरुष द्रव्य संपत्ति देश और काल। इस प्रकार पञ्चाङ्ग मंत्र को करके भी यदि कोई राजा अपने विहिताचरण में प्रवृत्त न हो तो वह शत्रुओं पर विजयी नहीं हो सकता। इसी प्रकार आलोचन करके भी विधि विहिताचरण का अनुष्ठान न करनेवाला तपस्वी दोषरहित नहीं हो सकता।

भावार्थ :- आलोचन और विहित आचरण करनेपर ही साधु अभीष्ट सिद्ध कर सकता है अन्यथा नहीं।

जिसका मन सद्गुरुओं के दिये हुए प्रायश्चित्त में लीन रहता है वह साधु अवश्य ही महती दीप्ति को प्राप्त करता है; वह बात दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं।

यथादोषं यथाम्नायं दत्तं सद्गुरुणा वहन्।
रहस्यमन्तर्भात्युच्चैः शुद्धादर्श इवाननम्।।४६।।

जिसके भीतर सुख का प्रतिबिंब पड़ा हुआ है ऐसा निर्मल दर्पण जिस प्रकार अतिशय शोभा को प्राप्त होता है उसी प्रकार जो तपस्वी आम्नाय के अनुसार और जैसा दोष हो उसके अनुरूप सद्गुरुओं के दिये हुए प्रायश्चित्त को हृदय में धारण करता है वह अतिशय दीप्ति को प्राप्त होता है।

क्रम के अनुसार प्रायश्चित्त के दूसरे भेद - प्रतिक्रमण का स्वरूप बताते हैं :-

मिथ्या मे दुष्कृतमिति प्रायोऽपायैर्निराकृतिः।
कृतस्य संवेगवता प्रतिक्रमणमागसः।।४७।।

संसार से भीरु और विषयभोगों से तथा शरीरादिक से विरक्तचित्त साधु के द्वारा 'मेरा संपूर्ण दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय, मुझसे जो जो पाप बने हैं वे सब शांत हो जाय' इस तरह के उपायों से अपने किये हुए अपराधों के निराकरण किये जाने को प्रतिक्रमण कहते हैं।

भावार्थ :- जिन बातों से धर्मकथादिक में व्यवधान पड़ सकता है उन कारणों के

मिलने पर यदि उन विषयों में उपयुक्त योगों का विस्मरण हो जाय और उस समय गुरु निकटवर्ती न हो तो संवेग और निर्वेद से मुक्त साधु उन विषयों का पुनः अनुष्ठान करता है और अपने किये हुए अल्प अपराध का 'मुझसे जो यह अपराध बन गया सो मिथ्या हो, अब फिर मैं ऐसा न करूँगा।' इस तरह कहकर निराकरण करता है। इस तरह के निराकरण करने को ही प्रतिक्रमण कहते हैं।

किसी किसीका ऐसा भी कहना है कि इस निराकरण करने में अपने दोषों का नाम लेकर उच्चारण भी करना चाहिये। जैसे कि मेरे अमुक दोष मिथ्या हो, मुझसे अमुक अपराध बन गया सो भी मिथ्या हो। इस तरह के अभिव्यक्त प्रतिकार को प्रतिक्रमण समझना चाहिये। किन्तु इस तरह का प्रतिक्रमण करने की जिसको आचार्य ने आज्ञा दी हो उसी शिष्य को करना चाहिये।

प्रायश्चित्त के तीसरे भेद तदुभय का लक्षण बताते हैं :-

दुःस्वप्नादिकृतं दोषं निराकर्तुं क्रियेत यत्।
आलोचनप्रतिक्रान्तिद्वयं तदुभयं तु तत्।।४८।।

दुःस्वप्न अथवा संक्लेशादिक परिणामों से उत्पन्न हुए दोष का निराकरण करने के लिये जो उपर्युक्त आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों का करना इसको तदुभय कहते हैं। इसमें इतनी विशेषता है कि आलोचन और प्रतिक्रमण कुछ विशिष्ट हुआ करता है। अतएव जैसी गुरु आज्ञा करें तदनुसार ही शिष्य को करना चाहिये। तथा आलोचन शिष्य को ही और आलोचन कराकर प्रतिक्रमण आचार्य को ही करना चाहिये।

विवेक का लक्षण बताते हैं :-

संसक्तेन्नादिके दोषान्निवर्तयितुमप्रभोः।
यत्तद्विभजनं साधोः स विवेकः सतां मतः।।४९।।

आपस में मिले हुए अथवा संमूर्छित अन्नादिक में जो ऐसे दोष हों जिनका कि पृथक्करण न हो सकता हो तो उस अवस्था में उस अन्नपान या उपकरणादि के छोड़ देने को

विवेक कहते हैं।

प्रकारान्तर से इसका लक्षण बताते हैं :-

विस्मृत्य ग्रहणेऽप्रासोर्ग्राहणे वाऽपरस्य वा।
प्रत्याख्यातस्य संस्मृत्य विवेको वा विसर्जनम्।।५०।।

यदि कोई सचित्त वस्तु भूल से ग्रहण करने कराने में आ जाय तो उसके छोड़ देने को विवेक कहते हैं। अथवा कोई वस्तु प्रासुक तो है पर छोडी हुई है ऐसी वस्तु भी ग्रहण हो जानेपर भले प्रकार प्रतिग्रहपूर्वक याद करके उसके छोड़ देने को विवेक कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

'शक्ति को न छिपाकर और प्रयत्नपूर्वक छोड़ते हुए भी कदाचित् किसी कारण से यदि अप्रासुक वस्तु ग्रहण करने या कराने में आ जाय, अथवा प्रासुक किन्तु प्रत्याख्यात वस्तु भूल से ग्रहण करने में या कराने में आ जाय तो याद करके उस वस्तु के छोड़ने को विवेक कहते हैं।' इसके सिवाय किसी किसीने विवेक का अर्थ इस प्रकार बताया है कि :- 'शुद्ध भी वस्तु में अशुद्धता का संदेह अथवा विपर्यास हो जानेपर यद्वा अशुद्ध वस्तु में शुद्धता का निश्चय हो जानेपर, या छोडी हुई प्रासुक वस्तु, पात्र अथवा मुख में प्राप्त हो जाय, यद्वा जिस वस्तु के ग्रहण करनेपर कषायादिक उत्पन्न होते हों, उन संपूर्ण वस्तुओं के परित्याग को विवेक कहते हैं।'

क्रमप्राप्त व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त का स्वरूप बताते हैं :-

स व्युत्सर्गो मलोत्सर्गाद्यतीचारेवलम्ब्य सत्।
ध्यानमन्तर्मुहूर्तादि कायोत्सर्गेण या स्थिति।।५१।।

मलोत्सर्ग दु:स्वप्न या दुश्चिन्तनप्रभृति का अतीचार लग जानेपर अंतर्मुहूर्त दिन पक्ष यद्वा महीना आदि काल का प्रमाण करके उतने समय तक देह से ममत्व छोड़कर प्रशस्त

ध्यान को धारण करके खड़े रहने को व्युत्सर्ग कहते हैं।

किसी किसीने नियत समयतक मन वचन काय के परित्याग को व्युत्सर्ग बताया हैं। तप प्रायश्चित्त का लक्षण बताते हैं :-

कृतापराधः श्रमणः सत्त्वादिगुणभूषणः।
यत्करोत्युपवासादिविधिं तत्क्षालनं तपः।।५२।।

जो तपस्वी सत्त्व धैर्य आदि अनेक गुणों से अलंकृत है फिर भी उससे किसी प्रकार का अपराध बन गया विधिविहित आचरण का अतिक्रमण हो गया उस अवस्था में यदि वह अपने अपराध का प्रक्षालन करने के लिये उपवास एकस्थान आचाम्ल निर्विकृति आदि बाह्यतपों को करता है तो उसकी इस क्रिया को तप नामक प्रायश्चित्त कहते हैं।

ऊपर आलोचनादिक छह प्रकार के प्रायश्चित्त का स्वरूप बताया हैं। अब यह बताते हैं कि किस किस अपराध के विषय में ये प्रायश्चित्त करने चाहिये।

भयत्वराशक्त्यबोधविस्मृतिव्यसनादिजे।
महाव्रतातिचारेमुं षोढा शुद्धिविधिं चरेत्।।५३।।

भयत्वरा - डरकर - भाग जाना, अशक्ति - सामर्थ्य की हीनता, अबोध - अज्ञान, विस्मृति - विस्मरण, व्यसन - यवनादिकों का आतङ्क, इसी तरह के रोग अभिभव आदि और भी अनेक कारणों से महाव्रतों में अतीचार लग जानेपर तपस्वियों के उपर्युक्त छह प्रकार की शुद्धिविधि - प्रायश्चित्त करना चाहिये।

भावार्थ :- आगम में भिन्न भिन्न अपराधों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार का ही प्रायश्चित्त भी बताया है। अतएव तपस्वियों को आलोचन प्रतिक्रमण तदुभय विवेक व्युत्सर्ग और तप इन छह में से यथायोग्य - अपराध के अनुरूप प्रायश्चित्त लेकर अपराध की शुद्धि कर लेनी चाहिये। जैसे कि :-

आचार्य से पूछे विना आतापन आदि के करनेपर, दूसरे के परोक्ष में उसकी पुस्तक

पीछी आदि उपकरणों के ले लेनेपर, प्रमाद से आचार्य प्रभृति की आज्ञा का पालन न करनेपर, संघ के स्वामी से पूछे विना उसके प्रयोजन से कहीं भी जा कर पुनः आ जानेपर, दूसरे संघ से विना पूछे अपने संघ में आ जानेपर, देशकाल के नियमानुसार जिन विशेष व्रतों का अवश्य ही पालन करना चाहिये उनको धर्मकथा आदिके व्यासङ्ग से भूल जानेपर किन्तु पुनः उनका पालन कर लेने पर, इसी तरह के और भी अपराध बन जानेपर केवल आलोचन प्रायश्चित्त करना चाहिये।

पाँच इन्द्रिय और छठ्ठा मन तथा इसी तरह वचन आदि क्रियाओं का भी दुरुपयोग हो जानेपर, आचार्य आदि से अपने हाथ पैर आदि का धक्का लग जानेपर, व्रत समिति और गुप्तियों का पालन अत्यंत अल्प होनेपर, चुगली अथवा कलह आदि के करनेपर, वैयावृत्त्य और स्वाध्याय आदि में प्रमाद करने गोचरी के लिये जाते हुए जननेंन्द्रिय में विकार हो जानेपर, इसी तरह और भी संक्लेश करनेवाली क्रियाओं के हो जानेपर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करना चाहिये। यह प्रायश्चित्त दिन और रात्रि के अंत में - सायंकाल और प्रातःकाल तथा भोजन के लिये जाने आदि के समय किया जाता है। जैसा कि इसका व्यवहार प्रसिद्ध भी है।

केशलोच नखों का छेदन दुःस्वप्न और इन्द्रियों का अतीचार तथा रात्रिभोजन में पक्ष मास संवत्सर आदि का दोष लग जानेपर उभयप्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिये।

मौन आदि के धारण किये विना ही आलोचन करनेपर, उदरमें से क्रिमि के निकलने पर, हिम अथवा दंशमशक आदि के निमित्त से यद्वा महावातादिके संधर्ष से अतीचार लग जानेपर, स्निग्धभूमि हरिततृण यद्वा कर्दम आदिके ऊपर से चलने पर, घोंटुओं तक जल में प्रवेश कर जानेपर, अन्यनिमित्तक वस्तु को अपने उपयोग में ले आनेपर नाव के द्वारा नदी पार होनेपर, पुस्तक या प्रतिमा आदि के गिरा देनेपर पंच स्थावरों का विघात हो जानेपर, यद्वा विना देखे हुए स्थान में शारीरिक मल के छोड देनेपर, पक्ष से लेकर प्रतिक्रमण क्रिया पर्यन्त व्याख्यान प्रवृत्त्यन्तादिकों में केवल कायोत्सर्ग ही प्रायश्चित्त किया जाता है। थूकने या पेशाब आदि को करनेपर तो कायोत्सर्ग का करना प्रसिद्ध ही है।

अनशनादि करने के स्थान को आगम के अनुसार समझ लेना चाहिये।

क्रमानुसार छेदप्रायश्चित्त का स्वरूप बताते हैं :-

चिरप्रव्रजितादृत्पशक्तशूरस्य सागसः।
दिनपक्षादिना दीक्षाहापनं छेदमादिशेत्।।५४।।

जो साधु चिरकाल से दीक्षित होने के सिवाय गर्वरहित तपस्याओं के करने में समर्थ और शूर है उससे किसी प्रकार का अपराध बन जानेपर उस अपराध की शुद्धि के लिये आचार्य द्वारा एक दिन दो दिन पक्ष मास वर्ष दो वर्ष आदि कालप्रमाण से दीक्षाकाल के कम कर दिये जाने को छेद कहते हैं।

मूल का लक्षण बताते हैं :-

मूलं पार्श्वस्थसंसक्तस्वच्छन्देष्ववसन्नके।
कुशीले च पुनर्दीक्षादानं पर्यायवर्जनात्।।५५।।

पहली संपूर्ण दीक्षा को खण्डित करके फिर से नवीन दीक्षा देकर प्रायश्चित्त की अपेक्षा पर्याय बदलने को मूल नाम का प्रायश्चित्त अत्यंत अपराधी को ही दिया जाता है। और ऐसे अपराधी पाँच प्रकार के हो सकते हैं :- पार्श्वस्थ, संसक्त, स्वच्छंद, अवसन्न और कुशील।

जो श्रमणों के पास में वसतिका अथवा मठ बनाकर रहता है यद्वा उपकरणों से अपनी आजीविका करता है उसको पार्श्वस्थ कहते हैं। जो वैद्यक मंत्र अथवा ज्योतिष के द्वारा आजीविका करनेवाले हैं और राजा आदिकों की सेवा किया करते हैं उनको संसक्त कहते हैं। जिसने स्वेच्छाचारी होकर गुरुकुल का परित्याग कर दिया है और जो एकाकी ही उच्छृंखल विहार करता हुआ जिनवचनों की निंदा करता फिरता है उसको स्वच्छंद अथवा मृगचारी कहते हैं। जो जिनवचनों से अनभिज्ञ है और जिसने चारित्र का भार अपने ऊपर से उतार दिया है तथा ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट होकर जो इन्द्रियों के विषयों में अलस बना रहता है उसको अवसन्न कहते हैं। जिसकी आत्मा क्रोधादि

कषायों से कलुषित रहती है और जो पंच महाव्रत अट्ठाईस मूलगुण तथा शील के उत्तरभेदों से भी रहित है, जो संघ का अनुवर्तन नहीं करता उसको कुशील कहते हैं।

परिहारप्रायश्चित्त का लक्षण और उसके भेद बताते हैं :-

विधिवद्दूरात्त्यजन परिहारो निजगणानुपस्थानम्।
सपरगणोपस्थान पारञ्चिकमित्ययं त्रिविधः।।५६।।

शास्त्र में जैसा कि विधान है उसके अनुसार एक दिन, दो दिन, पक्ष. महीना आदि के विभाग से अपराधी को दूरकर देने का नाम परिहारप्रायश्चित्त है यह तीन प्रकार का होता है :- निजगणानुपस्थान, सपरगणोपस्थान और पारञ्चिक।

अपने संघ से निकाल देने को निजगणानुपस्थान कहते हैं। जो साधु नौ या दश पूर्व ज्ञान का और आदि के तीन उत्तमसंहननों का धारक है, परीषहों को जीतनेवाला, दृढ़कर्मा, धीर, वीर और संसार से भीरु है; किन्तु प्रमाद से वह अन्य मुनियों के छात्रों या ऋषियों को अथवा दूसरे पाखंडियों की चेतन अचेतन द्रव्य को यद्वा परस्त्री को चुराने में प्रवृत्ति करता है, मुनियों के ऊपर प्रहार करता है, या ऐसे ही किसी अन्य विरुद्ध आचरण में प्रवृत्त होता है तो उसको निजगुणानुपस्थान नाम का प्रायश्चित्त दिया जाता है।

इस प्रायश्चित्त के अनुसार वह दोषी मुनियों के आश्रम से कम से कम ३२ दण्ड की दूरी पर विहार करता और रहता है, तथा उतने ही फल से बाल - अपने से छोटे भी मुनियों की वंदना करता है; किन्तु गुरु उसको प्रतिवंदना न करके ही भलेप्रकार उसका आलोचन करते हैं; शेष लोगों में वह मौनव्रत को धारण करता और अपनी पीछी को उल्टी रखता है उसको जघन्यतया पाँच पाँच उपवास और उत्कृष्टतया छह महीने का उपवास करना चाहिये। दोनों की उत्कृष्ट अवधि बारह वर्ष की मानी गई है।

यदि पूर्वोक्त दोषों ही को साधु दर्प से करे तो उसको परगणोपस्थान नाम का प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसकी विधि इस प्रकार से है कि, आचार्य उसके आलोचन को सुनकर विना प्रायश्चित्त दिये ही दूसरे आचार्य के पास उसे भेज देते हैं। इसी तरह दूसरे आचार्य तीसरे के पास भेज देते हैं और तीसरे चौथे के पास भेजते हैं। इस प्रकार सातवें आचार्य

के पास तक उसको भेजा जाता है इसके बाद वहाँ से उसी प्रकार वापिस लौटाया जाता है। लौटते लौटते जब वह पहले ही आचार्य के पास आ जाता है तब वे पहले ही आचार्य उनको प्रायश्चित्त देते हैं और उससे उनका पालन कराते हैं।

जो तीर्थकर गणधर आचार्य प्रवचन अथवा संघ आदि की आसादना करता है, अथवा राजा के विरुद्ध आचरण करनेवाला है, राजा के अनभिमत मंत्री आदि की दीक्षा देनेवाला है, राजकुल की वनिताओं अथवा राजाङ्गनाओं या कुलाङ्गनाओं का सेवन करता है, तथा इसी तरह के अन्य भी अपराध करके धर्म को दूषित करता है, उसको पारंचिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसकी विधि इस प्रकार है कि - चातुर्वर्ण्य मुनिसंघ इकट्ठा होकर उसको बुलाता है और कहता है कि 'यह महापापी पातकी समयबाह्य और अवन्द्य है' इस तरह की घोषणा करके अनुपस्थान प्रायश्चित्त देकर उसको देश से निकाल देता है। और वह भी अपने धर्म से रहित क्षेत्र में रहकर आचार्य के दिये हुए प्रायश्चित्त का पालन करता है।

प्रायश्चित्त के दशवें भेद श्रद्धान का स्वरूप बताते हैं :-

गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्वं यद्दीक्षाग्राहणं पुनः।
तच्छ्रद्धानमिति ख्यातमुपस्थानमित्यपि।।५७।।

जो साधु सम्यग्दर्शन को छोड़कर मिथ्यात्व में प्रवेश कर गया है - बौद्धादिक मिथ्यामत के अभिनिवेश को धारण कर रहने लगा है उससे आचार्य द्वारा पुनः दीक्षा ग्रहण कराये जाने को श्रद्धानप्रायश्चित्त कहते हैं। इसका दूसरा नाम उपस्थापन भी है। कोई कोई महाव्रतों का मूलोच्छेद हो जानेपर फिर से दीक्षा दिलाने को उपस्थापन कहते हैं।

इस प्रकार प्रायश्चित्त के दश भेदों का वर्णन किया। अब वह बताते हैं कि इनका प्रयोग अपराध के अनुरूप ही होना चाहिये :-

सैषा दशतयी शुद्धिर्बलकालाद्यपेक्षया।
यथादोषं प्रयोक्तव्या चिकित्सेव शिवार्थिभिः।।५८।।

जिस प्रकार चतुर वैद्य रोगी के बल काल आदि को देखकर वात पित्त आदिक विकार के अनुसार योग्य चिकित्सा का प्रयोग करता है उसी प्रकार कल्याण के अभिलाषी आचार्य को भी, जैसा दोष हो उसके अनुसार और अपराधी के बलकालादि, सत्त्वसंहननादिको देखकर, उपर्युक्त दश प्रकार की शुद्धि का प्रयोग करना चाहिये।

इस प्रकार व्यवहारनय से प्रायश्चित्त के दश भेदों का व्याख्यान करके निश्चयनय के अनुसार भेदों का प्रमाण बताते हैं :-

व्यवहारनयादित्थं प्रायश्चित्तं दशात्मकम्।
निश्चयात्तदसंख्येयलोकमात्रभिदिष्यते।।५९।।

व्यवहारनय से प्रायश्चित्त के दश भेद हैं जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। किन्तु निश्चयनय से उसके असंख्यातलोकप्रमाण भेद होते हैं।

इस प्रकार प्रायश्चित्त का वर्णन कर क्रमानुसार विनयतप का लक्षण कहते हैं :-

स्यात् कषायहृषीकाणां विनीतेर्विनयोथवा।
रत्नत्रये तद्वति च यथायोग्यमनुग्रहः।।६०।।

विहित कर्म में प्रवृत्ति करने से तथा क्रोधादिक कषाय और स्पर्शनादिक इन्द्रियों का सर्वथा निरोध करने से विनय प्रकट हुआ करता है। अथवा सम्यग्दर्शनादिक स्वरूप रत्नत्रय और उसके धारण करनेवाले पुरुषों के यथोचित उपकार करने को विनय कहते हैं।

विनय शब्द की निरुक्ति दिखाते हुए उसके फल को प्रकट करते हैं और इस बात का उपदेश देते हैं कि विनय का पालन अवश्य ही करना चाहिये :-

यद्विनयत्यपनयति च कर्मासत्तं निराहुरिह विनयम्।
शिक्षायाः फलमखिलक्षेमफलश्रेत्ययं कृत्यः।।६१।।

विनय शब्द के 'दूर करना' और 'विशेषरूप से प्राप्त कराना' इस तरह दोनों ही अर्थ होते हैं। अतएव मोक्ष के प्रकरण में जो संपूर्ण अप्रशस्त कर्मों को दूर करता है, अथवा जो स्वर्गादिक विशिष्ट अभ्युदयों का प्राप्त कराता है उसको विनय कहते हैं। जिनवचन के ज्ञान को प्राप्त करने का फल यही है - जिनागम की शिक्षा विनयरूप साध्य को सिद्ध करने के लिये ही प्राप्त की जाती है। तथा संपूर्ण कल्याणों की प्राप्ति भी विनय के द्वारा ही हो सकती है। अतएव मुमुक्षुओं को इसका पालन अवश्य ही करना चाहिये।

समस्त विशिष्ट अभीष्ट गुणों का एकमात्र साधन विनय ही है; इसी बात को प्रकट करते हैं :-

सारं सुमानुषत्वेऽर्हद्रूपसंपदिहार्हती।
शिक्षास्यां विनयः सम्यगस्मिन् काम्याः सतां गुणाः।।६२।।

आर्यता कुलीनता आदि प्रशस्तगुणों से युक्त इस उत्तम मनुष्यपर्याय का सार - उपादेय भाग अर्हद्रूपसंपत्ति - आचेलक्यादिस्वरूप जिनलिङ्ग का धारण करना ही है। और इस जिनलिङ्ग के धारण करने का भी सारभूत फल जिनागम की शिक्षा प्राप्त करना है। तथा शिक्षा का भी सार यह विनय है। क्योंकि इसके होनेपर ही सत्पुरुषों के लिये भी स्पृहणीय समाधिप्रभृति गुण स्फुरायमान होते हैं।

विनयविरहित पुरुष की शिक्षा भी निष्फल है; इस बात को बताते हैं :-

शिक्षाहीनस्य नटवल्लिङ्गमात्मविडम्बनम्।
अविनीतस्य शिक्षापि खलमैत्रीव किंफला।।६३।।

जिस पुरुष ने नृत्य करने की शिक्षा प्राप्त नहीं की है वह यदि नृत्य करने में प्रवृत्त हो तो उपहास का ही पात्र हो सकता है। इसी प्रकार जिसने जिनागम की शिक्षा प्राप्त नहीं की है उसका जिनलिङ्ग धारण करना भी उपहास का ही विषय हो सकता है।

इसी तरह उस मनुष्य की शिक्षा भी जो कि विनय से रहित है, निरर्थक अथवा दुर्जनपुरुषों की मित्रता के समान अनिष्ट फल उत्पन्न करनेवाली ही हो सकती है।

विनय के तत्त्वार्थ सूत्र में चार भेद और आचारशास्त्रों में पाँच भेद बताये हैं उन्हीं का यहाँ पर उपदेश देते हैं :-

दर्शनज्ञानचारित्रगोचरश्चोपकारिकः।
चतुर्धा विनयोऽवाचि पञ्चमोपि तपोगतः।।६४।।

तत्त्वार्थ का निरूपण करनेवाले आचार्यों ने विनय के चार भेद बताये हैं - दर्शनविनय ज्ञानविनय चारित्रविनय और औपचारिकविनय। किन्तु आचारादि शास्त्रों का विचार करनेवालों ने तपोविनय नाम का पाँचवां भेद भी बताया है। यथा :-

दंसणणाणे विणओ चरित्त तव ओवचारिओ विणओ।
पंचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणओ।।

इनमें से क्रम के अनुसार पहले सम्यक्त्वविनय का स्वरूप बताते हैं :-

दर्शनविनयः शङ्काद्यसन्निधिः सोपगूहनादिविधिः।
भक्त्यर्चावर्णावर्णहृत्यनासादना जिनादिषु च।।६५।।

सम्यग्दर्शन के शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवारूप मलों के दूर करने को, तथा उपगूहन स्थितिकरण वात्सल्य और प्रभावनारूप गुणों से उसके युक्त करने को, एवं अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय आदि की भक्ति अर्चा वर्णना आदि करने को दर्शनविनय कहते हैं।

अरिहंतादिकों के गुणों में अनुराग रखने को भक्ति कहते हैं। द्रव्य अथवा भाव से उनकी पूजा करने को अर्चा कहते हैं। विद्वानों की सभा में युक्तिबल से उनके यशोविस्तार करने को वर्ण अथवा वर्णना कहते हैं। माहात्म्य का समर्थन करके असद्भूत दोषों के

उद्भवन का नाश करना इसको अवर्णह्रति कहते हैं। इसी तरह अवज्ञा के दूर करने को अर्थात् उनमें आदरभाव प्रकट करने को अनासादना कहते हैं।

भावार्थ :- सम्यग्दर्शन के निर्मल और सगुण बनाने को तथा अरिहंत सिद्ध चैत्य सुदेव धर्म साधुवर्ग आचार्य उपाध्याय प्रवचन और दर्शन इनकी उपर्युक्त भक्ति पूजा आदि करने को दर्शनविनय कहते हैं।

दर्शनविनय और दर्शनाचार में क्या अंतर है ? इसका उत्तर देते हैं :-

दोषोच्छेदे गुणाधाने यत्नो हि विनयो दृशि।
दृगाचारस्तु तत्त्वार्थरुचौ यत्नो मलात्यये।।६६।।

सम्यग्दर्शन में से दोषों के दूर करने और उसमें गुणों के उत्पन्न करने के लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसको दर्शनविनय, तथा शंकादिक मलों से दूर हो जानेपर तत्त्वार्थश्रद्धन में प्रयत्न करने को दर्शनाचार कहते हैं।

भावार्थ :- सम्यक्त्व के निर्मल और सगुण बनाने को दर्शनविनय तथा उसकी वृद्धि करने को दर्शनाचार कहते हैं।

आठ प्रकार के ज्ञानविनय को पालन करने का उपदेश देते हैं :-

शुद्धव्यञ्जनवाच्यतद्द्वयतयया गुर्वादिनामाख्यया,
योग्यावग्रहधारणेन समये तद्भाजि भक्त्यापिच।
यत्काले विहिते कृताञ्जलिपुटस्याव्यग्रबुद्धेः शुचेः,
सच्छास्त्राध्ययनं स बोधविनयः सोध्याष्टधापीष्टदः।।६७।।

शब्द अर्थ और उभय - शब्दार्थ की शुद्धतापूर्वक, और गुरु, चिन्तापक तथा जिस विषय का अध्ययन करना है उसका नामोल्लेख करते हुए, एवं जिस सूत्र का अध्ययन करना है उसके लिये आवश्यक तपोविशेष का अवलंबन लेकर अर्थात् जिस तपोविशेष के धारण करनेपर ही विवक्षित श्रुतज्ञान प्रकट हो सकता है उस तपोविशेष को धारण

करके, तथा प्रवचन और उसके धारण तथा निरूपण करनेवाले श्रुतधरों में भक्ति रखकर, आगममें अध्ययन करने का जो समय बताया है उसी विहित समय में पिच्छी सहित दोनों हाथों को जोड़कर, मन में किसी भी प्रकार की व्यग्रता धारण न करके - अर्थात् चित्त को एकाग्र बनाकर, और मन वचन काय को शुद्ध रखकर युक्तिसिद्ध परमागम के न केवल अध्ययन करने को ही किन्तु गुणन व्याख्यान और शास्त्रदृष्ट्या आचरण को भी ज्ञानविनय कहते हैं। अतएव इसके आठ भेद - अंग होते हैं। यह ज्ञानविनय अभ्युदयों और निःश्रेयसरूप फल को उत्पन्न कर सकता है अतएव मुमुक्षुओं को इसका साधन अवश्य ही करना चाहिये।

भावार्थ :- साधुओं को अभीष्ट फल देनेवाले इस अष्टांग सम्यग्ज्ञान का अवश्य पालन करना चाहिये। ज्ञान के आठ अंगों के नाम इस प्रकार है :- १ शब्दार्थ की शुद्धता, २ - गुरु आदि का नामोल्लेख, ३ - कारणरूप तपोविशेष का पालन, ४ - परमागम और उसके धारकों में भक्ति, ५ - विधिविहित समय, ६ - आदरभाव, ७ - चित्त की एकाग्रता और ८ - मन वचन काय की शुद्धि।

इन आठ अङ्गों से परिपूर्ण अध्ययन को ही ज्ञानविनय कहते हैं। ज्ञानविनय और ज्ञानाचार में क्या अंतर है, सो बताते हैं :-

यत्नो हि कालशुद्ध्यादौ स्याज्ज्ञानविनयोत्र तु।
सति यत्नस्तदाचारः पाठे तत्साधनेषु च।।६८।।

उपर्युक्त कालशुद्धि आदि के विषय में प्रयत्न करने को ज्ञानविनय और उन शुद्धि आदिकों के हों जानेपर श्रुत का अध्ययन करने के लिये प्रयत्न करने को अथवा अध्ययन की साधनभूत पुस्तकादि साममग्री के लिये प्रयत्न करने को ज्ञानाचार कहते हैं।

क्रमानुसार चारित्रविनय का स्वरूप बताते हैं :-

रुच्याऽरुच्यहृषीश्रगोचररतिद्वेषोज्झनेनोच्छलत, -
क्रोधादिच्छिदयाऽसकृत्समितिषषूद्योगेन गुप्त्यास्थया।

सामान्येतरभावनापरिचयेनापि व्रतान्युद्धरन्,
धन्यः साधयते चरित्रविनयं श्रेयः श्रियः पारयम्।।६९।।

इन्द्रियों के मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में जो क्रम से राग-द्वेष उत्पन्न हुआ करते हैं उनको छोड़कर, तथा उठते हुए क्रोधादिक कषायों का नाश करके, एवं समीचीन प्रवृत्तियों के लिये बार बार प्रयत्न करके, तथा मनवचनकाय के निरोधरूप अथवा शुभमनवचनादिरूप गुप्तियों में आदरभाव रखकर, और सामान्य तथा विशेष भावनाओं को भाते हुए - 'संसार में कोई भी प्राणी दुःखी न हो' इस तरह की सामान्य और 'निगृह्णतो वाङ्मनसी' इत्यादि श्लोक के द्वारा पहले बताई हुई विशेष भावनाओं को भाते हुए जो साधु अपने अहिंसादिक व्रतों को निर्मल बनाता है वही साधु धन्य है। क्योंकि ऐसा सुकृति साधु ही स्वर्ग और मोक्षरूप लक्ष्मी का साक्षात्कार कराने में समर्थ चारित्रविनय का साधन कर सकता हैं।

भावार्थ :- ऊपर लिखे मूजब चारित्र के धारण करने को चारित्र विनय कहते हैं।

चारित्रविनय और चारित्राचार में क्या अंतर है, सो बताते हैं :-

समित्यादिषु यत्नो हि चारित्रविनयो मतः।
तदाचारस्तु यस्तेषु सत्सु यत्नो व्रताश्रयः।।७०।।

व्रतों को निर्मल बनाने के लिये समिति आदि में प्रयत्न करने को चारित्रविनय और समित्यादिकों के सिद्ध हो जानेपर व्रतों की वृद्धि आदिके लिये प्रयत्न करने को चारित्राचार कहते हैं।

अब क्रमानुसार विनय के चौथे भेद औपचारिकविनय का वर्णन करते हैं। किन्तु उसमें सबसे पहले प्रत्यक्ष में पूज्य पुरुषों का जो काय के द्वारा औपचारिकविनय किया जाता है उसके सात भेदों का वर्णन करते हैं :-

अभ्युत्थानोचितवितरणोच्चासनाद्युज्झनानु,
व्रज्या पीठाद्युपनयविधिः कालभावाङ्गयोग्यः।

कृत्याचारः प्रणतिरिति चाङ्गेन सप्तप्रकारः,
कार्यः साक्षाद्गुरुषु विनयः सिद्धिकामैस्तुरीयः।।७१।।

आराध्य गुरुजनों के साक्षात् उपस्थित रहनेपर स्वात्मोपलब्धि की इच्छी रखनेवाले साधुओं को अपने शरीर के द्वारा उनका अभ्युत्थानादिक सात प्रकार का औपचारिकविनय करना चाहिये। यथा :-

१ - गुरुजनों को आता हुआ मालूम होते ही अपने आसन से उठकर खड़े हो जाना चाहिये। २ - उनके योग्य पुस्तकादि वस्तुओं का दान करना चाहिये। ३ - उनके सामने उच्चासन पर बैठना आदि न चाहिये। ४ - यदि उनके साथ चलने का अवसर पड़े तो उनके पीछे पीछे नम्रता और आदर के साथ गमन करना चाहिये। ५ - सिंहासन या शयनीयादि स्थानों को तैयार कर देना। ६ - उनको प्रणाम - नमस्कारादि करना। ७ - तथा उनके काल भाव और शरीर के योग्य कार्यो को करना। कालयोग्य कार्यों को करना जैसे कि गर्मी में ठंडी और शर्दी में उष्णता लानेवाली क्रिया करना, भावयोग्य - जैसे उन्हें कहीं भेजने का अवसर हो तो उनके अभिप्राय और आज्ञानुसार वहाँ जाना आना आदि। शरीरयोग्य - जैसे कि उनके शरीर और बल के अनुरूप उनका मर्दन करना।

यहाँ पर च शब्द समुच्चयार्थक है। अतएव इन सभी बातों को गुरुओं के विषय में करना उचित है। तथा यद्यपि यहाँ पर शारीरिकविनय के ये सात प्रकार ही बताये हैं, किन्तु आदर के लिये उनके सम्मुख जाना आदि और भी भेद होते हैं, सो उनका भी यहाँ पर इति शब्द से समावेश कर लेना चाहिये।

औपचारिकविनय के वाचिक भेदों को बताते हैं :-

हितं भितं परिमितं वचः सूत्रानुवीचि च।
ब्रुवन् पूज्यांश्चतुर्भेदं वाचिकं विनयं भजेत्।।७२।।

आराध्य गुरुजनों का वचन के द्वारा चार प्रकार से विनय करना चाहिये। अर्थात् उनके सम्मुख या उनके लिये ऐसे वचन बोलने चाहिये जो विशेषणों से युक्त हों। यथा :-

हित - जो कि कल्याण के कारण धर्म का विधायक हो। मित - जिसमें अक्षरों का प्रमाण तो कम हो किन्तु महान् अर्थ भरा हुआ हो। परिमित - जो कारणयुक्त हो। और सूत्रानुवीचि - अर्थात् जो आगम के अर्थ से विरुद्ध न हो।

यहाँ पर च शब्द का जो ग्रहण किया है उससे नित्य नैमित्तिक पूजनादि के अवसर पर बोले हुए वचनों का समावेश कर लेना चाहिये। तथा उन वचनों का भी जो कि वाणिज्यादि का विधान नहीं करते।

औपचारिकविनय के मानस भेदों को गिनाते हैं :-

निरुन्धन्नशुभं भावं कुर्वन् प्रियहिते मतिम्।
आचार्यादेरवाप्नोति मानसं विनयं द्विधा।।७३।।

मानसविनय दो प्रकार का हो सकता है - १ अशुभ भावों की निवृत्ति और २ शुभभावों में प्रवृत्ति। अर्थात् आचार्य उपाध्याय स्थविर प्रवर्तक और गणधरादिकों के विषय में सम्यक्त्व की विराधना करनेवाले प्राणिवधादिक अशुभभावों का रोकना, और धर्म के लिये उपकारक तथा सम्यक्त्व और ज्ञानादिके विषय में शुभ विचार करना मानसविनय है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष गुरुजनों के विषय में पालन करने योग्य तीन प्रकार के विनय का प्रतिपादन करके परोक्ष गुरुओं के विषय में भी तीन प्रकार के विनय का निरूपण करते हैं :-

वाङ्मनस्तनुभिः स्तोत्रस्मृत्यञ्जलिपुटादिकम्।
परोक्षेष्वपि पूज्येषु विदध्याद्विनयं त्रिधा।।७४।।

जो दीक्षागुरु श्रुतगुरु तपोधिक आदि गुरुजन परोक्ष हैं - इन्द्रियों से परे हैं उनका भी वचन मन और शरीर के द्वारा क्रम से स्तुति स्मृति और अञ्जलिपुटादिक करके मुमुक्षुओं को विनय करना चाहिये। अतएव परोक्ष गुरुओं का भी विनय वचन मन और शरीर की अपेक्षा तीन प्रकार का होता है। अर्थात् वचन के द्वारा उनका गुणस्तवन जयघोष आशीर्वादादि बोलना, मन के द्वारा उनका स्मरण और उनके गुणों का चिंतवन आदि करना, तथा शरीर के द्वारा उनको हाथ जोड़ना नमस्कार करना इत्यादि सब परोक्ष विनय

है।

यहाँ पर अपि शब्द से जो तप गुण या अवस्था आदि की अपेक्षा अपने से छोटे हैं उन मुनियों या श्रावकों का भी यथायोग्य विनय करना चाहिये इस बात को सूचित किया है।

तपोविनय का स्वरूप बताते हैं :-

यथोक्तमावश्यकमावहन् सहन्, परीषहानग्रगुणेषु चोत्सहन्।
भजंस्तपोवृद्धतपांस्यहेलयन्, तपोलधूनेति तपोविनीतताम्।।७५।।

व्याधि आदि के वश हो जानेपर भी जिनका अवश्य ही पालन करना चाहिये उन पूर्वोक्त षडावश्यकों का जो साधु निरंतर पालन करता है, क्षुधापिपासा आदि बाईस परीषहों का सहन करना और उत्तर गुणों - आतपनादिकों अथवा विशिष्ट संयमों या आगे के गुणस्थानों में सोत्साह प्रवृत्ति रखता है, एवं जिनको तप करते हुए अपने से अधिक दिन हो गये हैं उन तपस्वियों की सेवा करता और स्वयं भी अनशनादिक तपों का पालन करता है, तथा जो साधु अपने से तप करने में न्यून हैं उनकी अवहेलना - अवज्ञा नहीं करता, वही तपस्वी तपोविनय को प्राप्त हो सकता है।

भावार्थ :- पूर्वोक्त आवश्यकों के पालन करने आदि को ही तपोविनय कहते हैं।

विनयभावना का फल बताते हैं :-

ज्ञानलाभार्थमाचारविशुद्ध्यर्थं शिवार्थिभिः।
आराधनादिसंसिद्ध्यै कार्य विनयभावनम्।।७६।।

जो मुमुक्षु हैं उनको ज्ञान का लाभ करने के लिये तथा दर्शनाचार ज्ञानाचार चारित्राचार तपाचार और वीर्याचार इन पाँच आचारों को शुद्ध - निर्मल बनाने के लिये, एवं पूर्वोक्त सम्यक्त्वादि चार आराधनाप्रभृति और भी अनेक गुणों को भलेप्रकार सिद्ध करने के लिये इस विनयतप में बार बार प्रवृत्त होना चाहिये।

आराधना शब्द के साथ आये हुए आदि शब्द से किन किन विषयों को लेना चाहिये

सो स्पष्ट करते हैं :-

द्वारं यः सुगतेर्गणेशगणयोर्यः कार्मणः यस्तपो, -
वृत्तज्ञानऋजुत्वमार्दवयशःसौचित्यरत्नार्णवः।
यः संक्लेशदवाम्बुदः श्रुतगुरुद्योतैकदीपश्च यः,
स क्षेप्यो विनयः परं जगदिनाज्ञापारवश्येन चेत्।।७७।।

मुमुक्षुओं को विनयतप का परित्याग करना कदाचित् भी उचित नहीं है; बल्कि जो तीनलोक के अधीश भगवान् अर्हन्त देव की आज्ञा में रहकर अपनी आत्मा का हित सिद्ध करना चाहते हैं उन साधुओं को इसका अवश्य ही पालन करना चाहये। क्योंकि यह तप समस्त कर्मों के क्षय का कारण होने से मोक्ष का और प्रचुर पुण्यास्रव का कारण होने से स्वर्ग का द्वार है, तथा संघ और संघ के स्वामी को वश करने के लिये वशीकरण मंत्र के समान है। तप चारित्र ज्ञान सरलता मार्दव यश और [१] सौचित्य आदि अनेक गुणरूप रत्नों को उत्पन्न करने के लिये रत्नाकर - समुद्र के समान है। राग द्वेष प्रभृति संक्लेश परिणामरूपी दावानल को शांत करने के लिये मेघ के समान है और आचार शास्त्र में बताये हुए क्रमज्ञान तथा कल्पज्ञान को एवं सदाम्नाय के उपदेष्टा गुरुओं को प्रकाशित करने के लिये अद्वितीय दीपक के समान है।

वैयावृत्त्य तप का निरुक्ति सिद्ध लक्षण बताते हुए मुमुक्षुओं को उसका पालन करने के लिये प्रेरित करते हैं :-

क्लेशसंक्लेशनाशायाचार्यादिदशकस्य यः।
व्यावृत्तस्तस्य यत्कर्म तद्वैयावृत्त्यमाचरेत्।।७८।।

आचार्य उपाध्याय तपस्वी शैक्ष ग्लान गण कुल संघ साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकार के मुनियों के क्लेशशारीरिक पीड़ा और संक्लेश - आर्तरौद्र ध्यानरूप दुष्परिणामों का नाश

---

१ - गुरु आदिओं का अपने ऊपर से वैमनस्य दूर होने और अनुग्रह प्राप्त होने को सौचित्य कहते हैं।

करने के लिये जो तपस्वी अथवा श्रावक व्यावृत्त - प्रवृत्त हुआ करता है उसके इस कर्म - मनोवाक्काय व्यापार को ही वैयावृत्त्य कहते हैं। मुमुक्षुओं को इस अंतरंग तप का पालन अवश्य ही करना चाहिये।

आचार्य और उपाध्याय शब्द का अर्थ पहले बताया जा चुका है। किन्तु शेष शब्दों का अर्थ नहीं बताया वह इस प्रकार है :-

तपस्वी - महान् उपवासादिक तप करनेवाला, शैक्ष - प्रधानतया शिक्षामें ही रत रहनेवाला, ग्लान - रोगादि के निमित्त से जिसका शरीर पीड़ित हो रहा हो, गण - स्थविर संतति, कुल - दीक्षा देनेवाले आचार्य की स्त्रीपुरुषरूप शिष्यसंतान, संघ - चातुर्वण्यरूप मुनिसमूह, साधु - जिसको दीक्षा लिये हुए चिरकाल हो गया हो, मनोज्ञ - लोकसंमत अथवा जिसको लोक अधिक मान देते हों।

वैयावृत्त्य का फल बताते हैं :-

मुक्त्युद्युक्तगुणानुरक्तहृदयो यां कांचिदप्यापदं,
तेषां तत्पथघातिनीं स्ववदवस्यन्योऽङ्गवृत्त्याथवा।
योग्यद्रव्यनियोजनेन शमयत्युद्घोपदेशेन वा,
मिथ्यात्वादिविषं विकर्षति स खल्वार्हन्त्यमप्यर्हति।।७९।।

जिस साधु अथवा श्रावक का मन मुक्ति को प्राप्त करने के लिये उद्युक्त हुए साधुओं के संयमविशेषरूप गुण पर आसक्त है और इसीलिये जो उनके ऊपर आई हुई मोक्षमार्ग में बाधा पहुँचानेवाली दैवी मानुषी तैरश्ची अथवा अचेतनकृत आपत्तियों को अपने ऊपर आई हुई समझकर शारीरिक प्रयत्न करके हटा देता है, अथवा संयम से अविरुद्ध औषध अन्न वसतिका आदि की योजना करके, यद्वा प्रभावशाली महान् उपदेश देकर उनके मिथ्यात्व अज्ञान अविरति प्रमाद कषाय और योगरूप विष को निकाल दूर करता है वह वैयावृत्त्य कर्म में प्रवृत्त महात्मा इन्द्र अहमिन्द्र चक्रवर्तित्व आदि पदों की तो बात ही क्या सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर पद को भी निश्चय से अपने अधिकृत कर लेता है।

भावार्थ :- वैयावृत्य करनेवाला मुमुक्षु उत्कृष्ट अभ्युदयों और अंत में आर्हन्त्यपद को भी प्राप्त कर लेता है।

साधर्मियों पर आई विपत्ति की उपेक्षा करनेवालों के दोष प्रकट करते और इस बात का समर्थन करते हैं कि संपूर्ण तपस्याओं का हृदय वैयावृत्य ही है :-

सधर्मापदि यः शेते स शेते सर्वसंपदि।
वैयावृत्यं हि तपसो हृदयं ब्रुवते जिनाः।।८०।।

वैयावृत्य के द्वारा एकाग्रचिन्ता के निरोधरूप ध्यान और सनाथता की प्राप्ति होती है, तथा ग्लानि का अभाव होता है, और साधर्मियों में गोवत्स के समान परस्पर प्रीति उत्पन्न होती हैं। इसके सिवाय धर्म और आम्नाय की रक्षा तथा प्रभावना आदि और भी अनेक गुण इस वैयावृत्य के द्वारा सिद्ध हुआ करते हैं।

इस प्रकार वैयावृत्य के प्रकरण को समाप्त करके क्रमानुसार मुमुक्षुओं के लिये स्वाध्याय के विषय में नित्य ही अभ्यास करने का विधान करते हुए स्वाध्याय इस शब्द का निर्वचनसिद्ध अर्थ बताते हैं :-

नित्यं स्वाध्यायमभ्यस्येत्कर्मनिर्मूलनोद्यतः।
स हि स्वस्मै हितोऽध्यायः सम्यग्वाध्ययनं श्रुतेः।।८२।।

स्व-आत्मा के लिये हितकर - उपकारी - संवर और निर्जरा के कारणभूत श्रुत के अध्ययन को अथवा सु - समीचीन केवलज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त श्रुत के अध्ययन - पाठ को स्वाध्याय कहते हैं। अतएव ज्ञानावरणादिक कर्मों तथा मनोवाक्कायक्रियाओं को निर्मूल करने के लिये उद्युक्त हुए मुमुक्षुओं को इस स्वाध्याय का नित्य ही अभ्यास करना चाहिये।

सम्यक् शब्द का अर्थ बताते हुए स्वाध्याय के पहले भेद - वाचना का स्वरूप बताते हैं :-

शब्दार्थशुद्धता दुतविलविम्बिताद्यूनता च सम्यक्त्वम्।
शुद्धग्रन्थार्थोभयदानं पात्रेस्य वाचना भेदः।।८३।।

शब्द और अर्थ की शुद्धता, तथा विना विचारे ही जल्दी से न बोलना, वे मौके विश्राम लेकर उच्चारण न करना किन्तु बोलने या लिखने आदि के समय योग्य स्थान पर ही विश्राम लेना, और किसी भी अक्षर मात्रा या पद आदि को छोड़ न देना, इत्यादि सब स्वाध्याय की समीचीनता कहलाती है। इस तरह की समीचीनता या शुद्धता से युक्त अथवा निरवद्य - मोक्षमार्ग के लिये उपयोगी ग्रंथ अर्थ अथवा दोनों ही के विनयादि गुणों से युक्त पात्र के लिये देने को वाचना कहते हैं।

स्वाध्याय के दूसरे भेद पृच्छना का स्वरूप बताते हैं :-

पृच्छनं संशयोच्छित्त्यै निश्चितद्रढनाय वा।
प्रश्नोऽधीतिप्रवृत्यर्थत्वादधीतिरसावपि।।८४।।

ग्रंथ अर्थ अथवा दोनों के विषय में 'यह इसी तरह से है या दूसरी तरह से' ऐसा संशय होनेपर उसको दूर करने के लिये अथवा निश्चित मालूम होनेपर भी कि वह इसी तरह से है या ऐसा नहीं है अपने निश्चय को दृढ़ बनाने के लिये विशेष विद्वान से उस विषय में प्रश्न करना इसको पृच्छना स्वाध्याय कहते हैं।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि प्रश्न करना अध्ययन नहीं कहा जा सकता, अतएव इस स्वाध्याय के लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है। किन्तु यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि प्रश्न करना अध्ययन में प्रवृत्ति होने का निमित्त है, अतएव उसको भी स्वाध्याय कह सकते हैं।

मुख्य विषय में ही किये गये प्रश्न को स्वाध्याय कह सकते हैं यह बताकर इस शंका का प्रकारान्तर से समाधान करते हैं :-

किमेतदेवं पाठ्यं किमेषोर्थोस्येति संशये।
निश्चितं वा द्रढयितुं पृच्छन् पठति नो न वा।।८५।।

हे भगवन् ! यह अक्षर पद या वाक्य इसी तरह से होना चाहिये या दूसरी तरह से ? यद्वा इसका उच्चारण किस प्रकार करना चाहिये ? इत्यादि शब्द के विषय में जो

अपने संदेह को प्रकट करता है, तथा इस पद वाक्य या श्लोक का क्या अर्थ होना चाहिये ? अभी जो अर्थ कहा गया वही होना चाहिये या और कुछ ? इत्यादि अर्थ के विषय में जो प्रश्न करता है, अथवा मैंने जो यह समझा है सो ठीक है या नहीं ? इत्यादि शब्द या अर्थ के विषय में प्रश्न करनेवाला साधु क्या अध्ययन नहीं करता ? अवश्य करता है।

भावार्थ :- शब्द या अर्थ का निश्चय करने के लिये अथवा निश्चय को भी दृढ़ करने के लिये जो प्रश्न किया जाता है वह भी स्वाध्याय में ही सम्मिलित है।

अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय के तीसरे भेद का निरूपण करते हैं :-

सानुप्रेक्षा यदभ्यासोऽधिगतार्थस्य चेतसा।
स्वाध्यायलक्ष्म पाठोन्तर्जल्पात्मात्रापि विद्यते।।८६।।

ज्ञात अथवा निश्चित विषय के मन में पुनः पुनः विचार करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं। इसको भी समीचीन अध्ययन करना ही कहना चाहिये। क्योंकि शब्दार्थ का पाठ यहाँ पर भी होता है। अंतर इतना ही है कि वाचना में बहिर्जल्प होता हैं, किन्तु अनुप्रेक्षा में अंतर्जल्प हुआ करता है।

स्वाध्याय के आम्नाय और धर्मोपदेश नाम के चौथे
पाँचवें भेद का स्वरूप बताते हैं :-

आम्नायो घोषशुद्धं यद्वृतस्य परिवर्तनम्।
धर्मोपदेशः स्याद्धर्मकथा संस्तुतिमङ्गला।।८७।।

पढे हुए ग्रंथ के शीघ्रता या विलंब आदि दोषों से रहित पुनः पुनः उच्चारण करने को आम्नाय कहते हैं। स्तुति - देववंदना तथा मङ्गल - नमस्कार आशीः शान्ति आदि विषयों के साथ धर्म के निरूपण करने को धर्मोपदेश कहते हैं।

भावार्थ :- भगवान् का स्तोत्र पाठ करना, उनको नमस्कारादि करना, या अन्य

त्रेशठशलाका पुरुषों के चरित्र का निरूपण करना, अथवा किसी भी धार्मिक विषय का व्याख्यानादि करना, इत्यादि सब धर्मोपदेश है।

धर्मकथा के चार भेदों का स्वरूप बताते हैं :-

आक्षेपणीं स्वमतसंग्रहणीं समेक्षी,
विक्षेपणीं कुमतनिग्रहणीं यथार्हम्।
संवेजनीं प्रथयितुं सुकृतानुभावं,
निर्वेदनीं वदतु धर्मकथां विरक्त्यै।।८८।।

धर्मकथा चार प्रकार की होती है - आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी। जिसके द्वारा अपने मत का संग्रह - अनेकान्त सिद्धांत का यथायोग्य समर्थन हो उसको आक्षेपणी और इसी प्रकार - यथायोग्य जिसके द्वारा क्षणिकैकान्तप्रभृति मिथ्यामतों का निग्रह - खंडन हो उसको विक्षेपणी तथा जिसके द्वारा पुण्य के फलस्वरूप संपत्ति को यथायोग्य प्रकाशित किया जाय उसको संवेजनी एवं जिसको सुनकर संसार शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न हो सके ऐसी निरूपणा को निर्वेदनी कहते हैं।

भावार्थ :- धर्मोपदेश नामक स्वाध्यायतप के ये चार भेद हैं। इस तप का निरंतर पालन करने की इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओं को ये चार प्रकार की ही कथाएँ करनी चाहिये।

स्वाध्याय के फल बताते हैं :-

प्रज्ञोत्कर्षजुषः श्रुतस्थितिपुषश्चेतोक्षसंज्ञामुषः
संदेहच्छिदुराः कषायभिदुराः प्रोद्यत्तपोमेदुराः।
संवेगोल्लसिताः सदध्यवसिताः सर्वातिचारोज्झिताः
स्वाध्यायात् परवाद्यऽशङ्कितधियः स्युः शासनोद्भासिनः।।८९।।

मुमुक्षुओं को स्वाध्याय के प्रसाद से अनेक प्रकार के फल प्राप्त होते हैं। यथा

:- स्वाध्याय करनेवालों की तर्कवितर्करूप बुद्धि इसके निमित्त से ही प्रीतिपूर्वक उत्कर्ष को धारण किया करती है। एवं वे परमागम की स्थिति को भी इसके बल से ही पुष्ट रख सकते हैं। तथा इन्द्रिय और अनिन्द्रिय - मन एवं आहार भय मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं का प्रतिरोध - निग्रह, तथा संशयों - अनेक प्रकार की शंकाओं का निराकरण, एवं क्रोधादिक कषायों का नाश, इसके द्वारा ही कर सकते हैं। तपस्विगण भी उसमें प्रवृत्त होनेपर ही दिनपर दिन बढ़ते हुए तप से पुष्ट हो सकते हैं। संवेग के द्वारा उत्कृष्ट शोभा को प्राप्त हुए प्रशस्त परिणामों की सिद्धि भी इसीसे हो सकती है। अथवा उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप से युक्त वस्तु का निश्चय स्वाध्याय करने से ही हो सकता है। इसमें प्रवृत्त होने से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र किसी में भी अतीचार नहीं लग सकता। एवं इसके बल से ही विद्वान लोग बौद्धादिक परवादियों से निःशंक रहते और जिनधर्म की प्रभावना कर सकते हैं।

स्वाध्याय के स्तुतिरूप फल को बताते हैं :-

शुद्धज्ञानधनार्हद्भुतगुणग्रामग्रहव्यग्रधी -
स्तद्वच्यक्त्युद्धरनूतनोक्तिमधुरस्तोत्रस्फुटोद्गारगीः।
मूर्तिं प्रश्रयनिर्मितामिव दधत्तत्किंचिदुन्मुद्रयत्यात्म -
स्थाम कृती यतोऽरिजयिनां प्राप्नोति रेखां धुरि।।९०।।

स्तुतिरूप स्वाध्याय में प्रवृत्त हुए मुमुक्षु की बुद्धि - मनःप्रवृत्ति, अत्यंत निर्मल और परिपूर्ण ज्ञान के भंडार श्री अर्हन्तदेव के अद्भुत - आश्चर्योत्पादक गुणों के समूह में अभिनिवेश के कारण व्यग्र रहा करती है, और इसीलिये उसकी वाणी - वचनप्रवृत्ति, भगवान् के उन गुणों के प्रकट होने से उद्भट तथा नवीन नवीन उक्तियों से मधुर स्तोत्रों के स्फुट उद्गारों से भरी हुई रहती है एवं उसकी शरीरयष्टि ऐसी मालूम पड़ने लगती है मानों साक्षात् विनय की ही बनी हुई हो। इस प्रकार उसके मन वचन और काय तीनों ही पूर्णज्ञानधन भगवान् के गुणों में लीन रहते हैं। अतएव वह कृति अपनी आत्मा में स्थित अनिर्वचनीय वीर्य - अनंतशक्ति को प्रकट कर देता और अंत में मोह के विजेता साधुओं

के अग्रपद को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ :- स्तुतिरूप स्वाध्याय करनेवाले की बुद्धि उक्ति और शारीरिक प्रवृत्ति भगवान् के निर्मल गुणों की तरफ ही लगी रहती है। अतएव अंत में वह उसी रूप को प्राप्त कर लेता है।

पंचनमस्कार मंत्र को परममंगल और उसके
जप करने को उत्कृष्ट स्वाध्याय बताते हैं :-

मलमखिलमुपास्त्या गालयत्यङ्गिनां य,
च्छिवफलमपि मङ्गंलाति यत्तत्परार्ध्यम्।
परमपुरुषमंत्रो मङ्गलं मङ्गलानां,
श्रुतपठनतपस्यानुत्तरा तज्जपः स्यात्।।९१।।

पैंतीस अक्षर के अपराजित मंत्र को ही परमपुरुष मंत्र कहते हैं। इसकी उपासना - आराधना - मन या वचन के द्वारा जप करने से संपूर्ण पाप गल जाते हैं। तथा इससे मोक्षरूप अभ्युदय की भी प्राप्ति होती है। अतएव इसको साधारण मंगल ही नहीं किन्तु मंगलों का भी मंगल - परममंगल कहना चाहिये। क्योंकि संपूर्ण लौकिक कल्याणों के सिद्ध होने में भी यह प्रधान कारण है। जैसा कि कहा भी है कि :-

एसो पंचणमोयारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं।।

और इसीलिये इसके वाचिक या मानसिक जप को उत्कृष्ट स्वाध्याय तप समझना चाहिये।

भावार्थ :- मंगलशब्द के निरुक्ति की अपेक्षा दो अर्थ होते हैं, एक तो यह कि जिसके निमित्त से म-पाप गल जाय। दूसरा यह कि जिसके द्वारा मङ्ग - अभ्युदय की सिद्धि हो। ये दोनों ही अर्थ पंचनमस्कार मंत्र में पूर्णतया घटित होते हैं, अतएव उसको

परममंगल कहना चाहिये। इसीलिये इसके जप करने को उत्कृष्ट स्वाध्याय नाम का अंतरंगतप समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः पंचनमस्कृतेः।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा।।

अरिहंत भगवान् के ध्यान में लगे हुए मुमुक्षु का आशीर्वचनरूप अथवा शान्त्यादिवचनरूप मंगल भी कल्याण का साधक हुआ करता है, इसी बात को प्रकट करते हैं :-

अर्हद्ध्यानपरस्यार्हन् शं वो दिश्यात्सदास्तु वः।
शान्तिरित्यादिरूपोपि स्वाध्यायः श्रेयसे मतः।।९२।।

जो साधु प्रधानतया निरंतर अर्हन्त के ध्यान में ही लीन रहता है उसके 'अर्हन् शं वो दिश्यात्' अर्थात् भगवान् तुम्हारा कल्याण करें, तथा 'सदास्तु वः शान्तिः' अर्थात् तुम्हे सदा शान्ति बनी रहे, इत्यादि वचनों को भी स्वाध्याय ही कहना चाहिये। क्योंकि पूर्वाचार्यों ने इसके द्वारा भी कल्याण - पुण्य की और परंपरा से मोक्ष की सिद्धि मानी है। शांति का स्वरूप इस प्रकार कहा है :-

सुखतद्धेतुसंप्राप्तिर्दुःखतद्धेतुवारणम्।
तद्धेतुहेतवश्चान्यदपीदृक् शान्तिरिष्यते।।

अर्थात् सुख और उसके कारण तथा कारणों के भी कारणों की प्राप्ति को यद्वा दुःख और उसके कारण तथा कारणों के भी कारणों की निवृत्ति को शान्ति कहते हैं।

जयवाद और आशीर्वचनों का अर्थ स्पष्ट ही है। यथा :-

जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतयः।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः।।

तथा - जयन्ति विधुताशेषबन्धना धर्मनायकाः।
त्वं धर्मविजयी भूत्वा तत्प्रसादाज्जयाखिलम्।।
तथा - जयत्वसौ श्रीवृषभो जिनेश्वरः, सुरावधूता सितचामरावली।
बभौ यदङ्गे प्रतिबिम्बिताभितो, रवेरिवान्तश्चलदिन्दुसंहतिः।।
अथवा - नतामरशिरोरत्नप्रभाप्रोतनखत्विषे।
नमो जिनाय दुर्वारमारवीरमदच्छिदे।।

इसी प्रकार 'स्वस्ति त्रिलोकगुरवे जिनपुंगवाय' - इत्यादि और भी वचनों को समझना चाहिये।

क्रमप्राप्त व्युत्सर्ग नामक तप के दो भेदों को और उसकी दोनों भावनाओं को बताते हैं:-

बाह्यो भक्तादिरुपधिः क्रोधादिश्चान्तरस्तयोः।
त्यागं व्युत्सर्गमास्वान्तं मितकालं च भावयेत्।।९३।।

व्युत्सर्ग नाम त्याग का है। वह दो प्रकार का हो सकता है। एक बाह्य दूसरा अंतरंग।आहार वसतिका आदि ऐसे पदार्थों का जिनका कि आत्मा से संबंध नहीं है त्याग करना बाह्यव्युत्सर्ग कहा जाता है। और जिनका कि आत्मा से संबंध हो रहा है ऐसे क्रोधादि कषायरूप अंतरंग परिग्रह के त्याग को अंतरंगव्युत्सर्ग कहते हैं। इन दोनों ही प्रकार के व्युत्सर्गतप का यावज्जीवन अथवा काल का प्रमाण करके मुमुक्षुओं को पालन करने का पुनः पुनः विचार करना चाहिये।

व्युत्सर्ग शब्द का निरूक्ति से क्या अर्थ होता है, सो बताते हैं।

बाह्याभ्यन्तरदोषा ये विविधा बन्धहेतवः।
यस्तेषामुत्तमः सर्गः व्युत्सर्गो निरुच्यते।।९४।।

माता पिता स्त्री पुत्र भ्राता भगिनी भागिनेय आदि का संसर्ग बाह्यदोष है, और ममकार,

अहंकार आदि भाव अंतरंगदोष हैं। इनके भी उत्तर भेद अनेक हैं। ये अंतरंग और बाह्यदोष ही कर्मबंध के कारण हैं। अतएव इन वि - विविध दोषों के उत् - उत्तम - प्राणान्तिक और ख्याति लाभ पूजा आदि की अपेक्षा से रहित सर्ग - परित्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं।

व्युत्सर्ग के उत्कृष्ट स्वामी को बताते हैं :-

देहाद्विविक्तमात्मानं पश्यन् गुप्तित्रयीं श्रितः।
स्वाङ्गेपि निस्पृहो योगी व्युत्सर्गं भजते परम्।।९५।।

जो अपनी आत्मा का शरीर से सर्वथा भिन्न अनुभव करता रहता है और जो तीनों ही गुप्तियों का सर्वथा पालन करनेवाला तथा बाह्यपदार्थों में ही नहीं अपने शरीर में भी निस्पृह रहता है ऐसा योगी - समीचीन ध्यान में स्थिर रहनेवाला यति ही उत्कृष्ट व्युत्सर्ग का धारक हो सकता है।

अंतरंगपरिग्रह के व्युत्सर्ग का स्वरूप प्रकारान्तर से बताते हैं :-

कायत्यागश्चान्तरंगोपधिव्युत्सर्ग इष्यते।
स द्वेधा नियतानेहा सार्वकालिक इत्यपि।।९६।।

शरीर के परित्याग करने को भी पूर्वाचार्यों ने अंतरंगपरिग्रह का व्युत्सर्ग ही माना है। इसके भी दो भेद हैं। एक नियतकाल दूसरा सार्वकालिक।

नियतकाल के भी दो भेद होते हैं जिनका कि स्वरूप
इस प्रकार से माना है कि :-

तत्राप्याद्यः पुनर्द्वेधा नित्यो नैमित्तिकस्तथा।
आवश्यकादिको नित्यः पर्वकृत्यादिकः परः।।९७।।

कायत्याग का पहला भेद परिमितकाल दो प्रकार का होता है, एक नित्य दूसरा नैमित्तिक। आवश्यकों अथवा मलोत्सर्ग आदि के संबंध से जो किया जाय उसको नित्य, तथा अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वसंबंधी क्रियाओं के अवसर पर या निषद्या क्रियाओं के समय जो किया जाय उसको नैमित्तिक कायत्याग कहते हैं।

सार्वकालिक कायत्याग के तीन भेद हैं :-

भक्तत्यागेङ्गिनीप्रायोपयानमरणैस्त्रिधा।
यावज्जीवं तनुत्यागस्तत्राद्योऽर्हादिभावभाक्।।९८।।

प्राणान्तिक कायत्याग के तीन भेद हैं। भक्तत्याग मरण, इङ्गिनीमरण और प्रायोपयान-मरण। जिसमें प्रधानतया भोजन के त्याग की अपेक्षा हो उसको भक्तत्याग या भक्तप्रत्याख्यान-मरण कहते हैं। जिसमें स्ववैयावृत्त्य की अपेक्षा तो हो किन्तु पर वैयावृत्त्य की अपेक्षा न हो उसको इङ्गिनीमरण, और जिसमें दोनों ही प्रकार की वैयावृत्त्य की अपेक्षा न हो उसको प्रायोपयानमरण कहते हैं। प्रायोपगमन तथा पादोपगमन भी इसीके अपर नाम हैं। इनमें से पहले भेद भक्तप्रत्याख्यान में अर्ह लिङ्ग शिक्षा आदि अनेक भाव हुआ करते हैं जिनके कि नाम और स्वरूप संक्षेप से इस प्रकार हैं :-

विचारपूर्वक भोजन का परित्याग करने के लिये जो योग्य है उसको अर्ह कहते हैं। लिङ्ग नाम चिह्न का है। श्रुत के अध्ययन करने को शिक्षा कहते हैं। विनय शब्द का अर्थ मर्यादा अथवा उपासना होता है। समाधान अथवा शुभोपयोग में मन के एकाग्र करने को समाधि कहते हैं। अनिश्चित क्षेत्रों में निवास करने का नाम अनियत विहार है। अपने कार्य के पर्यालोचन को परिणाम, और परिग्रह के त्याग को उपध्युज्झा, तथा उत्तरोत्तर आरोहण करने को श्रिति, और अभ्यास करने को भावना कहते हैं। काय और कषायों के भलेप्रकार कृश करने का नाम सल्लेखना है। दिशा शब्द का अर्थ एलाचार्य होता है। अपने गण से क्षमा कराने को क्षान्ति कहते हैं। सूत्र के अनुसार गण को शिक्षा देने का नाम शिष्टि है। दूसरे गण या संघ में चले जाने को चर्या, और अपने को जो रत्नत्रय की शुद्धि तथा समाधिमरण का संपादन करा सके ऐसे आचार्य के अन्वेषण

करने को मार्गणा कहते हैं। सुस्थितनाम आचार्य का है; क्योंकि वे अपने प्रयोजन और परोपकार के करने में भलेप्रकार स्थित रहते हैं। आचार्य को आत्मसमर्पण करने का नाम उपसर्पण या उपसंपत् है। गण या परिचारक आदि के परीक्षण को परीक्षा, और आराधना की भलेप्रकार सिद्धि हो सके इसके लिये उत्तम देश राज्य आदि के ढूंढने को निरूपण कहते हैं। इसपर मुझे अनुग्रह करना चाहिये या नहीं ? इस प्रकार संघ को उद्देश करके पूछने का नाम प्रश्न है। संघ से पुनः पूछकर उसकी अनुमति से किसी एक क्षपक के स्वीकार करने को प्रतिप्रच्छ्यैक संग्रह कहते हैं। आचार्य के सम्मुख अपने दोषों के निवेदन करने को गुरोरालोचना कहते हैं। गुण और दोष दोनों के ही आलोचन करने को गुणदोष कहते हैं। शय्या शब्द का अर्थ वसति और संस्तर शब्द का अर्थ प्रस्तर होता है। आराधना करनेवाले की समाधि में सहायता करनेवालों के समूह को निर्यापकपरिग्रह कहते हैं। अंतिम आहार प्रकट करने को प्रकाशन, क्रम से आहार छोड़ने को हानि, और तीन प्रकार के आहार के त्याग करने को प्रत्याख्यान कहते हैं। आचार्यादिकों से क्षमा ग्रहण कराने को क्षमापण, और अपने से जो दूसरों के अपराध हुए हो उनके क्षमा करने को क्षमण कहते हैं। निर्यापक आचार्य द्वारा आराधक को शिक्षा दिये जाने का नाम अनुशिष्टि है। दुःख से अभिभूत होकर मूर्च्छित हो जानेपर चेतना प्राप्त कराने को सारणा, धर्मादि का उपदेश देकर दुःख दूर करने को कवच कहते हैं। जीवन तथा मरण आदि में राग-द्वेष न करने को समता, एकाग्रचिन्ता निरोध को ध्यान तथा कषायानुरञ्जित योग प्रवृत्ति को लेश्या, और आराधना के साध्य को फल कहते हैं। आराधक के शरीर का त्याग होना इसका नाम क्षपकदेहोज्झन है।

इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यानमरण में अर्ह से लेकर शरीरत्यागतक ४० भाव हुआ करते हैं। शेष दो प्रकार के मरणों में जो अंतर है वह ऊपर लिखा जा चुका है।

वर्तमान क्षेत्र और कालवर्ती साधुओं के प्रसाद से अपनी आत्मा में प्रशम की प्राप्ति हो, ऐसी भावना प्रकट करते हैं :-

भक्तत्यागविधेः सिसाधयिषया येऽर्हाद्यवस्थाः क्रमाः,
च्चत्वारिंशतमन्वहं निजबलादारोढुमुद्युञ्जते।

चेष्टाजल्पनचिन्तनच्युतचिदानन्दामृतस्रोतसि,
स्नान्तः सन्तु शमाय तेऽद्य यमिनामग्रेसरा मम।।९९।।

जो संयमियों में अग्रगण्य साधुजन आज इस भरतक्षेत्र और पंचमकाल में रहकर भी भक्तप्रत्याख्यानमरण को सिद्ध करने की इच्छा से अर्ह लिङ्ग आदि चालीस पर्यायों - अवस्थाओं पर प्रतिदिन और अपनी शक्ति के अनुसार क्रम से आरोहण करने के लिये सोत्साह प्रवृत्त रहा करते हैं, और चेष्टा वचन तथा विचारों से च्युत - मन वचन और काय के अगोचर चिदानंदस्वरूप अमृत के स्त्रोत में अवगाहन करके शुद्धि को प्राप्त हो चुके हैं, उनके प्रसाद से मुझे प्रशम की प्राप्ति हो। क्योंकि ऐसे महातपस्वियों के स्मरण से अवश्य ही आत्मा में शान्ति का लाभ होता है।

जो साधु आत्मा का संस्कार करते समय कान्दर्पी आदि पाँच प्रकार की संक्लिष्ट भावनाओं को छोड़कर तप श्रुत सत्व एकत्व और धृति इन पाँच भावनाओं का प्रयोग करता है वह सहज में ही परीषहों को जीत सकता है, ऐसा उपदेश देते हैं :-

कान्दर्पीप्रमुखाः कुदेवगतिदाः पञ्चापि दुर्भावना, -
स्त्यक्त्वा दान्तमनास्तपःश्रुतसदाभ्यासादबिभ्यद्भृशम्।
भीष्मेभ्योपि समिद्धसाहसरसो भूयस्तरां भावयन्नेकत्वं
न परीषहैर्वृतिसुधास्वादे रतस्तप्यते।।१००।।

कान्दर्पी कैल्विषी अभियोगा दानवी और संमोहा इस तरह दुर्भावनाएँ पाँच प्रकार की मानी हैं जो साधु इनमें प्रवृत्त होता है वह देवगति में जाकर भी भाण्ड तौरिक काहार शौनिक कुक्कर आदि नीच अवस्थाओं को धारण करता है, अर्थात् मरकर कुदेव होता है। अतएव इन कुत्सित भावनाओं को छोड़कर और अपने मन को वश में करके जो निरंतर तपोभावना और श्रुतभावना में लीन रहता है, तथा इस तप और श्रुत का सदा अभ्यास और इसीके बल पर साहसिकता के निरंतर उद्दीप्त रहने से अत्यंत भयंकर वेतालादिकों से भी जो कभी कभी भय को प्राप्त नहीं होता किन्तु पुनः पुनः एकत्व

का विचार किया करता है वह साधु निरंतर संतोषामृत के पान करने में रत रहा करता है और इसीलिये वह कभी भी क्षुधा पिपासा आदि परीषहों से पीड़ित नहीं हो सकता।

भावार्थ :- दुर्भावनाओं का परित्याग और मन का निर्दलन करके जो मुमुक्षु तप श्रुत सत्व और एकत्व का निरंतर अभ्यास करता हुआ धैर्य को धारण करता है वही परीषहों का विजेता हो सकता है।

मिथ्या और समीचीन भावनाओं का स्वरूप इस प्रकार है :-

कन्दर्प (राग के उद्रेक से हँसी दिल्लगी के साथ साथ अशिष्ट शब्द बोलना) कौत्कुच्य (शरीर से दुश्चेष्टा करते हुए अश्लील दिल्लगी करना और भंड वचन बोलना) विहेतन (प्रतारणा करना या किसीको यातना देना आदि) यद्वा केवल परिहास करना अथवा चाटुकार के शब्द बोलना या दूसरों को विस्मय उत्पन्न करना इत्यादि अनेक प्रकार की क्रियाओं के निरंतर करने को कान्दर्पीभावना कहते हैं। केवली श्रुत धर्म आचार्य और साधुओं के अवर्णवाद - असद्भूत दोषों के निरूपण करने तथा मायाचार रखने को कैल्विषिकीभावना कहते हैं। आनंदोत्पादक रस ऋद्धियों के निमित्त से मंत्र अभियोग कौतुक या भूतक्रीडा आदि अनेक तरह के धर्म करने में निरत रहने को अभियोगकभावना कहते हैं। क्रोध रोष आदि कषायों से आविर्भूत रहना तथा लड़ाई झगडों आदि में आसक्त रहना एवं करुणा या कोमलता अथवा सहानुभूति आदिक भावों से रहित परिणामों का रखना दानवीभावना कही जाती है। सन्मार्ग के प्रतिकूल और मिथ्यामार्ग के समर्थन करने में अपनी बुद्धि की पटुता प्रकट करना तथा प्राणियों को मोह - मिथ्यात्व अथवा राग-द्वेषादिक से मोहित करना आदि संमोहा भावना कही जाती है।

ये पाँच प्रकार की दुर्भावनाएँ हैं जिनके कि करने से तपस्वी परलोक में कुदेव होता है। इसके विरुद्ध मोक्षमार्ग की साधक पाँच समीचीन भावनाएँ हैं जिनका कि निर्देश ऊपर लिखा जा चुका है। फिर भी उनका स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है :-

इन्द्रियों का स्वामी मन है। मन की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त हुआ करती हैं। इसलिये यदि इन्द्रियों को जीतना हो तो पहले मन को वश में करना चाहिये। मन के वश में हो जानेपर इन्द्रियाँ स्वयं ही वशीभूत हो जाती हैं। और वह वशीभूत मन समाधि का कारण बनता है। अतएव अनेक प्रकार से मन और इन्द्रियों के वश में करते रहने के प्रयत्न का ही नाम तपोभावना है। ज्ञान दर्शन चारित्र और तप इन

चारों आराधनाओं की सिद्धि आगम का अभ्यास करने से ही हो सकती है और इसके निमित्त से ही मुमुक्षु साधु असंक्लिष्ट होकर सुख का भोग कर सकता है। अतएव पुनः पुनः आगम के अभ्यास करने को श्रुतभावना कहते हैं। दिन में अथवा रात में अत्यंत भयानक रूप रखकर देवों के द्वारा डराये जानेपर भी भय के वश न होना तथा उत्कृष्ट साहस का रखना इसको सत्वभावना कहते हैं। संसार शरीर और भोगों से विरक्त रहकर मोक्षमार्ग में रत रहने को एकत्वभावना कहते हैं। जिसको देखकर साधारण शक्तिवाले लोगों को भय उत्पन्न होने लगे एवं जिसका वेग मार्ग को दुर्धर बनानेवाला है ऐसी परीषहों की संपूर्ण सेना समस्त उपसर्गों के साथ साथ भी आकर यदि उपस्थित हो तो भी आरब्ध मोक्षमार्ग में निराकुल रहना तथा संपूर्ण मनोरथों के सिद्ध करनेवाले धैर्य को न छोड़ना धृतिभावना कही जाती है।

भक्तप्रत्याख्यान का लक्षण और सल्लेखना के जघन्य तथा उत्कृष्ट काल का प्रमाण बताते हैं :-

यस्मिन् समाधये स्वान्यवैयावृत्त्यमपेक्ष्यते।
तद्द्वादशाब्दानीषेन्तर्मुहूर्तं चाशनोज्झनम्।।१०१।।

समाधि की इच्छा रखनेवाले साधुओं को भक्तप्रत्याख्यान मरण में रत्नत्रय को एकाग्र रखने के लिये स्ववैयावृत्त्य और परवैयावृत्य दोनों ही की अपेक्षा रहा करती हैं। तथा इस मरण का जघन्यकाल अन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष का है।

व्युत्सर्गतप का फल बताते हैं :-

नैःसङ्ग्यं जीविताशान्तो निर्भयं दोषविच्छिदा।
स्याद्व्युसर्गाच्छिवोपायभावनापरतादि च।।१०२।।

व्युत्सर्गतप के प्रसाद से संपूर्ण परिग्रह का निग्रह हो जाने से निर्ग्रन्थता की सिद्धि और जीवन की आशा का विनाश तथा भय का अभाव होता है, रागादिक दोषों का उच्छेद और मोक्षमार्ग - रत्नत्रय के अभ्यास करने में तत्परता होती है। अधिक क्या सभी लौकिक और पारलौकिक अभ्युदयों तथा अंत में मोक्ष की भी इससे सिद्धि हुआ करती है।

अंतिम अंतरंगतप - ध्यान का वर्णन करने की इच्छा से उसके मिथ्या और समीचीन भेदों का वर्णन करते हुए इस बात का उपदेश देते हैं कि प्रशस्तध्यान के विना संपूर्ण क्रियाओं का पालन करते रहने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती :-

आर्तं रौद्रमिति द्वयं कुगतिदं त्यक्त्वा चतुर्धा पृथग्,
धर्म्यं शुक्लमिति द्वयं सुगतिदं ध्यानं जुषस्वानिशम्।
नो चेत्क्लेशनृशंसकीर्णजनुरावर्ते भवाब्धौ भ्रमन्,
साधो सिद्धिवधूं विधास्यसि मुधोत्कण्ठामकुण्ठश्चिरम्।।१०३।।

मन के किसी भी एक विषय में लीन होने को ध्यान कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है, एक मिथ्या दूसरा समीचीन। मिथ्या भी दो प्रकार का होता है, एक आर्त दूसरा रौद्र। तथा समीचीन भी दो प्रकार का होता है, एक धर्म्य दूसरा शुक्ल। इनमें भी प्रत्येक के उत्तर भेद चार चार होते हैं। यथा आर्तध्यान के इष्टवियोग अनिष्टसंयोग पीड़ाचिंतवन और निदान। रौद्रध्यान के हिंसानंद मृषानंद चौर्यानंद और परिग्रहानंद। एवं धर्मध्यान के आज्ञाविचय अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय। तथा शुक्लध्यान के पृथक्त्ववितर्कवीचार एकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

इष्टपदाथ स्त्री पुत्र धन गृह आदि का वियोग हो जानेपर दु:ख के साथ उसकी प्राप्ति के लिये पुन: पुन: विचार करना, अथवा संयोग रहने पर भी संयोग ही बना रहे कभी वियोग न हो ऐसा उसके विषय में बार बार विचार करते रहना इसको इष्टवियोग नाम का आर्तध्यान कहते हैं। इसी प्रकार अनिष्ट पदार्थ का संयोग हो जानेपर उसके वियोग के लिये अथवा वियोग रहने पर उसका कभी भी संयोग न होने के लिये पुन: पुन: विचार करने को अनिष्टसंयोग नाम का अर्तध्यान कहते हैं। तथा कभी आधि व्याधि प्राप्त न हो इस तरह का अथवा उनके प्राप्त होनेपर उनके दूर होने के लिये चिंता करते रहने को पीड़ाचिंतवन और भविष्यत् में भोगादिकों की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये संकल्प करने को निदानआर्तध्यान कहते हैं।

हिंसा झूठ चोरी और कुशील अथवा परिग्रह में आनंद मानना तथा उनके लिये खुशी के साथ प्रवृत्ति करना इसको ही क्रम से हिंसानंद मृषानंद चौर्यानंद और परिग्रहानंद कहते हैं।

अरिहंत देव की आज्ञा का मुझ से भंग न हो यद्वा कोई भी उसका भंग न करे तथा सर्वत्र उसका प्रचार हो ऐसा विचार करने को आज्ञाविचय, ये संपूर्ण संसारी प्राणी जो अनेक प्रकार के दु:खों को भोग रहे हैं वे उनसे कब मुक्त होंगे ऐसा विचार करने को अपायविचय और ये सभी संसारीजीव कर्मोदय के वश में पड़कर इस तरह संक्लिष्ट हो रहे हैं ऐसे कर्मफल के विषय में बार बार विचार करने को विपाकविचय, तथा लोक के आकारादिक के विषय में पुन: पुन: विचार करने को संस्थानविचय, नाम का धर्मध्यान कहते हैं।

वितर्क शब्द का अर्थ श्रुत और विचार शब्द का अर्थ व्यंजन तथा योग की संक्रांति होता है। जिस ध्यान में पृथक्त्व-योगों की भिन्नता के साथ साथ ये दोनों बातें रहे उसको पृथक्त्ववितर्कविचार नाम का शुक्लध्यान कहते हैं और जिसमें एक ही योग के साथ वितर्क तो हो पर विचार न हो उसको एकत्ववितर्क कहते हैं। जिसमें काययोग की भी स्थूल परिणति छूट जाती है किन्तु मंदस्पंदता ही रह जाती है उसको सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और जिसमें संपूर्ण ही क्रिया छूट जांय उसको व्युपरतक्रियानिवृत्ति नाम का शुक्लध्यान कहते हैं।

इस प्रकार ध्यानों का स्वरूप संक्षेप से यहाँ पर बताया है। इनमें से आदि के जो दोनों आर्त और रौद्र नामक मिथ्या ध्यान हैं वे तिर्यञ्च नारक कुदेव या कुमानुषत्व आदि खोटी पर्यायों के कारण हैं। तथा अंत के धर्म्य और शुक्ल नाम के सद्ध्यान हैं वे सुगतियों - सुदेवत्व सुमानुषत्व तथा अंत में मोक्ष को भी देनेवाले हैं। अतएव हे साधो ! तू इन दुर्ध्यानों को छोड़कर निरंतर समीचीन ध्यानों का ही प्रीतिपूर्वक सेवन कर। अन्यथा अनेक व्रत उपवासादि क्रियाकाण्ड में सदा सदा उद्यत रहते हुए भी तू सिद्धवधू को चिरकाल के लिये अपने ऊपर से उत्कण्ठाशून्य बना लेगा और अत्यंत भयंकर तथा क्रूर मगरमच्छ आदि जलजंतुओं के समान विविधक्लेशों से पूर्ण तथा जन्ममरणरूप भंवरों से भरे हुए भव-समुद्र में भ्रमण करता फिरेगा।

भावार्थ :- मोक्ष की सिद्धि सद्ध्यान के प्रसाद से ही हो सकती है अतएव मुमुक्षु साधुओं को उसमें अवश्य ही प्रवृत्त होना चाहिये।

अंत में तप के विषय में उद्योतनादिक पाँचो आराधनाओं का और उसके फल का वर्णन करते हैं :-

यस्त्यक्तवा विषयाभिलाषमभितो हिंसामपास्यंस्तप, -
स्यागूर्णो विशदे तदेकपरतां बिभ्रत्तदेवोद्गतिम्।
नीत्वा तत्प्रणिधानजातपरमानन्दो विमुञ्चत्यसून्,
स स्नात्वाऽमरमर्त्यशर्मलहरीष्वीर्ते परां निर्वृत्तिम्।।१०४।।

इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा को छोड़कर और द्रव्य तथा भाव दोनों ही प्रकार की हिंसा का भी सर्वथा परित्याग करके जो साधु पूर्वोक्त निर्मल तपश्चरण में उद्यत रहकर उसीमें रत रहता हुआ उसके अंत दर्जे की समुन्नति को प्राप्त हो जाता है, तथा उस निर्मल तपश्चरण में रहनेवाली अव्यवच्छिन्न परिणति - एकतानता के निमित्त से उत्पन्न हुए प्रकृष्ट प्रमोद को प्राप्त होकर प्राणों का परित्याग करता है वह साधु देव और मनुष्यगति के सुखसमुद्र में अवगाहन करके अंत में परममुक्ति को प्राप्त होता है।

भावार्थ :- तप के विषय में पाँच आराधनाएँ बताई हैं - उद्योतन उद्यवन निर्वहण साधन और निस्तरण। विषयाभिलाषा को छोड़कर हिंसा का त्याग करना उद्योतन, निर्मल तप में उद्यत रहना उद्यवन, उस तप में ही लीन रहना निर्वहण, और उस तपस्या में अंतिम दर्जे की उन्नति करना साधन, तथा उस तपोजनित आनंद में मरणान्त निमग्न रहना निस्तरण कहा जाता है। इन पाँच आराधनाओं में रत रहनेवाला ही साधु देव और मनुष्यगति के उत्कृष्ट अभ्युदयों को भोगकर जीवन्मुक्ति और अंत में परम मुक्ति को प्राप्त होता है। ।७।।

इति श्री परमपूज्य धर्मसाम्राज्यनायक योगींद्रचूडामणि सिद्धांतपारंगत, चारित्रचक्रवर्ती
श्री १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के आदेश से ज्ञानदान के लिये
श्री प. पू. चा. च. आ. श्री १०८ शांतिसागर दिगंबर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक
संस्था की ओर से छपे हुए श्री महापण्डित श्री आशाधरकृत
अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका विषैं
सातमां अध्याय संपूर्ण भया।।७।।
ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण वीर नि. सं. २४८१

श्री वीतरागाय नमः

(वीर संवत् २४८१) ।।ॐ नमः सिद्धेभ्यः।। (ग्रंथ प्रकाशन, समिति फलटण

।।महापंडित श्री आशाधर कृत अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका।।

तप के विनयरूप से आवश्यकों का पालन करने के लिये पहले संक्षेप में कहा जा चुका है। अब उन्हीं को खुलासा समझाने के लिये निरूपण करते हैं :-

अयमहमनुभूतिरितिस्वविित्तवषजत्तथेतिमतिरुचिते।
स्वात्मनि निःशङ्कमवस्थातुमथावश्यकं चरेत् षोढा।।१।।

जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय है, और जो 'अहं' - 'मैं' इस उल्लेख के द्वारा अनुभव में आता है वह शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप आत्मा मैं ही हूँ। इस अनुभव को ही स्वपरज्ञप्ति अथवा स्वसंवित्ति कहते हैं। जो इस आत्मसंवेदन के द्वारा जिसमें कि भिन्नता का अवभास नहीं हो सकता ऐसी एकतानता को प्राप्त हो गया है और जो रुचि अथवा श्रद्धा का विषय हो चुका है - अपने द्वारा अपने में ही जिसका निश्चय किया जा चुका है ऐसे निज आत्मस्वरूप में निःशङ्क - निश्चित सुख का अनुभव करते हुए अथवा निःसंशय - निश्चल होकर उत्पाद व्यय और ध्रौव्य के समुदयरूप आत्मवृत्ति में अवस्थित होने के लिये तपस्वियों को छह प्रकार के आवश्यकों का पालन करना चाहिये।

मुमुक्षुओं के छह आवश्यक कर्मों के निर्माण का समर्थन करने के लिये चौदह पद्यों में स्थलशुद्धि का विधान करते है। उसमें सबसे पहले आत्मा और भेदज्ञान तथा

वैराग्य के द्वारा जिसकी शक्ति नष्ट कर दी गई है ऐसा विषयों का उपभोग कर्मबंध का कारण नहीं हो सकता, इस बात को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं :-

मन्त्रेणेव विषं मृत्यै मध्वरत्या मदाय वा।
न बन्धाय हतं ज्ञप्त्या न विरक्त्यार्थसेवनम्।।२।।

मंत्र द्वारा जिसकी सामर्थ्य - मारणशक्ति नष्ट कर दी गई है ऐसे विष का भक्षण करने पर भी जिस प्रकार मरण नहीं होता उसी तरह आत्मा और शरीर का भेदज्ञान रहने पर विषयों का सेवन करने से कर्मों का बंध नहीं होता। इसी प्रकार विना प्रीति के पिया हुआ भी मद्य जिस तरह मद - नशा या बेहोशी को करनेवाला नहीं होता उसी प्रकार भेदज्ञान द्वारा उत्पन्न हुए वैराग्य के अंतरंग में रहने पर वह विषयोपभोग कर्म बंध का कारण नहीं हो सकता।

भावार्थ :- यहाँ पर भेदज्ञान और वैराग्य इन दोनों के लिये क्रम से दो उदाहरण दिये हैं। इन उदाहरणों से यह बात स्पष्ट है कि यदि अंतरंग में भेदज्ञान और वैराग्य हो तो इन्द्रियों के विषयों का सेवन करते हुए भी कर्मों का बंध नहीं हो सकता।

ज्ञानीजीव का विषयोपभोग स्वरूप की अपेक्षा से यद्यपि सद्रूप है तो भी उससे विशिष्ट फल उत्पन्न नहीं होता इसलिये उसे असद्रूप ही कहना चाहिये। इसी बात को दृष्टांत द्वारा दृढ़ करते हैं :-

ज्ञो भुञ्जानोपि नो भुङ्क्ते विषयांस्तत्फलात्ययात्।
यथा परप्रकरणे नृत्यन्नपि न नृत्यति।।३।।

जिस प्रकार नृत्यकार अन्य पुरुष के विवाहादिक उत्सव के समय केवल शारीरिक चेष्टामात्र से ही नृत्य करता है न कि उपयोग लगाकर। उसका उपयोग तो उस समय उधर से विमुख ही रहता है। क्योंकि उसका वहाँ पर कोई फल भी नहीं होता। अतएव उसको नृत्य करते हुए भी उपयोग की अपेक्षा से नृत्य नहीं करता है ऐसा ही कहना चाहिये। इसी प्रकार जो मनुष्य ज्ञानी है - आत्मस्वरूप के ज्ञान में उपयुक्त है वह चेष्टामात्र

से यद्यपि इन्द्रियों के विषयों को भोगता है फिर भी उसे अभोक्ता ही समझना चाहिये। क्योंकि वास्तव में उसका विषयों की तरफ उपयोग नहीं रहता। 'आज मैं धन्य हूँ जो इस तरह के उत्कृष्ट भोगों को भोग रहा हूँ' ऐसा आभिमानिक रस और बुद्धिपूर्वक राग उसके नहीं पाया जाता। इसलिये उसके कर्मों का बंध भी नहीं होता।

भावार्थ :- कर्मों का संचय बुद्धिपूर्वक रागादिक के द्वारा हुआ करता है। ज्ञानी के विषयों के सेवन करने में बुद्धिपूर्वक रागादि नहीं रहते। अतएव उसके कर्मों का बंध भी नहीं होता। विषय सेवन का फल कर्मबंध है सो जब ज्ञानी के नहीं होता तब उसको विषयों का भोक्ता कहना ही व्यर्थ - निष्फल है। अतएव आत्मज्ञानी जीव भोक्ता रहने पर भी अभोक्ता ही माना जाता है।

ज्ञानी और अज्ञानी के कर्म बंध की विशेषता बताते हैं :-

नाबुद्धिपार्वो रागाद्या जघन्यज्ञानिनोपि हि।
बन्धायालं तथा बुद्धिपूर्वा अज्ञानिनो यथां।।४।।

जिसको मध्यम या उत्कृष्ट आत्मज्ञान है उसकी तो बात ही क्या जघन्य दर्जे के आत्मज्ञानवाले पुरुष के भी संपूर्ण रागादिक आत्मदृष्टिपूर्वक ही हुआ करते हैं अतएव वे कर्मबंध कराने में भी समर्थ नहीं हुआ करते। किन्तु अज्ञानी के इसके विपरीत सभी रागादिक आत्मदृष्टि रहित होते हैं अतएव उसके वे सभी भाव कर्मबंध के ही कारण हुआ करते हैं।

अनादिकाल से आत्मा के साथ जो प्रमाद या अज्ञानजनित आचरण का संबंध चला आ रहा है उस पर अपसोच प्रकट करते हैं :-

मत्प्रच्युत्य परेहमित्यवगमादाजन्म रज्यन्, द्विषन्।
प्राङ्मिथ्यात्वमुखेश्चतुर्भिरपि तत्कर्माष्टधा बन्धयन्।
मूर्तैर्मूर्तमहं तदुद्भवभवैर्भावैरसंचिन्मयैर्योजं
योजमिहाद्य यावदसदं ही मां न जात्वासदम्।।५।।

चेतना का चमत्कार मात्र है स्वभाव जिसका ऐसी अपनी आत्मा को हाय मैंने कभी भी प्राप्त नहीं किया - निजस्वरूप की तरफ मेरी अभीतक कभी दृष्टि ही नहीं गई, बल्कि उस आत्मस्वरूप से विमुख होकर पर शरीरादिक में ही मैं आत्मबुद्धि धारण किये रहा, जड़ शरीरादिकों को ही 'ये मैं हूँ' ऐसा मानता रहा। हाँ ! इस अज्ञान के कारण ही मैं अनादिकाल से इष्ट पदार्थों में राग और अनिष्ट विषयों में द्वेष करता रहा हूँ। और इसीलिये मिथ्यात्वादिक - मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग इन चार पूर्वसंचित पौद्गलिक भावों से उन प्रसिद्ध आठ प्रकार के मूर्त - रूप रस गंध स्पर्शयुक्त ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध करता रहा, तथा उनके उदय से उत्पन्न हुए अज्ञानमय मिथ्यादर्शन और रागादि विभावरूप परिणत हो हो कर आजतक इस संसार में दुःख और क्लेश को ही भोगता रहा हूँ।

भावार्थ :- अनादिकाल से आजतक मेरा आत्मस्वरूप की तरफ कभी भी वास्तव में लक्ष्य नहीं गया। इसीलिये अबतक मैं कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का ही अनुभव कर केवल दुःखों को ही भोगता रहा।

दूसरी जगह पर बंध के कारण मिथ्यात्वादि पाँच बताये हैं किन्तु यहाँ पर चार ही लिखे हैं इसलिये किसी प्रकार का विरोध न समझना चाहिये। क्योंकि प्रमाद का अविरति में अंतर्भाव हो जानेपर चार भी बंध कारण कहे जा सकते हैं।

आत्मा का कर्तृत्त्व और भोक्तृत्व स्वरूप वास्तविक नहीं है, वह परपदार्थ की अपेक्षा से ही है, सो भी जबतक शरीर और आत्मा का भेदज्ञान नहीं होता है तबतक और केवल व्यवहारनय से ही माना है। वास्तव में तो आत्मा का स्वरूप ज्ञातृत्व ही है। इसी बात को दिखाकर भेदज्ञान के हो जानेपर शुद्ध निज आत्मस्वरूप का अनुभव करने के लिये प्रयत्न करने की प्रतिज्ञा करते हैं :-

स्वान्यावऽप्रतियन् स्वलक्षणकलानैयत्यतोऽस्वेऽहमि -
त्यैक्याध्यासकृतेः परस्य पुरुषः कर्ता परार्थस्य च।
भोक्ता नित्यमहंतयानुभवनाज्ज्ञातैव चार्थात्तयो -
स्तत्स्वान्यप्रविभागबोधबलतःशुद्धात्मसिद्ध्ये यते।।६।।

जीव और अजीव का लक्षण तथा स्वरूप भिन्न भिन्न है। किन्तु उसको न पहचान कर - आत्मा और शरीर में जो स्वरूप की विशेषता नियत - सिद्ध है उसको न समझकर अनात्मस्वरूप शरीरादिक में जो ये ही मैं हूँ इस तरह का अभेदाध्यवसाय होता है उसीसे जीव को कर्मादिकों का कर्ता और परार्थ - कर्मादिकों के फल का भोक्ता माना है। अर्थात् भेदज्ञान न होनेतक आत्मा शरीरादिक के विषय में कर्ता और भोक्ता है किन्तु व्यवहार से ही है न कि निश्चय से। वास्तव में तो वह केवल कर्मादिक या उसके फलादिक का ज्ञाता ही है न कि कर्ता या भोक्ता। क्योंकि 'अहं' - 'मैं' इस उल्लेख के द्वारा उसके विषय में नित्य ऐसा ही अनुभव होता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

मा कर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इव ह्यार्हता:,
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधा:।
ऊर्ध्व तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं,
पश्यन्तु च्युतकर्मभावमचलं ज्ञातारमेकं परम्।।

सांख्य जिस प्रकार आत्मा को कर्ता मानते हैं उस प्रकार आर्हत नहीं मानते। आर्हत लोग जबतक भेदज्ञान नहीं होता है तभीतक उसको कर्ता मानते हैं, बाद में नहीं। बाद में तो वे उसको स्वयं अनुभव में आने योग्य प्रत्यक्षस्वरूप नियत अनंतज्ञान का भंडार और संपूर्ण कर्म तथा विभावों से रहित सर्वोत्कृष्ट अद्वितीय निश्चल - टंकोत्कीर्ण ज्ञाता मानते हैं।

अतएव मुमुक्षुओं को निश्चय करना चाहिये कि अब मैं स्व और पर के भेदज्ञान का बल उद्भूत हो जानेपर निर्मल निज आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न करूँगा।

आत्मा के सम्यग्दर्शनस्वरूप का अनुभव करते हैं।

यदि टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मानम्।
रागादिभ्य: सम्यग्विविच्य पश्यामि सुदृगस्मि।।७।।

भलेप्रकार - संशय विपर्यय और अनध्यवसाय को छोड़कर यदि मैं रागादिक से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव करता हूँ तो वह एक कर्तृत्वादि भावों से रहित [१]टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभावस्वभाव सम्यग्दर्शनस्वरूप ही अनुभव में आता है।

रागादिक से निजस्वरूप की भिन्नता का समर्थन करते हैं :-

ज्ञानं जानत्तया ज्ञानमेव रागो रजत्तया।
राग एवास्ति नत्वन्यत्तच्चिद्रागोसम्यचित्त कथम्।।८।।

ज्ञान का स्वभाव जानना - स्व और पर पदार्थों को अवभासित करना है, अतएव अपने इस स्वभाव के कारण ज्ञान ज्ञान ही रह सकता है, वह अन्यस्वरूप - रागादिरूप नहीं हो सकता। इसी प्रकार राग का स्वभाव इष्टविषयों में प्रीति उत्पन्न करना है। अतएव वह भी अपने इस स्वभाव के कारण राग ही रह सकता है - ज्ञानरूप नहीं हो सकता। यही बात द्वेष या मोहादि के विषय में भी समझनी चाहिये। अर्थात् ज्ञानादिक सभी स्वभाव अपने अपने स्वभाव के कारण भिन्न भिन्न रूप नहीं हो सकते, अपने अपने स्वभाव में ही रह सकते हैं, ज्ञान रागादिरूप नहीं हो सकता और रागादिक ज्ञानरूप नहीं हो सकते। ज्ञान ज्ञान ही रहेगा और रागादिक रागादिक ही रहेंगे। जब कि यह बात सिद्ध है तब चित्स्वरूप - ज्ञानस्वभाव मैं [२]अचित् - रागद्वेष मोहरूप किस तरह हो सकता हूँ ? कभी नहीं हो सकता।

इसी बात को संक्षेप में और भी स्पष्ट करते हैं।

नान्तरं वाङ्मनोप्यस्मि किं पुनर्बाह्यिमङ्गगीः।
तत् कोऽङ्गसङ्गजेष्वैक्यभ्रमो मेऽङ्गाऽङ्गजादिषु।।९।।

---

१ - टांकी से उकेरी हुई मूर्ति के समान जिसका आकार निश्चल और बिलकुल स्पष्ट हो उसको टंकोत्कीर्ण कहते हैं।

२ - रागादिक यद्यपि स्वसंविदित हैं तो भी परस्वरूप का संवेदन नहीं कर सकते इसलिये उन्हे अचित ही कहना चाहिये।

शरीर और वाणी आदि तो प्रत्यक्ष ही मुझ से सर्वथा बाह्य - पृथक् दिखते हैं अतएव इनके विषय में तो कहना ही क्या किन्तु अंतरंग - जो दृष्टिगोचर नहीं होते ऐसे अंतर्जल्पविकल्पस्वरूप जो वचन या मन हैं तत्स्वरूप भी मैं नहीं हूँ। इसलिये हे अङ्ग ! केवल शरीर के संसर्गमात्र से उत्पन्न हुए पुत्रादिकों के विषय में तो मुझे ऐक्य - अभेद का भ्रम हो ही किस तरह सकता है ?

भावार्थ :- द्रव्य और भावरूप वचन या मन तथा शरीर और उससे संबंध रखनेवाले माता पिता भ्राता भगिनी स्त्री पुत्र आदि सभी तत्त्वतः मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूँ।

आत्मा ही अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनस्वरूप है इस बात को स्पष्ट करते हैं :-

यत्कस्मादपि नो बिभेति न किमप्याशंसति क्वकाप्युपक्रोशं,
नाश्रयते न मुह्यति निजाः पुष्णाति शक्तीः सदाः।
मार्गन्न च्यवतेऽञ्जसा शिवपथं स्वात्मानमालोकते,
माहात्म्यं स्वमभिव्यनक्ति च तदस्म्यष्टांगसद्दर्शनम्।।१०।।

सम्यग्दर्शन के निःशङ्कितत्व निःकांक्षितत्व आदि आठ अंग माने हैं जिनका कि वर्णन पहले किया जा चुका है। इन आठों अङ्गों के होने से सम्यग्दर्शन पूर्ण माना जाता है। किन्तु यह अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन मुझसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। बल्कि मैं ही अष्टांग सम्यग्दर्शन हूँ। क्योंकि मैं निःशङ्क - निर्भय हूँ, मुझे किसीसे भी भय नहीं होता। इहलोकभय परलोकभय अरक्षकभय अगुप्तिभय मरणभय वेदनाभय और अकस्मात्भय। ये सात प्रकार की जो भय बतलाई हैं वे आत्मा को नहीं होतीं। जैसा कि कहा भी है कि :-

रूपैभयंकरैर्वाक्यैर्हेतुदृष्टान्तसूचिभिः।
जातु क्षायिकसम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चलः।।

इसी प्रकार आत्मा को इस जन्म में भोगों की और परभव में इन्द्रादि पदों की आकांक्षा भी नहीं होती। न वह विष्टा आदि पदार्थों और क्षुधा पिपासा आदि भावों में ग्लानि ही

करता है। किसी भी मिथ्या देव गुरु या शास्त्र में वह मोहित - मूर्च्छित भी नहीं होता। बल्कि जिनसे कर्मों का संवर या निर्जरा हो सकती है, अथवा समस्त कर्मों से रहित मोक्ष की सिद्धि हो सकती है, यद्वा अभ्युदयों की प्राप्ति और दुर्गतियों की निवृत्ति हो सकती है उन अपनी संपूर्ण शक्तियों को वह सदा पुष्ट किया करता है। और रत्नत्रयरूपमार्ग से कभी विचलित नहीं होता। किन्तु वास्तविक मोक्षमार्ग निजचित्स्वरूप का अवलोकन किया करता, और सदा अपने माहात्म्य - अचिन्त्यशक्तिविशेष का सर्वत्र प्रकाश किया करता है। इस प्रकार निश्चय से देखा जाय तो मैं ही अष्टाङ्गसम्यग्र्शन हूँ।

आत्मा की ज्ञान के विषय में रति आदि रूप
जो परिणति होती है उसको दिखाते हैं :-

सत्यान्यात्माशीरनुभाव्यानीयन्ति चैव यावदिदम्।
ज्ञानं तदिहास्मि रतः संतुष्टः संततं तृप्तः।।११।।

आत्मा - जीव, और आशी: - आगामी इष्ट पदार्थों की अभिलाषा, तथा अनुभाव्य - जो कि वर्तमान में अनुभव में आ रहे हों, ये तीनों ही पदार्थ सत्य है। और उतने ही हैं जितने इस ज्ञान ने जाने हैं, अर्थात् जितना यह स्वयं संवेद्यमान ज्ञान है उतना ही आत्मा है और उतनी ही आशी है तथा अनुभवनीय पदार्थ भी उतना ही है। अतएव मैं इस ज्ञानमें ही निरंतर रत - आसक्त रहता तथा संतोष को धारण कर तृप्त - सुखी होता हूँ। अथवा इसको पाकर मैं संतुष्ट और सुखी हो गया हूँ।

भेदज्ञान के निमित्त से ही कर्मों का बंधन टूटकर मोक्ष और अनंतसुख का लाभ हो सकता है। इसी बात को बताते हैं :-

क्रोधाद्यास्रवविनिवृत्तिनान्तरीयकतदात्मभेदविदः।
सिध्यति बन्धनिरोधस्ततः शिवं शं ततोऽनन्तम्।।१२।।

क्रोधादिक आस्रवों की विशेषरूप से निवृत्ति - संवर के साथ साथ जो उन क्रोधादिक आस्रवों और आत्मा के भेद का ज्ञान होता है उसीसे कर्मों के बंध का निरोध हुआ करता है। बंध का उच्छेद हो जानेपर मोक्ष की प्राप्ति और उससे पुनः अनंतसुख की सिद्धि हुआ करती है।

यहाँ पर क्रोधादिक में आदि शब्द व्यवस्थावाची है। अतएव इससे जीव की परतंत्रता के निमित्तभूत राग द्वेष मोह और बादर सूक्ष्म योग तथा अघातिकर्मों के तीव्र और मंद उदय के कालविशेष का भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

भावार्थ :- इन संपूर्ण आस्रवोंका निरोध और उसके साथ साथ भेदज्ञान होने से ही मोक्षकल्याण और अनंतसुख की सिद्धि होती है। जैसा कि कहा भी है कि :-

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।

प्रकृत विषय का उपसंहार करते हुए इस बात का उपदेश देते हैं कि साधुओं को शुद्ध आत्मसंवेदन का लाभ हो जानेपर अधःक्रियाओं के पालन करने में भी प्रवृत्त होना चाहिये :-

इतीदृग्भेदविज्ञानबलाच्छुद्धात्मसविदम्।
साक्षात्कर्मोच्छिदं यावल्लभे तावद्भजे क्रियाम्।१३।।

जिसका कि स्वरूप ऊपर लिखा जा चुका है और जैसा कि आगम में बतलाया भी है उस भेदविज्ञान की सामर्थ्य से शुद्ध - संपूर्ण सकल्प विकल्पों से रहित आत्मसंवेदन को जो कि घाति और अघाति सभी कर्मों को निर्मूल करने के लिये साक्षात्कारण है प्राप्त करूँ तबतक मुझे सम्यग्ज्ञानपूर्वक सभी आवश्यक क्रियाओं का पालन करना चाहिये।

भावार्थ :- आत्मा का भिन्नत्वेन अनुभवन करनेरूप ज्ञानक्रिया का पालन मुमुक्षु का प्रधान कर्तव्य है, किन्तु जब उसके अभीष्ट मोक्ष की सिद्धि हो सकती है कि तब उसके विरुद्ध कर्मबंध की कारण क्रियाओं का पालन करने में उसे प्रवृत्त क्यों होना चाहिये ?

और क्या यह कथन आगमविरुद्ध नहीं है ? इसका उत्तर देते हैं :-

सम्यगावश्यकविधेः फलं पुण्यास्रवोपि हि।
प्रशस्ताध्यवसायोंहश्छित् किलेति मतः सताम्।।१४।।

ऐसा आगम में बतलाया है कि जिन प्रशस्तपरिणामों से पुण्यकर्म का आस्रव और पापकर्मों का उच्छेद होता है। वे समीचीन आवश्यक विधानों के ही फल हैं। यही कारण है कि साधुजन इसके पालन करने को स्वीकार करते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

आवश्यकं न कर्तव्यं नैष्फल्यादित्ययसांप्रतम्।
प्रपशस्ताध्यवसायस्य फलस्यात्रोपलब्धितः।।
प्रशस्ताध्यवसायेन संचितं कर्मं नाश्यते।
काष्ठं काष्ठान्तकेनेव दीप्यमानेन निश्चितम्।।

आवश्यकों का पालन करना निष्फल है, यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उन्हीं के निमित्त से शुभ परिणामों की सिद्धि हुआ करती है; और जिस प्रकार अग्नि से काष्ठ भस्म हो जाता है उसी प्रकार उन शुभ परिणामों से पूर्वसंचित कर्म नष्ट हो जाया करते हैं।

यहाँ पर कोई फिर कह सकता है कि पुण्यबंध भी तो कर्म का बंध ही है; अतएव पापबंध की तरह पुण्यबंध करने का भी अनुरोध मुमुक्षु के लिये क्यों होना चाहिये ? इसका भी उत्तर देते हैं :-

मुमुक्षोः समयाकर्तुः पुण्यादभ्युदयो वरम्।
न पापाद्दुर्गतिः सह्यो बन्धोपि ह्यक्षयश्रिये।।१५।।

रागद्वेषरूप परिणत न होनेवाले उदासीन ज्ञान को जो प्राप्त नहीं हो सकता उस मुमुक्षु के पापकर्म का संचय और उससे प्राप्त होनेवाली दुर्गतियों की अपेक्षा पुण्यकर्म और उसके द्वारा स्वर्गादि पदों का प्राप्त होना अच्छा ही है। क्योंकि जिस बंध - पुण्यकर्म के संचय

से अक्षयलक्ष्मी की प्राप्ति हो सकती है वह पुण्यबंध भी मुनियों के लिये सह्य हो सकता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार निष्कपट भक्ति करनेवाला कोई सेवक अपने स्वामी के द्वारा पीड़ित होनेपर भी कालांतर में उससे यथेष्ट लक्ष्मी प्राप्त करने की इच्छा से उसकी भक्ति ही करता है, उसी प्रकार मुमुक्षुजन जबतक शुद्ध निजात्मस्वरूप का लाभ नहीं होता तबतक जिनेन्द्रदेव की भक्ति में निरत रहता और उनकी उपदिष्ट क्रियाओं का पालन किया करता है। जिससे कि उस पुण्यबंध का संबंध होता है जो कि मोक्षलक्ष्मी की सिद्धि के लिये साक्षात् कारणध्यान के साधन में समर्थ उत्तम संहननादि निमित्तों को प्राप्त करा सकता है।

इस प्रकार जिसकी कर्तव्यता भलेप्रकार सिद्ध करके दिखा दी गई है उस आवश्यक का निरुक्ति द्वारा अवतार करते हुए लक्षण बताते हैं :-

यद्वश्याध्यादिवशेनापि क्रियतेऽक्षावशेन तत्।
आवश्यकमवश्यस्य कर्माहोरात्रिकं मुनेः।।१६।।

जो इन्द्रियों के वश्य-अधीन नहीं होता उसको अवश्य कहते हैं। ऐसे संयमी के आहोरात्रिक - दिन और रात में करनेयोग्य कामों का ही नाम आवश्यक है। अतएव व्याधि आदि से ग्रस्त हो जानेपर भी इन्द्रियों के वश में न पड़कर जो दिन और रात के काम मुनियों को करने ही चाहिये उन्हीं को आवश्यक कहते हैं।

ऐसे आवश्यक कर्म कितने हैं उनके नाम बताते हैं :-

सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वंदना प्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चावश्यकस्य षड् भेदाः।।१७।।

सामायिक चतुर्विंशतिस्तव वंदना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। इस तरह आवश्यक कर्म छह प्रकार के होते हैं।

निक्षेपरहित व्याख्यान वक्ता और श्रोता दोनों ही को उन्मार्ग में ले जानेवाला हो सकता

है। अतएव सामायिकादि छहों आवश्यकों को नामादि छहों निक्षेपों पर घटित करके पालन करने का उपदेश देते हैं :-

नामस्थापनयोर्द्रव्यक्षेत्रयोः कालभावयोः।
पृथग्निक्षिप्य विधिवत्साध्याः सामायिकादयः।।१८।।

आवश्यक निर्युक्ति में बताये हुए विधान के अनुसार नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव इन छह निक्षेपों पर सामायिकादि को घटित करके आचार्यों को उनका व्याख्यान करना चाहिये और साधुओं को उनका पालन करना चाहिये।

इस तरह करने से सामायिक के छह भेद होते हैं। नामसामायिक स्थापनासामायिक द्रव्यसामायिक क्षेत्रसामायिक कालसामायिक और भावसामायिक। इसी प्रकार चतुर्विंशतिस्तवादिके भी विषय में समझना चाहिये। प्रत्येक आवश्यक पर छहों निक्षेप लगते हैं, अतएव आवश्यकों के कुल भेद छत्तीस होते हैं।

सामायिक का निरुक्तिपूर्वक लक्षण बताते हैं :-

रागाद्यबाधबोधः स्यात् समायोस्मिन्निरुच्यते।
भवं सामायिकं साम्यं नामादौ सत्यऽसत्यपि।।१९।।

सम - राग-द्वेषादि से आक्रांत न होनेवाले अय - ज्ञान को समाय कहते हैं इस तरह के ज्ञान में अनुभवरूप जो प्रवृत्ति होती है उसको ही सामायिक कहते हैं। सामायिक का ही दूसरा नाम साम्य भी है। प्रशस्त और अप्रशस्त नाम स्थापना आदि के विषय में क्रम से राग-द्वेष न करना इसको साम्य कहते हैं।

भावार्थ :- शुभाशुभ विषयों में रागद्वेष न करके शुद्धचिन्मात्र के अनुभवन करने को सामायिक या साम्य कहते हैं। यह नामादि निक्षेपों की अपेक्षा से छह प्रकार का हो सकता है। यथा :-

नामसामायिक - जैसा चाहिये वैसे ही प्रमाण से और मनोहरता आदि गुणों से युक्त

स्थापना में राग और उससे विपरीत में द्वेष न कर समदर्शी रहना।

द्रव्यसामायिक - जो सुवर्णादिरूप था या होनेवाला है उसमें राग और जो मृत्तिकादिरूप हो गया, या हो जायगा उसमें द्वेष न करना।

क्षेत्रसामायिक - सुगंधी फलफूलों से पूर्ण वन उपवन और कटीली कंकरीली आदि भूमि में राग-द्वेष न करना।

कालसामायिक - वसंत और ग्रीष्मप्रभृति ऋतुओं में दिन या रात्रि में तथा शुक्लपक्ष या कृष्णपक्ष में एवं प्रात:काल और सायंकाल आदि किसी भी मनोज्ञामनोज्ञ समय में रागद्वेष न कर समता धारण करना।

भावसामायिक - जीवमात्र के विषय में दुर्भावनाओं को छोड़कर मैत्रीभाव धारण करना।

नामसामायिकादि शब्दों का अर्थ जैसा कुछ ऊपर लिखा गया है उसके सिवाय और भी नीचे लिखे मूजब हो सकता है, उस अर्थ का भी यहाँ संग्रह कर लेना। यह बात इस श्लोक में दिये हुए अपि शब्द के द्वारा सूचित की गई है। यथा :- जाति द्रव्य गुण क्रिया आदि की अपेक्षा न करके 'सामायिक' ऐसी किसी की संज्ञा रख देने को अथवा 'सामायिक' इस शब्दमात्रको भी नामसामायिक कहते हैं। जो व्यक्ति सामायिकरूप परिणत है उसके सदृश या विसदृश आकार रखनेवाले किसी भिन्नपदार्थ में आरोप करना इसको स्थापना सामायिक कहते हैं। जो सामायिकरूप परिणत हो चुका हो या आगे चलकर तद्रूप परिणत होनेवाला हो उसको द्रव्यसामायिक कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है - एक आगमद्रव्यसामायिक दूसरा नोआगमद्रव्यसामायिक। सामायिक के स्वरूप का निरूपण करनेवाले शास्त्र के ज्ञाता किन्तु उस विषय में अनुपयुक्त आत्मा को आगमद्रव्यसामायिक कहते हैं। नोआगमद्रव्यसामायिक के तीन भेद हैं - ज्ञायकशरीर भावी और तद्व्यतिरिक्त। सामायिक शास्त्र के जाननेवाले अनुपयुक्त आत्मा के शरीर को ज्ञायकशरीर कहते हैं। इसके भी तीन भेद हैं - भूत भविष्यत् और वर्तमान। भूत भी तीन प्रकार का होता है - च्युत, च्यावित और त्यक्त। जो पके हुए फल की तरह आयु के पूर्ण होनेपर स्वयं छूट जाय उसको च्युत और जो शस्त्रप्रहार विषभक्षण श्वासोच्छ्वास के निरोध आदि कारणों से छूटे उसको च्यावित, तथा समाधि द्वारा छोड़े हुए को त्यक्त कहते हैं। त्यक्त के भी तीन भेद हैं - भक्तप्रत्याख्यान, इङ्गिनीमरण, प्रायोपगमन। भक्तप्रत्याख्यान भी तीन तरह का है - उत्कृष्ट मध्यम जघन्य। उत्कृष्ट बारहवर्ष का, जघन्य अंतर्मुहूर्त का, और जिसका

इन दोनों के मध्य का - काल हो उसको मध्यम कहते हैं। जो आगे चलकर सामायिकशास्त्र का जाननेवाला होगा उसको भावीनोआगमद्रव्यसामायिक कहते हैं। तद्व्यतिरिक्त के दो भेद हैं - एक कर्म दूसरा नोकर्म। सामायिकरूप परिणत जीव के द्वारा संचित होनेवाले तीर्थकर आदि शुभकर्मों को कर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यसामायिक कहते हैं। नोकर्मतद्व्यतिरिक्त तीन प्रकार का होता है - सचित्त अचित्त और मिश्र। उपाध्यायादि को सचित्त, पुस्तकादिको अचित्त, और उभयरूप को मिश्र कहते हैं। सामायिकरूप परिणत जीव जहाँ पर स्थित हो उस गिरनार चंपापुर पावापुर कैलास आदि स्थान को क्षेत्रसामायिक, और जिस समय में वह सामायिकस्वरूप परिणत हो उस प्रातःकाल मध्याह्नकाल और सायंकाल आदि समय को कालसामायिक कहते हैं। वर्तमान में जो सामायिकपर्याय से युक्त है उसको भावसामायिक कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं - आगमभावसामायिक और नोआगमभावसामायिक। सामायिकशास्त्र के जाननेवाले उपयुक्त आत्मा को आगमभावसामायिक कहते हैं। नोआगमभाव के दो भेद हैं - उपयुक्त और तत्परिणत। जो सामायिकशास्त्र के विना ही सामायिक के अर्थ का विचार कर रहा है - उधर उपयुक्त है उसको उपयुक्तनोआगमभावसामायिक और जो रागद्वेष के अभावरूप परिणत है उसको तत्परिणतनोआगमभावसामायिक कहते हैं।

यहाँ पर सामायिक के विषय में ही नामादि निक्षेप घटित किये हैं किन्तु इसी प्रकार चतुर्विंशतिस्तवनादि आवश्यकों के विषय में भी घट सकते हैं सो स्वयं घटित कर लेने चाहिये। तथा इस विषय में एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है वह यह कि यहाँ पर सामायिक के विषय में यद्यपि छह निक्षेप और उनके भेदों को घटित किया है फिर भी वास्तव में प्रयोजन आगमभावसामायिक और नोआगमभावसामायिक से ही है।

दूसरी तरह से निरुक्ति करके भावसामायिक का फिर से लक्षण बताते हैं :-

समयो दृग्ज्ञानतपोयमनियमादौ प्रशस्तसमगमनम्।
स्यात्समय एव सामायिकं पुनः स्वार्थिकेन ठणा।।२०।।

समय शब्द में सम का अर्थ प्रशस्तता अथवा एकत्व होता है, और अय का अर्थ

प्राप्ति या परिणति होता है। अतएव परीषह कषाय और इन्द्रियों को जीतकर तथा संज्ञाओं दुर्लेश्याओं और दुर्ध्यानों को छोड़कर दर्शन ज्ञान तप यम नियम आदि के विषय में प्रशस्तता की प्राप्ति अथवा एकत्वरूप से परिणमन होने को समय कहते हैं। और समय का ही नाम सामायिक है। क्योंकि समय शब्द से ही स्वार्थ में ठण् प्रत्यय होकर सामायिक शब्द बनता है।

अब पंद्रह श्लोकों में सामायिक करने की विधि बताते हैं। उसमें सबसे पहले नामसामायिक की भावना का स्वरूप निरूपण करते हैं।

शुभेऽशुभे वा केनापि प्रयुक्ते नाम्नि मोहतः।
स्वमवाग्लक्षणं पश्यन्न रतिं यामि नारतिम्।।२१।।

किसी भी शुभ या अशुभ नाम में अथवा यदि कोई मेरे विषय में ऐसे शब्दों का प्रयोग करे तो उनमें मुझे रति या अरति न करनी चाहिये। क्योंकि वह शुभाशुभ शब्द बोलनेवाला मोही - अज्ञानी है। वह नहीं जानता कि मैं शब्द का विषय नहीं हूँ। किन्तु मैं देख रहा हूँ कि वास्तव में मैं अवाग्लक्षण हूँ। शब्द के द्वारा नहीं जाना जा सकता, और न शब्द मेंरा स्वरूप या लक्षण ही है। जैसा कि कहा भी है कि :-

अरसमवरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणसमद्दं।
जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।

अर्थात् जीव का स्वरूप रस रूप और गंध से रहित अव्यक्त तथा चेतना गुण से युक्त शब्दरहित अलिंग किसी भी खास आकार - संस्थान से रहित समझना चाहिये।

स्थापना सामायिक की भावना का स्वरूप बताते हैं :-

यदियं स्मरयत्यर्चा न तदप्यस्मि किं पुनः।
इयं तदस्यां सुस्थेति धीरसुस्थेति वा न मे।।२२।।

जैसा चाहिये वैसे ही प्रमाण से युक्त यह सामने दिखती हुई मूर्ति मुझे जिस अर्हदादिरूप

का स्मरण करा रही है क्या मैं तत्सवरूप हूँ ? नहीं। तो क्या मैं इस मूर्तिस्वरूप हूँ ? नहीं - सर्वथा नहीं।। यही कारण है कि मेरा ज्ञान - साम्यानुभव न तो इस मूर्ति में भले प्रकार ठहरा हुआ ही है, अथवा न इससे विपरीत ही है।

द्रव्यसामायिक के अनुभव का स्वरूप बताते हैं :-

साम्यागमज्ञतद्देहो तद्विपक्षौ च यादृशौ।
तादृशौ स्तां परद्रव्ये को मे स्वद्रव्यवद्ग्रहः।।२३।।

सामायिक [१]शास्त्रा का ज्ञाता अनुपयुक्त आत्मा और उसका शरीर - ज्ञायक शरीर ये दोनों, तथा इनसे [२]विपक्षभाविनोआगमद्रव्य सामायिक और [३]तद्व्यतिरिक्त - कर्म नोकर्म ये दोनों जैसे कुछ शुभ या अशुभ हैं, रहें, मुझे इनसे क्या ? क्योंकि ये परद्रव्य हैं। साम्यभावरूप परिणत मुझे इनमें स्वद्रव्य की तरह अभिनिवेश किस तरह हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता।

भावार्थ :- यहाँ पर स्वद्रव्य का जो दृष्टांत दिया है उसको अन्वयमुख और व्यतिरेकमुख दोनों ही तरह से घटित करना चाहिये। क्योंकि स्वद्रव्य में भी अभिनिवेश आरब्धयोगी के ही हो सकता है न कि निष्पन्नयोगी के। निष्पन्नयोगी तो संपूर्ण संकल्पविकल्पों से रहित अवस्था का अनुभव किया करता है। यथा :-

मुक्त इत्यपि न कर्मज्जसा कर्मजालकलिनोहमित्यपि।
निर्विकल्पदवीमुपाश्रयन् संयमी हि लभते परं पदम्।।
अपि च, - यद्यदेव मनसि स्थितं भवेत्ततदेव सहसा परित्यजेत्।
इत्वुपाधिपरिहारपूर्णता सा यदा भवति तत्पदं तदा।।
तथा, - अन्तरङ्गबहिरङ्गयोगतः कार्यसिद्धिरखिलेति योगिना।
आशितव्यमनिशं प्रयत्नतः स्वं परं सदृशमेव पश्यता।।

---

१ - जीविय मरणे लाहालाहे संजोयविप्पजोएय। बंधुअरि सुहदुहे विय समदा सामाइयं णाम।। इत्यादि

२ - ३ - इनका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है।

इसलिये अन्वयदृष्टांत के समय तो ऐसा अर्थ करना चाहिये कि स्वद्रव्य में मुझे जैसा कुछ अभिनिवेश है वैसा परद्रव्य में किस तरह हो सकता है ? नहीं हो सकता। तथा व्यतिरेकदृष्टांत के समय ऐसा अर्थ करना चाहिये कि मुझे स्वद्रव्य में भी क्या अभिनिवेश हैं ? कुछ भी नहीं ! इसी प्रकार परद्रव्यमें भी क्या अभिनिवेश हो सकता है ? कुछ भी नहीं।

क्षेत्रसामायिक में किस प्रकार की भावना होती है सो बताते हैं :-

राजधानीति न प्रीये नारण्यनीति तचोद्विजे।
देशो हि रम्योऽरम्यो वा नात्मारामस्य कोपि मे।।२४।।

यह राजधानी है - इसमें राजा महाराजा आदि बड़े आदमी रहते हैं, इसलिये मनोज्ञस्थान है। ऐसा समझकर मुझे इसमें कुछ राग-प्रेम नहीं होता। और न यह एक महान् अरण्य - निर्जन वन है, इसलिये मुझे इसमें किसी प्रकार उद्वेग ही होता है। क्योंकि वास्तव में मेरा रमणीय स्थान चित्स्वरूप ही है।. अतएव मेरे लिये कोई भी बाह्य स्थान मनोज्ञ या अमनोज्ञ नहीं हो सकता।

भावार्थ :- आत्मा का रमण या गमन आत्मा के सिवाय भिन्न स्थान में नहीं हो सकता। ग्राम रमणीय और निवास करने योग्य स्थान है, तथा निर्जन वन अमनोज्ञ और निवास करने के लिये अयोग्य स्थान है; इस तरह की कल्पना जो आत्मा का अवलोकन नहीं कर पाते उन्हीं के होती है। किन्तु जो आत्मा का साक्षात् अनुभव करनेवाले हैं उनके लिये तो रति और गति का स्थान संपूर्ण बाह्यपदार्थों और संकल्पविकल्पों से रहित निश्चल निज आत्मस्वरूप ही है।

यहाँ पर यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि आत्मा से रति करना भी एक राग ही है जो कि मोक्ष का प्रतिबंधक होने से मुमुक्षुओं को सहनीय नहीं होता। अतएव शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से आत्माराम शब्द का अर्थ आत्मा से निवृत्ति करना चाहिये।

कालसामायिक के अनुभवन का स्वरूप बताते हैं :-

नामूर्तत्वाद्धिमाद्यात्मा कालः किं तर्हि पुद्गलः।
तथोपचर्यते मूर्तस्तस्य स्पृश्यो न जात्वहम्।।२५।।

निश्चयकालद्रव्य अमूर्त है, उसमें रूप रस गंध स्पर्श नहीं है। लोक जिसका काल शब्द से व्यवहार करते हैं वह पुद्गल द्रव्य है। अतएव हेमंत शिशिर वसंत या शीत ग्रीष्म वर्षा आदि मूर्तपुद्गलके ही स्वरूप हैं। मैं कदाचित् भी इस मूर्त पुद्गलस्वरूप काल का विषय नहीं हो सकता। क्योंकि मैं उससे सर्वथा विरुद्ध अमूर्त ही नहीं किन्तु निश्चयनय से एक चित्स्वरूप ही हूँ।

इस प्रकार नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र और कालसामायिक का क्रम से निरूपण करके भावसामायिक का किस प्रकार से अनुभवन करना चाहिये सो बताते हैं :-

सर्वे वैभाविका भावा मत्तोन्ये तेष्वतःकथम्।
चिच्चमत्कारमात्रमात्मा प्रीत्यप्रीती तनोम्यहम्।।२६।।

औदयिक औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक ये चार प्रकार के तथा जीवन मरणादिक सभी वैभाविक भाव मुझ से भिन्न हैं, क्योंकि वे परनिमित्तक हैं, कर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाले हैं। अतएव वे मेरे वास्तविक भाव नहीं है। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा का वास्तविक स्वरूप पारिणामिक भाव है अतएव एक चेतना के चमत्कार अत्यंत अद्भुत स्वरूप को धारण करनेवाला मैं इन वैभाविक भावों में राग-द्वेष को किस तरह प्राप्त हो सकता हूँ, कभी नहीं हो सकता।

यहां से नौ श्लोकों में भावसामायिक का ही
विस्तार के साथ वर्णन करते हैं :-

जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये।
बन्धावरौ सुखे दुःखे साम्यमेवाभ्युपैम्यहम्।।२७।।

जीवन मरण लाभ और हानि संयोग और वियोग तथा मित्र और शत्रु एवं सुख और दु:ख इन सब विषयों में मैं रागद्वेष को छोड़कर समताभाव धारण करता हूँ। क्योंकि जो आत्मस्वरूप से अपरिचित प्राणी हैं वे ही जीवन की आशा और मरण का भय किया करते हैं। उन्हें जीवन - वर्तमान आयुष्य का धारण इष्ट और मरण आयुकर्म का पूर्ण हो जाना अनिष्ट मालूम होता है। किन्तु चित्स्वरूप के अनुभव की तरफ प्रवृत्त हुआ मैं इनमें रागद्वेष किस तरह कर सकता हूँ। मुझे न तो जीवन में राग है और न मरण में द्वेष। इसी प्रकार न लाभ में प्रीति है न अलाभ में अप्रीति। न संयोग इष्ट है और न वियोग अनिष्ट। उपकारी से प्रेम नहीं और अपकारी से अमर्ष नहीं। किंबहुना सुख की आशा और दु:ख का भय भी छोड़कर सभी इष्ट अनिष्ट विषयों में अब साम्यभाव धारण करता हूँ।

जीवन की आशा और मरण के भय के विषय में वर्णन करते हैं :-

कायकारान्दुकायाहं स्पृहयामि किमायुषे।
तद्दु:खक्षणविश्रामहेतोर्मृत्योर्बिभेमि किम्।।२८।।

आयुकर्म शरीररूपी जेलखाने में जीव को यथेष्ट गति का प्रतिबंध करनेवाले और उसको निरंतर दु:खों के देने में कारणभूत काठ - खोडे या बेढी के समान हैं। अतएव दु:खस्थान में ही रोक रखनेवाले इस जीवन की क्या मैं आशा कर सकता हूँ ? कभी नहीं। तथा जो मृत्यु शरीररूपी जेलखाने के दु:खों से छुड़ाकर एक दो या तीन क्षणतक के लिये जीव के विश्राम दिलाने में कारण है उससे भय कैसा ?

भावार्थ :- संसार में प्राय: करके शरीर द्वारा ही दु:खों की प्राप्ति हुआ करती है। और शरीर में रोक रखनेवाला आयुकर्म है। इस आयुकर्म के पूर्ण होनेपर विग्रहगति में एक या दो अथवा तीन क्षणतक औदारिक और वैक्रियिकशरीर निमित्तक दु:ख प्राप्त नहीं हुआ करते। अतएव दु:ख के कारण जीवन की आशा और उससे विश्राम के कारणभूत मरण से भय करना व्यर्थ है।

लाभ और अलाभ में हर्ष विषाद करने का निषेध करते हैं :-

लाभे दैवयशःस्तम्भे कस्तोषः पुमधस्पदे।
को विषादस्त्वलाभे मे दैवलाघवकारणे।।२९।।

यदि किसी व्यक्ति को लाभ - यथेष्ट विषय की प्राप्ति हो जाती है तो उससे क्या समझा जाता है ? यही न कि इसके जन्मांतर में संचित पुण्यकर्म का उदय है। किन्तु इससे उस पुरुष की क्या महत्ता होती है ? कुछ भी नहीं। उसके पौरुष की तो उल्टी निंदा होती है। किन्तु जिस व्यक्ति को लाभ नहीं होता - जो भलेप्रकार उपाय करने पर भी यथेष्ट विषय को प्राप्त नहीं कर सकता उसकी जगत में क्या कुछ निंदा होती है ? नहीं। बल्कि उस अलाभ के कारण उसके जन्मांतर में संचित पाप कर्म की निंदा होती है। फलतः जो लाभ, दैव का कीर्तिस्तंभ और पुरुष की निंदा का स्थान है, उसके होनेपर तो हर्ष कैसा ? एवं जिस अलाभ के होनेपर पुरुष की निंदा न होकर दैव की क्षुद्रता ही प्रकट होती है उसके होनेपर विषाद कैसा ? अतएव लाभालाभ में राग-द्वेष को छोड़कर मैं साम्यभाव ही रखता हूँ।

इष्टपदार्थ के संयोग को सुख का और वियोग को दुःख का, तथा अनिष्ट पदार्थ के संयोग को दुःख का और वियोग को सुख का कारण समझना केवल मन की कल्पना ही है, वास्तविक नहीं। इसी बात का विचार करते हैं :-

योगो ममेष्टैः संकल्पात् सुखोऽनिष्टैर्वियोगवत्।
कष्टश्चैष्टैर्वियोगोन्यैर्योगवन्न तु वस्तुतः।।३०।।

जिस प्रकार अनिष्ट - अप्रशस्त वस्तुओं का वियोग मुझे सुखकर मालूम होता है उसी प्रकार प्रियपदार्थों की प्राप्ति भी मुझे सुखमय अथवा सुख का कारण मालूम हुआ करती है। किन्तु यह सब कल्पना ही है, वास्तविक नहीं। अनिष्टवियोग और इष्टसंयोग वस्तुतः सुखमय और सुखकर नहीं है। इसी प्रकार इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग में कष्ट है ऐसा जो मैं समझता हूँ यद्वा उनको कष्ट-दुःख का कारण मानता हूँ सो भी कल्पना ही है।

भावार्थ :- किसी भी पदार्थ का इष्ट या अनिष्ट समझना तथा उनकी प्राप्ति को सुखदु:खरूप या उनका कारण मानना वास्तविक ज्ञान नहीं, काल्पनिक ही है। अतएव उनके होनेपर राग-द्वेष करना वृथा है।

क्रमानुसार मित्रों में राग और शत्रुओं में द्वेष
करने का भी निषेध करते हैं :-

ममकारग्रहावेशमूलमंत्रेषु बन्धुषु।
को ग्रहो विग्रहः को मे पापघातिष्वरातिषु।।३१।।

ये मेरे हैं, अथवा ये मेरे उपकारी हैं, इस तरह की जो समझ हुआ करती है वह एक प्रकार के ग्रह का आवेश है। क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य ब्रह्मराक्षसादिका शरीर में प्रवेश हो जाने से अनेक तरह की विकृत चेष्टाएँ किया करता है उसी प्रकार ममत्वबुद्धि के होनेपर भी किया करता है। किन्तु इसका भी मूलमंत्र ये बंधुजन है। जिस प्रकार मंत्र के निमित्त से भूतादिका आक्रमण होता है उसी प्रकार कुटुम्बियों के निमित्त से ममत्वपरिणाम हुआ करते हैं। इसके विरुद्ध जिनको शत्रु कहा जाता है वे तो मेरे लिये दु:ख उत्पन्न करके या कराके पूर्वजन्म के संचित पापकर्म का घात - निर्जरा में कारणभूत बनकर उपकार ही करते हैं। अतएव अपकारक बंधुओं से तो ग्रह - राग - कैसा, और उपकारी शत्रुओं से विग्रह - विद्वेष कैसा ?

भावार्थ :- किसीको भी मित्र या शत्रु समझकर उनसे रागद्वेष करना व्यर्थ है।

इन्द्रियजनित सुखदु:ख का निराकरण करते हैं :-

कृतं तृष्णानुषङ्गिण्या स्वसौख्यमृगतृष्णया।
खिद्ये न दु:खे दुर्वारकर्मारिक्षययक्ष्मणि।।३२।।

इन्द्रियजनित सुखों को पाकर मैं राग नहीं करता, और दु:खों के उपस्थित होनेपर मुझे किसी प्रकार का खेद भी नहीं होता। क्योंकि ये वैषयिकसुख मृगतृष्णा - मरीचिका के समान तृष्णा के बढ़ानेवाले हैं। और दु:ख, जिनका वारण नहीं किया जा सकता ऐसे कर्मरूपी शत्रुओं का क्षय करने के लिये राजयक्ष्मा व्याधि के समान हैं।

भावार्थ :- जंगलो में एक प्रकार की चटीली भूमि हुआ करती है उसको मरीचिका कहते हैं। मध्याह्न के समय सूर्य की किरणों से उस भूमि में जल का भ्रम हो जाता है। पिपासाकुलित मृगगण जल समझकर वहाँ आते हैं किन्तु जल न पाकर दु:खी होते हैं ! इससे उनकी तृष्णा - पिपासा और भी बढ़ जाती है ! ऐन्द्रियसुख भी मरीचिका के ही समान हैं। लोग सुख की इच्छा से इन्द्रियों के विषयों का सेवन करते हैं। किन्तु उनमें सुख न पाकर दु:ख का ही अनुभव किया करते हैं। जिससे उनकी तृष्णा - विषयों के सेवन करने की इच्छा और भी बढ़ जाती है। अतएव इन सुखों से मैं तो निहाल हो गया। अर्थात् - इन सुखों - सुखाभासों को धिक्कार हो जिनसे कि दु:ख ही अच्छे हैं। क्योंकि वे कर्मों के लिये क्षय रोग के समान हैं। जिस प्रकार क्षय रोग के हो जानेपर बलिष्ठ भी मनुष्य अवधि पाकर मर जाता है उसी प्रकार इन दु:खों के निमित्त से उदय में आकर दुर्वार भी असातावेदनीय प्रभृति कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं। जिससे कि आत्मा का कुछ उपकार ही होता है। इसीलिये मैं दु:खों से खिन्न नहीं होता और सुखों से प्रसन्न नहीं होता, इनमें समता ही धारण करता हूँ।

जो विचारशील हैं उनके लिये संसार के दु:सह दु:खों का अनुभव रत्नत्रय की प्रीति का ही कारण हो जाता है। ऐसा उपदेश देते हैं :-

दवानलीयति न चेज्जन्मारामेत्र धी: सताम्।
तर्हि रत्नत्रयं प्राप्तुं त्रातुं चेतुं यतेत क:।।३३।।

यह संसार एक प्रकार का उपवन है जिसमें कि मूढपुरुषों को प्रीति करनेवाले विषय बहुलता से पाये जाते हैं। किन्तु सत्पुरुषों की बुद्धि इसमें दावानल का काम करती है। यदि वह ऐसा न करती होती तो फिर क्या कोई भी रत्नत्रय को प्राप्त करने और उसकी रक्षा तथा संचय करने के लिये प्रयत्न करता ? नहीं, कोई भी नहीं करता।

भावार्थ :- जिस प्रकार मनोहर भी उपवन में रहनेवाले लोग दावाग्नि के लगने पर उसको प्रीति का विषय न समझकर उस मार्ग का ही अनुसरण करते हैं जिस पर कि चलने से शीघ्र ही उस वन से मुक्ति हो सके। उसी प्रकार इस संसार में रहनेवाले सत्पुरुष विवेकशक्ति के प्रकाशित होनेपर इसको प्रीति के अयोग्य समझकर मोक्षमार्ग की प्राप्ति रक्षा और वृद्धि के लिये ही प्रयत्न किया करते हैं।

संपूर्ण सदाचारों का शिरोमणि साम्यभाव है, अतएव इसीकी भावना में आत्मा को आसक्त रखने का प्रयत्न करते हैं :-

सर्वसत्त्वेषु समता सर्वेष्वाचरणेषु यत्।
परमाचरणं प्रोक्तमतस्तामेव भावये।।३४।।

पूर्वाचार्यों ने कहा है कि संपूर्ण प्राणियों और संपूर्ण द्रव्यों में रागद्वेष को छोड़कर समभाव धारण करना समस्त आचरणों में उत्कृष्ट आचरण है। अतएव मैं और संकल्पविकल्पों को छोड़कर अपने हृदय में इन साम्यभाव को ही पुनः पुनः धारण करता हूँ। इसीके अनुभव में रत होता हूँ।

इस पूर्वोक्त कथन से यह निश्चय हो जानेपर कि भावसामायिक का अवश्य ही सेवन करना चाहिये, इस बात को प्रकट करते हैं कि इस सामायिक पर आरूढ आत्मा का भाव कैसा होता है :-

मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित्।
सर्वसावद्यविरतोस्मीऽति सामायिकं श्रयेत्।।३५।।

'संपूर्ण प्राणियों में मेरा मैत्रीभाव हैं, मैं चाहता हूँ कि संसार का कोई भी जीव किसी भी प्रकार से दुःखी न हो। मेरा किसी भी स्वपक्ष या परपक्षवाले के साथ किसी तरह का वैर - विरोध भी नहीं है। मैं संपूर्ण सावद्य - हिंसादिक पापों से युक्त मन वचन काय के व्यापारों से निवृत्त हूँ।' इस तरह के भावों को धारण करके मुमुक्षुओं को भावसामायिक पर आरूढ होना चाहिये।

भावार्थ :- भावसामायिक का स्वरूप पहले बता चुके हैं कि संपूर्ण जीवों में मैत्रीभाव धारण करना और अशुभ परिणामों को छोड़ना भावसामायिक है। तो भी उसकी स्मृति को दृढ़ बनाने के लिये यहाँ फिर से उसका उल्लेख कर दिया है।

विवेकी पुरुष भावसामायिक में प्रवृत्त हो इसके लिये उसका आसाधारण माहात्म्य दिखाते हुए शिक्षा देते हैं :-

एकत्वेन चरन्निजात्मनि मनोवाक्कायकर्मच्युतेः,
कैश्चिद्विक्रियते न जातु यतिवद्यद्धागपि श्रावकः।
येनार्हच्छ्रुतलिङ्गवानुपरिमग्रैवेयकं नीयतेऽभव्यो, -
प्यद्भूतवैभवेत्र न सजेत् सामायिके कः सुधीः।।३६।।

इस सामायिक का माहात्म्य अद्भूत है। क्योंकि इसका सेवन करनेवाला यदि संयमी हो तब तो कहना ही क्या है। यदि श्रावक भी हो जो कि संयम का एकदेशरूप से ही पालन किया करता है तो वह भी इसका सेवन करनेपर संयमी के ही समान बाह्य या अभ्यंतर कैसे भी विकार उत्पन्न करनेवाले कारणों से उपस्थित होनेपर कभी भी विकार को प्राप्त नहीं होता। वे कारण इसके हृदय पर रंचमात्र भी अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। क्योंकि सामायिक करनेवाला श्रावक मन वचन काय के व्यापार से रहित होकर अपने नित्य चित्स्वरूप में ही एक ज्ञायकभाव के द्वारा प्रवृत्ति किया करता है। वह इच्छापूर्वक मन वचन काय के व्यापार में प्रवृत्त नहीं होता। और आत्मा का अनुभव करने में भी कर्तृत्व भोक्तृत्व भाव को भी नहीं रखता। यद्यपि अंतरंग में उसके संयम का घात करनेवाले प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहा करता है तो भी उसके तज्जनित अविरतिरूप परिणाम बहुत ही मंद रहा करते हैं। उसका चित्त हिंसादिक किसी भी अवद्यकर्म में आसक्त नहीं रहा करता। अतएव वह उपचार से महाव्रती - मुनि के समान माना जाता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

सामायियह्मि दु कदे समणो इव सावओ हवदि जह्मा।
एदेण कारणेण दु बहुसोंो सामाइयं कुज्जा।।

अर्थात् - सामायिक के करने से श्रावक मुनि के समान हुआ करता है। अतएव मुमुक्षुओं को बहुधा सामायिक ही करनी चाहिये।

इसके सिवाय अर्हन्त भगवान् के उपदिष्ट ग्यारहअङ्ग का पाठी तथा निर्ग्रन्थ जिनलिङ्ग का धारक अभव्य - द्रव्यलिङ्गीमुनि भी इस सामायिक के प्रसाद से ही उपरिम ग्रैवेयकतक - नव अनुदिश से नीचे के विमान तक जाकर पहुँच सकता है। अतएव इस आश्चर्यकारी वैभव से युक्त सामायिक में भला ऐसा कौन सद्बुद्धि होगा जो कि आसक्त न हो ? अर्थात् सभी को इसमें प्रवृत्त होना चाहिये।

इस प्रकार षडावश्यकों में सामायिक का वर्णन किया। अब नौ पद्यों में चतुर्विंशतिस्तव का व्याख्यान करते हैं। जिसमें सबसे पहले उसका लक्षण बताते हैं :-

कीर्तनमर्हत्केवलिजिनलोकोद्द्योतधर्मतीर्थकृताम्।
भक्त्या वृषभादीनां यत्स चतुर्विंशतिस्तव षोढाः।।३७।।

अर्हत् केवली और जिन तथा लोक का उद्योत करनेवाले एवं धर्मतीर्थ के प्रवर्तक श्री ऋषभादिक चोवीस भगवान् के गुणों का भक्तिपूर्वक आख्यान - गुणगान या प्रशंसा करने को चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं। यह छह प्रकार का होता है, नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव।

जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप अरि - शत्रुओं के तथा जन्म मरणरूप संसार के हन्ता - नाश करनेवाले हैं। तथा जो पूजा वंदना नमस्कार या सिद्धिगमनादि के लिये अर्ह - योग्य हैं उनको अर्हन्त कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरिहंता तेण वुच्चंति।।

जो संपूर्ण द्रव्यों तथा उनकी समस्त पर्यायों का हस्तामलकवत् साक्षात् अवलोकन करनेवाले हैं उनको केवली कहते हैं। अनेक पर्यायों के द्वारा गहन संसार के विषम व्यसनों - दुखों को प्राप्त करानेवाले कर्मों को जिन्होंने जीत लिया है उनको जिन कहते

हैं। जो अपने सर्वोत्कृष्ट ज्ञानभाव के द्वारा संपूर्ण लोक को प्रकाशित करनेवाले - जाननेवाले हैं उनको लोकोद्योतक कहते हैं। जिन्होंने धर्म - वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का अथवा उत्तमक्षमादिका तीर्थ - उपदेश किया है उनको धर्मतीर्थकृत् कहते हैं।

लोक नौ प्रकार का माना है। यथा :-

णामं ठवणं दव्वं खेत्तं चिण्हं कसाय लोओ य।
भवलोगभावलोगं पज्जयलोगो य णादव्वो।।

अर्थात् - नामलोक स्थापनालोक द्रव्यलोक क्षेत्रलोक चिह्नलोक कषायलोक भवलोक भावलोक और पर्यायलोक।

संसार में जितने पदार्थ हैं उनको और उनकी पर्यायों की शुभाशुभ संज्ञाओं को नामलोक कहते हैं। संपूर्ण कृत्रिम और अकृत्रिम पदार्थों को स्थापनालोक कहते हैं। तथा छह द्रव्यों के विस्तार को द्रव्यलोक कहते हैं। यह परिणामादि की अपेक्षा से अनेक प्रकार होता है। यथा :-

परिणामि जीवमुत्तं सपदेसं एय खेत्त किरिया य।
णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदिदरह्मि यवएसो।।

अवस्था या आकार के बदलने को परिणाम या पर्याय कहते हैं। यह दो प्रकरा का होता है, व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय। व्यंजनपर्याय की अपेक्षा से जीव और पुद्गल दो द्रव्य परिणामी हैं, शेष चार द्रव्य अपरिणामी हैं। क्योंकि जीव का चारो गतियों में भ्रमण होता हैं और लकड़ी पत्थर मट्टी आदि पुद्गलों का परिणमन प्रत्यक्ष दिखता है। शेष चार द्रव्यों में इस तरह का भ्रमण या परिणमन नहीं पाया जाता। अपर्याय की अपेक्षा से छहों द्रव्य परिणामी हैं। जीवत्व की अपेक्षा से एक आत्मद्रव्य ही जीव है। क्योंकि उसका चेतना लक्षण उसीमें पाया जाता है। शेष पाँच द्रव्य ज्ञाता दृष्टा नहीं है इसलिये उनको अजीव कहते हैं। जिसमें रूप रस गंध स्पर्श पाया जाता है। उसको मूर्त कहते हैं। ऐसा द्रव्य एक पुद्गल ही है। शेष पाँचद्रव्य अमूर्त है।. इसी प्रकार जीवादिक पाँच द्रव्य सप्रदेश हैं। क्योंकि उनमें अनेक प्रदेश पाये जाते हैं।. कालद्रव्य अप्रदेशी है। क्योंकि

वह परमाणुरूप ही रहता है, उसका प्रचयबंध नहीं होता। धर्म अधर्म और आकाश इनके प्रदेश कभी भी विघटित नहीं होते अतएव ये एकद्रव्य हैं। बाकी के संसारीजीव पुद्गल और कालद्रव्य अनेकरूप हैं। क्षेत्र शब्द से एक आकाश द्रव्य ही लिया जाता हैं। क्योंकि वही सबका आधार है उसीमें सब द्रव्य ठहरते हैं, औरों में नहीं। अतएव बाकी के द्रव्यों को अक्षेत्र कहते हैं। जिसके निमित्त से पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थानतक पहुँचता है उसको क्रिया कहते हैं। यह जीव और पुद्गल में ही पाई जाती है। इसलिये ये दो पदार्थ ही सक्रिय हैं, बाकी के अक्रिय हैं। धर्म अधर्म आकाश और कालद्रव्य नित्य हैं। क्योंकि उनकी व्यंजनपर्याय कभी भी विघटित नहीं होती। शेष जीव और पुद्गल द्रव्य अनित्य है। जीव के सिवाय पाँचद्रव्य कारणरूप हैं। क्योंकि वे जीव के प्रति उपकार किया करते हैं। जीवद्रव्य कार्य करने में स्वतंत्र है, इसलिये वह अकारण है। जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के फल का भोक्ता है। अतएव वह कर्ता है, शेष अकर्ता हैं। आकाशद्रव्य सर्वगत है, बाकीके पाँचद्रव्य असर्वगत हैं। इसी प्रकार द्रव्यलोक के विषय में जीवादिक का अनेक धर्मों की अपेक्षा से व्याख्यान किया है।

अधोलोक तिर्यग्गलोक और ऊर्ध्वलोक के आकाश का प्रमाण जितना बताया है उसको क्षेत्रलोक कहते हैं। जिनके द्वारा द्रव्य गुण या पर्याय की सिद्धि होती है उसको चिह्नलोक कहते हैं। तथा उदय में आये हुए क्रोधादिक को कषायलोक कहते हैं। और नारकादि गतियों में प्राप्त जीवों को भवलोक, एवं तीव्र रागद्वेषादि परिणामों को भावलोक कहते हैं। पर्यायलोक चार प्रकार का है, द्रव्यगुणपर्याय, क्षेत्रपर्याय, भवानुभव और भावपरिणाम। जैसा कि कहा भी है कि :-

दव्वगुणखेत्तपज्जय भवाणुभावो य भावपरिणामो।
जाण चउव्विहमेव पज्जवलोगं समासेण।।

जीव के ज्ञानादिक पुद्गल के रूपादिक धर्म के गतिहेतुत्वादिक अधर्म के स्थितिहेतुत्वादिक और आकाश के अवगाहनहेतुत्वादिक तथा काल के वर्तना आदि गुण प्रसिद्ध है। इन्हीं को द्रव्यगुणपर्याय कहते हैं। रत्नप्रभा आदि पृथिवियों और जम्बूद्विपादिक द्वीपों तथा ऋजुविमानादि विमानों को क्षेत्रपर्यायलोक कहते हैं। आयु के जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेदों को भवानुभव, और जिनसे कि कर्मों का ग्रहण या परित्याग हुआ करता है उन असंख्यात

लोकप्रमाण शुभाशुभ परिणामों को भावपरिणामलोक कहते हैं।

इस प्रकार लोक के नौ भेद हैं। अपने संपूर्ण प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा जिन्होंने इस नौ भेदरूप लोक को प्रकाशित किया है उन वर्तमान चौवीसतीर्थंकरों के, अथवा भूत भविष्यत् वर्तमान सभी अर्हन्तों के गुणों का भक्तिपूर्वक महत्त्व वर्णन करने को चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं।

इसके नामादिक छह भेदों को व्यवहार और निश्चय की अपेक्षा से दो भागों में विभक्त करके बताते हैं :-

स्युर्नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालश्रयाः स्तवाः।
व्यवहारेण पञ्चार्थादेको भावस्तवोऽर्हताम्।।३८।।

चतुर्विंशतिस्तव के छह भेद हैं - नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव। इनमें से आदि के पाँच भेद व्यवहारनय की अपेक्षा से और अंत का एक भावस्तव निश्चयनय की अपेक्षा से है।

इनका विशेष वर्णन करने के लिये
क्रमानुसार पहले नामस्तव का स्वरूप बताते हैं।

अष्टोत्तरसहस्रस्य नाम्नामन्वर्थमर्हताम्।
वीरान्तानां निरुक्तं यत्सोऽत्र नामस्तवो मतः।।३९।।

वृषभादिक महावीरपर्यन्त चौवीसतीर्थंकरों का अथवा सभी अर्हन्तों का एकहजारआठ नामों से अर्थ के अनुसार निर्वचन करना इसको नामस्तव कहते हैं।

भावार्थ :- जिन भगवान् के अन्वर्थ नामों से उल्लेख करने को नामस्तव कहते हैं। जैसा कि महापुराण के २५ वें पर्व में 'श्रीमान् स्वयंभूवृषभः शंभवः शंभुरात्मभूः।' से लेकर 'धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायकः।' तक के श्लोक में एकहजारआठ नामों से किया गया है। इसी तरह और भी आगम के अनुसार अन्वर्थताका विचार करना

चाहिये। जैसा कि :-

ध्यानद्रुघणनिभिन्नघनघातिमहातरुः।
अनन्तभवसंतानजयादासीरनन्तजित्।।
त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदुर्दर्गमतिदुर्जयम्।
मृत्युराजं विजित्यासीज्जिन मृत्युञ्जयो [१] भवान्।। इत्यादि।

इस नामस्तव को व्यवहारनय की अपेक्षा से जो कहा है उसका कारण यह है कि इसके द्वारा जिस परमात्मा का वर्णन किया जाता है वह वस्तुतः वचन के अगोचर हैं। जैसा कि आगम में कहा भी है कि :-

गोचरोऽपि गिरामासां त्वमवाग्गोचरो मतः।
स्तोतुस्तथाप्यसंदिग्धं त्वत्तोभीष्टफलं भवेत्।।
तथा, - संज्ञासंज्ञद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलात्मने।
नमस्ते वीतसंज्ञाय नमः क्षायिकदृष्टये।।

यह नामस्तव सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकार से किया जाता है। चौवीस तीर्थंकरों का या भूत भविष्यत् सभी तीर्थंकरों का समुदायरूप से स्तवन करना इसको सामान्य नामस्तव कहते हैं। जैसे कि 'थोस्सामि जिणवरिंदे' तथा 'चउवीसं तित्थयरे' इत्यादि। भिन्न भिन्न एक एक तीर्थंकर का नाम लेकर निर्वचन करना इसको विशेष नामस्तव कहते हैं। जैसे कि 'ऋषभोऽजितनामाच' तथा 'चन्द्रप्रभं चन्द्रप्रमरीचिगौरं' इत्यादि।

स्थापनास्तव का स्वरूप बताते हैं :-

कृत्रिमाकृत्रिमा वर्णप्रमाणायतनादिभिः।
व्यावर्ण्यन्ते जिनेन्द्रार्चा यदसौ स्थापनास्तवः।।४०।।

---

१ - बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्त्वं शंकरोऽपि भुवनत्रयशंकरत्वात्।
धातासि धीर शिवमार्गत्रविधेर्विधानाद् व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोसि।।
इत्यादि और भी स्वयं समझ लेने चाहिये।

कृत्रिम - किसी कर्ता करण आदि के द्वारा बनी हुई तथा अकृत्रिम जो बिना किसी कर्ता करण के स्वयं बनी हों ऐसी जिनप्रतिमाओं का वर्ण - रूप, प्रमाण - लंबाई चौड़ाई ऊँचाई, तथा आयतन - मंदिर आदि की अपेक्षा वर्णन करने को स्थापनास्तव कहते हैं।

द्रव्यस्तव का स्वरूप बताते हैं :-

वर्पुलक्ष्मगुणोच्छ्रायजनकादिमुखेन या।
लोकोत्तमानां संकीर्तिश्चित्रो द्रव्यस्तवोस्ति सः।।४१।।

तीर्थंकर भगवान् के शरीर चिह्न गुण उत्सेध और माता पिता आदि के द्वारा अनेक प्रकार से और आश्चर्यकारी महत्त्व वर्णन करने को द्रव्यस्तव कहते हैं।

भगवान् के शरीर की सुंदरता का वर्णन :-

सनवव्यञ्जनशतैरष्टाग्रशतलक्षणैः।
विचित्रं जगदानन्दि जयतादर्हतां वपुः।।
तथा - जिनेन्द्रान्नीमि तान्येषां शारीराः परमाणवः।
विद्युताभिव मुक्तानां स्वयं मुञ्चन्ति संहतिम्।।

अर्थात् नौ सौ व्यंजन और एकसौ साठ [१]लक्षणों के द्वारा अपूर्व सौन्द्रर्य को धारण करनेवाला भगवान का शरीर सदा जयवंता रहो। मैं उन अर्हन्तों को नमस्कार करता हूँ कि जिनके मुक्तिलाभ करते ही उनके शरीर के परमाणु आपस के संबंध को छोड़कर बिजली की तरह स्वयं ही आकाश में विलीन हो जाते हैं।

इसी प्रकार और भी [२]समझ लेना चाहिये। भगवान के बैल हाथी आदि जो चिह्न

---

१ - इनके लक्षण और नामादिक महापुराण के पर्व १५ में बताये हैं। वहाँ पर देख लेने चाहिये।

२ - यैः शांतरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं, इत्यादि। इसी तरह चिह्न और गुणादिक के विषय में भी समझना चाहिये।

बताये हैं उनके द्वारा वर्णन करने को भी द्रव्यस्तव कहते हैं। यथा :-

गौर्गजोश्वः कपिः कोकः सरोजं स्वस्तिकं शशी।
मकरः श्रीयुतो वृक्षो गण्डो महिषशूकरौ।।
सेधा वज्रं मृगश्छागः पाठीनः कलशस्तथा।
कच्छपश्चोत्पलं शंखो नागराजश्च केशरी।।
इत्येतान्युक्तदेशेषु लाञ्छनानि प्रयोजयेत्।

वृषभादि महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थंकरों के चिह्नों के नाम इस प्रकार हैं - बैल, हाथी, घोडा, बंदर, कोक, कमल, स्वस्तिक, चंद्रमा, मकर, श्रीवृक्ष, गेण्डा, भैंसा, शूकर, सेही, वज्र, हिरण, बकरा, मत्स्य, कलश, कच्छप, श्वेतकमल, शंख, सर्प, सिंह।

गुण शब्द के द्वारा रूपादिक तथा निःस्वेदत्वादिक दोनों ही लिये जाते हैं। अतएव इनके द्वारा भगवान् का वर्णन करना भी द्रव्यस्तव समझा जाता है। निःस्वेदत्वादि के द्वारा जैसे कि :-

निःस्वेदत्वमनारतं विमलता संस्थानमाद्यं शुभं,
तद्वत्संहननं भृशं सुरभिता सौरूप्यमुच्चैः परम्।
सौलक्षण्यमनन्तवीर्यमुदितिः पथ्या प्रियाऽसुक् च यः,
शुभ्रं चातिशया दशेह सहजाः सन्त्वर्हदङ्गानुगाः।।

अर्थात् भगवान के शरीर में स्वभाव से ही दश अतिशय रहा करते हैं। १ उनके शरीर में कभी भी पसीना नहीं आता, २ रे किसी भी प्रकार का मल नहीं होता, ३ रे उनका आकार चारों तरफ से समान रहा करता है, अर्थात् सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार शरीर का और उनके आङ्गोपाङ्गों का जितना प्रमाण रहना चाहिये, भगवान के शरीर और आङ्गोपाङ्गों का उतना ही प्रमाण रहा करता है। ४ थे उनके वज्रर्वभनाराचसंहनन रहा करता है। उनके शरीर में हड्डी कीली और वेष्टन तीनों ही वज्र के या तत्तुल्य रहा करते हैं। ५ वें अत्यंत सुगंध, और ६ ठे उत्कृष्ट सौन्दर्य, तथा ७ वें उनके शरीर में १००८ लक्षण और व्यंजन पाये जाते हैं। ८ वें उनका वीर्य अनंत रहता है। तथा ९

वें उनके वचन लोगों के लिये हितरूप और प्रिय हुआ करते हैं। १० वें उनके शरीर का रक्त दूध के समान श्वेतवर्ण हुआ करता है।

शरीर के वर्ण द्वारा जैसे कि :-

श्रीचन्द्रप्रभनाथपुष्पदशनौ कुन्दावदात्तच्छवी,
रक्ताम्भोजपलाशवर्णपुष्पौ पद्मप्रभद्वादशौ।
कृष्णौ सुव्रतयादवौ च हरितौ पार्श्वः सुपार्श्वश्च वै,
शेषाः सन्तु सुवर्णवर्णवपुषो मे षोडशाऽघच्छिदे।।

चौवीस तीर्थंकरों में से आठवें चंद्रप्रभनाथ और नौवें पुष्पदन्तस्वामी कुंदपुष्प के समान गौरवर्ण हैं। और पद्मप्रभ भगवान तथा वासुपूज्य भगवान का शरीर रक्तकमल के समान अथवा ढाक के फूल के समान लालवर्ण का है। मुनिसुव्रतनाथ और सुपार्श्वनाथस्वामी का शरीर हरित वर्ण है। बाकी के सोलह तीर्थंकरों का शरीर सुवर्ण के समान है।

भगवान की ऊँचाई आदि का वर्णन करना, जैसे कि :-

नाभेयस्य शतानि पञ्च धनुषां मानं परं कीर्तितं,
सद्भिस्तीर्थकराष्टकस्य निपुणं पञ्चाशदूनं हि तत।
पञ्चानां च दशोनकं भुवि भवेत्पञ्चोनकं चाष्टके,
हस्ताः स्युर्नवसप्त चान्त्यजिनयोर्येषां प्रमा नौमि तान्।।

आदिनाथस्वामी के शरीर की ऊँचाई पाँचसौ धनुष्य, अजितनाथ की ४५० धनुष, संभवनाथस्वामी की ४०० धनुष, अभिनंदनस्वामी की ३५० धनुष, सुमतिनाथ की ३०० धनुष, पद्मप्रभनाथस्वामी की २५० धनुष, सुपार्श्वनाथ की २०० धनुष, चन्द्रप्रभस्वामी की १५० धनुष, पुष्पदंतस्वामी की १०० धनुष शीतलनाथ की ९० धनुष, श्रेयांसनाथ की ८० धनुष, वासुपूज्यस्वामी की ७० धनुष, विमलनाथ की ६० धनुष, अनंतनाथ की ५० धनुष, धर्मनाथ की ४५ धनुष, शांतिनाथ की ४० धनुष, कुन्थुनाथ की ३५ धनुष, अरहनाथ की ३० धनुष, मल्लिनाथ की २५ धनुष, मुनिसुव्रतनाथ की २० धनुष, नमिनाथ की १५ धनुष, नेमिनाथ की १० धनुष,

पार्श्वनाथ की ९ हाथ और वर्धमानस्वामी की ७ हाथ है। इस प्रकार कायप्रमाण के धारण करनेवाले जिन भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ।

मातापिता आदि में से माताओं के द्वारा भगवान का
स्तवन करना, जैसे कि :-

वंशः क्षायिकदृक् समिद्धसुधियां योस्मिन्मनूनामभूद्,
ये चेक्ष्वाकुकुरूग्रनाथहरियुग्वंशाः पुरा वेधसा।
आधानादिविधिप्रबन्धमहिताः सृष्टास्तदुत्थार्यभू,
भर्तृस्वामिकजीविताः सुकुलजा जैन्यो जयन्त्यम्बिकाः।।

क्षायिकसम्यग्दर्शन के धारण करनेवाले और उत्कृष्ट समीचीन ज्ञान के धारक कुलकरों के वंश में अथवा जिन वंशों की पूर्वकाल में आदि ब्रह्मा - आदीश्वर भगवान् के द्वारा स्थापना हुई और उन्हीं के द्वारा जिनमें गर्भाधानादि संस्कार क्रियाओं के द्वारा महनीयता प्राप्त हो चुकी है ऐसे इक्ष्वाकु कुरु उग्र नाथ हरि आदि वंशों में से किसी में भी उत्पन्न होनेवाले तथा इस आर्यभूमि के भर्त्ता - महान सम्राट जिनके स्वामी हैं। अर्थात् जो ऐसे उत्कृष्ट कुलीन राजाओं की प्राणवल्लभाएँ हैं और जो स्वयं भी ऐसे ही उत्तम कुलों में उत्पन्न हुई हैं ऐसी जिनेन्द्रदेव की माताएँ सदा जयंवती रहो।

उपर्युक्त श्लोक में जनक शब्द के साथ आदि शब्द जो दिया है उससे माता के स्वप्न शरीर की कान्ति दिव्यध्वनि विभूति और दीक्षावृक्षादि के द्वारा किये गये भगवान के कीर्तन को भी द्रव्यस्तव कहते हैं। इनमें से स्वप्नों के द्वारा जैसे कि :-

मात्रा तीर्थङ्कराणां परिचरणपरश्रीप्रभृत्योद्भवादि -
श्रीसंमेदाग्रदूता रजनिविरमणे स्वप्नभाजेक्षिता ये।
श्रीमोक्षेमारिमास्त्रक्शशिरविझषकुम्भाब्जषण्डाब्धिपीठ -
द्योयानाशीविषौकोवसुचयशिखिनः सन्तु ते मङ्गलं नः।।

जिनकी परिचर्या में लक्ष्मी आदि देवियाँ रहा करती हैं ऐसी तीर्थंकरों की माताओं के द्वारा रात्रि के अंतिम प्रहर में देखे गये, और जो कि पुरश्चारी दूत के समान भगवान के गर्भादिक निर्वाणपर्यंत पाँचो कल्याणों को पहले से ही सूचित करनेवाले है, ऐसे सोलहस्वप्न अर्थात् ऐरावत के समान श्वेतहाथी, उत्कृष्टबैल, सिंह, लक्ष्मी, दो मालाएँ, चंद्रमा, सूर्य, मीनयुगल, दो कलश, कमलबन, सरोवर, सिंहासन, देवविमान, नागमंदिर, रत्नराशि, और निर्धूमअग्नि, तुमको सदा मंगलकारी हों।

इसी प्रकार कान्ति दिव्यध्वनि आदि के द्वारा भी समझना चाहिये। जैसे कि :-

कान्त्येव स्नपयंति ये दश दिशो धाम्ना निरुन्धन्ति
ये धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोमृतं
बन्द्यास्तेष्टसहस्त्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः।।
येभ्यचिंता मुकुटकुण्डलहाररत्नैः
शक्रादिभिः सुरगणैः स्तुतपादपद्माः।
ते मे जिनाः प्रवरवंशजगत्प्रदीपा -
स्तीर्थङ्करा: सततशान्तिकरा भवन्तु।।

जो अपनो अद्भुत कांति के द्वारा ऐसे मालूम पड़ते हैं मानो ये उसके द्वारा दशों दिशाओं का अभिषेक ही करा रहे हैं, और जो अपने तेज के द्वारा महान् तेजस्वियों के भी तेज को दबा देते हैं, जो अपने अद्भूतरूप के द्वारा समस्त लोगों के मन का हरण करनेवाले हैं, और जो अपनी दिव्यवाणी के द्वारा लोगों के कानों में मानों साक्षात् सुखकर अमृत ही चुआ देते हैं, ऐसे १००८ लक्षणों के धारण धर्मतीर्थ के प्रवर्तक भगवान् की ही तुम सब लोगों को वंदना करनी चाहिये। मुकुट कुंडल हार और रत्नमय भूषणों से भूषित इन्द्र तथा देवगण जिनकी पूजा किया करते हैं, और जिनके चरणकमलों की स्तुति किया करते हैं, ऐसे सर्वोत्कृष्ट वंशों में उत्पन्न होनेवाले और जो जगत् के जीवों का अज्ञानरूपी अंधकार दूर करने के लिये उत्कृष्ट दीपक के समान हैं, वे तीर्थंकर

भगवान् हमारे लिये सदा शान्ति के कारण हों।

दीक्षावृक्ष के द्वारा, जैसे कि :-

न्यग्रोधो मदगन्धिसर्जमसनश्यामे शीरीषोर्हता -
मेते ते किले नागसर्जजटिनः श्रीतिन्दुकः पाटलाः।
जम्बश्वत्थकपित्थनन्दिकविटाम्रा वंजुलश्चम्पको
जीयासुर्बकुलोत्र वांशिकधवौ शालश्च दीक्षाद्रुमाः।।

जिनके नीचे तीर्थंकर भगवान ने दीक्षा ग्रहण की ऐसे श्री आदिनाथप्रभृति चौवीस तीर्थंकरों के न्यग्रोधादिक चौवीस दीक्षावृक्ष सदा जयवंते रहो।

लोकोत्तम शब्द से तीर्थंकर ही लिये जाते हैं; क्योंकि उनकी प्रभृता संसार में सर्वोत्कृष्ट है। आगम में कहा है कि :-

तित्थयराण पहुत्तं णेहो बलदेव केसवाणं च।
दुःखं च सवित्तीणं तिण्णि वि परभागपत्ताइं।।

तीर्थंकरों के प्रभुता, बलदेव और नारायण का भ्रातृस्नेह, और स्त्रियों की प्रसूतिपीड़ा ये तीनों सर्वोत्कृष्ट हैं। अतएव लोकोत्तम अर्थात् तीर्थंकरों का शरीरादि के द्वारा स्तवन करने को द्रव्य चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं।

क्षेत्रस्तवोर्हतां स स्यात्तत्स्वर्गावतरादिभिः।
पूतस्य पूर्वनाद्यादेर्यत्प्रदेशस्य वर्णनम्।।४२।।

तीर्थंकरों के गर्भ जन्म आदि कल्याणकों के द्वारा पवित्र हुए नगर वन पर्वत आदि के वर्णन करने को क्षेत्रस्तव कहते हैं। जैसे कि नगरियों में अयोध्या आदि, वनों में सिद्धार्थादिक और पर्वतों में कैलास आदि।

कालस्तव का स्वरूप बताते हैं :-

कालस्तवस्तीर्थकृतां स ज्ञेयो यदनेहसः।
तद्भावतराद्युद्धक्रियादृप्तस्य कीर्तनम्।।४३।।

भगवान के गर्भ जन्म तप ज्ञान और निर्वाण कल्याणकों की प्रशस्त क्रियाओं से जो महत्ता को प्राप्त हो चुका है ऐसे समय का वर्णन करने को कालस्तव कहते हैं। अर्थात् तीर्थंकरों के पाँचों कल्याणकसंबंधी समयों के महत्त्व के वर्णन करने का नाम कालस्तव है।

भावस्तव का स्वरूप बताते हैं :-

वर्ण्यन्तेनन्यसामान्या यत्कैवल्यादयो गुणाः।
भावकैर्भावसर्वस्वदिशां भावस्तवोस्तु सः।।४४।।

जीवजीवादिक सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थों को भाव कहते हैं। इन भावों के सर्वस्व-द्रव्य गुण पर्यायरूप संपत्ति का यथावत् वर्णन करनेवाले अर्हन्त भगवान् के असाधारण - जो अन्य किसी भी देवादिक में नहीं पाये जाते ऐसे अनंतज्ञान अनंतदर्शनप्रभृतिगुणों के भव्यों के द्वारा किये गये वर्णन को भावस्तव कहते हैं। जैसे कि :-

विवर्तैः स्वैर्द्रव्यं प्रतिसमयमुद्यद्व्ययदपि,
स्वरूपादुल्लोलैर्जलमिव मनागप्यविचलत्।
अनेहोमाहात्म्याहितनवनवीभावनमखिलं,
प्रमिन्वानाः स्पष्टं युगपदिहं नः पान्तु जिनपाः।।

जिस प्रकार जल में प्रतिक्षण कल्लोलें उठती रहती और विलीन भी होती रहती हैं तो भी वह स्वरूपतः निश्चल ही रहता है। इसी प्रकार द्रव्यों में भी प्रतिसमय अनेक पर्यायें

उत्पन्न होतीं और नष्ट भी होती रहती हैं फिर भी वे द्रव्य अपने स्वरूप की अपेक्षा रंचमात्र भी चलायमान नहीं होते - सदा एकस्वरूप - नित्य ही रहते हैं। इस प्रकार काल के माहात्म्य से जिसमें प्रतिक्षण उत्तरोत्तर नवीनता प्राप्त होती रहती है ऐसे संपूर्ण जगत् को युगपत् साक्षात् देखनेवाले जिनभगवान् हमारी रक्षा करो।

चतुर्विंशतिस्तव के जो पूर्वोक्त नामस्तवादिक भेद गिनाये हैं उनमें वास्तविक स्तव भावस्तव ही है। क्योंकि उसमें गुणों के द्वारा साक्षात् केवलियों का वर्णन किया जाता है। और वस्तुत: केवलियों और उनके गुणों में कोई अंतर नहीं है। जैसा कि कहा भी है कि :-

तं णिच्छएण जुंजइ ण शरीरगुणेहिं हुंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणइ जो सो सच्चं केवली थुणइ।।

अर्थात् केवलियों के शारीरिक गुणों का वर्णन करने से वस्तुत: केवलियों का स्तवन नहीं समझा जाता, किन्तु जो उनके गुणों का वर्णन है वही सच्चा केवलियों का स्तवन है।

ऊपर इस स्तवरूप आवश्यक के दो भेद बताये हैं, एक व्यवहार दूसरा निश्चय। इन दोनों के फल में क्या अंतर है उसको बताते हुए नित्य ही उसमें प्रवृत्त रहने की प्रेरणा करते हैं :-

लोकोत्तराभ्युदयशर्मफलां सृजन्त्या,
पुण्यावलीं भगवतां व्यवहारनुत्या।
चित्तं प्रसाद्य सुधिय: परमार्थनुत्या,
स्तुत्ये नयन्तु लयमुत्तमबोधिसिद्ध्यै।।४५।।

नामादिरूप पाँच प्रकार के व्यवहारस्तवन से उस पुण्यश्रेणी का संचय होता है जिसके कि उदय से जीवों को लोकोत्तर - अलौकिक अभ्युदयों - पूज्यता धन आज्ञा और ऐश्वर्यप्रभृतियों और अनेक प्रकार के सुखों की प्राप्ति हुआ करती है। तथा पारमार्थिक भावस्तवन से उत्तम मोक्षमार्ग - रत्नत्रय की सिद्धि हुआ करती है। अतएव जो विवेकी इस मोक्षमार्ग को सिद्ध करना चाहते हैं उन्हें भगवान की व्यवहारस्तुति के द्वारा अपना वित्त निर्मल बनाकर उसे शुद्धचित्स्वरूप में लीन बनाना चाहिये।

भावार्थ :- मुमुक्षुओं को अभीष्टसिद्धि - निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति शुद्ध आत्मा का ध्यान किये विना नहीं हो सकती। और इस ध्यान की निश्चलता निर्विकल्प मन से ही हो सकती है। तथा मन में निर्विकल्पता व्यवहारस्तुति के द्वारा ही उत्पन्न हुआ करती है। अतएव जो मुमुक्षु अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहते हैं उन्हें पहले व्यवहारस्तुति के द्वारा अपना मन शुद्ध चित्स्वरूप के ध्यान में लीन होने योग्य बना लेना चाहिये। तभी वे शुद्धात्मा के ध्यान में स्थिर होकर आत्मस्वरूप निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार चतुर्विंशतिस्तवरूप आवश्यक का वर्णन करके, अब क्रमानुसार ग्यारह पद्यों में वंदना का प्रत्याख्यान करते हैं। जिसमें सबसे पहले वंदना का लक्षण बताते हैं :-

वन्दना नतिनुत्याशीर्जयवादादिलक्षणा।
भावशुद्ध्या यस्य तस्य पूज्यस्य विनयक्रिया।।४६।।

अर्हन्त सिद्ध आचार्य आदिकों में से अथवा वृषभादि चौवीस तीर्थंकरों में से किसी भी पूज्य आत्मा का विशुद्ध परिणामों से नमस्कार स्तुति आशीर्वाद जयवाद आदि स्वरूप विनयकर्म करने को वंदना कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

कर्मारण्यहुताशानां पञ्चानां परमेष्ठिनाम्।
प्रणतिर्वन्दनाऽवादि त्रिशूद्धा त्रिविधा बुधैः।।

अर्थात् :- कर्मरूप अरण्य को भस्म करने के लिये अग्नि के समान पाँचो परमेष्ठियों को नमस्कार करने का नाम वंदना है। इसके मन वचन काय की शुद्धि की अपेक्षा से तीन भेद माने हैं।

ऊपर के श्लोक में विनयकर्म का नाम वंदना बताया है। उसमें यह नहीं मालूम होता कि विनय किसको कहते हैं। अतएव उसका स्वरूप बताते हैं :-

हिताहितप्तिलुप्त्यर्थं तदङ्गानां सदाञ्जसा।
यो माहात्म्योद्भवे यत्न स मतो विनयः सताम्।।४७।।

हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने के लिये उसके कारणों का जिनसे कि हित की प्राप्ति और अहित का उच्छेद हो सकता है ऐसे अर्हन्त सिद्धादिक अथवा प्रवचनादि के माहात्म्य को प्रकट करने के लिये सदा निष्कपट प्रयत्न करने का ही नाम सत्पुरुषों ने विनय कहा है।

विनय के पाँच भेदों का नाम गिनाकर यह बताते हैं कि वंदनारूप आवश्यक के प्रकरण में विनय शब्द से मोक्षहेतुक विनय का ही ग्रहण करना चाहिये। और इसीलिये जो निर्जरार्थी हैं उन्हें इस विनय के पाँचवें भेद मोक्षार्थ विनय का अवश्य पालन करने के लिये उपदेश देते हैं :-

लोकानुवृत्तिकामार्थभयनि:श्रेयसाश्रय:।
विनय: पञ्चधावश्यकार्योन्त्यो निर्जरार्थिभि:।।४८।।

विनय पाँच प्रकार का है, लोकानुवृत्तिहेतुक, कामहेतुक, अर्थहेतुक, भयहेतुक और मोक्षहेतुक। किन्तु जो निर्जरार्थी हैं उन्हें इन पाँचभेदों में से अंतिम भेद मोक्षहेतुक विनय का अवश्य ही पालन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

लौकानुवर्तनाहेतुस्तथा कामार्थहेतुक:।
विनयो भयहेतुश्च पञ्चमो मोक्षसाधन:।।
उत्थानमञ्जलि: पूजाऽतिथेरासनढौकनम्।
देवपूजा च लोकानुवृत्तिकृद्विनयो मत:।।
भाषाछन्दानुवृत्तिं च प्रदानं देशकालयो:।
लोकानुवृत्तिरर्थाय विनयश्चाञ्जलिक्रिया।।
कामतंत्रे भये चैव ह्येवं विनय इष्यते।
विनय: पञ्चमो यस्तु तस्यैषा स्यात् प्ररूपणा।।

अर्थात् विनय पाँच हेतुओं से हुआ करता है, अतएव उसके पाँच भेद हैं। एक तो वह कि जिसमें लोकों का अनुवर्तन किया जाता है, दूसरा वह कि जो काम के

प्रयोजन से किया जाता है, तथा तीसरा वह कि जो अर्थ - धन के लिये हुआ करता है, और चौथा वह जो कि भय के निमित्त से करना पड़ता है, एवं पाँचवां वह जो कि मोक्ष को सिद्ध करने के उद्देश से किया जाता है। इसलिये उनके ये पाँच अन्वर्थ नाम हैं। - लोकानुवर्तनाहेतुक, कामहेतुक, अर्थहेतुक, भयहेतुक और मोक्षहेतुक।

अतिथि के समक्ष खड़े होना, हाथ जोड़ना और उनकी पूजा करना, तथा उसको ऊँचा आसन देना आदि, और देवपूजा करना आदि भी लोकानुवर्तनाहेतुक विनय माना गया है। धन के उद्देश से भाषा का स्वतंत्र अनुवर्तन करना, देश और काल का विनियोग करना, तथा लोकों का अनुवर्तन करना और हाथ जोड़ना आदि अर्थहेतुक विनय है। इसी प्रकार काम और भय के विषय में भी विनय कर्म हुआ करता है। पाँचवां मोक्षविनय है जिसका कि इस प्रकरण में निरूपण किया गया है। यह मोक्षविनय भी दर्शनविनय आदि के भेद से पाँच प्रकार का है, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है।

नामादिनिक्षेप के भेद से वंदना के छह भेदों का उल्लेख करते हैं :-

नामोच्चारणमर्चाङ्गकल्याणावन्यनेहसाम्।
गुणस्य च स्तवाश्चैकगुरोर्नामादिवन्दना।।४९।।

वंदना के नामादिनिक्षेपों की अपेक्षा से छह भेद हैं। नामवंदना, स्थापनावंदना, द्रव्यवंदना, कालवंदना, क्षेत्रवंदना और भाववंदना। अर्हन्तादिकों में से किसी भी एक पूज्य पुरुष के नाम का उच्चारण करने को अथवा स्तुति आदि करने को नामवंदना कहते हैं। जिनप्रतिमा की स्तुति करने को स्थापनावंदना कहते हैं। भगवान् के शरीर का स्तवन करना इसको द्रव्यवंदना कहते हैं। पंच कल्याणकों में से किसी भी कल्याणक के काल की स्तुति करना इसको कालवंदना कहते हैं। जहाँ पर भगवान् का कोई भी कल्याण हुआ हो उस स्थान की स्तुति करने को क्षेत्रवंदना कहते हैं और भगवान् के गुणों का स्तवन करना इसको भाववंदना कहते हैं।

अर्हन्तादिकों के सिवाय और भी जो वन्द्य पुरुष है उनको बताते हुए इस बात का निर्देश करते हैं कि वंदना करनेवाला साधु कैसा होना चाहिये, अथवा उसको किस तरह

करनी चाहिये।

सूरिप्रवर्त्युपाध्यायगणिस्थविररात्निकान्।
यथार्हं वन्दतेऽमानः संविग्नोऽनलसो यतिः।।५०।।

दीक्षा देनेवाले अथवा अनुचित कार्य से रोकनेवाले यद्वा किसीको संघ में सम्मिलित करने या पृथक् करने की व्यवस्था देनेवालों को सूरी कहते हैं। जो आचार्य की आज्ञा का संघ के साधुओं से पालन कराते हैं उनको प्रवर्ती या प्रवर्तक कहते हैं। जिनके पास मुनिजन श्रुत का अध्ययन किया करते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं। और गण की रक्षा करनेवाले तथा राजसभादि में कुशल साधुओं को गणी कहते हैं। इसी प्रकार मर्यादा रखनेवालों को स्थविर और रत्नत्रय के अधिकतया धारण करनेवालों को रात्निक कहते हैं। इन सभी का संसार से भीरु संयमी साधुओं को गर्वरहित होकर और आलस्य छोड़कर यथायोग्य विनयकर्म करना चाहिये।

वंदना का विषयविभाग करने के लिये किसके परोक्ष में
किसकी वंदना करनी चाहिये सो बताते हैं :-

गुरौ दूरे प्रवर्त्त्याद्या वन्द्या दूरेषु तेष्वपि।
संयतः संयतैर्वन्द्यो विधिना दीक्षया गुरुः।।५१।।

गुरु - आचार्य यदि देशान्तर को गमन आदि करके चले गये हों, प्रत्यक्ष उपस्थित न हों तो उनके परोक्ष में कर्मकाण्ड में बताई हुई विधि के अनुसार क्रम से प्रवर्तकादि की संयमियों को वंदना करनी चाहिये। और यदि प्रवर्तकादिक भी उस समय उपस्थित न हों तो जो साधु अपने से दीक्षा में बड़ा है उसकी मुनियों को वंदना करनी चाहिये।

संयमीश्रावक और मुनियों को जिनकी वंदना न करनी चाहिये उनका उल्लेख करते हैं :-

श्रावकेणापि पितरौ गुरू राजाप्यसंयताः।
कुलिंगिनः कुदेवाश्चः न वन्द्याः सोपि संयतैः।।५२।।

असंयमी - मातापिता, और दीक्षागुरु तथा शिक्षागुरु, एवं राजा और मंत्री आदि, तथा तापसादिक और पार्श्वस्थानिक, इसी प्रकार रुद्रादिक और शासनदेवतादिक, तथा शास्त्रोपदेश के अधिकारी श्रावक की भी संयमियों को वंदना न करनी चाहिये। इतना ही नहीं बल्कि यथोक्त संयम का पूर्णतया पालन करनेवाले श्रावकों को भी इन असंयमियों की वंदना न करनी चाहिये।

संयमी साधुओं की भी वंदना करने की विधि का नियम बताते हैं कि कब और किस तरह से उनकी वंदना करनी चाहिये, और कब नहीं करनी चाहिये।

वन्द्यो यतोप्यनुज्ञाप्य काले साध्वासितो न तु।
व्याक्षेपाहारनीहारप्रमादविमुखत्वयुक्।।५३।।

संयमी को संयमी की भी वंदना योग्य समय में - आगममें जो वंदना करने का समय बताया है उसी समय में करनी चाहिये। इसके सिवाय जब कि वे अपने स्थान पर या आसनादि पर बैठे हों या बैठ चुके हों तब और उनकी मंजूरी लेकर ही वंदना करनी चाहिये। अर्थात् वंदना करने के पहले 'हे भगवन् ! वंदेऽहं, - हे भगवन् मैं आपकी वंदना करता हूँ,' इस तरह से उनके समक्ष विज्ञप्ति करनी चाहिये। और जब वे इसके बदले में 'वन्दस्व' 'वंदना करो' यह अनुज्ञा करें तब उनकी वंदना करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

आसने ह्यासनस्थं च शान्तचित्तमुपस्थितम्।
अनुज्ञाप्यैव मेधावी कृतिकर्म निवर्तयेत्।।

सम्मुख उपस्थित संयमी जब कि भले प्रकार आसन पर बैठे हुए होकर भी शांतचित्त

हों तब उनकी मंजूरी लेकर ही विवेकी साधुओं को उनका विनय आदि करना चाहिये।

जिस समय वे वंदनीय साधु किसी प्रकार व्याकुल हों अथवा भोजन कर रहे हों, यद्वा मलमूत्रादिका उत्सर्ग कर रहे हों, तथा सावधान न हों, या अपनी तरफ उन्मुख न हों तो उनकी उस समय वंदना न करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

व्याक्षिप्तं च पराचीनं मा वन्दिष्ठाः प्रमादिनम्।
कुर्वन्तं सन्तमाहारं नीहारं चापि संयतम्।।

ऊपर यह बात लिखी जा चुकी है कि आगम में जो वंदना करने का समय बताया है उसी समय में वह करनी चाहिये। किन्तु वह समय कौनसा है सो बताते हैं :-

वन्द्या दिनादौ गुर्वाद्या विधिवद्विहितक्रियैः।
मध्याह्ने स्तुतदेवैश्च सायं कृतप्रतिक्रमैः।।५४।।

गुरु - आचार्यादिकों की वंदना साधुओं को दिन में तीन बार करनी चाहिये, प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सांयकाल। जिसमें से प्रातःकाल तो वह प्राभातिक कर्म के अनंतर, और मध्याह्न में देववंदना के अनंतर तथा सायंकाल में प्रतिक्रमण के अनंतर करनी चाहिये। इसके सिवाय नैमित्तिक क्रियाओं के पीछे भी उनकी वंदना करनी चाहिये। तथा वंदना करने की विधि क्रियाकाण्ड में जैसी कुछ बताई है तदनुसार ही वह करनी चाहिये।

आचार्य और शिष्य की तथा दूसरे भी संयमियों की वंदना और प्रतिवंदना का विषय विभाग करते हैं :-

सर्वत्रापि क्रियारम्भे वन्दनाप्रतिवन्दने।
गुरुशिष्यस्य साधूनां तथा मार्गादिदर्शने।।५५।।

सभी नित्य या नैमित्तिक क्रिया करते समय शिष्य को गुरु से वंदना करनी चाहिये। और गुरु - आचार्य को भी उसके बदले में शिष्य से वंदना करनी चाहिये। इसके सिवाय शेष मुनियों को भी रास्ता आदिक में दर्शन हो जानेपर परस्पर में यथायोग्य वंदना करनी

चाहिये। तथा मार्ग शब्द के साथ आदि शब्द जो दिया है उससे मलोत्सर्ग के अनंतर या कायोत्सर्ग के अनंतर भी दर्शन हो जानेपर एक दूसरे को आपस में वंदना करनी चाहिये।

यहाँ तक षडावश्यकों में से सामायिक चतुर्विंशतिस्तव और वंदना इन तीन आवश्यकों का वर्णन किया। अब इनका व्यवहार के अनुसार प्रयोग किस तरह करना चाहिये उसकी विधि बताते हैं :-

सामायिकं णमो अरहंताणमिति प्रभृत्यथ स्तवनम्।
थोस्सामीत्यादि जयति भगवानित्यादिवन्दनां युंज्यात्।।५६।।

संयमी साधुओं को तथा देशसंयमी श्रावकों को भी णमो अरहंताणं आदि सामायिक दण्डक में बताये हुए पाठ के अनुसार सामायिक, और थोस्सामि इत्यादि पाठ के अनुसार चतुर्विंशतिस्तव, तथा जयति भगवान् इत्यादि उल्लेख के अनुसार वंदना करनी चाहिये।

इस श्लोक में एक आदि शब्द का लुप्त निर्देश है। अतएव इस वंदना के प्रकरण में अरहंतवंदना सिद्धवंदना आदिका भी संग्रह समझ लेना चाहिये।

क्रमानुसार प्रतिक्रमण के लक्षण और भेद बताते हैं :-

अहर्निशापक्षचतुर्मासाब्देर्योत्तमार्थभूः।
प्रतिक्रमस्त्रिधा ध्वंसो नामाद्यालम्बनागसः।।५७।।

नाम स्थापना और द्रव्य आदिक छह प्रकार के आश्रय से उत्पन्न हुए अपराध अथवा संचित हुए पाप के आत्मा से दूर करने को प्रतिक्रमण कहते हैं। यह तीन प्रकार से हुआ करता है, मन वचन और काय के द्वारा, अथवा कृत कारित और अनुमोदना की अपेक्षा से। यद्वा मन वचन और काय के द्वारा की गई निन्दा गर्हा और आलोचना को भी तीन प्रकार का प्रतिक्रमण कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं, मनोवचःकायकषायनिर्मितम्।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं, भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम्।।

मैं संसारसंबंधी दुःखों के कारण मन वचन तथा काय और कषाय के द्वारा संचित हुए पाप को निंदा आलोचना और गर्हा के द्वारा इस तरह नष्ट कर देता हूँ, जैसे कि मंत्र के माहात्म्य से वैद्य समस्त विष को निःशेष कर दिया करता है। यह निंदादिरूप प्रतिक्रमण का लक्षण ही है। जैसा कि और भी कहा है कि :-

प्रमादप्राप्तदोषेभ्यः प्रत्यावृत्त्य गुणावृत्तिः।
स्यात्प्रतिक्रमणाः यद्वा कृतदोषविशोधना।।

प्रमाद के निमित्त से जो दोष या अपराध उत्पन्न हुआ करते है उनसे आत्मा को बचाये रखना, अर्थात् वे दोष आत्मा में उत्पन्न न होने देना और गुणों की तरफ उसकी प्रवृत्ति रखना इसको प्रतिक्रमण कहते हैं। अथवा प्रमादादि के वश जो दोष लग गये हों उनके दूर करने को भी प्रतिक्रमण कहते हैं।

प्रतिक्रमण करने के समय - काल अथवा उसके विषय सात हैं। दिन रात्रि पक्ष चातुर्मास वर्ष ईर्या और उत्तमार्थ। दिन रात्रि पक्ष और वर्ष शब्द का अर्थ स्पष्ट है। चातुर्मास से मतलब श्रावण भाद्रपद आश्विन और कार्तिक इन चार महीनाओं का ही नहीं है; किन्तु इसके आगे मगसिर पोष माघ और फाल्गुन को तथा चैत्र वैशाख ज्येष्ठ और आषाढ़, इन चार चार महीनों को भी चातुर्मास कहते हैं। इस तरह प्रतिक्रमण के संबंध में एक वर्ष में तीन चातुर्मास हुआ करते हैं। ईर्या से मतलब ईर्यापथ गमन का है। जो शरीर के परित्याग कराने में समर्थ है - अर्थात् जो समाधि मरण के समय किया जाता है ऐसे समस्त दोषों की आलोचनापूर्वक किये गये चार प्रकार के आहार के त्याग का नाम उत्तमार्थ है। इस प्रकार समय या विषय की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के सात भेद हैं, - आह्निक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक, ऐर्यापथिक और उत्तमार्थिक। जैसा कि कहा भी है कि :-

ऐर्यापथिकरात्र्युत्थं प्रतिक्रमणमाह्निकम्।
पाक्षिकं च चतुर्मासवर्षोत्थं चोत्तमार्थिकम्।।

प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक हुआ करता है। अतएव इस कथन से प्रतिक्रमण की तरह आलोचना के भी सात भेद समझ लेने चाहिये। यथा :-

आलोयणं दिवसियं राइय इरियावहं च बोद्धव्वं।
पक्खय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च।।

इस प्रकार आचारशास्त्र के अनुसार प्रतिक्रमण के सात भेद हैं। किन्तु ग्रंथान्तरों में इनके सिवाय और भी भेद बताये हैं। परंतु उनका इन सात भेदों में ही अंतर्भाव हो जाता है। इसी बात को बताते हैं :-

सोन्त्ये गुरुत्वात् सर्वातीचारदीक्षाश्रयोऽपरै।
निषिद्धिकेर्यालुञ्चाशदोषार्थश्च लघुत्वतः।।५८।।

संपूर्ण अतीचारसंबंधी और दीक्षासंबंधी प्रतिक्रमण अंत के उत्तमार्थ प्रतिक्रमण में अंतर्भूत हो जाते हैं। क्योंकि उनके भक्ति और उच्छ्वास दण्डक का पाठ बहुत ज्यादा है। जिस समय दीक्षा ली उस समय से लेकर संन्यास ग्रहण करने के समय तक जो जो दोष या अपराध हुए हों उनकी निंदा गर्हा और आलोचना करने को सर्वातीचार प्रतिक्रमण कहते हैं। तथा व्रत ग्रहण करने में जो दोष लगें हों उनकी निंदा आदि करने को दीक्षासंबंधी प्रतिक्रमण कहते हैं।

ये दोनों ही प्रतिक्रमण गुरु - बड़े हैं इसलिये इनका उत्तमार्थ में समावेश हो जाता है। इस कथन से अर्थात् गुरु शब्द का उल्लेख करके ग्रंथकार ने यह बात व्यक्त कर दी है कि बृहत् प्रतिक्रमणाएँ भी सात प्रकार की हुआ करती हैं। जिनके कि नाम इस प्रकार हैं - व्रतारोपणी, पाक्षिकी, कीर्तिकान्त चातुर्मासी, फाल्गुनान्त चातुर्मासी,आषाढ़ान्त सांवत्सरी, सार्वातीचारी और उत्तमार्थी।

अतीचार संबंधी प्रतिक्रमणा सार्वातीचारी में और जिसमें तीन प्रकार के आहार का परित्याग किया जाता है वह उत्तमार्थी में अंतर्भूत हो जाती है; अतएव इनका पृथक् नामोल्लेख नहीं किया है। बाकी की पाँच प्रतिक्रमणाएँ वर्ष के अंत में की जाती हैं। और यौगान्ती प्रतिक्रमणा सांवत्सरी में अंतर्भूत हो जाती है। जैसा कि कहा भी है कि :-

व्रतादाने च पक्षान्ते कार्तिके फाल्गुने शुचौ।
स्यात्प्रतिक्रमणा गुर्वी दोषे संन्यासने मृतौ।।

अर्थात् बृहस्प्रतिक्रमणाएँ सात समयों मे हुआ करती हैं, व्रत ग्रहण करते समय, कार्तिक के अंत में, फाल्गुन के अंत में, आषाढ़ के अंत में, किसी प्रकार का दोष लग जानेपर और संन्यास मरण के समय।

इस प्रकार वे सात बृहत्प्रतिक्रमणाएँ हैं। लघुप्रतिक्रमणाओं के आह्निक आदि सात भेद बताये हैं। इनके सिवाय आगम में निषिद्धिकेर्यादिक और भी भक्ति उच्छ्वासदण्डक का पाठ अल्प है।

जहाँ पर मुनिजन उठा बैठा करते हैं उस स्थानविशेष को निषिद्धिका कहते हैं, और उस स्थान में चलने फिरने आदि का नाम निषिद्धिकेर्या है। दीक्षा ग्रहण करने के अनंतर दो महीना तीन महीना या चार महीना में अपने हाथ से केशों के उखाड़ने को लोच कहते हैं। अशन नाम भोजन अर्थात् गोचरवृत्ति का है। दुःस्वप्न आदि अतीचारों को दोष कहते हैं। इन चार निमित्तों की अपेक्षा से जो निंदा गर्हा आदि की जाती है उन्हीं को क्रम से निषिद्धिकागमन प्रतिक्रमणा, लुञ्चप्रतिक्रमणा, गोचारप्रतिक्रमणा और अतीचार प्रतिक्रमणा कहते हैं। ये चारों ही प्रतिक्रमणाएँ लघु हैं। इसलिये इनका ऐर्यापथिक आदि प्रतिक्रमणाओं में अंतर्भाव हो जाता है। इनमें से पहली मार्गातीचार प्रतिक्रमणा में और पिछली रात्रिप्रतिक्रमणा में तथा बीच की दोनों आह्निकप्रतिक्रमणा में अंतर्भूत होती हैं। इस कथन से अर्थात् श्लोक में अंतर्भाव के लिये लघुत्व हेतु देकर ग्रंथकार ने यहाँ पर लघुप्रतिक्रमणाएँ भी सात होती हैं यह बताया है। जैसा कि कहा भी है कि :-

लुञ्चे रात्रौ दिने भुक्ते निषेधिकागमने पथि।
स्यात् प्रतिक्रमणा लघ्वी तथा दोषे तु सप्तमी।।

लोच रात्रि दिन भोजन निषेधिकागमन मार्ग और दोष अर्थात् अतीचार इन सात विषयों की अपेक्षा से लघुप्रतिक्रमणाओं के भी सात भेद हैं।

इस प्रकरण के प्रारंभ में प्रतिक्रमण का लक्षण बताते समय लिखा था कि नाम स्थापना आदि छह निमित्तों से होनेवाले अपराध के अथवा संचित हुए पाप के दूर करने को प्रतिक्रमण कहते हैं। अतएव नामादि की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के भी छह भेद होते हैं। इन्हीं छह भेदों का स्वरूप दो श्लोकों में बताते हैं :-

स्यान्नामादिप्रतिक्रान्तिः परिणामनिवर्तनम्।
दुर्नामस्थापनाभ्यां च सावद्यद्रव्यसेवनात्।।५९।।
क्षेत्रकालाश्रिताद्रागाद्यायाश्रिताच्चातिचारतः।
परिणामनिवृत्तिः स्यात् क्षेत्रादीनां प्रतिक्रमः।।६०।। युग्मम्।

पापसंचय के कारणभूत नामों के उच्चारणादि से होनेवाले अथाव उनका उच्चारणादि करने के लिये जो परिणाम होते हैं उनकी निवृत्ति को नामप्रतिक्रमणा कहते हैं। सराग स्थापना के निमित्त से होनेवाले परिणामों की निवृत्ति को स्थापनाप्रतिक्रमण कहते हैं। हिंसादि पापों से युक्त भोज्यादि वस्तुओं के विषय में जो परिणाम होते हैं उनकी निवृत्ति को द्रव्यप्रतिक्रमणा कहते हैं। क्षेत्र के संबंध से लगनेवाले अतीचारों की तरफ परिणामों की प्रवृत्ति न होना अथवा उनकी तरफ यदि परिणाम प्रवृत्त हो भी जाय तो निंदा आदि के द्वारा उनकी निवृत्ति करने को क्षेत्रप्रतिक्रमणा कहते हैं। इसी प्रकार काल के निमित्त से लगनेवाले अतीचारों की प्रवृत्ति न होने को अथवा हो जानेपर उसके निवृत्त करने को काल प्रतिक्रमणा कहते हैं। तथा राग-द्वेष और मोह संबंधी अतीचारों से आत्मा के निवृत्त करने को भावप्रतिक्रमणा कहते हैं।

प्रतिक्रमण यह क्रिया है, उसके कर्ता कर्म करण और अधिकरणरूप कारक कौन कौन हैं सो बताते हैं :-

स्यात् प्रतिक्रमकः साधुः प्रतिक्रम्यं तु दुष्कृतम्।
येन यत्र च तच्छेदस्तत्प्रतिक्रमणं मतम्।।६१।।

पाँच महाव्रतादि के श्रवण और धारण करने में तथा उनमें दोषों के लग जानेपर उन दोषों के दूर करने में सदा तत्पर रहनेवाला साधु इस प्रतिक्रमण क्रिया का कर्ता है। क्योंकि वही द्रव्यादि विषयक अतीचारों से आत्मा को निवृत्त रखता है, तथा यदि अतीचार लग भी जांय तो उनकी वह शुद्धि भी करता है। जिनसे कि आत्मा को बचाकर रक्खा जाता है, अथवा जो दूर करने - छोड़ने योग्य है ऐसे मिथ्यात्वादिक पापों का और उनके निमित्तभूत द्रव्यादिकों को प्रतिक्रम्य - प्रतिक्रमण क्रिया का कर्म समझना चाहिये। 'मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु - मेरे संपूर्ण पाप मिथ्या - निःशेष हो' इस तरह के शब्दों से प्रकट होनेवाले परिणाम अथवा ये शब्दसमूह ही इस क्रिया के करण हैं। क्योंकि इन्हीं के द्वारा पापों का उच्छेदन किया जाता है। व्रतों की शुद्धिपूर्वकता अथवा तद्रूप परिणत जीव इस क्रिया का अधिकरण समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

जीवो दु पडिक्कमओ दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
पडिगच्छदि जेणुज्जहिं तं तस्स भवे पडिक्कमणं।।
पडिकमिदव्वं दव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं तिविहं।
खेत्तं च गिहादियं कालो दिवसादिकालम्हि।।
मिच्छते पडिकमणं तह चेव असंजमे पडिक्कमणं।
कसाएसु पडिक्कमणं जोगेसु य अप्पसत्थेसु।।

प्रतिक्रमण के विषय में पाँच बातें विचारणीय हैं। - कर्ता द्रव्य क्षेत्र काल और भाव। कर्ता जीव है; क्योंकि वह आत्मा को अपराधों से निवृत्त रखने या करने में स्वतंत्र है। जिनका प्रतिक्रमण किया जाता है वह कर्मरूप वस्तु ही द्रव्य है। वह तीन प्रकार की मानी है, सचित्त अचित्त और मिश्र। गृह गुहा वसतिका वन उपवन मंदिर आदि स्थान प्रतिक्रमण के क्षेत्र हैं। दिन रात्रि प्रातःकाल मध्याह्न आदि नित्य नैमित्तिक समय ही प्रतिक्रमण के काल हैं। भाव नाम परिणाम का है। वह चार प्रकार का है, मिथ्यात्व असंयम कषाय और अप्रशस्त योग।

प्रतिक्रमण करने की विधि बताते हैं :-

निन्दागर्हालोचनाभियुक्तो युक्तेन चेतसा।
पठेद्वा शृणुयाच्छुद्ध्यै कर्मघ्नान्नियमान्समान्।।६२।।

अपने से जो दोष बन गया हो उसकी स्वयं अपने मन में ही, हाय मुझसे यह बड़ा अनर्थ हो गया, ऐसी भावना करने को निंदा कहते हैं। यदि यह भावना गुरु के समक्ष की जाय तो उसको गर्हा कहते हैं। तथा अपने दोषों का गुरु से निवेदन कर देने को आलोचन कहते हैं। साधुओं को प्रतिक्रमण के समय ये तीनों ही पहले करने चाहिये। पीछे विपुल कर्मों की निर्जरा के लिये अथवा संपूर्ण अतीचारों की शुद्धि के लिये कर्मों का नाश करनेवाले समस्त नियमों - दण्डकों का स्वयं पाठ करना चाहिये, अथवा आचार्यादि से सुनना चाहिये।

भावार्थ :- पहले तो साधुओं को भावप्रतिक्रमण में प्रवृत्त होना चाहिये। किन्तु यह प्रवृत्ति स्वयं निंदा गर्हा और आलोचना करने से ही हुआ करती है। जैसा कि कहा भी है कि :-

आलोयण णिंदणगरहणाहिं अब्भुट्ठिओ अकरणाए।
तं भावपडिक्कमणं सेसं पुणं दव्वदो भणिदं।।

अर्थात् प्रतिक्रमण दो प्रकार का है, एक द्रव्यरूप, दूसरा भावरूप। आलोचना निंदा और गर्हा के द्वारा दोषों के दूर करने में प्रवृत्त होने को भावप्रतिक्रमण, और शेष क्रियाओं के करने को द्रव्यप्रतिक्रमण कहते हैं। इनमें से पहले भावप्रतिक्रमण करके पीछे द्रव्यरूप प्रतिक्रमण करना चाहिये। अर्थात् निंदादि के अनंतर व्यवहार से अविरुद्ध प्रतिक्रमण संबंधी दण्डकों के पाठ का स्वयं उच्चारण करना चाहिये, अथवा आचार्यादि के मुख से उसको सुनना चाहिये। क्योंकि उपयुक्त मन से; अर्थ की तरफ ध्यान देकर यदि यह पाठ किया जाय या सुना जाय तो वह संपूर्ण कर्मों का नाश कर देता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

भावयुक्तोर्थतन्निष्ठः सदा सूत्रं तु यः पठेत्।
स महानिर्जरार्थाय कर्मणो वर्तते यतिः।।

अर्थात् मन लगाकर और अर्थ की तरफ भी ध्यान देते हुए प्रतिक्रमणसूत्र का पाठ करने से संयमियों के कर्मों की महान् निर्जरा हुआ करती है।

इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि आजकल दुःषम काल है। इसके प्रसाद से लोगों की बुद्धि या प्रवृत्ति वक्र और जड़रूप हो जाती है, चित्त चंचल रहा करता है, जिससे कि प्रायः उनसे अपराध हुआ ही करते हैं। यहाँ तक कि व्रतादिकों में जो अतीचार वे अपने आप लगा लिया करते हैं उनका भी उन्हे स्मरण नहीं रहता। अतएव ईर्या गमनागमनादिक में कोई दोष लगे या न लगे सबको समस्त अतीचारों की शुद्धि के लिये संपूर्ण प्रतिक्रमण करने ही चाहिये। क्योंकि इन प्रतिक्रमणों के कहते समय चाहे सबमें उपयोग न लगे, किन्तु जिस किसी भी प्रतिक्रमण में चित्त स्थिर हो जायगा उसीसे समस्त दोष दूर हो जायेंगे। क्योंकि ये सभी प्रतिक्रमण कर्मों के नष्ट करने में समर्थ हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

स प्रतिक्रमणो धर्मो जिनयोरादिमान्त्ययोः।
अपराधेप्रतिक्रान्तिधर्मध्यमानां जिनेशिनाम्।।
यदोपजायते दोष आत्मन्यन्यतरत्र वा।
तदैव स्यात्प्रतिक्रान्तिर्मध्यमानां जिनेशिनाम्।।
ईर्यागोचरदुःस्वप्नप्रभृतौ वर्ततां नवा।
पौरस्त्यपश्चिमाः सर्वं प्रतिक्रामन्ति निश्चितम्।।
मध्यमा एकचित्ता यदमूढदृढबुद्धयः।
आत्मनानुष्ठितं तस्माद्गर्हमाणाः सृजन्ति तम्।।
पौरस्त्यपश्चिमा यस्मात्समोहाश्चलचेतसः।
ततः सर्वं प्रतिक्रान्तिरन्ध्योऽश्नोत्र निदर्शनम्।।

अर्थात् सबसे पहले तीर्थंकर भगवान आदिनाथ स्वामी के समय में और सबसे पिछले

महावीर स्वामी के समय में ही इस प्रतिक्रमण धर्म का सदा पालन किया जाता है। बाकी के मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के बाड़े में इसका सदा पालन नहीं किया जाता, जब अपराध होता है तभी किया जाता है। पहले और पिछले तीर्थंकर के समय के साधुओं को निश्चितरूप से संपूर्ण प्रतिक्रमण करने ही चाहिये, चाहे ईर्या गोचर दु:स्वप्न आदि के विषय में उन्हें दोष लगे या न लगे, बीच के बाईस तीर्थंकरों के समय के साधुओं का चित्त चंचल नहीं हुआ करता और उनकी बुद्धि भी दृढ हुआ करती है, तथा उनमें मूढता भी विशेष नहीं पाई जाती। अतएव उनसे जब कोई अपराध बन जाता है तब वे उसकी गर्हा आदि करते हैं। किन्तु आदि तीर्थंकर और अंतिम तीर्थंकर के समय के साधु वैसे नहीं होते, उनमें मोह और चित्त की चंचलता रहा करती है, अतएव वे सब प्रतिक्रमण करते हैं।

निम्नश्रेणी के मुमुक्षुओं को प्रतिक्रमण आदि करने में लाभ है और न करने में हानि है। किन्तु जो उच्च पद पर पहुँच गये हैं उन मुमुक्षुओं को इस प्रतिक्रमण आदि के करने में हानि ही है। इसी बात का उपदेश देते हैं :-

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहरणं धारणा निवृत्तिश्च।
निन्दा गर्हा शुद्धिश्चामृतकुम्भोन्यथापि विषकुम्भः।।६३।।

यहाँ पर प्रतिक्रमण शब्द से द्रव्यप्रतिक्रमण का ग्रहण किया है। अतएव दण्डकों का पाठ करना ही प्रकृत में उसका लक्षण समझना चाहिये। गुणों में प्रवृत्ति करने को प्रतिसरण कहते हैं। दोषों से पराङ्मुख रहने का नाम परिहरण है। चित्त के स्थिर रखने का नाम धारणा है। दूसरी तरफ चित्त के चले जानेपर उधर से पुन: उसके लौटाने को निवृत्ति कहते हैं। निंदा और गर्हा शब्द का अर्थ पहले बता चुके हैं। प्रायश्चित आदि के द्वारा अपने शोधन करने को शुद्धि कहते हैं।

निम्न पद में रहनेवाले मुमुक्षुओं के लिये ये प्रतिक्रमणादि आठों ही कार्य अमृतघट के समान हैं। क्योंकि जिस प्रकार अमृत का पान करने से चित्त में प्रसन्नता और आह्लाद हुआ करता है। उसी प्रकार इन क्रियाओं के करने से भी परम प्रसन्नता और आह्लाद प्राप्त हुआ करता है। अतएव निम्न पद में इनके करने से लाभ ही है। तथा न करने

से हानि है। क्योंकि न करने पर मोह और संताप आदि उत्पन्न हुआ करते हैं जो कि पापबंध के कारण हैं। इसलिये उस अवस्था में इनका न करना विष के घटके समान ही समझना चाहिये।

यहाँ पर अपि शब्द का जो पाठ किया है उससे यह बात भी जाहिर कर दी है कि ऊपर के पद में पहुँचकर प्रतिक्रमण आदि का करना भी विषकुम्भ के समान है। क्योंकि वहाँ पर विशेषतया संवर और निर्जरा के कारणों में ही प्रवृत्ति होती है, पुण्यबंध के कारणों में नहीं। किन्तु इस प्रतिक्रमण आदि के द्वारा उस पुण्य की प्राप्ति होती है जो कि वैभव को उत्पन्न कर क्रम से मद और मति में मोह उत्पन्न कर दिया करता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

पुण्येण होइ विहओ विहवेण मओ भएण मइमोही।
मइमोहेण य पावं तं पुण्णं अह्म मा होउ।।

पुण्य के उदय से वैभव की प्राप्ति होती हैं। और वैभव से मद तथा मति में मोह उत्पन्न हुआ करता है। मोह के निमित्त से पाप का संचय हुआ करता है। अतएव इस पापबंध का कारण पुण्य ही हम को नहीं चाहिये।

यहाँ पर यदि यह कोई शंका करे कि इस पद्य में (आर्या में) छन्दोभङ्ग है क्योंकि प्रतिक्रमण इस शब्द में क्र इस संयुक्ताक्षर के आगे रहने से ति यह दीर्घ हो जाता है। सो ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ पर उनका शिथिल उच्चारण करना अभीष्ट है, जैसा अनेक स्थलों में पाया भी जाता है। यथा :-

वित्तैर्येषां प्रतिपदमियं पूरिता भूतधात्री,
निर्जित्यैतद्भुवनवलयं ये विभुत्वं प्रपन्नाः।
तेप्येतस्मिन् गुरुवचह्रदे बुद्बुदस्तम्बलीलां,
धृत्वा धृत्वा सपदि विलयं भूभुजः संप्रयाताः।।

यहाँ पर 'गुरु वचह्रदे बुद्बुद' इस पद में ह्र इस संयुक्ताक्षर के आगे पड़े रहने पर भी च को दीर्घ मानकर अथवा द्बु इस संयुक्ताक्षर के आगे रहते हुए भी बु को दीर्घ

मानकर छन्दोभङ्ग नहीं होता। इसी तरह 'भ्रमति भ्रमरकान्ता नष्टकान्ता वनान्ते' इसमें भ्र के पड़े रहने पर भी ति दीर्घ नहीं माना जाता। तथा 'शश्वतोरपत्यानि प्रियंवदानि नोपेक्षितव्यानि बुधैः कदाचित्' यहाँ पर प्रि के पडे रहनेपर भी नि यह दीर्घ नहीं माना गया है। जिनवरप्रतिमानांभावतोऽहंनमामि इसमें भी प्र के पड़े रहते हुए भी र को दीर्घ मानकर छन्दोभङ्ग नहीं माना है। इसी प्रकार और भी अनेक स्थानों में शिथिल उच्चारण मिलता है। तदनुसार यहाँ पर भी समझना चाहये। अतएव छन्दोभङ्ग की शंका ठीक नहीं है।

संपूर्ण कर्मो से रहित होने की भावना करते हुए उनके फलों से भी रहित होने की भावना करने में मुमुक्षुओं को प्रेरित करते हैं :-

प्रतिक्रमणमालोचं प्रत्याख्यानं च कर्मणाम्।
भूतसद्भाविनां कृत्वा तत्फलं व्युत्सृजेत् सुधीः।।६४।।

विवेकी साधुओं को भूत भविष्यत् और वर्तमान समस्त कर्मों का प्रतिक्रमण आलोचन और प्रत्याख्यान करके उनके संपूर्ण फलों का भी प्रत्याख्यान करना चाहिये।

भावार्थ :- मुमुक्षुओं को भूत वर्तमान और भविष्यत् कर्मो का क्रम से प्रतिक्रमण आलोचन और प्रत्याख्चान करना चाहिये। तथा उसी प्रकार कर्मों के फलों का भी क्रम से प्रतिक्रमण आदि करना चाहिये। जिन शुभ या अशुभ कर्मों का पूर्वकाल में संचय हो चुका है उन कर्मों के उदय से उत्पन्न होनेवाले परिणामों से अपनी आत्मा को जुदा रखना, संचित कर्मों के उदय के लिये निमित्त मिलने पर उस निमित्त को उदय का निमित्त न बनने देना, यदि कर्मों का उदय हो भी जाय तो उससे अपनी आत्मा को पृथक् रखना, क्रोधादिरूप परिणत न होना, और कर्मों के संग्रह तथा उदय आदि में करणभूत पूर्वकर्मों की आत्मा से निवृत्ति करना, इसको भूतकर्मों का प्रतिक्रमण कहते हैं। वर्तमान में जिन शुभ या अशुभ कर्मों का उदय हो रहा है उनसे अपनी आत्मा को सर्वथा भिन्न समझना, इसको वर्तमान या सत्कर्मों का आलोचन करना कहते हैं। जिनसे कि आगामी कर्मों का बंध हो सकता है ऐसे अपने शुभ या अशुभ परिणाम न होने देना इसको भाविकर्मों का प्रत्याख्यान कहते हैं। इस प्रकार भूत वर्तमान और भविष्यत् कर्मों का प्रतिक्रमणादिक क्रम से करके उनके फलों का भी परित्याग करने के लिये इस प्रकार विचार करना

चाहिये। यथा :- 'मन से वचन से या शरीर से मैंने जिस किसी दुष्कर्म का संचय किया हो, अथवा किसीसे कराया हो, यद्वा किसीके करनेपर उसकी अनुमोदना की हो, तो वह सब मेरा दुष्कर्म मिथ्या हो जाय।' इस वाक्य में एक भूतकाल की ही क्रिया लगाई है। किन्तु इसी प्रकार से मनवचनकाय के संयोगी असंयोगी भेद और उनंचास क्रियापदों को क्रम से जोड़कर प्रतिक्रमण करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

कृतकारितानु मननैस्त्रिकालविषयं मनोवचःकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैश्कर्म्यमवलम्बे।।

भूत भविष्यत् और वर्तमान काल में मन वचन और काय के द्वारा तथा कृत कारित और अनुमोदना करके जिन जिन कर्मों का संग्रह हुआ हो या हो रहा हैं उन सबको छोड़कर अब मैं कर्मरहित उत्कृष्ट अवस्था का अनुभव कर रहा हूँ तथा और भी कहा है कि :-

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।

मोह के निमित्त से मैंने जिन जिन कर्मों को संचित किया उन सभी को छोड़कर - उनका प्रतिक्रमण करके देखता हूँ तो कर्मरहित चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा में मैं अपने आत्मस्वरूप से ही सदा लीन होकर रह रहा हूँ।

पूर्वकाल में संचित कर्मों के फल का प्रतिक्रमण करने के लिये किस प्रकार की भावना होनी चाहिये सो ऊपर बताया है। उसी प्रकार वर्तमान में उदय में आते हुएए कर्मों का और उनके फल का आलोचन इस तरह करना चाहिये कि 'मैं अपने मन वचन या शरीर के द्वारा न तो दुष्कर्म करता हूँ, और न किसीसे कराता हूँ, और न कोई वैसा करता हो तो उनकी अनुमोदना करता हूँ।' किन्तु पहले की तरह यहाँ पर भी मन वचन काय के संयोगी असंयोगी भंग और उनंचास क्रियापदों को क्रम से लगा लेना चाहिये। इस प्रकार कर्म और उनके फलों का आलोचन करके अपने आत्मस्वरूप में

लीन होना चाहिये। जैसा कि कहा भी है :-

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत् कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यनात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।

अर्थात् ये संपूर्ण कर्म जो कि उदय में आ रहे हैं वे सब मोह की लीला से ही प्रकट होनेवाले हैं। अतएव इन सबको आलोचना करके मैं सदा कर्मरहित चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा में अपने आत्मस्वरूप से ठहरा हुआ हूँ।

इसी तरह भविष्यत्कर्मों का और उनके फलों का प्रत्याख्यान करने के लिये भी विचार करना चाहिये। यथा :- 'मैं अपने मन वचन और काय के द्वारा कोई भी दुष्कर्म न करूंगा और न किसीसे कराऊँगा तथा कोई करता होगा तो उसकी अनुमोदना भी न करूँगा।' यहाँ पर भी क्रम से मन वचन काय के संयोगी असंयोगी भंग और उनंचास क्रियापद जोड़ देने चाहिये। और इस तरह प्रत्याख्यान करके आत्मस्वरूप में लीनता की प्रवृत्ति करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मानि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।

मैंने मोहकर्म का निरास कर दिया है, इसीलिये अब आगे संचित होनेवाले संपूर्ण कर्मों का भी प्रत्याख्यान करके कर्मरहित चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा में आत्मस्वरूप के द्वारा सदा लीन रहने के लिये प्रवृत्त होता हूँ।

यहाँ पर भूत वर्तमान और भविष्यत् कर्मों में से एक एक का क्रम से प्रतिक्रमण आलोचन और प्रत्याख्यान किस तरह करना चाहिये सो बताया। किन्तु समुदायरूप से भी तीन काल संबंधी समस्त कर्मों का परित्याग करके तथा मोह रहित होकर कर्मजनित विकारों से रहित आत्मा में लीन होने का अभ्यास करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

समस्तमित्येवमपास्य कर्मत्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे।।

शुद्धनिश्चयनय का अवलंबन लेकर संपूर्ण त्रिकालसंबंधी कर्मों को पूर्वोक्त रीति से छोड़कर और मोहरहित होकर मैं उन कर्मजनित विकारों से सर्वथा रहित चेतनामय आत्मस्वरूप में लीन हो रहा हूँ।

'मैं मतिज्ञानावरणाकर्म के फल का भोक्ता नहीं हूँ, केवल अपने चैतन्यस्वरूप का ही अनुभव करनेवाला हूँ।' इसी प्रकार 'मैं श्रुतज्ञानावरणकर्म के फल का भोक्ता नहीं हूँ, अवधिज्ञानावरणकर्म के फल का भी भोक्ता नहीं हूँ, मैं अपने चिदात्माका ही अनुभविता हूँ।' इत्यादि सभी मूलकर्म और उनकी उत्तरप्रकृतियों के विषय में विचार करके उनके विशेषरूप से और नाना प्रकार से प्रत्याख्यान करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

विगलन्तु कर्मविपतरुफलानिनाम भक्तिमन्तरेणैव।
संचेत्येऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानात्मानम्।।

मैं इस समय अपने अचल चैतन्यस्वरूप आत्मा का स्वयं ही अनुभव कर रहा हूँ। अतएव ये मेरे कर्मरूपी विषवृक्षों के फल विना भक्ति के ही झड जांय। और भी कहा है कि :-

निःशेषकर्मफलसंनसनान्ममैवं, सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तिवृत्तेः।
चैतन्यलक्ष्म भजो भूशमात्मतत्त्वं, कालावलीयमचलस्य वहत्ववनन्ता।।

मेरे संपूर्ण कर्मों के फल छूट चुके हैं, अथवा मैंने उनको छोड़ दिया है। इसीलिये अब मैं अन्य संपूर्ण क्रियाओं में विहार करने को भी छोड़ने में प्रवृत्त हुआ हूँ। अब मैं अन्य सब क्रियाओं में संचार करने से विमुख होकर केवल चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वक पुनः पुनः अथवा प्रचुरता से अनुभव करने की क्रिया में ही अचलतया लीन हो रहा हूँ। मेरी इस अचलता को अनंतकाल धारण करे, अर्थात् इस आत्मानुभवनरूप क्रिया में अनंतकाल तक अचल बना रहूँ। इसी तरह और भी कहा है कि :-

पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां, भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः।।

जो भव्य अपने आप ही तृप्त रहकर अपने ही परिणामों से पूर्वकाल में संचित पापकर्मरूपी विषवृक्षों के फलों का अनुभवन नहीं करता है वह तत्काल भी रमणीय और परिपाक में भी मधुर तथा कर्मों से रहित किन्तु सुखमय अपूर्व अवस्था को प्राप्त हुआ करता है।

भावार्थ :- कर्मों का फल - पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त होनेवाले सुख तत्काल ही रमणीय है, सेवन करते समय ही अच्छा मालूम होता है, किन्तु उसका परिपाक कटु ही है। क्योंकि उसका सेवन करने से जो नवीन कर्मों का बंध होता है उसके निमित्त से परलोक में तो दुःख की प्राप्ति होती ही है, किन्तु इस भव में भी उससे दुःखों की ही प्राप्ति हुआ करती है। यद्वा उसके साथ अनेक दुःखों का मिश्रण भी रहा ही करता है। अथवा वह स्वयं ही दुःखरूप है। इसके सिवाय वह कर्मों के उदय से प्राप्त होता है इसलिये पराधीन भी है। अतएव इस सुख के निमित्त से भव्यों को वास्तविक - तृप्ति नहीं हो सकती। जो इसके सेवन की अभिलाषा भी रखते हैं वे भी वस्तुतः सुखी नहीं हो सकते। जिस प्रकार कोई रोगी मनुष्य दाह से व्यथित होनेपर पानी के पीने की इच्छा तो रक्खे किन्तु वैद्य के कथनानुसार अपाय होने के भय से पीवे नहीं तो उसको वस्तुतः सुखी नहीं कह सकते। सुखी वही कहा जा सकता है कि जिसको उसके पीने की इच्छा ही नहीं है। जो किसीकी प्रेरणा से नहीं किन्तु स्वतः ही जल के विषय में तृप्त है। उसी प्रकार जो भव्य अपने पूर्वसंचित कर्मों के विषमय फलों की स्वतः तृप्त होने से नहीं भोगता वह वास्तविक - कर्मजनित सुखों से सर्वथा विपरीत आत्मस्वरूप - स्वाधीन जो सेवन करते समय भी मधुर मालूम पड़ती है और जिसका परिपाक भी मधुर है, एवं जिसके साथ में किसी दूसरे दुःख का रंचमात्र भी संसर्ग नहीं पाया जाता ऐसी अनंतसुखमय अवस्था को प्राप्त हुआ करता है।

और भी कहा है कि :-

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च,
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः।

पूर्ण कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां,
सानन्दं नाटयन्तः प्रसमरसमिताः सर्वकालं पिबन्तु।।

कर्मों से और उनके फलों से आत्मा सर्वथा भिन्न है, इस बात का निरंतर और अच्छी तरह से अनुभव करके जिन्होंने संपूर्ण अज्ञानचेतना का भले प्रकार नाश कर दिया है, तथा उसका नाश करके अपने परिणामों को जिन्होंने आत्मानुभव के रस की तरफ पूर्णतया लगा दिया है, और इसीलिये जो अपनी आत्मिक ज्ञानचेतना के विलासों का आनंदपूर्वक दर्शन किया करते हैं वे ही अंत में शांतरस का सर्वकाल पान किया करते हैं। इसी तरह और भी कहा है कि :-

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः पृथग्भूतं चिदात्मकम्।
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम्।।

यह चित्स्वरूप आत्मा कर्म और उसके फलों से सर्वथा भिन्न है। ऐसा नित्य ही अनुभवन करना चाहिये। क्योंकि उसी से शाश्वत आनिंदरूप पद की प्राप्ति हुआ करती है। समयसार में भी ऐसा ही कहा है कि :-

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसम्।
तं दोसं जो चेयह सो खलु आलोयणं चेया।।
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं च पडिक्कमइ जो य।
णिच्चं आलोचेइय सो हु चरित्तं हवइ चेया।।

पूर्वकृतकर्म शुभ और अशुभ इस तरह दो प्रकार का है। इसके और विशेष भेद अनेक हैं। जो भव्य इनके विषय में ये दोष हैं ऐसा विचार करता है उसीको आलोचन करनेवाला समझना चाहिये। जो नित्य ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और आलोचन किया करता है उसको सम्यक्चारित्र का अनुभविता या स्वामी समझना चाहिये।

उपर्युक्त संपूर्ण अर्थ का अभिप्राय आगे लिखी हुई कारिका में पाया जाता है। इसलिये उस कारिका का नित्य ही पाठ करना चाहिये।

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीवशुद्धम्।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धिः बन्धः।।

हमेशा ज्ञान का अनुभवन करने से अत्यंत शुद्धज्ञान प्रकाशित हुआ करता है। और अज्ञान का अनुभव करने से कर्मों का बंध होता है जिससे कि ज्ञान की शुद्धि होना रुक जाता है। इसी अभिप्राय का संग्रह निम्नलिखित कारिकाओं में भी पाया जाता है, अतएव इनका भी नित्य विचार करना चाहिये। यथा :-

सर्वथात्तं प्रतिक्रामन्नुद्यदालोचयन् सदा।
प्रत्याख्यान् भाविसदसत्कर्मात्मा वृत्तमस्ति चित्।।१।।

नैष्फल्याय क्षिपे त्रेधा कृतकारितसंमतम्।
कर्मस्वाच्चेतयेऽत्यन्तभिदोद्यद्रुन्ध उत्तरम्।।२।।
अहमेवाहमित्येवंज्ञानं तच्छुद्धये भजे।
शरीराद्यहमित्येवाज्ञानं तच्छेतृ वर्जये।।३।।

अर्थात् :- जो पूर्वसंचित पुण्यापुण्यरूप कर्मों का सर्वथा प्रतिक्रमण किया करता है, और उदय में आते हुओं की सदा आलोचना किया करता है, तथा आगामी होनेवाले कर्मों का भी प्रत्याख्यान किया करता है, उस चित्स्वरूप आत्मा को चारित्र समझना चाहिये। अतएव मैं मन वचन और काय के द्वारा कृत कारित और अनुमोदना कर्मों को निष्फल बनाने के लिये छोड़ता हूँ। तथा जो उदय में आ रहे हैं उनके विषय में मैं ऐसा विचार करता हूँ कि ये मेरी आत्मा से - सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार उत्तरकालीन कर्मों को भी मैं रोक शकता हूँ - नवीन कर्मों का संचय न हो अथवा संचितकर्मों का भविष्य में उदय न हो इसका प्रयत्न - प्रत्याख्यान करता हूँ। 'अर्ह - मैं इस शब्द के द्वारा जिसका बोध होता है वही मैं - आत्मा हूँ,' ऐसा समझने को ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यही ज्ञान आत्मा की शुद्धि का कारण है। और इसके प्रतिकूल शरीरादिक को ऐसा समझना कि ये मैं हूँ अज्ञान है। इस अज्ञान के निमित्त से आत्मा की शुद्धि नष्ट होती

है - अशुद्धि उत्पन्न होती है। अतएव आत्मशुद्धि के लिये मैं इस अज्ञान को छोड़ता हूँ और ज्ञान का सेवन करता हूँ।

भावार्थ :- बंध की कारणभूत समस्त या व्यस्त - संपूर्ण या एक एक करण क्रियाओं में प्रवृत्ति करके यह जीव योग और कषाय के वश होकर जिन कर्मों का संचय करता है वे संक्षेप में दो प्रकार के हैं। एक पुण्यरूप दूसरे पापरूप। सातावेदनीय शुभआयु (तीर्यगायु मनुष्यायु और देवायु) शुभनाम (मनुष्यगति देवगति पंचेन्द्रियजाति शरीर अङ्गोपाङ्ग निर्माण आदि) और शुभगोत्र इनको पुण्यकर्म कहते हैं। बाकी ज्ञानावरणागदिक प्रकृतियों को पापकर्म कहते हैं। इन सभी कर्मों का जो व्यक्ति उदय में आने से पहले ही 'मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु' 'मेरे ये कर्म मिथ्या हो जांय' इत्यादि उपायों से नित्य प्रतिक्रमण किया करता है - उनका निराकरण कर दिया करता है उसको चारित्रवान्, और इस तरह से प्रतिक्रमण करने को चारित्र समझना चाहिये। क्योंकि इस तरह नित्य प्रतिक्रमण करनेवाला ऐसा अनुभव किया करता है कि चित्स्वरूप मैं, मैं शब्द के द्वारा ही जाना जाता हूँ। और इस तरह की अनुभव प्रकृत्ति को ही चारित्र कहते हैं। क्योंकि अखण्ड ज्ञानस्वभाव निज आत्मस्वरूप में ही निरंतर रमण करने का नाम वस्तुतः चारित्र है अतएव संचितकर्मों के प्रतिक्रमण - नित्य निराकरण करने को चारित्र समझना चाहिये। इसीको ज्ञानचेतना भी कह सकते हैं। क्योंकि वह 'मैं अब स्वयं ही ज्ञानानुभवरूप हो रहा हूँ' इस तरह से अपने ज्ञानमात्रस्वभाव का ही अनुभव किया करता है।

इसी प्रकार वर्तमान में उदय में आनेवाले कर्मों के आलोचन करनेवाले और भविष्यत् कर्मों का निरोध करनेवाले को भी चारित्रस्वरूप ही समझना चाहिये। क्योंकि वह भी अपनी आत्मा से कर्मफलों और कर्मों का अत्यंत भिन्न रूप से अनुभव किया करता है। और समझता है कि मैं इन संपूर्ण परभावों से सर्वथारहित चिन्मात्र हूँ। इसका विशेष खुलासा ठक्कुर अमृतचंद्र आचार्य ने अपनी बनाई हुई समयसार की टीका में किया है। अतएव विशेष जिज्ञासुओं को यह विषय वहाँ पर देखना चाहिये।

नामादिक छह निक्षेपों की अपेक्षा से प्रत्याख्यान छह भागों में विभक्त है। इसका पाँच पद्यों में व्याख्यान करने की इच्छा से सबसे पहले उसका लक्षण बताते हैं :-

निरुद्धुमागो यन्मार्गच्छिदो निर्मोक्षुरुज्झति।
नामादीन् षडपि त्रेधा तत्प्रत्याख्यानमामनेत्।।६५।।

मुमुक्षु भव्य पापकर्मों का निवारण करने के लिये रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग के विरोधी - नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप छहों अयोग्य विषयों का जो परित्याग किया करता है उसीको प्रत्याख्यान कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

नामादीनामयोग्यानां षण्णां त्रेधा विवर्जनम्।
प्रत्याख्यानं समाख्यातमागाम्यागोनिषिद्धये।।

अर्थात् :- जिनसे पापकर्मों का संचय होता है ऐसे नामों का मन वचन और काय के द्वारा न स्वयं उच्चारण करना न दूसरों से कराना और न उसकी अनुमोदना करना इसको नामप्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा 'प्रत्याख्यान' इस नाममात्र को भी नामप्रत्याख्यान कहते हैं। द्रव्यों के ऐसे प्रतिरूप मन वचन काय से न बनाना न बनवाना और न उनकी अनुमोदना करना जो कि पापबंध के कारण है, और जिनसे कि मिथ्यात्वादिकी प्रवृत्ति हुआ करती है उसको स्थापनाप्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा प्रत्याख्यानरूप परिणत प्रतिबिंब को स्थापनाप्रत्याख्यान कहते हैं। किन्तु यह सद्भावरूप ही हो सकता है। जिन द्रव्यों के सेवन करने से पाप का बंध हो सकता है उनको सावद्य द्रव्य कहते हैं। ऐसे सावद्य द्रव्यों का तथा तप के लिये छोड़े हुए निरवद्यद्रव्यों का भी सेवन या भोजन न करना या न कराना और न उसकी अनुमोदना करना इसको द्रव्यप्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा प्रत्याख्यान-शास्त्र के जाननेवाले किन्तु अनुपयुक्त आत्मा के शरीर भावी और कर्मनोकर्मरूप तद्व्यतिरिक्त भेदों को भी द्रव्यप्रत्याख्यान कहते हैं। असंयमादि के कारणभूत क्षेत्र का त्याग करना, दूसरों से कराना या करते हुओं का अनुमोदन करना, इसको क्षेत्रप्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा जिस प्रदेश में प्रत्याख्यान किया गया हो उसको भी क्षेत्रप्रत्याख्यान कहते हैं। इसी प्रकार असंयमादिके कारणभूत काल को छोड़ना छुड़ाना और छोड़ते हुए का अनुमोदन करना इसको कालप्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा जिस समय में प्रत्याख्यान किया जाय उसको भी कालप्रत्याख्यान कहते हैं। तथा मिथ्यात्वादि भावों का मन वचन और

काय के द्वारा परित्याग करना कराना और करते हुए का अनुमोदन करना इसको भावप्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा प्रत्याख्यानशास्त्र के जाननेवाले उपयुक्त आत्मा उसके ज्ञान या प्रदेशों को भी भावप्रत्याख्यान कहते हैं।

इस श्लोक में निरोद्धुमागः ऐसा वाक्य जो लिखा है सो सामान्य निर्देश समझना चाहिये। इसीलिये इसमें आचारटीकाकार के किये हुए प्रत्याख्यान के लक्षण का भी संग्रह हो जाता है। आचार टीका में प्रत्याख्यान का लक्षण इस प्रकार बताया है कि भविष्यत् और वर्तमानकाल विषयक अतीचारों के दूर करने को प्रत्याख्यान कहते हैं। इसी बात - संग्रह को स्पष्ट करते हैं :-

तन्नाम स्थापनां तां तद्द्रव्यं तत्क्षेत्रमञ्जसां।
तं कालं तं च भावं न श्रयेन्न श्रेयसेस्ति यत्।।६६।।

जो निश्रेयस के साधन में उपयोगी नहीं हैं - रत्नत्रय के विरोधी हैं उन अयोग्य नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र और काल तथा भाव का मुमुक्षुओं को परमार्थतः - अंतरंग से सेवन न करना चाहिये। परमार्थ से कहने का प्रयोजन यह है कि उपसर्ग आदिके निमित्त से कदाचित् अयोग्य नामादि का उच्चारण या सेवन आदि हो जानेपर भी प्रत्याख्यान में हानि नहीं होती। क्योंकि उसका वहाँ पर सेवन भावपूर्वक नहीं होता।

जो मुमुक्षु योग्य नाम आदि का सेवन करता है वह परंपरा से अवश्य ही रत्नत्रय का आराधक है, इस बात को प्रकाशित करते हैं :-

यो योग्यनामाद्युपयोगपूतस्वान्तःपृथक् स्वान्तमुपैति मूर्तेः।
सदाऽस्पृशन्नप्यपराधगन्धमाराधयत्येव स वर्त्म मुक्तेः।।६७।।

जिनका सेवन करने से शुद्धोपयोग प्रकट हुआ करता है या हो सकता है उन योग्य नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव का सेवन करने से जिनका अंतरंग अत्यंत पवित्र हो चुका है, जो अपने आत्मस्वरूप को शरीर से सर्वथा भिन्न समझते हैं और जो स्वात्मोपलब्धि के विरोधी परद्रव्य ग्रहण का कभी रंचमात्र भी स्पर्श नहीं करते - अर्थात् जिनमें कभी

प्रमाद का लेशमात्र भी नहीं पाया जाता उन साधुओं को अवश्य ही मोक्ष के मार्ग का - रत्नत्रय का आराधन करनेवाला समझना चाहिये।

ऊपर नामादि के भेद से प्रत्याख्यान के छह भेद बताये हैं। किन्तु उनमें द्रव्यप्रत्याख्यान व्यवहार के लिये उपयोगी है। अतएव उसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए प्रत्याख्येय विषयों के विशेष भेद और प्रत्याख्यान करनेवाले का स्वरूप बताते हैं :-

सावद्येतरसच्चित्ताचित्तमिश्रोपधींस्त्यजेत्।
चतुर्धाहारमप्यादिमध्यान्तेष्वाज्ञयोत्सुकः।।६८।।

अर्हन्त देव की आज्ञा में उपयोग लगाकर और जैसी कुछ गुरुओं की आज्ञा हो उसके अनुसार उत्सुकता रखकर साधुओं को प्रत्याख्यान के आदि मध्य और अंत में सावद्य तथा निरवद्य दोनों ही प्रकार के सच्चित्त अचित्त और मिश्र परिग्रहों को तथा चार प्रकार के आहार का भी प्रत्याख्यान करना चाहिये।

भावार्थ :- जिनको छोड़ना चाहिये उनको प्रत्याख्येय कहते हैं। इस द्रव्यप्रत्याख्यान के प्रकरण में प्रत्याख्येय विषय मूल में दो हैं एक उपधि दूसरा आहार। उपधि नाम परिग्रह का है। वह दो प्रकार की होती है, एक सावद्य और दूसरी निरवद्य। जिसकी उत्पत्ति आदि हिंसादिक के निमित्त से है उसको सावद्य कहते हैं। और जिसमें हिंसादिक न हों उनको निरवद्य कहते हैं। इनमें भी प्रत्येक परिग्रह तीन तीन प्रकार की होती है, सच्चित्त, अचित्त और मिश्र। जिसमें चेतन - जीव का सद्भाव रहे उसको सच्चित्त और जिसमें उसका सद्भाव न रहे उसको अचित्त जिसमें चित्त और अचित्त दोनों ही रूप पाये जांय उसको मिश्र कहते हैं। आहार के चार भेद हैं जो कि पहले बताये जा चुके हैं। यहाँ पर यद्यपि चार प्रकार के आहार का त्याग करने के लिये कहा है तो भी अपि शब्द की सामर्थ्य से तीन प्रकार का भी आहार छोड़ना चाहिये, ऐसा भी अभिप्राय समझ लेना चाहिये। ये ही द्रव्यप्रत्याख्यान के प्रत्याख्येय - त्याज्य विषय हैं। इन्ही के छोड़ने को प्रत्याख्यान कहते हैं। और जो अर्हन्तदेव की आज्ञा का यथावत् श्रद्धान करके और गुरु के आदेशानुसार इनका प्रत्याख्यान का आदि मध्य और अंत में त्याग करता है उसको प्रत्याख्याता कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

आज्ञाज्ञापनयोर्दक्ष आदिमध्यावसानतः।
साकारमनाकारं च सुसंतोषोनुपालयन्।।
प्रत्याख्याता भवेदेष प्रत्याख्यानं तु वर्जनम्।
उपयोगि तथाहारः प्रत्याख्येयं तदुच्यते।।

इसके सिवाय मुमुक्षुओं को अपनी अपनी शक्ति के अनुसार अर्थात् शक्ति को न तो छिपाकर के और न तो उसका उल्लंघन ही करके अनेक प्रकार से उपवासादि करके अवश्य ही प्रत्याख्यान करने का उपदेश देते हैं :-

अनागतादिदशभिद् विनयादिचतुष्कयुक्।
क्षपणं मोक्षुणा कार्यं यथाशक्ति यथागमम्।।६९।।

अपने बल और वीर्य का तथा आगम का अतिक्रमण न करके मुमुक्षुओं को विनयादिक चार प्रकार का और अनागतादिक दश प्रकार का प्रत्याख्यान करना चाहिये। आगम में प्रत्याख्यान के जो अनागतादिक दश भेद गिनाये हैं वे इस प्रकार हैं :-

अनागतमतिक्रान्तं कोटीयुतमखण्डितम्।
साकारं च निराकारं परिमाणं तथेतरत्।।
नवमं वर्तनीयातं दशमं स्यात् सहेतुकम्।
प्रत्याख्यानविकल्पोयमेव सूत्रे निरुच्यते।।

जिन उपवासादिकों को चतुर्दशी आदि तिथियों में करना चाहिये उनको उन तिथियों में न करके उनके पहले ही त्रयोदशी आदि तिथियों में किया जाय तो उनको अनागत कहते हैं। और उस दिन न करके यदि उसके अनंतर अमावस्या पूर्णिमा या प्रतिपदा आदि तिथियों में किया जाय तो उनको अतिक्रान्त कहते हैं। कल स्वाध्याय का समय बीत जानेपर यदि शक्ति होगी तो उपवास करूँगा नहीं तो नहीं करूँगा, ऐसा संकल्प करके जो उपवास किया जाता है उसको कोटीयुत कहते हैं। जिस पाक्षिकादिक अवसर पर अवश्य ही उपवास करना चाहिये उस समय पर किये गये उपवास को अखण्डित कहते

हैं। सर्वतोभद्र कनकावली आदि को जो उपवासों के भेद बताये हैं उनको विधिपूर्वक और भेदसहित पालन किये जानेपर साकार उपवास कहते हैं। जो अपनी इच्छानुसार उपवास किया जाता है उसको निराकार कहते हैं। एक दिन का दो दिन का तथा सोलह प्रहर का चौवीस प्रहर का बत्तीस प्रहर का इत्यादि काल की मर्यादा करके जो उपवास किया जाता है उसको परिमाण कहते हैं। जीवनपर्यंत के लिये जो चार या तीन आदि प्रकार के आहारादि का त्याग करना उसको अपरिमाण या अपरिशेष उपवास कहते हैं। वन नदी आदि में से निकलकर जानेपर या कोई और भी ऐसे ही कारण मिलने पर अर्थात् मार्ग तय करने के निमित्त से जो किया जाय उस उपवास को वर्तनीयात कहते हैं। जो किसी कारणविशेष से - उपसर्ग आदि निमित्तों की अपेक्षा से किया जाय उसको सहेतुक कहते हैं। इस प्रकार उपवास के और उसके संबंध से प्रत्याख्यान के भी दश भेद हैं। इसी प्रकार विनय आदि की अपेक्षा से, जिनके कि निमित्त से उसमें शुद्धि प्राप्त हुआ करती है, प्रत्याख्यान के चार भेद हैं। क्योंकि उसकी शुद्धि के कारण भी चार हैं - विनय अनुवाद अनुपालन और भाव। विनय शब्द का अर्थ पहले लिखा जा चुका है। उसके पाँच भेदों में से यहाँ पर मोक्षमार्ग विषयक ही विनय ग्रहण करना चाहिये। मोक्षाश्रय विनय के भी पाँच भेद हैं : दर्शनाश्रय, ज्ञानाश्रय, चारित्राश्रय, तपाश्रय और उपचाराश्रय। इनमें से आदि के चार भेदों को कृतिकर्म और पाँचवें भेद को औपचारिक कहते हैं। इन विनयों के निमित्त से प्रत्याख्यान की शुद्धि हुआ करती है। अतएव प्रत्याख्यान की विशुद्धि की इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओं को इनका यथाशक्ति और आगम के अनुकूल पालन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

कृतिकर्मोपचारश्च विनयो मोक्षवर्त्मनि।
पञ्चधा विनयाच्छुद्धं प्रत्याख्यानमिदं भवेत्।।

जिस तरह गुरु ने निरूपण किया है उसी तरह - उसमें स्वर पद मात्रा अक्षर आदि की भी अशुद्धि न करके उनके वचनों का यथावत् कथन करने को अनुवाद कहते हैं। इस प्रकार गुरु वाक्यों का अनुकथन करने से भी प्रत्याख्यान की शुद्धि हुआ करती है। अतएव मुमुक्षुओं को इस आवश्यक की शुद्धि के लिये गुरुओं के कहे मूजब पाठ भी करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

गुरोर्वचोनुभाष्यं चेच्छुद्धं स्वरपदादिना।
प्रत्याख्यानं तथाभूतमनुवादामलं भवेत्।।

अर्थात् गुरु के वचन का अनुवाद करना हो तो स्वर पद आदि की अपेक्षा शुद्ध ही करना चाहिये। ऐसा करने से जो प्रत्याख्यान हुआ करता है उसको अनुवादामल कहते हैं।

गुरु की आज्ञानुसार यथावत् आचरण करने को, श्रम आतंक उपसर्ग दुर्भिक्ष आदि के निमित्त से अथवा वन उपवन आदिमें रहकर भी आज्ञानुकूल आचरण का भंग न करने को अनुपालन कहते हैं, ऐसा करने से भी प्रत्याख्यान की शुद्धि हुआ करती है। अतएव भव्यों को इसका भी पालन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

श्रमांतकोपसर्गेषु दुर्भिक्षे काननेपि वा।
प्रपालितं न यद्भग्नमनुपालनयाऽमलम्।।

इसी प्रकार प्रत्याख्यान की चौथी शुद्धि भावों की अपेक्षा से बताई है। भाव नाम परिणामों का है। जो प्रत्याख्यान रागद्वेषादिरूप अंतरंग परिणामों से दूषित नहीं होता उसको भावशुद्ध कहते हैं। यथा :-

रागद्वेषद्वयेनान्तर्यद्भवेन्नैव दूषितम्।
विज्ञेयं भावशुद्धं तत् प्रत्याख्यानं जिनागमे।।

शरीर और इन्द्रियादि के निमित्त से जो अशुभकर्म का संचय हुआ करता है उसके दूर करने को, अथवा वह जिन उपवासादि उपायों से दूर किया जाता है उनको भी प्रत्याख्यान कहते हैं। उपाय अनेक हैं अतएव इस प्रत्याख्यान के भी अनेक भेद हैं। किन्तु इसका पालन करना आवश्यक है। इसलिये मुमुक्षुओं को अपनी अपनी शक्ति के अनुसार और आगम के अनुकूल इसका पालन अवश्य ही करना चाहिये।

इस प्रकार षडावश्यकों में से प्रत्याख्यान नाम के पाँचवें भेद का व्याख्यान करके अब क्रमानुसार छठ्ठे भेद कायोत्सर्ग का सात पद्यों में वर्णन करना चाहते हैं। उसमें सबसे

पहले कायोत्सर्ग का स्वरूप क्या है ? उसका पालन करनेवाला कैसा होना चाहिये ? वह क्यों किया जाता है ? और वह कितने प्रकार का है ? इन चार बातों का निर्णय करने के लिये क्रम से उसका लक्षण, प्रयोक्ता - स्वामी और हेतु - साधन तथा भेद - विधान इन चार बातों का निर्देश करते हैं :-

मोक्षार्थी जितनिद्रकः सुकरणः सूत्रार्थविद्वीर्यवान्,
शुद्धात्मा बलवान् प्रलम्बितभुजायुग्मो यदास्तेऽचलम्।
ऊर्ध्वज्ञुश्चतुरंगुलान्तरसमाग्रांघ्रिर्निषिद्धाभिधाद्या, -
चारात्ययशोधनादिह तनूत्सर्गः स षोढा मतः।।७०।।

दोनों पैरों में चार अंगुल का अंतर रखकर एक सीध में उनको इस तरह से रखना कि जिसमें एक पैर दूसरे पैर से आगे पीछे न हो, और जंघाओं को भी ऊपर की तरफ सीधा करके तथा दोनों बाहुओं को नीचे की तरफ लटकाकर निश्चल खड़े रहने को [१]कायोत्सर्ग कहते हैं। अथवा काय शब्द से शरीरसंबंधी ममत्व भी कहा जाता है। अतएव शरीर के विषय में ममत्व न रखने को भी कायोत्सर्ग कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

ममत्वमेव कायस्थं तात्स्थ्यात् कायोऽभिधीयते।
तस्योत्सर्गस्तमूत्सर्गो जिनबिम्बाकृतेर्यतेः।।

अर्हन्त भगवान की मूर्ति के समान निर्ग्रन्थ आकृति - मुद्रा धारण करनेवाला संयमी जो शरीर के ममत्व को छोड़ता है उसके इस कार्य को ही कायोत्सर्ग कहते हैं। क्योंकि काय शब्द से आचार्यों ने तद्विषयक ममत्व ही लिया है। इस कायोत्सर्ग को धारण करने का अधिकारी वह मुमुक्षु ही हो सकता है जो कि निद्रा को जीतनेवाला हो, जिसकी क्रियाएँ और परिणाम प्रशस्त हों, जो आगम के अर्थ को जाननेवाला हो, जिसमें वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाली स्वाभाविक शक्ति और आहारादिके निमित्त से संचित

१ - बोसरिदबाहुजुयलो चतुरंगुलमंतरेण समपादं। सव्वंगचलणरहियो काओस्सग्गो विसुद्धो हु।।

होनेवाली वैभाविक शक्ति मौजूद हो, और जिसकी आत्मा सम्यक्त्वादिके निमित्त से शुद्ध हो चुकी है अर्थात् जो भव्य होने के सिवाय चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती है। एवं जिसके परिणामों में विशुद्धि पाई जाती है। जैसा कि कहा भी है कि :-

मोक्षार्थी जितनिद्रो हि सूत्रार्थज्ञः शुभक्रियः।
बलवीर्ययुतः कायोत्सर्गीः भावविशुद्धिभाक्।।

इस कायोत्सर्ग का प्रयोजन अतीचारों का शोधन करना है। जिन नाम आदिकों का उच्चारण आदि करना आगम में निषिद्ध हैं उनका अनुष्ठानादि करने से उत्पन्न होनेवाले अतीचारों को इस कायोत्सर्ग के द्वारा दूर किया जाता है। वे निषिद्ध नामादिक छह हैं :- नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव। रूके कठोर असभ्य मर्मभेदी आदि शब्द निषिद्ध नाम कहे जाते हैं। इसी प्रकार स्थापना आदि के विषय में भी समझना चाहिये। इनके सेवन करने से अथवा और भी किसी निमित्त से जो दोष लगते हैं उनका संशोधन करना कायोत्सर्ग का हेतु हैं। इसके सिवाय कायोत्सर्ग करने से तप की वृद्धि और कर्मों की निर्जरा भी हुआ करती है। अतएव ये भी उसके हेतु हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

आगमशुद्धितपोवृद्धिकर्मनिर्जरणादयः।
कायोत्सर्गस्य विज्ञेया हेतवो व्रतवर्तिना।।

ऊपर निषिद्ध नामादिक छह भेदों के नाम लिखे हैं। उनके अनुष्ठान से लगे हुए दोष कायोत्सर्ग के द्वारा दूर होते हैं, अतएव कायोत्सर्ग के भी छह भेद हैं। सावद्य नामों के उच्चारणादि से लगे हुए दोषों की शुद्धि के लिये कायोत्सर्ग किया जाय उसको अथवा कायोत्सर्ग इस शब्द को ही नामकायोत्सर्ग कहते हैं। मिथ्यात्व की वर्धक या जनक अथवा पाप की उत्पादक स्थापना के निमित्त से लगे हुए दोषों का उच्छेद करने के लिये जो किया जाय उसको अथवा कायोत्सर्गरूप परिणत प्रतिबंब को स्थापना कायोत्सर्ग कहते हैं। सावद्य द्रव्य का सेवन करने से लगे हुए अतीचारों को दूर करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाय उसको अथवा जिसमें कायोत्सर्ग का वर्णन किया गया है ऐसे

शास्त्र के जाननेवाले अनुपयुक्त आत्मा को, यद्वा उस आत्मा के शरीर को या भाविपर्याय को, अथवा कर्मनोकर्मरूप तद्व्यतिरिक्त को द्रव्यकायोत्सर्ग कहते हैं। सावद्य क्षेत्र का सेवन करने से लगे हुए दोषों को नष्ट करने के लिये जो किया जाय उसको अथवा जहाँ पर कायोत्सर्ग किया गया हो उस स्थान को क्षेत्र कायोत्सर्ग कहते हैं। इसी प्रकार सावद्य समय के सेवन से संचित हुए दोषों का ध्वंस करने के लिये जो किया जाय उसको अथवा जिस समय में कायोत्सर्ग का परिणमन हो उस समय को काल कायोत्सर्ग कहते हैं। मिथ्यात्वादि परिणामरूप अतीचारों का परिहार करने के लिये किये गये कायोत्सर्ग को अथवा जिसमें कायोत्सर्ग का वर्णन किया गया है ऐसे शास्त्र के जाननेवाले उपयुक्त आत्मा को या उस ज्ञान को अथवा उस जीव के प्रदेशों को भावकायोत्सर्ग कहते हैं।

कायोत्सर्ग के काल का प्रमाण सामान्यतया तीन प्रकार का हो सकता है, जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम। किन्तु इनका प्रमाण कितना कितना है और किस तरह नापा जा सकता है सो बताते हैं :-

कायोत्सर्गस्य मात्रान्तर्मुहूर्तोऽल्पा समोत्तमा।
शेषा गाथात्र्यंशचिन्तात्मोच्छ्वासैर्नैकधा मिता।।७१।।

कायोत्सर्ग का जघन्य काल अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट एक वर्ष, और मध्यम अनेक प्रकार का है। एक समय अधिक आवली प्रमाणकाल से लेकर एक समय कम मुहूर्त प्रमाण तक के काल को अंतर्मुहूर्त कहते हैं। यह कायोत्सर्ग का जघन्य काल है। इससे ऊपर - अधिक और एक वर्ष से कम दो तीन आदि मुहूर्त या प्रहर दिन पक्ष मास आदिक, कार्य काल द्रव्य क्षेत्र भाव आदि की अपेक्षा से कायोत्सर्ग के मध्यमकाल के भेद अनेक हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

अस्ति वर्ष समुत्कृष्टो जघन्योन्तर्मुहूर्तगः।
कायोत्सर्गः पुनः शेषा अनेकस्थानगा मताः।।

कायोत्सर्ग के काल का यह प्रमाण उन उच्छ्वासों के द्वारा गिना जा सकता है

जिनमें कि 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि गाथा के तीन अंशो में से प्रत्येक अंश का चिंतवन किया जाता है।

अर्थात् णमो अरिहंताणं इत्यादि पंचनमस्कार मंत्ररूप गाथा के तीन अंश हैं। णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं इन दो नमस्कार पदों का एक अंश, और णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं इन दो नमस्कारा पदों का दूसरा अंश, इसी प्रकार णमो लोए सव्वसाहूणं इस एक नमस्कार पद का तीसरा एक अंश इनमें से एक एक अंश का चिंतवन करने में जो प्राण वायु भीतकर जाती है और बाहर निकलती है उतने में एक उच्छ्वास हो जाता है। पूर्ण गाथा का एक बार चिंतवन करने में तीन उच्छ्वास और नौ बार चिंतवन करने में सताईस उच्छ्वास लगते हैं। अतएव इसी हिसाब से सर्वत्र कायोत्सर्ग काल का प्रमाण मापा जा सकता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमे।
सन्ति पञ्चनमस्कारे नवधा चिन्तिते सति।।

भावार्थ :- नौ बार पंच नमस्कार मंत्र का चिंतवन करने में सत्ताईस उच्छ्वास लगते हैं। यदि इस विधि से इस मंत्र का चिंतवन किया जाय तो यही मंत्र समस्त संसार के संहार में समर्थ हो सकता है; इसीसे भववन का उच्छेदन हो सकता है।

दैनिक रात्रिक या पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण वा कायोत्सर्ग के समय कितने कितने उच्छ्वास होने चाहिये सो बताते हैं :-

उच्छ्वासाः स्युस्तनूत्सर्गे नियमान्ते दिनादिषु।
पञ्चस्वष्टशतार्धत्रिचतुःपञ्चशतप्रमाः।।७२।।

दिन रात्रि पक्ष चतुर्मास और संवत्सर इन पाँच अवसरों पर वीरभक्ति करते समय जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसमें क्रम से एकसौ आठ, चौअन, तीनसौ, चारसौ और पाँचसौ उच्छ्वास हुआ करते हैं। अर्थात् आह्निक कायोत्सर्ग में एकसौ आठ, रात्रिसंबंधी कायोत्सर्ग में चौअन, पाक्षिक में तीनसौ, चातुर्मासिक में चारसौ, और सांवत्सरिक कायोत्सर्ग में पाँचसौ

उच्छ्वास हुआ करते हैं। रजैसा कि कहा भी है कि :-

आह्निकेष्टशतं रात्रिभवेर्ध पाक्षिके तथा।
नियमान्तेस्ति संस्थेयमुच्छ्वासानां शतत्रयम्।।
चतु:पञ्चशतान्याहुश्चतुर्मासाब्दसंभवे।
इत्युच्छ्वासास्तनूत्सर्गे पञ्चस्थानेषु निश्चिता:।।

मूत्र पुरीष आदि का उत्सर्ग करके जो प्रतिक्रमण किया जाता है उस समय अथवा अर्हत्शय्या अथवा साधुशय्या की वंदना करते समय यद्वा स्वाध्याय की आदि में जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसमें कितने कितने उच्छ्वास हु करते हैं सो बताते हैं :-

मूत्रोच्चाराध्वभक्तार्हत्साधुशय्याभिवन्दने।
पञ्चाग्रा विंशतिस्तेस्यु:स्वाध्यायादौ च सप्तयुक्।।७३।।

मुत्र का या पुरीष का उत्सर्ग करके, एक ग्राम से चलकर दूसरे ग्राम में पहुँचने पर या भोजन के पीछे, अथवा अर्हच्छय्या या साधुशय्या की वंदना करते समय जो कायोत्सर्ग किये जाते हैं उनमें पच्चीस पच्चीस उच्छ्वास हुआ करते हैं। इसी प्रकार स्वाध्याय की आदि में या अंत में नित्यवंदना के समय अथवा तत्काल मन में विकार उत्पन्न होनेपर जो कायोत्सर्ग किया जाता है उनमें सत्ताईस सत्ताईस उच्छ्वास होने चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

ग्रामान्तरेऽन्नपानेर्हत्साधुशय्याभिवन्दने।
प्रस्त्रावे च तथोच्चारे उच्छ्वासा: पञ्चविंशति:।।
स्वाध्यायोद्देशनिर्देशे प्रणिधानेथ वन्दने।
सप्तविंशतिरुच्छ्वासा: कार्योत्सर्गेभिसंमता:।।

किसी भी ग्रंथ के प्रारंभ करने को उद्देश और उस प्रारब्ध ग्रंथ की समाप्ति को

निर्देश कहते हैं। तथा मानसिक विकार या तत्क्षण उत्पन्न हुए अशुभ परिणामों को प्रणिधान कहते हैं। जिनेन्द्र भगवान के निर्वाणकल्याणक या समवसरण या केवलज्ञान की उत्पत्ति अथवा दीक्षाकल्याणक वा जन्मकल्याणक के स्थान को अर्हच्छय्या और इसी प्रकार श्रमणों के निषिद्धिका स्थानों को साधुशय्या कहते हैं। इसके सिवाय सूत्र में यह वचन जो कहा है कि :-

जन्तुघातानृतादत्तमैथुनेषु परिग्रहे।
अष्टोत्तरशतोच्छ्वासाः कायोदत्सर्गाः प्रकीर्तिताः।।

अर्थात् - प्राणीपीड़न अनृतवचन अदत्तग्रहण अब्रह्म या मूर्च्छारूप परिणामों के हो जानेपर एकसौ आठ उच्छ्वासयुक्त कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये। सो यह कथन भी च शब्द से संग्रहीत हो जाता है।

व्रतारोपणी आदि प्रतिक्रमणाओं के समय कायोत्सर्ग के उच्छ्वासों की संख्या कितनी होनी चाहिये सो बताते हैं :-

या व्रतारोपणी सार्वातीचारिक्यातिचारिकी।
औत्तमार्थी प्रतिक्रान्तिः सोच्छ्वासैराह्निकी समा।।७४।।

व्रतारोपणी सर्वातीचारी आतीचारिकी और औत्तमार्थी प्रतिक्रमणाओं के उच्छ्वास आन्हिकी प्रतिक्रमणा के समान ही हुआ करती है। अर्थात् जिस प्रकार दैवसिक प्रतिक्रमणा करने में एकसौ आठ उच्छ्वासों के द्वारा कायोत्सर्ग धारण किया जाता है उसी प्रकार व्रतारोपणी आदि प्रतिक्रमणाओं में भी एकसौ आठ उच्छ्वासों का ही कायोत्सर्ग हुआ करता है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग के उच्छ्वासों की संख्या बताकर अब यह बताते हैं कि दिनरात में स्वाध्यायादि के विषय में कुल कायोत्सर्ग कितने कितने हुआ करते हैं :-

स्वाध्याये द्वादशेष्टा षड्वन्दनेष्टौ प्रतिक्रमे।
कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचराः।।७५।।

स्वाध्याय के बारह, वंदना के छह, प्रतिक्रमण के आठ और योगभक्ति के दो, इस तरह मिलाकर दिनरात में अठ्ठाईस कायोत्सर्ग हुआ करते हैं। इनका विशेष विभाग आगे चलकर लिखेंगे।

कर्मों की सातिशयनिर्जरारूप फल प्राप्त करने के लिये कायोत्सर्ग करते समय ध्यान और उपसर्ग तथा परीषहों का सहन विशेषतया करना चाहिये, ऐसा उपदेश देते हैं :-

व्युत्सृज्य दोषान् निःशेषान् सद्ध्यानी स्यात्तनूत्सृतौ।
सहेताप्युपसर्गोर्मीन् कर्मैवं भिद्यतेतराम्।।७६।।

कायोत्सर्ग में प्रवृत्त हुए मुमुक्षुओं को ईर्यापथादिक अतीचार अथवा कायोत्सर्गसंबंधी समस्त दोष जिनका कि आगे चलकर वर्णन किया जायगा अच्छी तरह से छोड़कर के विशेषतया प्रशस्तध्यान के करने में ही प्रवृत्त होना चाहिये। अर्थात् आलस्य को छोड़कर धर्म्य यद्वा शुक्लध्यान ही सेवन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

कायोत्सर्गस्थितो धीमान् मलमीर्यापथाश्रयम्।
निःशेषं तत्समानीय धर्म्यं शुक्लं च चिन्तयेत्।।

अर्थात् कायोत्सर्ग के करनेवाले विवेकी साधुओं को ईर्यापथ दोषों को निःशेष करके धर्म्य वा शुक्लध्यान का चिंतवन करना चाहिये। इतना ही नहीं बल्कि कायोत्सर्ग करने में यदि किसी भी तरह का उपसर्ग या परीषह आकर उपस्थित हो जाय तो उसको भी अच्छी तरह सहन करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से ही ज्ञानावरणादिक दुर्वार कर्मों का प्रकर्षतया विश्लेषण - निर्जरण हो सकता है। अतएव निर्जरा के अभिलाषियों को कायोत्सर्ग करते समय परीषह और उपसर्गो को भी अवश्य ही सहन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

उपसर्गस्तनूत्सर्ग श्रितस्य यदि जायते।
देवमानवतिर्यग्भ्यस्तदा सह्यो मुमुक्षुणा।।

अर्थात् कायोत्सर्ग करने में देव मनुष्य या तिर्यंचों के द्वारा किसी तरह का उपसर्ग आदि उपस्थित हो तो वह मुमुक्षुओं को सहना चाहिये। क्योंकि :-

साधोस्तं सहमानस्य निष्कम्पीभूतचेतसः।
पतन्ति कर्मजालानि शिथिलीभूय सर्वतः।।
यथाङ्गानि विभिद्यन्ते कायोत्सर्गविधानतः।
कर्माण्यपि तथासद्यः संचितानि तनूभृताम्।।
यमिनां कुर्वतां भक्त्या तनूत्सर्गमदूषणम्।
कर्म निर्जीर्यते सद्यो भवकोटिभ्रमार्जितम्।।

जो साधु निष्कंप होकर - चित्त में जरा भी चलायमान न होकर इन उपसर्गों या परीषहों को सहन करता है उसके संपूर्ण कर्मजाल शिथिल - जीर्ण होकर झड़ जाते हैं। जिस प्रकार कायोत्सर्ग करने से शरीर में विश्लेषण हो जाता है - शरीर के स्कन्ध ढीले पड़कर निर्जीर्ण हो जाते हैं उसी प्रकार प्राणियों के संचितकर्म भी तत्काल निर्जीर्ण हो जाया करते हैं। अतएव जो संयमी इस कायोत्सर्ग का भक्तिपूर्वक और अतीचाररहित पालन करता है उसके कोटयों भवों में भ्रमण करने से भी संचित हुए कर्म क्षणमात्र में ही निर्जीर्ण हो जाया करते हैं।

जो योगी नित्य या नैमित्तिक क्रियाकाण्ड का अनुष्ठान करने में सदा दृढ़ प्रयत्न करता है वह परंपरया अवश्य ही मोक्ष का लाभ लिया करता है, ऐसा उपदेश देते हैं :-

नित्येनेत्थमथेतरेण दुरितं निर्मूलयन् कर्मणा
योऽभ्यासेन विपाचयत्यमलयन् ज्ञानं त्रिगुप्तिश्रितः।
स प्रोद्बुद्धनिसर्गशुद्धपरमानन्दानुविद्धस्फुर
द्विश्वाकारसमग्रबोधशुभगं कैवल्यमास्तिघ्नुते।।७७।।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है तदनुसार नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं के द्वारा पापकर्मों का निर्मूल निरसन करते हुए और मन वचन काय के व्यापारों का भले प्रकार निग्रह करके - तीनों गुप्तियों के आश्रय से ज्ञान को निर्मल बनाते हुए जो अभ्यास पुनः पुनः प्रवृत्ति के द्वारा अपने स्वपरावभासी ज्ञान को परिपक्व बनाता है वह उस कैवल्य - निर्वाण को प्राप्त कर लेता है जो कि पुनः जन्ममरण के अभाव से अभिव्यक्त स्वाभाविक निर्मलता से युक्त और परमोत्कृष्ट शांतिरूप प्रमोद से अनुविद्ध - पृथक्त्या अनुभव में आनेवाले अर्थात् दूसरे संपूर्ण द्रव्यों में मिला हुआ रहने पर भी अन्य द्रव्यरूप जिसका परिणमन अशक्य है, और इसीलिये जो अपने इस अशक्य विवेचन के द्वारा भिन्नरूप से अनुभव में आता है, एवं जिसमें समस्त लोक और अलोक का स्वरूप प्रकाशमान रहता और संपूर्ण द्रव्य तथा उनकी भूत भविष्यत् वर्तमान सब पर्याय विषय हुआ करती हैं ऐसे परिपूर्ण ज्ञान के द्वारा अत्यंत रमणीय है।

भावार्थ :- नित्य नैमित्तिक क्रियाओं के अनुष्ठान से ही ज्ञान निर्मल और परिपक्व हुआ करता है जिससे कि कैवल्य की प्राप्ति हुआ करती है। अतएव योगियों को नित्य नैमित्तिक कर्मकाण्ड में अवश्य ही प्रवृत्त होना चाहिये और उनका पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत्।।

अर्थात् नित्य नैमित्तिक क्रियाओं के द्वारा पाप का क्षय करते हुए ज्ञान को निर्मल बनाना चाहिये। तथा बार बार इस तरह की प्रवृत्ति करके अपने इस ज्ञान के द्वारा परिपक्व कर देना चाहिये। क्योंकि :-

अभ्यासात् पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः।

इस पुनः पुनः प्रवृत्ति के द्वारा ज्ञान के परिपक्व हो जाने से ही मनुष्य कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार आवश्यकों का प्रकरण समाप्त हुआ।

अब नित्य नैमित्तिक कर्मकाण्ड में से पूर्वोक्त षडावश्यकों के सिवाय जो कृतिकर्म बाकी रह जाता है उसका भी संग्रह करते हुए मुमुक्षुओं को उसका सेवन करने के लिये प्रेरित करते हैं :-

योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनति।
विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत्।।७८।।

संयम का ग्रहण करते समय जो निर्ग्रंथरूप से पुनः उत्पन्न हुआ है और इसीलिये जो बाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रहों की चिन्ता से सर्वथा रहित है ऐसे परम निःश्रेयस के अभिलाषी संयमी को योग्य समाधि के लिये सहकारी निमित्त कारण - काल आसन स्थान मुद्रा आवर्त और शिरोनतिरूप कृतिकर्म - पापकर्म के उच्छेदन करनेवाले अनुष्ठान का बत्तीस दोषों को टालकर और विनयपूर्वक सेवन करना चाहिये।

पहले वंदना के प्रकरण में उसकी विधि बताते समय दिन का आदि मध्य और अंत इस तरह वंदना के लिये तीन संधिकाल बता चुके हैं। किन्तु वहाँ पर काल का परिमाण नहीं बताया है। अतएव यहाँ पर नित्य देववंदना के विषय में तीनों काल का परिमाण बताते हैं :-

तिस्रोऽह्नोन्त्या निशश्चाद्या नाड्यो व्यत्यासिताश्च ताः।
मध्याह्नस्य च षट्कालास्त्रयोमी नित्यवन्दने।।७९।।

तीन संधिकालों की अपेक्षा से वंदना भी तीन प्रकार की होती है। पूर्वाह्नवंदना अपराह्न-वंदना और मध्याह्नवंदना। इन कालों का परिमाण इस प्रकार है - दिन की आदि की तीन घड़ी और रात्रि की अंत की तीन घड़ी इस प्रकार मिलाकर छह घडी काल पूर्वाह्नवंदना का है। तथा दिन की अंत की तीन घड़ी और रात्रि की अंत की तीन घड़ी इस तरह मिलाकर छह घड़ी काल अपराह्नवंदना का है, इसी प्रकार मध्याह्न से तीन घड़ी पहले का और तीन घड़ी पीछे का मिलाकर छह घडी काल मध्याह्नवंदना का है। यह संख्या

वंदनाओं का उत्कृष्टकाल है, जैसा कि कहा भी है कि :-

मुहूर्तत्रितयं कालः संध्यानां त्रितये बुधैः।
कृतिकर्मविधेर्नित्यः परो नैमित्तिको मतः।।

अर्थात् कृतिकर्म की नित्य की विधि के काल का उत्कृष्ट परिमाण तीनों संध्याओं में तीन तीन मुहूर्त हैं।

योग्य काल का स्वरूप बताकर अब क्रमानुसार योग्य आसान का स्वरूप बताते हैं :-

वन्दनासिद्धये यत्र येन चास्ते तदुद्यतः।
तद्योग्यमासनं देशः पीठं पद्मासनाद्यपि।।८०।।

वंदना की सिद्धि के लिये उद्यत हुआ साधु जहाँ पर वंदना के लिये बैठता है अथवा जिसके द्वारा वंदना में प्रवृत्त होता है उस प्रदेश, पीठ (सिंहासन) या पद्मासनादिक को योग्य आसन कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

आस्यते स्थीयते यत्र येन वा वन्दनोद्यतैः।
तदासनं विबोद्धव्यं देशपद्मासनादिकम्।।

वंदना कर्म करने के लिये प्रवृत्त हुए साधु जहाँ पर या जिसके द्वारा वंदना के लिये बैठें उस देश या पद्मासनादिक का नाम आसन है।

प्रदेश पीठ और पद्मासनादिकमें से वंदना के लिये प्रवेश कैसा होना चाहिये सो बताते हैं :-

विविक्तः प्रासुकस्त्यक्तः संक्लेशक्लेशकारणैः।
पुण्यो रम्यः सतां सेव्यःश्रेयो देश समाधिचित्।।८१।।

मुमुक्षुओं को समाधि के साधक और वर्धक ऐसे प्रदेश में वंदना करनी चाहिये जो कि शुद्ध एकान्त तथा प्रासुक हो अर्थात् जो अप्रशस्त लोक और संमूर्छनजीवों से

सर्वथा रहित है, जहाँ पर संक्लेश के कारण रागद्वेषादिक या क्लेश - कष्ट के कारण परीषह उपसर्ग नहीं पाये जाते, जो किसीके निर्वाण आदि कल्याणक के द्वारा पवित्र हो चुका है, और जो रमणीय तथा प्रशस्तध्यान का वर्धक है।

भावार्थ :- समाधि के बाधक कारणों या दोषों से रहित और साधक कारणों या उपयुक्त गुणों से युक्त स्थान का ही साधुओं को वंदना के लिये आश्रय लेना चाहिये। अतएव आगम में वर्ज्य और उपादेय इस तरह दो प्रकार के स्थान बताये हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

संसक्तः प्रचुरच्छिद्रस्तृणपश्चादिदूषितः।
विक्षोभको हृषीकाणां रूपगंधरसादिभिः।।
परीषहकरो दंशशीतपातातपादिभिः।
असंबद्धजनालापः सावद्यारम्भगर्हितः।।
आर्द्रीभूतो मनोऽनिष्टः समाधाननिषूदकः।
योऽशिष्टजनसंचारः प्रदेशं तं विवर्जयेत्।।
विविक्तः प्रासुकः सेव्यः समाधानविवर्धकः।
देवर्जुदृष्टिसंपातवर्जितो देवदक्षिणः।।
जनसंचारनिर्मुक्तो ग्राह्यो देशो निराकुलः।
नासन्नो नातिदूरस्थो सर्वोपद्रववर्जितः।।

जहाँ पर अनेक लोगों का संसर्ग पाया जाता हो, जहाँ सर्प विच्छू मूषक आदि के छिद्र प्रचुरता से पाये जांय, जो तृण कंटक या पशु पक्षी आदि के द्वारा खराब हो गया हो, जिसके रूप रस या गंधादिक के निमित्त से इन्द्रियों में बिलकुल क्षोभ उत्पन्न हो जाय, जहाँ पर दंशमशक या शर्दी गर्मी अथवा धूप वर्षा आदि के निमित्त से परीषहें उपस्थित होती हों, जहाँ पर उन्मत्त आदि मनुष्यों का असंबद्ध प्रलाप हो रहा हो अथवा जहाँ पर पूर्वापर संबंध रहित बोलनेवाले लोगों का कोलाहल पाया जाय, जो सावद्य आरंभ के निमित्त से गर्हित - निंद्य है, जो ऊष्मा आदि के निमित्त से गीला हो रहा हो, और जो मन के लिये अप्रिय - अरति उत्पन्न करनेवाला, एवं चित्त में से निराकुल शांति या साता को

नष्ट कर देनेवाला है और जहाँ पर अशिष्ट लोगों का संचार - इतस्ततः भ्रमण या गमनागमन पाया जाता है ऐसा स्थान साधुओं के लिये वर्ज्य है। किन्तु इसके विपरीत जो एकान्त - जहाँ लोगों का संसर्ग या गमनागमनादिक नहीं पाया जाता, जो सम्मूर्छन जीवों से रहित, सेवन करने योग्य और चित्त में अतिशय समाधान उत्पन्न करनेवाला है, जहाँ पर देव की सीधी दृष्टि नहीं पड़ती, अथवा जो देवस्थान से दक्षिण भाग की तरफ है, और जहाँ पर मनुष्यों का संचार नहीं पाया जाता, जो आकुलता के कारणों से रहित, एवं न अत्यंत निकट और न अत्यंत दूरवर्ती है, तथा जो संपूर्ण उपद्रवों से रहित है, ऐसा ही स्थान साधुओं को समाधि के लिये अंगीकार करना चाहिये।

क्रमानुसार कृतिकर्म के योग्य पीठ का स्वरूप बताते हैं :-

विजन्त्वशब्दमच्छिद्रं सुखस्पर्शमकीलकम्।
स्थेयस्तार्णाद्यधिष्ठेयं पीठं विनयवर्धनम्।।८२।।

वंदना की सिद्धि के लिये उद्यत हुए साधुओं को ऐसे आसन पर बैठना चाहिये जो कि तृण काष्ठ या पत्थर इनमें से किसीका बना हुआ हो, जिसमें घुण मत्कुण या अन्य ऐसे ही जीव नहीं पाये जाते, जिसमें किसी तरह का शब्द नहीं होता, और जो छिद्र रहित है, जिसका स्पर्श सुखकर है, और जो कील रहित, एवं निश्चल है, तथा उन्नतत्व उद्धतत्व आदि दोषों से रहित अर्थात् विनय का बढ़ानेवाला है।

वंदना के योग्य आसन का तीसरा भेद पद्मासनादिक बताया था। उन पद्मासनादिक - पद्मासन पर्यङ्कासन और वीरासन का ही स्वरूप बताते हैं :-

पद्मासनं श्रितौ पादौ जङ्घाभ्यामुत्तराधरे।
ते पर्यङ्कासनं न्यस्तावूर्वोर्वीरासनं क्रमौ।।८३।।

जहाँ पर दोनों पैर जंघाओं से मिल जांय उसको पद्मासन कहते हैं। और दोनों जंघाओं को तराऊपर - एक के ऊपर दूसरी रखने से जो आकार बनता है उसको पर्यङ्कासन

कहते हैं। तथा दोनों जंघाओं के ऊपर दोनों पैरों के रखने से जो आकार बनता है उसको वीरासन कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

त्रिविधं पद्मपर्यङ्कवीरासनस्वभावकम्।
आसनं यत्नतः कार्यं विदधानेन वन्दनाम्।।
तत्र पद्मासनं पादौ जङ्घाभ्यां श्रयतो यतेः।
तयोरुपर्यधोभागे पर्यङ्कासनमिष्यते।।
ऊर्वोरुपरि कुर्वाणः पादन्यासं विधानतः।
वीरासनं यतिर्धत्ते दुष्करं दीनदेहिनः।।

अर्थात् वंदना करनेवाले को पद्मासन पर्यङ्कासन और वीरासन इन तीन प्रकार के आसनों में से कोई भी करना चाहिये। दोनों पैरों के दोनों जंघाओं से मिल जानेपर पद्मासन, दोनों जंघाओं को ऊपर नीचे रखने से पर्यङ्कासन, और दोनों पैरों को दोनों जंघाओं के ऊपर रखने को वीरासन कहते हैं। यह वीरासन दुर्बलशरीर या हीनसंहननवालों के लिये दुर्धर है। इसको उत्कृष्ट शक्तिवाले संयमी पुरुष ही धारण कर सकते हैं। इसके सिवाय कोई कोई इन तीनों आसनों का स्वरूप इस प्रकार बताते हैं।

जङ्घाया जङ्घाया श्लिष्टे मध्यभागे प्रकीर्तितम्।
पद्मासनं सुखाधायि सुसाधं सकलैर्जनैः।।
बुधैरुपर्यधोभागे जङ्घयोरुभयोरपि।
समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यङ्कासनमासनम्।।
उर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति।
वीरासनं चिरं कर्तुं शक्यं धीरैर्न कातरैः।।

जंघा का दूसरी जंघा का मध्यभाग से मिल जानेपर पद्मासन हुआ करता है, इस आसन में बहुत सुख होता है, और समस्त लोक इसको बड़ी सुगमता से कर सकते हैं। दोनों जंघाओं को आपस में मिलाकर ऊपर नीचे रखने को पर्यङ्कासन कहते हैं।

दोनों पैरों को दोनों जंघाओं के ऊपर रखने को वीरासन कहते हैं। इस आसन को जो कातर पुरुष हैं वे अधिक देर तक नहीं कर सकते वीर धीर ही कर सकते हैं।

किसी किसीने इन आसनों का स्वरूप इस प्रकार बताया है कि :-

जङ्घाया मध्यभागे तु संश्लेषो यत्र जङ्घया।
पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणैः।।
स्याज्जङ्घयोरधोभागे पादोपरि कृते सति।
पर्यङ्को नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिकः।।
वामोंघ्रिर्दक्षिणोरूर्ध्वं वामोरूपरि दक्षिणः।
क्रियते यत्र तद्धीरोचितं वीरासन स्मृतम्।।

जब एक जंघा का मध्यभाग दूसरी जंघा से मिल जाय तब उस शासन को पद्मासन कहते हैं। दोनों पैरों के ऊपर जंघाओं के नीचे के भाग को रखकर नाभि के नीचे ऊपर को हथेली करके ऊपर नीचे दोनों हाथों को रखने से पर्यंकासन होता है। दक्षिण जंघा के ऊपर वामपैर और वाम जंघा के ऊपर दक्षिण पैर रखने को वीरासन बताया है जो कि धीर पुरुषों के योग्य है।

वंदना के योग्य आसनों का स्वरूप बताकर
स्थानविशेष का वर्णन करते हैं :-

स्थीयते येन तत्स्थानं वन्दनायां द्विधा मतम्।
उद्भीभावो निषद्या च तत्प्रयोज्यं यथाबलम्।।८४।।

वंदना के प्रकरण में स्थान शब्द का अर्थ यह होता है कि वंदना करनेवाला शरीर की जिस आकृति या क्रिया के द्वारा एक ही जगह पर स्थित रहे या ठहरा रहे उसको

स्थान कहते हैं। यह ठहरना दो प्रकार से हो सकता है - एक खड़े रहकर, दूसरा बैठकर। अतएव स्थान के दो भेद हैं, एक उद्भीभाव दूसरा निषद्या। वंदना करनेवालों को अपनी शक्ति के अनुसार इन दो प्रकार के स्थानों में से चाहे जैसे स्थान का उपयोग करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

स्थीयते येन तत्स्थानं द्विप्रकारमुदाहृतम्।
वन्दना क्रियते यस्मादुद्भीभूयोपविश्य वा।।

अर्थात् जिसके द्वारा स्थित रहा जाय उसको स्थान कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है। क्यों वंदना खड़े होकर अथवा बैठ कर दोनों ही तरह से की जाती है।

स्थान के अनंतर मुद्रा का नामोल्लेख किया था अतएव क्रम के अनुसार मुद्राओं का वर्णन होना चाहिये। मुद्रा अनेक प्रकार की होती हैं किन्तु कृतिकर्म के योग्य चार तरह की ही मुद्रा मानी गई हैं। जिनमुद्रा योगमुद्रा वंदनामुद्रा और मुक्ताशुक्तिमुद्रा। इनमें से पहले आदि की दोनों मुद्राओं का स्वरूप बताते हैं :-

मुद्राश्चतस्त्रो व्युत्सर्गस्थितिर्जैनीह यौगिकी।
न्यस्तं पद्मासनाद्यङ्के पाण्योरुणत्तानयोर्द्वयम्।।८५।।

मुद्रा चार प्रकार की हैं जिनमुद्रा योगमुद्रा वंदनामुद्रा और मुक्ताशुक्तिमुद्रा। दोनों भुजाओं को लटकाकर और दोनों पैरों में चार अंगुल का अंतर रखकर कायोत्सर्ग के द्वारा - शरीर को छोड़कर खड़े रहने का नाम जिनमुद्रा है। इसका स्वरूप [१] पहले लिखा जा चुका है। इसके सिवाय जिनमुद्रा का आगम में भी यही लक्षण लिखा है। यथा :-

जिनमुद्रान्तरं कृत्वा पादयोश्चतुरङ्गुलम्।
ऊर्ध्वजानोरवस्थानं प्रलम्बितभुजद्वयम्।।

पद्मासन पर्यंकासन और वीरासन का स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। इन तीनों में से कौनसे भी आसन को मांडकर नाभि के नीचे ऊपर को हथेली करके दोनों हाथ

ऊपर नीचे रखने से योगमुद्रा होती है। जैसा कि कहा भी है कि :-

जिनाः पद्मासनादीनामङ्कमध्ये निवेशनम्।
उत्तानकरयुग्मस्य योगमुद्रां बभाषिरे।।

वंदनामुद्रा और मुक्ताशुक्तिमुद्रा का स्वरूप बताते हैं :-

स्थितस्याध्युदरं न्यस्य कूर्परौ मुकुलीकृतौ।
करौ स्याद्वन्दनामुद्रा मुक्ताशुक्तिर्युताङ्गुली।।८६।।

खड़े होकर दोनों कोहनियों को पेट के ऊपर रखने और दोनों करों - हाथों को मुकुलित कमल के आकार में बनाने पर वंदनामुद्रा होती है। जैसा कि कहा भी है कि :-

मुकुलीकृतमाधाय जठरोपरि कूर्परम्।
स्थितस्य वंदनामुद्रा करद्वन्दं निवेदिता।।

अर्थात् दोनों हाथ जोड़कर कोंहनी को पेट पर रखकर खड़े रहनेवाले के वंदनामुद्रा बताई है।

इसी प्रकार खड़े रहकर और दोनों कोंहनियों को पेट के ऊपर रखकर दोनों हाथों की अंगुलियों को आकारविशेष के द्वारा आपस में संलग्न करके मुकुलित बनाने से मुक्ताशुक्तिमुद्रा होती है। जैसा कि कहा भी है कि :-

मुक्ताशुक्तिर्मता मुद्रां जठरोपरि कूर्परम्।
ऊर्ध्वजानोः करद्वन्द्वं संलग्नाङ्गुलि सूरिभिः।।

इन चार प्रकार की मुद्राओं में से कौनसी मुद्रा का प्रयोग किस विषय में करना

चाहिये सो बताते हैं :-

स्वमुद्रां वन्दने मुक्ताशुक्तिः सामायिकस्तवे।
योगमुद्रास्यया स्थित्या जिनमुद्रा तनूज्झने।।८७।।

आवश्यकों का पालन करनेवालों को वंदना करते समय वंदनामुद्रा, और 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि सामायिकदण्डक के समय तथा 'थोस्सामि' इत्यादि चर्तुविंशतिस्तवदण्डक के समय मुक्ताशुक्तिमुद्रा का प्रयोग करना चाहिये। इसी प्रकार बैठकर कायोत्सर्ग करते समय योगमुद्रा और खड़े होकर कायोत्सर्ग करते समय जिनमुद्रा धारण करनी चाहिये।

मुद्रा के अनंतर क्रम के अनुसार आवर्तों के
स्वरूप का निरूपण करते हैं :-

शुभयोगपरावर्तानावर्तान् द्वादशाहुराद्यन्ते।
साम्यस्य हि स्तवस्य च मनोऽङ्गगीः संयतं परावर्त्त्यम्।।८८।।

मन वचन और शरीर की चेष्टा को अथवा उसके द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेशों के परिस्पंद को योग कहते हैं। हिंसादिक अशुभ प्रवृत्तियों से रहित योग प्रशस्त समझा जाता है। इसी प्रशस्तयोग को अवस्था से हटाकर दूसरी अवस्था में ले जाने का नाम परावर्तन है। और इसका दूसरा नाम आवर्त भी है। इसके मन वचन और काय की अपेक्षा तीन भेद, और यह सामायिक तथा स्तव की आदि में और अंत में किया जाता है अतएव इसके बारह भेद होते हैं। जो मुमुक्षु साधु वंदना करने के लिये उद्यत है उन्हें यह बारहों प्रकार का आवर्त करना चाहिये। अर्थात् उन्हें अपने अपने मन वचन और काय सामायिक तथा स्तव की आदि एवं अंत में पाप व्यापार से हटाकर अवस्थान्तर को प्राप्त कराने चाहिये।

भावार्थ :- सामायिक की आदि में समस्त क्रियाविज्ञापन विकल्पों को छोड़कर सामायिकदण्डक के उच्चारण करने में ही मन का उपयोग लगाना इसको संयतमनआवर्त

कहते हैं। इसी प्रकार जिसमें भूमि का स्पर्श करना पड़ता है ऐसी अवनति क्रियारूप वंदनामुद्रा करके पुनः खड़े होकर मुक्ताशुक्तिमुद्रा के द्वारा दोनों हाथों का तीन बार घुमाना इसको संयत कायपरावर्तन कहते हैं। तथा 'चैत्यभक्तिकायोत्सर्ग करोभ्यहं' इत्यादि पाठ का उच्चारण कर चुकने पर 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि पाठ के उच्चारण करने में जो वचन को लगाना उसको संयत वाक्परावर्तन कहते हैं। इस प्रकार सामायिकदण्डक की आदिमें ये तीन आवर्त - शुभ योगों के परावर्तन हुआ करते हैं। इसी तरह अंत के भी आवर्त यथायोग्य समझ लेने चाहिये। तथा इसी प्रकार स्तवदण्डक के भी आदि में एवं अंत में तीन तीन आवर्त समझने चाहिये। इस तरह कुल मिलाकर एक कायोत्सर्ग में बारह आवर्त हुआ करते हैं।

यह बात भगवान् वसुनंदि सैद्धान्तदेव ने आचारटीका के अंदर 'दुओणदंजहाजादं' इत्यादि सूत्र का व्याख्यान करते समय कही है। तथा क्रियाकाण्ड में भी कहा है कि :-

द्वे नते साम्यनुत्यादौ भ्रमास्त्रिस्त्रियोगगाः।
त्रिस्त्रिर्भ्रमे प्रणामश्च साम्ये स्तवे मुखान्तयोः।।

अर्थात् :- सामायिक के आदि में और अंत में दो नति त्रियोगसंबंधी तीन - तीन आवर्त और प्रत्येक दिशा में तीन - तीन भ्रमण के पीछे एक एक प्रणाम हुआ करता है।

भावार्थ :- प्रत्येक भ्रमण के करते समय चारो दिशाओं में एक - एक प्रणाम होता है। अतएव तीन भ्रमण के मिलाकर बारह प्रणाम हो जाते हैं।

ऊपर आवर्त का अर्थ योगत्रय का बदलना लिखा है, किन्तु वृद्ध व्यवहार में इसका अर्थ हाथों का घुमाना होता है। अतएव प्राचीन व्यवहार के अनुरोध से इस प्रकार के आवर्त का भी उपदेश देते हैं :-

त्रिः संपुटीकृतौ हस्तौ भ्रमयित्वा पठेत् पुनः।
साम्यं पठित्वा भ्रमयेत्तौ स्तवेप्येतदाचरेत्।।८९।।

आवश्यकों का पालन करनेवाले तपस्वियों को सामायिक पाठ का उच्चारण करने

के पहले दोनों हाथों को मुकुलित बनाकर तीन बार घुमाना चाहिये। घुमाकर सामायिक के 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि पाठ का उच्चारण करना चाहिये। पाठ पूर्ण होनेपर फिर उसी तरह मुकुलित हाथों को तीन बार घुमाना चाहिये। यही विधि स्तवदण्डक के विषय में भी समझनी चाहिये।

भावार्थ :- दोनों हाथों का संपुट बनाकर तीन बार घुमाना और फिर चतुर्विंशति स्तवदण्डक का पाठ करना। पाठ के अनंतर फिर उसी तरह दोनों हाथों के संपुट को तीन बार घुमाना चाहिये। व्युत्सर्गतप का वर्णन करते समय चारित्रसार में भी कहा है कि :-

इन आवश्यकक्रियाओं को करनेवाला साधु शक्ति को न छिपाकर न शक्ति से अधिक किन्तु शक्ति के अनुरूप खड़े होकर अथवा खड़े होने की शक्ति न हो तो पर्यंकासन से मन वचन काय को शुद्ध करके दोनों हाथों का संपुट बनाकर क्रिया विज्ञापनपूर्वक सामायिकदण्डक का उच्चारण करे। इस तरह का तीन आवर्त और एक शिरोनति होती है। इसी तरह सामायिकदण्डक के अंत में भी करना, तथा यथोक्त काल तक जिन भगवान् के गुणों का स्मरण करते हुए कायव्युत्सर्ग को करके दूसरे दण्डक की आदि में तथा समाप्ति में भी इसी प्रकार करना चाहिये। इस तरह कुल मिलाकर एक कायोत्सर्ग के बारह आवर्त और चार शिरोनति हो जाती हैं।

वंदना आदि नित्यकर्म करने में योग्य काल आसन स्थान मुद्रा आदि का आश्रय लेने का पहले जो वर्णन कर चुके है उसके अनुसार आवर्तो का स्वरूप बताने के बाद शिरोनति का वर्णन करना क्रमप्राप्त है। अतएव उसका वर्णन करते हैं :-

प्रत्यावर्तत्रयं भक्त्या नम्रमत् क्रियते शिरः।
यत्पाणिकुड्मलाङ्कं तत् क्रियायां स्याच्चतुःशिरः।।९०।।

प्रकृत में शिर शब्द का अर्थ भक्तिपूर्वक मुकुलित हुए दोनों हाथों से संयुक्त मस्तक का तीन तीन आवर्तों के अनुसार नम्रीभूत होना समझना चाहिये। **भावार्थ** :- यहाँ पर शिर शब्द से शिरोनति अर्थ समझना चाहिये। चैत्यभक्ति आदि के अथवा कायोत्सर्ग के विषय में चार चार शिरोनति की जाती हैं। क्योंकि सामायिकदण्डक तथा स्तवदण्डक

के आदि और अंत में तीन तीन आवर्त के अनुसार एक एक शिरोनति करने का आगम में विधान किया है।

चैत्यभक्ति आदि करते समय आवर्त और शिरोनति दूसरी तरह से भी हो सकती है। इसी बात को बताने के लिये सूत्र कहते हैं :-

प्रतिभ्रामरि वार्चदिस्तुतौ दिश्येकशश्चरेत्।
त्रीनावर्तान् शिरश्चैकं तदाधिक्यं न दुष्यति।।९१।।

चैत्यादि की भक्ति करते समय प्रत्येक प्रदक्षिणा में पूर्वादिक चारों दिशाओं की तरफ प्रत्येक दिशा में तीन आवर्त और एक शिरोनति करनी चाहिये। यहाँ पर यह बात भी ध्यान में रखनी जरूरी है कि आवर्त और शिरोनतियों का जो प्रमाण बताया गया है उससे यदि अधिक आवर्त तथा शिरोनति हो जांय तो वह कोई दोष का कारण नहीं है।

भावार्थ :- चारों दिशाओं के मिलाकर चार शिरोनति और बारह आवर्त चैत्यभक्ति आदि करानेवाले के प्रत्येक प्रदक्षिणा में हो जाती हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

चतुर्दिक्षु विहारस्य परावर्तास्त्रियोगगाः।
प्रतिभ्रामरि विज्ञेया आवर्ता द्वादशापि च।।

अर्थात् :- चैत्यभक्ति आदि करते समय चारों दिशाओं की तरफ प्रदक्षिणा देते हुए त्रियोगसंबंधी परावर्तन हुआ करते हैं। प्रत्येक दिशा में तीन आवर्त हुआ करते हैं। अतएव प्रत्येक प्रदक्षिणा में बारह आवर्त हो जाते हैं।

आवर्त और शिरोनति उक्त प्रमाण से अधिक भी हो जांय जैसा कि तीन प्रदक्षिणा देने आदि के समय संभव है तो उसमें कोई दोष न समझना चाहिये। क्योंकि इस विषय में चारित्रसार में कहा है कि :-

'एकस्मिन् प्रदक्षिणीकरणे चैत्यादीनामभिमुखीभूतस्यावर्तत्रयेकावनमने कृते चतसृष्वपि दिक्षु द्वादशावर्ताश्चतस्रः शिरोवनतयो भवन्ति। आवर्तानां शिरःप्रणतीनामुक्तप्रमाणादाधिक्यमपि न दोषाय।'

अर्थात् :- एक या पहली प्रदक्षिणा देने में प्रतिमा आदि के सम्मुख खड़े होकर तीन आवर्त और एक शिरोनति की जाती है, इसलिये चारों दिशाओं में मिलकर बारह आवर्त और चार शिरोनति हो जाती हैं। आवर्त और शिरोनति इस प्रमाण से अधिक भी हो जांय तो उसमें कोई दोष नहीं है।

इसी अभिप्राय का समर्थन करते हैं :-

दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनन्दीश्वरेषु हि।
वन्द्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्तिं प्रदक्षिणा।।९२।।

जिस समय मुमुक्षु संयमी चैत्यवंदना या निर्वाणवंदना अथवा योगीवंदना यद्वा नंदीश्वर चैत्यवंदना किया करते हैं; उस समय तत्तद्भक्ति का पाठ बोलते हुए वे प्रदक्षिणा दिया करते हैं।

भावार्थ :- चैत्यादि वंदना करते समय चैत्यभक्ति आदिका जो पाठ क्रियाकाण्ड में प्रसिद्ध है उसको बोलते हुए प्रदक्षिणा दी जाती है। इससे जब कि एक ही प्रदक्षिणा में बारह आवर्त और चार शिरोनति हो जाती हैं तब उससे अधिक प्रदक्षिणा हो जानेपर आवर्त और शिरोनति का प्रमाण भी अधिक हो सकता है, ऐसा सिद्ध होता है।

ग्रंथकार अपने और दूसरे आचार्यों के मत से शिरोनति के विषय का निर्णय प्रकट करते हैं :-

द्वे साम्यस्य स्तुतेश्चादौ शरीरनमनान्नती।
वन्दनाद्यन्तयोश्च कैश्चिन्निविश्य नमनान्मते।।९३।।

सामायिकदण्डक और चतुर्विंशतिस्तव की आदि में दो शिरोनति करनी चाहिये। यह नति शरीर के पाँचो अंगों को नमाकर जिससे कि भूमि का स्पर्श हो जाय इस तरह से करनी चाहिये। श्री स्वामी समन्तभद्रप्रभृति आचार्योंने दो नति मानी हैं। परंतु उनको वंदना की आदि और अंत में बैठकर प्रणाम करके दो नति करना इष्ट है। जैसा कि

श्री भगवान प्रभाचंद्रदेवने रत्नकरण्ड की टीका में 'चतुरावर्तत्रितयं -' इत्यादि सूत्र में 'द्विनिषद्य' इस पद का व्याख्यान करते समय लिखा है कि 'देववन्दनानां कुर्वताहि प्रारम्भ समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्यः।' अर्थात् देववंदना करनेवाले को आदि और अंत में बैठकर प्रणाम करना चाहिये।

प्रणाम के भेद और उनका स्वरूप दो श्लोकों द्वारा बताते हैं :-

योगैः प्रणामस्त्रेधार्हंज्ज्ञानादेः कीर्तनात्त्रिभिः।
कं करौ ककरं जानुकरं ककरजानु च।।९४।।
नम्रमेकद्वित्रिचतुःपञ्चाङ्गः कायिकः क्रमात्।
प्रणामः पञ्चधावाचि यथास्थानं क्रियेत सः।।९५।।

मन वचन और काय की अपेक्षा प्रणाम तीन प्रकार का है। क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग श्री अर्हन्तपरमेष्ठी अथवा सिद्धभगवान् के ज्ञानादिक गुणों का कीर्तन इन तीनों ही योगों के द्वारा किया जाता है। इनमें से शारीरिक प्रणाम पाँच प्रकार का है। कायिक प्रणाम में शरीर के अंगों को नम्रीभूत किया जाता है, अतएव शरीर के पाँच अंगो की अपेक्षा कायिक प्रणाम भी पाँच तरह का माना है। जिसमें शरीर का एक अंग नम्रीभूत हो उसको एकाङ्ग, और जिसमें दो अंग नम्रीभूत हो उसको द्व्यङ्ग, और जिसमें तीन चार पाँच अंग नम्रीभूत किया जांय उसको क्रम से त्र्यंग, चतुरंग, पंचांग कायिक प्रणाम कहते हैं।

एकाङ्ग प्रणाम में केवल शिर को ही नमाया जाता है। द्व्यङ्ग में दोनों हाथ जोड़कर नम्रीभूत किये जाते हैं। त्र्यंग में दोनों हाथ और शिर नत हुआ करते हैं। चतुरङ्ग में दोनों हाथ और दोनों घुटने नत किये जाते हैं। और पंचाङ्ग में मस्तक दोनों हाथ और दोनों घुटने नम्र करने चाहिये।

कृतिकर्म करनेवालों को इन पाँच प्रकार के प्रणामों में से जो प्रणाम जिस स्थान पर करना उचित है उसको उसी स्थान पर करना चाहिये। जैसे कि सामायिकदण्डक की आदि में पंचाङ्गप्रणाम करना चाहिये। कहा भी है कि :-

मनसा वचसा तन्वा कुरुते कीर्तनं मुनिः।
ज्ञानादीनां जिनेन्द्रस्य प्रणामस्त्रिविधो मतः।।
एकाङ्गो नमने मूर्ध्नों द्व्यङ्गः स्यात् करयोरपि।
त्र्यङ्गः करशिरोनामे प्रणामः कथितो जिनैः।।
करजानुविनामेऽसौ चतुरङ्गो मनीषिभिः।
करजानुशिरोनामे पञ्चाङ्गः परिकीर्तितः।।
प्रणामः कायिको ज्ञात्वा पञ्चधेति मुमुक्षुभिः।
विधातव्यो यथास्थानं जिनसिद्धादिवन्दने।।

अर्थात् :- मुनिजन जिनेन्द्र के ज्ञानादि का मन वचन और काय से कीर्तन किया करते हैं। अतएव त्रियोग की अपेक्षा प्रणाम तीन प्रकार का है। जिसमें कायिक प्रणाम पाँच तरह का है। शिर के नमानेपर एकाङ्ग, दोनों हाथों के नमाने पर द्व्यङ्ग, दोनों हाथ और शिर के नमाने पर त्र्यङ्ग, दोनों हाथ और दोनों जानुओं के नमाने पर चतुरङ्ग और दोनों हाथ दोनों जानु और शिर के नमाने पर पंचाङ्ग प्रणाम कहा जाता हैं। इस पाँच प्रकार के प्रणामों में से जिनवंदना या सिद्धवंदना आदि करते समय जो प्रणाम जिस स्थान पर करना उचित है, मुमुक्षु को वही प्रणाम उस स्थान पर करना चाहिये।

क्रिया प्रयोग विधि को बताते हैं :-

कालुष्यं येन जातं तं क्षमयित्वैव सर्वतः।
सङ्गाच्च चिन्तां व्यावर्त्य क्रिया कार्या फलार्थिना।।९६।।

कर्मों की निर्जरा - मोक्ष अथवा तीर्थंकरत्वादि महान् अभ्युदयों की इच्छा रखनेवाले साधुओं को संपूर्ण परिग्रहों की तरफ से चिंता को हटाकर और जिसके साथ किसी तरह का कभी कोई कालुष्य उत्पन्न हो गया हो उससे क्षमा कराकर ही आवश्यक क्रिया करनी चाहिये। कहा भी है कि :-

येन केनापि संपन्नं कालुष्यं दैवयोगतः।
क्षमयित्वैव तं त्रेधा कर्तव्यावष्यकक्रिया।।

अर्थात् :- दैवयोग से क्रोधादि के आवेशवश यदि किसीके साथ कोई कालुष्य पैदा हो गया हो तो उससे मनवचन और काय के द्वारा क्षमा कराकर ही आवश्यक क्रिया करनी चाहिये।

इसके पहले इसी अध्याय के ७८ वें पद्य में जो कृतिकर्म का अमल विशेषण दिया है उसका अर्थ स्पष्ट करते हैं।

दोषैर्द्वात्रिंशता स्वस्य यद्व्युत्सर्गस्य चोज्झितम्।
त्रियोगशुद्धं क्रमवन्निर्मलं चितिकर्म तत्।।९७।।

जिस क्रिया के करने से तीर्थंकरत्वादि महान् पुण्य का अर्जन हो सकता है उस जिनेन्द्रादि की वंदना को चितिकर्म कहते हैं। चितिकर्म वही निर्मल समझना चाहिये जिसका कि क्रम प्रशस्त हो और जहाँ पर मन वचन काय का व्यापार विशुद्ध पाया जाय। जहाँ पर तीनों ही योग कालुष्यरहित रहा करते हैं। और जो अपने चितिकर्मसंबंधी तथा व्युत्सर्गसंबंधी बत्तीस बत्तीस दोषों से रहित हो। कहा भी है कि :-

दुओणदं जहाजादं बारसावत्तमेव य।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउज्जदे।।
तिविहं नियरणसुद्धं मयरहियं दुविहठाणपुणरुत्तं।
विणएण कमविसुद्धं विदियम्मं होइ कायव्वं।
किदियम्मं पि कुणंतो ण होदि किदियम्मि णिज्जराभागी।
बत्तीसाणण्णदरं साहुट्ठाणं विराहिंतो।।

अर्थात् बारह आवर्त चार शिरोनति और मनवचनकाय की शुद्धि से युक्त यथाजात नित्य नैमित्तिक क्रिया करनी चाहिये। तीन करणों से शुद्ध मदरहित दो प्रकार के स्थानों

से (उद्भीभाव और उपवेशन) युक्त और क्रमपूर्वक किये जाने से विशुद्ध तीन प्रकार का कृतिकर्म करना चाहिये। कृतिकर्म करनेपर भी कृतिकर्म का फल प्राप्त नहीं हुआ करता। क्योंकि बत्तीस जो साधुस्थान बताये हैं उसमें से किसी एक का भी विराधन करनेवाला साधु निर्जरा का भागी नहीं बन सकता। अर्थात् बत्तीस दोषों को टालकर जिनवंदना आदि करता है वही कर्मों की निर्जरा कर सकता है।

यहाँ पर जिनवंदना के ३२ और कायोत्सर्ग के ३२ दोष टालने के लिये जो कहा है उसमें वंदना संबंधी ३२ दोषों का स्वरूप चौदह श्लोकों के द्वारा बताते हैं :-

[१] अनादृतमतात्पर्यं वन्दनायां मदोद्धतिः।
स्तब्धमत्यासन्नभावः प्रविष्टं परमेष्ठिनाम्।।९८।।

१ - वंदना के कर्म में तत्परता न रखना, अर्थात् उसको प्रधान मानकर जैसी प्रवृत्ति होनी चाहिये वैसी न करना और उसमें आदरभाव रहित होना, इसको वंदना का पहला अनादृत नाम का दोष समझना चाहिये।

२ - ज्ञान पूजा कुल जाति आदि आठ विषयों की अपेक्षा लेकर जो अहंकार होता है उसको मद कहते हैं। इन आठों ही अथवा इनमें से अन्यतर के द्वारा अपने में उत्कर्ष की संभावना करके इन मदों के वशीभूत हो जाना इसको स्तब्ध नाम का दूसरा दोष समझना चाहिये।

३ - अर्हदादिक परमेष्ठियों के अत्यंत निकटवर्ती होकर उनकी वंदना करना इसको वंदना का तीसरा प्रविष्ट नाम का दोष समझना चाहिये।

---

१ - आगे चलकर १११ वें गाथा में ऐसा कहेंगे कि

'इति दोषोज्झता कार्या वन्दना निर्जरार्थिना।' अर्थात् निर्जरार्थियों को इस प्रकार ३२ दोषों से रहित वंदना करनी चाहिये। सो इस श्लोक का संबंध वहाँ तक जोड़ लेना चाहिये। तथा १०४ के श्लोक में मल शब्द आया इसलिये मध्यदीपक न्याय से अथवा अन्त्यदीपकन्याय से इन अनादृतादिक भावों की वंदना का दोष समझना।

हस्ताभ्यां जानुनोः स्वस्य संस्पर्शः परिपीडितम्।
दोलायितं चलन् कायो दोलावत् प्रत्ययोथवा।।९९।।

४ - अपने दोनों हाथों से अपनी दोनों जंघाओं का चारों तरफ स्पर्श करना, अर्थात् वंदना करते समय जंघाओं पर हाथ फेरते जाना या फेरना इसको वंदना का परिपीड़ित नाम का चौथा दोष कहते हैं।

५ - जिस प्रकार झूला पर बैठे हुए आदमी का शरीर चलायमान हुआ करता है उसी प्रकार वंदना करनेवाला यदि अपने शरीर का यातायात करे तो उसको दोलायितदोष समझना चाहिये। अर्थात् वंदना करते समय यदि शरीर आगे को झुके फिर पीछे को फिर आगे को फिर पीछे को इसी तरह चलायमान हो तो वंदना का वह पाँचवां दोलायितदोष है। अथवा स्त्युत्य स्तुति और स्तुति के फल के विषय में चलायमान ज्ञान का होना -संशय करना उसको भी दोलायितदोष कहते हैं।

भार्लेकुशवदङ्गुष्ठविन्यासोऽङ्कुशितं मतम्।
निषेदुषःकच्छपवद्रिङ्खा कच्छपरिङ्गितम्।।१००।।

६ - अपने ललाटपर अपने हाथ के अंगुष्ठ को अंकुश की तरह रखकर वंदना करना अंकुशित नाम का छठ्ठा दोष है।

७ - बैठकर वंदना करनेवाला यदि कच्छप के समान चेष्टा करे, अर्थात् बैठे बैठे ही कछुए की तरह धीरे से रेंगने की क्रिया करे तो वह सांतवां कच्छपरिङ्गित नाम का दोष है।

मत्स्योद्वर्तं स्थितिर्मत्स्योद्वर्तवत् त्वेकपार्श्वतः।
मनोदुष्टं खेदकृतिर्गुर्वाद्युपरि चेतसि।।१०१।।

८ - जिस प्रकार मछली एक भाग को ऊपर करके उछला करती है उसी प्रकार वंदना करनेवाला यदि एक भाग को - कटिभाग को ऊपर को निकालकर वंदना करने के लिये स्थित हो तो उसको आंठवां मत्स्योद्वर्त नाम का दोष समझना चाहिये।

९ - अपने मन में गुरु - आचार्यादि के ऊपर आक्षेप करना - खिन्न होना मनोदुष्ट नाम का दोष है।

वेदिबद्धं स्तनोत्पीडो दोर्भ्यांवा जानुबन्धनम्।
भयं क्रिया सप्तभयाब्दिभ्यतो गुरोः।।१०२।।

१० - अपनी छाती के स्तनभागों का मर्दन करना दशवां वेदिकाबद्ध नाम का दोष है। अथवा योगपट्ट की तरह दोनों भुजाओं के द्वारा अपने दोनों घुटनों को बाँध लेना यह भी वेदिकाबद्ध नाम का ही दोष है।

११ - इहलोकभय परलोकभय अकस्मात्भय मरणभय इत्यादि सात प्रकार के भय के वशीभूत होकर आवश्यक क्रिया करना इसको ग्यारहवाँ भय नाम का दोष समझना।

१२ - गुरु आचार्य आदि से डरते हुए आवश्यक कर्म करना बिभ्यत्ता (बिभ्यतः कर्म बिभ्यत्ता) नाम का बारहवाँ दोष है।

भक्तो गणो मे भावीति वन्दारोर्ऋद्धिगौरवम्।
गौरवं स्वस्य महिन्याहारादावथ स्पृहा।।१०३।।

१३ - ऋषि मुनि यति और अनगार इस तरह चारों प्रकार के मुनियों का संघ मेरा भक्त बन जायगा ऐसा भाव रखकर जो वंदना करना इसको तेरहवाँ ऋद्धिगौरव नाम का दोष समझना।

१४ - अपने माहात्म्य की इच्छा करना, अथवा भोजन और उपकरण आदि की स्पृहा रखकर वंदना करना चौदहवाँ गौरव नाम का दोष है।

स्याद्वन्दने चोरिकया गुर्वादेः स्तेनितं मलः।
प्रतिनीतं गुरोराज्ञाखण्डनं प्रातिकूल्यतः।।१०४।।

१५ - आचार्य प्रवर्ती और उपाध्याय आदि गुरुजनों से छिपाकर वंदना क्रिया करना

स्तेनित नाम का पंद्रहवाँ मल-दोष समझना चाहिये।

१६ - प्रतिकूल वृत्ति रखकर गुरु की आज्ञा का खंडन कर देना सोलहवाँ प्रतिनित नाम का दोष है।

प्रदुष्टं वन्दमानस्य द्विष्टेऽकृत्वा क्षमां त्रिधा।
तर्जितं तर्जनान्येषां स्वेन स्वस्याथ सूरिभिः।।१०५।।

१७ - कलह वगैरह के द्वारा किसीके साथ द्वेष का विषय यदि उपस्थित हो गया हो तो उस विषय में मन वचन और काय के द्वारा जिसका अपराध किया है उसके मन में क्षमाभाव उत्पन्न कराये विना, वा स्वयं उसके प्रति क्षमा धारण किये विना वंदना करना प्रदुष्ट नाम का सत्रहवाँ दोष है।

१८ - अंगूठा के पास की अंगुली - तर्जनी को उठाकर और हिलाकर दूसरे शिष्यादिकों को अपने से भय उत्पन्न करना तर्जित नाम का दोष है। अथवा आचार्यादिकों के द्वारा अपनी तर्जना होना वह भी तर्जित नाम का ही अठारहवाँ दोष है।

शब्दो जल्पक्रियान्येषामुपहासादि हेलितम्।
त्रिवलितं कटिग्रीवाहृद्भङ्गो भ्रकुटिर्नवा।।१०६।।

१९ - वंदना करते समय बीच में बातचीत करते जाना शब्द नाम का दोष है।

२० - वंदना करते हुए दूसरे लोगों का उद्घट्टन करना, उनको धक्का देना, विप्लव मचाना, दूसरों की हँसी करना इत्यादि वंदना का बीसवाँ हेलित नाम का दोष है।

२१ - वंदना करते समय कटि ग्रीवा और हृदय इन अंगों में भंग - बलि पड़ जाना त्रिवलित नाम का दोष है। अथवा ललाट के त्रिवाली - तीन सखटों का पड़ जाना यह त्रिवलित नाम का इक्कीसवाँ दोष है।

करामर्शोथ जान्वन्तः क्षेपः शीर्षस्य कुञ्चितम्।
दृष्टं पश्यन् दिशः स्तौति पश्यन्स्वान्येषु सुष्ठु वा।।१०७।।

२२ - शिर का अपने हाथ से अमर्श करना, अथवा दोनों जंघाओं - घुटनों के बीच में शिर रखना कुंचित नाम का दोष है।

२३ - जो दिशाओं की तरफ देखता हुआ वंदना करे उसके दृष्ट दोष समझना चाहिये। अथवा जब दूसरे गुरु आदिक या और कोई देख रहे हों उस समय सुतरां बड़े उत्साह के साथ स्तुति वंदना में प्रवृत्ति करना इसको भी दृष्टदोष ही कहते हैं।

अदृष्टं गुरुदृङ्मार्गत्यागो वाऽप्रतिलेखनम्।
विष्टिः संघस्येयमिति धीः संघकरमोचनम्।।१०८।।

२४ - गुरु की दृष्टि बचाकर वंदना करना अदृष्ट नाम का दोष है। अथवा पींछी के द्वारा प्रतिलेखन न करके ही वंदना करना चौवीसवाँ अदृष्ट नाम का ही दोष है।

२५ - ये संघ की बड़ी जबर्दस्ती है कि बलपूर्वक - हठ से क्रिया कराई जाती है, इस प्रकार की बुद्धि का होना संघकरमोचन नाम का दोष है।

उपध्याप्त्या क्रियालब्धमनालब्धं तदाशया।
हीनं न्यूनाधिकं चूला चिरणोत्तरचूलिका।।१०९।।

२६ - उपकरणादि परिग्रह का लाभ होनेपर आवश्यकक्रिया करना आलब्ध नाम का दोष है।

२७ - उपकरणादि की आशा से क्रिया करना अनालब्ध नाम का दोष है।

२८ - मात्रा प्रमाण क्रिया न करके अधिक या कम करना इसको हीन नाम का दोष समझना चाहिये।

२९ - वंदना को तो थोड़ी सी देर में ही पूर्ण कर देना और उसकी चूलिकारूप आलोचना आदि क्रियाओं को अधिक समय तक करना इसको उत्तरचूलिका दोष कहते है।

मूको मुखान्तर्वन्दारोर्हुङ्काराद्यथ कुर्वतः।
दुर्दरो ध्वनिनान्येषां स्वेन च्छादयतो ध्वनीन्।।११०।।

३० - यदि वंदना करनेवाला वंदना के पाठ को मुख के भीतर ही बोले जिससे कि किसीको सुनाई ही न पड़े इसको मूकदोष कहते हैं। अथवा वंदना करते समय हुंकार आदि संज्ञाएँ - इशारे करना भी मूक नाम का दोष कहा है।

३१ - वंदना करते समय उसका पाठ इतने जोर से बोलना कि जिससे अपनी ध्वनि से दूसरे वंदना करनेवालों का शब्द दब जाय इसको दुर्दर नाम का दोष कहा है।

द्वात्रिंशो वन्दने गीत्या दोषः सुललिताह्वयः।
इति दोषोज्झिता कार्या वन्दना निर्जरार्थिना।।१११।।

३२ - वंदना करते समय उसके पाठ को गा गाकर - पंचम - स्वर से बोलना यह वंदना का बत्तीसवाँ सुललित नाम का दोष है।

इस प्रकार वंदना संबंधी ३२ दोष हैं। कर्मों की निर्जरा करने के जो अभिलाषी हैं उन्हें यह वंदनाक्रिया इन बत्तीस दोषों से रहित करनी चाहिये।

भावार्थ :- यहाँ पर वंदना के ३२ दोषों का उल्लेख करके ग्रंथकार ने अंत में पुनः उन दोषों का स्मरण कराया है जिनको कि वंदना करते समय अवश्य ही टालना चाहिये। इन दोषों के सदृश और भी दोष जैसे कि वंदना करते समय शिर को नीचा ऊँचा करना, अथवा शिर को ऊपर को करके वंदना करना, यद्वा हाथों को घुमाना फिराना तथा गुरु के सामने खड़े होकर पाठ का उच्चारण करना, इत्यादि संभव हैं। अतएव क्रियाकाण्डादि में कहे मूजब सभी दोष टालना उचित है। क्योंकि दोषरहित वंदना ही निर्जरा का कारण हो सकती है।

इस प्रकार वंदनासंबंधी ३२ दोषों का वर्णन करके क्रमानुसार कायोत्सर्ग के दोषो का स्वरूप ११ श्लोकों में बताते हैं :-

कायोत्सर्गमलोस्त्येकमुत्क्षिप्याङ्घ्रिं वराश्ववत्।
तिष्ठतोऽश्वो मरुद्धूतलतावच्चलतो लता।।११२।।

१ - उत्तम घोडा जिस प्रकार एक पैर को जमीन से अच्छी तरह न छुआ कर खड़ा हुआ करता है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करते समय एक पैर को जमीन से अच्छी तरह न लगाकर खड़े रहना कायोत्सर्ग का घोटक नाम का पहला दोष है।

२ - जिस प्रकार हवा के लगने से लता काँपा करती है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करनेवाले का शरीर यदि काँपे - चलायमान हो तो उसको लता नाम का दोष समझना चाहिये।

यहाँ पर पहले ही दोष का स्वरूप बताते समय मल शब्द का जो प्रयोग किया है उसका संबंध आदि दीपकन्याय से आगे जिन दोषों का वर्णन करते हैं उन सबके साथ लगा लेना चाहिये।

स्तम्भः स्तम्भाद्यव्रष्टभ्य पट्टकः पट्टकादिकम्।
आरुह्य मालो मालादि मूर्ध्नालम्ब्योपरि स्थितिः।।११३।।

३ - दीवाल - भीत या स्तंभ वगैरह का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग के लिये खड़े होना स्तंभ नाम का दोष है।

४ - पट्टा अथवा चटाई आदि के ऊपर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना पट्टक नाम का दोष है।

५ - शिर के ऊपर के प्रदेश में शिर के द्वारा माला अथवा रस्सी आदि का अवलंबन लेकर खडे होना - कायोत्सर्ग करना माल नाम का दोष है।

शृङ्खलाबद्धवत् पादौ कृत्वा शृङ्खलितं स्थितिः।
गुह्यं कराभ्यामावृत्य शबरीवच्छबर्यपि।।११४।।

६ - यदि अपने दोनों पैरों को संकल से जकड़े हुए कैदी के पैरों की तरह बनाकर कायोत्सर्ग करे तो उसको शृङ्खलित नाम का दोष समझना चाहिये।

७ - भिल्लिनी की तरह अपने गुह्यभाग को - शरीर के गुह्य अंग को अपने दोनों हाथों से ढककर कायोत्सर्ग करे तो वह शबरी नाम का दोष है।

लम्बितं नमनं मूर्ध्नस्तस्योत्तरितमुन्नम्: ।
उन्नमय्य स्थितिर्वक्षः स्तनदावस्तनोन्नतिः । ।११५ । ।

८ - शिर को नीचा करके कायोत्सर्ग करना लम्बित नाम का दोष है।

९ - शिर को ऊपर करके उठाकर कायोत्सर्ग करना उत्तरित नाम का दोष है।

१० - जिस प्रकार बच्चे को दूध पिलाने के लिये तैयार हुई स्त्री स्तनभाग को ऊपर उठाती है उसी प्रकार वक्षःस्थल के स्तनभागों को उठाकर कायोत्सर्ग करना स्तनोन्नति नाम का दोष है।

वायसो वायसस्येव तिर्यगीक्षा खलीनितम् ।
खलीनार्ताश्ववद्दन्तवृष्ट्योर्ध्वाधश्चलच्छिरः । ।११६ । ।

११ - कायोत्सर्ग करते समय तिरछी निगाह से कौए की तरह इधर उधर देखना वायस नाम का दोष है।

१२ - जिस प्रकार घोडा लगाम लग जानेपर दाँतो को घिसता - कट कट शब्द करता हुआ शिर को ऊपर नीचे को हिलाया करता है, उसी प्रकार दाँतों को घिसते हुए शिर को ऊपर नीचे करना खलीनित नाम का दोष है।

ग्रीवां प्रसार्यावस्थानं युगार्तगववद्युगः ।
मुष्टिं कपित्थवद्बद्ध्वा कपित्थः शीर्षकम्पनम् । ।११७ । ।
शिरःप्रकम्पितं संज्ञा मुखनासाविकारतः ।
मूकवन्मूकिताख्यः स्याद्ङ्गुलीगणनांगुली । ।११८ । ।

१३ - जिसके कंधे पर जूआ रक्खा हुआ है ऐसा बैल जिस प्रकार अपनी गर्दन को लंबी कर दिया करता है उसी प्रकार ग्रीवा को लंबा करके कायोत्सर्ग करनेवाला यदि खड़ा हो तो युग नाम का दोष है।

१४ - कायोत्सर्ग के लिये खड़े होनेपर कैथ की तरह दोनों हाथों की मुठ्ठी बाँध लेना कपित्थ नाम का दोष है।

१५ - कायोत्सर्ग के समय शिर हिलाना शीर्षकंपन नाम का दोष है।

१६ - मुख नासिका आदि के विकार प्रकट करके गूंगे की तरह इशारा करना मूकित नाम का दोष है।

१७ - अंगुलियों के द्वारा गिनना अंगुली नाम का दोष है।

भ्रूक्षेपो भ्रूविकारः स्याद् घूर्णनं मदिरार्तवत्।
उन्मत्त ऊर्ध्वं नयनं शिरोधेर्बहुधाप्यधः।।११९।।

१८ - कायोत्सर्ग करते समय भ्रूकुटियों का विकार युक्त हो जाना भ्रूक्षेप नाम का दोष है।

१९ - मदिरा पीकर उसके नशे से पागल हुआ मनुष्य जिस प्रकार घूमा करता है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करते समय घूमने से उन्मत्त नाम का दोष कहा जाता है।

२० - अनेक तरह से ग्रीवा - गर्दन को ऊपर की तरफ उठाना ग्रीवोर्ध्वनयन नाम का दोष है।

२१ - अपनी ग्रीवा को अनेक तरह से नीचे की तरफ झुकाना ग्रीवाधोनयन नाम का दोष है।

निष्ठीवनं वपुःस्पर्शो न्यूनत्वं दिगवेक्षणम्।
मायाप्रायास्थितिश्चित्रा वयोपेक्षाविवर्जनम्।।१२०।।

२२ - थूकना और श्लेष्मा आदि का निकलना निष्ठीवन नाम का दोष है।

२३ - शरीर का इधर उधर स्पर्श करना वपुःस्पर्श नाम का दोष है।

२४ - कायोत्सर्ग को जितने प्रमाण में करना चाहिये उतना न करके कुछ कम करना न्यूनता नाम का दोष है।

२५ - इधर उधर दिशाओं की तरफ देखते हुए कायोत्सर्ग करना दिगवेक्षण नाम

का दोष है।

२६ - वञ्चनायुक्त - प्राय: मायाचार से पूर्ण विचित्ररूप से कायोत्सर्ग के लिये ऐसी तरह से खड़े होना कि जिसको देखकर लोगों को आश्चर्य हो मायाप्रायास्थिति नाम का दोष है।

२७ - आयु का ख्याल करके अर्थात् वृद्धावस्था का विचार करके कायोत्सर्ग का छोड़ देना वयोपेक्षाविवर्जन नाम का दोष है।

व्याक्षेपासक्तचित्तत्वं कालपेक्षाव्यतिक्रम:।
लोभाकुलत्वं मूढत्वं पापकर्मैकसर्गता।।१२१।।

२८ - कोलाहलादि के कारण मन में विक्षेप का पैदा होना - चित्त में चंचलता या चलायमानता आ जाना व्याक्षेपासक्तचित्तता नाम का दोष है।

२९ - समय का विचार करके कायोत्सर्ग के विविध अंशों को छोड़ देना कालापेक्षा-व्यतिक्रम नाम का दोष है।

३० - गृद्धि या लोभ के वशीभूत होकर चित्त में विक्षेप पैदा होना लोभाकुलता नाम का दोष है।

३१ - कर्तव्य या अकर्तव्य के विषय में विवेक न रखना मूढता नाम का दोष है।

३२ - कायोत्सर्ग करते समय हिंसादिक पापकर्मों में उत्साह का उत्कृष्ट हो जाना पापकर्मेसर्गता नाम का दोष है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग के ३२ दोषों का स्वरूप बताकर अंत में उपसंहार करते हुए शुद्ध - इन दोषों से रहित कायोत्सर्ग करने का फल बताते हैं :-

योज्येति यत्नाद् द्वात्रिंशद्दोषमुक्ता तनूत्सृति:।
सा हि मुक्त्यङ्गदध्यानशुद्धयै शुद्धैव संमता।।१२२।।

मुमुक्षु साधुओं को अप्रमत होकर उपर्युक्त बत्तीस दोष - अतीचार छोड़कर के ही

कायोत्सर्ग करना चाहिये। क्योंकि यद्यपि नि:श्रेयस पद के प्राप्त होने का प्रधान कारण समीचीन ध्यान - धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान है। किन्तु दोनों ही ध्यानों में शुद्धि - निर्मलता शुद्ध - निरतीचार कायोत्सर्ग के करने से ही प्राप्त हो सकती है। ऐसा ही आचार्यों का अभिप्राय है। जैसा कि कहा भी है :-

सदोषा न फलं दते निर्दोषायास्तनूत्सृतेः।
किं कूटं कुरुते कार्यं स्वर्णं सत्यस्य जातुचित्।।

अर्थात् :- निर्दोष कायोत्सर्ग का फल सदोष कायोत्सर्ग से नहीं मिल सकता। क्या सच्चे सुवर्ण का काम कृत्रिम सुवर्ण दे सकता है ? कभी नहीं दे सकता। इस प्रकार कायोत्सर्ग का फल समीचीन ध्यान की निर्मलता या परंपरा से मोक्ष की प्राप्ति है, सो यह फल निर्दोष कायोत्सर्ग से ही मिल सकता है सदोष से नहीं।

ध्यान के उत्थितोत्थितादिक चार भेद हैं। उनमें दो का फल इष्ट और दो का अनिष्ट है। इसी बात को बताते हैं :-

सा च द्वयीष्टा सद्ध्यानादुत्थितस्योत्थितोत्थिता।
उपविष्टोत्थिता चोपविष्टस्यान्यान्यथा द्वयी।।१२३।।

कायोत्सर्ग दो प्रकार का है, एक इष्ट दूसरा अनिष्ट। इष्ट कायोत्सर्ग में धर्म्य और शुक्ल ध्यान किया जाता है। इन समीचीन ध्यानों के आश्रय से ही उसको इष्ट अथवा इष्ट फल का देनेवाला माना गया है। इष्ट कायोत्सर्ग दो प्रकार का है। एक उत्थितोत्थित दूसरा उपविष्टोत्थित। खड़े होकर कायोत्सर्ग करनेवाले - खड़े आसन से कायोत्सर्ग करते समय धर्म्य या शुक्लध्यान करनेवाले के उत्थितोत्थित नाम का कायोत्सर्ग कहा जाता है। क्योंकि वह मुमुक्षु अंतरंग और बहिरंग दोनों ही तरह से खड़ा हुआ ही समझा जाता है। जो बैठकर कायोत्सर्ग करनेवाले हैं उनके वह कायोत्सर्ग उपविष्टोत्थित नाम का कहा जाता है। क्योंकि वह द्रव्य से बैठा हुआ है; परंतु अंतरंग से - वस्तुत: खड़ा हुआ है। इन दोनों ही समीचीन कायोत्सर्गों से सद्ध्यान की विशुद्धि और नि:श्रेयस पद की सिद्धि

हुआ करती है। अतएव इनको ही अभीष्ट फल का देनेवाला समझकर आचार्यों ने इष्ट माना है।

इनके विरुद्ध दो प्रकार का कायोत्सर्ग अनिष्ट माना है; क्योंकि उनका फल अनिष्ट - संसार की वृद्धि करनेवाला है उस अनिष्ट कायोत्सर्ग के दो भेद इस प्रकार हैं। - एक तो उपविष्टोपविष्ट दूसरा उत्थितोपविष्ट। जो बैठकर आर्त अथवा रौद्रध्यान करता है उसके कायोत्सर्ग को उपविष्टोविष्ट कहते हैं। क्योंकि वह द्रव्य और भाव दोनों ही तरफ से बैठा हुआ है। जो खड़े होकर आर्त या रौद्रध्यान करता है उसके कायोत्सर्ग को उत्थितोपविष्ट कहते हैं। क्योंकि वह द्रव्य से खड़ा हुआ है परंतु भावों से बैठा हुआ है।

इन इष्ट - अनिष्ट चार प्रकार के कायोत्सर्ग का स्वरूप आगम में भी इसी प्रकार कहा है। यथा :-

त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता।
उपविष्टोपविष्टादिविभेदेन चतुर्विधा।।
आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते।
उपविष्टोपविष्टाख्या कथ्यते मा तनूत्सृतिः।।
धर्म्यशुक्लद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते।
उपविष्टोपविष्टोत्थितां सन्तस्तां वदन्ति तनूत्सृतिम्।।
आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।
तामुत्थितोपविष्टाख्यां निगदन्ति महाधियः।।
धर्म्यशुक्लद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।
उत्थितोत्थितनामानं तां भाषन्ते विपश्चितः।।

अर्थात् :- शरीर से ममत्व के छोड़ देने को कायोत्सर्ग कहते हैं। इसके उपविष्टोपविष्ट आदि चार भेद हैं बैठकर आर्त रौद्र का चिंतवन करना उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग समझना। बैठकर धर्म्यशुक्ल का चिंतवन करना उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग है। खड़े होकर आर्तरौद्र का चिंतवन करना उत्थितोपविष्ट कायोत्सर्ग है। और खड़े होकर धर्म्यशुक्ल का चिंतवन करना उत्थितोत्थित नाम का कायोत्सर्ग है।

शरीर से ममत्व का त्याग विना किये अनशन आदि व्रतों के करने पर भी कोई भी मुमुक्षु अपनी आत्मा की इष्ट सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। इसी बात को स्पष्ट करते हैं :-

जीवद्देहममत्वस्य जीवत्याशाप्यनाशुषः।
जीवदाशस्य सद्ध्यानवैधुर्यात्तत्पदं कुतः।।१२४।।

जिस प्राणी के अंतरङ्ग में शरीर के प्रति ममत्वभाव जागृत है वह कैसा भी अनशनादि व्रत करे परंतु उसके भोगोपभोगादि के विषयों को प्राप्त करने की इच्छा भी अवश्य ही जीवित रहा करती है। और जिसके इस लोक संबंधी विषयों की आशा लगी हुई है वह धर्मध्यान शुक्लध्यान अथवा समाधि को किस तरह सिद्ध कर सकता है। और समीचीन ध्यान के सिद्ध हुए विना आत्मपद - मोक्ष का लाभ किस तरह हो सकता है।

भावार्थ :- समीचीन ध्यान के सिवाय कोई भी ऐसा आचरण नहीं है कि जिससे कर्मों की निःशेष निर्जरा होकर शुद्धात्मपद प्राप्त हो सके। और इस ध्यान की सिद्धि के लिये आशा का त्याग और आशा का परित्याग करने के लिये शरीर से ममत्व छोड़ना अत्यंत आवश्यक है। अतएव इष्ट पद को प्राप्त करने के लिये अनशनादिक व्रताचरण करनेवालों को शरीर से ममत्व का त्याग करना ही चाहिये।

कायोत्सर्ग का काल जघन्य अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक वर्ष का बताया है। सो अतीचारों - मलदोषों को दूर करने के लिये और षडावश्यकक्रियाओं को सिद्ध करने के लिये - उन क्रियाओं के पालन करने में दृढ़ता - निष्ठा प्राप्त करने के लिये उतने काल तक कायोत्सर्ग करना ही चाहिये। परंतु यदि उतने काल प्रमाण से अधिक समय तक भी अपनी शक्ति के अनुसार किया जाय तो वह दोष का कारण नहीं है। प्रत्युत उससे लाभ ही है। इसी बात को कहते हैं :-

हृत्वापि दोषं कृत्वापि कृत्यं तिष्ठेत् तनूत्सृतौ।
कर्मनिर्जरणाद्यर्थं तपोवृद्ध्यै च शक्तितः।।१२५।।

जितनी देर तक कायोत्सर्ग करके दोषोच्छेदन किया जा सकता है उतनी देर तक

कायोत्सर्ग करने के उपरांत अथवा षडावश्यकक्रियाओं के करने में जितना कायोत्सर्ग करना चाहिये उतने काल तक कायोत्सर्ग करके संचित कर्मों की निर्जरा और नवीन कर्मों का संवरण करने के लिये अथवा तप को बढ़ाने के लिये शक्ति के अनुसार और भी खड़े रहना चाहिये।

भावार्थ :- नियत समय तक तो कायोत्सर्ग करना ही चाहिये। क्योंकि उससे दोषों का परिहार और संवर निर्जरा के कारणभूत कर्म की सिद्धि होती है। परंतु नियतकाल के अनंतर शक्ति को बढ़ाने के लिये अधिक भी खड़ा रहे - कायोत्सर्ग करे तो इसमें कोई दोष नहीं है। बल्कि ऐसा करने से तपस्या और उसकी शक्ति बढ़ती है, यह लाभ ही है।

मन, वचन, काय से शुद्ध - पवित्र क्रियाकर्म करने का अधिकारी कैसा होना चाहिये सो बताते हैं :-

यत्रस्वान्तमुपास्य रूपरसिकं पूतं च योग्यासनाद्य, -
प्रत्युक्तगुरुक्रमं वपुरनुज्येष्ठोद्घपाठं वचः।
तत् कर्तुं कृतिकर्म सज्जतु जिनोपास्त्योस्तुकस्तात्त्विकः,
कर्मज्ञानसमुच्चयव्यवसितः सर्वंसहो निस्पृहः।।१२६।।

जिस कृतिकर्म के करते समय भव्यजीवों का मन सिद्ध परमेष्ठी प्रभृति आराध्य देवों के स्वरूप की उपासना करने में सातिशय अनुराग को प्राप्त हो जाता है, और अत्यंत विशुद्ध परिणामों को धारण करके पवित्र बन जाता है। इसी प्रकार जिस कृतिकर्म के समय मुमुक्षुओं का शरीर अत्यंत पवित्र तथा योग्य आसनादि के करने से गुरुक्रम का उल्लंघन न करने में सावधान रहा करता है। अर्थात् दीक्षा की अपेक्षा जो बड़े हैं उनके समक्ष क्रिया करने की परीपाटी को यहाँ गुरुक्रम समझना चाहिये। उचित आसनादि का प्रयोग करने के कारण शरीर के द्वारा जहाँ पर गुरुक्रम का भंग नहीं किया गया है। एवं जिस कर्म के करने में वचन, बड़ों के बताये क्रम के अनुसार प्रशस्त उच्चारण से युक्त और वर्ण पद आदि से शुद्ध रहा करते हैं, फलतः जिस कृतिकर्म के करने

में उसके करनेवालों के मन शरीर और वचन तीनों ही शुद्ध - पवित्र बन जाते हैं, उस कर्म को करनेवाला कैसा होना चाहिये ? इसी बात का उत्तर पाँच विशेषणों के द्वारा यहाँ पर देते हैं :-

१ - अरिहंत भगवान की उपासना द्वारा कृतिकर्म करने में जिसकी उत्कण्ठा बढ़ रही है।

२ - जो पारमार्थिक हो। वंचना आदि का भाव न रखकर सचमुच में क्रियाकर्म करके संवर और निर्जरा को प्राप्त कर आत्मकल्याण का अभिलाषी हो।

३ - आगम में बताई हुई क्रियाओं के करने और निज स्वरूप के ज्ञान का संग्रह करने में जो उत्साह के साथ प्रवृत्ति करता हो।

४ - परीषह और उपसर्गों के सहन करने - जीतने में समर्थ हो।

५ - ऐहिक विषय भोगोपभोग की अभिलाषा तथा शरीरादिक की ममता से रहित हो।

भावार्थ :- इन पाँच गुणों से युक्त जीव ही त्रियोगशुद्ध कर्म करने का अधिकारी हो सकता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

सव्याधेरिव कल्पत्वे विदृष्टेरिव लोचने।
जायते यस्य संतोषो जिनवक्त्रविलोकने।।
परीषहसहः शान्तो जिनसूत्रविशारदः।
सम्यग्दृष्टिरनाविष्टो गुरुभक्तः प्रियंवदः।।
आवश्यकमिदं धीरः सर्वकर्मनिषूदनम्।
सम्यक् कर्तुमसौ योग्यो नापरस्यास्ति योग्यता।।

जिस प्रकार बीमार आदमी को निरोगता प्राप्त हो जानेपर, और अंधे मनुष्य को नेत्रों का लाभ हो जानेपर हर्ष - संतोष हुआ करता है; उसी प्रकार जिन भगवान के मुखकमल को देखते ही जिसको प्रसन्नता हो आती है। जो परीषहों के जीतने में समर्थ हैं, और जिसके क्रोधादिक कषायों का उद्रेक नहीं पाया जाता, जो जिन भगवान के उपविष्ट तत्त्वों का स्वरूप समझने में कुशल है, जो सम्यग्दर्शन से युक्त, आवेश रहित, गुरुजनों

का भक्त, और प्रियवचन बोलनेवाला है, वही धीर वीर संपूर्ण कर्मों को नष्ट करनेवाले इस आवश्यक कर्म के करने का अधिकारी हो सकता है। और किसी में इसकी योग्यता नहीं रह सकती।

पहले 'क्रमवत्' ये विशेषण जो दिया है उसका तात्पर्य मंद ज्ञानियों को भी भलेप्रकार हो जाय इसलिये उसका अभिप्राय स्पष्ट करते हैं :-

प्रेप्सुः सिद्धिपथं समाधिमुपविश्यावेद्य पूज्यं क्रिया, -
मानम्यादिलयभ्रमत्रयशिरोनामं पठित्वा स्थितः।
साम्यं त्यक्तनुर्जिनान् समदृशः स्मृत्वावनम्य स्तवं,
युक्त्वा साम्यवदुक्तभक्तिरुपविश्यालोचयेत् सर्वतः।।१२७।।

निज आत्मस्वरूप की प्राप्ति की उपायभूत समाधि - रत्नत्रय की एकाग्रता को जो प्राप्त करना चाहते हैं उन संयमियों अथवा एकदेश संयमियों को बैठकर नमस्कार करके कर्तव्यकर्म का पूज्य गुरुओं से आवेदन करना चाहिये अर्थात् प्रणामपूर्वक और अत्यंत विनय के साथ 'चैत्यभक्तिकायोत्सर्ग करोमि' इत्यादि पाठ बोलकर क्रिया - कर्म की विज्ञापना करनी चाहिये। फिर खड़े होकर आदि और अंत में तीन-तीन आवर्त और एक एक शिरोनति के साथ-साथ सामायिकदण्डक का पाठ बोलकर कायोत्सर्ग के लिये खड़े होना चाहिये। अर्थात् शरीर से ममता छोड़कर कायोत्सर्ग करना चाहिये। इसके बाद समदृष्टि - जीवन मरण हानि लाभ यश अपयश और शत्रुमित्र में समभाव रखनेवाले - रागद्वेष न करनेवाले जिन - पूर्णरूप से अथवा एकदेशरूप से कर्म शत्रुओं को जीतनेवाले अर्हदादि पाँचो ही परमेष्ठी का चिंतवन करके और नमस्कार करके सामायिक की तरह अर्थात् आदि और अंत में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति के साथ 'थोस्सामि' इत्यादि स्तवदण्डक बोलकर वंदनाकल्प का पाठ करके सभी अंशो की आलोचना करनी चाहिये।

भले प्रकार षडावश्यकों का पालन करनेवालों के चिन्हों को बताते हैं :-

शृण्वन् हृष्यति तत्कथां घनरवं केकीव मूकैडतां,
तद्गर्हेऽङ्गति तत्र यस्यति रसे वादीव नास्कन्दति।

क्रोधादीन् जिनवन्न वैद्यपतिवद् व्यत्येति कालक्रमं,
नित्यं जातु कुलीनवन्न कुरुते कर्ता षडावश्यकम्।।१२८।।

जिस प्रकार मयूर मेघ के शब्दों को सुनकर प्रसन्न हुआ करता है उसी प्रकार षडावश्यकों का अच्छी तरह पालन करनेवाला साधु उसकी कथा - षडावश्यक की प्रशंसा या निरूपण सुनकर हर्ष को प्राप्त हुआ करता है। उनकी निंदा के विषय में गूंगा और बहिरा बन जाया करता है। न तो स्वयं ही आवश्यकों की निंदा करता है और न दूसरों की हुई निंदा को सुनता ही है। आवश्यकों का पालन करने में इस प्रकार सदा अप्रमत्त प्रवृत्ति किया करता है जैसे कि कोई धातुवादी - रसायन सिद्ध करनेवाला पारद आदि रस के सिद्ध करने में निरंतर सावधान रहा करता है। जिस प्रकार क्षीणकषाय ऋषि कषाय का संपर्क नहीं होने देता उसी प्रकार षडावश्यक का पालन करनेवाला भी क्रोधादिक का प्रवेश नहीं होने देता। तथा वैद्यराज की तरह काल और क्रम का कभी अतिक्रम नहीं होने देता। जिस प्रकार वैद्य के लिये कहा गया है कि :-

प्रावृट् सुक्रनभोतेषु शरदूर्जसहौ स्मृतौ।
तपस्यो मधुमासश्च वसन्त शोधनं प्रति।।
स्वस्थवृत्त्यमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधिवशेन तु।
कृत्त्वा शीतोष्णवृष्टीनां प्रतीकारं यथायथाम्।।
प्रयोजयेत् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत्।

अर्थात् :- प्रावृट् - वर्षा आदि जिस-जिस ऋतु में जिस-जिस प्रकार की चिकित्सा करना उचित है उस समय में उसी प्रकार इलाज करना चाहिये। वैद्यों को चिकित्सा का काल छोड़ना या भूलना उचित नहीं है। उसी प्रकार क्रम के लिये भी कहा गया है कि :-

प्राक्पाचनं स्नेहविधिस्ततश्च स्वेदस्ततः स्याद्वमनं विरेकः।
निरूहणं स्नेहनबस्तिकर्म नस्यं क्रमश्चेति भिषग्वराणाम्।।इति।

अर्थात् :- सबसे पहले पाचन उसके बाद क्रम से स्नेहविधि स्वेद वमन विरेक निरूहण-बस्तिकर्म स्नेहबस्तिकर्म और नस्य का प्रयोग करना चाहिये। इसी तरह जो षडावश्यकों का पालन करनेवाला है वह भी उनके काल और क्रम को चूकता नहीं है। जो आवश्यक जिस समय और जिस क्रम से करना चाहिये उसको उसी समय और उसी क्रम से किया करता है। तथा जिस तरह कोई महान् वंश में उत्पन्न होनेवाला कुलीनपुरुष कभी भी ऐसा कोई काम नहीं किया करता जो कि उसके कुल के विरुद्ध हो; उसी तरह षडावश्यक का पालन करनेवाला साधु भी कभी ऐसा कोई निंद्य आचरण नहीं किया करता जो कि लोकविरुद्ध कुलविरुद्ध और समयविरुद्ध अर्थात् शास्त्र या आगम अथवा गुरुपरंपरा के विरुद्ध हो।

यहाँ पर जातु - कदाचित् शब्द अन्त्यदीपक है, अतएव यद्यपि उसका प्रयोग अंतिम वाक्य के साथ ही किया गया है तो भी उसका संबंध यथासंभव सभी वाक्यों के साथ कर लेना चाहिये।

इसी विषय में और जगह भी ऐसा कहा गया है कि :-

तत्कथाश्रवणानन्दो निन्दाश्रवणवर्जनम्।
अलुब्धत्वमनालस्यं निन्द्यकर्मव्यपोहनम्।।
कालक्रमाऽव्युदासित्वमुपशान्तत्वमार्जवम्।
विज्ञेयानीति चिन्हानि षडावश्यककारिणः।।

अर्थात् :- षडावश्यकों की प्रशंसा सुनकर आनंदित होना और उनकी निंदा को न सुनना, तथा अलुब्धता, अनालस्य और निंद्य आचरणों का परित्याग, काल तथा क्रम को छोड़ना नहीं और उपशान्तता, तथा आर्जव भावों को धारण करना, ये षडावश्यक का पालन करनेवाले के चिन्ह समझने चाहिये।

पूर्वोक्त षडावश्यकों का पूर्णतया अच्छी तरह पालन करनेवाले पुरुष को निःश्रेयस पद की और अपूर्णतया पालन करनेवाले को स्वर्गादिक अभ्युदयों की प्राप्ति हुआ करती है। ऐसा कहकर षडावश्यक के पालन करने का फल बताते हैं :-

समाहितमना मौनी विधायावश्यकानि ना।
संपूर्णानि शिवं याति सावशेषाणि वै दिवम्।।१२९।।

प्रकृत विषय के सिवाय अन्य किसी भी विषय में वार्तालाप न करनेवाला, द्रव्यपुरुष एकाग्रचित्त होकर सामायिकादि छहों आवश्यकों का पूर्णरूप से यदि भलेप्रकार पालन करता है तो वह नियम से मोक्षपद को प्राप्त किया करता है। और जो कुछ कमती पालन करता है वह नियम से स्वर्गति - कल्पवासियों में महर्द्धिकपद को प्राप्त किया करता है। यह फल अशक्ति की अपेक्षा से ही बताया है। क्योंकि वृद्धपुरुषों का वचन है कि :-

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तं च सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं।।

जिस विषय के पालन करने की सामर्थ्य है उस विषय का पालन करना ही चाहिये। परंतु जिसके पालन करने की शक्ति नहीं है उसको श्रद्धान रखना चाहिये। क्योंकि श्रद्धानीजीव ही अजर अमर पद को प्राप्त किया करते हैं।

यहाँ पर वै शब्द के द्वारा जो नियम बताया है उससे इस कथन का तात्पर्य समझना चाहिये कि :-

सर्वैरावश्यकैर्युक्तः सिद्धो भवति निश्चितम्।
सावशेषैस्तु संयुक्तो नियमात्स्वर्गो भवेत्।।

अर्थात् :- संपूर्ण आवश्यकों का पालन करनेवाला नियम से सिद्धपद को और अपरिपूर्ण का पालन करनेवाला नियम से स्वर्गति को प्राप्त किया करता है।

उक्त षडावश्यक क्रियाओं की तरह साधुओं को दूसरी सामान्य क्रियाओं का भी नित्य पालन करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं :-

आवश्यकानि षट् पञ्च परमेष्ठिनमस्क्रियाः।
निसही चाऽसही साधोः क्रियाः कृत्यास्त्रयोदशः।।१३०।।

छह आवश्यक क्रियाएँ और अर्हदादिक पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करने की पाँच क्रियाएँ तथा एक निसही और एक असही, इस तरह कुल तेरह क्रियाएँ हैं कि जिनका साधुओं को प्रतिदिन अवश्य पालन करना ही चाहिये।

अर्हदादि परमेष्ठियों को भावों से पंचनमस्कार करनेवाला
क्या फल प्राप्त करता है सो बताते हैं :-

योर्हत्सिद्धाचार्याध्यापकसाधून् नमस्करोत्यर्थात्।
प्रयतमतिः खलु सोखिलदुःखविमोक्षं प्रयात्यचिरात्।।१३१।।

जो जीव अर्हन्त परमेष्ठी - सकल परमात्मा और सिद्धपरमेष्ठी - विकलपरमात्मा को तथा आचार्य, उपाध्याय और ढाईद्वीपवर्ती संपूर्ण साधुओं को भावों से नमस्कार करता है और उसके लिये ही प्रयत्न करने का चित्त में विचार किया करता है वह जीव संसार के चतुर्गतिसंबंधी संपूर्ण दुःखों से थोड़े ही काल में नियम से छूट जाया करता है।

भावार्थ :- पंचपरमेष्ठियों की भाव से वंदना करनेवाला और उसके लिये प्रयत्नशील रहनेवाला मनुष्य अल्पकाल में ही शाश्वतिक निर्दुःख पद - परम निःश्रेयस को प्राप्त कर सकता है।

निसही और असही इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग कब क्यों और किस तरह करना चाहिये सो बताते हैं :-

वसत्यादौ विशेत् तत्सथं भूतादिं निसहीगिरा।
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्तं चाप्रच्छ्याऽसहीगिरा।।१३२।।

साधुओं को जब मठ चैत्यालय या वसतिका आदि में प्रवेश करना हो तब उन मठादिकों में रहनेवाले भूत यक्ष नाग आदिकों से 'निसही' इस शब्द को बोलकर पूछकर प्रवेश करना चाहिये। इसी तरह जब वहाँ से निकलना हो तब 'असही' इस शब्द के द्वारा उनसे पूछकर निकलना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

निसही और असही शब्द का निश्चयनय की अपेक्षा से अर्थ बताते हैं :-

आत्मन्यात्मासितो येन त्यक्ता वाऽऽशास्य भावतः।
निसह्यसह्यौ स्तोन्यस्य तदुच्चारणमात्रकम्।।१३३।।

जिस साधुने अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में ही स्थापित कर रक्खा है अर्थात् रोक रक्खा है उसके निश्चयनय से निसही समझना चाहिये। और जितने इसलोक परलोक आदि संपूर्ण विषयों की आशा का परित्याग कर दिया है उसके निश्चयनय से असही समझना चाहिये। किंतु उसके प्रतिकूल जो बहिरात्मा हैं अथवा आशावान् हैं उनके निसही और असही केवल शब्दोच्चारण मात्र ही समझना चाहिये।

भावार्थ :- निसही और असही निश्चयनय से जो अंतरात्मा तथा परिग्रह रहित निर्ग्रंथ साधु हैं उन्हीं के समझना चाहिये। और जो वैसे नहीं है उनके केवल निसही असही शब्द का उच्चारण मात्र ही कहा जा सकता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

स्वात्मन्यात्मासितो येन निषिद्धो वा कषायतः।
निसही भावतस्तस्य शब्दोन्यस्य हि केवलः।।

अर्थात् :- जिसने अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में ही स्थापित - उपयुक्त कर रक्खा है, अथवा कषाय परिणामों से रोक रक्खा है उसीके निश्चय से निसही समझना चाहिये। जो ऐसा नहीं है उसके निसही शब्द उच्चारण मात्र ही रहा करता है।

इसी तरह :-

आशां यस्त्यक्तवान् साधुरसही तस्य भावतः।
त्यक्ताशा येन नो तस्य शब्दोच्चारो हि केवलः।।

अर्थात् :- जिस साधुने आशा को छोड़ दिया है भावतः असही उसीके कही जा सकती है। और जिसने आशा को छोड़ा नहीं है उसके केवल उसका उच्चारण ही

कहना चाहिये।

और भी कहा है कि :-

निषिद्धचित्तो यस्तस्य भावतोस्ति निषिद्धिका।
अनिषिद्धस्य तु प्रायः शब्दतोस्ति निषिद्धिका।।
आशया विप्रमुक्तस्य भावतोस्त्यासिका मता।
आशया त्वविमुक्तस्य शब्द एवास्ति केवलम्।।

अर्थात् :- जिसने अपने चित्त को विषयों से उपरत बना रक्खा है भावतः निषिद्धिका - निसही उसी के रहा करती है। और जिसका चित्त संयत नहीं है उसके निषिद्धिका शब्दमात्र ही रहती है। इसी तरह जो आशा से रहित है उसके भाव से और जो उससे युक्त है उसके शब्दमात्र ही आसिका - असही रहा करती है।

अब अंत में प्रकृतविषय का उपसंहार करते हुए नित्यनैमित्तिक क्रियाकर्म का पालन करने के लिये साधुओं को प्रेरित करते हैं :-

इत्यावश्यकनिर्युक्तावुपयुक्तो यथाश्रुतम्।
प्रयुञ्जीत नियोगेन नित्यनैमित्तिकक्रिया।।१३४।।

पूर्व में आवश्यकों के पालन करने की जो रीति नीति बताई गई है तदनुसार आवश्यकों के संपूर्ण उपायों में दत्तचित्त होकर कृतिकर्म की विधि बतानेवाले शास्त्रों के अनुसार तथा गुरु परंपरा से जो उपदेश चला आ रहा है उसके अनुसार साधुओं को नित्यनैमित्तिक क्रियाओं का पालन अवश्य ही करना चाहिये।

मोक्षकल्याण में अपनी बुद्धि लगाकर जिसने श्री जिनेन्द्र भगवान् के उपदिष्ट आगमरूपी क्षीरसमुद्र का मंथन करके सुमना - विद्वानों (पक्ष में देवताओं) की तृप्ति के लिये इस धर्मरूपी अमृत को उद्धृत किया है वह महापंडित श्री आशाधर जयवंता रहो तथा वह प्रसिद्ध भव्यात्मा हरदेव भी सदा आनंद को प्राप्त हो कि जिसके उपयोग के लिये इस टीकारूपी शुक्ति की सुखपूर्वक रचना हुई है।

इस प्रकार आवश्यकनिर्युक्त नाम का आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

इति श्री परमपूज्य धर्मसाम्राज्यनायक योगींद्रचूडामणि सिद्धांतपारंगत, चारित्रचक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के आदेश से ज्ञानदान के लिये श्री प. पू. चा. च. आ. श्री १०८ शांतिसागर दिगंबर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था की ओर से छपे हुए श्री महापण्डित श्री आशाधरकृत अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका विषैं आठवाँ अध्याय संपूर्ण भया।।८।।

ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण वीर नि. सं. २४८१

श्री वीतरागाय नमः

(वीर संवत् २४८१) ।।ॐ नमः सिद्धेभ्यः।। (ग्रंथ प्रकाशन, समिति फलटण

।।महापंडित श्री आशाधर कृत अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका।।

साधुओं को नित्यकर्म की विधि का पालन करने में उद्यमी बनाने के लिये चवालीस पद्यों में वर्णन करते हैं :-

शुद्धस्वात्मोपलम्भाग्रसाधनाय समाधये।
परिकर्म मुनिः कुर्यात् स्वाध्यायादिकमन्वहम्।।१।।

निज आत्मस्वरूप में सब तरफ से चित्त का हटकर लग जाना इसको योग अथवा समाधि कहते हैं। इस योग की सिद्धि के पहले उसकी योग्यता उत्पन्न करने के लिये जो क्रियाएँ पाली जाती हैं उनको परिकर्म कहते हैं। इसके भेदों को आगे चलकर लिखेंगे। साधुओं को परिकर्म स्वाध्यायादिक भेदों का प्रतिदिन पालन करना चाहिये। क्योंकि इनका पालन करने से ही समाधि की सिद्धि हो सकती है। और उस समाधि के द्वारा ही निज शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि निर्मल चित्स्वरूप का लाभ होने में प्रधान कारण चित्त की एकाग्रतारूप ध्यान ही है। जैसा कि कहा भी है कि :-

यदात्रिकं फलं किंचित् फलमामुत्रिकं च यत्।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणम्।।

अर्थात् जीवों को संसार में जो आभ्युदयिक फल प्राप्त हुआ करते हैं, अथवा पारलौकिक निर्विकल्प आत्मसमुत्थ सुखादि का लाभ हुआ करता है, उन दोनों ही लाभों का प्रधान कारण ध्यान ही माना है।

परिकर्म के प्रथम भेद स्वाध्याय के प्रारंभ करने और समाप्त करने की विधि बताते हैं :-

स्वाध्यायं लघुभक्त्यात्‌ श्रुतसूर्योरहर्निशे।
पूर्वेऽपरेपि चाराध्य श्रुतस्यैव क्षमापयेत्‌।।२।।

स्वाध्याय का प्रारंभ दिन और रात्रि के पूर्वाह्न तथा अपराह्न के समय लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्यभक्ति का पाठ करके करना चाहिये। इस तरह विधिपूर्वक उसको नियत समय तक करके अंत में लघु श्रुतभक्ति का पाठ करके उसकी समाप्ति करनी चाहिये।

भावार्थ :- स्वाध्याय के समय ४ माने हैं; जिनमें दो दिन के और दो रात्रि के हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं गौसर्गिक आपराह्निाक प्रादोषिक वैरात्रिक। इन चारों ही समयों में साधुओं को आलस्य छोड़कर स्वाध्याय करना उचित है। जैसा कि कहा भी है कि :-

एक प्रादोषिको रात्रौ द्वी च गोसर्गिकस्तया।
स्वाध्यायाः साधुभिः सर्वे कर्तव्याः सन्त्यतन्द्रितैः।।

स्वाध्याय का प्रारंभ करते समय 'अर्हद्वक्त्रप्रसूतम्' इत्यादि लघु श्रुतभक्ति का पाठ - अञ्चलिका मात्र बोलकर और व्यवहार के अनुसार आचार्यादिकों की भी भक्ति करके नियत समय में स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। आगम में स्वाध्याय के विषय में बारह कायोत्सर्ग बताये हैं जिसका कि पहले वर्णन कर चुके हैं। वंदना आदि के विषय में छह आदि कायोत्सर्ग हुआ करते हैं जिनका कि उल्लेख आगे चलकर तत्तत्प्रकरण में किया जायगा।

उपर्युक्त स्वाध्यायों के प्रारंभ और समाप्ति के काल की इयत्ता - प्रमाण बताते हैं :-

ग्राह्यः प्रगे द्विघटिकादूर्ध्वं स प्राक्ततश्च मध्याह्ने।
क्षम्योऽपराह्णपूर्वापररात्रेष्वपि दिगेषैव।।३।।

प्रातःकाल का स्वाध्याय सूर्योदय से दो घड़ी दिन चढ़ जाने पर शुरू करना चाहिये और मध्याह्न में दो घडी काल बाकी रहे तभी समाप्त कर देना चाहिये। इसी तरह अपराह्न-स्वाध्याय का प्रारंभ साधुओं को मध्याह्न से दो घड़ी काल बीत जानेपर शुरू करना चाहिये। और सूर्यास्त के समय से दो घड़ी पहले ही समाप्त कर देना चाहिये। पूर्वरात्रिक और अपररात्रिक स्वाध्याय के विषयमें भी यही क्रम समझना चाहिये। अर्थात् पूर्वरात्रिक स्वाध्याय का प्रारंभ साधुओं को सूर्यास्त से दो घड़ी के अनंतर करना चाहिये और मध्यरात्रि के दो घड़ी पहले समाप्त कर देना चाहिये। तथा अपररात्रिकस्वाध्याय का प्रारंभ अर्धरात्रि के दो घड़ी पीछे करना चाहिये और प्रातःकाल से दोघडी पहले समाप्त करना चाहिये।

स्वाध्याय का लक्षण और उसके विधिपूर्वक पालन
करने का फल बताते हैं :-

सूत्रं गणधराद्युक्तं श्रुतं तद्वाचनादयः।
स्वाध्यायः स कृतः काले मुक्त्यै द्रव्यादिशुद्धितः।।४।।

गणधर आदि के प्ररूपित शास्त्रों को सूत्र कहते हैं। इन सूत्रों के वाचना पृच्छना अनुप्रेक्षा आम्नाय और धर्मोपदेश को स्वाध्याय कहते हैं। यह स्वाध्याय योग्य समय में और द्रव्यादिक को शुद्धिपूर्वक करने से कर्मों का क्षय होता और मुक्ति की प्राप्ति होती है।

भावार्थ :- गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्व का ज्ञान रखनेवाले आचार्यों द्वारा उपदिष्ट ग्रंथों को सूत्र कहते हैं। यथा :-

सुत्तं गणहरकहिदं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च।
सुदकेवलिणा कहिदं अभिण्णदसपुव्विकहिदं च।।
तं पढिदुमसज्झाए ण य कप्पदि विरदि इत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए।।
आराधणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती असग्गहथुदीवो।
पच्चक्खाणावासय धम्मकहाओ य एरिसओ।।

अर्थात् :- गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और दशपूर्व के पाठी आचार्यों द्वारा कथित ग्रंथो को सूत्र कहते हैं। उसका पाठ स्वाध्याय के नियतकाल में ही करना चाहिये। अयोग्यकाल में उसका पाठ करना उचित नहीं है। अस्वाध्यायकाल में सूत्र से भिन्नग्रंथों का पाठ किया जा सकता है।

यह स्वाध्याय वाचना आदि के भेद से पाँच प्रकार का बताया है। स्वाध्याय करनेवाले को अपने शरीर की तथा पर शरीर की शुद्धि का विचार करना उचित है। इसी प्रकार स्वाध्याय करनेवाले को भूमिशुद्धि का भी विचार करके चारों दिशाओं में रुधिर मांसादिक चारसौ हाथ की दूरी पर ही छोड़ देना चाहिये। तथा आगम में स्वाध्याय के लिये जो अयोग्य समय बताये हैं उनमें स्वाध्याय करना उचित नहीं है। यथा :-

दिसिदाहउक्कपडणं विज्जुवक्काऽसणिंदधणुगं च।
दुग्गंधसंझ दुद्दिण - चंदगहा - सूरराहुजुद्धं च।।
कलहादिधूमकेदू धरणीकंपं च अंभगज्जं च।
इच्छेवमाइबहुगा सज्झाए वज्जिदा दोसा।।

अर्थात् :- अग्निदाह उल्कापात बिजली उल्का वज्र इन्द्रधनुष दुर्गंध संध्या दुर्दिन चंद्रग्रहण सूर्यग्रहण युद्ध धूम्रकेतु भूकंप मेघगर्जन इत्यादि बहुत से प्रिय प्रधान की मृत्यु आदि दूषित समय स्वाध्याय के लिये वर्जित कहे हैं।

विनयपूर्वक श्रुत का अध्ययन करने में क्या माहात्म्य है सो बताते हैं :-

श्रुतं विनयतोऽधीतं प्रमादादपि विस्मृतम्।
प्रेत्योपतिष्टतेऽनूनमावहत्यपि केवलम्।।५।।

विनयपूर्वक जिस श्रुत का अध्ययन किया गया है वह यदि कारणवश प्रमाद के निमित्त से विस्मृत भी हो जाय तो भी वह कालांतर में या दूसरे जन्म में ज्यों का त्यों - अविकलरूप में आकर उपस्थित हो जाता है। और पूर्ण केवलज्ञान तक को उत्पन्न कर देता है।

भावार्थ :- विनयपूर्वक शास्त्र पढने का यह फल है कि यदि वह कदाचित् प्रमाद के द्वारा याद न भी रहे फिर भी वह जन्मान्तर तक में सबका सब स्मरण में आ सकता है। बल्कि उसके निमित्त से क्रम से केवल - असहाय ज्ञानतक की उत्पत्ति हो सकती है। जैसा कि कहा भी है कि :-

विणएण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होइ विस्सरिदं।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि।।

अर्थात् :- विनय के साथ पढा हुआ श्रुत यदि प्रमाद से विस्मृत भी हो जाय तो भी वह परभव में उपस्थित - स्मृत हो जाता है और केवलज्ञानतक का लाभ कराता है।

जिस विशिष्टज्ञान से तत्त्वज्ञान आदि मोक्ष के साधन प्राप्त हुआ करते हैं वह जिनशासन में ही मिल सकता है, अन्यत्र नहीं; ऐसा उपदेश करते हैं :-

तत्त्वबोधमनोरोधश्रेयोरागात्मशुद्धयः
मैत्रीद्योतश्च येन स्युस्तज्ज्ञानं जिनशासने।।६।।

'सर्व वस्तुजातमनेकान्तात्मकम्' अर्थात् संपूर्ण वस्तुमात्र अनंतधर्मात्मक हैं, इस सिद्धांत

को जिनशासन कहते हैं। और इसके विरुद्ध सर्वथा एकान्तरूप वस्तु को माननेवाले सर्वथैकान्तवादी कहे जाते है। सो तत्त्वज्ञानादि पाँच या छह विषय ऐसे हैं जो कि इस जिनशासन में ही मिल सकते हैं, अन्यत्र - सर्वथैकान्तवादियों के मन में नहीं।

१ तत्त्वबोध - तत्त्व तीन प्रकार के माने गये हैं, १ हेय, २ उपादेय और ३ उपेक्षणीय। इनमें से यथायोग्य अर्थात् हेय का हेयरूप से, उपादेय का उपादेयरूप से और उपेक्षणीय का उपेक्षणीयरूप से बोध - प्रतिपत्ति होना उसको तत्त्वबोध कहते हैं। यथा :-

इतीदं जीवतत्त्वं यः श्रद्धत्तेः वेत्त्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग् भवेत्।।

अर्थात् :- जो भव्य अजीवादिक छह तत्त्वों के साथ-साथ इस जीवतत्त्व का श्रद्धान करता है, ज्ञान प्राप्त करता है और उपेक्षणीय में उपेक्षा किया करता है वही जीव निर्वाण का भागी हो सकता है। सारांश यह कि सात तत्त्वों में हेय उपादेय और उपेक्षणीय तत्त्वों का स्वरूप समझकर उनमें उसी प्रकार का श्रद्धानादि होना तत्त्वबोध का वास्तविक स्वरूप हैं। तत्त्वबोध से मोक्ष का भागी जीव बन सकता है। परंतु इस प्रकार का तत्त्वबोध - जिनशासन - सर्वज्ञ वीतराग भगवान के मत में ही मिल सकता है, अन्य मतों में नहीं।

२ मनोरोध - चित्त को विषयों की तरफ से हटाना, उसको पर पदार्थों की या विषयों की तरफ जाने न देना मनोरोध कहा जाता है। 'यद्यदैव मनसि स्थितं भवेत् ततदैव सहसा परित्यजेत्' अर्थात् मन में जब कोई पदार्थ आकर उपस्थित हो तो उसको उसी समय छोड़ देना चाहिये। आत्मकल्याण या मोक्षमार्ग के विरुद्ध कैसा भी विचार यदि मन में उत्पन्न हो तो उसको एक क्षण भी ठहरने नहीं देना चाहिये। यही मन के निग्रह करने का उपाय है। इसको भी मनोरोध कहते हैं। सो यह मनोरोध भी सिवाय जिनशासन के अन्यत्र नहीं मिल सकता।

३ श्रेयोराग - यहाँ पर श्रेयस शब्द से चारित्र और राग शब्द से उसमें लीन होने का कारण अनुरागरूप श्रद्धान समझना चाहिये। अर्थात् मोक्ष के साक्षात् कारण चारित्र में लीन कर देनेवाला अनुरागरूप श्रद्धान भी अनेकान्त मत में ही प्राप्त हो सकता है, दूसरे मतों में नहीं।

४ आत्मशुद्धि - जिस विषय का 'मैं' इस तरह से अनुपचरित - वास्तविक भान होता है उसको आत्मा कहते हैं। इस आत्मा में पर पदार्थ के संयोग से रागादिरूप अशुद्धि हुआ करती है। उस अशुद्धि का दूर होना ही आत्मशुद्धि कहा जाता है। यह भी जिनमत में ही मिल सकती है। वास्तविक वीतरागता और आत्मशुद्धि अन्य मत के अनुसार नहीं बन सकती।

५ - मैत्रीद्योत - किसी भी जीव को कभी भी किसी भी तरह से दु:ख की उत्पत्ति न हो ऐसी अभिलाषा को मैत्री कहते हैं। इसका माहात्म्य विद्वानों के हृदय में उत्पन्न करना मैत्रीद्योत समझना चाहिये। अर्थात् वस्तुत: मैत्रीभावना की प्रभावना भी जिनमत में ही बन सकती है, अन्यत्र नहीं।

इस प्रकार ये पाँच विषय हैं। च शब्द समुच्चयवाची है। अर्थात् ये पाँचो ही समुदित अथवा इनका प्रत्येक भी विषय जिनमत के सिवाय अन्यमतों में नहीं बन सकते। जैसा कि कहा भी है कि :-

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे।।
जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्तिं पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे।।

अर्थात् :- जिससे तत्त्व का विबोध प्राप्त होता है, जिससे चित्त का निरोध होता है, और जिससे आत्मा विशुद्ध हुआ करता है, वह ज्ञान जिनशासन में ही मिल सकता है। जिससे रागभाव दूर किये जा सकते हैं, और जिससे श्रेयोमार्ग में अनुराग की उत्पत्ति होती है, तथा जिससे मैत्रीभावना की प्रभावना हुआ करती है, वह ज्ञान जिनशासन में ही मिल सकता है।

यहाँ पर सूत्रकार ने जिन दो सूत्रों के द्वारा दुर्लभ अर्थात् जिनमत के सिवाय अन्यत्र अलभ्य ज्ञान का माहात्म्य बताया है उनमें से पहले सूत्र के द्वारा सम्यक्त्वसहचारी और दूसरे सूत्र के द्वारा चारित्रसहचारी ज्ञान का वर्णन किया है, ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार स्वाध्याय के माहात्म्य का वर्णन करके अब पश्चिमरात्रि के समय साधुओं

को स्वाध्याय का पहले प्रतिष्ठापन - प्रारंभ फिर निष्ठापन - समाप्ति और उसके बाद प्रतिक्रमण तथा उसके बाद रात्रियोग का निष्ठापन ये क्रियाएँ क्रम से अवश्य करनी चाहिये; ऐसा उपदेश देते हैं :-

क्लमं नियम्य क्षणयोगनिद्रया लातं निशीथे घटिकाद्वयाधिके।
स्वाध्यायमत्यस्य निशाद्विनाडिकाशेषे प्रतिक्रम्य च योगमुत्सृजेत्।।७।।

शक्ति के अनुसार मन के विचारों का शुद्ध चिद्रूप में रोकना योग कहा जाता है। इस योग को निद्रा के समान समझना चाहिये क्योंकि निद्रा का लक्षण लिखा है कि 'इंद्रियात्ममनोमरुतां सूक्ष्मावस्था स्वाप:'। अर्थात् इन्द्रिय आत्मा मन और प्राण इनकी सूक्ष्म अवस्थाविशेष को निद्रा कहते हैं। योग में भी इन चारों की सूक्ष्म अवस्था हुआ करती है। अतएव योगियों को जो निद्रा आती है उसको योगनिद्रा समझना चाहिये। इसका काल अत्यल्प माना गया है। क्योंकि साधुओं की निद्रा का काल ज्यादे से ज्यादे चार घडी का ही माना है। अर्ध रात्रि से दो घड़ी पहले और दो घड़ी पीछे का जो काल है वही निद्रा का काल है, जो कि स्वाध्याय के योग्य नहीं माना है। इस अल्पकालीन निद्रा को ही क्षणयोगनिद्रा समझना चाहिये। इस क्षणयोगनिद्रा के द्वारा ही साधुजन अनवरत - दिन में और रात्रि में किये गये ध्यानाध्ययन तपश्चरण आदि के द्वारा उत्पन्न हुए शरीरखेद को दूर किया करते हैं।

योगियों को इस निद्रा के द्वारा शरीरग्लानि दूर करके अर्धरात्रि के अनंतर दो घड़ी काल बीत जानेपर तीसरी घड़ी के प्रारंभ में स्वाध्याय का प्रतिष्ठापन - प्रारंभ करना चाहिये; और उसका निष्ठापन रात्रि में जब दोघडी काल बाकी रहे तब कर देना चाहिये। इसके अनंतर प्रतिक्रमण अर्थात् अपने से जो अपराध बन गया हो उसका विधिपूर्वक संशोधन करना चाहिये। और उसके बाद योग का निष्ठापन करना चाहिये। अर्थात् रात्रि में जिस शुद्धोपयोग को ग्रहण किया था उसका उत्सर्ग कर देना चाहिये।

इस विषय में श्रीमान् गुणभद्र आचार्य ने भी कहा है कि :-

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्म, परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं, दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः।।

तथा इसी बात को श्रीमान् पूज्य रामसेनजी ने भी कहा है कि :-

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्ते ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।

यही बात स्वयं हमने भी सिद्धयङ्क महाकाव्य में कही है। यथा :-
परमसमयसाराभ्यासानन्दसर्पत्सहजमहसि सायं स्वे स्वयं स्वं विदित्वा।
पुनरुदयदविद्यावैभवाः प्राणचारस्फुरदरुणविजृम्भा योगिनो यं स्तुवन्ति।।

परमागम का व्याख्यान करना पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना उसका प्रचार करना ग्रंथरूप तैयार करना कराना इत्यादि आगम की तरफ उपयोग रखनेवाले को जो फल प्राप्त हुआ करते हैं उनको दिखाते हुए उसको लोकोत्तर माहात्म्य का वर्णन करते हैं :-

खेदसंज्वरसंमोहविक्षेपाः केन चेतसः।
क्षिप्येरन् मङ्क्षु जैनी चेन्नोपयुज्येत गीःसुधा।।८।।

जिनभगवान् की उपदिष्ट वाणी को अमृत की उपमा दी जाती है; क्योंकि दोनों ही से जीवों का खेद संताप आदि दूर हुआ करता है। परंतु वस्तुतः जिनवाणी अमृत से अत्यधिक है। यह वह लोकोत्तर सुधा है कि जिसके सेवन करने से मानसिक खेद अथवा मन में किसी प्रकार का उत्पन्न हुआ संताप, यद्वा सहज ही जीवों को लगा हुआ अज्ञान, प्रायः चित्त में अनेक कारणों से उत्पन्न होनेवाली व्याकुलताएँ - नाना प्रकार के विक्षेप, सेवन करते ही दूर हो जाया करते हैं। यदि संसार में यह जैनी वाणी न होती तो वस्तुतः इन मानसिक दोषों का निराकरण करने में कोई भी समर्थ नहीं था। जब कि मिथ्यादृष्टि भी योग्य सुभाषित की प्रशंसा में यही बात कहते हैं; यथा :-

क्लान्तमपोज्झति खेदं तप्तं निर्वाति बुध्यते मुढम्।
स्थिरतामेति व्याकुलमुपयुक्तसुभाषितं चेतः।।

यदि उत्तम सुभाषित का उपयोग किया जाय तो उससे क्लान्तहृदय का खेद दूर होता है, संतप्तमन शान्त बनता है, और अज्ञानीहृदय में ज्ञान का संचार होता है, तथा व्याकुलितचित्त स्थिरता को प्राप्त हुआ करता है। जब कि मिथ्यादृष्टि भी सुभाषित की इतनी प्रशंसा करते हैं तब श्री सर्वज्ञवीतराग निर्दोष अरिहंत भट्टारक के मुखारविंद से प्रगट हुई वाणी के माहात्म्य का तो कौन वर्णन कर सकता है।

इस प्रकार स्वाध्याय के माहात्म्य का वर्णन किया। अब क्रमप्राप्त प्रतिक्रमण के माहात्म्य को बताने का प्रारंभ करते हैं :-

दुर्निवारप्रमादारिप्रयुक्ता दोषवाहिनी।
प्रतिक्रमणदिव्यास्त्रप्रयोगादाशु नश्यति।।९।।

जिनका निवारण नहीं किया जा सकता ऐसे प्रमादरूपी शत्रुओं के द्वारा प्रेरित अतीचारों की सेना का नाश प्रतिक्रमणरूपी दिव्यास्त्रों के प्रयोग से बहुत ही जल्दी हो जाया करता है।

भावार्थ :- उत्तम कार्यों के संपादन करने में उत्साह का न होना या उन विषयों में सावधान न रहना इसको प्रमाद कहते हैं। यह प्रमाद साधारण प्रयत्न के द्वारा दूर नहीं किया जा सकता। इसके द्वारा आत्मा का वास्तविक कल्याण या स्वार्थ नष्ट होता है, अतएव इसको शत्रु के समान समझना चाहिये। मुमुक्षुओं को संयम का पालन करने में अनेक प्रकार के दोषों - अतीचारों की सेना जो आ घेरती है वह इस प्रमादशत्रु की प्रेरणा से ही। किन्तु इसका निवारण सहज नहीं है। अतएव जिस प्रकार किसी बलवान शत्रु का निवारण देवोपनीत हथियार चलाकर ही किया जाता है उसी प्रकार इस प्रचण्ड शत्रु का निवारण भी प्रतिक्रमणरूपी दिव्य आयुध के विधिपूर्वक प्रयोग करने से ही हो सकता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

जीवे प्रमादजनिताः प्रचुराः प्रदोषा, यस्मात्प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति।
तस्मात्तदर्थममलं मुनिबोधनार्थ, वक्ष्ये विचित्रभवकर्मविशोधनार्थम्।।

जीव के प्रमाद से उत्पन्न हुए प्रचुर और बड़े बड़े भी दोष इस प्रतिक्रमण के प्रसाद से ही प्रलय को प्राप्त हो जाया करते हैं। अतएव उसका निर्दोष अर्थ मुनियों को जानने के लिये और विचित्र संसार में संचित कर्मों को दूर करने के लिये मैं कहूँगा।

इस कथन से सिद्ध है कि प्रमादजन्य महान् भी दोष प्रतिक्रमण के द्वारा दूर हो जाया करते हैं।

प्रमाद की महिमा कितनी बड़ी है सो उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं :-

त्र्यहादऽवैयाकरणः किलैकाहादकार्मुकी।
क्षणादयोगी भवति स्वभ्यासोपि प्रमादतः।।१०।।

यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि मंद अभ्यास करनेवाले की तो बात ही क्या जिसने व्याकरण का खूब अच्छी तरह से अभ्यास किया है, ऐसा वैयाकरण भी तीन दिन के प्रमाद से अवैयाकरण बन जाता है। केवल तीन दिन के लिये अभ्यास छोड़ देने से अच्छी तरह अभ्यस्त भी व्याकरण का ज्ञान विस्मृत हो जाता है। इसी तरह एक दिन के प्रमाद से धानुष्क अधानुष्क हो जाता है। अर्थात् केवल एक दिन अभ्यास छोड़ देने से ही अच्छी तरह से अभ्यस्त भी धनुर्विद्या को भूलकर अनभ्यस्त सरीखा हो जाता है। किन्तु निरंतर समाधि का अभ्यास करनेवाला योगी एक क्षणभर के लिये प्रमाद करने पर अयोगी बन जाता है - समाधि से च्युत हो जाता है।

प्रतिक्रमण और रात्रियोग का प्रतिष्ठापन - प्रारंभ और समाप्ति
किस प्रकार करनी चाहिये सो उसकी विधि बताते हैं :-

भक्त्या सिद्धप्रतिक्रान्तिवीरद्विद्वादशार्हताम्।
प्रतिक्रामेन्मलं योगं योगिभक्त्या भजेत् त्यजेत्।।११।।

प्रतिक्रमण में चार प्रकार की भक्ति की जाती है। अर्थात् संयम में लगे हुए मल - अतीचारों को दूर करने के लिये साधुओं को चार प्रकार की वंदना करनी चाहिये। सिद्धभक्ति प्रतिक्रमणभक्ति वीरभक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति। तथा रात्रियोग का प्रारंभ और समाप्ति योगिभक्ति के द्वारा ही की जाती है। 'आज रात्रि को मैं इस वसतिका में ही रहूँगा' ऐसे नियमविशेष को ही रात्रियोग कहते हैं। सो इस नियम को धारण करने के पूर्व और पूर्ण होने के अनंतर साधुओं को योगिभक्ति करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

सिद्धनिषेधिकावीरजिनभक्तिः प्रतिक्रमे।
योगिभक्ति पुनः कार्य योगग्रहणमोक्षयोः।।

अर्थात् प्रतिक्रमण में सिद्धभक्ति प्रतिक्रमणभक्ति वीरभक्ति और जिनभक्ति करनी चाहिये। तथा योग के ग्रहण और मोक्ष दोनों ही अवसरो पर योगिभक्ति ही करनी चाहिये।

प्रातःकालीन देववंदना करने के लिये साधुओं को प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं :-

योगिध्यानैकगम्यः परमविशददृग्विश्वरूपः स तच्च
स्वान्तस्थेम्नैव साध्यं तदमलमतयस्तत्पथध्यानबीजम्।
चित्तस्थैर्यं विधातुं तदनवधिगुणग्रामगाढनुरागं
तत्पूजाकर्म कर्मच्छिदुरमिति यथासूत्रमासूत्रयन्तु।।१२।।

जिसका ध्यान योगिजन किया करते हैं वह परमात्मा केवलज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञान सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त है - उससे अधिक ज्ञान कहीं पर भी और किसी भी जीव के नहीं पाया जाता। तथा वह ज्ञान विशद - स्पष्ट अथवा अव्यवधान - अक्रमवर्ती है, अर्थात् युगपत् समस्त पदार्थों को विषय करता है और पर इन्द्रिय अथवा मन की अपेक्षा नहीं रखता। इस ज्ञान के द्वारा जगत् के संपूर्ण पदार्थ - लोक तथा अलोक और त्रिकालवर्ती उनके समस्त आकार प्रतिभासित हुआ करते हैं। इस ज्ञान के धारक अरिहंत भगवान्

का स्वरूप परमागम में प्रसिद्ध है। यथा :-

'केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो।
णवकेवलद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो।।
असहायणाणदंसणसहिओ इदिकेवली हु जोगेण।
जुत्तोति संजोगिजिणो अणआइणिहणारिसेउत्तो।।'

जिन्होंने केवलज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से अज्ञानभाव को सर्वथा नष्ट कर दिया है और नवकेवललब्धियों के प्रकट होने से जिन्होंने परमात्मा यह संज्ञा प्राप्त करली है उनको अनादिनिधन आर्ष आगम में असहायज्ञान - दर्शन से युक्त होने के कारण केवली और योग से युक्त रहने के कारण सयोगी जीन कहा गया है।

इस प्रकार के परमात्मा के स्वरूप का संवेदन केवल योगियों को ध्यान के द्वारा ही हो सकता है। किन्तु इस प्रकार के ध्यान की प्राप्ति योगियों को मन की स्थिरता से ही हुआ करती है। जिसका मन चंचल है उनको इस ध्यान की सिद्धि नहीं होती। जैसा कि कहा भी है कि :-

ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम्।
गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाभ्यासः स्थिरं मनः।।

अर्थात् ध्यान की सिद्धि के प्रधानतया चार कारण हैं। गुरुओं का उपदेश, श्रद्धान, निरंतर अभ्यास और मन की स्थिरता।

और भी कहा है कि :-

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरुच्यते।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्पुनः।।

अविक्षिप्त - अचपल - स्थिर मन को तत्त्व और उसके विरुद्ध विक्षिप्त - चंचल

मन को भ्रान्ति माना है। अतएव मुमुक्षुओं को चंचल मन का आश्रय छोड़कर स्थिर मन का ही आश्रय लेना चाहिये।

चित्त की स्थिरता जिनेन्द्र भगवान् की पूजा - वंदना करने से ही हुआ करती है। अतएव कालुष्यरहित निर्मलबुद्धि के धारक साधुओं को उचित है कि उस परमात्मा की प्राप्ति का उपायभूत धर्म्यध्यान या शुक्लध्यानरूप उपयोग का भी बीज - कारण चित्त की स्थिरता को ही समझकर उसको सिद्ध करने के लिये परमागम में कहे मूजब परमात्मा श्री जिनेन्द्र भगवान् की पूजा - विनयकर्म उसके अनंतानंतगुणों के पिण्ड में गाढ़ अनुराग - भक्ति अथवा श्रद्धा रखते हुए करे। क्योंकि वह पूजा ज्ञानावरणादिकर्मों को अथवा कर्मों के आने के द्वाररूप मन वचन काय के व्यापार को नष्ट करनेवाली है।

भावार्थ :- यहाँ पर पूजा शब्द से भाव पूजा ही ग्रहण करना चाहिये। भाव पूजा का लक्षण इस प्रकार बताया है कि :-

व्यापकानां विशुद्धानां जैनानामनुरागतः।
गुणानां यदनुधअयानं भावपूजेयमुच्यते।।

अर्थात् :- अरिहंत भगवान के व्यापक और विशुद्ध गुणों में अनुरागभाव रखकर उनका चिंतवन करना इसको भाव पूजा कहते हैं। अतएव इस पूजा के करनेवाले के जिनेन्द्र भगवान के अनंतानंतादि गुणों में भक्ति या श्रद्धा दृढ़ हुआ करती है और मनवचनकाय की क्रियाओं का सावद्यरूप से निरोध हो जाने के कारण संवर तथा ज्ञानावरणादि कर्मों की एकदेशनिर्जरा भी हुआ करती है। तथा चित्त में स्थिरता भी प्राप्त हुआ करती है जिससे कि योगियों को उस उत्कृष्ट ध्यान की सिद्धि हुआ करती है कि जिसके बल से वे उस परमात्मा का स्वयं संवेदन कर सकते हैं।

यहाँ पर उत्कृष्ट ध्यान शब्द से एकत्ववितर्क अतीचार नाम का शुक्लध्यान समझना चाहिये। क्योंकि परमात्मा के उक्त स्वरूप का स्वसंवेदन उसीके द्वारा होता है।

योगियों के चित्त की स्थिरता से सिद्ध होनेवाले योग के आठ अंग बताये हैं। - यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि। इनमें से अपने विषय पर स्थिर हो जानेवाले ज्ञान को ही ध्यान कहते हैं। और जब वह ध्यान भी स्थिरीभूत

हो जाता है तब उसीको समाधि कहते हैं। इस समाधि या उत्कृष्टध्यान अथवा प्रकृत में एकत्ववितर्क की सिद्धि का कारण मन की स्थिरता और उसका भी कारण परमात्मा की पूजा - वंदना को जानकर योगियों को आगम के अनुसार अवश्य ही प्रातःकालीन देववंदना करने में प्रवृत्त होना चाहिये।

त्रैकालिक देववंदना किस प्रकार करनी चाहिये सो उसकी विधि बताते हैं :-

त्रिसन्ध्यं वन्दने युंज्याच्चैत्यपञ्चगुरुस्तुती।
प्रियभक्तिं बृहद्भक्तिष्वन्ते दोषविशुद्धये।।१३।।

वंदना करनेवाले साधुओं को तीनों संध्याओं के समय में जिनेन्द्र भगवान की वंदना करने में चैत्यवंदना और पंचगुरुवंदना करनी चाहिये। और जब दोषों की विशुद्धि करनी हो - वंदना संबंधी अतीचारों या रागादि भावों का उच्छेदन करना हो तब बृहद्भक्तियों के अंत में समाधिभक्ति करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :- 'उनाधिक्यविशुद्ध्यर्थं सर्वत्र प्रियभक्तिकाः' अर्थात् न्यूनाधिकता के दोष की निवृत्ति के लिये सर्वत्र समाधिभक्ति की जाती है।

आचारशास्त्र में कहे मूजब ही अच्छीतरह से क्रिया करनेवाले भी कितने ही ऐसे देखने में आते हैं कि जो केवल वृद्धों की परंपरा से चले आये व्यवहार के ही वशीभूत होकर जिनभगवान की नित्य वंदना भी सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति इन चार भक्तियों के द्वारा ही किया करते हैं। किन्तु उनका यह व्यवहार हमारी समझ से केवल भक्तिरूपी चुडेल का दुर्विलास ही समझना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने में आगम की आज्ञा का अतिक्रमण होता है। आगम में पूजा और अभिषेकमङ्गल के अवसर पर ही इन चार भक्तियों के करने का विधान है। जिनवंदना के समय केवल चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति ही की जाती है। यथा :-

चैत्यपञ्चगुरुस्तुत्या नित्या सन्ध्यासु वन्दना।
सिद्धभक्त्यादिशान्त्यन्ता पूजाभिषवमङ्गले।।

तीनों संध्याओं के समय जो जिनदेव की नित्य वंदना की जाती है वह चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्तिपूवर्क हुआ करती है। और पूजा के समय अथवा अभिषेकवंदना के समय सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति ये चार भक्ति की जाती हैं। और भी कहा है कि :-

जिणदेववंदणाए चेदियभत्तीय पंचगुरुभत्ती।

अर्थात् :- जिनदेव की वंदना में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिये।

तथा - अहिसेयवंदणा सिद्धचेदिय पंचगुरुसंतिभत्तीहिं।।

अर्थात् - अभिषेकवंदना सिद्धिभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति के द्वारा की जाती है। अतएव यह बात सिद्ध है कि तीनों संध्याओं के समय नित्यवंदना चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति इन दो भक्तियों के द्वारा ही हुआ करती है। न कि सिद्धभक्ति आदि चार भक्तियों के द्वारा।

कृतिकर्म के छह भेदों का व्याख्यान करते हैं :-

स्वाधीनता परीतिस्त्रयी निषद्या त्रिवारमावर्ता:
द्वादश चत्वारि शिरांस्येवं कृतिकर्म षोढेष्टकम्।।१४।।

कृतिकर्म छह प्रकार का है। - स्वाधीनता, परीति, निषद्या, त्रिवार, आवर्त और शिरोनति। वंदना करनेवाले की स्वतंत्रता का ही नाम स्वाधीनता है। इस विषय का विशेष उल्लेख आगे चलकर किया जायगा। परीति नाम प्रदक्षिणा का है अर्थात् कृतिकर्म करते समय तीन बार प्रदक्षिणा देना इसको परीति कहते हैं। निषद्या नाम बैठने का है। सो यह तीन भेदरूप हैं। क्योंकि कृतिकर्म करनेवाले को क्रिया विज्ञापना के अनंतर चैत्यभक्ति के अनंतर और पंचगुरुभक्ति के अनंतर इस तरह तीन बार आलोचना करते समय पुन: पुन: बैठना पड़ता है। त्रिवार शब्द से यहाँ पर वंदना करते समय तीन बार किये जानेवाले

कायोत्सर्ग को लेना चाहिये। क्योंकि इस प्रकरण में चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और समाधिभक्ति के अवसर पर तीन कायोत्सर्ग किये जाते हैं। आवर्त का स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। ये प्रत्येक दिशा के तीन तीन मिलाकर चारों दिशा के बारह हुआ करते हैं। इसी तरह चार शिरोनति का स्वरूप भी पहले कह चुके हैं इस तरह कृतिकर्मरूप वंदना के छह भेद अथवा अंग हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

आदाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्तं तिऊणदं। चतुस्सिरं बारसावत्तं चेदि।

अर्थात् - स्वाधीनता परीति निषद्या त्रिवार चतु:शिरोनति और बारहआवर्त ये छह कृतिकर्म के भेद हैं।

जिनभगवान की मूर्ति की वंदना करने से चार प्रकार के महान् फल प्राप्त हुआ करते हैं। यथा :- १ - नवीन २ महान् पुण्यकर्मप्रकृत्तियों का आस्रव हुआ करता है। २ रे पूर्व के संचित कर्म के उदय में विशेषता प्राप्त हुआ करती है। उनकी स्थिति और अनुभाग बढ़कर फल में महत्ता प्राप्त होती है। ३ रे संचित पापकर्म की फलदान शक्ति का अपकर्षण हो जाया करता है। वह घटकर अत्यंत अल्प रह जाती है। ४ थे नवीन पापकर्म का संवर हो जाता है। अर्थात् चैत्यवंदना करनेवाले को नवीन पाप का आस्रव नहीं होता। अतएव मुमुक्षुओं को तीनों ही संध्या समयों में यह जिनचैत्यवंदना हमेशा और अवश्य ही करनी चाहिये। इसी बात को यहाँ पर साधुओं को चैत्यवंदना के लिये प्रेरित करते हुए स्पष्ट करते हैं :-

दृष्ट्वार्हत्प्रतिमां तदाकृतिमरं स्मृत्वा स्मरंस्तद्गुणान्
रागोच्छेदपुर:सरानतिरसात् पुण्यं चिनोत्युच्चकै:।
तत्पाकं प्रथयत्यघं क्रशयते पाकाद्रुणद्ध्यास्रवत्
तच्चैत्यान्यखिलानि कल्मषमुषां नित्यं त्रिशुद्ध्या स्तुयात्।।१५।।

मूर्ति के देखते ही जिसकी वह मूर्ति है उसकी आकृति का तत्काल स्मरण हुआ करता है। अतएव जिनभगवान् की प्रतिमा का दर्शन करनेवालों को भी दर्शन करते

ही उनकी आकृति का स्मरण होता है। अरिहंत भगवान् के शरीर का आकार संपूर्ण मलदोषों से रहित स्फटिक के समान शुद्ध और समस्त धातुउपधातुओं से रहित तेजःपुंज के सदृश हुआ करता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्।।

अठारह दोषों से रहित जिनभगवान् का शरीर सातों ही धातुओं से रहित हुआ करता है। वह निर्मल स्फटिक के समान प्रकाशित होता हुआ ऐसा जान पड़ता है मानो तेज की साक्षात् मूर्ति ही है।

आकृति का स्मरण होते ही उन अर्हद्भट्टारक के वीतरागताप्रभृति अनेक गुणों का भी भक्ति के अत्यंत उद्रेक से स्मरण होता ही है क्योंकि बाह्य आकृति के देखने से उस आकृतिवाले के गुणों का भी बोध हो ही जाता है। सराग और वीतराग व्यक्ति के आकार में अंतर अवश्य रहा करता है। इस अंतर को ही देखकर आकृतिवाले के गुणों का स्मरण हुआ करता है। अतएव इस विषय में कहा भी है कि :-

'वपुरेव तवाचष्टे भगवन् वीतरागताम्।
न हि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाङ्वलः।।'

हे भगवन् ! आपका शरीर ही आपकी वीतरागता को स्पष्ट कह रहा है। क्योंकि जिसके कोटर में अग्नि जल रही हो वह वृक्ष हराभरा कभी नहीं रह सकता। इसी प्रकार जिसके अंतरंग में क्रोधादि कषाय जाज्वल्यमान हो उसके शरीर का आकार प्रशांत कभी नहीं रह सकता। अतएव आपके शरीर का आकार ही कह रहा है कि आप वीतराग हैं।

इस प्रकार जिनभगवान् की प्रतिमा का दर्शन करने से अरिहंत भगवान् की आकृति की स्मृति और उससे पुनः साक्षात् उनके वीतरागता सर्वज्ञता सर्वदर्शित्व आदि गुणों का स्मरण हुआ करता है; जिससे कि भक्ति में लीन हुआ वंदारुचैत्यवंदना करनेवाला साधु उसी समय महान् पुण्यकर्म का - सातावेदनीय शुभआयु शुभनाम और शुभगोत्र कर्म का

नवीन बंध किया करता है। तथा पूर्व के बंधे हुए पुण्यकर्म की स्थिति और अनुभाग में अतिशय उत्पन्न किया करता है। जिससे कि वे उदयकाल में पहले की अपेक्षा अत्यधिक शुभ फल दिया करते हैं। और पूर्व के जो पापकर्म बंधे हुए हैं उनकी स्थिति तथा अनुभाग में अपकर्षण किया करता है। जिससे कि वे पहले के समान तीव्र फल नहीं दे सकते; किन्तु मंद मंदतर फल देकर ही निर्जीर्ण हो जाया करते हैं। इसी प्रकार वह चैत्यवंदना करनेवाला साधु नवीन पापकर्म का संवर किया करता हैं।

अरिहंत भगवान की प्रतिमा की वंदना करने से तत्काल ये चार फल प्राप्त हुआ करते हैं। अतएव जिन्होंने चार घातियाकर्मों को तथा अपने और भी पापकर्मों या मलदोषों को नष्ट कर विशुद्धता प्राप्त कर ली हैं, तथा जो दूसरे वंदना करनेवाले भव्यजीवों का भी पापपङ्क दूर करनेवाले हैं उन श्री अरिहंदभट्टारक की कृत्रिम और अकृत्रिम संपूर्ण प्रतिमाओं का मुमुक्षुओं को तीनों ही संध्यासमयों में अपने मन वचन और शरीर को शुद्ध रखकर अवश्य ही स्तवन करना चाहिये।

कृतिकर्म के छह अंगों में पहला जो स्वाधीनता बताया था उसके अर्थ का व्यतिरेकमुख से समर्थन करते हैं :-

नित्यं नारकवद्दीनः पराधीनस्तदेष न।
क्रमते लौकिकेऽप्यर्थे किमङ्गास्मिन्नलौकिके।।१६।।

पराधीन जीव हमेंशा ही दीन बना रहता है। दुःखमय अवस्था का निरंतर अनुभव करते रहने के कारण उसको नारकियों के समान ही समझना चाहिये। इसीलिये लोकमें भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'को नरकः ? परवशता'। अर्थात् किसीने पूछा कि नरक किसको समझना चाहिये तो उत्तर देनेवाले ने कहा कि पराधीनता को।

भावार्थ :- परतंत्रता जीव को नारकी के समान दीन बना देती है। इस दीनता के कारण ही वह लौकिक कार्य - अपने चलने फिरने उठने बैठने स्नान भोजन आदि कार्यों को भी अच्छी तरह स्वतंत्रता और उत्साह के साथ संपादित नहीं कर सकता। जब लौकिक कार्यों को भी भलेप्रकार निर्विघ्न सिद्ध नहीं कर सकता, तब मित्र ? अलौकिककार्यों के विषय में तो कहना ही क्या ? अर्थात् सर्वज्ञदेव के आराधनप्रभृति कृतिकर्म का वह अप्रतिहतरूप से कभी पालन नहीं कर सकता। इसीलिये लोक में भी यह उक्ति प्रसिद्ध है कि :-

परार्थानुष्ठाने श्लथयति नृपं स्वार्थपरता,
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः।
परार्थश्चेत्स्वार्थादभिमततरो हन्त परवान्,
परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः।।

अर्थात् पराधीन रहनेवाला मनुष्य किसी भी तरह सुख का अनुभव नहीं कर सकता। **भावार्थ** :- जिस प्रकार लौकिक कार्यों के लिये स्वाधीनता की आवश्यकता है उसी प्रकार या उससे भी अधिक अलौकिक - लोकोत्तर चैत्यवंदनाप्रभृति कार्यों को करने के लिये भी स्वाधीनता की आवश्यकता है।

अब चौदह पद्यों में देववंदना आदि क्रियाओं को किस क्रम से करना चाहिये उसका उपदेश करते हैं। किन्तु उसमें सबसे पहले व्युत्सर्गपर्यंत की क्रियाओं का क्रम पाँच श्लोकों में बताते हैं :-

श्रुतदृष्ट्यात्मनि स्तुतत्यं पश्यन् गत्वा जिनालयम्।
कृतद्रव्यादिशुद्धिस्तं प्रविश्य निसही गिरा।।१७।।
चैत्यालोकोद्यदानन्दगलब्दाष्पस्त्रिरानतः।
परीत्य दर्शनस्तोत्रं वन्दनामुद्रया पठन्।।१८।।
कृत्वेर्यापथसंशुद्धिमालोच्यानग्रकांघ्रिदोः।
नत्वाश्रित्य गुरोः कृत्त्यं पर्यङ्कस्थोग्रमङ्गलम्।।१९।।
उक्त्वात्तसाम्यो विज्ञाप्य क्रियामुत्थाय विग्रहम्।
प्रह्वीकृत्य त्रिभ्रमैकशिरोविनतिपूर्वकम्।।२०।।
मुक्ताशुक्त्यंकितकरः पठित्वा साम्यदण्डकम्।
क्तकृत्वावर्तत्रयशिरोनती भूयस्तनुं त्यजेत्।।२१।।

जिनभगवान की वंदना करने के लिये जिनालय को जाते समय मुमुक्षुओं को भावरूप श्री अरिहंत भगवान् का स्वरूप संपूर्ण आत्माओं में अथवा अपने ही चित्स्वरूप में परमागम

के ज्ञानरूपी नेत्रों के द्वारा देखते हुए गमन करना चाहिये। अर्थात् भावरूप अर्हदादि का चर्मचक्षु के द्वारा अवलोकन नहीं हो सकता; अतएव श्रुतज्ञानरूपी नेत्रों के द्वारा उनका स्वरूप अपने में ही देखते हुए मंदिर में जाना चाहिये। और द्रव्य क्षेत्र काल भाव की शुद्धि करके 'निसही निसही निसही' इस प्रकार उच्चारण करते हुए जिनमंदिर में प्रवेश करना चाहिये। वहाँ पहुँचकर जिनभगवान् की प्रतिमा का दर्शन करते ही हृदय में अत्यंत आनंद - प्रमोद के उत्पन्न होने से जिसकी आँखों से हर्ष के अश्रु झड रहे हैं ऐसे उस वंदना करनेवाले को तीनबार भगवान् को नमस्कार करना चाहिये। उसके बाद जिनालय - गर्भगृह अथवा उस वेदी की कि जिसमें श्री जिनचैत्य विराजमान हों तीन बार प्रदक्षिणा देनी चाहिये। तदनंतर दर्शनस्तोत्र का पाठ करते हुए अर्थात् 'अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य देव त्वदीय चरमाम्बुज वीक्षणेन।' इत्यादि सामान्य से किसी भी स्तोत्र का उच्चारण करते हुए वंदनामुद्रा के द्वारा ईर्यापथशुद्धि करनी चाहिये। अर्थात् मार्ग में चलने से जीवों की विराधना आदि दोष जो संभव है उनका पडिक्कमामि आदि दण्डक के द्वारा शोधन करना चाहिये। इसके बाद इच्छामि इत्यादि दण्डक का उच्चारण करके निंदागर्हारूप आलोचना करनी चाहिये। पुनः धर्माचार्य के समक्ष और यदि गुरु - धर्माचार्य उपस्थित न हों तो भगवान् के ही सामने पंचाङ्गनमस्कार - एक शिर दो हाथ और दो घूटनों इन पाँच अङ्गों को भलेप्रकार नम्रीभूत करके कर्तव्यकर्म को स्वीकार करना चाहिये। अर्थात् देववंदना या प्रतिक्रमण जो कुछ करना हो उसकी 'नमोस्तु भगवन् ! देववन्दनां करिष्यामि - हे भगवन् नमस्कार हो अब मैं प्रतिक्रमण करूँगा' यह कहकर अथवा 'नमोस्तु भगवन् प्रतिक्रमणं करिष्यामि - हे भगवन् नम्स्कार हो अब मैं प्रतिक्रमण करूँगा' यह कहकर कर्तव्य की प्रतिज्ञा करनी चाहिये। इसके बाद पर्यङ्कासन से बैठकर जिनेन्द्र भगवान् के गुणों को प्रकट करनेवाले 'सिद्धं संपूर्ण भव्यार्थम्' इत्यादि स्त्रोत का पाठ करना चाहिये। पुनः 'स्वम्मामि सव्वजीवाणं' इत्यादि सूत्र पाठ के द्वारा साम्यभाव - सामायिक को प्राप्त होना चाहिये। पुनः वंदनाक्रिया का विज्ञापन करके खड़े होकर शरीर को नम्रीभूत बनाकर दोनों हाथों की मुक्ताशुक्ति मुद्रा बनाकर उससे तीन आवर्त और एक शिरोनति करके 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि सामायिकदण्डक का पाठ करना चाहिये। तथा पाठ पूर्ण होनेपर अंत में भी आदि की तरह तीन आवर्त और एक शिरोनति करनी चाहिये। इस प्रकार सामायिकण्डक का पाठ आवर्त और शिरोनति के साथ-साथ पूर्ण होनेपर व्युत्सर्ग धारण करना चाहिये। शरीर

में ममत्वभाव का सर्वथा परित्याग करना चाहिये।

भावार्थ :- यहाँ पर देववंदना से लेकर व्युत्सर्गपर्यन्त जो क्रियाएँ जिस क्रम से बताई हैं उनको उसी क्रम से करना चाहिये। इनके द्रव्य और भावरूप स्वरूप पहले बता चुके हैं। तथा [१] वंदनामुद्रा मुक्ताशुक्तिमुद्रा पर्यङ्कासन का भी स्वरूप पहले लिख चुके हैं। तदनुसार ही उनको करना चाहिये।

अब दो श्लोकों द्वारा व्युत्सर्ग में ध्यान करने की विधि बताते हैं :-

जिनेन्द्रमुद्रया गाथां ध्यायेत् प्रीतिविकस्वरे।
हृत्पङ्कजे प्रवेश्यान्तर्निरुध्य मनसानिलम्।।२२।।
पृथग् द्विद्व्येकगाथांशचिन्तान्ते रेचयेच्छनैः।
नवकृत्वः प्रयोक्तैवं दहत्यंहः सुधीर्महत्।।२३।। युग्मम्।।

व्युत्सर्ग के समय साधुओं को अपनी प्राणवायु मन के साथ साथ भीतर प्रविष्ट करके आनंद से विकसित हुए हृदयकमल में रोककर जिनेन्द्र समुद्र के द्वारा 'णमो अरिहंताणं' - प्रभृति गाथा का ध्यान करना चाहिये। तथा गाथा के दो दो और एक अंश का क्रम से पृथक् पृथक् चिंतवन करके अंत में उस प्राणवायु का धीरे धीरे रेचन करना चाहिये - प्राणवायु को बाहर निकालना चाहिये। इस प्रकार अपनी दृष्टि को अंतरंग की तरफ लगाकर नौ बार प्राणायाम का प्रयोग करनेवाला संयमी चिरकाल के संचित महान् पापकर्मों को भी भस्म कर देता है।

भावार्थ :- प्राणायाम का महत्त्व अत्यंत अधिक है। जैसा कि कहा भी है कि :-

शनैः शनैर्मनोऽजस्रं वितन्द्रः सह वायुना।
प्रवेश्य हृदयाम्भोजकमर्णिकायां नियन्त्रयेत्।।
विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्तते।
अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते।।

---

१ - अध्याय ८ श्लोक ८५ - ८६ - ८७

स्थिरीभवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम्।
जगद्वृत्तं च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते।।
स्मरगरलमनोविजयं समस्तरोगक्षयं वपुःस्थैर्यम्।
पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न संदेहः।।

साधुओं को अप्रमत्त होकर प्राणवायु के साथ-साथ धीरे-धीरे अपने मन को अच्छी तरह भीतर प्रविष्ट करके हृदय कमल की कर्णिका में रोकना चाहिये। इस तरह प्राणायाम के सिद्ध होने से चित्त स्थिर हो जाया करता है। जिससे कि अंतरंग में संकल्प विकल्पों का उत्पन्न होना बंद हो जाता है, विषयों की आशा निवृत्ति हो जाती है और अंतरंग में विज्ञान की मात्रा बढ़ने लगती है। प्राणायाम करनेवालों के मन ऐसे स्थिर हो जाते हैं कि उनको जगत् का संपूर्ण वृत्तान्त प्रत्यक्ष सरीखा दिखने लगता है। प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु का प्रचार करने में चतुर योगी कामदेवरूपी विष और मन पर विजय प्राप्त कर लिया करता है।

तथा और भी कहा है कि :-

दोयक्खमुआ दिट्ठी अंतमुही सिवसरूवसंलिणा।
मणपवणक्खविहूणा सहजावत्था स णायव्वा।।
जत्थ गया सा दिट्ठी तत्थ संठियं पवणं।
मणपवणलए सुण्णं तहिं च जं फुरइ तं ब्रह्म।।

अर्थात् प्राणायाम करनेवाले साधुओं की दृष्टि जब बाह्य विषयों की तरफ से हटकर अंतरंग की तरफ उन्मुख होकर आत्मस्वरूप में अच्छी तरह लीन हो जाती है उस समय मन वचन और इन्द्रियों की गति बंद होकर साहजिक अवस्था प्राप्त हुआ करती है। जहाँ पर दृष्टि जाकर स्थिर हो जाती है वहीं पर मन और वहीं पर पवन भी स्थिर हो जाता है। इस प्रकार मन और पवन के स्थिर हो जानेपर जब बाह्य जगत् से शून्यता प्राप्त होती है उस समय में ब्रह्म प्रकट हुआ करता है।

प्राणवायु के संचारक्रम को ही प्राणायाम कहते हैं। इसके मूल में तीन भेद हैं;

कुम्भक, रेचक, पूरक। वायुके भीतर खींचने को कुम्भक और वहाँ रोक रखने को पूरक तथा बाहर निकाल देने को रेचक कहते हैं। योगियों को व्युत्सर्गकायोत्सर्ग के समय ध्यान करते हुए ये तीनों ही क्रिया करनी चाहिये। इस ध्यान में जिनमुद्रा के द्वारा णमो अरिहंताणं प्रभृति पंचनमस्कारमहामंत्ररूप गाथा का चिंतवन करना चाहिये। तथा इस गाथा के क्रम से दो दो और एक अंश का विभाग करके उनका पृथक् पृथक् चिंतवन करना चाहिये। अर्थात् पहले भाग में णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं इन दो पदों का और दूसरे भाग में णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं इन दो पदों का तथा तीसरे भाग में णमो लोएसव्वसाहूणं इस एक पद का ध्यान करना चाहिये। इसके अनंतर आनंद से प्रफुल्लित हृदयकमल में मन के साथ रुकी हुई प्राणवायु का धीरे धीरे रेचन करना चाहिये। इस तरह कम से कम नौ बार प्रयोग करना चाहिये। कम से कम इस नौ बार की क्रिया से ही संयमियों के महान् पाप का क्षय हो जाता है।

जो इस प्राणायाम के द्वारा ध्यान करने में असमर्थ हैं वे पास का कोई भी न सुन सके इस तरह से उक्त पंचनमस्कार मंत्र का वचन द्वारा भी जप कर सकते हैं, इसी बात को बताते हैं। किन्तु इसके साथ ही यह भी दिखाते हैं कि इस वाचनिक जप के द्वारा तथा उक्त मानसिक जप ध्यान के द्वारा जो पुण्य का संचय होता है उसमें कितना अंतर है।

वाचाप्युपांशु व्युत्सर्गे कार्यो जप्यः स वाचिकः।
पुण्यं शतगुणं चैत्तः सहस्रगुणमावहेत्।२४।।

उक्त व्युत्सर्ग - कायोत्सर्ग के समय जो साधु पूर्वोक्त प्राणायाम के करने में असमर्थ हैं वे संपूर्ण पापों का क्षय करने में समर्थ पंचनमस्कार महामंत्र का वचन द्वारा जप कर सकते हैं। किन्तु यह जप स्वयं अपनी ही समझ में आवे उसको दूसरा कोई न सुन सके इस तरह से करना चाहिये। परंतु यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि इन दोनों ही जपों के फल में बहुत बड़ा अंतर है। अर्थात् दण्डकों का पाठोच्चारण करने से जितना पुण्य का संचय होता है उससे सौ गुणा पुण्य इस वाचनिक जप करने से होता है। किन्तु उक्त मानसिक जप करने से हजार गुणा पुण्य का संचय हुआ करता है। जैसा कि

कहा भी है कि :-

वचसा वा मनसा वा कार्यों जप्यः समाहितस्वान्तैः।
शतगुणमाद्ये पुण्यं सहस्त्रगुणितं द्वितीये तु।।

अर्थात् साधुओं की एकचित्त होकर पंचनमस्कार मंत्र का जप वचन अथवा मन दोनों में से किसीके भी द्वारा करना चाहिये। किन्तु प्रथम पक्ष में - वचन के द्वारा जप करने में सौ गुणा पुण्य होता है तो द्वितीय पक्ष में - मन के द्वारा जप करने में हजार गुणा पुण्य हुआ करता है।

इस विषय में मनु ने भी कहा है कि :-

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशु स्याच्छतगुणैः सहस्त्रो मानसः स्मृतः।।

अर्थात् :- विधियज्ञ की अपेक्षा जपयज्ञ का फल दशगुणा अधिक है। उसमें भी वाचनिक जप का फल सौ गुणा है तो मानसिक जप का फल हजार गुणा है।

मुमुक्षु भव्यों के श्रद्धान को उद्दीप्त करने के लिये पंचनमस्कार मंत्र का माहात्म्य बताते हैं :-

अपराजितमन्त्रो वै सर्वविन्वविनाशनः।
मङ्गलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः।।२५।।

यह पंचनमस्कार मंत्र संपूर्ण विघ्न - पाप अथवा अंतरायों का अच्छी तरह नाश करनेवाला है। इतना ही नहीं बल्कि जितने भी मंगल - पाप के गलानेवाले उपाय हैं, अथवा पुण्य को देनेवाले साधन हैं उन सभी में यह मुख्य - प्रधान है। अतएव शिष्ट पुरुषोंने इसको यह अपराजित मंत्र है ऐसा निश्चितरूप से माना है। जैसा कि कहा भी है कि :-

ऐसो पंचणमोकारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसि पढमं होइ मंङ्गलम्।।

इस प्रकार पंच परमेष्ठियों की वंदना करने से जो माहात्म्य होता है उसको बतदाकर एक एक परमेष्ठी का भी विनय करने से जो लोकोत्तर महिमा प्राप्त हुआ करता है उसको दिखाते हैं।

नैष्टं विहन्तुं शुभभावमग्नरसप्रकर्पः प्रभुरन्तरायः।
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकृदर्हदादेः।।२६।।

अंतराय कर्म के फल देने की शक्ति शुभपरिणामों के द्वारा नष्ट हो जाया करती है। तब वह इच्छित वस्तु की प्राप्ति में विघ्न डालने को समर्थ नहीं हो सकता। अतएव शुभपरिणामों को सिद्ध करने के लिये अर्हन्दादिमें से इच्छानुसार किसीके भी गुणों में अनुराग रखकर प्रणाम स्तुति या वंदना अभीष्ट प्रयोजन का साधक हो जाता है।

भावार्थ :- अरिहंतादि पंच परमेष्ठियों में से किसीके भी गुणों का स्मरण करने से और उनको नमस्कार आदि करने से परिणामों में जो विशुद्धि प्राप्त हुआ करती है उससे अंतराय कर्म की सामर्थ्य - फलदानशक्ति क्षीण हो जाया करती है जिससे कि वह किसी भी इष्ट वस्तु की प्राप्ति में विघ्न नहीं डाल सकता। फलतः किसी भी परमेष्ठी की वंदना करने से सभी प्रयोजनों की सिद्धि हो सकती है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग की क्रियाओं का क्रम आदि बताकर उसके अनंतर कार्य को भी दो श्लोकों द्वारा बताते हैं।

प्रोच्य प्राग्वत्ततः साम्यस्वामिनां स्तोत्रदण्डकम्।
वन्दनामुद्रया स्तुत्वा चैत्यानि त्रिपदक्षिणम्।।२७।।
आलोच्य पूर्ववत्पञ्चगुरून् नुत्वा स्थितस्तथा।
समाधिभक्त्याऽस्तमलः स्वस्य ध्यायेद्यथाबलम्।।२८।।

चैत्यभक्ति और कायोत्सर्ग - व्युत्सर्ग तथा उसमें बताये गये ध्यान को कर चुकने पर पहले की तरह - शरीर को नम्रीभूत करने आदि की जो विधि बताई है तदनुसार सामायिक के स्वामी श्री चौवीस तीर्थंकर भगवान् की भक्ति के भार से पूर्ण होकर 'थोस्सामि' प्रभृति स्तोत्र दण्डक बोलना चाहिये। पुनः तीन प्रदक्षिणा देते हुए वंदनामुद्रा के द्वारा जिनेन्द्र-भगवान् की प्रतिमा की स्तुति - वंदना करनी चाहिये। उसके बाद एक शिर दो बाहू और दो घूंटनों को नमम्रीभूत करने आदि की जो विधि बताई है उसी प्रकार यहाँ भी 'इच्छामि भत्ते चेइयभतत्ति काउस्सगो कओ' इत्यादि पाठ बोलकर आलोचन करके खड़े होना चाहिये। क्योंकि चैत्यभक्ति की तरह यहाँ पर प्रदक्षिणा नहीं दी जाती। अतएव खड़े होकर पहले की तरह ही कर्तव्यक्रिया की विज्ञापना करके अर्हंदादिक पंचगुरुओं को वंदनामुद्रा के द्वारा नमस्कार करना चाहिये। यहाँ पर भी पंचाङ्गनमस्कारपूर्वक 'इच्छामि भत्ते पंचगुरुभक्ति काउस्सगो कओ तस्स आलोचेउ, अट्ठमहापाडिहेर संजुत्ताणं अरहंताणं' इत्यादि पाठ बोलकर आलोचन करना चाहिये। इसके बाद वंदना संबंधी अतीचारों को समाधिभक्ति के द्वारा निःशेष करके शक्ति के अनुसार अपना ध्यान करना चाहिये। अर्थात् अपने बलवीर्यादि का विचार कर आत्मध्यान में तत्पर होना चाहिये।

आत्मध्यान को छोड़कर अन्य किसी भी उपाय से मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती, इस बात को प्रकट करते हैं :-

नात्मध्यानाद्विना किंचिन्मुमुक्षोः कर्महीष्टकृत्।
किंत्वस्त्रपरिकर्मैव स्यात् कुण्ठस्याततायिनी।।२९।।

मुमुक्षुओं की आत्मध्यान से रहित कोई भी क्रिया इष्टप्रयोजन - मोक्ष की साधन नहीं हो सकती। जो मोक्ष की अभिलाषा रखकर अन्य कायक्लेश तपश्चरणादि क्रिया तो करते हैं परंतु निज आत्मस्वरूप का ध्यान नहीं करते उनका वह क्रिया करना ठीक वैसा ही समझना चाहिये जैसे कि कोई पुरुष शस्त्र चलाने का अभ्यास तो करता है परंतु क्रिया में मंद है यदि कोई शत्रु हथियार लेकर मारने को उद्यत हो तो उसका वह निवारण नहीं कर सकता। उसी प्रकार केवल बाह्यक्रिया करनेवाला साधु कर्मशत्रुओं का

निवारण नहीं कर सकता।

भावार्थ :- मोक्ष की सिद्धि आत्मध्यान से ही हो सकती है। जैसा कि कहा भी है कि :-

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यद्।
मग्ना ज्ञाननयैषिणोपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भजन्तः स्वयं।
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च।।

उन पुरुषों को संसारसमुद्र में डूबा हुआ समझना चाहिये जो कि कर्म करने - बाह्य आचरण के पालन करने का ही एकान्तपक्ष पकड़कर बैठे हैं; क्योंकि वे ज्ञान के अनुभव से शून्य हैं इसी प्रकार वे मनुष्य भी संसार में निमग्न ही समझने चाहिये जो कि ज्ञान को ही एकान्ततः आत्मोद्धार का उपाय मानते हैं क्योंकि वे आचरण करने में अत्यंत स्वच्छंद और मंदोद्यमी हो जाते हैं। अतएव वे ही साधुजन संसारसमुद्र को तरकर विश्व के ऊपर विराजमान हो सकते है, जो कि स्वयं ज्ञान का सेवन - आत्मध्यान का अभ्यास करते हुए बाह्य चारित्र का भी पालन करते हैं और कभी भी प्रमाद के वशीभूत नहीं हुआ करते।

समाधि :- ध्यान की उत्कृष्ट अवस्था का माहात्म्य इतना अधिक है कि उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता, इसी बात को प्रकट करते हैं।

य सूते परमानन्दं भूभुर्वः स्वर्भुजामपि।
काम्यं समाधि कस्तस्य क्षमो माहात्म्यवर्णने।।३०।।

अन्य की तो बात ही क्या, अधोलोक के स्वामी धरणीन्द्रादिक और मध्यलोक के अधिपति चक्रवर्ती आदि तथा ऊर्ध्वलोक के पालन करनेवाले सौधर्मेन्द्रादिकों को भी समाधि अभिलषित उत्कृष्ट प्रसन्नतारूप आनंद - सुख को दिया करती है, उस समाधि के माहात्म्य का वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है।

भावार्थ :- समाधि के द्वारा कर्मों को नष्टकर जीव अविचल पद - मोक्ष को प्राप्त

किया करता है। किन्तु जबतक वह प्राप्त नहीं होती तबतक उस समाधि के बल से जीव संसार के भी सर्वोत्कृष्ट अभ्युदयों को प्राप्त किया करता है, अतएव उसकी महिमा अपार है, उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता। जैसा कि कहा भी है कि :-

अनाधिव्याधिसंबाधममन्दानन्दकारणम्।
न किंचिदन्यदस्तीह समाधेः सदृशं सखे।।

अर्थात् :- समाधि के निमित्त से सभी आधि और व्याधि दूर रहती हैं। समाधि में प्रवृत्त रहनेवाले साधु के मानसिक खेद-क्लेश उत्पन्न नहीं हुआ करता। इसी तरह उनको शारीरिक दुःख भी या तो उत्पन्न ही नहीं होते, यदि दैववश से उत्पन्न भी हो जांय तो पीड़ा के कारण नहीं हुआ करते। तथा यह समाधि संसारसंबंधी और निःश्रेयस संबंधी कभी मंद न पड़नेवाले महान् आनंद को प्रकट करनेवाली है अतएव हे मित्र ! इस जीव के लिये संसार में समाधि के समान कोई भी कल्याण का कारण नहीं हो सकता।

प्राभातिक देववंदना के अनंतर आचार्यादिकों की वंदना
करने का उपदेश देते हैं :-

लध्व्या सिद्धगणिस्तुत्या गणी वन्द्यो गवासनात्।
सैद्धान्तोन्तःश्रुतस्तुत्या तथान्यस्तन्नुतिं विना।।३१।।

साधुओं को आचार्य की वंदना गवासन से बैठकर - जिस तरह गौ बैठते समय अपनी टांगों का आकार बनाती है उस तरह बनाकर और लघु सिद्धभक्ति तथा लघु आचार्यभक्ति बोलकर करनी चाहिये। यदि आचार्य सिद्धान्तवेत्ता हों तो उनकी वंदना लघुसिद्धभक्ति लघुश्रुतभक्ति और लघुआचार्यभक्ति को क्रम से बोलकर करनी चाहिये। आचार्य के सिवाय दूसरे यतियों की वंदना भी गवासन से ही किन्तु वह केवल लघुसिद्धभक्ति को बोलकर ही करनी चाहिये। किन्तु यदि इतर साधु भी सिद्धान्तवेत्ता हों तो उनकी वंदना लघुसिद्धभक्ति और उसके बाद क्रम से लघुश्रुतभक्ति भी बोलकर करनी चाहिये।

जैसा कि कहा भी है कि :-

सिद्धभक्त्या बृहत्साधुर्वन्द्यते लघुसाधुना।
लध्व्या सिद्धश्रुतस्तुत्या सैद्धान्तः प्रप्रणम्यते।।
सिद्धाचार्यलघुस्तुत्या वन्द्यते साधुभिर्गणी।
सिद्धश्रुतगणिस्तुत्या लध्व्या सिद्धान्तविद्गणी।।

छोटे साधुओं को बड़े साधुओं की वंदना लघुसिद्धिभक्तिपूर्वक, तथा सिद्धान्तवेत्ता साधुओं की वंदना क्रम से लघुसिद्धभक्ति और लघुश्रुतभक्ति के द्वारा, और आचार्य की वंदना लघुसिद्धभक्ति तथा लघुआचार्यभक्ति के द्वारा, एवं सिद्धान्तवेत्ता आचार्य की वंदना क्रम से लघुसिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति के द्वारा करनी चाहिये।

धर्माचार्य की वंदना - उपासना करने से
जो माहात्म्य प्राप्त होता है उसकी प्रशंसा करते हैं :-

यत्पादच्छायमुच्छिद्य सद्यो जन्मपथक्लमम्।
वर्वष्टि निवृत्तिसुधां सूरिः सेव्यो न केन सः।।३२।।

जिनके चरणों की छाया मुक्तिरूपी अमृत की वृष्टि करके तत्काल जीवों को संसारमार्ग के संताप से रहित बना देती है ऐसे आचार्य की सेवा कौन नहीं करेगा ?

भावार्थ :- कृतकृत्यता के द्वारा प्राप्त होनेवाले अथवा कृतकृत्यतास्वरूप संतोष को निर्वृत्ति कहते हैं। इस संतोष को अमृत के समान समझना चाहिये। क्योंकि इसके प्राप्त होते ही जीव जन्ममरणरूपी संसार के मार्ग में भ्रमण करने से प्राप्त हुए संताप और क्लेश से छूट जाता तथा परम आह्लाद को प्राप्त होता है। किन्तु यह अवस्था आचार्यों के चरण का आश्रय लिये बिना नहीं हो सकती। अतएव आचार्यचरणों की सेवा सर्वोत्कृष्ट फल को देनेवाली है ऐसा समझकर सभी मुमुक्षु साधुओं को उनकी उपासना करनी चाहिये।

अपने से बड़े साधुओं की वंदना करने से जो फल
प्राप्त होता हैं सो बताते हैं :-

येऽनन्यसामान्यगुणाः प्रीणन्ति जगदञ्जसा।
तान्महन्महतः साधुनिहामुत्र महीयते।।३३।।

जो साधु संसार के अन्य किसी भी जीव में जो नहीं पाये जा सकते ऐसे महान् गुणों के धारण करनेवाले और इन्द्रादि के द्वारा पूज्य हैं, तथा जगत् के जीवों का परमार्थ से हित करनेवाले और अपने उपदेशादि के द्वारा भव आताप से संतप्त प्राणियों को तृप्त करनेवाले हैं; ऐसे दीक्षा की अपेक्षा अपने से बड़े साधुओं की पूजा करनेपर ही मुमुक्षु साधु इसलोक तथा परलोक में महनीयता - पूज्यता को प्राप्त हुआ करता है।

भावार्थ :- अपने से बड़े साधुओं की विनय करने से पूज्यता प्राप्त हुआ करती है।

प्रातःकाल की चैत्यवंदना आदि क्रिया कितने समय तक करनी और
उसके अनंतर क्या करना सो बताते हैं :-

प्रवृत्त्यैवं दिनादौ द्वे नाड्यौ यावद्यथाबलम्।
नाडीद्वयोनमध्याह्नं यावत्स्वाध्यायमावहेत्।।३४।।

पूर्वोक्त रीति से चैत्यवंदना आदि क्रिया प्रातःकाल - दिन की आदि में दो घड़ी तक करनी चाहिये। उसके बाद साधुओं को स्वाध्याय करना चाहिये। स्वाध्याय का समय मध्याह्न से दो घड़ी पहले तक का है। सो इस समय के भीतर ही साधुओं को अपनी शक्ति के अनुसार स्वाध्याय करना चाहिये।

स्वाध्याय को समाप्त करनेपर मुनि की दो अवस्थाएँ हो सकती हैं। एक उपवाससहित और दूसरी उपवासरहित। इनमें से पहली अवस्था में मध्याह्न से दो घडी पहले और दोघडी पीछे का जो स्वाध्याय का काल है उस समय में मुनि को क्या करना चाहिये सो बताते हैं :-

ततो देवगुरू स्तुत्वा ध्यानं वाराधनादि वा।
शास्त्रं जपं वाऽस्वाध्यायकालेभ्यसेदुपोषितः।।३५।।

उपवासयुक्त साधु को पूर्वाह्णकाल का स्वाध्याय समाप्त होनेपर अस्वाध्यायकाल में भी श्री अरहंतपरमेष्ठी और गुरुधर्माचार्य की वंदना करके ध्यान करना चाहिये। अथवा चार आराधना आदि का या किसी शास्त्र का अभ्यास करना चाहिये। पंचनमस्कारादि मंत्र का जप करना चाहिये।

उपवास न करनेवाले साधु को इस मध्याह्न के अस्वाध्याय काल में क्या करना चाहिये सो बताते हैं :-

प्राणायात्राचिकीर्षायां प्रत्याख्यानमुपोषितम्।
न वा निष्ठाप्य विधिवद्भुक्त्वा भूयः प्रतिष्ठयेत्।।३६।।

यदि भोजन करने की इच्छा हो तो पूर्व दिन जो प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण किया था उसकी विधिपूर्वक क्षमापणा करनी चाहिये। और उस निष्ठापन के अनंतर शास्त्रोक्त विधि के अनुसार भोजन करके अपनी शक्ति के अनुसार फिर भी प्रत्याख्यान अथवा उपवास की प्रतिष्ठापना करनी चाहिये।

प्रत्याख्यान या उपवास की निष्ठापना - समाप्ति और आगे के लिये प्रतिष्ठापन - प्रारंभ करने की और प्रतिष्ठापन करने के अनंतर आचार्य परमेष्ठी की वंदना करनी चाहिये, अतएव उसके भी करने की विधि बताते हैं :-

हेयं लध्व्या सिद्धभक्त्याशनादौ
प्रत्याख्यानाद्याशु चादेयमन्ते।
सूरौ तादृग्योगिभक्त्यग्रया तद्
ग्राह्यं वन्द्यः सूरिभक्त्या स लध्व्या।।३७।।

पहले दिन जो प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण किया था उसकी निष्ठापना साधुओं को भोजन के पहले लघुसिद्धभक्ति बोलकर करनी चाहिये। तथा भोजनक्रिया समाप्त होते ही तत्काल पुनः सिद्धभक्ति बोलकर नवीन प्रत्याख्यान या उपवास का प्रतिष्ठापन करना चाहिये। किन्तु इस प्रकार से स्वयं प्रत्याख्यानादिका प्रतिष्ठापन आचार्यपरमेष्ठी के निकट न रहनेपर ही करना चाहिये। यदि आचार्य पासमें हों तो साधुओं को भोजन के अनंतर लघुआचार्यभक्ति बोलकर उनकी वंदना करनी चाहिये। पुनः लघुसिद्धभक्ति और योगिभक्ति बोलकर प्रत्याख्यानादि का प्रतिष्ठापन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

सिद्धभक्त्योपवासश्च प्रत्याख्यानं च मुच्यते।
लध्व्यैव भोजनस्यादौ भोजनान्ते च गृह्यते।
सिद्धयोगिलघुभक्त्या प्रत्यख्यानादि गृह्यते।
लध्व्या तु सूरिभक्त्यैव सूरिर्वन्द्योथ साधुना।।

अर्थात् :- भोजन की आदिमें उपवास या प्रत्याख्यान का त्याग और भोजन के अंत में उसका ग्रहण लघुसिद्धभक्ति बोलकर ही करना चाहिये। अथवा साधुओं को लघु सिद्धभक्ति और लघुयोगिभक्ति बोलकर प्रत्याख्यानादि का ग्रहण करना चाहिये और लघुआचार्यभक्ति बोलकर उनकी वंदना करनी चाहिये।

भोजन के अनंतर तत्काल ही प्रत्याख्यानादि ग्रहण करने के लिये जो कहा है उसका अभिप्राय स्पष्ट करने के लिये तत्काल प्रत्याख्यानादि ग्रहण न करने में दोष और थोड़ी देर के लिये भी उसके ग्रहण करने में महान् लाभ है; इस बात को बताते हैं :-

प्रत्याख्यानं विना दैवात् क्षीणायुः स्याद्विराधकः।
तदल्पकालमप्यल्पमप्यर्थपृथु चण्डवत्।।३८।।

प्रत्याख्यानादि के ग्रहण किये बिना यदि कदाचित् - पर्वबद्ध आयुकर्म के वश से वर्तमानआयु क्षीण हो जाय तो वह साधु विराधक समझना चाहिये। अर्थात् कारणवश यदि उसकी अकस्मात् मृत्यु हो जाय तो वह साधु प्रत्याख्यान से रहित होने के कारण रत्नत्रय

का आराधक नहीं हो सकता। किन्तु इसके विपरीत प्रत्याख्यानसहित तत्काल मरण होनेपर थोड़ी देर के लिये और थोड़ासा ही ग्रहण किया हुआ वह प्रत्याख्यान चण्डनामक चाण्डाल की तरह महान् फल का देनेवाला हो जाता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

चण्डोऽवन्तिषु मातङ्गः किल मांसनिवृत्तितः।
अप्यल्पकालभाविन्याः प्रपेदे यक्षमुख्यताम्।।

अर्थात् :- उज्जयनीनगरी में एक चण्ड नाम का मातङ्ग रहता था। एक दिन वह चाम की रस्सी बट रहा था, जब कि उसकी आयु पूर्ण होने में थोड़ासा ही समय बाकी रहा था। यह बात एक ऋषिराज को मालूम हुई तब उन्होंने उसको मांसत्याग का व्रत दिया। उस मातङ्गने 'ये मेरी चाम की रस्सी का बटना जबतक पूर्ण नहीं होता तबतक के लिये मेरे मांस का त्याग है' ऐसा व्रत लिया। भवितव्यतानुसार रस्सी बटना पूर्ण होने के पहले ही उसका मरण हो गया। अतएव उस व्रत के प्रसाद से वह मरकर यक्षेन्द्र हुआ।

प्रत्याख्यानादि ग्रहण करने के अनंतर गोचार प्रतिक्रमण - भोजन संबंधी दोषों का संशोधन करना चाहिये। अतएव उसकी विधि बताते हैं :-

प्रतिक्रम्याथ गोचारदोषं नाडीद्वयाधिके।
मध्यान्हे प्राह्णवद्धृते स्वाध्यायं विधिवद्भजेत्।।३९।।

प्रत्याख्यान अथवा स्वाध्याय को अपने में स्थापित करने के बाद साधुओं को [१]गोचारसंबंधी दोषों अतीचारों का प्रतिक्रमण करना चाहिये। और उसके बाद पूर्वाह्न की तरह अपराह्नकाल में भी मध्याह्न से दो घड़ी अधिक समय व्यतीत होनेपर स्वाध्याय का प्रारंभ करना चाहिये।

अपराह्नकाल का स्वाध्याय समाप्त होनेपर दैवसिक प्रतिक्रमण - दिनभर में जो कोई दोष अथवा अतीचार लग गया हो उसका संशोधन आदि करने की विधि बताते हैं।

---

१ -मुनियों के आहार के गोचार भ्रामरी अक्षमृक्षण और श्वभ्रपूरण ये भेद और इनका स्वरूप पहले बता चुके हैं।

नाडीद्वयावशेषेह्नि तं निष्ठाप्य प्रतिक्रमम्।
कृत्वाण्हिकं गृहीत्वा च योगं वन्द्यो यतैर्गणी।।४०।।

जब दिन में दो घड़ी काल बाकी रहे तब विधिपूर्वक आपराण्हिक स्वाध्याय की निष्ठापना कर देनी चाहिये। और फिर आण्हिक क्रिया करने में जो किसी प्रकार का दोष लगा हो उसका प्रतिक्रमण करना चाहिये। पुनः संयमियों को रात्रियोग ग्रहण कर आचार्य परमेष्ठी की वंदना करनी चाहिये।

आचार्यवंदना के अनंतर देववंदना आदि जो करना चाहिये
उसका विधान करते हैं :-

स्तुत्वा देवमथारभ्य प्रदोषे सद्विनाडिके।
मुञ्चेन्निशीथे स्वाध्यायं प्रागेव घटिकाद्वयात्।।४१।।

आचार्यवंदना के बाद साधुओं को विधिपूर्वक देववंदना करके प्रदोष - संध्या समय के अनंतर दोघडी काल व्यतीत होनेपर पूर्वरात्रिक स्वाध्याय का प्रारंभ करना चाहिये। और अर्धरात्रि में दो घड़ी समय जब बाकी रहे तब उस स्वाध्याय को समाप्त करना चाहिये।

इस पूर्वरात्रिक स्वाध्याय के समाप्त होनेपर साधुओं को उचित है कि वे ऐसा अभ्यास और प्रयत्न करें कि जिससे वे निद्रा के वशीभूत न हों। अतएव निद्रा को जीतने के उपाय कौन से हैं सो बताते हैं :-

ज्ञानाद्याराधनानन्दसान्द्रः संसारभीरुकः।
शोचमानोऽर्जितं चैनो जयेन्निद्रां जिताशनः।।४२।।

निद्रा को जीतने के चार उपाय हैं। पहाना - आहार को जीतना। उपवास या अनुपवास करके - ३२ ग्रास मात्र अथवा उदर के तीन भागमात्र जो भोजन का प्रमाण बताया है

उससे कम भोजन करके, अथवा ऐसा कोई भी आहार ग्रहण न करके कि जिससे शरीर में आलस्य या तंद्रा आ जाय, निद्रा को जीतना चाहिये। जिताशनः इस शब्द की जगह जितासनः ऐसा दन्त्य सकारका भी पाठ माना है। अतएव इस शब्द का अर्थ आसन को जीतना ऐसा होता है। अर्थात् पर्यंकासन या वीरासन आदि से चलायमान न होकर - आसन के निमित्त से खेदित न होकर निद्रा को जीतना चाहिये। दूसरा उपाय - आराधनाओं की अविछिन्न प्रवृत्ति है। अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र और तप इन चार विषयों की चारों आराधनाओं के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले प्रमोद को निरंतर प्रवृत्ति के द्वारा अतिसघन बनाकर निद्रा को जीतना चाहिये। तीसरा उपाय संवेग है। अर्थात् पंचपरिवर्तनरूप या दुःखों के कारण अथवा सर्वथा दुःखमय संसार से निरंतर डरनेवाला निद्रा को जीत सकता है। चौथा उपाय शोक है। जो पूर्वकाल में अपने से कोई पाप बन गया है उसका शोक करने से भी निद्रा जीती जा सकती है। जैसा कि कहा भी है कि :-

ज्ञानाद्याराधने प्रीतिं भयं संसारदुःखतः।
पापे पूर्वार्जिते शोकं निद्रां जेतुं सदा कुरु।।

अर्थात् :- हे आत्मन् ! तू निद्रा को जीतने के लिये ज्ञानादि के आराधन करने में प्रीति और संसार के दुःखों से भय तथा पूर्वसंचित पापों का शोक सदा किया कर।

जो स्वाध्याय करने में असमर्थ हैं उनके लिये देववंदना करने का विधान करते हैं :-

सप्रतिलेखनमुकुलतिवत्सोत्सङ्गितकरः सपर्यङ्कः।
कुर्यादेकाग्रमनाः स्वाध्यायं वन्दनां पुनरशक्त्या।।४३।।

प्रतिलेखन - पिच्छी को हाथों में लेकर उसके साथ-साथ ही हाथों को मुकुलित - अञ्जलिबद्ध करके और उन हाथों को वक्षःस्थल के मध्य में रखकर, पर्यङ्कासन से बैठकर, और मन को एकाग्र बनाकर - अन्य किसी भी विषय की तरफ अपने चित्त को न जाने देकर साधुओं को स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

पलियंकणिसेज्जगदोपडिलेहिय अज्जलीकदपणामो।
सुत्तत्थजोगजुत्तो पढिदव्वो आदसत्तीए।।

अर्थात् :- पर्यंकासन को धारण करनेवाला और पीछीयुक्त अंजलि के द्वारा किया है प्रणाम जिसने ऐसे साधु को अपनी शक्ति के अनुसार सूत्रार्थ के स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चाहिये। और भी कहा है कि :-

मनो बोधाधीनं विनयविनियुक्तं निजवपुर्वचः,
पाठायत्तं करणगणमाधाय नियतम्।
दधानः स्वाध्यायं कृतपरिणतिर्जैनवचने,
करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यन्तरमिदम्।।

अर्थात् :- मन को ज्ञान के आधीन बनाकर और अपने शरीर को विनय से युक्त करके तथा वचन को पाठ करने में लगाकर और इन्द्रियों को अपने - अपने विषयों से निवृत्त करके जिनभगवान् के वचनों की तरफ ही अपना उपयोग लगाते हुए जो स्वाध्याय करता है वह आत्मा कर्मों का क्षय कर देता है। अतएव इस स्वाध्याय को समाधि ही समझना चाहिये।

भावार्थ :- जिस स्वाध्याय के करने में मन वचन काय और इन्द्रियों को अन्य सब विषयों से रोककर अपने उपयोग को जिनवचन की तरफ ही लगाया जाता है उस स्वाध्याय को उत्कृष्टध्यान समझना चाहिये। और उसके करनेवाले ही साधु के समाधि का कार्य - कर्मक्षय हुआ करता है।

स्वाध्याय को करने के लिये पर्यंकासन का जो निर्देश किया है वह उपलक्षण है। अतएव वीरासनादिक से भी स्वाध्याय किया जा सकता है ऐसा समझना चाहिये। किन्तु जो व्यक्ति इस विधि से स्वाध्याय नहीं कर सकता और खड़े होकर वंदना करने में असमर्थ हो तो वह केवल वंदना कर सकता है। अर्थात् शक्ति के रहते हुए स्वाध्याय और उसके अभाव में उक्त विशेषणों से युक्त साधु को वदंना ही करनी चाहिये। प्रतिक्रमण के द्वारा योग के ग्रहण और त्याग में जो काल लगना चाहिये उसका प्रमाण व्यवहार

से अथवा जैसा कि पहले कहा जा चुका है तदनुसार समझ लेना चाहिये।

किसी अन्य धर्मकार्यादि में लग जाने से यदि योग प्रतिक्रमणादिक निर्दिष्ट समय पर न हो सके और उनके करने में किसी प्रकार का व्यवधान आ जाय तो वह अन्य समय में भी किया जा सकता है। वैसा करने में कोई दोष नहीं है, ऐसा उपदेश करते हैं :-

योगप्रतिक्रमविधिः प्रागुक्तो व्यावहारिकः।
कालक्रमनियामोऽत्र न स्वाध्यायादिवद्यतः।।४४।।

रात्रियोग तथा प्रतिक्रमण का जो पहले विधान किया गया है वह व्यवहारिक है। क्योंकि इनके विषय में काल के क्रम का - समयानुपूर्विता का या काल और क्रम का नियम नहीं है। जिस प्रकार स्वाध्यायादि (स्वाध्याय, देववंदना और भक्तप्रत्याख्यान) के विषय में काल और क्रम नियमित माने गये हैं उस प्रकार रात्रियोग और प्रतिक्रमण के विषय में नहीं।

भावार्थ :- जब स्वाध्यायादि की तरह इनका कालक्रम नियत नहीं है। तब यह बात स्वयं सिद्ध है कि ये योग और प्रतिक्रमण निर्दिष्ट समय से क्वचित् कदाचित् भिन्न समय में भी किये जा सकते हैं। फिर भी किसी विशिष्ट धर्मकार्य में रुक जानेपर ही साधुओं को ये भिन्न समय में करने उचित हैं, सर्वदा वैसा करना योग्य नहीं है।

इस प्रकार नित्य क्रियाओं के करने की विधि का वर्णन किया। अब क्रमानुसार नैमित्तिक क्रियाओं के वर्णन का अवसर प्राप्त है। अतएव नैमित्तिक क्रियाओं में से सबसे पहले चतुर्दशी को करने योग्य क्रिया की विधि दो मतों के अनुसार बताते हैं :-

त्रिसमयवन्दने भक्तिद्वयमध्येश्रुतनतिं चतुर्दश्याम्।
प्राहुस्तद्भक्तित्रयमुखान्तयोः केऽपि सिद्धशान्तिनुती।।४५।।

क्रियाकाण्ड के निरूपण करनेवाले प्राकृत चारित्रसार के मतानुसार जो वंदना भक्ति आदि करने का विधान करते हैं उन आचार्यों का कहना है कि प्रातःकाल मध्याह्न और सायंकाल इन तीनों समयों में नित्य देववंदना के अवसर पर जो दो भक्ति - चैत्यभक्ति

और पंचगुरुभक्ति की जाती हैं उनके मध्य में चतुर्दशी के दिन श्रुतभक्ति और करनी चाहिये जैसा कि क्रियाकाण्ड में भी बताया गया है। यथा :-

जिणदेववन्दणाए चेदियभत्तीय पंचगुरूभत्ती।
चउदसियं तं मज्झे सुदभत्ती होइ कायव्वा।।

जिनदेव की नित्यवंदना करने में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति की जाती है। किन्तु चतुदर्शी को इन दोनों भक्तियों के मध्य में श्रुतभक्ति और करनी चाहिये। चारित्रसारमें भी कहा है कि 'देव की प्रतिदिन की स्तवनक्रिया करने में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति तथा चतुदर्शी के दिन दोनों भक्तियों के मध्य में श्रुतभक्ति हुआ करती है।'

संस्कृत चारित्रसार के मतानुसार जो क्रियाकाण्ड का निरूपण करनेवाले हैं उन आचार्यों का कहना है कि चतुर्दशी के दिन उपर्युक्त तीनों भक्तियों - चैत्यभक्ति श्रुतभक्ति और पंचगुरुभक्ति के आदि में और अंत में क्रम से सिद्धभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये। जैसा कि संस्कृत क्रियाकाण्ड के पाठ में कहा गया है कि :-

सिद्धे चैत्ये श्रुते भक्तिस्तथा पंचगुरुस्तुतिः।
शान्तिभक्तिस्तथा कार्या चतुर्दश्यामिति क्रिया।।

अर्थात् :- क्रम से सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति श्रुतभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करके चतुर्दशी को क्रिया करनी चाहिये।

यदि कदाचित् किसी धर्मकार्य के वश चतुर्दशी की उपर्युक्त क्रिया करने में विच्छेद उपस्थित हो जाय तो उसके बदले में क्या करना चाहिये सो बताते हैं :-

चतुर्दशीक्रिया धर्मव्यासङ्गदिवशान्न चेत्।
कर्तुं पार्येत पक्षान्ते तर्हि कार्याष्टमीक्रिया।।४६।।

क्षपण - निर्यापण - समाधिमरण सरीखा कोई ऐसा धर्मकार्य आकर उपस्थित हो जाय

कि जिसमें लगे रहने से मुमुक्षु साधु उस दिन की - चतर्दशी की क्रिया न कर सके तो ऐसे समय में उसको दूसरे दिन - अमावस्या या पूर्णमासी को अष्टमी क्रिया करनी चाहिये। सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति के करने से अष्टमी क्रिया हुआ करती है, ऐसा आगे के सूत्र में बतावेंगे। इसी विषय में चारित्रसार में कहा है कि :-

'चतुर्दशीदिने धर्मव्यासङ्गादिना क्रिया कर्तुं न
लभ्येत चेत् पाक्षिकेऽष्टम्यां क्रिया कर्तव्या।'

धर्मकार्य के कारण चतुर्दशी के दिन की क्रिया करने में यदि व्यासङ्ग - व्यवधान आदि उपस्थित हो जाय तो पक्षान्त में - अमावस्या अथवा पूर्णमासी को अष्टमी की क्रिया करनी चाहिये। तथा क्रियाकाण्ड में भी ऐसा ही कहा है।

जदि पुण धम्मव्वासंगा ण कया होज्ज चउद्दसीकिरिया।
तो पुण्णिमाइदिवसे कायव्वा पक्खिया किरिया।।

अर्थात् :- धर्मव्यासङ्ग से यदि चतुर्दशी की क्रिया न की जा सकी हो तो पूर्णमासी को [१] पाक्षिकी क्रिया करनी चाहिये।

अष्टमी की और पक्षान्त की क्रियाविधि को तथा सर्वत्र चारित्रभक्ति के अनंतर होनेवाली आलोचनाविधि को बताते हैं :-

स्यात् सिद्धश्रुतचारित्रशान्तिभक्त्याष्टमीक्रिया।
पक्षान्ते साऽश्रुता वृत्तं स्तुत्वालोच्यं यथायथम्।।४७।।

सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति इन चार भक्तियों के द्वारा अष्टमी क्रिया की जाती है। पाक्षिकी क्रिया इनमें से श्रुतभक्ति के सिवाय बाकी तीन भक्ति

---

१ - अष्टमी क्रिया में जो चार भक्ति होती हैं उनमें से पाक्षिकी क्रिया में श्रुतभक्ति नहीं होती।

के द्वारा हुआ करती है। तथा साधुओं को उचित है कि सभी जगह चारित्रभक्ति के अनंतर यथायोग्य आलोचना किया करें। चारित्रसार में भी अष्टमी को सिद्ध श्रुत चारित्र शान्तिभक्ति का करना और पाक्षिकी क्रिया करने में सिद्ध चारित्र शान्ति भक्ति का करना ही बताया है। किन्तु संस्कृत क्रियाकाण्ड में यह जो पाठ दिया है कि :-

सिद्धश्रुतसुचारित्रचैत्यपञ्चगुरुस्तुतिः।
शान्तिभक्तिश्च षष्ठीयं क्रिया स्यादष्टमीतिथौ।।
सिद्धचारित्रचैत्येषु भक्तिः पञ्चगुरुष्वपि।
शान्तिभक्तिश्च पक्षान्ते जिने तीर्थे च जन्मनि।।

अष्टमी को सिद्धश्रुत चारित्र चैत्य पंचगुरु की भक्ति और छट्ठी शान्तिभक्ति केरनी चाहिये। तथा अमावस्या पूर्णिमा और तीर्थंकर भगवान् के जन्मकल्याण के समय सिद्ध चारित्र चैत्य पंचगुरु शान्ति भक्ति करनी चाहिये। सो इसमें नित्यदेववंदना के साथ - साथ अष्टमी चतुर्दशी का विधान बताया है। अतएव यह वृद्धसंप्रदाय समझना चाहिये।

सिद्धप्रतिमा, तीर्थंकर भगवान् का जन्मकल्याणक और अपूर्व जिनप्रतिमा के विषय में करने योग्य क्रिया का उपदेश देते हैं :-

सिद्धभक्त्यैकया सिद्धप्रतिमायां क्रिया मता।
तीर्थकृज्जन्मनि जिनप्रतिमायां च पाक्षिकी।।४८।।

सिद्धप्रतिमा की वंदना करने में एक सिद्धभक्ति ही करनी चाहिये। और तीर्थंकर भगवान् के जन्मकल्याण के समय पाक्षिकी क्रिया - सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये। इसी प्रकार अपूर्व जिनप्रतिमा की वंदना करने में भी पाक्षिकी क्रिया ही करनी चाहिये।

अष्टमी आदि की क्रियाओं में यदि अपूर्व चैत्यवंदना और नित्य देववंदना का योग करना अभीष्ट हो, अथवा इनका संयोग आकर उपस्थित हो जाय तो चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति का प्रयोग कब और किस स्थान पर करना सो बताते हैं :-

दर्शनपूजात्रिसमयवन्दनयोगोऽष्टमीक्रियादिषु चेत्।
प्राक् तर्हि शांतिभक्तेः प्रयोजयेच्चैत्यपंचगुरुभक्ती।।४९।।

अष्टमी आदि क्रियाओं के समय में ही यदि अपूर्व चैत्यवंदना और त्रैकालिक नित्यवंदना का संयोग आकर उपस्थित हो जाय तो साधुओं को उचित है कि शान्तिभक्ति के पहले चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करें। जैसा कि चारित्रसार में भी कहा है कि :-

'अष्टम्यादिक्रियासु र्दनपूजाकत्रिकालदेववन्दनायोगे।
शान्तिभक्तितः प्राक्चैत्यभक्ति पञ्चगुरुभक्ति च कुर्यात्।।' इति।

अर्थात् :- अष्टमी आदि की क्रियामें ही दर्शनपूजा - चैत्यवंदना और प्रातः मध्याह्न और सायंकाल की वंदना का संयोग हो तो शांतिभक्ति के पहले चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिये।

एक ही जगह अनेक अपूर्व जिनप्रतिमाओं का दर्शन होनेपर किस प्रकार क्रिया करना सो बताते हैं। तथा उनके फिर भी दर्शन के विषय में उन प्रतिमाओं की अपूर्वता कब समझना इसके लिये काल का प्रमाण भी दिखाते हैं।

दृष्टवा सर्वाण्यपूर्वाणि चैत्यान्येकत्र कल्पयेत्।
क्रियां तेषां तु षष्ठेऽनुश्रूयते मास्यपूर्वता।।५०।।

यदि अनेक अपूर्व जिन प्रतिमा एक ही स्थान पर हों तो उन सभी का दर्शन करके उनमें से जिसकी तरफ रुचि अधिक प्रवृत्त हो उस एक प्रतिमा को लक्ष्य करके पहले कहे मूजब क्रिया करनी चाहिये। तथा उन प्रतिमाओं की अपूर्वता व्यवहारी लोगों की परंपरा से छट्ठे महीने में समझनी चाहिये।

विशिष्ट क्रियाओं के करने के लिये तिथि का निर्णय दिखाते हैं :-

त्रिमुहूर्तेपि यत्रार्क उदेत्यस्तमयत्यथ।
स तिथिः सकलो ज्ञेयः प्रायो धर्म्येषुः कर्मसु।।५१।।

जिस दिन तीन मुहूर्त तक - कम से कम छह घड़ी कालतक सूर्य का उदय अथवा अस्त पाया जाय उपवास वंदना आदि धर्मसंबंधी क्रियाओं के करने में प्राय: वही तिथि पूर्ण मानी है।

प्राय: कहने का अभिप्राय यह है कि बहुधा व्यवहारी लोगों का परंपरा से ऐसा ही व्यवहार देखने में आता है; किन्तु वास्तव में यह नियम नहीं समझना चाहिये। अतएव देश कालादि के वश - क्वचित् इसके प्रतिकूल भी व्यवहार हो सकता है।

प्रतिक्रमण के विषय में क्रिया करने की विधिविशेष
पाँच श्लोकों में बताते हैं :-

पाक्षिक्यादिप्रतिक्रान्तो वन्देरन्विधिवद्गुरुम्।
सिद्धवृत्तस्तुती कुर्याद्गुर्वी चालोचनां गणी।।५२।।
देवस्याग्रे परे सूरेः सिद्धयोगिस्तुती लघू।
सवृत्तालोचने कृत्वा प्रायश्चित्तमुपेत्य च।।५३।।
वन्दित्वाचार्यमाचार्यभक्त्या लध्व्या ससूरयः।
प्रतिक्रान्तिस्तुतिं कुर्युः प्रतिक्रामेत्ततो गणी।।५४।।
अथ वीरस्तुतिं शान्तिचतुर्विंशतिकीर्तनाम्।
सवृत्तालोचनां गुर्वीं सगुर्वालोचनां यताः।।५५।।
मध्यां सूरिनुतिं तां च लघ्वीं कुर्युः परे पुनः।
प्रतिक्रमा बृहन्मध्यसूरिभक्तिद्वयोज्झिताः।।५६।। पञ्चकम्।।

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण के समय अर्थात् अमावस्या और पूर्णमासी को किये जानेवाले तथा चातुर्मास और संवत्सर के अंत में जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह जब करना हो तब शिष्य और सधर्माओं को पहले गुरु - आचार्य की पूर्व में बताई गई विधि के अनुसार वंदना करनी चाहिये। अर्थात् आचार्य की वंदना लघुसिद्धभक्ति और लघुआचार्यभक्ति

को बोलकर गवासन के द्वारा करनी चाहिये। और आचार्य यदि सिद्धान्तवेत्ता हों तो क्रम से सिद्ध श्रुत आचार्यभक्ति के द्वारा उनकी वंदना करनी चाहिये। इत्यादि व्यवहार के अनुरोध से जो विधान पहले बता चुके हैं उसी मूजब पाक्षिक आदि चातुर्मासिक तथा वार्षिक प्रतिक्रमण के समय भी गुरु की पहले वंदना करनी चाहिये। यहाँ पर तीनों भक्तियों के बोलते समय क्रम से तत्तद्भक्ति के आदि में तीन प्रकार के उच्चारण हुआ करते हैं। अर्थात् 'नमोस्तु प्रतिष्ठापनसिद्धभक्ति कायोत्सर्ग करोम्यहम्' ऐसा सिद्धभक्ति के प्रारंभ में और 'नमोस्तु प्रतिष्ठा-पनश्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' ऐसा श्रुतभक्ति करते समय तथा 'नमोस्तु प्रतिष्ठापनाचार्यभक्ति-कायोत्सर्ग करोम्यहम्' ऐसा आचार्यभक्ति आदि में बोलना चाहिये।

इसके अनंतर अपने शिष्यों और सधर्माओं से युक्त गुरु - आचार्य को अपने इष्ट देव को नमस्कार कर 'समता सर्वभूतिषु' इत्यादि पाठ बोलकर बृहद्भक्तियों में से 'सिद्धा-नुद्भूतकर्मे' इत्यादिक सिद्धभक्ति और 'येनेन्द्रान' इत्यादि अञ्चलिका सहित चारित्र भक्ति बोलनी चाहिये। तथा श्री अरहंतभगवान् के सम्मुख 'इच्छामि भत्ते पक्खि यंमि आलोचउं' इत्यादि 'जिणगुण संपत्ति होउ मज्झं' यहाँ तक की बृहदालोचना करनी चाहिये। यहाँ पर भी दोनों भक्तियों की आदि में दो प्रकार के उच्चारण हुआ करते हैं। 'सर्वातीचारविशुद्ध्यर्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं सिद्धभक्ति कायोत्सर्ग करोम्यहम्' ऐसा सिद्धभक्ति की आदि में उच्चारण करना चाहिये। और 'सर्वातीचार विशुद्ध्यर्थ आलोचना चारित्रभक्ति कायोत्सर्ग करोम्यहम्' ऐसा चारित्रभक्ति की आदि में उच्चारण करना चाहिये।

अर्थात् :- पंचपरमेष्ठियों के णमो अरिहंताण प्रभृति पाँच नमस्कारपदों को बोलकर कायोत्सर्ग करके 'थोस्सामि' प्रभृति पाठ बोलना चाहिये। पुनः 'तव सिद्ध' इत्यादि पाठ को अञ्चलिका के साथ बोलकर पूर्वोक्त विधि करनी चाहिये। और उसके बाद अञ्चलिका-युक्त 'प्रावट्काले सविद्युत्' इत्यादि योगिभक्ति का पाठ बोलकर तथा 'इच्छामि भत्ते चरित्ताचारो तेरसविहो' इत्यादि पाँचो दण्डकों का उच्चारण करके और 'वदसमिदिंदिय' से लेकर 'छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं' यहाँ तक के पाठ को तीन बार बोलकर अरहंतदेव के सामने अपने दोषों की आलोचना करनी चाहिये। इसके बाद अपने से जैसा कुछ दोष बन गया हो उसके अनुसार स्वयं प्रायश्चित लेकर और 'पंचमहाव्रतम्' आदि पाठ को तीन बार बोलकर प्रायश्चित के योग्य शिष्यों को भी प्रायश्चित देकर देव के समक्ष गुरुभक्ति

करनी चाहिये। यहाँ पर तीन प्रकार के उच्चारण किये जाते हैं। पहला 'नमोस्तु सर्वातीचार-विशुद्ध्यर्थं सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' दूसरा 'नमोस्तु सर्वातीचारविशुद्ध्यर्थं आलोचनायोगि-भक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' और तीसरा 'नमोस्तु निष्ठापनाचार्यभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्' ये उच्चारण क्रम से यथास्थान करने चाहिये। यह सब क्रिया केवल आचार्य को ही करनी चाहिये।

इसके अनंतर ग्रहण कर लिया है प्रायश्चित जिन्होंने ऐसे आचार्य परमेष्ठी के आगे शिष्यों तथा सधर्माओं को लघुसिद्धभक्ति लघुयोगिभक्ति और चारित्रभक्ति तथा आलोचना करके जिससे जिस प्रकार का दोष बन गया हो उसको उसी मूजब शुद्धि - प्रायश्चित आलोचनापूर्वक ग्रहण करके 'श्रुतजलधि' इत्यादि लघु आचार्यभक्ति बोलकर विधिपूर्वक उनकी वंदना करनी चाहिये। पुनः आचार्य परमेष्ठी के साथ-साथ शिष्यों तथा सधर्माओं को मिलकर प्रतिक्रमणभक्ति करनी चाहिये। अर्थात् 'सर्वातीचारविशुद्ध्यर्थं पाक्षिक प्रतिक्रमणक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं प्रतिक्रमणभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यम्' ऐसा पाठ बोलकर प्रतिक्रमण भक्ति करनी चाहिये और उसके बाद 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि दण्डक का पाठ बोलकर कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये।

उपर्युक्त परिकर्म के पूर्ण होनेपर पुनः केवल आचार्यपरमेष्ठी को 'थोस्सामि' प्रभृति दण्डक और गणधरवलय का उच्चारण करके प्रतिक्रमण दण्डक का पाठ करना चाहिये। तथा जबतक केवल आचार्य इस पाठ का उच्चारण करें तबतक उन शिष्यों और सधर्माओं को कायोत्सर्ग के द्वारा खड़े - खड़े वह प्रतिक्रमण दण्डक का पाठ सुनना चाहिये।

इसके अनंतर परिकर्म में प्रवृत्त संयमी साधुओं को 'थोस्सामि' प्रभृति दण्डक का पाठ बोलना चाहिये और आचार्य के साथ-साथ 'वदसमिदिंदियरोधो' इत्यादि बोलकर वीरभक्ति करनी चाहिये, अर्थात् 'सर्वातीचार विशुद्ध्यर्थं पाक्षिक प्रतिक्रमणक्रियायां पूर्वचार्यानुक्रमेण सकलकर्म क्षयार्थं भावपूजा वन्दनास्तव समेतं निष्ठित करणवीरभक्ति कायोत्सर्ग करोम्यहम्' इस प्रकार उच्चारण करके पुनः 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि दण्डक पाठ बोलना चाहिये। उसके बाद कायोत्सर्ग में प्रवृत्त होना चाहिये और पहले कायोत्सर्ग के जितने उच्छ्वास बताये हैं उतने उसमें पूर्ण करना चाहिये। उसके बाद 'थोस्सामि' इत्यादि दण्डक का पाठ करके 'चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं' इत्यादि स्वयंभू का और 'यः सर्वाणि चराचराणि' इत्यादि अंचलिकायुक्त वीरभक्ति तथा 'वदसमिदिंदियरोधो' आदि पाठ बोलना चाहिये।

इसके बाद साधुओं को आचार्य के साथ - साथ शांतिभक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकर-भक्ति करनी चाहिये। अर्थात् 'सर्वातीचारविशुद्ध्यर्थं शांतिचतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' ऐसा उच्चारण करके 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि दण्डक का पाठ बोलकर कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये। कायोत्सर्ग के अनंतर 'थोस्सामि' प्रभृति दण्डक बोलकर शांतिभक्ति और 'रक्षाम्' इत्यादि चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति तथा 'चउवीसं तित्थथरे' आदि अंचलिकासहित पाठ को बोलकर 'वदसमिदिंदियरोधो' आदि पाठ बोलना चाहिये। उसके बाद साधुओं को आचार्य के साथ - साथ बृहदाचार्यभक्ति करनी चाहिये। अर्थात् 'इच्छामि भत्ते चारित्ताचारो तेरसविहो परिहारविदो' इत्यादि दण्डक के द्वारा साध्य लघु चारित्रालोचना के साथ साथ ही 'सर्वातीचारविशुद्धार्थ चारित्रतालोचनाचार्यभक्तिकायोत्सर्ग करोम्यहम्' ऐसा पाठ बोलकर लघु चारित्रालोचना के साथ साथ बृहदाचार्यभक्ति करनी चाहिये। अर्थात् 'इच्छामि भत्ते चारितावारो तेरसविहो परिहारविदो' इत्यादि दण्डक के द्वारा साध्य लघु चारित्रालोचना के साथ 'सिद्धगुणस्तुति' आदि बृहदाचार्यभक्ति करनी चाहिये। तदनंतर आचार्य के साथ-साथ 'देशंकुलजाइसुद्धा' इत्यादि मध्य बृहदाचार्यभक्ति करनी चाहिये। अर्थात् यह बृहदाचार्यभक्ति 'इच्छामि भत्ते पक्खियम्मि आलोचेउं पण्णारसण्णं देवसाणं' इत्यादि बृहदालोचना के साथ बृहदाचार्यभक्ति करनी चाहिये।

इसके अनंतर आचार्यपरमेष्ठी के साथ ही साधुओं को 'वदसमिदिंदियरोधो' इत्यादि पाठ करके और 'सर्वातीचारविशुद्ध्यर्थं क्षुल्लकालोचनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' इस प्रकार उच्चारण करके पहले के ही समान दण्डकादिक बोलकर लघुआचार्यभक्ति करनी चाहिये। अर्थात् 'प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्र हृदयः' यहाँ से लेकर 'मोक्षमार्गोपदेशका' यहाँ तक का लघु आचार्यभक्ति का पाठ बोलना चाहिये। इस तरह संपूर्ण क्रिया करने के बाद साधुओं को आचार्य के साथ-साथ ही न्यूनाधिकता के दोष की शुद्धि के लिये 'सर्वातीचार विशुद्ध्यर्थं सिद्धचारित्रप्रतिक्रमणनिष्ठितकरणवीरशान्तिचतुर्विंशतितीर्थंकरचारित्रालोचनाचार्यबृह-दालोचनाचार्यक्षुल्लकालोनाचार्यभक्तीः कृत्वा तद्धीनाधिकत्वादिदोषविशुद्ध्यर्थ समाधिभक्ति-कायोत्सर्ग करोम्यहम्' ऐसा उच्चारण करके और पहले के ही समान दण्डकादि पाठ करके अंत में 'शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः' इत्यादि इष्टप्रार्थना करनी चाहिये। तथा सबके अंत में साधुओं को सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति बोलकर गुरु-आचार्य की वंदना करनी चाहिये।

इस प्रकार प्रतिक्रमण करने की विधि यहाँ पर हमने संक्षेप में बताई हैं। जिनकी विशेष जानना या करना हो उन्हें किसी प्रौढ आचार्य के निकट विस्तार के साथ देखकर और सीखकर करनी चाहिये। इही विषय में आगम में कहा है कि :-

सिद्धचारित्रभक्तिः स्याद्बृहदालोचना ततः।
देवस्य गणिनो वाग्रे सिद्धयोगिस्तुती लघू।।
चारित्रालोचना कार्या प्रायश्चितं ततस्तथा।
सूरिभक्तत्या ततो लध्व्या गणिनं वन्दते यतिः।।
स्यात्प्रतिक्रमणा भक्तिः प्रतिक्रामेत्ततो गणी।
वीरस्तुतिर्जिनस्तुत्या सह शान्तिनुतिर्मता।।
वृत्तालोचनतया सार्द्धं गुर्वीं सूरिनुतिस्ततः।
गुर्वालोचनयासार्धं मध्याचार्यनुतिस्तथा।।
लध्वी सूरिनुतिश्चेति पाक्षिकादौ प्रतिक्रमे।
ऊनाधिक्यविशुद्ध्यर्थं सर्वत्र प्रियभक्तिकः।।

अर्थात् :- अरहंतदेव अथवा आचार्यदेव सम्मुख सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और बृहदा-लोचना के बाद लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति की जाती है। पुनः चारित्रालोचनापूर्वक प्रायश्चित ग्रहण करना चाहिये और उसके बाद साधुओं को लघु आचार्यभक्ति बोलकर आचार्य की वंदना करनी चाहिये। तदनंतर प्रतिक्रमणभक्ति करनी चाहिये और आचार्य को प्रतिक्रमण कराना चाहिये। पुनः वीरभक्ति और चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्ति के साथ-साथ शांतिभक्ति तथा उसके बाद चारित्रालोचना के साथ-साथ बृहदाचार्य भक्ति और उसके बाद क्रम से बृहदालोचनापूर्वक मध्यबृहदाचार्यभक्ति और अंत में लघुआचार्यभक्ति बोलकर साधुओं को आचार्य की वंदना करनी चाहिये। यह पाक्षिकादि प्रतिक्रमण के समय की क्रियाओं का संक्षेप हैं। इसके सिवाय न्यूनाधिकता के दोष की शुद्धि के लिये सभी जगह समाधिभक्ति करनी चाहिये।

चारित्रसार में भी ऐसा ही कहा है कि - 'पाक्षिक चातुर्मासिक सांवत्सरिक प्रतिक्रमणे सिद्धचारित्रप्रतिक्रमण निष्ठितकरणचतुर्विंशतितीर्थकरभक्तिचारित्रालोचनागुरुभक्तयो बृहदा

लोचनागुरुभक्तिर्लधीयस्याचार्यभक्तिश्चकरणीयाः।'

व्रतारोपणी आदि विषयों की अपेक्षा प्रतिक्रमण चार प्रकार का माना है किन्तु उसमें बृहदाचार्यभक्ति और मध्य आचार्यभक्ति यहाँ नहीं करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

वृत्तालोचनया सार्धं गुर्वालोचनया क्रमात्।
सूरिद्वयस्तुतिं मुक्त्वा शेषाः प्रतिक्रमाः क्रमात्।।

अर्थात् :- क्रम से चारित्रालोचना और बृहदालोचना के साथ - साथ दोनों आचार्य-भक्तियों के सिवाय बाकी के प्रतिक्रमण क्रम से हुआ करते हैं।

इस प्राकार संक्षेप में पाक्षिकादि प्रतिक्रमण की विधि और उसका क्रम बताकर अब नैमित्तिक क्रियाओं के प्रकरण में संयमी साधुओं और श्रावकों के लिये श्रुतपंचमी के दिन क्या क्रिया करनी और किस तरह करनी उसकी विधि दो श्लोकों द्वारा बताते हैं :-

बृहत्या श्रुतपञ्चभ्यां भक्त्या सिद्धश्रुतार्थया।
श्रुतस्कन्धं प्रतिष्ठाप्य गृहीत्वा वाचनां बृहन्।।५७।।
क्षम्यो गृहीत्वा स्वाध्यायः कृत्या क्षान्तिनुतिस्ततः।
यमिनां गृहिणां सिद्धश्रुतशान्तिस्तवाः पुनः।।५८।। (युग्मम्)

संयमी साधुओं को बृहत् सिद्धभक्ति - 'सिद्धानुद्धूतकर्म' इत्यादि और बृहत् श्रुतभक्ति - 'स्तोष्ये संज्ञानानि' इत्यादि के द्वारा श्रुतस्कन्ध का प्रतिष्ठापन करना चाहिये। और श्रुतावतार के उपदेश को ग्रहण कर बृहत् श्रुतभक्ति और बृहत् आचार्यभक्ति के द्वारा बृहत् स्वाध्याय का प्रतिष्ठापन करना चाहिये। तथा अंत में बृहत् श्रुतभक्ति बोलकर स्वाध्याय की निष्ठापना - समाप्ति करनी चाहिये। इस प्रकार श्रुतपंचमी - ज्येष्ठ शुक्ला ५ के दिन साधुओं को क्रम से क्रिया करनी चाहिये। जैसा कि चारित्रसार में भी कहा है कि :-

'श्रुतपंचम्यां सिद्धश्रुतभक्तिपूर्विकां वाचनां गृहीत्वा तदनु स्वाध्यायं गृह्णतः श्रुतभक्ति-माचार्यभक्तिं च कृत्वा गृहीतस्वाध्यायः कृतश्रुतभक्तयः स्वाध्यायं निष्ठाप्य समाप्तौ शान्ति-

भक्तिं कुर्युः'।

अर्थात् :- साधुओं को श्रुतपंचमी के दिन सिद्धभक्ति और श्रुतभक्तिपूर्वक श्रुतावतार के उपदेश को ग्रहण करके स्वाध्याय को ग्रहण करने के लिये श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करके उसका ग्रहण और श्रुतभक्ति बोलकर उसका निष्ठापन तथा समाप्ति में शांतिभक्ति करनी चाहिये।

जो स्वाध्याय को ग्रहण नहीं कर सकते उन गृहस्थ श्रावकों को उस दिन - ज्येष्ठ शुक्ला ५ को केवल सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये।

सिद्धान्त आदि की वाचना संबंधी क्रिया की विशेष विधि बताने के लिये दो श्लोक कहते हैं, जिसमें साधुओं को सिद्धान्त के अर्थाधिकारों पर कायोत्सर्ग करने का उपदेश देते हैं :-

कल्प्यः क्रमोयं सिद्धान्ताचारवाचनयोरपि।
एकैकार्थधिकारान्ते व्युत्सर्गास्तन्मुखान्तयोः।।५९।।
सिद्धश्रुतगणिस्तोत्रं व्युत्सर्गाश्चातिभक्तये।
द्वितीयादिदिने षट् षट् प्रदेया वाचनावनौ।।६०।। युग्मम्।

ऊपर श्रुतपंचमी के दिन की जो विधि बताई है वह केवल उसी दिन नहीं किन्तु सिद्धान्तवाचना और आचारवाचनामें भी यही विधि करनी चाहिये। अर्थात् सिद्धान्तवाचना और वृद्धव्यवहार के अनुसार आचारवाचना का सिद्धभक्ति और श्रुतभक्तिपूर्वक प्रतिष्ठापन करके श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति के द्वारा बृहत् स्वाध्याय को स्वीकार कर उसका उपदेश देना चाहिये। और श्रुतभक्ति के द्वारा उस स्वाध्याय को समाप्त कर अंत में शांतिभक्ति बोलकर इस क्रिया को समाप्त करना चाहिये। तथा साधुओं को सिद्धान्त के प्रत्येक अर्थाधिकार के अंत में कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये। जैसा कि चारित्रसार में भी कहा है कि :- 'सिद्धान्तस्यार्थाधिकराणां समाप्तौ एकैकं कायोत्सर्ग कुर्यात्' इति। अर्थात् सिद्धान्त के प्रत्येक अर्थाधिकार के अंत में एक एक कायोत्सर्ग करना चाहिये। तथा इस अर्थाधिकार के अंत में और आदि में सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति करनी चाहिये। वाचना के दिन तो इसी प्रकार की क्रिया करनी चाहिये। किन्तु उसके बाद - दूसरे तीसरे आदि दिन

को सिद्धान्त के प्रति अतिभक्ति प्रकट करने के लिये जहाँ पर वाचना की गई थी उस स्थान पर छह छह कायोत्सर्ग करना चाहिये।

भावार्थ :- यहाँ पर वाचनाभूमि में छह - छह कायोत्सर्ग करने के लिये जो कहा है उसको नियम नहीं समझना चाहिये। क्योंकि यह क्रिया सिद्धान्त और उसके अर्थाधिकारों के प्रति उत्तम बहुमान दिखाने के लिये ही कही गई है। अतएव यह क्रिया साधुओं को अपनी शक्ति के अनुसार ही करना चाहिये। अर्थात् जितनी शक्ति हो उतने ही कायोत्सर्ग करने चाहिये।

संन्यासमरण की क्रियाओं का प्रयोग कैसे करना उसकी विधि दो श्लोकों के द्वारा बताते हैं :-

संन्यासस्य क्रियादौ सा शान्तिभक्त्या विना सह।
अन्तेऽन्यदा बृहद्भक्त्या स्वाध्यायस्थापनोज्झने।।६१।।
योगेपि शेयं तत्रात्तस्वाध्यायैः प्रतिचारकैः।
स्वाध्यायाग्राहिणां प्राग्वत् तदाद्यन्तेदिने क्रिया।।६२।।

संन्यासमरण की आदि में श्रुतपंचमी के दिन की जो क्रिया बताई है उसमें से शांतिभक्ति को छोड़कर बाकी सब क्रिया करनी चाहिये। अर्थात् सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति बोलकर श्रुतस्कन्ध के समान संन्यासका भी प्रतिष्ठापन करना चाहिये। तथा संन्यास के अंत में भी वही क्रिया करनी चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि यहाँ पर शांतिभक्ति को छोड़ना नहीं - उसको भी बोलना चाहिये। अर्थात् क्षपक - जो संन्यासमरण करनेवाला है उसका अंत होनेपर शांतिभक्ति के साथ-साथ सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति बोलकर संन्यास का निष्ठापन कर देना चाहिये। तथा संन्यास के आदि और अंत के दिन को छोड़कर मध्य के दिनों में बृहद्भक्तिपूर्वक स्वाध्याय का प्रतिष्ठापन और निष्ठापन करना चाहिये। अर्थात् बृहत्श्रुतभक्ति और बृहत्आचार्यभक्ति के द्वारा उसका प्रतिष्ठापन और बृहत्श्रुतभक्ति के द्वारा उसका निष्ठापन करना चाहिये। तथा रात्रियोग वर्षायोग आदिमें भी जिन्होंने पहले ही दिन स्वाध्याय का प्रतिष्ठापन कर दिया है उन परिचारकों की - संन्यासमरण करनेवाले

की वैयावृत्त्य - सेवा शुश्रूषा करनेवालों को उस संन्यासवसती में ही शयन क्रिया करनी चाहिये। यह क्रिया साधुपरिचारकों के लिये है। किन्तु जो स्वाध्याय ग्रहण न करनेवाले गृहस्थ हैं उन्हें आदि और अंत के दिन श्रुतपंचमी के समान ही क्रिया करनी चाहिये। अर्थात् गृहस्थ परिचारकों को संन्यास के पहले दिन और पिछले दिन सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और शांतिभक्ति ही करनी चाहिये। क्योंकि वे स्वाध्याय को ग्रहण नहीं कर सकते।

क्रमानुसार आष्टाह्निक पर्वकाल की नैमित्तिकक्रिया को बताते हैं :-

कुर्वन्तु सिद्धनन्दीश्वरगुरुशान्तिस्तवैः क्रियामष्टौ।
शुच्यूर्जतपस्यसिताष्टम्यादिदिनानि मध्याह्ने।।६३।।

आषाढ़ कार्तिक और फाल्गुन महीने की शुक्लपक्ष की अष्टमी से लेकर आठ दिन तक - अर्थात् पूर्णमासीपर्यंत प्रतिदिन मध्याह्न के समय - पौर्वाह्णिक स्वाध्याय को समाप्त करके सिद्धभक्ति नन्दीश्वर चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति के द्वारा आष्टाह्निक क्रिया करनी चाहिये। इस श्लोक में 'कुर्वन्तु' ऐसी बहुवचन क्रिया का जो प्रयोग किया है उसका अभिप्राय यह है कि यह क्रिया संपूर्ण संघ को - आचार्य आदि सबको मिलकर करनी चाहिये

अभिषेक के समय की जानेवाली वंदना क्रिया और
मंगलगोचरक्रिया को बताते हैं :-

सा नन्दीश्वरपदकृतचैत्या त्वभिषेकवन्दनास्ति तथा।
मङ्गलगोचरमध्याह्नवन्दना योगयोज्झनयोः।।६४।।

ऊपर जो नन्दीश्वर जिनचैत्यवंदना की क्रिया बताई गई है वही क्रिया जिस दिन जिनभगवान का महा अभिषेक हो उस दिन करनी चाहिये। अतएव इस नंदीश्वरक्रिया को ही अभिषेकवंदना कहते हैं। अंतर इतना ही है कि यहाँ पर नंदीश्वरचैत्यभक्ति न

करके केवल चैत्यभक्ति ही की जाती है। इसी प्रकार वर्षायोग के ग्रहण करनेपर और उसके छोड़ने पर यह अभिषेक वंदना ही मंगलगोचरमध्याह्नवंदना कही जाती है। अतएव यहाँ पर भी नंदीश्वरक्रिया ही करनी चाहिये। और विशेष यह कि नंदीश्वरभक्ति की जगह केवल चैत्यभक्ति ही करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

अहिसेय वंदणासिद्धचेदियपंचगुरुसंतिभत्तीहिं।
कीरइ मंगलगोचर मज्झण्हियवंदणा होइ।।

अर्थात् :- सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति के द्वारा अभिषेकवंदना की जाती है। और इन्हीं के द्वारा मंगलगोचरमध्याह्नवंदना भी हुआ करती है।

मंगलगोचर बृहत्प्रत्याख्यान की विधि बताते हैं :-

लात्वा बृहत्सिद्धयोगिस्तुत्या मङ्गलगोचरे।
प्रत्याख्यानं बृहत्सूरिशान्तिभक्ती प्रयुञ्जताम्।।६५।।

मंगलगोचर क्रिया करने में आचार्य आदिकों को बृहत् सिद्धभक्ति और बृहत् योगिभक्ति करके भक्तप्रत्याख्यान को ग्रहण कर बृहत्आचार्यभक्ति और बृहत् शांतिभक्ति करनी चाहिये। यहाँ पर 'प्रयुञ्जताम्' यह बहुवचन क्रिया का जो निर्देश किया है उससे इस बात का बोधन कराया है कि यह क्रिया आचार्य आदि सब संघ को मिलकर करनी चाहिये।

प्रकरण के अनुसार दो श्लोकों में वर्षायोग के ग्रहण और त्याग करने की विधि का उपदेश देते हैं :-

ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुती।
चतुर्दिक्षु परतीत्याल्पाश्चैत्यभक्तीर्गुरुस्तुतिम्।।६६।।

शान्तिभक्तिं च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम्।
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम्।।६७।। [युग्मम्]

ऊपर भक्त प्रत्याख्यान को ग्रहण करने की जो विधि बताई है तदनुसार उसके ग्रहण करने के अनंतर आचार्यप्रभृति साधुओं को वर्षायोग का प्रतिष्ठापन करना चाहिये और चातुर्मास के अंत में उसका निष्ठापन करना चाहिये। इस प्रतिष्ठापन और निष्ठापन की विधि इस प्रकार है :-

चार लघु चैत्यभक्तियों को बोलते हुए और पूर्वादिक चारों ही दिशाओं की तरफ प्रदक्षिणा देते हुए आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि को पहले ही प्रहर में सिद्धभक्ति और योगिभक्ति का भी अच्छी तरह पाठ करते हुए और पंचगुरुभक्ति तथा शांतिभक्ति को भी बोलकर आचार्य और इतर संपूर्ण साधुओं को वर्षायोग का प्रतिष्ठापन करना चाहिये।

भावार्थ :- पूर्वदिशा की तरफ मुख करके वर्षायोग का प्रतिष्ठापन करने के लिये 'यावन्ति जिनचैत्यानि' इत्यादि श्लोक का पाठ करना चाहिये। पुनः आदिनाथ भगवान् और दूसरे अजितनाथ भगवान् इन दोनों का ही स्वयंभूस्तोत्र बोलकर अंचलिकासहित चैत्यभक्ति करनी चाहिये। यह पूर्वदिशा की तरफ की चैत्य चैत्यालय की वंदना है। इसी प्रकार दक्षिण पश्चिम और उत्तर की तरफ की वंदना भी क्रम से करनी चाहिये। अंतर इतना है कि जिस प्रकार पूर्वदिशा की वंदना में प्रथम द्वितीय तीर्थंकर का स्वयंभूस्तोत्र बोला जाता है उसी प्रकार दक्षिणदिशा की तरफ तीसरे चौथे संभवनाथ और अभिनंदननाथ का तथा पश्चिम की तरफ की वंदना करते समय पाँचवे छट्ठे सुमितनाथ और पद्मप्रभु भगवान् का और उत्तर दिशा की वंदना करते समय सातवें आठवें सुपार्श्वनाथ और चंद्रप्रभु का स्वयंभूस्तोत्र बोलना चाहिये। और बाकी क्रिया पूर्वदिशा के समान ही समझनी चाहिये।

यहाँ पर चारों दिशाओं की तरफ प्रदक्षिणा करने के लिये है उस विषय में वृद्धसंप्रदाय ऐसा है कि पूर्वदिशा की तरफ मुख करके और उधर की वंदना करके वहीं बैठे बैठे केवल भावरूप से ही प्रदक्षिणा करनी चाहिये।

यह वर्षायोग प्रतिष्ठापन की विधि है। यही विधि निष्ठापन में भी करनी चाहिये। अर्थात् कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी को रात्रि को अंतिम प्रहर में पूर्वोक्त विधान के अनुसार ही आचार्य और साधुओं को वर्षायोग का निष्ठापन कर देना चाहिये।

इस वर्षायोग की विधि में और भी जो विशेषता है
उसको दो श्लोकों में बताते हैं :-

मासं वासोऽन्यदैकत्र योगक्षेत्रं शुचौ व्रजेत्।
मार्गेऽतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लंघयेत्।।६८।।
नभश्चतुर्थी तद्याने कृष्णां शुक्लोर्जपञ्चमीम्।
यावन्न गच्छेत्तच्छेदे कथंचिच्छेदमाचरेत्।।६९।।

वर्षायोग के सिवाय दूसरे समय - हेमन्त आदि ऋतु में भी आचार्य आदि श्रमणसंघ को किसी भी एक स्थान या नगर आदि में एक महीने तक के लिये निवास करना चाहिये। तथा आषाढ़ में मुनिसंघ को वर्षायोगस्थान के लिये जाना चाहिये। अर्थात् जहाँ चातुर्मास करना है वहाँ आषाढ़ में पहुँच जाना चाहिये। और मगसिर महीना पूर्ण होनेपर उस क्षेत्र को छोड़ देना चाहिये। परंतु इतना और भी विशेष है कि उस योगस्थान पर जाने के लिये श्रावण कृष्णा चतुर्थी का अतिक्रमण कभी नहीं करना चाहिये।

भावार्थ :- यदि कोई धर्मकार्य का ऐसा विशेष प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय कि जिसमें रुक जाने से योगक्षेत्र में आषाढ के भीतर पहुँचना न बन सके तो श्रावण कृष्णा चतुर्थी तक पहुँच जाना चाहिये। परंतु इस तिथि का उल्लंघन किसी प्रयोजन के वशीभूत होकर भी करना उचित नहीं है। इसी प्रकार साधुओं को कार्तिक शुक्ला पंचमी तक योगक्षेत्र के सिवाय अन्यत्र प्रयोजन रहते हुए भी विहार न करना चाहिये। अर्थात् यद्यपि वर्षायोग का निष्ठापन कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी को हो जाता है फिर भी साधुओं को कार्तिक शुक्ला पंचमी तक उसी स्थान पर रहना चाहिये। यदि कोई कार्यविशेष हो तो भी तबतक उस स्थान से नहीं जाना चाहिये।

यहाँ पर जो वर्षायोग धारण करने की विधि बताई है उसमें यदि किसी घोर उपसर्ग आदि के आ उपस्थित होने से विच्छेद पड जाय अर्थात् किसी कारण से उसके समय आदि का यदि अतिक्रम हो जाय तो साधुसंघ को उचित है कि उसके लिये प्रायश्चित धारण करें।

वीर भगवान की निर्वाणकालिक क्रिया करने के विषय में
जो आगम का निर्णय है उसको बताते हैं :-

योगान्तेऽर्कोदये सिद्धनिर्वाणगुरुशान्तयः।
प्रणुत्या वीरनिर्वाणे कृत्यातो नित्यवन्दना।।७०।।

कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अंतिम प्रहर में वर्षायोग का निष्ठापन कर चुकने पर भी श्री वर्धमान तीर्थंकर भगवान् की निर्वाण क्रिया सूर्य का उदय होनेपर सिद्धभक्ति निर्वाणभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर वंदना करके करनी चाहिये, इसके बाद साधुओं और श्रावकों को नित्यवंदना करनी चाहिये।

पंचकल्याणक के समय करने योग्य क्रियाओं के विषय में
आगम का निर्णय प्रकट करते हैं :-

साद्यन्तसिद्धशान्तिस्तुति जिनगर्भजनुषोः स्तुयाद्वृत्तम्।
निष्क्रमणे योग्यन्तं विदि श्रुताद्यपि शिवे शिवान्तमपि।।७१।।

तीर्थंकर भगवान का गर्भावतारकल्याणक अथवा जन्मकल्याणक जब हो तब साधुओं को यद्वा श्रावकों को क्रम से सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर उस समय की क्रिया करनी चाहिये। तथा निष्क्रमण - दीक्षा - कल्याणक की क्रिया मुनियों व श्रावकों को क्रम से सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। इसी प्रकार ज्ञानकल्याणक की क्रिया क्रम से सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। एवं निर्वाणकल्याणक अथवा निवार्णक्षेत्र की वंदना क्रिया क्रम से सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति निर्वाणभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये।

भावार्थ :- पंचकल्याणक प्रतिष्ठा आदि में तत्तत्कल्याणक के समय साधुओं और श्रावकों को उस समय की क्रिया ऊपर लिखें मूजब भक्तिपाठ बोलकर करनी चाहिये।

ऋषि अथवा सिद्धान्तवेत्ता मुनि आदि यदि मरण को प्राप्त हो जांय तो उनके शरीर

की अथवा निषेधिका की वंदना क्रिया करने में क्या क्या विशेषता है उसका निर्णय दो आर्यापद्यों के द्वारा बताते हैं :-

वपुषि ऋषेः स्तौतु ऋषीन् निषेधिकायां च सिद्धशान्त्यन्तः।
सिद्धान्तिनः श्रुतादीन् वृत्तादीनुत्तरव्रतिनः।।७२।।
द्वियुजः श्रुतवृत्तादीन् गणिनोऽन्तगुरून् श्रुतादिकानपि तान्।
समयविदोऽपि यमादीस्तनुक्लिशो द्वयमुखानपि द्वियुजः।।७३।।

ऋषि आदिकों के शरीर अथवा निषेधिका की वंदनाभक्ति करने में प्रवृत्त हुए साधुओं को जिस विधि से वंदना करनी चाहिये वह इस प्रकार है। - यदि किसी सामान्यसाधु का मरण हो जाय तो उसके शरीर की अथवा निषद्याभूमि की वंदना सिद्धभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति को क्रम से बोलकर करनी चाहिये। और यदि कोई सामान्य साधु सिद्धान्तवेत्ता हों तो उनका मरण होनेपर उनके शरीर को या निषद्याभूमि की वंदना क्रम से सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। यदि कोई उत्तरव्रतों को धारण करनेवाला साधु मरण को प्राप्त हो जाय तो उसके शरीर की अथवा निषद्याभूमि की वंदना क्रम से सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति पढ़कर करनी चाहिये। यदि कोई साधु सिद्धान्तवेत्ता भी हो और उत्तरव्रतों को धारण करनेवाला भी हो और उसका मरण हो जाय तो उसके शरीर की तथा निषद्याभूमि की वंदना क्रम से सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। इसी प्रकार जो ऋषि आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं उनका यदि मरण हो जाय तो उनके शरीर की या निषद्याभूमि की वंदना क्रम से सिद्धभक्ति योगिभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। तथा यदि कोई आचार्य सिद्धान्तवेत्ता हों और उनका मरण हो जाय तो उनके शरीर की अथवा निषद्याभूमि की वंदना क्रम से सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति योगिभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। किन्तु जो ऋषि आचार्यपद पर भी प्रतिष्ठित हैं और कायक्लेश तप के धारण करनेवाले भी हैं यदि उनका मरण हो जाय तो उनके शरीर की या निषद्याभूमि की वंदना क्रम से सिद्धभक्ति योगिभक्ति चारित्रभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। यदि कोई ऋषि आचार्य

भी हैं और सिद्धान्तवेत्ता तथा कायक्लेश तप के धारण करनेवाले भी हैं उनका यदि मरण हो जाय तो उनके शरीर अथवा निषद्याभूमि की वंदना क्रम से सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। इस विषय में कहा भी है कि :-

काये निषेधिकायां च मुनेः सिद्धर्षिशान्तिभिः।
उत्तरव्रतिनः सिद्धवृत्तर्षिशान्तिभिः क्रियाः।।
सैद्धान्तस्य मुनेः सिद्धश्रुतर्षिशान्तिभक्तिभिः।
उत्तरव्रतिनः सिद्धश्रुतवृत्तर्षिशान्तिभिः।।
सूरेर्निधेधिकाकाये सिद्धर्षिसूरिशान्तिभिः।
शरीरक्लेशिनः सिद्धवृत्तर्षिगणिशान्तिभिः।।
सैद्धान्ताचार्यस्य सिद्धश्रुतर्षिसूरिशान्तयः।
अस्य योगे सिद्धश्रुतवृत्तर्षिगणिशान्तयः।।

श्री अरहंत भगवान् की स्थिरप्रतिमा की प्रतिष्ठा और चलप्रतिमा की प्रतिष्ठा के समय की विधि और उस प्रतिष्ठा के समय में ही चतुर्थ दिन को किये जानेवाले अभिषेक के क्रियाविशेष को बताते हैं :-

स्यात्सिद्धशान्तिभक्तिः स्थिरचलजिनबिम्बयोः प्रतिष्ठायाम्।
अभिषेकवन्दना चलतुर्यस्नानेस्तु पाक्षिकी त्वपरे।।७४।।

स्थिरप्रतिमा की प्रतिष्ठा अथवा चलप्रतिमा की प्रतिष्ठा के समय सिद्धभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर वंदना क्रिया करनी चाहिये। किन्तु जिनभगवान् की चलप्रतिमा की प्रतिष्ठा के चतुर्थ दिन के अभिषेक के समय अभिषेक वंदना अर्थात् सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति को बोलकर वंदना करनी चाहिये। और स्थिरप्रतिमा की प्रतिष्ठा के चतुर्थ दिन के अभिषेक के समय पाक्षिकी क्रिया करनी चाहिये। अर्थात् सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति बृहदालोचना और शांतिभक्ति बोलकर वंदना करनी चाहिये। परंतु

यह नियम केवल साधुओं के लिये समझना। जो स्वाध्याय को ग्रहण नहीं कर सकते उन गृहस्थों के लिये यह नियम नहीं हैं। उनको चाहिये कि आलोचना को छोड़कर बाकी भक्ति बोलकर ही क्रिया करें। इस विषय में अन्यत्र भी कहा है कि :-

चलाचलप्रतिष्ठायां सिद्धशान्तिस्तुतिर्भवेत्।
वन्दना चाभिषेकस्य तुर्यस्नाने मत्ता पुनः।।
सिद्धवृत्तनृतिं कुर्याद्बृहदालोचनां तथा।
शान्तिभक्ति जिनेन्द्रस्य प्रतिष्ठायां स्थिरस्य तु।।

अर्थात् चल और अचल प्रतिष्ठामें सिद्धभक्ति और शांतिभक्ति के द्वारा तथा चतुर्थ दिन के स्नान के समय अभिषेक वंदना के द्वारा और अरहंत की स्थिरप्रतिमा की प्रतिष्ठा में सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति बृहदालोचना और शांतिभक्ति के द्वारा क्रिया करनी चाहिये।

नैमित्तिक क्रियाओं के क्रियाकाण्डों के वर्णन के प्रकरण में यहाँ पर आचार्य पद का प्रतिष्ठापन करते समय जो क्रिया की जानी चाहिये उसकी विधि बताते हैं :-

सिद्धाचार्यस्तुती कृत्वा सुलग्ने गुर्वनुज्ञया।
लात्वाचार्यपदं शान्तिं स्तुयात्साधुः स्फुरद्गुणः।।७५।।

आचार्यपद के योग्य छत्तीस विशेष गुण हुआ करते हैं। ये गुण जिन साधुओं में पाये जाते हैं वे ही इस पद पर स्थापित किये जाते हैं। इन गुणों की संज्ञा और स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ पर इस पद की प्रतिष्ठापन क्रिया की विधि बताते हैं, सो इस प्रकार है कि - जिसके वक्ष्यमाण ३६ गुण संपूर्ण संघ के हृदय में विशेष चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं, ऐसे साधु को अपने गुरु की आज्ञा - अनुमति से शुभ मुहूर्त में सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति को बोलकर आचार्यपद को ग्रहण करना चाहिये। और उसके बाद शांतिभक्ति करनी चाहिये।

भावार्थ :- जिसमें आचार्यपद को धारण करने योग्य गुणों को देखते हैं आचार्य

उस साधु को इस पद के ग्रहण करने की आज्ञा देते हैं और इसके लिये शुभमुहूर्त निश्चित करते हैं। और वह साधु उनकी आज्ञानुसार उस शुभ मुहूर्त में उस पद को ग्रहण करता है।

प्रारंभ में संपूर्ण संघ के समक्ष वह साधु सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति करता है। अनंतर आचार्यपरमेष्ठी उससे कहते हैं कि आज से तुम रहस्य - प्रायश्चितशास्त्र का अध्ययन और दीक्षा देने आदि का जो आचार्यपद का कार्य है उसको कर सकते हो। अब तुमको ये कार्य करने चाहिये। इस प्रकार समस्त संघ के समक्ष भाषण देकर उस साधु को पिच्छी का समर्पण करते हैं। और वह साधु उस पिच्छी को ग्रहण करता है। इसीको आचार्यपद का ग्रहण करना कहते हैं। इसके बाद उस साधु को शांतिभक्ति के द्वारा वंदना करनी चाहिये। जैसा कि चारित्रसार में भी कहा है कि :- 'गुरूणामनुज्ञायां विज्ञानवैराग्यसंपन्नो विनीतो धर्मशीलः स्थिरश्च भूत्वाचार्य पदव्या योग्यः साधुर्गुरुसमक्षे सिद्धाचार्यभक्तिं कृत्वाचार्यपदवीं गृहीत्वा शांतिभक्ति कुर्यात।' अर्थात् जो विशिष्ट ज्ञान और वैराग्य की संपत्ति से युक्त तथा विनयगुण को धारण करनेवाला धर्माचरण में ही निष्ठा रखनेवाला और प्रकृति से ही स्थिर है वह साधु आचार्यपदवी के योग्य समझना चाहिये। ऐसे साधु को गुरु की आज्ञा से उनके ही समक्ष सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति बोलकर आचार्य पद को ग्रहण कर शांतिभक्ति करनी चाहिये।

आचार्यपद की योग्यता सिद्ध करनेवाले छत्तीस
गुण कौनसे हैं सो बताते हैं :-

अष्टावाचारवत्त्वाद्यास्तपांसि द्वादश स्थितेः।
कल्पा दशाऽऽवश्यकानि षट् षट्त्रिंशद्गुणा गणेः।।७६।।

जो अङ्गासहित प्रवचन का मौनपूर्वक अध्ययन करता है उसको गणी कहते हैं। आचार्य भी अङ्गसहित प्रवचन के अध्येता हुआ करते हैं, अतएव उनको भी गणी कहते हैं। यहाँ पर 'गणैः' इसकी जगह 'गुरोः' ऐसा भी पाठ माना है। अर्थात् आचार्य - गणी - गुरु के छत्तीस विशेष गुण हैं। यथा :- आचारवत्त्व आधारवत्त्व आदि आठ गुण, और

छह अंतरंग तथा छह बहिरंग मिलाकर बारह प्रकार का तप, तथा संयम के अंदर निष्ठा के सौष्ठवउत्तमता की विशिष्टता को प्रकट करनेवाले आचेलक्य आदि दश प्रकार के गुण - जिनको कि स्थितिकल्प कहते हैं, और सामायिकादि पूर्वोक्त छह प्रकार के आवश्यक।

भावार्थ :- आचारवत्वादि आठ, बारह तप, स्थितिकल्प दस और छह आवश्यक; इस प्रकार कुल मिलाकर आचार्य के छत्तीस गुण माने हैं।

आचारवत्त्व आदि आठ गुणों को गिनाते हुए उनका स्वरूप बताते हैं :-

आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारः।
आयापायदिगुत्पीडोऽपरिस्रावी सुखावहः।।७७।।

आचारवत्त्व, आधारवत्त्व, व्यवहारपटुता, आयापायदेशना, उत्पीडन, अपरिस्रवण और सुखावहन ये आठ गुण आचार्य में होने चाहिये। इनका स्वरूप इस प्रकार है :-

आचार पाँच प्रकार का है :- ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। इन पाँचो ही प्रकार के आचरण का स्वयं पालन करना दूसरों से कराना और उसका उपदेश देना इसको आचारवत्त्व कहते हैं। ये गुण जिनमें पाया जाय उनको आचारी कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

आचारं पंचविधं चरति च चारयति यो निरतिचारम्।
उपदिशति सदाचारं भवति स आचारवान् सूरिः।।

जिस श्रुतज्ञानरूप संपत्ति की कोई तुलना नहीं कर सकता उसको अथवा नौपूर्व दशपूर्व या चौदहपूर्व तक के श्रुतज्ञान को, यद्वा कल्पव्यवहार के धारण करने को आधारवत्त्व कहते हैं। यह गुण जिनमें पाया जाय ऐसे मतिज्ञान के समुद्र आचार्य को आधारी कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

नवदशचतुर्दशाणां पूर्वाणां वेदिता मतिसमुद्रः।
कल्पव्यवहारधरः स भवत्याधारवान् नाम।।

व्यवहार नाम प्रायश्चित का है। वह आगम आदि के भेद से पाँच प्रकार का है। इसकी कुशलता को ही व्यवहारपटुता कहते हैं। जो आचार्य रसविषय के ज्ञान को रखनेवाले हैं, जिन्होंने अनेक बार प्रायश्चित को देते हुए देखा है, और जिन्हों ने स्वयं भी अनेक बार उसका प्रयोग किया है, - स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण किया है, दूसरों को दिया है, अथवा दिलवाया है, उनको व्यवहारी अथवा व्यवहारपटु कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

पञ्चविधं व्यवहारं यो मनुते वस्तुतः सविस्तारम्।
कृतकारितोपलब्धप्रायश्चित्तस्तृतीयस्तु।।

व्यवहार के पाँच भेद जो बताये हैं उनका खुलासा करते हैं :-

आगमश्च श्रुतं चाज्ञा धारणा जीत एव च।
व्यवहारा भवन्त्येते निर्णयस्तत्र सूत्रतः।।

व्यवहार - प्रायश्चित्त पाँच प्रकार का है, - आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत। इन विषयों का निर्णय [१] सूत्र के अनुसार हुआ करता है। ग्यारह अङ्गशास्त्रों में जो प्रायश्चित्त बताया गया है अथवा उनके आधार से जो प्रायश्चित्त दिया जाता है उसको आगम कहते हैं। इसी प्रकार चौदहपूर्वों में बताये हुए अथवा तदनुसार दिये गये प्रायश्चित्त को श्रुत कहते हैं। समाधिमरण के लिये उद्यत हुए ऐसे आचार्य कि जिनकी जंघाओं का बल नष्ट हो गया है - जो चलने फिरने की सामर्थ्य नहीं रखते, और जो ऐसी जगह स्थित हैं कि जहाँ पर और कोई आचार्य उपस्थित नहीं है, वे आचार्य किसी दूसरे योग्य आचार्य के समीप अपने समान योग्य ज्येष्ठशिष्य के द्वारा अपना संवाद भेजते हैं और उस शिष्य के ही मुख से उन आचार्यपरमेष्ठी के समक्ष अपने दोषों का आलोचन करते हैं, तथा उन

१ - सूत्र का लक्षण पहले बता चुके हैं।

आचार्य के दिये हुए प्रायश्चित्त को ग्रहण करते हैं। इस तरह के प्रायश्चित्त को आज्ञा कहते हैं। यदि कोई ऐसे ही आचार्य जो समाधिमरण को उद्यत और जंघाबल से रहित होने के कारण चलने में असमर्थ हैं किन्तु उनके पास कोई शिष्य आदि नहीं है - असहाय हैं, ऐसी अवस्था में वे अपने दोषों का स्वयं आलोचन करके पहले के अवधारित प्रायश्चित्त को धारण करते हैं, उसको धारणा कहते हैं। बहत्तर पुरुषों की अपेक्षा जो प्रायश्चित्त बताया जाता है उसको जीत कहते हैं। इन पाँचों ही प्रकार के प्रायश्चित्तों में जो निष्णात हैं उन आचार्यों को व्यवहारपटु कहते हैं।

समाधिमरण करने में प्रवृत्त हुए साधुओं की परिचर्या - सेवा शुश्रूषा - वैयावृत्त्य करने को परिचर्या कहते हैं। अर्थात् जो समाधिमरण कराने या उसकी वैयावृत्त्य करने में कुशल हैं उनको परिचारी अथवा प्रकारी कहते हैं। आलोचना करने के लिये उद्यत हुए क्षपक - समाधिमरण करनेवाले साधु के गुण और दोषों के प्रकाशित करने को आयापायदेशना कहते हैं। अर्थात् जो क्षपक किसी प्रकार का अतीचार आदि न लगाकर सरल भावों से अपने दोषों का आलोचन करता है उसके गुण की जो प्रशंसा करते अथवा उस गुण को प्रकट करते हैं और जो क्षपक आलोचन करने में दोष लगाता अथवा वक्रभावों से आलोचन करता है उसके दोषों को जो प्रकट करते हैं उनको आयापायदेष्टा अथवा गुणदोष प्रवक्ता कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

गुणदोषाणां प्रथकः क्षपकस्य विशेषमालुलोचयिषोः।
अनृजोरालोचयतो दोषविशेषं प्रकाशयति।।

व्रतादिकों में लगे हुए ऐसे अतीचारों का कि जो बाहर प्रकट नहीं हुए हैं - अभी तक अंतरंग में ही छिपे हुए हैं वमन कराने को - बाहर निकालने को उत्पीड़न कहते हैं। इस गुण के धारण करनेवाले गणधर - आचार्य उत्पीड़क कहे जाते हैं। इस कार्य के लिये आचार्य को बलवान् और सिंह के समान पराक्रमी तथा प्रतापी और वचनकुशल एवं प्रसिद्ध कीर्ति के धारण करनेवाला होना चाहिये। ऐसा होनेपर ही वे छिपे हुए दोषों को बाहर निकालकर दूर कर सकते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

ओजस्वी तेजस्वी वाग्मी च प्रथितकीर्तिराचार्यः।
हरिरिव विक्रमसारो भवति समुत्पीडको नाम।।

यदि किसी शिष्य ने अपना दोष एकान्त में आकर कहा और वह ऐसा दोष है कि जिसको प्रकट करना उचित नहीं है तो उस गौप्यदोष को प्रकाशित न करना अपरिस्त्राव नाम का गुण कहा है। इस गुण के कारण जो आचार्य उस आलोचित गोप्यदोष को पानी के घूंट की तरह पीकर रह जाते हैं - प्रकाशित नहीं करते उनको अपरिस्त्रावी कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

आालोचिताः कलङ्का यस्या यः पीततोयसंस्थायाः।
न परिस्त्रवन्ति कथमपि स भवत्यपरिस्त्रवः सूरिः।।

क्षुधादिके दु:खों का उत्तम कथा आदि के द्वारा उपशमन करने को सुखावह गुण कहते हैं। इस आठवें गुण के धआरण करनेवाले आचार्य को भी सुखावह कहते हैं। इस गुण के कारण आचार्य क्षुधा आदि से पीड़ित क्षपक के समक्ष ऐसी कथा करते हैं कि जो गंभीर स्नेहयुक्त मिष्ट अत्यंत मनोहर और कानों को अतिशय सुख देनेवाली हो। और जिसके सुनते ही पूर्व की उत्तम स्मृति का उद्बोध हो जाय। जैसा कि कहा भी है कि :-

गम्भीरस्निग्धमधुरामतिहृद्यां श्रवःसुखाम्।
निर्वापकः कथां कुर्यात् स्मृतत्यानयनकारणम्।।

इस प्रकार आचार्य के आचारवत्त्व आदि आठ गुणों का स्वरूप बताकर स्थितिकल्परूप दश गुणों का स्वरूप दो श्लोकों द्वारा बताते हैं :-

आचेलक्यौद्देशिकशय्याधरराजकीयपिण्डोज्झाः।
कृतिकर्म व्रतारोपणयोग्यत्वं ज्येष्ठता प्रतिक्रमणम्।।८०।।

मासैकवासिता स्थितिकल्पो योगश्च वार्षिको दशमः।
तन्निष्ठः पृथुकीर्तिः क्षपकं निर्यापको विशोधयति।।८१।।

आचेलक्य, औद्देशिकपिण्ड का त्याग, शय्याधरपिण्ड का त्याग, राजकीयपिण्ड का त्याग, कृतिकर्म, व्रतारोपण योग्यता, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मासैकवासिता और योग इस प्रकार स्थितिकल्परूप गुण दश हैं। इनका स्वरूप क्रम से इस प्रकार समझना चाहिये। -

वस्त्रादिक संपूर्ण परिग्रह के अभाव को अथवा नग्नता को आचेलक्य कहते हैं। इसके अनेक फल हैं। व्रत और संयमरूप आचरण में इसके निमित्त से विशुद्धि प्राप्त हुआ करती है। इन्द्रियों का अपने अपने विषयों से निग्रह होता अथवा उन पर विजय प्राप्त हुआ करता है। क्रोध मान माया आदि कषायों का अथवा नोकषायों का अभाव होता है। ध्यान धारणा समाधि और स्वाध्याय आदि की इसके ही निमित्त से निर्विघ्नरूप से और भलेप्रकार सिद्धि हुआ करती है। अंतरंग और बहिरंग ग्रंथि - मूर्छारूप परिणाम अथवा बाह्य उपाधियों के संग्रहरूप ग्रंथि - बंधन का अभाव होता है इससे राग और द्वेष बीतकर शरीर में भी आदरभाव का अभाव - उपेक्षा प्राप्त हुआ करती है। स्वतंत्रता की सिद्धि होकर आत्मा अपने ही अधीन बनता - पराधीनता का अभाव होता है। मनोगत विशुद्धि - निर्मलता की आचेलक्य के द्वारा ही प्रकटता हुआ करती है। मन और कृति में निर्भयता तथा सभी जगह सुखपूर्वक और विना किसी झंझट के निर्वाह की सिद्धि इसीसे हो सकती है। नग्न रहनेवाला साधु ही वस्त्र अथवा लंगोटी आदि के धोने धरी करने अथवा संभालकर रखने आदिक क्रियाकर्म करने की दिक्कतों से दूर रह सकता है। शरीर को अलंकृत करने अथवा उसमें ममकार का भाव नग्नता से ही कृश किया जा सकता है। तीर्थंकरों के आचरण का अनुसरण भी नग्नता से ही हो सकता है। और आत्मा में ही छिपे हुए बल पराक्रम का प्रादुर्भाव अथवा सिद्ध वृद्धि भी इसीसे हो सकती है। इत्यादि अपरिमित गुण नग्नता के द्वारा सिद्ध होते हैं। अतएव स्थितिकल्पगुणों में यह आचेलक्य नाम का एक विशिष्ट गुण बताया है। इसका विस्तृत समर्थन जिनको जानना हो उन्हें श्री विजय आचार्य की रचित संस्कृत मूलाराधना के सुस्थित सूत्र की टीका देखनी चाहिये। वहाँ पर इसका विशेष खुलासा किया गया है। अतएव ग्रंथ विस्तार के भय से यहाँ पर उसका विशेष वर्णन नहीं किया जाता। और इसलिये श्री पद्मनंदि

आचार्य ने भी सचेलता के दूषणों को संक्षेप में ही बताया है। यथा :-

म्लाने शालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो, -
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महातामप्यन्यतः प्रार्थनम्।
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते,
तन्नित्यं शुचिरागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम्।।

साधुओं के लिये कौपीनमात्र, वस्त्र के भी धारण करने में कितना कष्ट और उत्कृष्टता या संयम में दोष उपस्थित होता है इस पर विचार करना चाहिये। कौपीन के मलिन होनेपर अवश्य ही उसको धोने के लिये प्रवृत्ति करनी पड़ेगी और फिर उसके लिये जल लाने आदि का आरंभ भी करना ही होगा। ऐसी अवस्था में उसका संयम किस प्रकार स्थिर रह सकता है ? नहीं रह सकता। यदि दूसरे को धोने के लिये दिया जाय तो भी हिंसा कराने के अपराध से छुटकारा नहीं होता। कदाचित् कौपीन कहीं गिर जाय खो जाय हवा में उड़ जाय या फट जाय तो मन में व्याकुलता आये विना नहीं रह सकती। अथवा उसके लिये दूसरे से प्रार्थना भी करनी ही पड़ेगी। और ऐसी अवस्था में याचना के निमित्त से उनकी महत्ता या गुरुता में कुछ न कुछ लघुता भी आये विना नहीं रह सकती। यदि कदाचित् उसको कोई चुरा ले जाय अथवा छीन ले तो तत्काल क्रोध भी आये विना नहीं रह सकता। अतएव परम शांति की इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओं को यही उचित है कि वे संपूर्ण दिशाओं के समूह को ही वस्त्र के स्थान पर धारण करें। यह वस्त्र नित्य है - नैसर्गिक होने से कभी भी नष्ट होनेवाला या चोरी जानेवाला नहीं, समस्त मलदोषों से रहित होने के कारण अत्यंत पवित्र हैं। एवं रागद्वेष को दूर करनेवाला है, इसके निमित्त से याचना आदि के द्वारा लघुता प्राप्त नहीं होती, और न याचना के व्यर्थ जानेपर मानभंग आदि के द्वारा चित्त में किसी प्रकार की कष्मलता ही उत्पन्न होती है। अतः संयमियों को यह निर्विकार वस्त्र ही धारण करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

नैष्किंचन्यमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत्।
ते सङ्गाय पदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम्।।

विकारे विदुषां दोषो नाविकारानुवर्तने।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः।।

अर्थात् :- विकृत अवस्था के प्राप्त करने में विद्वान दोष समझते हैं। न कि निर्विकार स्वरूप के धारण करने में। अतएव ऐसा कौन विवेकी होगा जो कि नैसर्गिक नग्नता के विषय में द्वेष के वश होकर कष्मलता धारण करेगा। संयमी मुमुक्षुओं का आकिंचन्य - अपरिग्रह और अहिंसाव्रत तथा संयम कभी सिद्ध नहीं हो सकता यदि वे वक्कल चर्म या किसी भी तरह के वस्त्र के परिग्रह को धारण करने का प्रयत्न करें, या उसका भाव रक्खें।

जो मुनियों के उद्देश्य से तैयार किया गया है ऐसे भोजन पान आदि द्रव्य के ग्रहण न करने को औद्देशिकपिण्ड का त्याग कहते हैं।

वसतिका बनवानेवाला और उसका संस्कार करनेवाला तथा वहाँ पर व्यवस्था आदि करनेवाला ये तीनों ही शय्याधर शब्द से कहे जाते हैं। इनके पिण्ड अर्थात् भोजन उपकरण आदि द्रव्य के ग्रहण न करने को शय्याधर पिण्डोज्झा कहते हैं। जहाँ पर शय्याधर पिण्डका ग्रहण हो वहाँ दाता को धर्मफल के लोभ से आहारादिक प्रच्छन्नरूप से ही योजित करना चाहिये। अर्थात् मैं शय्याधर हूँ मेरे यहाँ भोजन होना ही चाहिये ऐसा भाव न रखकर अथवा इस बात को प्रकट न करके ही आहारदान में प्रवृत्त होना चाहिये। अथवा जो आहारदान नहीं कर सकता ऐसा कोई दरिद्र व्यक्ति है यद्वा ऐसा कोई लोभी पुरुष है तो उसको चाहिये कि वह वसतिका का दान न करे। 'मैं वसतिका का दान करूँगा और आहारदान न करूँगा तो लोक मेरी निंदा करेंगे। कहेंगे कि देखो इसकी वसतिका में साधुओंने आकर निवास किया परंतु इस मंदभाग्यने उनको आहार भी न दिया' ऐसा भाव रखकर जो वसतिका और आहार का दान दिया जाता है वह ग्रहण न करना चाहिये। क्योंकि ऐसा होने से अत्यंत उपकारिता के कारण संयमियों को स्नेह का भाव उत्पन्न हो सकता है। जिससे कि अनेक दोष और भी लग सकते हैं।

कितने ही ग्रंथकारों ने शय्याधर पिण्डोज्झा की जगह शय्यगृह पिण्डोज्झा ऐसा पाठ दिया है। उसका खुलासा इस प्रकार किया जाता है कि रास्ते में कहीं को जाते हुए रात्रि को जिस गृह - वसति में ठहरना या शयन आदि क्रिया करणी पडे वहाँ पर दूसरे

दिन आहार न करना चाहिये। अथवा वसतिका संबंधी द्रव्य के निमित्त से जो भोजन आदि तैयार हुआ हो उसको ग्रहण न करना यही शय्यागृह पिण्डोज्झा का अभिप्राय है।

चौथा स्थितिकल्पगुण राजकीय पिण्डोज्झा है। इसमें राजशब्द का अर्थ इक्ष्वाकु, कुरु, उग्रनाथ, हरि आदि कुल अथवा प्रकृति - प्रजा को पालन पोषण आदि के द्वारा, अनुरंजित करनेवाला, यद्वा उसके समान ऋद्धि के धारण करनेवाला होता है। ऐसे व्यक्तियों के घर में जाकर भोजन ग्रहण न करना इसको राजकीय पिण्डोज्झा कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि - ऐसे घरों में जो नाना प्रकार के भयंकर कुत्ते आदि जानवर स्वच्छंदरूप से फिरते रहते हैं उनके द्वारा उन घरों में प्रवेश करनेपर संयमी का अपघात हो सकता है। मुनि के स्वरूप को देखकर वहाँ के घोड़े गाय भैंस आदि पशु बिजुक सकते हैं। और बिजुक कर स्वयं त्रास को प्राप्त हो सकते अथवा दूसरों को भी त्रास दे सकते हैं, यद्वा संयमी को भी उनसे त्रास हो सकता है। गर्व से उद्धत हुए यहाँ के नौकर चाकरों के द्वारा साधु का उपहास हो सकता है। अथवा महलों में रोककर रक्खी हुई और मैथुनसंज्ञा - रमण करने की इच्छा से पीड़ित रहनेवाली, यद्वा पुत्र आदि संतति की अभिलाषा रखनेवाली स्त्रियाँ अपने साथ उपभोग करने के लिये उस संयमी को जबर्दस्ती अपने घरमें ले जा सकती हैं। सुवर्ण रत्न अथवा उसके बने हुए भूषण जो इधर उधर पड़े हो उनको कोई स्वयं चुराकर ले जाय और यह हल्ला कर दे कि यहाँ पर मुनि आये थे और तो कोई आया नहीं, ऐसी अवस्था में मुनि के ऊपर चोरी का आरोप उपस्थित हो सकता हैं। यहाँ पर ये साधु आते हैं सो कहीं ऐसा न हो कि महाराज इन पर विश्वास कर बैठें और इनकी बातों में आकर राज्य को नष्ट कर दें, ऐसे विचारों से क्रोधादिके वशीभूत हुए दीवान मंत्री आदि के द्वारा संयमी का वध बंधादिक भी हो सकता है। इनके सिवाय ऐसे स्थानों में आहार की विशुद्धि मिलना कठिन है, दूध आदि विकृति का सेवन और लोभवश अमूल्य रत्न आदि की चोरी तथा पर स्त्रियों को देखकर रागभाव का उद्रेक एवं वहाँ की लोकोत्तर विभूति को देखकर उसके लिये निदानभाव का हो जाना भी संभव है। इत्यादि अनेक कारण हैं कि जिनके निमित्त से राजपिण्ड को वर्ज्य बताया है। अतएव जहाँ पर ये दोष संभव न हो, अथवा दूसरी जगह आहार का लाभ असंभव हो, तो श्रुत में विच्छेद न पड़े इसके लिये राजकीयपिण्ड का भी ग्रहण किया जा सकता है। अर्थात् ऐसी अवस्था में संयमीजन अपने तप संयम और ध्यान स्वाध्याय

आदि के साधन को कायम रखने के लिये राजपिण्ड को भी ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि उसको वर्ज्य जो माना है सो उपर्युक्त दोषों की संभावना से ही माना है।

पाँचवाँ स्थितिकल्पगुण कृतिकर्म है। पूर्वोक्त छह आवश्यकों का पालन करना अथवा गुरुजनों का विनयकर्म करना इसको कृतिकर्म कहते हैं। इसका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है।

व्रतों के आरोपण करने की योग्यता को छठ्ठा स्थितिकल्पगुण समझना चाहिये।। इसके लिये जो आचेलक्य में स्थित है, तथा औद्देशिक आदि पिण्ड का त्याग करने में उद्यत रहता है, गुरुजनों की भक्ति करनेवाला तथा विनयशील है उसको व्रतारोपण के योग्य समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

आचेलक्के य ठिदी उद्देसादीय परिहरदि दोसे।
गुरुभत्तिमं विणीदो होदि वदाणं स अरिहो दु।।

जो उत्पत्ति की अपेक्षा माता और पिता अर्थात् जाति और कुल के संबंध में महान् हैं, जो वैभव प्रताप और कीर्ति की अपेक्षा गृहस्थों में भी महान् रहे हैं। जो ज्ञान और चर्या आदि में उपाध्याय तथा आर्यिका आदि से भी महान् हैं, एवं क्रियाकर्म के अनुष्ठान द्वारा भी जिनमें श्रेष्ठता पाई जाती है उन आचार्यों को स्थितिकल्प के सातवें ज्येष्ठता गुण से युक्त समझना चाहिये। आठवाँ स्थितिकल्पगुण प्रतिक्रमण है। इसका स्वरूप पहले बता चुके है। जो इसके करने और करानेवाले हैं उनको इस आठवें गुण से युक्त समझना चाहिये। नौवां स्थितिकल्पगुण मासैकवासिता है। अर्थात् जिनके तीसदिनरात्रि तक एक ही स्थान में या ग्राम आदि में रहने का व्रत हो उनको इस गुण से युक्त समझना चाहिये। साधुओं को एक ही स्थान में अधिक दिन तक रहने से अनेक दोष लग सकते हैं; यथा - उद्गम आदि दोषों का परिहार नहीं किया जा सकता, उसी स्थान से प्रतिबंध हो जाता हैं - वहाँ के निवासियों से या उस स्थान से ही राग हो जाता है। गौरव में कमी आ जाती अथवा लघुता प्राप्त होती है, आलस्य प्रमाद की उत्पत्ति और वृद्धि होती है, शरीर अथवा मन में सुकुमारता का भाव जागृत होता है, भावना का अभाव और ज्ञातभिक्षा का ग्रहण होता है, इत्यादि अनेक दोष एकस्थानपर निवास करने से जो प्राप्त हुआ करते

हैं उनका खुलासा मूलाराधना की टीका में किया गया है, वहाँ से जानना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

पडिबंधो लहुयत्तं ण जणुवयारो ण देसविण्णाणं।
णाणादीण अबुद्धी दोसा अविहारपरिकम्हि।।

किन्तु मूलाराधना की टिप्पणी में मासैकवासिता का अर्थ वर्षायोग को ग्रहण करने के पूर्व तथा उसके समाप्त होनेपर उसी स्थान में जहाँ चातुर्मास किया हो एक महीने तक रहना किया है।

दशवाँ स्थितिकल्प गुण योग - वर्षायोग है। वर्षाकाल में चार महीने तक एक ही जगह रहना इसको योग कहते हैं। उन दिनों में पृथ्वी स्थावर और जंगम जीवों से व्याप्त हो जाती है। अतएव उन दिनों में भ्रमण करने से संयम में अत्यधिक बाधा उपस्थित हो सकती है। जलवृष्टि तथा शीतलवायु के लगने से अपनी भी विराधनाहो सकती है। बावडी आदिमें पतन हो जाना भी संभव है। एवं जल और कीचड़ आदि के द्वारा अथवा उनमें छिपे हुए लकड़ी ड्ंठ काँटे आदि के द्वारा भी बाधा होना संभव है। इत्यादि कारणों से चातुर्मास में एकसौ बीस दिन तक एक जगह ही रहना, यह उत्सर्गमार्ग बताया है। अपवादमार्ग की अपेक्षा से कोई विशेष कारण उपस्थित होनेपर अधिक अथवा कम दिन तक भी निवास किया जा सकता है। अधिक प्रमाण में आषाढ़ शुक्ला दशमी से लेकर कार्तिकशुक्ला पूर्णिमासी के ऊपर तीस दिन तक और भी निवास कर सकते हैं ऐसा समझना चाहिये। अत्यधिक जलवृष्टि, शास्त्र - उपदेशरूप श्रुत का विशिष्ट लाभ, शक्ति का अभाव और किसीकी वैयावृत्त्य करने आदिका प्रसंग आ उपस्थित होना, इन प्रयोजनों के उद्देश से एक स्थान में अधिक दिन तक निवास किया जा सकता है। यह उत्कृष्टकाल का प्रमाण बताया है। हीनकाल का प्रमाण चार दिन का है। अर्थात् महामारी, दुर्भिक्ष, ग्राम, नगर, प्रांत आदि में राज्यक्रान्ति आदिके निमित्त से भागदौड़ मच जानेपर, ये उन क्षेत्र को छोड़ने के निमित्त उपस्थित होनेपर वहाँ से अन्यत्र - दूसरे ग्राम या देश को चले जाना चाहिये। क्योंकि नहीं तो वहाँ रहनेपर रत्नत्रयधर्म की विराधना हो सकती है। ऐसी अवस्था में आषाढ-शुक्ला पूर्णमासी को व्यतीत करके प्रतिपदा आदि तिथि को वहाँ

से जा सकते हैं। इस अपेक्षा से चार दिन का जघन्यकाल बताया है। इस प्रकार स्थितिकल्प के दशवें भेद का स्वरूप समझना। किन्तु मूलाराधना की टिप्पणी में यह दशवाँ भेद पाद्यनाम से बताया है। उसका अभिप्राय ऐसा है कि दो दो महीने से निषिद्धिकाओं को देखना चाहिये। यथा :-

आचेलक्यौद्देशिकशय्यागृहराजपिण्डकृतिकर्म।
ज्यैष्ठव्रतप्रतिक्रममासं पाद्यः श्रमणकल्पः।।

इन उपर्युक्त स्थितिकल्प संबंधी दश गुणों में जो निष्ठा धारण करनेवाले हैं, जिनकी इनमें भलेप्रकार तत्परता सिद्ध हो चुकी है। एवं अनेक क्षपकों - समाधिमरण करनेवालों का उद्धार करने से जिनकी विशाल कीर्ति संपूर्ण पृथ्वी पर फैल गई है, तथा संसार को छोड़कर परलोक यात्रा करनेवाले कर्मों का क्षपण करने में उद्युक्त साधुओं को जो समाधिमरण के लिये प्रेरित करनेवाले हैं, ऐसे ही निर्यापक - आचार्य उन क्षपकों को विशुद्धिलाभ करा सकते हैं। उसके मार्ग में लगाकर उसकी यथोक्त चर्या को बता सकते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

एतेषु दशसु नित्यं समाहितो नित्यवाच्यताभीरुः।
क्षपकस्य विशुद्धिमसौ यथोक्तचर्यां समुद्दिशति।।

प्रतिमायोग को धारण कर खड़े हुए मुनि की क्रियाविधि बताते हैं :-

लघीयसोपि प्रतिमायोगिनो योगिनः क्रियाम्।
कुर्युः सर्वेपि सिद्धर्षिशान्तिभक्तिभिरादरात्।।८२।।

सबेरे से सायंकाल तक दिनभर सूर्य की तरफ मुख करके कायोत्सर्गमुद्रा धारण कर खड़े रहने को प्रतिमायोग कहते हैं। इसको धारण करनेवाले योगी दीक्षा की अपेक्षा उम्र में छोटे हों तो भी संपूर्ण साधुओं को अत्यंत आदरभाव से उनका क्रियाकाण्ड सिद्धभक्ति

योगिभक्ति और शांतिभक्ति को बोलकर पूर्ण करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

प्रतिमायोगिनः साधोः सिद्धानागारशान्तिभिः।
विधियते क्रियाकाण्ड सर्वसंघैः सुभक्तितः।।

दीक्षा ग्रहण करने और केशलोंच करने की क्रिया की विधि बताते हैं :-

सिद्धयोगिबृहद्भक्तिपूर्वकं लिङ्गमर्प्यताम्।
लुञ्चाख्यानाग्न्यपिंच्छात्म क्षम्यतां सिद्धभक्तिः।।८३।।

केशलुञ्चन, नामकरण, सर्वथा नग्न दिगंबर अवस्था, और पिच्छी इनके समूह को जिनलिङ्ग का स्वरूप समझना चाहिये। आचार्य को यह लिंग बृहत्सिद्धभक्ति और बृहत्योगिभक्ति बोलकर मुमुक्षु में अर्पण करना चाहिये, तथा यह लिङ्गार्पण का विधान सिद्धभक्ति के द्वारा समाप्त करना चाहिये।

दीक्षादान के अनंतर क्या कर्तव्य है सो दो पद्यों में बताते हैं :-

व्रतसमितीन्द्रियरोधाः पञ्च पृथक् क्षितिशयो रदाघर्षः।
स्थितिसकृदशने लुञ्चावश्यकषट्के विचेलताऽस्त्रानम्।।८४।।
इत्याष्टाविंशतिं मूलगूणान् निक्षिप्य दीक्षिते।
संक्षेपेण सशीलादीन् गणी कुर्यात्प्रतिक्रमणमम्।।८५।। (युग्मम्)

मुनियों के मूलगुण अट्ठाईस हैं। यथा :- अहिंसादिक, पाँच महाव्रत, ईर्यासमिति आदिक पाँच समिति और पाँचोन्द्रियों का अपने अपने विषयों से निरोध, ये पंद्रह भेद हुए, इनका विशेष स्वरूप पहले लिखा जा चुका है इनके सिवाय एक भूमिशयन, १ दांतो का घर्षण - दंतधावन न करना, १ दिन में एक बार भोजन करना, १ खड़े होकर भोजन करना,

१ विधिपूर्वक केशों का उत्पाटन करना, ६ पूर्वोक्त, छह आवश्यकों का पालन करना, १ सर्वथा वस्त्ररहित नग्न दिगंबर अवस्था धारण करना और १ तैल आदि का उद्वर्तन तथा जल में अवगाहन आदि स्वरूप स्नान न करना, ये सब मिलाकर अठ्ठाईस भेद होते हैं। इनके सिवाय चौरासीलाख उत्तर गुण और अठारह हजार शील के भेद और भी हैं। दीक्षा लेनेवाले साधु में आचार्य को संक्षेप से इन उत्तर गुणों और शील के भेदों के साथ - साथ संपूर्ण उक्त मूलगुणों का स्थापन करके व्रतारोपण संबंधी प्रतिक्रमण करना चाहिये। जहाँ तक हो सके यह प्रतिक्रमण उसी दिन करना चाहिये; किन्तु उस दिन उत्तम मुहूर्त आदि न बनता हो तो कुछ दिन बाद भी वह किया जा सकता है।

दीक्षाग्रहण के समय को छोड़कर अन्य समय में जो केशों का लुंचन किया जाता है उसके काल का प्रमाण और उसकी क्रिया करने की विधि बताते हैं :-

लोचो द्वित्रिचतुर्मासैर्वरो मध्योऽधमः क्रमात्।
लघुप्राग्भक्तिभिः कार्यः सोपवासप्रतिक्रमः।।८६।।

केशों का उत्पाटन तीन प्रकार का हुआ करता है, - उत्तम, मध्यम और जघन्य। दो महीने के अनंतर किया जाता है वह उत्कृष्ट और जो तीन महीने के अनंतर किया जाता है वह मध्यम, तथा जो चार महीना पीछे किया जाता है वह जघन्य समझना चाहिये। साधुओं को अपनी शक्ति के अनुसार इनमें से कौनसा भी लोच अवश्य ही करना चाहिये। जिस दिन लोच करना हो उस दिन उपवास और उस क्रियासंबंधी प्रतिक्रमण भी करना चाहिये। तथा लोच का प्रतिष्ठापन लघुसिद्धभक्ति और लघुयोगिभक्ति बोलकर, एवं निष्ठापन केवल सिद्धभक्ति के द्वारा करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

लोचो द्वित्रिचतुर्मासः सोपवासप्रतिक्रमः।।
लघुसिद्धर्षिभक्त्यान्यः क्षम्यते सिद्धभक्तितः।।

सामायिकचारित्र की उत्कृष्टता और वास्तविकता दिखाने के लिये यहाँ बताते हैं कि वस्तुतः चारित्र एक सामायिक ही है, महाव्रतादि के रूप में जो चारित्र वर्णन किया

जाता है वह उसीका भेदरूप से वर्णन है।। सो इस प्रकार का वर्णन भी आदि तीर्थंकर और अंतिम तीर्थंकर ने ही किया है, मध्य के अजितादि पार्श्वनाथपर्यंत बाईस तीर्थंकरोंने नहीं। इसी बात को यहाँ पर स्पष्ट करते हैं, और साथ ही यह भी दिखाते हैं कि इस देशना के भेद का कारण क्या है। :-

दुःशोधमृजुजडैरिति पुरुरिव वीरोऽदिशद्व्रतादिभिदा।
दुष्पालं वक्रजडैरिति साम्यं नापरे सुपटुशिष्याः।।८७।।

कर्मभूमि की आदिमें मनुष्य परिणामों के सरल किन्तु मुग्ध - अज्ञानी हुआ करते हैं। अतएव वे सामायिकचारित्र को भलेप्रकार समझ नहीं सकते और इसीलिये उसका अच्छी तरह पालन भी नहीं कर सकते। यही कारण है कि आदिनाथभगवान् ने उनके लिये सामायिकचारित्र को ही व्रतादि के भेदरूप से बताया। इसी प्रकार अंतिम तीर्थंकर के समय के मनुष्य वक्र और अज्ञानी हुआ करते हैं। वे या तो अपनी वक्रता के कारण अथवा अज्ञानता के कारण सामायिकचारित्र के पालन करने में असमर्थ रहा करते हैं। उनसे उनका पालन होना अति कठिन रहता है। अतएव अंतिम तीर्थंकर ने भी उसी सामायिक को व्रतों के भेदरूप से उनको बताया। किन्तु मध्य के बाईस तीर्थंकरों के समय के मनुष्य योग्य और अच्छे समझदार हुआ करते हैं। उनमें सरलता और जड़ता नहीं रहती। वे अपने विषय में भलेप्रकार व्युत्पन्न रहा करते हैं। अतएव उन बाईस तीर्थंकरों ने चारित्र को व्रतादि के भेदरूप से न बताकर केवल सामायिक के ही रूप से बताया।

जिसको जिनलिंग की दीक्षा दी जाय उसमें किस किस
प्रकार की योग्यती होनी चाहिये सो बताते हैं :-

सुदेशकुलजात्यङ्गे ब्राह्मणे क्षत्रिये विशि।
निष्फलङ्के क्षमे स्थाप्या जिनमुद्रार्चिता सताम्।।८८।।

जिनेन्द्र भगवान् की मुद्रा देवेन्द्र नरेन्द्र धरणींद्र और मुनीन्द्र के द्वारा भी पूज्य है।

अतएव धर्माचार्यों को जिस व्यक्ति में इस मुद्रा का आरोपण करना हो उसमें उन्हे इस प्रकार की योग्यता अवश्य देखनी चाहिये कि - वह व्यरक्ति प्रशस्तदेश में उत्पन्न हुआ हो, मांसाहारी म्लेच्छों या वैसे ही आचारणवाले भील आदिकों के देश में उत्पन्न न हुआ हो। जिस पिता से उसकी उत्पत्ति हुई है उसका वंशानुगत आचरण शुद्ध हो। एवं जिस कुक्षि में उसने जन्म धारण किया है वह मातृपक्ष भी निर्दोष हो। तथा जिसका शरीर भी प्रशस्त हो, - उसमें ऐसे कोई दोष न हों जो कि आगम में जिनलिंग को धारण करने में बाधक बताये हैं। और चातुर्वर्ण्य में से ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन उत्तम वर्णों में ही जो उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार जिसको कोई कलङ्क नहीं लगा है, ब्राह्मण, स्त्री, बाल, गौ आदि की हत्या आदि अपराधों से जो मुक्त है। और जो उस मुद्रा के धारण करने में समर्थ है, जो जाति बल अवस्था या सुकुमार शरीर को धारण करनेवाला नहीं है, अथवा अति वृद्धता के कारण जिसका शरीर जीर्ण और इसीलिये जिनलिंग के चारित्र को पालन करने के लिये जो असमर्थ नहीं हो गया है। अतएव ऐसा कहा भी है कि :-

ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्ये सुदेशकुलजातिजे।
अर्हतः स्थाप्यते लिङ्गं न निन्द्यबालकादिषु।।

अर्थात् :- तीन उत्तम वर्णों के और प्रशस्त देश कुल जाति में उत्पन्न होनेवाले ही पुरुष में जिनलिंग की स्थापना करनी चाहिये। जो ब्रह्महत्या आदि के कारण निन्द्य हैं अथवा बाल्यावस्था या वृद्धावस्था आदिके धारण करनेवाले हैं उनमें उस लिंग को स्थापित न करना चाहिये। इसी प्रकार :-

पतितादेर्न सा देया जैनी मुद्रा बुधार्चिता।
रत्नमाला सतां योग्या मण्डले न विधीयते।।

जो जाति आदि से पतित हैं उनको यह विद्वानों के और देवों के द्वारा भी पूज्य जिनमुद्रा न देनी चाहिये। जो रत्नों की माला सत्पुरुषों के धारण करने योग्य हुआ करती

है वह कुत्ते के गले में नहीं पहराई जाती। तथा :-

न कोमलाय बालाय दीयते व्रतमर्चितम्।
न हि योग्ये महोक्षस्य भारे वत्सो नियोज्यते।।

जिनका शरीर कोमल है या जिनका चित्त अति मृदु और इन्द्रियाँ विषयसेवन की तरफ प्रबल हैं ऐसे बालकों को जिनदीक्षा का त्रिलोकपूज्य व्रत न देना चाहिये। जिस बोझे को बड़ा बैल ही ढो सकता है उसमें छोटे बच्चे को जोतना ठीक नहीं।

यहाँ पर कोई शंका कर सकता है कि दीक्षा का देना कषाय को उत्पन्न करने और उसको पुष्ट करने का साधन है; क्योंकि उसमें शिष्यों का परिग्रह बढ़ता है, और उसके संबंध से पुनः उनके रक्षण और व्यवस्था आदि की चिंता भी हुआ करती है। अवस्था के अनुसार उनका निग्रहानुग्रह भी करना ही पड़ता है और क्षपण आदि के समय साधुओं को वैयावृत्त्य आदि के लिये प्रेरित भी करना पड़ता है। इत्यादि अनेक कारणों से मुमुक्षुओं का इस कार्य में पड़ना उचित नहीं प्रतीत होता। परंतु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि जिनका चारित्र सराग है। उन्हीं के लिये आगम में इसका विधान किया है। जैसा कि कहा भी है कि :-

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चोरया हि सरायाण जिणिंदपूजोवएसो य।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन को दृढ़ करनेवाला और ज्ञान की वृद्धि करनेवाला उपदेश देना, शिष्यों का ग्रहण करना, और उनका पोषण तथा रक्षण करना, एवं जिनेन्द्र भगवान् की पूजा आदि का उपदेश देना, यह सब सराग चारित्र के धारण करनेवाले मुनियों का ही कार्य है। फिर इसके सिवाय ऐसा किये बिना संघ की व्यवस्था और मोक्षमार्ग सुरक्षित नहीं रह सकते। अतएव यह कार्य भी किसी न किसीको करना ही पड़ता है।

जबतक महाव्रतों को धारण न किया जाय तबतक केवल जिनलिंग - केशोत्पाटन दिगंबरता और संज्ञा तथा पिच्छी के ग्रहण करने से ही आत्मा में लगे हुए दोषों की विशुद्धि नहीं हो सकती। इस बात को दृष्टांत देकर स्पष्ट करते हैं :-

महाव्रतादृते दोषो न जीवस्य विशोध्यते।
लिङ्गेन तोयादूषेण वसनस्य तथा मलः।।८९।।

जिस प्रकार वस्त्र को जब तक पानीसे न धोया जाय तब तक केवल उसमें क्षारमट्टी के लगाने से ही उसका मल दूर नहीं हो सकता, उसी प्रकार जब तक महाव्रत धारण नहीं किये जाते तब तक केवल चिह्नमात्र जिनलिंग के धारण करने से आत्मा में लगे हुए रागद्वेषरूपी कषायों का मल दूर नहीं हो सकता।

किन्तु जिनमुद्रा के विना केवल व्रतों का धारण करना भी कार्यकारी नहीं हो सकता। अतएव दृष्टांत द्वारा इस बात को भी दृढ़ करते हैं कि जिनलिंग से युक्त ही व्रताचरण कषायों का विशोधन कर सकता हैं।

मृद्यन्त्रकेण तुष इव दलिते लिङ्गग्रहेण गार्हस्थ्ये।
मुशलेन कणे कुण्डक इव नरि शोध्यो व्रतेन हि कषायः।।९०।।

मट्टी के बने हुए यंत्रविशेष के द्वारा धान्य के उपर का छिलका उतारकर दूरकर दिया जाता है तभी उसके भीतर की बारीक - पतली भुसी मूसल के द्वारा छरकर दूर की जा सकती है, अन्यथा नहीं। इसी तरह से जिनलिंग और व्रतों के विषय में समझना चाहिये। अर्थात् व्रतों को प्रकट कर दिखानेवाला चिह्न - जिनलिंग जब धारण कर लिया जाता है तभी उसके द्वारा गृहस्थाश्रम का भाव निर्दलित होता और तभी मूसल के समान उन व्रतों के द्वारा अंतर्मल - कषाय का शोधन किया जा सकता है।

भावार्थ :- चावल के समान मनुष्य को और भुसी के समान कषाय को तथा ऊपर के छिलके के समान गृहस्थाश्रम को एवं मट्टी के यंत्र के समान जिनलिंग को समझकर मूसल के समान व्रतों के द्वारा उसका शोधन करना चाहिये।

भूमिशयना नाम के मूलगुण की विधि बताते हैं :-

अनुत्तानोऽनवाङ् स्वप्याद्भूदेशेऽसंस्तृते स्वयम्।।
स्वमात्रे संस्तृतेऽल्पं वा तृणादिशयनेपि वा।।९१।।

भूमिशयन मूलगुण को सिद्ध करने के लिये साधुओं को तृण घास आदि के आच्छादन से रहित केवल भूमिप्रदेश में ऊर्ध्वमुख अथवा अधोमुख न होकर दक्षिण अथवा वाम किसी भी एक पार्श्वभाग से दण्ड के समान लम्बायमान होकर अथवा धनुष के आकार को धारण करके प्रथम करना चाहिये। अथवा अल्प आच्छादन से युक्त भूमि पर भी शयन कर सकते हैं। किन्तु आच्छादन जितनी भूमि में उन्हें सोना है उतनी में ही स्वयं करना चाहिये। अल्प आच्छादन से प्रयोजन यह है कि जैसा गृहस्थ आदिकों का बिस्तर हुआ करता है वैसा न होना चाहिये। भूमि के स्थान पर तृण आदि की बनी हुई चटाई यद्वा काष्ठ के बने हुए तख्त आदि अथवा पत्थर की शिला आदि के ऊपर भी शयन कर सकते हैं। इस विषय में भी अनाच्छादन और अल्प आच्छादन का संबंध लगा देना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :-

पासुअभूमिपदेसे अप्पमसंथारिदम्हि।
दंडद्धणुव्व सेज्ज खिदिसयणं एयपासेण।।

अर्थात् :- प्रासुक और अल्पसंस्तरित अथवा असंस्तरित एवं एकान्त भूमिप्रदेश में दण्ड अथवा धनुष की तरह एक पार्श्वभाग से सोना इसको क्षितिशयन कहते हैं।

ऊर्ध्वमुख सोने से अधिकतर स्वप्नदर्शन होता है और अधोमुख सोने से प्राय: वीर्यस्खलन हो जाता है। इत्यादि दोषों के कारण पार्श्वभाग से ही सोना बताया हैं। सो भी किसी एक ही विवक्षित पसली की तरफ से सोना चाहिये अर्थात् करवट वगैरह न लेना चाहिये। निद्रा के काल का प्रमाण पहले बता चुके हैं।

खड़े होकर भोजन करनेरूप मूलगुण की विधि और उसके काल का प्रमाण पहले बता चुके हैं :-

तिस्रोऽपास्याद्यन्तनाडीर्मध्येऽन्ह्याद्यात् स्थितः सकृत्।
मुहूर्तमेकं द्वौ त्रीन्वा स्वहस्तेनानपाश्रयः।।९२।।

दिन की आदि की और अंत की तीन तीन घड़ी छोड़कर बाकी दिन के मध्यभाग में एकबार खड़े होकर दीवाल या स्तंभ आदि का सहारा न लेकर अपने हाथ से - अंजलिपुट बनाकर एक मुहूर्त दो मुहूर्त अथवा तीन मुहूर्त तक आहार करना चाहिये।

भावार्थ :- दिन के उदयकाल की तीनघडी और अस्तसमय की तीन भ्रामरी के लिये अयोग्य समय है। इस समय में साधुओं को गोचरी के लिये निकलना न चाहिये। और भोजनक्रिया का काल एक से तीन मुहूर्त तक का है। इतने समय में भोजन क्रिया समाप्त करनी चाहिये। तथा भोजन करते समय साधुओं को किसी का सहारा न लेकर और दोनों पैरों को बराबर में जोड़कर खड़े होना चाहिये और भूमि के तीन स्थानों की शुद्धि देखकर दिन में एक बार अंजलि का भेद न करके भोजन करने को स्थितिभोजन कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :-

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियह्मि मज्झम्हि।
एकह्मि दुय तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु।।
अंजलिपुडेण ठिच्चा कुण्डादिविवज्जणेण समपायं।
पडिसुद्धे भूमितिये असणं ठिदिभोयणं णाम।।

अर्थात् :- उदय और अस्त का तीन तीन घड़ी का काल छोड़कर बाकी के दिन के मध्य के समय में एक दो या तीन मुहूर्त तक एक बार भोजन करना इसको एकभुक्ति कहते हैं। तथा अंजलिपुट के द्वारा खड़े होकर और भींत वगैरह का आश्रय न लेकर, पैरों को बराबर रखकर, भूमित्रय की शुद्धि देखकर भोजन करना इसको स्थितिभोजन कहते हैं।

इस विषय की विशेष व्याख्या आचार टीका में की गई है। उसको उपयोगी समझकर कुछ आशय यहाँ भी दिया जाता है।

अभिप्राय यह है कि समपाद और अंजलिपुट ये एक मुहूर्त से लेकर तीन मुहूर्त तक का जो भोजन का समय बताया है उस सबके विशेषण नहीं किन्तु मुनि के भोजन के विशेषण हैं। अतएव तीन मुहूर्त के भीतर जब जब भी वे भोजन करें तब तब ही उनको समपाद और अंजलिपुट के द्वारा ही भोजन करना चाहिये, ऐसा आशय समझना।

यदि ऐसा न माना जायगा और उनको - समपाद और अंजलिपुट को समय का ही विशेषण माना जायगा तो हस्तप्रक्षालन करनेपर भी उस समय जो जानूपरिव्यतिक्रम नाम का अंतराय बताया है सो नहीं बन सकता। इसी प्रकार नाभेरधोनिर्गमन अंतराय जो बताया है वह भी नहीं बन सकता। इससे मालूम होता है कि तीन मुहूर्त का जो उसमें एक जगह भोजन क्रिया का प्रारंभ करके किसी कारण से हाथों को धोने के बाद मौनपूर्वक दूसरी जगह भोजन के लिये जा सकते हैं। यदि वह अंतराय एक स्थान पर भोजन करते हुए होता है ऐसा माना जायगा तो अंतराय का जानूपरिव्यतिक्रम यह विशेषण देना निरर्थक ही हो जायगा। उसकी जगह ऐसा ही फिर विशेषण देना चाहिये कि यदि बराबर में रक्खे हुये पैर रंचमात्र भी चलायमान हो जायेंगे तो अंतराय हो जायगा। इसी प्रकार नाभेरधोनिर्गमन् नाम का अंतराय भी दूर ही से कैसे संभव हो सकता है ? नहीं बन सकता। अतएव अंतराय को बचाने के लिये उसका ग्रहण करना भी निरर्थक ही ठहरेगा। इसी प्रकार पैर से कोई चीज ग्रहण करने में आ जाय तो वह अंतराय माना है सो वह भी कैसे बनेगा। इत्यादि अंतरायों के स्वरूप को बतानेवाले अनेक सूत्र निरर्थक ही ठहरेंगे। इसी तरह यदि भोजन क्रिया प्रारंभ करने के बाद अंजलिपुट का भेद हो जाय तो अंतराय समझना चाहिये। इसी प्रकार जान्वध:परामर्श नाम का अंतराय भी नहीं बन सकता। और भी अनेक अंतराय इसी तरह नहीं बन सकते, यदि समपाद और अंजलिपुट को एक दो तीन मुहूर्तप्रमाण भोजन के काल का विशेषण माना जाय। अतएव यह स्पष्ट है कि ये दोनों ही भोजन के विशेषण हैं न कि काल के।

भावार्थ :- यह बात पहले बता चुके हैं कि प्राय: करके अंतराय सिद्धभक्ति के अनंतर ही हुआ करते हैं। ऐसी अवस्था में यदि समपाद और अंजलिपुट को भोजन के काल का विशेषण माना जाय तो उपर्युक्त कोई भी अंतराय नहीं बन सकता। अतएव उन्हें भोजन का ही विशेषण मानना चाहिये। अर्थात् जब जब भी तीन मुहूर्त काल के भीतर भोजन क्रिया को मुनि प्रारंभ करे तब तब ही उन्हें समपाद और अंजलिपुट के द्वारा भोजन करना चाहिये। इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि किसी कारण के वश एक जगह भोजनक्रिया प्रारंभ करके हस्तप्रक्षालन के अनंतर ही दूसरी जगह भी भोजन के लिये जा सकते हैं।

समपाद का अभिप्राय यह है कि दोनों पैरों में चार अंगुल का अंतर रखकर दोनों

को एक सीध में रखना। और भूमित्रय की शुद्धि देखने के लिये जो कहा है उसका तात्पर्य यह है कि जहाँ पर आहार देने के समय दाता खड़ा होता है, और जहाँ पर आहार लेने को पात्र खड़े होते हैं, एवं दोनों के मध्य में उच्छिष्ट का जहाँ पतन होता है वे तीनों ही स्थान शुद्ध होने चाहिये।

खड़े होकर भोजन करने का प्रयोजन क्या है सो बताते हैं :-

यावत्करौ पुटीकृत्य भोक्तुमुद्धः क्षमेऽद्म्यहम्।
तावन्नेवान्यथेत्यागूसंयमार्थं स्थिताशनम्।।९३।।

जब तक मैं खड़े होकर और अपने हाथों को जोड़कर या उनको ही पात्र बनाकर उन्हीं के द्वारा भोजन करने की सामर्थ्य रखता हूँ तभी तक भोजन करने में प्रवृत्ति करूँगा, अन्यथा नहीं। इस प्रतिज्ञा का निर्वाह और इन्द्रियसंयम तथा प्राणिसंयम का साधन करने के लिये मुनियों को खड़े होकर भोजन करने का विधान किया है।

भावार्थ :- खड़े होकर भोजन करने के, प्रतिज्ञा का बोधन और निर्वाह, तथा आहार की शुद्धि और दोषों की निवृत्ति, एवं संयम की सिद्धि, इस प्रकार अनेक प्रयोजन हैं। जैसा कि आचार टीका में भी बताया है, उसका आशय इस प्रकार है :-

जब तक मेरे हाथ और पैर परस्पर में सम्बद्ध होने की शक्ति रखते हैं तभी तक मुझे आहार ग्रहण करना योग्य है, अन्यथा नहीं, इस भाव या प्रतिज्ञा का बोधन कराने के लिये मुनिजन खड़े होकर और अपने हाथों से भोजन करते हैं, यह पहला प्रयोजन। इसीके साथ दूसरा प्रयोजन यह भी है कि 'मैं बैठकर या पात्र के द्वारा अथवा अन्य व्यक्ति के हाथ से भोजन न करूँगा' इस प्रतिज्ञा का निर्वाह होता है। तीसरा प्रयोजन यह है कि भोजन की शुद्धि पलती है। क्योंकि इसके लिये अपना सबसे अधिक शुद्ध हुआ करता है; और अपने हाथ में रक्खे हुए भोजन का दृष्टिपूर्वक बहुत अच्छी तरह शोधन किया जा सकता है। चौथा प्रयोजन दोषों की निवृत्ति है। अर्थात् अपने हाथ से भोजन करने में कदाचित् अंतराय आ जाय तो अधिक भोजन का त्याग नहीं करना पड़ता। अन्यथा बहुत सी भोज्य सामग्री से भरी हुई सबकी सब थाली छोड़नी पड़ेगी।

और ऐसा होनेपर अवद्यदोष उपस्थित होंगे। पाँचवां प्रयोजन संयम की सिद्धि है। अर्थात् इन्द्रियों की लोलुपता का कर्षण होकर और सूक्ष्मजीवों की या अपने चेतना प्राण की रक्षा होकर इन्द्रियसंयम और प्राणसंयम का पालन होता है। इन कारणों से ही खड़े होकर और अपने हाथोंसे ही भोजन करने का विधान दिया गया है। यही बात औरों ने भी कही है, यथा :-

यावन्मे स्थितिभोजनेस्ति दृढता पाण्योश्च संयोजने,
भुञ्जे तावदहं रहाम्यथ विधादेषा प्रतिज्ञा यते:।
कायेप्यस्पृह चेतसोन्त्यविधिषु प्रोल्लासिन:
सन्मतेनं ह्येतेन दिवि स्थितिर्न नरके संपद्यते तद्विना।।

खड़े होकर भोजन करने की विशेष विधि बताते हैं :-

प्रक्षाल्य करौ मौनेनान्यत्रार्थाद् व्रजेद्यदैवाद्यात्।
चतुरंगुलान्तरंसमक्रम: सहाञ्जलिपुटस्तदैव भवेत्।।९४।।

भोजन के स्थान पर यदि कीडी आदि तुच्छ जीव जंतु चलते फिरते अधिक नजर पड़े, या ऐसा ही कोई दूसरा निमित्त उपस्थित हो जाय तो संयमियों को हाथ धोकर वहाँ से दूसरी जगह के लिये आहारार्थ मौनपूर्वक चले जाना चाहिये। इसके सिवाय जिस समय वे अनगार ऋषि भोजन करें उसी समय उनको अपने दोनों पैर उनमें चार अंगुल का अंतर रखकर समरूप में स्थापित करने चाहिये। तथा उसी समय दोनों हाथों की अंजलि भी बनानी चाहिये।

एकभक्त और एकस्थान में क्या भेद है सो बताते हैं :-

शुद्धे पादोत्सृष्टपातपरिवेषकमूत्रये।
भोक्तु: परेप्येकभक्तं स्यात् त्वेकस्थानमेकत:।।९५।।

जहाँ पर भोजन क्रिया का प्रारंभ किया है वहाँ पर और उसके सिवाय दूसरी जगह भी, जहाँ पैर रखकर आहार के लिये खड़े होते हैं और जहाँ उत्सृष्ट गिरता है, एवं जहाँ खड़े होकर परिवेशक - परोसकर देनेवाला दाता आहार देता है इन तीनों ही शुद्ध - जीववधादिक दोषों से रहित स्थान पर खड़े होकर भोजन करनेवाले अनगार के एक भक्त समझना चाहिये। और दूसरी जगह न आकर जहाँ भोजन क्रिया प्रारंभ की है वहीं पर उक्त तीन भूमियों की शुद्धि देखकर भोजन करनेवाले के एक स्थान समझना चाहिये।

भावार्थ :- भूमित्रय की शुद्धि देखना तो दोनों में ही समान है। किन्तु विशेषतया यह है कि जहाँ पर एक जगह भोजनक्रिया का प्रारंभ करके किसी कारण से वहाँ भोजन न कर दूसरी जगह जाकर किया जाता है वहाँ एक भक्त तो है परंतु एक स्थान नहीं है। और जहाँ पर भोजन क्रिया का प्रारंभ किया है वहीं भोजन करने में एक स्थान भी है और एकभक्त भी है।

इसके सिवाय एक भक्त तो अठ्ठाईस मूलगुणों में से एक है और एक स्थान यह उत्तरगुण है, इस अपेक्षा से भी दोनों में अंतर है। इसी बात को यहाँ बताते हैं :-

अकृत्वा पादविक्षेपं भुञ्जानस्योत्तरो गुणः।
एकस्थानं मुनेरेकभक्तं त्वनियतास्पदम्।।९६।।

पैरों का विक्षेप न करके अर्थात् दूसरी जगह भोजन के लिये न जाकर उस एक ही स्थान पर भोजन करनेवाले मुनि के एकस्थान नाम का उत्तरगुण समझना चाहिये। और जिनका स्थान नियत नहीं है अर्थात् जो अनेक स्थानोंपर संचार करके एक जगह भोजन करते हैं उनके एकभक्त नाम का मूलगुण समझना चाहिये।

केशोत्पाटन नाम के मूलगुण का लक्षण और फल बताते हैं :-

नैःसङ्ग्याऽयाचनाऽहिंसादुःखाभ्यासाय नाग्न्यवत्।
हस्तेनोत्पाटनं श्मश्रुमूर्धजानां यतेर्मतम्।।९७।।

अपने हाथ से अपनी दाढ़ी के और अपने शिर के बालों का उखाड़कर दूर करना इसीको संयमी साधुओं का परमागम - सूत्र में केशलुंचन नाम का मूलगुण माना है नग्नता के समान इसके भी चार फल मुख्यतया बताये हैं। यथा :- निःसङ्गता, अयाचना, अहिंसा और दुःखाभ्यास।

भावार्थ :- मोक्ष का आराधन करनेवाले अपनी आत्माको पूर्णतया स्वायत्त बनाने का ही प्रयत्न किया करते हैं। अतएव उनकी कोई भी क्रिया ऐसी नहीं होती जो उन्हें पराधीन अवस्था की तरफ उन्मुख कर दे। इसीलिये वे वस्त्रादि का रंचमात्र भी परिग्रह धारण नहीं किया करते। रुपया पैसा का संबंध भी उनसे दूर ही रहता है। यदि वे स्वयं केशोत्पाटन न करके नाई आदि से हजामत बनवावें तो उसके लिये उन्हें पैसा आदि का परिग्रह भी रखना ही पड़ेगा। ऐसी अवस्था में उनकी निःसङ्गता कायम नहीं रह सकती। यदि वे नाई से यों ही प्रार्थना करें तो लघुता प्राप्त होती है तथा याचना के व्यर्थ जानेपर मानभंग और अयाचकवृत्ति में बाधा आदि अनेक दोष उपस्थित होते हैं। अपने भक्तपुरुषों से यदि याचना की जाय तो भी ये दोष आवेंगे। यदि केशों का उत्पाटन न करके उनको यों ही कायम रखकर जटा बढ़ा ली जांय तो उनमें अनंत सूक्ष्मबादर सम्मूर्छनजीवों की उत्पत्ति और हिंसा होती है। और केशों को निकालने के लिये अपने पास कैंची छुरा आदि अस्त्र रक्खे जांय तो भी हिंसादि साधन पास में रखने से अपरिग्रहता में अपूर्णता और भावहिंसा में प्रवृत्ति होती है। सो अहिंसा महाव्रत के पालन करनेवाले करुणा की मूर्ति दिगंबरसंयमियों के लिये कैसे उचित हो सकता है। इसके सिवाय स्वयं ही केशों का लुंचन करने से दुःखों के सहन करने का अभ्यास होता है। जिससे कि परीषह और उपसर्गों के जीतने की कठिनता दूर होती है। और कायक्लेश आदि तप की सिद्धि होकर शरीर में पूर्ण निर्ममता का भाव जागृत व दृढ़ होता है। अतएव जिस प्रकार नग्नता में ये और इनके सिवाय दूसरे भी अनेक गुण बताये हैं उसी प्रकार केशोत्पाटन नामक मूलगुण में भी समझने चाहिये। अतएव ऐसा कहा भी है कि :-

काकण्या अपि संग्रहो न विहितः क्षीरं यया कार्यते
चित्तक्षेपकृदस्त्रमपि वा तत्सिद्धये नाश्रितम्।
हिंसाहेतुरहो जटाद्यपि तथा यूकाभिरप्रार्थने
वैराग्यादिविवर्धनाय यतिभिः केशेषु लोचः कृतः।।

अर्थात् :- निर्वाणपथिक साधुजन अपने पास एक कौड़ी भी नहीं रखते जिससे कि क्षौरकर्म कराया जा सकता है। स्वयं क्षौरकर्म करने के लिये अपने पास अस्त्र भी नहीं रखते। क्योंकि उससे चित्त में विक्षेप उत्पन्न होता है। जटा बढ़ाना इसलिये ठीक नहीं हैं कि वह जूं आदि के द्वारा हिंसा का ही साधन है। अतएव सर्वोत्तम उपाय यही है कि हाथों से उनका उत्पाटन कर दिया जाय जिससे कि उल्टी वैराग्य आदि गुणों की वृद्धि ही हुआ करती है :-

अस्नान नाम के मूलगुण का समर्थन करते हैं :-

न ब्रह्मचारिणामर्थो विशेषादात्मदर्शिनाम्।
जलशुद्ध्याथवा यावद्दोषं सापि मतार्हतैः।।९८।।

जो ब्रह्मचर्यव्रत के पालन करनेवाले हैं उनके अशुद्धि का कारण ही नहीं रहता। अतएव उसको दूर करने के लिये उन्हें जलशुद्धि - स्नान करने की भी क्या आवश्यकता है ? उससे उनका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। तथा खासकर जो आत्मदर्शी - योगी हैं - जो ज्ञान ध्यान स्वाध्याय और तपस्या तथा ब्रह्माचरण में ही रत रहते हैं, और इसीलिये जिनका शरीर स्वयं पवित्र है उनके लिये तो यह स्नान किस प्रयोजन का ! हाँ, यह बात अवश्य है कि यदि कदाचित् अस्पृश्य का स्पर्श आदि दोष उपस्थित हो जाय तो उसकी शुद्धि के लिये उसकी उन्हें आवश्यकता है। सो इसके लिये जैनाचार्योंने भी ब्रह्मचारियों व योगियों के लिये जलशुद्धि मानी ही है। जैसा कि श्री सोमदेवसूरीने भी कहा है कि :-

ब्रह्मचर्यौपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम्।
मुनीनां स्नानमप्राप्तं दोषे त्वस्य विधिर्मतः।।
सङ्गे कापालिकात्रेयीचण्डालशबरादिभिः।
आप्लुत्य दण्डवत्स्नायाज्जपेन्मन्त्रानुपोषितः।।
एकान्तरं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके।
दिने शुध्यन्त्यसंदेहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः।।

अर्थात् :- जो ब्रह्मचारी हैं, और जिनका आत्मा अपने ही में रमण करनेवाला है, उन मुनियों के लिये स्नान अनावश्यक है। किन्तु दोष उपस्थित होनेपर उसकी विधि भी मानी है। जैसे कि कापालिक आत्रेयी चाण्डाल और भील आदि से स्पर्श हो जानेपर अपने शरीर को अच्छी तरह भिगोकर दण्डस्नान करना चाहिये, और उपवासपूर्वक मंत्र का जप करना चाहिये। जो व्रतिक स्त्रियाँ हैं वे एकांतर से या तीन रात्रि के बाद निःसंदेह शुद्ध समझी जाती हैं। इसी प्रकार और भी कहा है कि :-

रागद्वेषमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः।
न ते कालेन शुद्ध्यन्ति स्नातास्तीर्थशतैरपि।।

अर्थात् :- जो रागद्वेष आदि कषायमद से उन्मत्त रहनेवाले और स्त्रियों के वशीभूत रहनेवाले - अब्रह्म के सेवन करनेवाले हैं वे सैंकड़ों तीर्थों में स्नान करके भी कभी शुद्ध नहीं हो सकते।

अंत में इस अध्याय का उपसंहार करते हुए बताते हैं कि यहाँ पर जो नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं का स्वरूप बताया है उनका यथावत् पालन करने से क्या फल प्राप्त होता है :-

नित्या नैमित्तिकीश्चेत्यवितथकृतिकर्माङ्गबाह्यश्रुतोक्ताभक्तया,
युङ्क्ते क्रिया यो यतिरथ परमः श्रावकोन्योथ शक्त्या।
स श्रेयःपक्त्रिमाग्रत्रिदशनरसुखः साधुयोगोज्झितांगो,
भव्यः प्रक्षीणकर्मा व्रजति कतिपयैर्जन्मभिर्जन्मपारम्।।९९।।

पूर्वोक्त रीति से इस अध्याय में जिन नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं का वर्णन किया गया है वे सब सत्यभूत कृतिकर्मनाम के अङ्गबाह्यश्रुत में अच्छी तरह बताई हैं। उसीके आधार से यहाँ पर भी ये बताई गई हैं। अतएव सर्वथा प्रमाणभूत है। जो संयमी साधु अथवा उत्तम श्रावक - दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक देशसंयमी, यद्वा मध्यम - सातवीं आदि प्रतिमा का धारक, अथवा जघन्य - छट्ठी प्रतिमा तक के व्रतों को धारण करनेवाला

श्रावक भक्तिपूर्वक और शक्ति के अनुसार इन नित्य नैमित्तिक क्रियाओं का भलेप्रकार पालन करता है वह भव्यात्मा आयु के अंत में समाधिपूर्वक शरीर का अच्छी तरह त्याग करके संचित महान् पुण्यकर्म के उदय से निरवशेषतया निर्जीर्ण करके कम से कम दो तीन भव में और ज्यादे से ज्यादे सात आठ भव में ही संसार का अंत कर शास्वतिक शिवसुख का अनुभव किया करता है। जैसा कि कहा भी है कि :-

आराहिऊण केई चउव्विहाराहणाए संसारं
उव्वरियसेसपुण्णा सव्वत्थणिवासिणो हुंति।
जेसिं होज्ज जहण्णा चउव्विहारहणा हु खवयाणं।
सत्तट्ठभवे गंतुं तेविय पावंति णिव्वाणं।।

इस ग्रंथ मे जिस मुनिधर्म का वर्णन किया गया है वह जिनभगवान् के प्ररूपित आगम से उद्धृत करके ही किया है। अतएव वह सर्वात्मना प्रमाण है और श्रद्धेय है। मुमुक्षुओं को उसका निरंतर यथावत् पालन करना चाहिये। ऐसा करने से ही उन्हें संसार के सर्वोत्कृष्ट अभ्युदय तथा परम निःश्रेयस पद की प्राप्ति हो सकती है। इसी बात को ग्रंथकर्ता ग्रंथ के अंत में अपना और ग्रंथ का नाम प्रकट करते हुए बताते हैं :-

इदं सुरुचयो जिनप्रवचनाम्बुधेरुद्धृतं
सदायउपयुञ्जते श्रमणधर्मसारामृतम्।
शिवास्पदमुपासितक्रमयमाः शिवाशाधरैः
समाधिविधुतांहसः कतिपयैर्भवैर्यान्ति ते।।१००।।

ऊपर जिस अनगार धर्म का इस ग्रंथ में वर्णन किया गया है वह अपूर्व अमृत के समान हैं, जो कि श्री जिनेन्द्र भगवान् के प्ररूपित आगमरूपी समुद्र से उद्धृत किया है। जो निर्मल सम्यक्त्व के धारण करनेवाले इस धर्म के अंतस्तत्त्व का सुधा के समान सदा सेवन किया करते हैं, अतएव जिनके चरणयुगल की इन्द्रादिक भी आराधना किया करते हैं, अथवा आत्मिक - क्षेम - साक्षात् मोक्ष की आकांक्षा धारण करनेवाले मुनिगण और

अन्य महान् पुरुष जिनके क्रम - आनुपूर्वी और यम - संयम की उपासना किया करते हैं, जिन्होंने समाधि - धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान के द्वारा शुभ और अशुभकर्मों का अपनी आत्मा से पृथक्करण कर दिया है, वे भव्यात्मा कुछ ही भव में - कम से कम दो तीन या ज्यादे से ज्यादे सात आठ भाव में शास्वतिक शिवसुख का संपादन किया करते हैं।

केवल शिवसुख - मोक्ष का ही अभिप्राय रखकर जिसने - भव्यों - मुनियों अथवा देवों की तृप्ति के लिये जिनभगवान् के आगमरूपी क्षीरसमुद्र का मंथन करके इस धर्मामृत को उद्धृत किया है वे श्रीमान् आशाधर सदा जयवंते रहो। एवं वे भव्यात्मा हरदेव भी ग्रंथ को वृद्धिगत करते हुए सदा आनंदित रहे कि जिनके उपयोग के लिये उन्हीं श्रीमान् आशाधर ने इस टीकारूपी शुक्ति की सुखपूर्वक रचना की है।

इस तरह श्री आशाधर विरचित धर्मामृत ग्रंथ के अनगार धर्म नामक पूर्वभाग की भव्यकुमुदचंद्रिका नाम की स्वोपज्ञ टीका में नित्य नैमित्तिक क्रियाओं का जिसमें वर्णन किया गया है ऐसा नौंवा अध्याय पूर्ण हुआ।

इस प्रकार धर्मामृत ग्रंथ के अनगार धर्मामृत नामक पूर्वार्ध की टीका पूर्ण हुई।
भद्रं भूयात्।

इति श्री परमपूज्य धर्मसाम्राज्यनायक योगींद्रचूडामणि सिद्धांतपारंगत, चारित्रचक्रवर्ती
श्री १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज के आदेश से ज्ञानदान के लिये
श्री प. पू. चा. च. आ. श्री १०८ शांतिसागर दिगंबर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक
संस्था की ओर से छपे हुए श्री महापण्डित श्री आशाधरकृत
अनगार धर्मामृत की हिंदी टीका विषैं
नौवाँ अध्याय संपूर्ण भया।।९।।
ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण वीर नि. सं. २४८१

ग्रंथकर्ता की प्रशस्ति

एक सपादलक्ष नाम का देश था जो कि त्रिवर्गसंपत्ति से युक्त और लवणसमुद्र का भूषणरूप था। उसमें लक्ष्मी के क्रीड़ागृह के समान मंडलकर नाम का एक महान् दुर्ग था। वहीं पर निर्मल व्याघ्रेरवाल जाति के श्री सल्लक्षण पिता और श्रीमती रानीबाई माता की कुक्षि से श्री जिनेन्द्र भगवान् के प्ररूपित सिद्धान्त में श्रद्धा रखनेवाले आशाधर का जन्म हुआ था। उन्हों ने जिस प्रकार अपने को सरस्वती - वाणी के गर्भ से उत्पन्न किया [१]था।उसी प्रकार सरस्वती नाम की अपनी स्त्री से छाहड नाम के पुत्र को उत्पन्न किया था, जो कि अत्यंत गुणवान् था और जिसने मालवा के अधिपति श्री अर्जुनदेव को अपने ऊपर अनुरंजित कर रक्खा था !

कवियों अथवा विद्वानों के मित्र श्री उदयसेन मुनि ने अत्यंत प्रीतिपूर्वक जिन आशाधर का यह कहकर अभिनंदन किया था कि :-

व्याघ्रेरवालवरवंशसरोजहंसः काव्यामृतौधरसपानसुतृप्तगात्रः।
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयते कलिकालिदासः।।

अर्थात् :- जो व्याघ्रेरवाल नाम के निर्दोष वंशरूपी सरोज - कमल को हंस के समान है, जिसका शरीर काव्यरूपी अमृत के समूह का रसपान करने से अत्यंत तृप्त हो चुका है, जो नीति अथवा न्यायशास्त्र के द्वारा संपूर्ण संसार को देखनेवाला है, अथवा जिसका न्यायशास्त्र संसार के लिये चक्षु के समान है, एवं जो इस कलिकाल में कालिदास के समान है वह सल्लक्षण का पुत्र आशाधर सदा जयवंत रहो।

इसी प्रकार उन आशाधर के विषय में श्री मदनकीर्ति नाम के यतिपति -आचार्यने भी ये प्रज्ञापुंज हैं ऐसा प्रशंसा वाक्य कहा है।

---

१ - पं. आशाधरजी की सरस्वती पुत्र ऐसी पदवी थी।

वे ही आशाधर जब तुरुष्कराज साहबुद्दीन ने सपादलक्ष देश पर अपना अधिकार किया तब उसके त्रास से अपने सदाचार एवं चारित्र में क्षति पड़ती हुई देखकर मालवा देश में आकर प्राप्त हुए, जहाँ पर कि विन्ध्यनरेश के बाहुबल, अंत:सार तथा उत्साह के प्रसाद से त्रिवर्ग का ओज - बल स्फुरायमाण हो रहा था। इस मालवा की धारानगरी में अपने बड़े परिवार को साथ लेकर आशाधर ने निवास किया। यहीं पर वादिराज पंडित श्रीधरसेन के शिष्य पंडित महावीर से आर्हतप्रमाणशास्त्र और जैनेन्द्र व्याकरण का अध्ययन किया।

जिस आशाधर के विषय में विन्ध्यनरेश के महासांधिविग्रहिक मंत्री और कवियों के शिरोमणि विद्वान विल्ह ने इस प्रकार कहा है कि :-

आशाधरत्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौंदर्यमजर्यमार्य।
सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमयंप्रपञ्च:।।

अर्थात् हे आर्य ![१] सरस्वतीपुत्रत्व की अपेक्षा मुझ में स्वाभाविक [२] सौंदर्य - सहोदरता - भ्रातृभाव से युक्त तथा [३]अजर्य - मैत्रीभावरूप आशाधरत्व सिद्ध हो गया समझो।

ये आशाधर जिनधर्म को उद्योतित करने के लिये जहाँ पर अर्जुनवर्मा राजा का राज्य था और श्रावकों की वस्ती बहुत अधिक थी उस नलकच्छपुर में आकर रहे।

उन्होंने पंडित देवचंन्द्रप्रभृति किन श्रोताओं को थोड़े ही समय में व्याकरणसमुद्र के पार नहीं कर दिया, एवं उनसे समीचीन न्यायशास्त्ररूपी उत्कृष्ट अस्त्र को पाकर वादीन्द्र विशालकीर्ति आदिक में से ऐसे कौन हैं कि जिन्होंने प्रतिपक्षी वादियों को आक्षिप्त - पराजित नहीं किया है। तथा जिनके जिनवचनरूपी दीपक के ग्रहण कराने पर भट्टारक देवभद्र विनयभद्र आदिकमें से ऐसे कौन हैं कि जो मोक्षमार्ग में अस्खलितरूप से नहीं चलने लगे, - निरतिचार चारित्र का आचरण नहीं करने लगे। इसी प्रकार जिनके पास काव्यरूपी अमृत का पान करके बालसरस्वती महाकवि मदन आदिमें से ऐसे कौन हैं

---

१ - विल्हण की माता का नाम सरस्वती था और पं. आशाधरजी की सरस्वतीपुत्र उपाधि थी। २ - दूसरे पक्ष में सौंदर्य अर्थ भी हो सकता है। ३ - पक्षान्तर में कभी नष्ट न होनेवाला ऐसा भी अर्थ हो सकता है।

कि जिन्होंने सहृदय विद्वानों के बीच में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं की है।

जिसके निरवद्य पद्यों से मानों अमृत का पूर ही बहता है, जिससे स्याद्वादविद्या का प्रसाद विशदरूप से प्राप्त होता है, ऐसा प्रमेय रत्नाकर नाम का इन्होंने एक तर्क ग्रंथ बनाया है। इसी प्रकार जिन आशाधरने केवल आत्मकल्याण के लिये सिद्धिका है अंक - [१] चिह्न जिसका ऐसा भरतेश्वराभ्युदय नाम का उत्तम काव्य बनाया और उसकी जिनागम का सारभूत, स्वयं की बनाई हुई ज्ञानदीपिकानाम की टीका से रमणीय, धर्मामृत नाम का शास्त्र बनाकर मुमुक्षु विद्वानों के आनंद से परिपूर्ण हृदय में विराजमान किया। नेमिश्वर के नाम का अनुवर्तन करनेवाला राजमती विप्रवलभ्भ - अर्थात् नेमीश्वरराजीमतीविप्रलभ्भ नाम का खण्डकाव्य बनाया और उसकी स्वयं टीका भी बनाई। पिता की आज्ञानुसार अध्यात्मरहस्य नाम का शास्त्र बनाया जो कि प्रसत्तिगुण से युक्त रहने के कारण झटिति अर्थ का बोधन करता है और अर्थतः गंभीर है - जिसका अर्थ समझने में दूसरे शास्त्रों की अपेक्षा पड़ती है, तथा जो आरब्धयोगियों को अत्यंत प्रिय है। मूलचार, भगवतीआराधना, इष्टोपदेश, आराधनासार, भूपालचतुर्विंशतिका आदि ग्रंथों के ऊपर टीका बनाई हैं और अमरकोष के ऊपर भी क्रियाकलाप नाम की विशिष्ट टीका रची है। रुद्रट आचार्य के काव्यालंकार टीका की और अरहंतो - अनंत तीर्थंकरों का स्तवनरूप सटीक सहस्त्र नाम बनाया। जिनभगवान् की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की विधि बतानेवाला जिनयज्ञकल्प नााम का प्रतिष्ठाशास्त्र बनाया और उसकी जिनयज्ञकल्पदीपिका नाम की टीका भी बनाई। इसी प्रकार त्रिषष्ठिस्मृतिनाम का सटीक संक्षिप्तशास्त्र भी बनाया जिसमें कि त्रेसठशलाका पुरुषों का विषय बताया गया है। जिनभगवान् का अभिषेकशास्त्र नित्यमहोद्योतनाम का बनाया जो कि मोहरूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान है, और जिसमें महाभिषेक पूजा की विधि बताई गई है। तथा रत्नत्रयविधान की पूजा और उसके माहात्म्य का जिसमें वर्णन किया गया है ऐसा रत्नत्रयविधान नाम का शास्त्र जिसने बनाया है और जिसने वाग्भटसंहिता का अभिप्राय व्यक्त करने के लिये उसके ऊपर आयुर्वेद के विद्वानों को अभीष्ट अष्टांगहृदयोद्योत नाम की टीका बनाई है। वही मैं आशाधर हूँ कि जिसने अपने ही पहले बनाये हुए धर्मामृत ग्रंथ में निरूपित यतिधर्म का अभिप्राय प्रकाशित करनेवाली यह टीका बनाई है; जो कि मुनियों को अतिशय प्रिय है। यदि इसके लिखते हुए कहीं

१ - प्रत्येक सर्ग के अंत में सिद्धि यह शब्द आता है।

अज्ञानिता के कारण स्खलन हो गया हो तो धर्माचार्य तथा विद्वानों को उसका संशोधन करके पठन करना चाहिये।

नलकच्छनाम के नगर में उत्कृष्ट जैनधर्म का पालन करनेवाला श्रावकों में अग्रणी तथा देवपूजा आदि गुणों के संग्रह करने और विवेक के धारण करने एवं करुणा दान के करने में जो सदा तत्पर रहा करता, विनय सरलता भद्रता उदारता दया और परोपकारपरता आदि गुणों से युक्त तथा खंडेलवाल जातिरूपी सुवर्ण में माणिक्य पद्मरागमणि के समान था ऐसा अतिशय सज्जन एक श्रेष्ठी रहता था, जिसका नाम तो पाप था परंतु वस्तुतः वह पाप से सदा पराङ्मुख रहा करता था। उसके दो पुत्र थे एक बहुदेव दूसरा पद्मसिंह। पहला पिता के भार को धारण करने में समर्थ था, और दूसरे के शरीर को लक्ष्मी ने आलिंगित कर रक्खा था। बहुदेव के तीन पुत्र थे - एक हरदेव जिसमें कि अनेक गुण स्फुरायमाण थे और दूसरा उदयी तथा तीसरा स्तंभदेव। ये तीनों ही भाई त्रिवर्ग का सेवन करनेवाले गृहस्थों के द्वारा सम्मानित थे।

एकबार हरदेव ने यह प्रार्थना की कि 'साधु महीचंद्र ने मंदज्ञानियों को प्रबोधित करने के लिये आपके धर्मामृत ग्रंथ के सागारधर्म प्रकरण की टीका आपसे ही करवा दी है। परंतु अभी तक उसके अनगारधर्मभाग की टीका नहीं बनी है। वह तीक्ष्णबुद्धि के धारण करनेवाले विद्वानों के लिये भी अत्यंत दुर्बोध है, विना टीका के उसका अर्थ उनकी भी समझ में नहीं आ सकता। अतएव आप उसकी भी टीका बनाने का अनुग्रह करें।' इसके सिवाय धनचंद्र ने भी इसके लिये आग्रह किया। इसी पर से पंडित आशाधरजी ने यह टीका बनाई है जिसमें कि धर्मामृतोक्त यतिधर्म के विषय में अच्छी तरह विचार किया गया है। विद्वानों ने इसका नाम भव्यकुमुदचंद्रिका रक्खा है; क्योंकि यह निकट भव्यजीवरूपी कमलों को चाँदनी के समान आह्लादित करनेवाली है। धर्मामृत ग्रंथ के सागार अनगार इन दोनों ही भागों की टीका मुमुक्षु विद्वानों के द्वारा चिंतना में प्रवृत्त होती हुई कल्पकाल पर्यंत स्थिर रहे।

जिस समय में परमार वंशरूपी समुद्र को वृद्धिगत करनेवाले चंद्रमा के समान महाराज देवपाल के और पुत्र श्रीमान् जैतुगिदेव अपने खड्ग के बल से मालवा का भले प्रकार शासन कर रहे थे उसी समय में नलकच्छनाम के नगर श्रीमन्नेमिनाथभगवान् के चैत्यालय में विक्रम संवत १३०० कार्तिक सुदि पंचमी सोमवार को शुभ लग्न में यह टीका पूर्ण

की। अनुमान से इस टीका का प्रमाण अनुष्टुप् छंद की अपेक्षा १२२००० है यथा - पहले अध्याय में १६०० दूसरे में १४२७ तीसरे में ३१८ चौथे में २६१५ पाँचवे में ६०१ छट्ठे में १७५५ सातवें में १२०६ आठवें में १५४५ और नौंवें में १०७५।

सुख और उसके कारणों की प्राप्तिरूप अथवा दु:ख और उसके कारणों के निवारणरूप यद्वा उनके भी कारण प्रतिकारणरूप शांति और कल्याण समस्त संसार के लिये श्री शांतिनाथ भगवान् सदा विस्तृत करो। धर्म का सेवन करनेवाले भव्य प्राणियों के साथ अभ्युदय और मोक्षरूप लक्ष्मी सदा आलिंगन करे। जगत में नीति का प्रयोग सदा बढ़ता रहे। पृथ्वी का शासन करनेवाला राजा अग्रणी और बलवान् हो। कवीजन समीचीनविद्या के रस को प्रकट करनेवाली ही कविता किया करें। संसार में पाप का नाम भी न रहे अथवा क्या क्या और कितनी प्रार्थना की जाय अतएव अंत में एक ही प्रार्थना है कि परमनि:श्रेयस का साधनरूप जिनभगवान् का शासन सदा जयवंत रहो।

इस प्रकार महापंडित आशाधरजी रचित और भव्यात्मा हरदेव द्वारा अनुमोदित अनगार धर्मामृत की टीका समाप्त हुई।

शुभं भूयात्

शास्त्र - भक्ति।

अकेला ही हूँ मैं करम सब आये सिमटिकें।
लिया है मैं तेरा शरण अब माता सटकिकें।।
भ्रमावत है मोकों करम दुःख देता जनमका।
करों भक्ती तेरी, हरो दुःख माता भ्रमनका।।१।।
दुःखी हुआ भारी, भ्रमत फिरता हूँ जगत मैं।
सहा जाता नाहीं अकल घबरानी भ्रमनमैं।।
करों क्या मा मोरी, चलत वश नाहीं मिटनका।
करों भक्ति तेरी, हरो दुःख माता भ्रमनका।।२।।
सुनो माता मोरी, अरज करता हूँ दरद मैं।
दुःखी जानों मोकों, डरप कर आयो शरन मैं।।
कृपा ऐसी कीजे, दरद मिट जावै मरनका।
करों भक्ति तेरी, हरो दुःख माता भ्रमनका।।३।।
पिलावै जो मोकों, सुबुधिकर प्याला अमृत का।
मिटावै जो मेरा सब दुःख सारा फिरनका।।
परों पावां तेरा हरो दुःख सारा फिकरका।
करों भक्ति तेरी, हरो दुःख माता भ्रमनका।।४।।

सवैया :- मिथ्या - तम नाशवे को ज्ञान के प्रकाशवेको, आपा - परभासवे को भानुसी बखानी है। छहों द्रव्य जानवेको बंधविधि भानवेको स्वपर पिछानवेको परम प्रमानी है।।५।। अनुभौ बतायवे को जीव के बतायवे को, काहू न सतायवेको भव्य उर आनी है। जहाँ तहाँ तारवे को पार के उतारवेको, सुख विसतारवेको ये ही जिनवानी है ।।६।।

दोहा:- यह जिनवानी की थुती, अल्प बुद्धि परमान। पनालाल विनती करै, दे माता मोहि ज्ञान।।७।। हे जिनवानी भारती, तो हि जपों दिन रैन। जो तेरा शरना गहै, सो पावे सुख चैन।।८।। जा वानी के ज्ञानतैं सूझै लोकालोक। सो वानी मस्तक चढो, सदा देत हों धोक।।९।।

आचार्यवर्य प्रणमामि नित्यम्।

पूज्यातिपूज्यैर्यतिभिस्सुवंद्यं। संसार - गंभीर - समुद्रसेतुम्। ध्यानैकनिष्ठा - गरिमा गरिष्ठम्। आचार्यवर्य प्रणमामि नित्यं।

ध्यानादिसैन्यं परिवर्ध्य पूर्णम्। कर्मारिवर्ग प्रिणिहत्य वेगात्। नीरागस्वातंत्र्यपदे प्रतिष्ठम्। आचार्यवर्य प्रणमामि०।

आभ्यन्तरो बाह्य उपाधिभार:। दूरीकृतो येन वितृष्णभावात्। दैगम्बरं सुन्दरदिव्यकायम्। आचार्यवर्य प्रणमामि०।

धर्मामृतं पाययति प्रभूतम्। यो भव्यजीवान् करुणास्वरूपं। स्वात्मस्वरूपं च चकार तेभ्य:। आचार्यवर्य प्रणमामि०।

योऽनेक साधून् विषयेष्वरक्तान्। निर्ग्रंथ लिंगे विधिना चकार। गुरूपरागोपि च वीतराग:। आचार्यवर्य प्रणमामि०।

महागंभीर विशदीकृतार्थं। शास्त्राब्धिपारेर्गतवान्समग्रम्। तथापि प्रज्ञामदताविरक्त:। आचार्यवर्य प्रणमामि नित्यम्।

दर्शं दर्शं सूरिशांतस्वरूपं, पायं पायं वाक्य - पीयूषधारां। स्मारं स्मारं तद्गुणान् स्पृष्टपादा:, जाता: शाता: साधवोक्षेष्वरक्ता:।।